ऋग्वेद दशम मण्डल में प्रतीकात्मकता एवं वैज्ञानिकता का समीक्षात्मक अध्ययन

बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय, झाँसी की
पी-एच. डी. उपाधि हेतु प्रस्तुत

शोध प्रबन्ध

2002
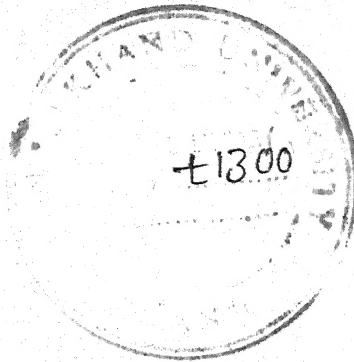
शोध निर्देशक :
डॉ. दयाशङ्कर त्रिपाठी
अध्यक्ष संस्कृत विभाग
गान्धी महाविद्यालय, उरई

शोधकर्त्री :
अर्चना मिश्रा
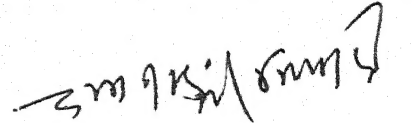
शोध निर्देशक का प्रमाणपत्र

(CERTIFICATE FROM THE SUPEVISOR)

मैं परम हर्षपूर्वक यह प्रमाणित करता हूँ कि श्रीमती अर्चना, सुपुत्री पं. श्यामसुन्दर मिश्र निवासी नया रामनगर, उरई ने विश्वविद्यालय द्वारा स्वीकृत शोध विषय "ऋग्वेद दशम मण्डल में प्रतीकात्मकता एवं वैज्ञानिकता का समीक्षात्मक अध्ययन" पर अनुमोदित संक्षिप्तका के अनुसार स्वचेष्टापूर्वक मौलिक शोधकार्य सम्पन्न किया है। इस कार्य के लिये उन्होंने मुझसे दो वर्षो से अधिक समय तक महाविद्यालय के संस्कृत शोधकेन्द्र में दो सौ दिनों से अधिक उपस्थिति देकर निर्देशन प्राप्त किया है। मैं यह भी प्रमाणित करता हूँ कि उक्त विषय पर बुन्देलखण्ड विश्वविद्यालय की पी-एच.डी. उपाधि हेतु परीक्षणार्थ प्रेषित यह शोधप्रबन्ध श्रीमती अर्चना ने स्वयं लिपिबद्ध किया और यह पूर्णतया मौलिक कार्य है।

(डॉ. दयाशङ्कर त्रिपाठी)
अध्यक्ष संस्कृत विभाग,
गान्धी महाविद्यालय, उरई।

संस्कृत शोध केन्द्र,
गान्धी महाविद्यालय,
उरई, दिनाङ्क : 2002

ऋग्वेद दशम मण्डल में प्रतीकात्मकता एवं वैज्ञानिकता का समीक्षात्मक अध्ययन

विषय सूची

प्राक्कथन

वेदानुशीलन अतीव दुष्कर कार्य है। वेदानुसंधान करने वालों ने अधिकांशतः पूर्वविद्वानों के अनुकरणपूर्वक या उपहरणपूर्वक अपने विचार प्रस्तुत किये; इसलिये ही पं. रामगोविन्द त्रिवेदी यह निष्कर्ष देते हैं कि "सामणभाष्य के अवलम्ब पर निखिल जगत् के ऋग्वेद के अनुवाद और शोध का कार्य चल रहा है।....... सामणभाष्य नहीं रहता तो विश्व में ऋग्वेद का विशद विस्तार भी नहीं होता, इस ओर संसार अन्धकार में ही रहता।" पाश्चात्यों ने भी सायणभाष्य को 'अन्धे की लकड़ी' बताया और यह कहा कि यदि यह भाष्य न होता तो वेद के दुर्गम-दुर्ग में उनके लिये प्रवेश करना असम्भव था। तथापि, सायणभाष्य स्वयं ही आचार्य महाधव भट्ट और आचार्य स्कन्दस्वामी के भाष्यों और अन्य पूर्ववर्त्ती वैदकि विद्वानों की रचनाओं पर आधारित रहा है। इसप्रकार वह मध्यकाल की परम्परा का उत्पाद हैं। प्रस्तुत शोध में सायणभाष्य सर्वतः उपेक्षित रहा है, और सम्पूर्ण आधार यास्क के 'निरुक्त' पर तथा 'निघण्टु' पर रहा है, और प्रकाशस्तम्भों के रूप में मुख्यतः आयुर्वेद ग्रन्थों का आश्रय लिया है, यद्यपि बहुत से आधार वेद से स्वयं एवं उपनिषदों और इतिहासपुराणों से प्राप्त किये गये हैं।

दूसरी कठिनाई हमारे लिये यह रही है कि इस छोटे उरई नगर में वैदिक साहित्य की उपलब्धि नगण्य रही है, और हमें तो वेद भी मूलपाठ के लिये डेढ़-दो वर्षों में मिल पाया। वैदिक साहित्य से 'वैदिक व्याकरण' 'वैदिक इण्डेक्स', 'बृहद्देवता', कुछ छुट-पुट लेखादि, कल्याण का वेदकथङ्क, 'संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ' नामक कोष, 'संस्कृत पथ प्रदर्शक' नामक छोटी सी पुस्तक, आयुर्वेद संहितायें, महाभारत-रामायण-पुराणादि, कुछ प्रमुख उपनिषदें, तथा एम.ए. में पढ़ी हुई वेद की पुस्तकें ही मात्र प्राप्त थीं, और यह सब नितान्त अपर्याप्त था। परन्तु, पूज्य पिताजी का जो वरद हस्त मेरे ऊपर था उसने ही यह नैय्या पार लगाई है। पिताश्री ने मुझे बी.ए. और एम.ए. में

भी पाठ्यक्रम के वेदांश पढ़ाये थे, और उन्हीं की प्रेरणा से वेद पर वर्तमान शोध विषय हमने प्राप्त किया जिसमें निर्देशक डॉ. दयाशङ्कर त्रिपाठी का पूर्णयोगदान और आशीर्वाद मिला। पिताश्री का कैसे आभार प्रदर्शित करूँ यह मैं नहीं समझ पाती, वे तो सर्वतः मेरे निर्माता ही हैं। डॉ. त्रिपाठी ने भी सन्तानवत् स्नेह से ही सर्वथा और सर्वदा इस शोध के लिये मुझे निर्देशन दिया है जिसे मैं आजीवन नहीं भूल पाऊँगी।

जिन महानुभावों ने समय-समय पर मुझे सुझाव दिये आभारी हूँ। मैं पितातुल्य डॉ. जयदयाल सक्सेना, रिटायर. प्रोफेसर, राजनीतिशास्त्र विभाग, डी.वी.कालेज उरई, की हृदय से आभारी हूँ जिन्होंने वेद सम्बन्धी अनेक गुत्थियों तथा समस्याओं को सुलझाने में अपने तर्कसंगत एवं मौलिक विचारों से मुझे अवगत कराया, जिसके बिना शोध का प्रस्तुत रूप कदाचित् ही बनता। मैं अन्य उन सभी के प्रति आभारी हूँ जिन्होंने जाने-अनजाने मुझे सहयोग और प्रोत्साहन दिया है।

शोध प्रबन्ध की प्रिंटिंग जिस मनोयोग और योग्यता से श्री नरेन्द्र मोहन ने की है और शुद्धता तथा समय का ध्यान रखा है, तथा उसकी जिल्द बंधवाने में जो दृष्टि रखी गई है जिससे यह सुन्दर कलेवर मिल सका है, उस सब के लिये मैं उनकी हृदय से आभारी हूँ।

वे सब भूलेभटके तथा विद्वानों की सम्पूर्ण परम्परा की मैं ऋणी हूँ जिसके परिप्रेक्ष्य में वस्तुतः 'मेरा कुछ भी नहीं है', सब उनका ही प्रसाद है। अन्त में वेद के उन रचनाकार ऋषियों का और उनसे परिज्ञात उस असीम सत्ता का स्मरण करती हूँ जिनकी कृपा ने वेद के अनुशीलन के इस कार्य में मुझे निमित्त बनाया।

नया रामनगर, उरई। अर्चना मिश्रा
कार्तिक पूर्णिमा,
गलवार, सं. 2059 विक्रमी,
तद्दिनाङ्क 19-11-2002 ई.

ऋग्वेद दशम मण्डल में प्रतीकात्मकता एवं वैज्ञानिकता का समीक्षात्मक अध्ययन

शोधकार्य की विस्तृत रूपरेखा

प्रथम अध्याय :

(क) भूमिका एवं विषय प्रवेश, (ख) शोध–विषय का निरूपण, महत्व एवं शोध की आवश्यकता, (ग) शोध सम्बन्धित विषय पर आद्योपांत्त कार्यों का विवरण एवं समीक्षा, (घ) शोध के विभिन्न आयामों – विधि, प्रयोग एवं निष्कर्ष के सूत्र एवं निश्चयात्मक उपलब्धियाँ, (ङ) प्रस्तुत शोध में इन सभी उपादानों की उपयोगिता और सम्भावनाओं पर प्रकाश।

द्वितीय अध्याय :

(क) प्रतीकात्मकता की अवधारणा, (ख) प्रतीकात्मकता के मनोवैज्ञानिक आधार, (ग) प्रतीकात्मकता के समाजशास्त्रीय आधार, (घ) प्रतीकात्मकता के काव्यशास्त्रीय आधार।

तृतीय अध्याय :

(क) ''इतिहासपुराणाभ्यां वेदं उपबृहयेत्'' का आदेश, (ख) उसका अर्थ और मन्तव्य, (ग) प्रस्तुत शोध में इस आदेश को चरितार्थ करने की विभिन्न स्थितियाँ, (घ) शोधकार्य के लिये इस आदेश का महत्व एवं उपादेयता।

चतुर्थ अध्याय :

(क) विभिन्न भाष्यों में प्रतीकात्मकता एवं वैज्ञानिकता के उद्घाटन, (ख) उनके आधारों की समीक्षा, (ग) इनका प्रस्तुत शोधकार्य के लिये महत्व।

प्रथम अध्याय

(क) भूमिका एवं विषय प्रवेश

(ख) विषय का निरूपण, महत्व एवं शोध की आवश्यकता

(ग) शोध सम्बन्धित विषय पर आद्योपान्त कार्यों का विवरण एवं समीक्षा

(घ) शोध के विभिन्न आयामों- विधि, प्रयोग एवं निष्कर्ष- के सूत्र एवं निश्चात्मक उपलब्धियाँ

(ङ) प्रस्तुत शोध में इन सभी उपादानों की उपयोगिता और सम्भावनाओं पर प्रकाश

प्रथम अध्याय

(क) भूमिका एवं विषय प्रवेश

साहित्य के आयाम निष्पन्न–भाषा और उसके माध्यम से अभिव्यक्ति के ढंग, जिसे 'शैली' कहा जाता है, द्वारा स्पन्दित होते हुए चलते रहते हैं। मानव विकास में भाषा महत्वपूर्ण पड़ाव के रूप में उभरी, वह संचरण का सशक्त माध्यम बनी। अपने मन की बात दूसरे को समझाने का भाषा साधन हुई, अतएव उसे मन की संक्रियात्मक या जड्.गमवृत्ति 'वाक्' कहा गया।[1] प्रभावी संप्रेषण के लिए भाषा ने गेय तथा तार्किक रूपों को ग्रहण किया। प्राचीन साहित्य के विकास से इसकी पुष्टि होती है।

कृतयुगीन आदिम अवस्था में मानवीय क्रिया प्रारम्भ होने के कालखण्ड में जो सामूहिक उत्पादन और वितरण निष्पन्न किया जाता रहा था, उसमें शनैःशनैः विशेषज्ञता उत्पन्न होती गई और ऐसी विशेषज्ञता के आधार पर नेतृत्व और मार्गदर्शन का महत्व बढ़ता गया। युद्ध में, आखेट में, अभियानों में, अथवा ऐसे ही विशिष्ट कार्यों में विशेषज्ञता के आधार पर अलग–अलग नेता और मार्गदर्शक चुने जाने लगे, और इस प्रकार विशिष्टताओं के ज्ञान का संवर्धन होता चला गया। विशिष्ट ज्ञानों की शिक्षा और प्रशिक्षण भी विशेषज्ञों के सम्पर्क और वास्तविक रूप से कार्यों से संलग्न होकर प्राप्त किये जाने लगे। अन्ततोगत्वा लोकजीवन में विशेषज्ञों का एक वर्ग निर्मित हो गया, जो वृहत् समाज रूप राष्ट्र का प्रतीक एवं संचालक 'ब्रह्म' के संदर्भ में ब्राह्मण नामधेय कहलाया, तथा पुरोहित प्रतिष्ठित हुआ।

अभियानों का नियोजन और मार्गदर्शन करने वाले पुरोहित अपने विषय क्षेत्र के विशेषज्ञ होते थे। प्रयाण के पूर्व सामान्यतः सफलता और प्रेरणा के लिए देवस्वरूप पूर्वपुरूषों, पितरों, कुल देवताओं आदि को स्मरण करना समीचीन था।[2] ऐसी स्तुतियाँ प्रायः पद्यबद्ध होती थीं।[3] सफलता प्राप्त होने पर प्रयाण के नेता की प्रशंसा में पुरोहित लोग गीत गाते थे जिन्हें

---

1. महा0आश्व0 21:16–17
2. इसे 'गाथा' नाम दिया गया है। ऋ0 3:33 में विश्वामित्र द्वारा सुदास के पुरोहित के रूप में अभियान की सफलता के लिए मार्ग में पड़ने वाली व्यास और सतलज आदि नदियों से मार्ग देने की प्रार्थना भी इसी प्रकार की गाथा है।
3. ऐतरेय आरण्यक 2:3:6

'नराशंसी' कहा जाता था। प्रायः अतिशयोक्ति का विस्तार होने से गाथा और नराशंसी को झूठा कहा गया है।[4] हापकिन्स[5] नराशंसी को उपयुक्ततः महाकाव्यों का स्रोत मानते हैं। आर्यों में आमोद-प्रमोद के लिए उन्मुक्त गान या काव्य का भी चलन था[6], कदाचित् इन्हें 'रैभी' कहा जाता था। ऋग्वेद[7] में सूर्या के विवाह के समय इन तीनों प्रकार के गीतों को स्पष्ट किया गया है। विवाह के अवसरों पर आज भी इन तीन प्रकार के गीतों को गाने की परम्परा विद्यमान है।

भाषा के तार्किक रूप अन्ततः विज्ञानों के संवाहक बने और चिह्न और प्रतीकों द्वारा ये गणित और विज्ञान की पारिभाषिक वृत्तियों का संवहन करने लगे। ऋग्वेद के अनेक स्थलों पर गणितीय ज्ञान के प्रमाण उपलब्ध होते हैं। वैज्ञानिक स्थितियों और प्रक्रियाओं के वर्णन में प्रतीकों के प्रयोग ऋग्वेद से ही मिलने प्रारम्भ हो जाते हैं[8], यद्यपि शुद्ध रूप से विज्ञान वर्णन के भी उदाहरण मिलते हैं।[9] भाषा के ऐसे तार्किक रूपों ने भिन्न-भिन्न देशों और भिन्न-भिन्न सम्प्रदायों में भिन्न-भिन्न पारिभाषिक शब्द उत्पन्न किये जिनका शैक्षिक दृष्टि से समन्वयन करना आवश्यक प्रतीत हुआ। अतः ऋषियों की सम्भाषा परिषदों[10] का प्रादुर्भाव हुआ, जहां ऋषिगण इकट्ठे होकर आपस में विचार विमर्श करते थे, एक दूसरे की रचनाएं सुनते थे, उनकी समालोचना व परिष्कार करते थे, और एक ही अर्थ में प्रयुक्त अनेक शब्दों को परिभाषित तथा निश्चित करते थे, और तभी कोई सूक्त ऋषियों द्वारा अनुमोदित होकर प्रकाशन के योग्य बनता था।

ऋग्वेद में आने वाले 'मंत्र' और 'मना' शब्द 'मन्' विचारणे धातु से सम्पन्न होते हैं; जो मनन करने या चिन्तन करने तथा विचार-विमर्श करने के आशय से प्रयुक्त हुये हैं। 'मन्त्र्' धातु से गोपनीय मंत्रणा या कान में कहने के अर्थ भी होते हैं। ज्ञान के आदान-प्रदान में इनका बहुत महत्त्व है और शिष्य में मनन करने और विचारणा करने की प्रतिभा उत्पन्न करने

4. काठक संहिता 14:5

5. ज0अ0ओ0सो0 15, 264 नोट। स्मरणीय है कि रामायण महाकाव्य राम की प्रशंसा में और जय (भारत) महाकाव्य युद्धिष्ठिर नामधेय 'जय' अथवा 'भारत' की प्रशंसा में लिखे गये हैं।

6. मैत्रायणी संहिता 3:7:3

7. ऋ0 10:85:6

8. उदाहरणार्थ देखें ऋ0 1:164:1–18 तथा ऋ0 10:90:7–16

9. देखें ऋ0 10:129

10. ऋषियों की सभा का यह नाम चरक0 विमान0 अध्याय 8 के संदर्भ से प्रस्तुत किया गया है; अन्य नाम ऋषि-संघ, सभा और विदथ भी मिलते हैं।

का प्रयास किया जाता था, इसके लिए विद्वानों से सतत सम्पर्क बनाये रखा जाता था ताकि सृजनात्मक विचारों का उत्पादन हो सके। इसी के लिए विद्वानों या जानकारों की सभा अर्थात् 'विदथ' का आयोजन भी किया जाता था। 'विदथ' शब्द 'विद्' ज्ञाने धातु में कथच् प्रत्यय लगाकर बनता है और इसका सम्बन्ध ज्ञान, विद्वता, विद्या, यज्ञ और अध्यात्म आदि से जुड़ता है।

वैज्ञानिक चेतना के विकास की दृष्टि से ऋग्वेद में सृष्टि को चलाने वाले अक्षुण्ण नियमों को भी बतलाया गया है,[11] जो सृष्टि के मूल में स्थित है, सर्वदा या सतत क्रियाशील रहते हैं, जिनका उल्लंघन कोई नहीं कर सकता चाहे कोई कितना भी चालाक और बुद्धिमान क्यों न हो, इस संसार में और इससे परे भी कोई भी व्यक्ति अपनी विद्या की शक्ति से इन्हें समाप्त नहीं कर सकता, वे पर्वतों की भांति झुकाये नहीं जा सकते। वैज्ञानिक प्रेक्षण, जिसके द्वारा ऋत का नियम बतलाने के लिए विश्लेषण करने की बात कही गई है, भी ऋग्वेद से प्राप्त है।[12] ऋत की शिक्षा के भी उदाहरण मिलते हैं।[13] ऋत की महत्ता का वर्णन भी किया गया है।[14] अनुमान एवं प्रतिमान की विधि से मापन[15], ऋत के लिए कर्म प्रक्रिया को सक्रिय करने का संदर्भ[16] तथा यज्ञ विधि से जीवन साधन[17] के संदर्भ प्राप्त हैं। ऋग्वेद[18] में उस काल की लगभग सभी वैज्ञानिक समस्याओं (क्षेत्रों) को प्रश्नरूप से, या पहेली रूप से, या रूपकत्व और प्रतीक रूप से, या लक्षणा-व्यंजना जनित पर्यायों के रूप से प्रस्तुत कर दिया गया है, जिससे उस काल की वैज्ञानिक पृष्ठभूमि स्पष्ट हो जाती है। ऐसी ही अनेक समस्यायें यत्रतत्र स्पष्ट की गई हैं।[19]

अस्यवामीय सूक्त के प्रथम मन्त्र में, कर्म-प्रक्रिया, ज्ञान-प्रक्रिया, पाक-प्रक्रिया और ऊर्जा संरक्षण प्रक्रिया के संदर्भ वाले ऊर्जा के तीन रूपों का परिचय दिया गया है। चौथे मंत्र में यह प्रश्न उपस्थित किया गया है

11. ऋ० 3:56:1
12. ऋ० 1:161:9
13. ऋ० 3:31:1
14. ऋ० 4:23:8
15. ऋ० 1:164:24
16. ऋ० 10:30:11
17. ऋ० रिवल० 10:106:1
18. ऋ० 1:164
19. उदाहरण स्वरूप देखें ऋ० 10:71:1, 10:72, 10:81, 10:82, 10:90, 10:129

कि हड्डियों, रक्त, प्राण और आत्मा से युक्त शरीर को कौन बिना हड्डियों वाला धारण करता है; प्रथम उत्पन्न होने वाला मन या धर्म ही धारण करता है। पांचवें मंत्र में वाक् की उत्पत्ति और उसकी प्रक्रिया बतलाई गई है कि उसके चार पद मनीषी ब्राह्मण जानते हैं; तीन मानस गुहा में गुप्त रूप से क्रियाशील रहते हैं और चतुर्थ भाषा रूप में मनुष्यों द्वारा बोली जाती है। आठवें मन्त्र में वाक् और मन के सम्बन्ध को ऋत द्वारा प्रकट करने की बात कही गई है, जहां वाक् को माता और मन को पिता का रूपक दिया गया है, जो महाभारत[20] के अनुसार क्रमशः जंगम् और स्थावर मन के रूप हैं। अगले मंत्र में वाक् की प्रक्रिया द्वारा ऊर्जा को उपर्युक्त प्रथम मन्त्र के तीनों मार्गों में विस्तृत होकर संवत्सर का रूप ग्रहण करना बतलाया गया है। दसवें मन्त्र का आशय यह है कि अधिभूत, अधिदेव व अध्यात्म स्तरों पर, सत्ता की प्रतीति में ही वाणी क्रियारत होती हुई बुद्धिमान के लिए विचार-विमर्श का साधन बनती है। वास्तव में यह मन्त्र पांचवें व आठवें मन्त्रों का विस्तार है, इसी क्रम में पंद्रहवाँ व सोलहवाँ मन्त्र है। अर्थ यह है कि भू आदि सात एक साथ उत्पन्न हुये हैं, किन्तु सातवां 'सत्य' अकेला उत्पन्न कहा जाता है, उसी देव से नियम में चलने वाले (या जोड़वां उत्पन्न होने वाले) छः हैं जिनके विहित इष्ट कर्म स्थानशः और रूपशः स्थिति विशेष में विकृत होकर प्रकट होते हैं। मन्त्र 17, 18 और 19 कर्म व ज्ञान ऊर्जा रूप संवत्सर की प्रक्रियाओं को समझाते हैं। कर्म के हेतु से मस्तिष्क के उच्च स्थानों से कर्मेन्द्रियों के निम्न स्थानों को तथा निम्न स्थान शरीर और ज्ञानेन्द्रिय गोलकों से मस्तिष्क के उच्च स्थानों को जाती हुयी ऊर्जा की विभिन्न स्थितियों और प्रक्रियाओं के सम्बन्ध में प्रश्न खड़े किये गये हैं। आशय यह है कि उत्तरायण-देवयान-आदान-शुक्ल मार्ग की ओर ऊर्जा संरक्षण (पाक) की संक्रिया होती है, जो कर्ममार्ग-दक्षिणायन-पितृयान-विसर्ग-कृष्णमार्ग से भिन्न है। इन पितृयान और देवयान मार्गों के जानने से अधिदेव मन और उसकी उत्पत्ति को भी जाना जा सकता है। कर्म और ज्ञान की व्याख्या मन्त्र 20, 21 और 22 में करते हुए यह स्पष्ट किया गया है कि एक भाग कर्म फल का भोग करता है किन्तु दूसरा भाग ज्ञानरूप से मात्र उसे देखता है, तथापि वह मनुष्य उस कर्मफल तक नहीं पहुंचता जो पितृयान मार्ग से अपरिचित है,

20. महा० आश्व० 21:16

तथा यह भी बतलाया गया है कि ज्ञान के स्थल पर ही पाक क्रिया द्वारा प्राप्त ऊर्जा बुद्धियुक्त आत्मा के रूप में उपस्थित होती है। चौदहवें मन्त्र के द्वारा यह बताया गया है कि सूर्य की ऊर्जा क्रियाशक्ति से आवृत होकर चलती है जिसे ऊपर की ओर फैली हुई दस नाडियां वहन करती हैं, इस प्रकार क्रियाचक्र घूमता रहता है। यह आशय ऊर्जा के वहन में नाडियों के योगदान से ऋग्वेदकालीन वैज्ञानिकों का नाडीमण्डल का ज्ञान स्पष्ट कराता है। ऋग्वेद में सृष्टि के प्रारम्भ, विकास तथा उसके प्रभाव के भी अनेक सिद्धान्त प्रतिपादित किए गए हैं और भौतिक घटनाक्रमों के बारे में भी ऋषियों की वैज्ञानिक दृष्टि के प्रमाण उपलब्ध होते हैं।

तथापि, व्याख्या की दृष्टि से ये सभी विषय और मन्त्र अत्यन्त विवादास्पद हैं, और वेद के भिन्न-भिन्न विद्वानों ने अपनी दृष्टि से इनके भिन्न-भिन्न वेदार्थ किए हैं। इसका कारण यह है कि वेद की भाषा अत्यन्त प्राचीन, क्लिष्ट, अपरिचित, गोपनीय, प्रतीकात्मक तथा बहुरूपीय है, प्रबन्धन और शैली भाव और सिद्धान्तों से गहन और अप्रकटनीय हैं कि मन्त्र दुर्मेध, दुर्विज्ञेय और दुरूह हैं तथा उनमें रहस्य और अस्पष्टता आवेष्टित है। विद्वानों ने इसे इङ्गित भी किया है[21]-

"कालक्रम से अत्यंत अतीत काल में निर्मित किसी ग्रन्थ का आशय पिछली पीढ़ियों के लिए समझना एक अतीव दुरूह व्यापार है। यदि प्राचीनता के साथ भावों की गहराई तथा भाषा की कठिनाई आ जाती है, तो यह समस्या और भी विषम बन जाती है। वेदों के अर्थानुशीलन के विषय में यह कथन अत्यंत उपयुक्त ठहरता है। एक तो ये स्वयं किसी धुंधले अतीत काल की कृति ठहरे, तिस पर भाषा की विषमता तथा विचारधारा की गम्भीरता ने अपना सिक्का जमा रखा है। फल यह हुआ कि उनके अर्थ का उचित मात्रा में पर्यालोचन करना उनके अंतस्तल तक पहुंचकर उनके मर्म की गवेषणा करना, एक दुर्बोध पहेली बन गया, परन्तु इस पहेली को समझाने का प्रशंसनीय उद्योग प्राचीन काल से ही चला आ रहा है। "वेद व्याख्याता श्री रामगोविन्द जी त्रिवेदी भी लगभग ऐसे ही विचार प्रस्तुत कर रहे हैं[22] :-

" वस्तुतः ऋग्वेदीय मंत्रों के कहीं आध्यात्मिक, कहीं आधिदैविक और कहीं आधिभौतिक अर्थ हैं। कहीं समाधिभाषा, कहीं परकीय भाषा और कहीं लौकिक भाषा का प्रयोग है। सायण ने तीनों का अर्थ और रहस्य बताने का प्रयास किया है। मन्त्रों में उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, अतिशयोक्ति, लाटानुप्रास, दृष्टान्त, उदाहरण, पुनरुक्तवदाभास आदि अलंकार भी हैं। इन सब अर्थों, भाषाओं और अलंकारों को ध्यान में रखकर वेदार्थ करने की चेष्टा करने पर ही ऋषियों और उनकी उक्तियों का रहस्य समझ में आ सकेगा।"

21. आचार्य बलदेव उपाध्याय; वैदिक साहित्य और संस्कृति, वाराणसीः शारदा संस्थान, पंचम संस्करण, 1980; पृष्ठ 75.
22. श्री रामगोविंद त्रिवेदीः "ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः", कल्याण वर्ष 73, संख्या 1, दिसम्बर 1999; पृष्ठ 964.

वेदों की भाषा और शैली, विषयवस्तु, चिह्न, और प्रतीक, ज्ञान और विज्ञान तत्कालीन बुद्धिजीवियों के शिक्षण और प्रशिक्षण के अनुरूप ही विकसित हुये होंगे, और उस समय वे सुलभ और सहज ग्राह्य भी अवश्य ही रहे होगें। किन्तु कालान्तर में इन समस्त परंपराओं का लोप हो गया जो वेद के ज्ञान को सहज उपलब्ध करा रही थीं। प्राचीनकाल में ही ऐसे अत्यंत अतीत काल की अवधारणा तभी संभव है जब शिक्षण और अनुशीलन की परम्परायें पूर्णतः नष्ट हो चुकी हों, और इस बीच एक अंधयुग छाया रहा हो। ज्ञान-विज्ञान का मानव हितों में पूर्ण दोहन हो जाने, तथा मानवीय नित्यकर्मों और जीवन में उनकी उपयोगिता आत्मसात् हो जाने या नष्ट हो जाने की स्थिति में ही उनके प्रति अभीप्सा का ह्रास हो जाता है और तब ही अन्धकार युग का सूत्रपात होता है। महाभारत में प्रतीकात्मक रूप से वेद के लुप्त होने की कथा मिलती है।[23] इस कथा के अनुसार रज और तम वेद के लोप होने में कारण थे। राग, भोग और क्रिया रज के लक्षण हैं; तथा जड़ता, आलस्य और प्रमाद तम के लक्षण हैं। जब समाज इनसे युक्त हो गया तो अन्धकार युग आया और वेद लुप्त हो गये। यह युग लगभग एक हजार वर्ष का रहा होगा। इसके बाद सामाजिक परिस्थितियां बदलीं और पुनरूज्जीवन काल में वेद को पुनः प्राप्त किया गया तथा उसकी विशेषताओं को जांचकर उसके अनुशीलन की चेष्टाएं की गईं। और, तब वेद दुरूह, भाषा में प्राचीन और कठिन, भावों में अज्ञात और असीम, तथा विचारधारा में नितांत अपरिचित अनुभव हुये। तथापि, उनकी महत्ता को जान-समझकर सर्वप्रथम उन्हें संकलित करने का प्रयास किया गया। यह 'संहिताकाल' था। इसी काल में वेदों का विभाग किया गया तथा उन्हें समझाने के सूत्र बनाए गये। इन सूत्रों को 'निघण्टु' नाम दिया गया। यास्क ने इसे 'समाम्नाय' और 'निगमाः' कहा है। 'समाम्नाय' के अर्थ हैं सम्यक्-क्रम और 'निगम' के अर्थ हैं बुद्धि या तर्क से प्राप्त या विनिश्चयपूर्वक प्राप्त। 'निघण्टु' के अर्थ निश्चित शब्द (ध्वनि) या निश्चित ज्ञान भी होते हैं।

'निघण्टु' में मात्र शब्दों की सूचियां होने से, और प्रकट रूप में ये पर्यायवाची, बहु-अर्थक या एकार्थक होने से नितान्त अविज्ञेय और भ्रमात्मक हैं। यास्क ने अपने 'निरुक्त' में वास्तव में 'निघण्टु' पर टीका प्रस्तुत की है। इसमें परोक्षरूप से तथा परम्परा रूप से वेद की विषयवस्तु का विवेचन किया गया है, जो गहन, विचक्षण और बहुआयामी अनुशीलन के उपरान्त ही स्पष्ट होती है। पूजनीय पिताश्री ने ऐसा अनुशीलन किया है।[24] और, वेद की विषयवस्तु पर यास्क के माध्यम से प्रकाश डालने की चेष्टा की है।

23. महा० शान्ति० अध्याय 347.
24. पं श्याम सुन्दर मिश्रः वेदार्थ कुंजिका, यास्क के निरूक्त पर विज्ञान परक टीका (अप्रकाशित)

वेदार्थ के लिए यास्क अपरिहार्य हैं; और उनका सम्यक् अनुशीलन वेदार्थ से सम्बन्धित मत-मतान्तरों तथा विवादों पर रोक लगाने वाला तथा वेद के विषय, भाव और अर्थ को प्रकाशित करने वाला है, और इसका प्रतिकार करने का साहस महान् वैदिक विद्वान में भी नहीं है। हमारे शोध का यही आधार है।

संक्षेप में, वेद की यह विषयवस्तु वैज्ञानिकता और प्रतीकात्मकता से युक्त है, जिनके संदर्भसूत्र 'निघण्टु' की सूचियों में आये शब्द हैं, इन शब्दों की व्याख्या में यास्क ने वेद के जिन मन्त्रों के उद्धरण प्रस्तुत किये हैं, उन्हें 'सम्यक-क्रम' में संजोने पर कोई-न-कोई वैज्ञानिक प्रक्रिया प्रकट हो जाती है। इनका विस्तृत वर्णन इस शोध प्रबन्ध के चतुर्थ अध्याय में यास्क के अनुशीलन में प्रस्तुत किया गया है। संक्षेप में यहां यह बतलाना उचित होगा कि यास्क ने अपने ग्रन्थ 'निरुक्त' तथा तदनुसार 'निघण्टु' को भी तीन काण्डों - नैघण्टुक, नैगम और दैवत - में बांटा है। 'निघण्टु' के प्रथम तीन अध्याय और 'निरुक्त' के भी प्रथम तीन अध्याय नैघण्टुक काण्ड में, 'निघण्टु' के चतुर्थ अध्याय की तीन सूचियां अलग-अलग 'निरुक्त' के चार से छः अध्यायों तक नैगम काण्ड में, तथा 'निघण्टु' के पञ्चम अध्याय की छः सूचियाँ 'निरुक्त' के सप्तम से द्वादश अध्यायों तक दैवतकाण्ड में सम्बद्ध की गई हैं। 'निरुक्त' में वेद की विषयवस्तु को इस प्रकार संजोया गया है:-

प्रथम अध्याय : भाषाविज्ञान, ज्ञान और विज्ञान, शिक्षण विज्ञान
द्वितीय अध्याय : ऊर्जा और उसके स्रोत
तृतीय अध्याय : समाजशास्त्र और सामाजिक मूल्य
चतुर्थ अध्याय : पाक-प्रक्रिया और ज्ञान-प्रक्रिया
पंचम अध्याय : ऊर्जा संरक्षण प्रक्रिया
षष्ठ अध्याय : कर्म-प्रक्रिया और जीवनीय प्रक्रिया
सप्तम अध्याय : 'निघण्टु' पंचम अध्याय की प्रथम सूची से संदर्भित देवताओं का स्वरूप तथा पहचान।
अष्टम अध्याय : 'निघण्टु' पंचम अध्याय की द्वितीय सूची से संदर्भित यज्ञीय देवता, स्थितियां, साधनादि।
नवम अध्याय : 'निघण्टु' पंचम अध्याय की तृतीय सूची से संदर्भित युद्ध और यज्ञ उपादान, देवियां तथा प्राणी। पृथिवी स्थानीय देवताओं की विभूतियां सम्पन्न कर दी गई है।

दशम अध्याय : 'निघण्टु' पंचम अध्याय की चतुर्थ सूची से संदर्भित अन्तरिक्ष स्थानीय देवताओं का स्वरूप और पहचान।

एकादश अध्यायः 'निघण्टु' पंचम अध्याय की पंचम सूची से संदर्भित देवताओं तथा देवियों के स्वरूप तथा पहचान।

द्वादश अध्याय : 'निघण्टु' पंचम अध्याय की षष्ठ सूची से संदर्भित द्युस्थानीय देवी-देवताओं का स्वरूप तथा पहचान।

यास्क ने संक्षेप में वेद की विषयवस्तु को अपने ढंग से संकलित किया है, जो अध्ययन का विषय बन सकता है। इसकी विवेचना से यह निष्कर्ष बनता है कि तीन स्थान व्यूह – पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यु – अपने-अपने देवता अग्नि, वायु या इन्द्र, आदित्य अपनी विभूतियों और कर्मों के परिप्रेक्ष्य में अनेकनाम्ना होकर पुरुष के समान व्यवहार करते हुए परिलक्षित होते हैं, ऐसी वेद की विषयवस्तु है। इसमें 'पुरुष के समान' होने पर जो अत्यधिक जोर डाला गया है, वह वेद सम्मत तो है ही, मानो वेद का आग्रह भी है – "यत्पुरुषं व्यदद्युः कतिधा व्यकल्पयन्, ... तथा लोकानकल्पयन्"[25]। चरकसंहिता[26] और पुराण[27] भी इसकी पुष्टि करते हैं। तब ऋग्वेदीय पुरुषसूक्त का 'कतिधा' चरक संहिता के 'कतिधापुरुषीयशारीर' के साम्य से 'सत्वात्माशरीर' के लोकविभाग[28] ही पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यु आदि के रूप हैं और ये तीनों स्तरों अधिभूत, अधिदेव, अध्यात्म पर कार्यरत होते हैं, और लोक या विश्व इनके संयोग से निर्मित होता है, यथा –

"पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि"[29]

अर्थात् इस पुरुष का एक पाद विश्व में (आ विश्व) है तथा इसके तीन पाद भूतों, अमृत और द्यु में है। इस प्रकार पुरुष और लोक अपने सम्पूर्ण

---

25. ऋ० 10:90:10, 13
26. चरक० शा० 4:13
27. भागवत 2:5:35–36, 1:3:3
28. सत्वात्माशरीरं तु त्रयमेतत् त्रिदण्डवत्, लोकस्तिष्ठति संयोगात्तत्र सर्वं प्रतिष्ठितम्।। चरक० सूत्र० 1:46
29. ऋ० 10:90:3

संयोग–विभागों सहित वेद की विषयवस्तु हैं और इनके द्रव्य, गुण–कर्म आदि व्यवहार से अनेकानेक नामरूप के समाम्नाय कल्पित हैं जो इनके प्रतीक और आधार हैं।

निष्कर्षतः 'लोक' और 'पुरुष' का अध्ययन वेद को अभीष्ट है, तथा इनकी एकरूपता भी। लोक और पुरुष का अध्ययन विज्ञान[30] है, और इनकी एकरूपता में प्रतीकात्मकता निहित है। वस्तुतः लोक[31] और पुरुष को सर्वथा अलग नहीं किया जा सकता, मात्र अवधारणात्मक सुविधा के हेतु से इनके नाम–रूप अलग–अलग किये जाते हैं, जबकि लोक पुरुष में ही निहित रहता है। "इस प्रकार यह पुरुष लोकसंमित (लोक युक्त) है, जितने लोक में मूर्तिमान् भावविशेष हैं वे सब पुरुष में भी हैं, जो पुरुष में हैं वे लोक में भी हैं।"[32] इससे स्पष्ट है कि यद्यपि लोक में रहने वाले सभी भावविशेष पुरुष में ही हैं[33] (क्योंकि लोक पुरुष में ही विद्यमान है) तथापि पुरुष के भाव विशेष भी लोक में ही स्थित रहते हैं। यहां 'मूर्तिमन्तो' शब्द विशेषरूप से ध्यान देने योग्य है, जो सचित्र अवधारणा का द्योतक है और प्रतीकों[34] का भी, क्योंकि जब तक भावविशेष की मूर्ति न बन जाए तब तक प्रतीकात्मकता स्थापित नहीं होती। प्रतीक भाव के मूर्तिमन्त रूप हैं।

अधिभूत, अधिदेव और अध्यात्म पुरुष के भावविशेष[35] हैं, और ये भी लोक में ही विद्यमान रहते हैं, कोई अलौकिक नहीं हैं। हाँ, इनके हेतु से लोक के भी 'भूर्भुवस्स्वः' आदि विभाग अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से कर दिए गए हैं। प्रत्येक पुरुष भाव में 'सत्वमात्माशरीरम्' मान्यतः प्रतिष्ठित है और ये तदनुकूल नाम–रूप भी प्राप्त करते हैं, यथा अधिभूत "खादयश्चेतना षष्ठा धातवः पुरुषः स्मृतः" या "पंचमहाभूतशरीरि समवायः पुरुष"[36] कहा

30. "विज्ञान सम्पूर्ण लोक अर्थात् वह संसार जो मनुष्य के द्वारा अनुभव के हेतु से अभीष्ट है, पहुंचने की एक विधि है विज्ञान का एकमात्र उद्देश्य उस संसार को समझना है जिसमें मनुष्य रहता है।" – डब्लू0जे0गूडे और पी0के0हट्टः मेथड्स ऑफ सोशल रिसर्च, टोकियोःकोगाकुशा, 1952, पृष्ठ7

31. 'लोक' शब्द 'लोक्' दर्शने धातु में घञ् प्रत्यय लगाकर व्युत्पन्न होता है, जिसके अर्थ अनुभवगम्य संसार या दृश्यमान जगत हैं।

32. चरक0शा0 4:13

33. "पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्" ऋ0 10:90:2

34. डी.बी.गुरालनिक सम्पादित "वेब्सटर्स न्यू वर्ल्ड डिक्शनरी" के पृष्ठ 758 पर **"Symbol"** अर्थात 'प्रतीक' के अर्थ "किसी अमूर्त के प्रतिनिधित्व के लिए प्रयुक्त कोई वस्तु" है। चतुर्वेदी द्वारिका प्रसाद शर्मा एवं पं0 तारिणीश झा कृत "संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ" के पृष्ठ 763 पर 'प्रतीक' शब्द के अर्थ में नपु.लि.में 'मूर्ति' शब्द दिया गया है।

35. चरक शा0 1:16—17

36. सुश्रुत0सूत्र0 1:30

गया है, जिनमें भूतों की स्थिति अधिक है, अतः लोक के सापेक्ष से भू-स्थानीय माना जाता है; इसका शरीर पत्र्चभौतिक (हाड्मांसयुक्त) है, सत्व वात (वायु), पित्त (अग्नि) और कफ (जल), से समन्वित है, जो संचालिकावृत्ति (मन) के क्रियारूप हैं, तथा आत्मा 'भूतात्मा' रूप हैं, अर्थात् ऊर्जा भी भौतिक ऊर्जा की भांति अपेक्षाकृत स्थूल या पार्थिव है। अधिदेव "चेतनाधातुरप्येकः स्मृतः पुरुष संज्ञकः" कहा गया है, जिसमें स्वयं प्रकाश रूप चेतन ऊर्जा की स्थिति अधिक है, और लोक के सापेक्ष से 'भुवः' अर्थात अन्तरिक्षस्थानीय माना जाता है; इसका शरीर 'सूक्ष्म शरीर' है (जो स्नायुसंस्थानरूप है), सत्व ऊर्ध्व, अधो एवं तिर्यक् गतियों वाला है, तथा आत्मा 'अन्तरात्मा' रूप, मन से संयुक्त है। अध्यात्म "मनोदशेन्द्रियाणि अर्थाः प्रकृतिश्चाष्टधातुकी", इस प्रकार चौबीस तत्वों से युक्त कहा गया है, जिसमें आत्मतत्व (स्वबिम्ब) की स्थिति अधिक है, और लोक के सापेक्ष से 'स्वः' अर्थात द्यु-स्थानीय माना जाता है; इसका शरीर 'कारण शरीर' है (समवायिकारण रूप मन-दिशा-काल द्रव्यों के संयोग से), सत्व सत्-रज-तम गुणों वाला तथा आत्मा 'परमात्मा' रूप पर ओज से युक्त है। इन सब के द्रव्य, गुण, कर्म, वीर्य, विपाक, प्रभाव, सामान्य, विशेष, समवाय, संयोग, विभाग आदि से अनेकानेक नाम-रूप उपस्थित होते हैं, जो सभी वेद के विषय हैं।

जो पार्थिव स्थूल भावों से आत्मिक सूक्ष्म भावों तक पुरुष की स्थिति बताई गई है, उसमें सूक्ष्म का स्थूल में परिवर्तन और स्थूल के सूक्ष्म में परिवर्तन की निहित प्रक्रियायें भी पुरुष के संदर्भ से ही अध्येय हैं। वर्तमान विज्ञान में भी 'मैटर' को ऊर्जा अर्थात् 'इनर्जी' में और पुनः 'इनर्जी' को 'मैटर' में बदले जाने की प्रक्रिया को जान लिया गया है, किन्तु ऐसा 'मैटर' के संदर्भ से ही किया गया है, जबकि वेद में पुरुष के संदर्भ से ही ऐसा ज्ञान निष्पादित है। सूक्ष्मातिसूक्ष्म आत्मा पुरुष के सन्दर्भ से परिवर्तित होकर स्थूलतम जीवरूप में अवस्थित होती है।, और इस प्रक्रिया में क्रमशः मन, दिशा, काल, आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथिवी आदि परिवर्तित द्रव्य प्रकाश में आते हैं। ठीक इसके विपरीत, पुरुष के संदर्भ से ही स्थूलतम अन्न क्रमशः सूक्ष्मता को प्राप्त करता हुआ रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र, अपर-ओज आदि में प्रक्रिया करता हुआ

अन्ततोगत्वा परमात्मस्वरूप 'पर-ओज' में परिवर्तनशील होता है, "उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति"[37] इति। इसी प्रकार कर्म की प्रक्रिया सूक्ष्म का स्थूल में परिवर्तन है, और ज्ञान की प्रक्रिया स्थूल का सूक्ष्म में परिवर्तन है, ये दोनों प्रक्रियायें भी पुरुष के संदर्भ से ही निष्पादित होती रहती है।

जहां "सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते"[38] से कर्म से ज्ञान प्राप्त होने[39] की बात कही गई है, और अनेकविध वैदिक यज्ञ कर्मज कहे गये हैं[40] वहीं प्राप्त ज्ञान के आधार पर अन्वेषण के हेतु से ज्ञान के विस्तार की दिशा में कर्म की योजना भी आवश्यक थी। यास्क ने वैदिक ऋषियों को जो "साक्षात्कृतधर्मा"[41] कहा है, उसका अर्थ ही यह है कि ऋषिगण कर्म में प्राप्त होने वाले साक्ष्यों के आधार पर अपनी धारणाएं बनाते थे। षड्दर्शनों के जो जोड़े बने, अर्थात् न्याय-वैशेषिक, सांख्य-योग, मीमांसा-वेदान्त, प्रारम्भ में उनमें एक कर्म (विधि) प्रधान और दूसरा ज्ञान (सिद्धान्त) प्रधान रहा और इस प्रकार सृष्टि विषयक ज्ञान के हेतु से वैज्ञानिक-शोध-विधि (रिसर्च मेथडालॉजी) तथा सृष्टि सिद्धान्त (थियरी ऑफ यूनीवर्सल इवोलयूशन एण्ड डेवलपमेन्ट) प्रतिपादित किये गये। किन्तु, बाद के ग्रन्थकारों (भाष्यकारों एवं टीकाकारों) ने बाल की खाल निकालने वाले अर्थहीन तर्कों से पूर्व ग्रन्थों के मर्म को न समझकर वितण्डा उत्पन्न किया और अलौकिकता का पृष्ठपोषण करते हुये वैज्ञानिक विधि और ज्ञान दोनों को लुप्तप्राय करने में अपनी महती भूमिका निभाई। अब, आवश्यकता यह है कि ज्ञान के हेतु से कर्म के नियोजन की वेदकालीन विधि पर प्रकाश डाला जाय तथा ज्ञान की प्रक्रिया को स्पष्ट किया जावे, तथा यह भी स्पष्ट किया जावे कि वैदिक ऋषियों ने किस प्रकार कर्म के द्वारा ज्ञान प्राप्त किया और लोक में उसे किस रूप में तथा किस उद्देश्य से प्रचारित किया।

यहाँ, यह आवश्यक नहीं है कि वेदकालीन विधि की आधुनिक विधि से एकरूपता दर्शायी जावे, अपितु आवश्यक यह है कि वैदिक विधि का मात्र आधुनिक मानदण्डों पर मूल्यांकन किया जावे कि उनके द्वारा किस प्रकार और कितना त्रुटिरहित प्रेक्षण सम्भव था, विज्ञान के कौन-कौन आयाम बने, और वर्गीकरण की विधियों के क्या आयाम थे, तथा इन सबकी आधुनिक विधियों से किस प्रकार तुलना की जा सकती है। ऐसे

37. ऋ० 10:90:2
38. गीता 4:33
39. ऋ० 2:38:4
40. गीता 4:32, 4:37
41. निरुक्त 1:20

कार्यो से कुछ ऐसे तुलनात्मक समीकरण उपस्थित हो सकते हैं जो हमारे वर्तमान वैज्ञानिक विधि और तथ्यों को नई दिशा प्रदान कर सकें और जीवन की समस्याओं के लिए कुछ अधिक उपयोगी अर्थ प्रदान कर सकें, विज्ञान के कुछ नये आयाम और क्षेत्र भी खोल सकें, तथा वह-दृष्टि भी उत्पन्न कर सकें जैसी वैदिक मनीषियों को प्राप्त थी।

(ख) शोध विषय का निरूपण, महत्व एवं शोध की आवश्यकता

जो शोधनीय है, उसी से सम्बन्धित है वर्तमान शोध; अर्थात् जो वेद का विषय है वही प्रस्तुत शोध का विषय है। लोक और पुरुष का अध्ययन तथा इनकी एकरूपता वेद को अभीष्ट है; एकरूपता में प्रतीकात्मकता निहित है। पुरुष के व्यवहार का आधार केन्द्रीय स्नायुमण्डल है जिसमें ऊर्जा रूप से वायु (आवेग, इम्पल्स) हेतु है। वायु आधिदैविक ऊर्जा है जो अन्तरिक्ष स्थानीय है और इस कारण ही यर्जुवेद का अभीष्ट देवता है। अतएव, हम देखते हैं कि ऋग्वेदीय आधिदैविक सूक्तों में प्रकारान्तर से यजुर्वेद भी अन्तर्निहित है। सामवेद के रचनाविधान में ऋग्वेदीय सूक्त और मन्त्रों का ही मुख्यतः प्रयोग होने के कारण सामवेद भी प्रकारान्तर से ऋग्वेद में ही समाविष्ट है; अथर्वेद के अधिकांश भाग के लिए भी लगभग ऐसा ही निर्णय तर्कसंगत प्रतीत होता है। अतः स्पष्ट है कि ऋग्वेद विशिष्टतः चारों वेदों का प्रतिनिधित्व करता है।

ऋग्वेद की प्रबन्ध व्यवस्था दस मण्डलों मे की गई है। इनमें प्रथम मण्डल 'सूत्रस्थान' है, जिसमें सूत्र रूप से सम्पूर्ण ऋग्वेद की विषयवस्तु तथा समस्याओं पर प्रकाश डाला गया है। द्वितीय से अष्टम मण्डल तक महत्वपूर्ण ऋषियों (तथा उनके परिवार एवं सम्प्रदाय) की अलग-अलग रचनाएं संकलित की गई हैं; नवें मण्डल में सोम देवता से सम्बन्धित रचनायें संकलित हैं, और दशम मण्डल 'उपसंहार' रूप है, जिसमें निष्कर्षात्मक, परिशिष्टीय तथा अनाहरित रचनायें संग्रहीत की गई हैं। दशम मण्डल में वह सब सामग्री निहित है जिस पर पूर्व के नौ मण्डलों में प्रकाश डाला गया है; इस कारण ही इस मण्डल के सूक्तों में पूर्व-मण्डलों के संदर्भ लेना आवश्यक हो जाता है, और एक प्रकार से दशम मण्डल का अध्ययन अपने संदर्भो सहित पूरे ऋग्वेद का ही अध्ययन होता है। अथवा, यूँ कह सकते हैं कि पूरे ऋग्वेद का अध्ययन किये बिना निष्कर्षरूप दशम मण्डल की व्याख्या सम्भव नहीं हो सकती है। इस प्रकार ऋग्वेद के सम्पूर्ण अध्ययन की हमारी अनिवार्यता हो जाती है; तथापि, सीमांकन की दृष्टि से हम अपने शोध को दशम मण्डल में ही बाँधे रखना उचित समझते हैं। निस्संदेह, ऋग्वैदिक दशम-मण्डल एक सम्पूर्ण वैदिक अध्ययन निर्णीत होता है।

कुछ विदेशी विद्वानों द्वारा ऋग्वेद के प्रथम और दशम मण्डलों को जो नवीन कहा गया है, उसका प्रमुख कारण यह रहा है कि भारतीय ग्रन्थों की रचना में प्रबन्ध-व्यवस्था तथा वेदों की रचना-शैली की जानकारी का उनमें अभाव रहा। ऋग्वेद में ऐसा काव्य संकलन है जो एक लम्बे काल की रचनाओं को समाहित करता है, और इस संदर्भ में किन्हीं सूक्तों को प्राचीन और किन्हीं को नवीन कहा जा सकता है, किन्तु सम्पूर्ण संकलन का समय तो ग्रन्थ के प्रकाशन का काल ही माना जायेगा। इसके अतिरिक्त भाषा या विषयवस्तु के आधार पर भी देशगत या कालगत मान्यताओं का निर्धारण करना सम्भव प्रतीत नहीं होता, क्योंकि वेद के संकलनकर्ताओं ने भाषा के विभिन्न प्रयोग जानबूझकर किये हों ऐसी भी संभावना हो सकती है। इसका सबसे पुष्ट उदाहरण निम्न मंत्र[42] है :-

सृण्येव जर्भरी तुर्फरीतू नैतोशेव तुर्फरी पर्फरीका।
उदन्यजेव जेमना मदेरू ता मे जराखजरं मरायु।।

जिसकी व्याख्या पूर्णरूप से अभी तक सम्भव नहीं हो सकी है।

जब हम किसी प्राचीन ग्रन्थ का अध्ययन करते हैं, तो वस्तुतः हम उस प्राचीन संस्कृति का ही अध्ययन कर रहे होते हैं जिसका वह ग्रन्थ उत्पाद है। यद्यपि संस्कृति का अध्ययन बहुआयामी होता है और प्रमुखतः वस्तुसंस्कृति (मैटीरियल कल्चर) तथा सामाजिक संस्कृति (सोशल कल्चर) के अवशेषों के आधार पर ही सांस्कृतिक अध्ययन संभव होता है, तथापि कोई ग्रन्थ उस संस्कृति के बौद्धिक, मानसिक, सामाजिक स्थितियों एवं पारिस्थितिक और पारस्परिक सम्बन्धों पर प्रकाश डालने का पर्याप्त साक्ष्य माना जा सकता है। इस प्रकार सम्यक् अध्ययन द्वारा हम ऋग्वेदीय मनीषा का अनुमान कर सकते हैं, और उन परिस्थितियों का भी आकलन कर सकते हैं जिनमें वैसी मनीषा विकसित हुई। इसके साथ साथ सामाजिक स्थिति और पारस्परिक सम्बन्धों पर भी प्रकाश पड़ सकता है जिससे वर्तमान समय की सामाजिक और बौद्धिक स्थितियों से तुलना की जा सकती है, विशेष रूप से तब जब हम एक परम्परावादी समाज हैं, और हमारी, सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक और वैचारिक स्थितियां परम्परा से प्राप्त और अक्षुण्ण हैं, और हम यह पाते हैं कि मौलिक रूप से बहुत कुछ जस-का-तस है। इस प्रकार हमें यह देखना है कि जो समानतायें हैं उनमें क्या विकास, परिवर्तन और परिवर्धन हुये हैं, और जो असमानतायें हैं वे क्यों हैं और कैसी हैं तथा उनके पीछे कौन सी विषम परिस्थितियां रहीं हैं। ऋग्वेद उपलब्ध प्राचीनतम बौद्धिक उत्पाद होने के कारण उसके माध्यम से उत्पादकों के अनुभवों को जानने और उनका विश्लेषण करने की आवश्यकता है ताकि हम उनके देश, काल, परिस्थितियों का संदर्भ जान सकें और उनके अनुभवों की सार्थकता निश्चित कर सकें। हम यह भी देख सकें कि

42. ऋ0 10:106:6

आधुनिक संदर्भों में ऋग्वैदिक विज्ञान की क्या महत्ता है, और विधि तथा उत्पाद दोनों की हमारे लिये क्या प्रासंगिकता हो सकती है। इस सम्बन्ध में पाश्चात्य दृष्टिकोण और पहुँच के ढंग से ऋग्वैदिक प्राच्य दृष्टिकोण और ढ़ंग के भेद को स्पष्ट करना और मौलिक रूप से प्राच्य मार्ग में प्रगति के उपादानों का आकलन करना अभीष्ट होगा।

विद्वानों ने वेद को सभी ज्ञान-विज्ञानों का स्रोत माना है। ज्ञान-विज्ञान की अवधारणायें देश-काल-परिस्थिति सापेक्ष रही हैं, और युग-युग में अपने-अपने ढंग से विज्ञान निष्पन्न होता रहा है, इस विचार के साथ वेद में विज्ञान के आयाम और निष्कर्ष खोजने का प्रयत्न हमारे लिये समीचीन होगा। वेद के साथ ही लगी हुई उपवेदों की परम्परा भी अतिप्राचीन और लगभग समकालीन है, क्योंकि उसे भी वेद की भांति ही अनादि कहा गया है और ईश्वर से उद्भूत माना गया है। अश्चर्यजनक रूप से वेद की भांति ही उपवेदों की विषयवस्तु भी लगभग वही है, वे ही ऋषि वेद व उपवेद के द्रष्टा हैं, तथा अनेक विवेचन लगभग एक जैसे हैं, जबकि उपवेद अधिक विकसित और पूर्ण हैं क्योंकि वे एक निश्चित उद्देश्य की पूर्ति करते हैं। ऋग्वेद का उपवेद आयुर्वेद माना गया है। तथापि, आयुर्वेद ग्रन्थों में उसे अथर्वेद का उपवेद बताया गया है। इस विरोधाभास का समाधान भी यों हो जाता है कि जहां तक आयुर्वेद के क्रियात्मक पक्ष चिकित्सा और उपचार का प्रश्न है, वह अथर्वेद के समीप होने से उसका उपवेद हो जाता है। किन्तु, जहां तक वैज्ञानिक सिद्धान्तों से युक्त ज्ञान पक्ष का प्रश्न है, वह ऋग्वेद से अधिक समीप होने के कारण उसका ही उपवेद होता है। इस सम्बन्ध में वैदिक मान्यता को स्वीकार करते हुये हम आयुर्वेद को ऋग्वेद का उपवेद मान्य करते हैं, क्योंकि प्रमुखतः हमें ऋग्वेद में वैज्ञानिक सिद्धान्त पक्ष का ही अन्वेषण अभीष्ट है।

'वेद में विज्ञान' के अध्ययन में आधुनिक पाश्चात्य विज्ञान के संदर्भ ढूंढने की प्रवृत्ति रही है, जो कि त्रुटिपूर्ण है। वस्तुतः हमें वेद में तत्कालीन विज्ञान ही ढूंढना चाहिये था, जो उपवेदों में परिपुष्ट किया गया है, अथवा वेदांगो में समाविष्ट किया गया है। अतएव, वेद के लिए विज्ञान रूप से आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद, वास्तुवेद, शिक्षा, कल्प, निरुक्त, व्याकरण, छन्द, ज्योतिष आदि की विषयवस्तु का अन्वेषण करने की आवश्यकता है, जो शारीर, वानस्पतिकी, निदान, विकृति तथा रोग विज्ञान, औषधविज्ञान, हिताहित, स्वास्थ्य विज्ञान, योग, मनोविज्ञान, भौतिकी, रसायन, ज्योतिष और मौसम विज्ञान, ध्वनि और भाषा विज्ञान, संगीत शास्त्र, सन्धान विज्ञान, शिल्प और इन्जीनियरी, आदि के सिद्धान्त और नियम प्रतिपादित

करते हों। इसके अतिरिक्त वर्गीकरण की पद्धति, अनुसंधान और परीक्षण विधियां, मूल्यांकन विधियां आदि का अन्वेषण करना भी आवश्यक है।

वेद में वैज्ञानिकता का अध्ययन भी दो प्रकार से संभाव्य है। प्रथमतः, विषय के प्रस्तुतीकरण में वैज्ञानिक आधार होना, और द्वितीयतः, वेद में वर्णित तथ्यों व निष्कर्षों के वैज्ञानिक आधार होना। यह कार्य इस कारण कठिन हो जाता है कि ऋग्वेद में बहुत कम स्थानों पर ही विषय का पूर्ण या आंशिक विवेचन किया गया है, तथा यदि एक अंश एक सूक्त में है तो दूसरा अंश कहीं दूर किसी दूसरे सूक्त में प्राप्त होता है; प्रायः मात्र संदर्भ रूप से ही आंशिक विवेचन अत्यल्पांश में ही किये गये हैं, जिनकी पकड़ भी अति सूक्ष्म अध्ययन तथा निरंतर सजग अध्ययन से ही सम्भव होती है, और इसमें भी त्रुटि, पक्षपात और पूर्वाग्रह की संभावनायें बनी रहती हैं। इसलिये, वेद के अध्ययन में हमें सम्यक् दृष्टि रखनी होगी। सम्यक् दृष्टि वह है जो पूर्वाग्रहों, पूर्वधारणाओं, पक्षपात और त्रुटि से मुक्त हो, वस्तुपरक हो, और जिसमें सभी विकल्पों पर विधिवत विचार किया गया हो। ऐसे निष्कर्ष लेने में भी हमें सतर्क रहना होगा और सतत उपयुक्तता निश्चित करनी होगी। वेद में जो परोक्ष और छिपे हुए अर्थ हैं, जिसके कारण वेद में अस्पष्टता बढ़ गई है, और इसका लाभ उठाकर भाष्यकारों द्वारा अनेक अध्यारोपण अपनी-अपनी प्रवृत्ति के अनुसार कर दिये गये हैं, उनको सर्वथा स्पष्ट करते हुए तथा उनके अन्य समीकरण प्रस्तुत करते हुए सम्यक् ईक्षण करना या सम्यक् दृष्टि रखते हुए निर्णय करना ही 'समीक्षा' है, तथा ऐसी धारणा निर्मित करना या अवधारणा करना ही 'अध्ययन' है। इन स्पष्टीकरणों के साथ हम निम्न शब्दों में प्रस्तुत शोध विषय का निरूपण करना उपयुक्त समझते हैं :-

"ऋग्वेद दशम मण्डल में प्रतीकात्मकता एवं वैज्ञानिकता का समीक्षात्मक अध्ययन।"

ज्ञान, पूर्वकथन और नियंत्रण विज्ञान के उद्देश्य हैं। इन उद्देश्यों की पूर्ति में लोक में प्राप्त अनुभवों का मानसिक प्रहस्तन और समन्वयन करते हुए उन्हें तथ्यात्मक ढांचे में संकलित करना तथा शिक्षण के माध्यम से एक व्यक्ति से दूसरे व्यक्ति को तथा एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तान्तरित करना विज्ञान की अवधारणा के अनुरूप है। इस क्रम में शिक्षा वह सामाजिक और मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है जिसमें एक जीव, देश, काल एवं परिस्थिति के प्राप्त अनुभवों को दूसरे जीव, देश, काल एवं परिस्थिति में हस्तान्तरित किया जाता है। वेद के अध्ययन के माध्यम से हम इन उद्देश्यों की पूर्ति किस प्रकार से कर सकते हैं, यह जानने के लिए सर्वप्रथम हमें वेद के ही उद्देश्यों और तात्पर्य को समझना होगा, कि

ऋषियों का इन रचनाओं के द्वारा किन तथ्यों को उद्घाटित करने का मन्तव्य था और उस सबके पीछे क्या मकसद था? डा० वासुदेवशरण अग्रवाल संक्षेपतः इस समस्या को यों प्रस्तुत करते हैं[43]:-

"जिस समय वैदिक मन्त्रों की रचना हुई या उन पर ब्राह्मण ग्रन्थों में, आधिदैविक, आध्यात्मिक, आधिभौतिक अर्थों का ऊहापोह यज्ञपरक मीमांसा के आधार पर किया गया, उस समय ऋषि वस्तुतः किस तथ्य का कथन करना चाहते थे, इस प्रश्न का उत्तर अत्यन्त गूढ़ है और श्रृंग-ग्राहिकया इसका उत्तर हम नहीं ढूंढ पाते। इस विषय में पश्चिमी और भारतीय नूतन विद्वानों की एक सी असहाय स्थिति है। किन्तु यह निश्चय है कि वैदिक ऋषि अपने निगूढ़ शब्दों द्वारा किसी बोधगम्य तथ्य को ही प्रकट करना चाहते थे।"

अपने अध्ययन में हमे यह देखना है कि यह 'बोधगम्य तथ्य' क्या हो सकते हैं, और आधुनिक संदर्भों में इनका क्या महत्व है और क्या उपादेयता हो सकती है।

ऋग्वेद में जब हम विज्ञान या वैज्ञानिकता का अध्ययन करने चलते हैं तो हमें सर्वप्रथम विज्ञान के आयामों और क्षेत्रों के बारे में जानकारी प्राप्त करना आवश्यक हो जाता है। हम प्रारम्भ में ही यह मानकर नही चलना चाहते, जैसा कुछ भारतीय विद्वानों ने वेदाध्ययन में पूर्वाग्रहपूर्वक मान लिया है, कि उस काल का विज्ञान अत्यंत विकसित और उन्नत था और आज के विज्ञान के लिए भी उसका महत्व है। प्रत्युत हम यह देखना चाहते हैं कि प्रकृति के तत्वों की उनकी प्रारम्भिक जानकारी भी क्रमबद्ध जिज्ञासु वृत्ति का परिणाम थी अथवा आकस्मिक घटनाओं के उपहार अनुभव मात्र थे? तब विज्ञान एक योजनाबद्ध अध्ययन विषय था जिसमें समाज की रूचि थी अथवा अनेक तथ्य मात्र 'अन्धे के हाथ बटेर' थे? प्रारम्भिक स्तर पर अग्नि का आविष्कार और उसकी जीवन में उपयोगिता का आकलन, सूर्य की जानकारी और उसका पृथ्वी पर प्रभाव, ऋतु परिवर्तन की जानकारी और उनके कारण आदि, अनेक सामान्य विज्ञान के तथ्यों का भी आकलन हम करना चाहेंगे और विकास के क्रम में भौतिक विज्ञानों, शारीरिक विज्ञानों, सामाजिक विज्ञानों, पारिस्थितिक विज्ञानों आदि की उन्नत उपलब्धियों तथा उनके पीछे अन्वेषण की प्रखर दृष्टि का भी मूल्यांकन करने की हमें आवश्कता है। इस कार्य में हम प्राचीन भारत में विकसित ज्ञान-विज्ञानों, जैसे-आयुर्वेद, ज्योतिष, स्थापत्य आदि से प्राप्त स्थितियों का तुलनात्मक अध्ययन भी करेंगे। हम वेदकालीन वैज्ञानिक

43. वासुदेवशरण अग्रवाल 'भूमिका' पृष्ठ 1, गिरधर शर्मा चतुर्वेदी कृत 'वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति', पटना, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद 1972

उपलब्धियों का आधुनिक विज्ञान की प्राप्तियों से तुलनात्मक अध्ययन करने और मूल्यांकन करने को उपयुक्त नहीं समझते हैं, तथापि उन सम्भावनाओं को इङ्गित मात्र किया जा सकता है।

(ग) शोध सम्बन्धित विषय पर आद्योपान्त कार्यों का विवरण तथा समीक्षाः

वर्तमान शोध विषय पर पूर्वकाल में जस-की-तस गवेषणा होने की सम्भावना तो निरी कल्पना ही होगी, किन्तु इससे सम्बन्धित विषय को संक्षिप्त रूप से ऋग्वेद तक सीमित रखते हुए, मात्र प्रतीकात्मकता और वैज्ञानिकता का निदर्शन ही पर्याप्त मानकर, उस पर हुए कार्यों का विवरण प्रस्तुत करना हमारे लिए उपयुक्त रहेगा। यद्यपि हम यह स्वीकार करते हैं कि ऋग्वेद के रहस्यों को अवर-वेदों, उपवेदों, वेदांगों, वेदेतर साहित्य, इतिहास-पुराणों आदि में यत्र-तत्र स्पष्ट करने की सफल चेष्टाएं हुई हैं, किन्तु इस विभाग में इनका विवरण देना ही उद्देश्य नहीं है। किंवा हम इन्हें किसी न किसी रूप में ऋग्वेद का ही अनुभाग होना स्वीकार करते हैं, और हम अपनी विस्तृत व्याख्या में मन्त्रों और सूक्तों से इन सब की तुलनात्मक समीक्षा यथाप्रसंग देते हुए रहस्य के उद्घाटन की चेष्टा करेंगे। यहाँ, हमारा उद्देश्य प्रतीकात्मकता और वैज्ञानिकता पर आद्योपान्त कार्यों का विवरण एवं समीक्षा प्रस्तुत करना है, जो आधुनिक वैज्ञानिक पृष्ठभूमि के मानदण्डों पर खरे उतरते हों और सही अर्थों में विज्ञान की परिभाषा तथा उद्देश्यों के अनुकूल हों। इस सम्बन्ध में लगभग नहीं के बराबर शोध और गवेषणा का कार्य हुआ है। जिन महानुभावों ने अपने कार्य में वैज्ञानिकता का दावा किया है, वह भी प्रायः अपूर्ण, एकांगी तथा विषयवाह्य है, और एक निजी फिलासफी द्वारा व्याख्याकारिता का प्रयत्नमात्र रहा है। इसका मुख्य कारण यह है कि इनमें से अनेक महानुभाव आधुनिक अथवा प्राचीन विज्ञानों में निष्णात नहीं थे, अतः साइन्स को भी फिलासफी की भांति समझ कर तर्क-वितर्क प्रस्तुत करते रहे। लगभग यही स्थिति प्रतीकात्मकता के बारे में रही जिसे समानार्थक या पर्यायवाची शब्दों मात्र से व्याख्यायित किया गया अथवा नितान्त कल्पना का सहारा लेकर प्रतीक बतलाने की चेष्टा की गई, न कि वैदिक प्रतीकों का अन्वेषण किया गया हो और तब उन्हें तर्कपूर्वक पिरोया गया हो।

जयपुरशालाः

विज्ञान सम्बन्धी शोधकर्ताओं और रचनाकारों में सर्वप्रथम हम जयपुरशाला के आचार्यद्वय विद्यावाचस्पति श्री मधुसूदन ओझा एवं महामहोपाध्याय पं० गिरिधर शर्मा चतुर्वेदी (गुरू-शिष्य), तथा ओझा जी के एक अन्य शिष्य

तीसरे विद्वान पं० मोती लाल शर्मा शास्त्री, जो राजस्थान वैदिक शोध संस्थान के माध्यम से वैदिक ग्रन्थों के विज्ञानभाष्यों का प्रणयन करने में लगे हैं, तथा इनके सहयोगी विद्वान श्री रामनाथन् जो अंग्रेजी में इस शाला के कार्य को प्रस्तुत कर रहे हैं, को वैचारिक एकता की दृष्टि से समीक्षा में सम्मिलित कर रहे हैं।

मूलतत्वः मूलतत्व 'पुरुष' अपनी शक्ति 'माया' से प्रपत्रच को रचता है। तत्व की सुप्त अवस्था 'बल', कार्यसमुद्यता 'शक्ति' है जो 'क्रिया' रूप होकर उपशान्त हो जाती है। मूलतत्व एक, अवस्थातीत, गुणधर्म रहित, अगोचर है, श्रुति ने इसे 'रस' कहा है जो आनन्दवाचक है। रस और बल दो नहीं एक हैं। शक्ति जागृत होकर अपरिच्छिन्न रस को अपनी परिमितता से परिच्छिन्न सा दिखा देती है। अवस्था दर अवस्था के आकलन से वस्तु के सूक्ष्म-मूल पर पहुंचते हुए अन्ततोगत्वा उस मूलतत्व पर पहुंचा जा सकेगा।

पुरुषः 'रस' में स्थित बल प्रवाही बनता है और बल पर बल आकर चिनाई होने से अन्ततः ग्रन्थि पड़ जाती है। पुरुष परिच्छेद मात्र से 'अव्यय पुरुष', बलों की चिनाई से 'अक्षर पुरुष', और ग्रन्थि पड़ जाने से 'क्षर पुरुष' कहलाता है। दृश्य-प्रपंच का उपादान कारण क्षर पुरुष, निमित्त कारण अक्षर पुरुष और सबका अधिष्ठान अव्यय पुरुष है। बल जब तक जाग्रत रहता है, परिच्छेद नहीं करता, तब तक 'परात्पर' तथा एक और अभेद है। परिच्छिन्न होने पर सब से बड़ा 'ईश्वराव्यय' है तथा छोटे-छोटे 'जीवाव्यय' है। क्षराक्षर अव्यय की सीमा का अतिक्रमण नहीं कर सकते, मूर्तियों का उत्पादक 'शुक्र' भी उतने ही प्रदेश में सीमित है। अव्यय के साथ-साथ अन्य सब भी घटते-बढ़ते हैं। पुरुष की सोलह कलायें (पांच-पांच तीन पुरुषों की और एक परात्पर की) मानी गई हैं।

आधिदैविक कलायेंः अव्यय पुरुष की कलायें आनन्द, विज्ञान, मन, प्राण और अन्न (वाक) है। परिच्छिन्न होने पर सर्वप्रथम मन का प्रादुर्भाव होता है। मन 'रस' और 'बल' दोनों तत्वों से युक्त है। मन में दो प्रकार की चिनाई होती है, एक खोलने वाली तथा दूसरी बांधने वाली। प्रथम के क्रम में मन, विज्ञान और आनन्द की अभिव्यक्ति होती है, ये मुक्तिसाक्षिक कलायें हैं। दूसरी के क्रम में मन, प्राण और वाक् सृष्टिसाक्षिक कलायें हैं। बन्ध और मोक्ष का कारण मन उभयात्मक है। ज्ञान का मूल तत्व मन,

क्रिया का प्राण, और अर्थ (भूतों की सूक्ष्मावस्था) का वाक् है। वाक् में मन और प्राण व्यापक हैं। ज्ञान, क्रिया और अर्थ प्रपंच के आधार हैं। प्राण के आधार पर अक्षर पुरुष और वाक् के आधार पर क्षरपुरुष विकसित होता है। अपनी परिधि तोड़कर बाहर के तत्व को समेटकर बड़ा बनने की प्रवृत्ति भूख या 'अशनाया' कहलाती है, जो एक प्रकार का बल है। 'रस' को अमृत तथा 'बल' को मृत्यु कहा जाता है, अतः अशनाया भी मृत्यु है। रस का जो बलरूप अंश उठता है वह उक्थ कहलाता है, भोजन को चलना 'अर्चन' और चलन के कारण उस अंश को अर्क कहते हैं, बाहरी भोजन को 'अशिति' कहते हैं। इस प्रकार आकर्षण-विकर्षण प्रक्रिया चलती है और परिच्छिन्न पुरुषों के बलों का संघर्ष मच जाता है। यही क्रिया प्रधान अक्षर पुरुष का प्रादुर्भाव है।

अक्षर पुरुष प्राण प्रधान या क्रिया प्रधान है। इसकी कलायें ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, अग्नि और सोम हैं। भीतर के तत्व को बाहर फेंकने वाला 'इन्द्र' रिक्त हुये स्थान की बाहर से पूर्ति कर पालने वाला 'विष्णु', और इस आवागमन पर भी एकरूप प्रतिष्ठा रखने वाला 'ब्रह्मा' सबका उत्पादक कहलाता है। ये तीनों केन्द्र रूप 'नाभि' में रहते हैं और इस कारण ये कलायें 'नभ्य' कहलाती हैं। प्रतिष्ठा प्राण की सहायता से केन्द्र से बाहर फेंके हुए रस का एक पृष्ठ बन जाता है, जिन पर भी दो तत्व बाहर जाने वाला 'अग्नि' और भीतर आने वाला 'सोम' है, ये दोनों कलायें 'पृष्ठ्य' कहलाती हैं। अव्यय पुरुष की प्राण और वाक् कलायें ही यहां अग्नि और सोम में विकसित हुई हैं। अक्षर पुरुष अपने स्वरूप में भी स्थित रहता है और उसी का अंश मूलरूप में क्षर पुरुष या संसार में परिणत हो जाता है।

प्राण, आप, वाक्, अन्नाद और अन्न क्षर पुरुष की कलायें हैं। प्राण 'ऋषि' है, हर वस्तु में प्राण व्याप्त हैं, बल और धारण प्राण की शक्ति हैं, प्राण वस्तु के भीतर रहता है, और बाहर भी फैलता है। पार्थिव पदार्थों में रहने वाला अग्नि पृथ्वी का प्राण है। यह चित्य और चितेनिधेय दो प्रकार का है। वस्तु के स्वरूप संगठन में लगा प्राण वा अग्नि 'चित्य' है, स्वरूप बनाकर उस पर बैठने वाला प्राण जो चारो ओर फैलता रहता है 'चितेनिधेय' है। चित्य में शक्ति मृत हो चुकी है अतः वह मर्त्य है, चितेनिधेय अमृत है।

वितानवेदः वितनन की क्रिया प्राण शक्ति और उसके आधार वाक् से होकर स्वज्योति, परज्योति और रूपज्योति तक होती है। रूपज्योति वाले पार्थिव वस्तुओं के चितेनिधेय प्राण वस्तु के रूप को साथ लेकर हमारे चक्षु तक आते हैं जिससे उस दूरी तक वस्तु का रूप दिखाई देता है। प्राण का यह फैलाव 'वितानवेद' है। वस्तु का आकार 'ऋक्', उसके प्रसार का अन्तिम मण्डल 'साम', और मध्य के मण्डलों में व्याप्त अग्नितत्व 'यजुः' कहलाता है। वस्तु का सार यजुः में भरा रहता है जिससे नये-नये पदार्थ उत्पन्न होते रहते हैं। साम का आधार ऋक् है, ऋक्-मण्डल (मूर्ति) नष्ट होने पर साम (प्रकाश मण्डल) भी नष्ट हो जाता है।

छन्दोवेदः मूर्ति चित्याग्नि है, उसे वाक् भी कहते हैं, उसका केन्द्र प्रजापति का स्थान है जिसके आकर्षण में मूर्ति और उसका साम-मण्डल बद्ध है। अग्नि में गति है, इसलिए मूर्ति का प्रत्येक परिमाणु अमृतप्राण के साथ बाहर की ओर चलता है जबकि केन्द्र-बिन्दु स्थिर है। यदि वह चल जाय तो मूर्ति के स्वरूप का नाश हो जाये। मूर्ति के व्यास पर के बिन्दु 'छन्द' हैं, जिनकी मर्यादा या परिच्छेद में मूर्ति-पिण्ड बँधा हुआ है।

रसवेदः वस्तु से बाहर जाने वाला अंश प्राण और भीतर आने वाला वाक् प्रधानता के साथ क्रमशः अग्नि और सोम कहलाते हैं। वैसे प्राण भी आग्नेय और सौम्य होता है। अग्नि सर्वत्रव्यापक सोम को खींचकर अपने ही रूप में परिणत कर देता है, फिर सोम अग्नि होकर बाहर निकलता है और घन में मिलकर पुनः सोमरूप हो जाता है। इस प्रकार दोनों तत्व अवस्था भेद मात्र से आपस में परिवर्तनीय हैं।

दृश्य जगत के विभाग कर्म, रूप और नाम (मूर्ति) के मूलकारण क्रमशः वाक्, प्राण और मन हैं जो प्रकारान्तर से ऋक्, यजुः और साम कहलाते हैं। इनका उद्भव सत्यलोक और स्वयंभूमण्डल में होता है जहां से सर्वत्र इनका प्रसार होता है। आगे सूर्यमण्डल में इनका स्फुट प्रादुर्भाव होता है और वे गायत्रीमातृक हो जाते हैं। पृथ्वी ऋक्, अन्तरिक्ष यजुः और द्युलोक साम है, यह वाक् की एक 'साहस्री' है, द्वितीय 'सहस्र' विष्णु है, और

तृतीय 'सहस्र' इन्द्र है। ऋक् और साम इन्द्र हैं, और यजुः विष्णु है, ऋक् और साम वाक् हैं, यजुः मन है। पृथ्वी की अग्नि की व्याप्ति सूर्यमण्डल तक है, अतः इसका साम 'रथन्तर साम' है। सूर्यमण्डल का साम 'बृहत्साम' है, जिसमें पृथ्वी का साम समा जाता है।

शुक्रः वेदत्रयी के यातायात रूप संघर्ष से चतुर्थ 'अथर्वेद' उत्पन्न होता है। इसमें 'अप' तत्व में व्याप्त सोम और अग्नि की सूक्ष्मावस्थायें दो ऋषिप्राण भृगु और अङ्गिरा नामक हैं। सूक्ष्म सोम से स्थूल वायु और घन 'अप्' अवस्थित होता है। वायु क्रियाशील होकर सब का संचालक है, इसी से सोम की पूर्णाहुति होकर 'शुक्र' की उत्पत्ति होती है। शुक्र शाश्वत तत्वों को उत्पन्न करता है, अक्षर पुरुष शुक्र से सम्पूर्ण जगत की रचना करता है। शुक्र के तीन अवान्तर भेद वाक्, अप् और अग्नि हैं, जो क्रमशः ब्रह्मवीर्य, विड्वीर्य और क्षत्रवीर्य कहलाते हैं।

आधिभौतिक कलायेंः रोदसी नामक त्रिलोकी में भूर्भुवस्स्वः क्रमशः पृथ्वीमण्डल, अन्तरिक्ष और सूर्य मण्डल हैं। इसी प्रकार दूसरी क्रन्दसी नामक त्रिलोकी में स्वःमहःजनः क्रमशः सूर्यमण्डल, उनका अन्तरिक्ष, और परमेष्टि-मण्डल हैं और तीसरी संयती नामक त्रिलोकी में जनःतपःसत्यम् क्रमशः परमेष्टि मण्डल, उनके बीच का अन्तरिक्ष, एवं स्वयंभू मण्डल हैं। इस प्रकार इन सात लोकों में चार मण्डल और तीन अन्तरिक्ष हैं। इसके अतिरिक्त पृथ्वी के अन्तरिक्ष में सोम या चन्द्र मण्डल भी हैं जो पृथ्वी में ऋतु आदि के परिवर्तन का कारण हैं इन पाँच मण्डलों का एक ब्रह्माण्ड बनता है। पृथ्वी से स्वयंभूमण्डल पर्यन्त उत्तरोत्तर पूर्व मण्डलों से इतने बड़े होते हैं कि उन के साथ में पूर्व मण्डलों की व्याप्ति का समावेश हो जाता है।

स्वयंभू मण्डल में ब्रह्मा अक्षरपुरुष, प्राण क्षरपुरुष, और वाक् शुक्र प्रधान हैं। परमेष्टि-मण्डल में विष्णु अक्षरपुरुष, आप् क्षरपुरुष और अप् शुक्रप्रधान हैं। सूर्य मण्डल में इन्द्र अक्षरपुरुष, वाक् क्षरपुरुष और अग्नि शुक्रप्रधान हैं यहां से आगे शुक्रों का क्रम पलट जाता है। चन्द्र मण्डल में सोम अक्षरपुरुष, अन्न क्षरपुरुष और अप् शुक्र प्रधान हैं। पृथ्वीपिण्ड में अग्नि अक्षरपुरुष, अन्नाद क्षरपुरुष और वाक् शुक्र प्रधान हैं। स्वयंभू मण्डल का व्याप्ति प्रदेश 'आकाश' है जिसका गुण 'शब्द' वाक् शुक्र के कारण है। वेद भी वाक् रूप हैं, यहां से त्रिवेद ऋग्यजुःसाम सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड

में विस्तृत होते हैं और ब्रह्माण्ड में उत्पन्न पदार्थों में त्रिदेव समाविष्ट हैं। परमेष्टि-मण्डल का व्याप्ति प्रदेश आकाश से उत्पन्न और आकाशस्थित 'वायु' है, यह मण्डल सूक्ष्मतमः सोम से युक्त या आपोमय है जहां से तीन प्राण भृगु, अङ्गिरा और अत्रि सर्वत्र ब्रह्माण्ड में फैलते हैं। भृगु से सोम, वायु और आप् तथा अङ्गिरा से अग्नि, यम और आदित्य का ग्रहण होता है, सोम तत्व इसी मण्डल से सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में भरा हुआ है। सूर्य किरणों से आकृष्ट होकर सोम सूर्यमण्डल में गिरता रहता है जिससे सूर्य प्रज्ज्वलित रहता है। सूर्य मण्डल की व्याप्ति 'तेज' है इस मण्डल से ज्योति, गौ, आयु, समस्त ब्रह्माण्ड में फैलते हैं, यही ब्रह्माण्ड में प्रकाश का केन्द्र और रूप का उत्पादक है, यहीं से वस्तु की स्थिति और काल का निर्णय आत्मारूप आयु द्वारा होता है, यहीं से सम्पूर्ण प्रजाओं के प्राण-तत्व मिलते हैं। गौ समस्त रसों की जननी सूर्य-किरणें हैं। चन्द्र-मण्डल की व्याप्ति 'जल' में है, ऋतु परिवर्तन में चन्द्रमा की बड़ी सहायता है। पृथ्वी-मण्डल की व्याप्त अग्नि प्राण है जिससे सोम रूप अन्न का भक्षण करके औषधि, वनस्पति आदि सबका जीवन मिलता है। पृथ्वी प्राणभूत अग्नि के द्वारा अपने तत्वों वाक् गौः, द्यौः को ऊर्ध्व लोकों में प्रेषित करती है। पिण्डता का ठोसपन सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में यहीं से पहुंचता है। सूर्यप्राण गौः और पृथ्वीप्राण गौः मिलकर आस्वाद्य रस बनाते हैं जिनका रूप द्युलोक पर्यन्त जाता है।

आध्यात्मिक कलाः आध्यात्मिक कलायें आधिदैविक और आधिभौतिक कलाओं के अंश हैं। इनके नाम बीजचिति, देवचिति, भूतचिति, प्रजा और वित्त हैं। इनके सम्बन्ध से व्यावहारिक आत्मायें जीव के तंत्र का परिचालन करती हैं। इस प्रकार प्राण से परिछिन्न 'चैतन्य' प्राणात्मा; मन से परिछिन्न चैतन्य 'प्रज्ञानात्मा'; बुद्धिसहित चैतन्य 'विज्ञानात्मा; महत्व से परिछिन्न चैतन्य 'महान् आत्मा', और इन सबमें अनुप्रवृष्ट होकर इन्हें एक सूत्र में बाँधने वाला अन्तर्यामीरूप चैतन्य 'शान्तात्मा' कहलाता है। प्रत्येक जीवात्मा के साथ क्षर पुरुष की कलाओं का भी एक अंश रहता है। महान् आत्मा शरीर के आकार का सम्पादक है, इसमें बीजरूप से अनुप्रविष्ट रस अव्यय पुरुष है। आकार बनाने वाला चैतन्य 'आकृति महान्' है, प्राणी की प्रकृति का सम्पादक होकर 'प्रकृति महान्', अहंभाव का प्रसार करके 'अहंकृति महान्' कहलाता है। अव्यक्तात्मा 'शान्तात्मा' सूत्ररूप से सब आयतनों को ग्रंथित करता है। ये पांच प्रकार के आत्मा मुख्य आत्मा के आयतन देव-परिस्थिति के अंतर्गत हैं।

शुभाशुभ कर्म करने वाला, भूतों से उत्पन्न 'भूतात्मा' या 'शरीरात्मा' की जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थायें होती हैं; कर्म कराने वाला क्षेत्रज्ञ या विज्ञानात्मा है। इन दोनों का अन्तरात्मा 'जीवात्मा' सुख-दुख का ज्ञाता और भूतात्मा के कर्मों का भोक्ता है। महान् और क्षेत्रज्ञ भूतात्मा से युक्त रहते हैं। भूतात्मा के आठ भेद शरीरात्मा, वैश्वानर, तैजस, कर्मात्मा, चिदाभास, विभूति, ऊर्ज्ज और श्री हैं। इसके अतिरिक्त सूर्यज्योति से विज्ञान सम्पन्न और चन्द्रज्योति से प्रज्ञान सम्पन्न "हंसात्मा" इसका सहचारी है जिसका शरीरावयवों, कर्मजनित संस्कारों तथा जाग्रत-स्वप्न-सुषुप्ति अवस्थाओं से कोई सम्बन्ध नहीं है। सूर्यज्योति से चैतन्य प्राप्त हिरण्यमय हंसात्मा चिर-जाग्रत रहता है और शरीर से बाहर निकल कर इष्ट कर्तव्यों का पालन करता हुआ भी चन्द्रमण्डल पर्यन्त भ्रमण कर सकता है जहां से शुक्र ग्रहण करके पुनः लौट आता है। शरीर नष्ट होने पर यह वायुरूप में विचरता है और रूप ग्रहण कर सकता है। भूत-परिस्थिति के इन नौ भेदों में देव-परिस्थिति के पांच भेद तथा ब्रह्म-परिस्थिति के परात्पर, अव्यय, अक्षर और क्षर, सब मिलाकर अट्ठारह आयतन बनते हैं। आयतन भेद से ईश्वर और जीव के अट्ठारह -अट्ठारह भेद होते हैं। प्रजा (सन्तति) और वित्त (सम्पत्ति) भूतात्मा के शरीरवाह्य परिग्रह हैं जिनकी प्राप्ति में विकास अर्थात् सुख और क्षति में संकोच अर्थात् दुःख होता है।

षोडशी प्रजापतिः पुरुषों की सोलह कलाओं से एक 'प्रजापति' का स्वरूप बनता है, ऐसे ये दो हैं। पदार्थ के निरवयव केन्द्र शक्ति का आधार जिसमें सब लोक ठहरे हैं 'अनिरुक्त-प्रजापति' केन्द्र में निवास करता है। केन्द्र से विभिन्न प्रकार की किरणें निकलती हैं जिनकी शक्ति के आश्रय से पदार्थ बढ़ते हैं। ब्रह्माण्ड के केन्द्र में रहनेवाला 'सर्व प्रजापति' मन-प्राण-वाक् रूप से पदार्थों में सत्तारूप अनुप्रविष्ट है, जो पिण्डरूप से सम्पत्ति और चैतन्यरूप से सम्पत्ति का अधिष्ठाता है। अपनी-अपनी प्रजाओं के स्वामी एक व्यष्टिरूप और दूसरा समष्टिरूप है।

ईश्वर और जीवः समष्टिरूप ईश्वर की सोलह कलाओं के अंशों से व्यष्टिरूप जीव की कलायें बनती हैं। जीव और ईश्वर का त्रिस्तरीय सम्बन्ध हैः (1) ईश्वर-अंश-जीव, (2) ईश्वर बिम्बस्थानीय और जीव प्रतिबिम्ब, (3) ईश्वर ही छोटी उपाधि में परिछिन्न होकर जीव। स्थूल प्रपंच

या क्षरपुरुष की अवस्था में ईश्वर 'विराट' और जीव 'विश्व', सूक्ष्मप्रपंच या अक्षरपुरुष की स्थिति में ईश्वर 'हिरण्यगर्भ' और जीव 'तैजस', तथा कारण-प्रपंच या अव्यय पुरुष की स्थिति में ईश्वर 'सर्वज्ञ' और जीव 'प्राज्ञ' कहा जाता है। शरीर का अभिमानी जीव तथा विश्वशरीर का अभिमानी ईश्वर है, अनंत ब्रह्माण्डों को शरीर मानने वाला एक अपरिछिन्न परमेश्वर है। जीव के चैतन्य की समष्टि 'सत्यम्-ज्ञानम्-आनन्दम् ब्रह्म' है, यही ईश्वर या परमेश्वर कहा जाता है।

सूक्ष्म प्रपंचः क्षरपुरुष की सूक्ष्मकला 'प्राण', जगत् की पूर्वावस्था में 'असत्' नामक ऋषि, से सूक्ष्म जगत् के मुख्यतत्व ऋषि, पितृ, देव, असुर और गन्धर्व उत्पन्न होते हैं। ऋषि सात रूपों में - चार मध्य में, दो पक्षरूप से बाहर और एक पुच्छ रूप से नीचे लटकते हैं, इनका श्री-रूप सारभाग ऊपर निकलकर शिर बन जाता है। मनुष्य शरीर में ये शिरोगुहा, उरोगुहा, उदरगुहा और पादगुहा में निदर्शित हैं। शिरोगुहा में आत्मास्थान मध्य में दो आँख, दो नासा छिद्र, पक्षरूप में दो कान और पुच्छ स्थान में मुख है, श्री ब्रह्मरन्ध्र सूर्य प्राण से निरन्तर आवागमन वाला है। 'उरोगुहा' में मध्य में दो फेफड़े, दो स्तन, पक्षरूप में दो हाथ, पुच्छरूप से हृदय और श्री कण्ठ-कूप है। 'उदरगुहा' के मध्य में दो क्लोम, यकृत और प्लीहा, पक्षरूप से दो पार्श्व, पुच्छरूप से नाभि तथा श्री हृदय है। 'पादगुहा' में मध्य मूत्रेन्द्रिय और दो अण्ड तथा कोष ये चार, पक्षरूप दो पैर, पुच्छरूप गुदा तथा श्रीरुप नाभि है। ये सभी अवयव आठ प्राणायतन हैं। इसी प्रकार समस्त पदार्थों में ऋषि-प्राणों की स्थिति है। ये ही क्रम से देवतारूप में परिणित हो जाते हैं - आत्मस्थानीय प्राण इन्द्र, पुच्छ स्थानीय-प्राण वाक् या अग्नि है।

सौम्य-प्राण पितृ और आग्नेय-प्राण देव हैं। अग्नि में गृहीत प्रज्वलन करने वाले 'अग्निष्वाता', कुशाओं में अनुप्रविष्ट 'बर्हिषद्', घृत में रहने वाले 'आज्यपा', सोम में रहने वाले 'सोमपा', अन्न की उष्णता को पीने वाले 'ऊष्मपा' नामक पितृ-प्राण हैं। इनके सम्बन्ध से ऋतु-परिवर्तन होता है। सोमतत्व प्रबल होकर अग्नि-तत्व की जिन ऋतुओं को दबा देता है वे शरद्, हेमन्त, शिशिर पितृ सम्बन्धी ऋतुयें मानी जाती हैं। शुक्र भी सौम्य प्राण की प्रधानता से पितृ होकर पुत्रादि का उत्पादक होता है।

पितृ-प्राण की प्रधानता वाले सौम्य प्रधान 'दिव्य-पितर' चन्द्रमण्डल या उसके आस-पास सृष्टि के आदि से रहते हैं, तथा सौम्य प्रधान ही

प्रेत-पितर मनुष्य लोक से मरकर उन लोकों में आते-जाते रहते हैं। मनुष्य वर्ग में विद्वान भी पितर हैं, वसु-रूद्र-आदित्य देवता भी पितर हैं। पितृ-प्राण का देव-प्राण बनने पर उसी में अनुप्रविष्ट होकर परस्पर जनक-जन्य भाव हो जाता है। देव सूर्यमण्डल तथा समीपवर्ती लोकों में रहते हैं। देवविद्याओं के विज्ञ मनुष्य भी देव हैं। पहले शर्यणावत पर्वत से उत्तर सुमेरु तक 'स्वर्ग' के निवासी भी देव थे जिनके विरोधी असुर, राक्षसादि कहे जाते हैं। देवों को जन्मजात अष्टसिद्धियां प्राप्त हैं जिससे वे यथेच्छ मनुष्याकृति में पृथ्वी पर आते हैं। सूर्यमण्डल का अधिष्ठाता देवता 'इन्द्र' तथा अन्य देवता इनके अवान्तर विशेष हैं। सूर्यमण्डल द्युलोक है, सूर्य चराचर जगत् का उत्पादक और प्रजाओं का प्राण है। सूर्य को वहन करने वाली सात किरणें ही सूर्य के सात घोड़े हैं।

पच्चभूत सिद्धान्तः पांच महाभूतों से सम्बन्धित पांच ज्ञानेन्द्रियां, इनके पांच विषय, पांच कमेन्द्रियां, जगत के पांच मण्डल, 49 मरुत और इनसे सम्बन्धित अग्नि के 49 भेद, 'अप्' की चार अवस्थायें – ऊर्ध्व में 'अम्भः', अन्तरिक्ष में 'मरीचि', पृथ्वी उत्पादन में 'भर', और पृथ्वी पर प्रवाहित 'आपः' है। सूर्य किरणों से संघर्षरत 'अप्' दूर हट कर सूर्य-किरण की मन्दता वाले ध्रुव प्रदेश में इकट्ठा होकर घनीभूत स्थूलजल में बदल जाता है और गुरुता से वायु में न ठहर कर सुमेरू के शिखर पर 'गङ्गा' रूप में गिर पड़ता है। ब्रह्माण्डों की परिधियों के सन्धिस्थल पर घनीभूत अप्-तत्व अपने ब्रह्माण्ड के अप् से मिलकर 'गङ्गा' रूप में प्रातः सूर्य किरणों के अग्रभाग से योजित विवर में जलधारा रूप में गिरता है। आकाश में व्याप्त रहने से 'व्योमकेश' शंकर के अभिप्राय से गङ्गा हर-जटाजूट-वासिनी कही गई है। सप्तर्षि-प्रदेश स्थित गङ्गा को विष्णुपदी कहते हैं। सूर्यकिरणों के संघर्ष से अन्तरिक्ष का मरीचि जल घनीभूत होकर यमुना कहलाता है, इसलिए वह सूर्य-पुत्री है। जलस्तर को उठाकर उसमें वायु प्रविष्ट होने पर 'बुदबुद', फिर भीतरी संघर्ष में वायु की सूक्षता और जल की स्निग्धता समाप्त होने पर 'फेन', इस पर सूर्यरश्मियों का प्रतपन होने और वायु में चिक्कण तत्व प्रविष्ट होने की आवागमन यज्ञ-प्रक्रिया से 'मृत्स्ना' और 'पाँक', इस पर वायु और सूर्य किरणों के संघर्ष से 'सिकता', किरणों की प्रखरता के अधिक प्रवेश से 'शर्करा' और फिर 'पत्थर', उससे 'लौह', फिर विभिन्न धातुयें और अन्त में गुरुतम 'स्वर्ण' बनता है। जल-समुद्र में आठ तत्व यत्र-तत्र प्लावित रहते हैं, इनके संघात से पृथ्वी उत्पन्न होती है।

ईश्वरेच्छा से चतुर्दिक् चलने वाली वेगवान विशेष वायु से सब तत्व एकत्रित होकर तथा वायु के दबाव से घनीभूत होकर विशीर्ण नहीं होते, यह वायु 'वराह' है जो सब ओर से पृथ्वी को आवृत कर संघात रूप बनाती है।

आकाश शून्य नहीं अपितु सोम-तत्व और इन्द्र-तत्व से पूर्ण है। इन्द्र का परिणाम वाक्-तत्व भी सर्वत्र व्यापक है। व्यापक शब्द घन आकाश और उसकी लहर शब्द-रूप उसका गुण है।

अग्नि मौलिक तत्व है, उष्णता या दाह इसकी एक अवस्था है। पार्थिव पदार्थों में अग्नि व्यापक है। जीव की रचना तथा विकास अग्नि का कर्म है। यज्ञ, जिससे लोकान्तर के पदार्थ प्राप्त करना और पृथ्वी के पदार्थ वहां भेजना होता है, का आधार अग्नि है। वायु के सम्बन्ध से गतिशील होकर अग्नि दाह करती है। प्राणरूप अग्नि का नाम 'ऋताग्नि' या 'संवत्सराग्नि' है। प्रकीर्ण और अग्नि 'ऋत' तथा केन्द्रिक पार्थिव अग्नि 'सत्य' कहलाती है। ऋताग्नि के सम्बन्ध से भिन्न-भिन्न समय 'ऋतु', उन्नति के समय को दिन ह्रास को रात्रि, उत्तरायण को दिन दक्षिणायन को रात्रि समझना चाहिए। सोम की न्यूनाधिकता से सूर्याग्नि द्वारा ऋतुयें बनती हैं, दोनों के सम्बन्ध से पार्थिव अग्नि ऋतुजन्य फलों को देने वाला है, रत्नों को पृथ्वी में उत्पन्न करने वाला, और देवताओं को बुलाने वाला है। पृथ्वी पर अग्नि, अन्तरिक्ष की विद्युत और द्युलोक में सूर्य ये अग्नि के तीन रूप हैं। ऋग्वेद पार्थिव अग्नि को, यजुर्वेद विद्युत को, और सामवेद सूर्य को आधार मानकर सब विज्ञान प्रकट करते हैं।

जगत का आप्यायन वायु का कार्य है। वायु अन्न का कारण तथा प्राणियों का बल है। वह अग्नि के सम्बन्ध से गमनशील होकर दाह करती है। सूर्य-किरणों की प्रेरणा से वायु में गति होती है।

यज्ञ-प्रक्रियाः अग्नि के संस्कार को यज्ञ कहते हैं। अग्नि में अग्नि और सोम दो पदार्थों की आहुति होती है। अग्नि के संस्कार में अग्नि की आहुति देना 'अग्नि-चयन' यज्ञ है, सोम की आहुति देना 'सोमयज्ञ' है। अग्नि के ग्यारह भेद हैं - 1. पृथ्वी से सम्बद्ध गार्हपत्याग्नि, 2. सूर्य से सम्बन्धित आहवनीय, 3. अग्नि से सम्बन्ध वाली आठ प्रकार की धिष्ण्याग्नि, तथा 4. अन्तिम नैऋत्याग्नि। चित्य और चितेनिधेय यह दो प्रकार की अग्नि अग्निचयन यज्ञ का आधार है।

संवत्सर का पहला विभाग दिन–रात, दूसरा शुक्ल और कृष्ण पक्षों वाला मास, तीसरा ग्रीष्म, वर्षा, शरद ऋतुओं का, चौथा दक्षिणायन–उत्तरायण भेद से कृष्ण और शुक्ल गतियों वाला, तथा पांचवां पूरे एक वर्ष का विभाग है। इनमें पांच प्रकार की अग्नि हैं, जिनमें भिन्न–भिन्न प्रकार से आहुतियां देकर चार प्रकार के सोम यज्ञ, एक अहोरात्रि का एकाह, दस अहोरात्रों का दशाह या अहीन, सौ अहोरात्रौ का रात्रि–सत्र और हजार अहोरात्रों का अयन–सत्र सम्पन्न होते हैं। इनका तात्पर्य संवत्सर के भागों का संस्कार या शुद्धि है। इसके लिए छोटे–छोटे यज्ञों से भी, 'अग्निहोत्र' से अहोरात्र विभाग का, 'दर्शपूर्णमास' से पक्ष या मासों का, 'चातुर्मास्य' से ऋतु विभाग का, तथा 'पशुबन्ध' से अयन का संस्कार होता है, फिर सोमयज्ञानुष्ठान से पूर्ण संवत्सर का संस्कार होता है। अन्य प्रकार के यज्ञ इन्हीं यज्ञों के रूपान्तर हैं।

सूर्यमण्डल से पृथ्वी पर निरन्तर आने वाला वैश्वानर या संवत्सर अग्नि का अंश ही शरीर की वैश्वानराग्नि है, इसे संस्कृत कर संवतसराग्नि से मिला देना यज्ञ का उद्देश्य होता है, ताकि वह सूर्यमण्डल या स्वर्गलोक में जा सके। दिन का सूर्य–प्रकाश शुक्ल–चक्र और रात्रि का तम कृष्ण–चक्र है, सब मिलकर 720 चक्रों का संवत्सर है। शुक्ल चक्रों में सूर्य मण्डल की प्राणरूप अग्नि व्याप्त है जो गति प्रक्रिया में अहः है, तथा कृष्ण चक्रों में व्याप्त प्राण रात्रि है। छायांश में प्रकाश विरोधी पार्थिव प्राण रहता है जो पितृ–प्राण या असुर–प्राण है तथा गति प्रक्रिया में रात्रि है।

उत्क्रमणः मृत्यु के बाद आवागमन सूक्ष्म शरीर से होता है, जिसमें पांच ज्ञानेन्द्रियां, पांच कर्मेन्द्रियां, पांच प्राण, मन और बुद्धि ये सत्रह तत्व सम्मिलित हैं; इसमें रहने वाले चैतन्य को प्राणात्मा, प्रज्ञानात्मा आदि कहते हैं। आवागमन अर्चिमार्ग या देवयान् या शुक्लमार्ग, धूममार्ग या पितृयान, या कृष्ण मार्ग तथा उत्पत्ति–विनाश मार्ग से विद्या, कर्म (अविद्या) और संस्कार के अनुसार होता है। जीवात्मा इन्द्रिय और शरीर के कारण जो कर्म करता है उसका जो आत्मा पर प्रभाव होता है उसे 'संस्कार' कहते हैं। कर्म–कषाय से परतन्त्र होकर आत्मा ऊँची–नीची गति पाता है। विद्या बुद्धि से कषाय निवृत्त होकर आत्मा विशुद्ध बनता है, विद्या से ऊर्ध्वगतियां और कर्म से पितृगति या नरकगति होती है। देवप्राणों का संग्रह करने वाले संस्कार 'पुण्य' और असुर प्राणों के संग्राहक 'पाप' कहलाते हैं। पुण्य से

देवों की ओर और पाप से गिरकर पातक, अतिपातक, महापातक कर्मों से नरकगति होती है। देवलोक गति से ब्रम्हलोक गति उत्तम है। जहां आवागमन से 'क्रममुक्ति' होती है, इसके क्षीणोदर्क भेद में भौतिकता से दूर निर्गुण-निराकार आत्मज्ञान से मुक्ति होती है जबकि भूमोदर्क मुक्ति सम्पूर्ण संसार और कण-कण में आत्म विस्तार से होती है। मन की प्रधानता से पितरों के निवास चन्द्रलोक गति होती है। बुद्धि की प्रधानता से तपस्वी, योगी और उपासक की सूर्यलोक गति होती है जो देवप्राणों की समष्टि तथा स्वयंप्रकाश अर्चि या देवयान मार्ग है। तीसरी भौतिक पदार्थों की वासना से भूमि में ही आकर्षण होने के कारण सतत आवागमन की अधोगति होती है। विद्या की कमी से कीड़े-मकोड़ों और वनस्पति रूपों में अगति होती है। कर्म का लोप होने से कोई गति नहीं होती, यह समवलय गति, परममुक्ति या विदेहमुक्ति कहलाती है।

मन ज्योतिस्वरूप और प्राण तथा वाक् अज्योति हैं। इन त्रिधातुओं से सम्पूर्ण जगत, ज्ञान और क्रिया उत्पन्न होते हैं। ज्ञान प्रकाश स्वरूप होने से शुक्ल और कर्म अज्योति होने से कृष्ण है। मनपोषक प्राण 'अच्छ' तथा वाक्पोषक 'अनच्छ' है। ज्ञान के सहकारी कर्म 'पुण्य' और ज्ञान के नाशक 'पाप' हैं, पुण्य शुक्ल और पाप कृष्ण हैं। काम और शुक्र तथा भूत-गुण ये वाक् के विकार हैं, काम 'अच्छ' और भूतगुण 'अनच्छ' हैं, पुण्यकर्मों का शुक्र 'अच्छ' और पाप कर्मों का अनच्छ है।

असंग विज्ञानात्मा आसक्तिमान मृत्युभाग में, प्राज्ञात्मा को पकड़कर, शरीरी होकर, ज्ञान विरोधी पाप्माधर्मों से संसृष्ट और कलुषित होकर, अल्पज्ञ बना रहता है, यही मृत्युकाल में सब बन्धन तोड़कर प्राज्ञात्मा और इन्द्रियों सहित सूक्ष्म होकर हृदय स्थित होता है, तब सर्वप्राणों से युक्त मुख्यप्राण मात्र हृदय में व्यापार करता हुआ ज्ञान प्रकाश के साथ ब्रह्मरन्ध्र से उत्क्रमण करता है। प्राज्ञात्मा में पाप-मात्रानुसार विज्ञानमय प्राणी भारी होकर चक्षु वा अन्य शरीरावयव से उत्क्रमण करता है। उत्क्रमण करते हुए व्यवहारिक आत्मासमूह क्रमशः प्रकाश या अर्चि में, अहः में, शुक्ल पक्ष में, उत्तरायण में, संवत्सर में, सूर्यमण्डल में, चन्द्रमा में, विद्युत में जाता है, जहां से प्राणी को मानस-पुरुष आकर ब्रह्मलोक में पहुंचा देता है। यह ऊर्ध्वगति है।

स्थूल शरीर के जिन अंशों को लेकर सूक्ष्म शरीर उत्क्रमण करता है वे 'अनुशय' या 'श्रद्धा' कहलाते हैं। प्राज्ञात्मा से चेतना और वैश्वानर से भूतों का अनुशय बना रहता है। आकाश में जाते समय वायु द्वारा भूतांश

अनुशय में सम्बद्ध किये जाते हैं जो वैश्वानर या प्राज्ञात्मा का शरीर बनाते हैं, जो यातना या भोग शरीर कहलाता है और जिसे नरक भोग होता है। प्रत्यावर्तन में पुनः संसार में आने पर वायु द्वारा पूर्ववत् नया भोग शरीर बनाया जाता है। भोग-शरीर समानभाव में तब तक बना रहता है जब तक आत्मा दूसरे लोक के तत्वों से नया शरीर ग्रहण नहीं करती। प्रत्येक लोक का अनुशय लेकर आत्मा आगे जाता है और अगले लोक के तत्व अनुशय में मिलकर नया शरीर बनाते हैं। प्रत्वार्तन के मार्ग में प्राणी क्रमशः चन्द्रमण्डल से आकाश में, वायु में, वाष्प में, मेघ में, जल के साथ भूमि पर बरस कर अन्न, फल, घास आदि में जीव द्वारा खाये जाकर कर्मानुसार उसके शरीर में, फिर शुक्र में, पिता शुक्र द्वारा माता के गर्भाशय में, और वहां से स्थूल शरीर में जन्मता है।

श्राद्धः प्रेतात्मा में श्रद्धारूप भूतों के अनुशय का पोषण श्राद्ध है। लोकान्तर में वाहिक शरीर में सूर्यचन्द्र अंशों की कमी से ऊर्ध्वगति में रुकावट न हो और वायु में प्रेत-पिशाच होकर इतस्ततः भ्रमण न करें इस लिये 10 दिन तक दस गात्र पिण्ड दिये जाते हैं जिसमें प्रज्वलित दीप-अग्नि द्वारा अन्न के सोमअंश को सूर्य-चन्द्र किरणों से जोड़कर पोषण सम्पन्न किया जाता है। पुत्र-पितर के बंधे हुये सम्बन्ध-सूत्र से अन्नपानादि पितर तक पहुंच जाता है, सपिण्ड तीन होने से तीन पिण्ड दिये जाते हैं, शेष लेपमाक अर्थात् लेपमात्र से तृप्त होने वाले हैं। मासिक श्राद्धों का भोग करता प्रेतात्मा एक वर्ष में चन्द्रमण्डल में पहुंचकर वहां पूर्वपितरों के साथ पितृश्रेणी में जुड़कर सपिण्डीकृत हो जाता है। सप्तम पुरखे का पृथ्वीअंश समाप्त होने पर क्रमानुसार चन्द्रलोक से वह या तो ऊर्ध्व में जाता है या पृथ्वी पर लौट आता है। चन्द्र-सूर्य साथ उदय होने से अमावस चन्द्रलोकवासियों का मध्याह्न और भोजन का समय होता है, इसलिए अमावस को भोजन पहुंचाया जाता है। देवयान वाले तपस्वी, सन्यासियों के अग्निरूप के कारण सूर्य के आकर्षण में कोई भूत रुकावट नहीं कर सकता इसलिए उन्हें सोम से शरीर पुष्टि आवश्यक नहीं, अतः उनके गात्र-पिण्ड नहीं किए जाते।

समीक्षा एवं मूल्यांकनः "जयपुरशाला" के आचार्यगण संस्कृत पाठ्शालाओं में शिक्षित पंडित थे, इस कारण सर्वोच्च उपाधियाँ प्राप्त करने के उपरान्त भी उनकी शैली और विचार विमर्श में पंडिताऊपन नहीं गया, धुरन्धर

बिद्वान होते हुए भी विचक्षणता, दृष्टि और विवेक के अभाव ने उनकी विचारधारा में संस्कार, धार्मिकता, पूर्वाग्रह, अंध विश्वास और जड़ता को बल प्रदान किया है। जिसे वे 'वेद का विज्ञान' बताते हैं, उन सम्पूर्ण पारिभाषिक शब्दावली को ब्राम्हणों, आरण्यकों, उपनिषदों और सूत्रों से ग्रहण किया गया है और वेद का कदाचित ही संदर्भ दिया गया है। इसका कारण शायद यह है कि वे वेद में इन वेदेतर ग्रन्थों को समाहित करने की मान्यता वाले हैं, यद्यपि वेदार्थ के लिए अनिवार्य यास्क मुनि के अध्ययन से ही स्पष्ट हो जाता है कि ये सब वेदेतर थे जिन्हें यास्क ने संदर्भ हेतु भी कदाचित मान्य किया तथा उपनिषद और सूत्र तो उनके काल में थे ही नहीं। इन आचार्यगणों को प्रतीकों का नितान्त अज्ञान होने के कारण उन्हें वास्तविक मानकर कल्पना प्रसूत ढंग से लगभग सभी धार्मिक अंधविश्वासों के पृष्ठपोषण को ही विज्ञान समझ लिया गया है। अपने तंत्र का मण्डन और परतंत्र का खण्डन करने की मध्यकालीन शास्त्रार्थ की प्रवृत्ति वाले ये आचार्यगण आधुनिक समीक्षा, समालोचना और मूल्यांकन में अबोध रहे और उन विश्लेषण विधियों से भी अनजान रहे जो उन्हें तथ्यों तक पहुंचा पाती। विज्ञान की इनकी अवधारणा सामान्य अज्ञानी जैसी है, वे मात्र कर के दिखा देने को विज्ञान समझते हैं, तथापि भाषा अभिव्यक्ति में उसे अपरिपक्व मानते हैं, इसके अतिरिक्त वे वैदिक-विज्ञान और आधुनिक विज्ञान का भी भेद करते हैं। वे यह नहीं समझते कि विज्ञान तो एक विद्या है जो त्रुटिहीन तथा वस्तुपरक इन्द्रिय-जन्य प्रत्यक्ष-ज्ञान के विश्लेषण का मापन द्वारा तथ्यात्मक निष्कर्ष निकाल कर प्रकृति के नियमानुकूल सिद्धान्तों ,का सम्यक् निरूपण करता है। इस निरूपण में अभिव्यक्ति की भाषा पारिभाषिक सूक्ष्म शब्दावली से युक्त, संक्षिप्त, तथ्यपरक, उपयुक्त, स्पष्ट और सम्भावनापरक होती है, न कि परम्पूर्ण (एब्सोल्यूट), रूढ़, निश्चयात्मक, कल्पनापरक, या लठाधीशी हो। विज्ञान विज्ञान होता है चाहे वह किसी देश, काल, परिस्थिति या संस्कृति का उत्पाद रहा हो, वैदिक काल के विज्ञान और आधुनिक विज्ञान के अध्ययन क्षेत्र, समस्यायें, विषय वस्तु एवं आधारों में कोई भेद नहीं है, यदि कुछ है तो विस्तार और वर्गीकरण के ढंग तथा संदर्भ-सूचकता का ही है। तथापि, वे स्वीकार करते हैं कि वे 'कर के दिखाने' की कला भूल चुके हैं, और उनका विमर्श मात्र 'जबानी जमा खर्च' है, तब भी उसे विज्ञान बताये जाना और 'अत्यन्त उच्चविज्ञान, प्रारम्भिक विज्ञान नहीं' कहना लठाधीशी नहीं तो और क्या है? एक आध शब्द को पकड़कर ऊँची उड़ान भरने लगना, और उसके विभिन्न प्रयोगों को न देखना-समझना, इनकी वृत्ति रही है। पूर्वधारणाओं से युक्त

एक काल्पनिक दर्शन और उसके विभिन्न सिद्धान्तों को नितान्त अटकल से स्थिर करके उसके अनुकूल उक्तियों का संग्रह करना, तथा अपनी निजी व्याख्या करते हुए अपने सिद्धान्तों का पृष्ठपोषण करना ही इनका कार्य रहा है, इसमें व्याख्या में प्रयुक्त पदों तथा दृष्टान्तों की भी व्याख्या, अर्थात् व्याख्या पर व्याख्या और पुनर्व्याख्या, से सम्पूर्ण व्याख्या ही दोषपूर्ण हो गई है। इसके अतिरिक्त विषय वर्णन और विवेचन में अनेक त्रुटियां भी हैं, जो उदासीनता, अन्यमनस्कता या एक ओर झुकाव, या अनिभिज्ञता के कारण हुई हैं।

जहां तक वेदों में प्रतीकात्मकता का प्रश्न है, ये आचार्यगण उससे सर्वथा अनभिज्ञ हैं। प्रकारान्तर से यद्यपि निघण्टु, निरुक्त और सायण आदि के भाष्यों में भी प्रतीकात्मकता के रहस्य स्पष्ट किये गये हैं, किन्तु ये सज्जनवृन्द इनसे भी अपरिचित से हैं। इस कारण मूर्त और अमूर्त का भेद वे नहीं कर सके, और मूर्त को अमूर्त तथा अमूर्त को मूर्त समझकर यथालक्ष्य मनमानी व्याख्या करते रहे, मुख्यतः इनकी व्याख्या में सब कुछ वास्तविक और मूर्त जैसा ही रहा। यदि प्राचीन कालीन विज्ञानों के संदर्भ से वेद की व्याख्या की गई होती तो कुछ तथ्यात्मक निष्कर्ष भी निकाल सकते, किन्तु इन्होंने आयुर्वेद, ज्योतिष, खगोल, संगीत, भाषा विज्ञानों आदि का आधार भी नहीं लिया, और जो लिया है वह मात्र पृष्ठपोषण के उद्देश्य से है, न कि इन विज्ञानों की श्रेष्ठ परम्परा को आधार बनाया गया हो।

वेद की व्याख्या एकदम एकांगी और पूर्वकल्पित दार्शनिकता की पृष्ठपोषक होने से इसको समीक्षा भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि सम्यक् विश्लेषण और दृष्टि का सर्वथा अभाव है। फिर भी, इनके दार्शनिक महत्व को 'शंकराचार्य जैसा' स्वीकार करना पड़ता है और उसे नकारा नहीं जा सकता। अनेक विषय मनोरंजक तथ्य प्रदान करते हैं और नवीन दिशा में सोंचने को मजबूर करते हैं। इनके अंधविश्वास और धार्मिकता को, तथा कट्टरवाद की उस हद तक जहाँ पुस्तकों में लिखे हर शब्द को ब्रह्मवाक्य मान लिया गया हो, और उससे ही तथाकथित अतिउच्चस्तरीय वैदिक विज्ञान का पृष्ठपोषण किया गया हो, को हटा कर देखने पर तमाम विषय वस्तु और दृष्टिकोण तथ्यात्मक रूप से विचारणीय हो सकते हैं।

गायत्री परिवारः

आचार्य श्रीराम शर्मा एवं गायत्री परिवार के सम्मिलित प्रयास से

'ब्रह्मवर्चस् शोध संस्थान' हरिद्वार द्वारा 'विज्ञान और अध्यात्म के समन्वय के अभिनव शोध कार्य' के रूप में अनेक लेख-प्रबन्ध और ग्रन्थ प्रकाशित हुये हैं। ये सभी 'समग्र वाङ्.मय' के अन्तर्गत 'अखण्ड ज्योति संस्थान, मथुरा' द्वारा प्रकाशित हैं।

गायत्री परिवार द्वारा वैदिक विज्ञान का जो उपक्रम किया गया है, उसमें वेद के संदर्भ तो यदा-कदा ही दिए गए हैं, मुख्यतः ब्राह्मणों, उपनिषदों तथा वेदेतर ग्रन्थों के संदर्भ ही दिए गये हैं और उनकी तुलनात्मक व्याख्या विज्ञान के नाम पर परामनोविज्ञान, स्नायु संक्रिया विज्ञान के अपरिचित और रहस्यमयअंश, सम्मोहन और फ्रायड आदि के मनोविश्लेषण सिद्धान्त, तथा जैवरसायनिक प्रक्रियाओं के विवादास्पद सिद्धान्तों से इस प्रकार की शब्दावली में की गई है जैसे वे विज्ञान के मान्य तथ्य और सिद्धान्त हों और उन्हें वैज्ञानिक भाषा में, संभावनाओं और प्रायिकताओं के परिप्रेक्ष्य में नहीं, प्रत्युत एक पूर्ण और स्थापित धारणा के रूप में प्रकट किया गया है। ऐसा नहीं है कि लेखकों ने यह सब अनजाने और अवधारणाओं के भ्रम के कारण किया हो, अपितु यह सब जानबूझकर और भ्रमों, पूर्वाग्रहों, पूर्वधारणाओं, अंधश्रद्धा और अंधविश्वासों को पुष्ट करने के उद्देश्य से सामान्यजन की कल्पनाओं को परिपुष्ट करते हुए पाखण्डपूर्वक भक्तजनों के साथ छलछद्म किया गया है, जबकि परोक्षतः तथ्यात्मक और सही ज्ञान होने के उनके रूप उन्हीं लेखों में प्रकट हो जाते हैं। आधुनिक अध्यात्म केन्द्रों का यह चरित्र नितान्त निन्दनीय है, क्योंकि ऐसे लेखन से साधारणजन ही नहीं बल्कि पर्याप्त पढ़े-लिखे लोग भी झांसे में आ जाते हैं और तथ्यों को नहीं समझ पाते, जबकि उक्त विषयों में निष्णात विद्वान ही उनकी वास्तविकता को समझने में समर्थ हो पाते हैं। अनजान को सहज ही अज्ञानी बनाने का यह उपक्रम मात्र प्रतिष्ठा, मान, धन और भोग की आकांक्षा वाले धर्म और अध्यात्म के तथाकथित ठेकेदारों का ही कल्याण करेगा, लोक का नहीं। संक्षेप में हम इनके कार्य का वर्णन विषयवार तीन भागों में (1) तथ्यात्मक सही ज्ञान, (2) अनिश्यात्मक कल्पनायें, तथा (3) भ्रम और अंधविश्वास के पोषण वाली पाखण्डपूर्ण स्थापनायें, प्रस्तुत कर रहे हैं।

तथ्यात्मक सही ज्ञानः 'प्राण' शब्द 'प्र' उपसर्गपूर्वक 'अन्' धातु से व्युत्पन्न है जिसका अर्थ जीवनीशक्ति है। प्राण का मूल आधार सूर्य (ऋ०

1:35:2) तथा प्राण-अपान रूप में स्पन्दित शक्ति जीवन का आधार है (ऋ0 10:189:2)। आगे उपनिषदों, ब्राह्मणों, सूत्रों और वेदेतर ग्रन्थों के आधार पर प्राण को परिभाषित करते हुए उसकी कार्यप्रणाली पर प्रकाश डालते हैं। तथापि, प्राण शक्ति के वैज्ञानिक अनुसंधान में मात्र प्रारम्भिक जानकारियां प्राप्त हैं।

भोजन का स्वरूप रसादि क्रम से ऊर्जा का रूप लेकर कोशिकाओं को संचालित करता है। कोशिका साइटोप्लाज्मा (रसायन भाग) और नाभिक (संस्कार भाग) में विभाजित होती है। जीवनीय चेतना नाभिक में प्रकाश, ताप, विद्युत, ध्वनि और गति के रूप में विद्यमान रहती है। स्थूल अणुओं में व्याप्त इस दूसरे जाल की सम्मिलित इकाई का नाम 'सूक्ष्म शरीर' है। तत्व को प्राण और उससे बने सूक्ष्म शरीर को 'प्राणमय कोष' कहा गया है। नाभिक ऊर्जा को लघुतम प्राणांश कह सकते हैं, सम्पूर्ण काय-कलेवर में यह महाप्राण, और ब्रह्माण्डव्यापी रूप में विराट-प्राण कहलाता है।

शरीर में जाल की भांति ज्ञानतन्तु फैले हैं जो कायगत जानकारियां मस्तिष्क को पहुंचाते हैं, और मस्तिष्क से तदनुसार सुस्थिर स्थिति के लिए अवयवों में क्रिया सम्पन्न होती है। विद्युत रासायनिक आवेग ज्ञानतन्तुओं से मस्तिष्क तक दौड़ती है और टेलीफोन की तरह संकेत पहुंचाती है। तन्तु में भीतर ऋण-विद्युत और बाहर धन-विद्युत रहती है और इनमें सोडियम और पोटेशियम की मात्रा रासायनिक उपयुक्तता बनाये रहती है। शरीरगत क्षमता का क्रियाकलाप वस्तुतः बायोइलेक्ट्रोमैग्नेटिक विद्युत धारा के सतत प्रवाह के रूप में होता है। नस-नाड़ियों में रक्त संचार, ज्ञानतन्तु-मस्तिष्क सम्बन्ध, मांसपेशियों का आकुञ्चन-प्रकुञ्चन, तथा निद्रा और जागृति में इसी की भूमिका रहती है। बायोप्लाज्मा (प्राणशक्ति) अपने मूल स्थान मस्तिष्क में सर्वाधिक सघन अवस्था में पाया जाता है, तथा सुषुम्ना और स्नायविक कोषाओं में सर्वाधिक सक्रिय रहता है।[44] शास्त्रकार ने सूक्ष्मशरीर की तुलना ऐसे वृक्ष से की है जिसकी जड़ें ऊपर और शाखायें नीचे की ओर हैं।[45] स्थूल और सूक्ष्मशरीर आपस में गुंथे हैं, स्थूलशरीर कारखाना और सूक्ष्मशरीर मोटरें घुमाने वाली बिजली है। दृश्य स्थूल शरीर की गतिविधियां

44. इस वर्णन से यद्यपि कुछ-कुछ 'सेरिब्रोस्पाइनल फ्लड' का आभास सा होता है तथापि आगे के वर्णन से इस तत्व से इसकी जानकारी का अपरिचित होना ही सिद्ध होता है।

45. कदाचित इनका अभिप्राय गीता 15:1 के 'ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थम्' से या कठोपनिषद् 2:3:1 में 'ऊर्ध्वमूलाऽवाक्शाख' या भेळ संहिता के 'ऊर्ध्वमूलमधःशाखम्' से रहा हो।

भूलोक तक, सूक्ष्म शरीर भुवःलोक तक, और कारण शरीर स्वःलोक तक सक्रिय हैं। इस प्रकार दृश्यमान अनुभवगम्य भूलोक के भीतर अदृश्य रूप में भुवः और स्वः लोक समाये हुए हैं। भूलोक में पदार्थ का प्राधान्य है,भुवः लोक के विचार प्रधान होने से उसकी अनुभूतियां, शक्तियां, क्षमतायें, सम्भावनायें आदि व्यक्ति के बुद्धि संस्थान-विचार स्तर पर निर्भर रहती हैं। स्वः लोक भावना प्रधान है। शरीर में पाचन, शोधन, विकास एवं निर्माण आदि की प्रक्रियायें विद्युत-रासायनिक आधार पर चलती हैं और आन्तरिक क्रिया-प्रक्रिया नाडीसमूह के साथ प्रवाहित होने वाले विद्युत प्रवाह से सम्पन्न होती हैं। मानव शरीर में व्याप्त विद्युत में चेतना और संवेदना दोनों तत्व विद्यमान हैं। वह आत्मा (सेल्फ) की प्राण-प्रतिभा (वाइटल फोर्स) है और उसकी भावनात्मक स्थिति से प्रभावित होती है।

अनिश्चयात्मक कल्पनायें:[46] आत्मा का गुण प्राण परब्रह्म परमात्मा से निःसृत होता है। जड़-जगत् में शक्तितरंगों में संव्याप्त सक्रियता, और चेतन-जगत् में उसे विचारणा एवं संवेदना माना जा सकता है। जीवन का सहारा प्राण इच्छा, ज्ञान और क्रिया के रूप में जीवधारियों में कार्यरत है, इसकी मात्रा के अनुसार जीव की प्राणवानता होती है। प्राणरूप चेतना की विभुसत्ता विश्वब्रह्माण्ड में संव्याप्त है। शरीर के कण-कण में व्याप्त चेतना का उद्‌गम मस्तिष्क है, जो विलक्षणताओं का केन्द्र है। इसमें विविधविधि रिसीवरों, ट्रान्सफार्मरों का कार्य सम्पादित करने वाले अगणित चुम्बकीय केन्द्र हैं जो ब्रह्माण्ड से आदान-प्रदान वाले आकर्षण-विकर्षण केन्द्र के रूप में मस्तिष्क में ध्रुवीय चुम्बक शक्ति की भांति स्थित हैं। पेशियों में क्रिया के लिए ऊर्जा-पोटेन्शियल का तथा उससे जुड़े आवेश-इन्टेन्सिटी का जीव संचार में महत्व है।

प्राण विश्वव्यापी पच्चमहाभूतों की सम्मिलित चेतना है, यही मन की चेतना है जो आत्मा में प्रकाश करते हुए भी शरीर का ही अंश मानी जाती है। यह वायु और आकाश में व्याप्त होकर भी इनसे भिन्न है। जड़-प्रकृति में भी प्राण की अल्प मात्रा होती है। प्राण विश्वव्यापी अग्नि है जिसका उद्‌गम-केन्द्र सूर्य है। मनुष्य शरीर यंत्र है जिसके संचालन में प्राण-ऊर्जा की आवश्यकता होती है। प्राण की दूसरी परत मन के प्रभावक, चिन्तन, विवेचन एवं सूझबूझ के संस्थान सूक्ष्मशरीर को प्रभावित करती है। तीसरी परत कारण-शरीर में सन्निहित भावना स्तर की है जिसका केन्द्र हृदय है।

46. इस भाग के प्रत्येक अनुच्छेद में एक दूसरे के विपरीत परिभाषायें और विवरण तथा तथ्य प्रस्तुत किये गये हैं, जो गायत्री परिवार की वैचारिक अनिश्चयात्मकता का द्योतक है।

यह आध्यात्मिक हृदय शारीरिक हृदय से कुछ हटकर स्थित है। यह हृदयगुहा कहलाता है। जिसमें परब्रह्म का दर्शन दिव्य-ज्योति के रूप में होता है।

सृष्टि के आरम्भ में सर्वप्रथम प्राण-तत्व के उत्पन्न होने का वर्णन है। जड़-जगत् में पंचतत्वों का और चेतन प्राणियों में विचार शक्ति का आविर्भाव उसी से हुआ है,'स प्राणमसृजत, प्राणात्छुद्धां खं वायुर्ज्योतिरापः प्रथिविन्द्रिय मनोऽन्नम्' (प्रश्नोपनिषद् 6:4)।[47] वैदिक विवेचना में प्राण के साथ वायु विशेषण से तात्पर्य उस प्रवाह से है जिसकी 'गतिशील विद्युत तरंगों' के रूप में भौतिक विज्ञानी चर्चा करते हैं। अणु-विकिरण, ताप, ध्वनि आदि की शक्तिधाराओं के मूल में संव्याप्त सत्ता भी उसे कहा जा सकता है। प्राण वायु पदार्थ है, प्राण तत्व इसके साथ जुड़ी चेतना है। चेतन ऊर्जा का यह प्रवाह जैविक-विद्युत प्रवाह के समतुल्य है। यह चेतन तत्व वायु के साथ आवागमन करता है।

जैव ऊर्जा आयनीकृत कणों का प्लाज्मासमूह है।[48] शरीर मात्र भौतिक अणु-परमाणुओं से बना ही नहीं है अपितु एक ऊर्जा शरीर 'द बायोलॉजिकल प्लाज्मा बाडी' भी है जो उत्तेजित विद्युत अणुओं से बने प्रारम्भिक जीवाणुओं के समूह का योग भर नहीं बल्कि एक व्यवस्थित तथा स्वचालित घटक है जो स्वयं का चुम्बकीय क्षेत्र निःसृत करता है।

शरीर और मस्तिष्क की 'क्वैन्टम फील्ड' नाडियों में पाई जाती है लेकिन उनसे उत्पन्न नहीं होती। शरीर अन्न-जल-वायु को ईंधन के रूप में काम लेकर अपनी आन्तरिक ऊर्जा को प्रज्वलित रखता है, इस ऊर्जा का यत्किंचित परिचय उसमें प्राप्त रेडियोधर्मी विकिरण के रूप में मिलता है, किन्तु उसका स्रोत अज्ञात है। शरीर और मन इस अनुदान को ब्रह्माण्डव्यापी महाप्राण से अपनी आकर्षण क्षमता के अनुरूप प्राप्त करता है।

मस्तिष्क का जेनरेटर और हृदय का पम्पिंग स्टेशन मिलकर जो ऊर्जा उत्पन्न करते हैं उसे मानवीविद्युत कह सकते हैं। इस विद्युत से मन-मस्तिष्क की अगणित हलचलों का सृजन-विसर्जन होता है। मानवीसत्ता के साथ

47. उस आत्मा ने प्राण की रचना की, प्राण से श्रद्धा को, फिर आकाश, वायु, तेज, जल, पृथ्वी को, फिर मन और इन्द्रियों को, फिर अन्न को .... रचा।

48. यद्यपि वे यह स्वीकार करते हैं कि प्लाज्मा अवस्था अति उच्च तापक्रम पर प्राप्त होती है और शरीर तापक्रम पर इसका कोई प्रभाव उपलब्ध नहीं हुआ है।

जुड़ी चेतन विद्युत रूप प्राणशक्ति की प्रखरता शरीर में संव्याप्त होकर ओजस्वी, मनसंस्थान में उभरकर मनस्वी और अन्तःकरण में समावेशित होकर मनुष्य को तेजस्वी बनाती है। सामान्य चेतन मस्तिष्क के संकल्पबल से स्थूल शरीर को विभिन्न गतिविधियों में नियोजित किया जाता है। सूक्ष्म-शरीर द्वारा इन्द्रियजगत् के आगे के सूक्ष्मजगत् में हलचलें की जा सकती हैं, तथापि सूक्ष्मशरीर की क्षमतायें अभी पूरी तरह से अविज्ञात ही हैं।

मानव की विलक्षण काय-संरचना एक बिजलीघर की भांति है। तात्विक दृष्टि से प्राणिविद्युत और पदार्थविद्युत में मूलभूत एकता है। शरीर सतत ऊर्जा तरंगों का ग्रहण और निष्कासन करता रहता है। धन और ऋण विद्युतकणों का एकदूसरी ओर आना-जाना विद्युत या चुम्बक शक्ति का क्रम है। विद्युत और चुम्बक परस्पर परिवर्तनीय एक जैसी शक्तियां हैं। मानव शरीर चुम्बकीय ऊर्जा तरंगों का भँवर है। लाल रक्त कणों में लोहे की प्रचुर मात्रा होती है; रक्त प्रवाह से चुम्बकीय क्षेत्र उत्पन्न होता है। लौह तत्व विश्वव्यापी ऊर्जा का अवशोषण करके कोषिकाओं को ऊर्जा की पूर्ति करता है। मनुष्य पृथ्वी की गुरूत्वाकर्षण शक्ति से चुम्बकत्व का अनुदान प्राप्त करता है, ब्रह्माण्डवादी चुम्बकत्व से भी उसका आदान-प्रदान चलता है।

मनुष्य अंतरिक्ष में संव्याप्त भलेबुरे अनुदानों को अपने चुम्बकत्व द्वारा स्वीकार-अस्वीकार करता है। उसका स्वास्थ्य चुम्बकीय क्षेत्र के सामंजस्य एवं संतुलन पर निर्भर रहता है। इसकी अल्पता से आंखों का आकषर्ण समाप्त, शरीर रूखा, नीरस, कुरुप, शिथिल, निस्तेज हो जाता है, तथा विस्मृति, भ्रान्ति, थकान का अनुभव होने लगता है। इसके आधिक्य से मनुष्य आकर्षक, मोहक एवं सुन्दर लगता है, उसमें प्रतिभा, स्मृति तथा स्फूर्ति रहती है और वह हल्के चुम्बक वालों को अपनी ओर प्रभावित करता है। इस शक्ति का ऊर्ध्वगामी प्रवाह उत्तरध्रुव मस्तिष्क में केन्द्रित है, तेजोवलय इसका प्रतीक है; जननेन्द्रिय मूल में दक्षिणी ध्रुव है।

भ्रम और अंधविश्वास के पोषण वाली पाखण्डपूर्ण स्थापनायेंः सृष्टि का प्रथम तत्व प्राण है, वह एक है और विराट प्राण सत्ता का अंश है। सृष्टि उसी से उत्पन्न और उसी में लय होती है। प्राण जड़ एवं चेतन दोनों जगतों की सर्वोपरि शक्ति है, जड़ प्रकृति में प्राण की स्वल्प मात्रा भरी रहती है। प्राणसत्ता के कम्पनों से सृष्टि का प्रारम्भ होता है। जड़ जगत् में फोटोन, टैक्योन जैसी आधारभूत ऊर्जातरंगें और इलेक्ट्रान, प्रोटान,

मेसान, न्यूक्लियान जैसे तरंगमय मूलकण प्राण ऊर्जा के परिणाम हैं, शास्त्रीय रूप में इन्हें पत्र्चमहाभूत कहा जाता है। चेतन जगत् में इच्छा, क्रिया एवं ज्ञान के रूप में वही संव्याप्त है। वही जीवन तत्व है, वही चेतना, वही समस्त विश्व ब्रह्माण्ड संव्याप्त विभुसत्ता है, सजीवता, सजगता और सक्रियता उसी रूप के कारण होते हैं।

सनातन तत्व प्राण किसी विस्फोट के कारण ब्रह्माण्ड के किसी केन्द्र पिण्ड से बहता हुआ सारे विश्व में नानाप्रकार की रचनाओं के रूप में व्यक्त हो रहा है। इसका मुख्य स्रोत सूर्य के शार्टवेव इलेक्ट्रोमैग्नेटिक रेडियेशंस हैं। वातावरण के क्रियाशील ऋण-आवेशित आयन्स इसी के परिणाम हैं। इन आयन्स का दूसरा प्रमुख स्रोत ब्रह्माण्डीय किरणें हैं जो दिन-रात आती रहती हैं। ये पानी के लहराने और वाष्पीरकण से भी अधिक मात्रा में प्राप्त होते हैं। विचारधारा और भावधारा के सतत प्रवाह से स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरों के उपादान तत्वों के सूक्ष्म परमाणुओं, न्यूट्रानकणों में जो स्पंदन होता रहता है उसी से प्राण ऊर्जा का निर्माण होता है। भौतिक परमाणुओं से बने होने के कारण प्राणमय शरीर दृश्य होता है और उसका रंगरूप भी होता है। शरीर में प्राण के चयापचय की प्रणाली होती है। मस्तिष्क से विचारों के कम्पन विद्युत प्रवाह के रूप में ही निकलते है। गामा, बीटा, एक्स, लेसर, अल्ट्रावायलेट, अल्फा आदि अनेक शक्ति किरणों का समावेश सूक्ष्म शरीर में होता है, किन्तु इनको सम्बद्ध करने वाला चुम्बकत्व अर्थात प्राण के न रहने पर सब बिखरकर धूल की तरह छितरा जाते हैं, सब स्वरूप नष्ट हो जाते हैं, यही प्रलय है। उच्चस्तरीय विद्युतकण गुच्छकों के रूप में प्राणी की सत्ता मृत्यु के उपरान्त भी बनी रहती है, ये गुच्छक स्थूल शरीर की सामग्री, आस्थाओं और संवेदनाओं को साथ लेकर जन्म-मरण में भी अमर बने रहते हैं। परस्पर सम्बद्ध रहते और न बिखरते हुए ये आकाश में भ्रमण करते रहते हैं और फिर जीवन चक्र में प्रवेश करके नया जन्म धारण करते हैं।

शरीर में पांच प्राण पत्र्चदेवों के रूपों में और प्राणाग्नि का अक्षय भण्डार कुण्डलिनी शक्ति के रूप में विद्यमान हैं। वायु सम्बन्ध से प्राण का श्वास-प्रश्वास के माध्यम से शरीर के भीतर निरन्तर प्रवाह होता है। प्राण के दस भाग, पांच प्राण - अपान, समान, प्राण, उदान और व्यान, और पांच उपप्राण - देवदत्त, वृकल, कूर्म, नाग और धनंजय हैं, प्राणमयकोष इन्हीं के सम्मिश्रण से बनता है। अपान शरीर के मलों के निष्कासन तथा गुदा के पीछे मूलाधार चक्र से, समान रसादि सप्तधातुओं का परिपाक

करता है तथा नाभि के पीछे मणिपूरित चक्र से, प्राण श्वास-प्रश्वास का सम्पादक है तथा हृदय के पीछे अनाहत चक्र से, उदान ऊर्ध्वगमन व ग्रहण-प्रक्रिया वाला होकर कण्ठस्थित विशुद्धि चक्र से, तथा व्यान रक्तादि का संचार करने वाला एवं उपस्थ के पीछे स्वाधिष्ठान चक्र से सम्बन्धित है। प्राण के साथ नाग, अपान के साथ कूर्म, समान के साथ वृकल, उदान के साथ देवदत्त और व्यान के साथ धनंजय सहायक हैं। कपाल में आज्ञा चक्र और मूर्घा में सहस्रार है। चक्रों-कुण्डलों में होकर प्राण के प्रवाहित होने पर उनका नाम कुण्डलिनी है। सहस्रार में पहुंचने पर प्राण की तरंग दैर्ध्य शून्य तथा ऊर्जा अनन्त हो जाती है। प्राणयोग की उच्च साधनाओं द्वारा कुण्डलिनी प्राणाग्नि को मथकर स्वयं को ऊर्जा से अभिपूरित किया जाता है।

विराट सागर की भांति ब्रह्माण्ड में हिलारें लेने वाला प्राण ब्रह्माग्नि और जीव सत्ता में समाहित को आत्माग्नि कह सकते हैं, आत्माग्नि में ब्रह्माग्नि का सतत अनुदान पहुंचते रहना आवश्यक है। यह पूर्ति प्राणायाम से होती है। प्राणायाम का लक्ष्य प्राणतत्व को जानना और उस पर नियंत्रण प्राप्त करना है। प्राण पर विजय प्राप्त करना प्रकृति पर विजय प्राप्त करना है। चेतन जीव में अनन्त प्राण प्रवाह का क्षुद्र-अंश विद्यमान है जिसे नियंत्रित करके प्राण के महासमुद्र से जोड़ा जा सकता है। अध्यात्म साधनाओं द्वारा अन्तराल की प्रसुप्त क्षमताओं का जागरण तथा विशाल ब्रह्माण्ड में बिखरे हुए शक्तिशाली चेतन-तत्वों का धारण किया जाता है। प्राण को वशीभूत करने में मन की निर्मलता आवश्यक है। मनुष्य की चेतना अपनी उपलब्धियां विश्वचेतना को प्रदान करती है, और वहां से अपने लिए उपयोगी अनुदान प्राप्त करती है। पूर्व संस्कार या अभ्यास से समाधि प्राप्त करने वाला मनुष्य दूसरे मनुष्य के मन को, छिपी वस्तु के ज्ञान को, किसी वस्तु की पूर्व परम्परा को, भावी घटनाओं के पूर्वाभास आदि को अनुभव कर लेता है, यह स्थिति जितनी साफ होगी उतना स्वच्छ ज्ञान और जितनी धुंधली होगी उतने अस्पष्ट अनुभव आयेंगे। यह क्षमता मनुष्य को सहज प्राप्त है, बाहर से प्राप्त नहीं करना है, केवल उस पर जमे मैल को हटाना है। इस विशेषता को ब्राह्मी, शक्ति ब्रह्म-प्रेरणा, साक्षात ब्रह्म आदि नामों से पुकारा जाता है।

प्राण शक्ति को ही गायत्री कहते हैं जिसका केन्द्र संस्थान मूलाधारचक्र गह्वर में माना गया है। प्राण शक्ति के अभिवर्धन के लिए इसी संस्थान का द्वार खटखटाना पड़ता है। प्राणायाम साधना का उच्चस्तरीय रूप कुण्डलिनी जागरण है। संकल्पशक्ति के सहारे उसी के चुम्बकत्व से ब्रह्माण्डव्यापी समष्टिगत प्राण तत्व को आकाश से आकर्षित किया और श्रद्धा के बल पर उसे अपने में धारण किया जाता है। प्राणयोग में शरीरगत सूक्ष्म एवं शक्तिशाली चेतना को मनःशक्ति से श्रृंखलाबद्ध कर एक पंक्ति में प्रवाहित किया जाता है। जिससे मूलाधार से सहस्रार तक एक 'बायोजनरेटर' स्पन्दित होने लगता है, जिससे दक्षिणी ध्रुव और सहस्रार का मिलन सम्भव होता है। सहस्रार में सहस्र देवताओं का कोष है जो प्राण, मन और अन्न के द्वारा आवृत हो रहा है। भौतिक समृद्धि एवं आत्मिक उन्नति का मूल यही है।

दायें नासिका-छिद्र को बन्द करके बायें से धीरे-धीरे सांस खींचनी चाहिए। यह प्राण ऊर्जा सुषुम्ना मार्ग से ऋण-विद्युत प्रवाह 'इडा' द्वारा मूलाधार तक पहुंचती है और वहां अवस्थित प्रसुप्त चिन्गारी को झझकोरती-थपथपाती जाग्रित करती है। प्राण को सुषुम्ना स्थित धन-विद्युत प्रवाह वाली 'पिंगला' में से होकर वापस लाया जाता है, श्वास को बायें नथुने से अन्तर्कुम्भ के बाद लौटाया जाता है। धन-विद्युत का क्षेत्र पिंगला मार्ग उष्ण है, उसे सूर्य की उपमा दी गई है, इडा चन्द्र है। प्राणायाम सांस की गति को तालबद्ध और क्रमबद्ध करता है।

शारीरिक आण्विक ऊर्जाप्रवाह तथा चेतना में संव्याप्त प्राणतत्व के सम्मिश्रण से ब्रह्मवर्चस् उत्पन्न होता है। ब्रह्मवर्चस् देवों और योगियों में तेजोवलय रूप में प्राणि-चुम्बक है, जो सचेतन विद्युत रूप है। यह पदार्थ परमाणुओं को तथा अपने प्रवाह को वातावरण में फेंकती है और सजातीय जीवधारियों को विभिन्न प्रकार से प्रभावित करती है। इस शक्ति के सहारे अतीन्द्रिय क्षमतायें उभरती हैं और ब्रह्माण्डीय चेतना के साथ सम्पर्क मिलाते हुए सूक्ष्मजगत की गतिविधियों को समझना तथा उन्हें अपने पक्ष में झुकाना सम्भव होता है। साधना का उद्देश्य इसी ब्रह्मवर्चस् चुम्बकत्व का अभिवर्धन है।

सूक्ष्म शरीर स्थूल अंग के कट जाने के बावजूद भी अपने सूक्ष्म भाग

द्वारा स्थूल शरीर से जुड़ा रहता है, इसे 'फैन्टम इफेक्ट' कहते हैं। श्मशानों की धुंधले प्रकाश पुत्रज की उड़ती लहरें मृत व्यक्तियों की प्राण ज्योतियां ही हैं जो स्थूलशरीर के नष्ट हो जाने पर तैरती फिरती हैं। अघोरी कापालिक इन्हीं वलय पुत्रजों को वशवर्ती कर उनसे अपनी स्वार्थ सिद्धि करते रहते हैं। अभिचार, कृत्या, घात, चौकी, मूठ जैसी क्रियाओं में तांत्रिक लोग इसी बिजली का प्रयोग कर सम्बद्ध व्यक्ति में भले-बुरे परिणाम उत्पन्न करते हैं। जनेन्द्रिय के प्रभाव क्षेत्र में मूलाधार और स्वाधिष्ठान चक्रों के अतिरिक्त शक्ति के कितने ही महत्वपूर्ण संस्थान और प्राण के अवस्थान हैं, इनमें प्रमुख हैं - अज्रमेरुतडित, कच्छप, कुण्डल, सर्पिणी, रूद्रग्रन्थि, समान एवं सुषुम्ना आदि; तान्त्रिक इनका आकुंचन-प्रकुंचन करके वलय ऊर्जा को संजोने वाले शक्ति संस्थानों को उत्तेजित कर शक्ति का अद्‌भुत प्रवाह उत्पन्न करते हैं और उचित संयोग द्वारा कामशक्ति से लाभ उठाकर योगसाधना के विधानों द्वारा इस क्षेत्र में संकेन्द्रित वलय ऊर्जा से अन्नमय और प्राणमय कोशों की सुप्त शक्तियां जगाते हैं।

मनुष्य चुम्बक है, उसका पृथ्वी की चुम्बकीय धाराओं से सम्बन्ध है। सूर्य पृथ्वी को चुम्बक बनाता है, सूर्य के प्रकाश कण (फोटोन्स) जीवन के आधार हैं। 'हीमोग्लोबिन' प्राण ही है जो सूर्य से निःसृत होकर वायु द्वार, इच्छा शक्ति तथा अन्न द्वारा शरीरों में पहुंचता है। सूत्रविभाजन अपनी प्रारम्भिक और मध्य अवस्था में चुम्बकीय शक्ति से प्रभावित होता है, क्रोमोसोन हमेशा सेलों के ध्रुवों की ओर चलते हैं। चुम्बकत्व मानसिक संस्थान को भी प्रभावित करता है; चुम्बक शक्ति में विचार, सर्वज्ञता, सर्वव्यापकता के सारे लक्षण विद्यमान हैं। चुम्बक की विशेषताएं हैं, (1) आकर्षण, (2) एक रसता, तथा (3) स्थिर दिशा। चुम्बकीय विद्युत के माध्यम से एक व्यक्ति का प्राण दूसरे में प्रवाहित होने लगता है, जिसके सहारे सम्मोहन की प्रक्रिया सम्पादित होती है। विपरीत ध्रुवसंचय के कारण स्त्री-पुरूषों में परस्पर आकर्षण का स्वभाव पाया जाता है। जैव चुम्बक से वरदान, आशीर्वाद आदि का आदान-प्रदान होता है, तथा दूसरे शरीरधारियों को आकर्षित, प्रभावित तथा अनुकरण के लिए यह बाधित भी करती है। देव-दानव मनुष्यों की ओर सम्बन्ध साधने के लिए आकर्षित होते हैं जिन्हें हृदयगत प्राणचेतना के चुम्बकत्व से खींचकर बुलाया जा सकता है।

मनुष्य के शरीर से सदैव प्राणविद्युत निकलती रहती है जिसका उद्‌भव शरीर निर्माण के घटक न्यूट्रानकणों की तीव्र गति के कारण होता है। वैज्ञानिकों ने इसे बायोइलेक्ट्रीसिटी, बायोप्लाज्मा, कास्मिकइनर्जी, वाइटल

फोर्स, लाइफफील्ड आदि अनेक नामों से सम्बोधित किया है। इसी को स्पायरोमेट्री स्कीनपोटेन्शियल (गैलवैनिक स्किन रिस्पांस), इलेक्ट्रोकार्डियोग्राफी तथा इलेक्ट्रोइनसेफैलोग्राफी के माध्यम से प्रत्यक्ष देखा जाता है। शरीर के कुछ केन्द्र तो निर्विवाद रूप से विद्युत-उत्पादक केन्द्रों के रूप में स्वीकार कर लिये गये है, इनमें प्रधान हैं-मस्तिष्क, हृदय तथा नेत्र। ये विद्युतधारायें विभिन्न स्तरों पर वर्गीकरण तथा नामकरण से सीफेलोट्राइजमिल न्यूरैलजिया[49] की व्याख्या चर्चा के साथ प्रस्तुत की जाती है। मस्तिष्क में सन्निहित बिजली अध्ययन, चिन्तन, ध्यान आदि मनोयोग सम्बन्धित कार्यो में लगती है, पर जननेन्द्रिय विद्युत स्पर्श के माध्यम से बहिर्गमन को व्याकुल रहती है। एक धारा हृदय और मस्तिष्क से विनिर्मित होकर नाडी संस्थान का संचालन करती है, दूसरी धारा निखिल ब्रह्माण्ड में संव्याप्त रहते हुये प्रत्येक शरीरधारी वनस्पति तथा पदार्थ को प्रभावित करती है। इन दोनों के सम्मिश्रण से जो बिजली बनती है वह भौतिक यन्त्रगम्य है, उसे ही वैज्ञानिक देख पाते हैं। प्राण शरीर से विकसित होने वाली विद्युतीय तरंगों से एक अन्य प्रकार की विद्युतधारा मनुष्य के स्थूलशरीर से कुछ इंचों से लेकर तीन फिट दूरी तक प्रवाहित होती रहती है, इसी को आभामण्डल कहते हैं। आभामण्डल के कुछ तत्व स्थूल शरीर से बाहर निकलते रहते हैं और कुछ सूक्ष्म और कारण शरीर से। तीनों शरीरों से निकलने वाले प्रकाशपुंज मिश्रित रूप में एक स्थान में छाये रहते हैं। एक आवेशित कण्डक्टर के चारो ओर विद्युत क्षेत्र की तरह ये उभरे हुये स्थानों, यथा-नाक, उगलियों के पोरों, जननांगों-के चारों ओर अधिक उभरे दिखाई पड़ते हैं। आन्तरिक भाग में त्वचा से समकोण बनाती अनेक नाडियां होती हैं। जिनमें थोड़े-थोड़े समय पर सर्चलाइट की भाँति तीक्ष्ण प्रकाश युक्त किरणें निकलती रहती हैं, जो शरीर से अनेकों फीट बाहर आकर फिर तिरोहित हो जाती हैं। शरीर तक सीमित विद्युत विभव में बिन्दु होते हैं जो स्थूल शरीर व बायोप्लाज्मा का मिश्रित रूप हैं; शरीर से एक इंच बाहर तक निकला तेजोवलय रेखायुक्त होता है जो प्लाज्मा रूप है; शरीर के बाहर छः से आठ इंच या अधिक कवच की तरह फैला, विशेषकर चेहरे, उगलियों व जननेन्द्रिय पर सघन आयनों का समुच्चय विकिरणरूप होता है। यह प्रकाश दो प्रकार का, बाहरी धुंधवाला, तथा भीतरी तेजपूर्ण चमकवाला होता है; दिव्यताविहीन तेजोवलय धुंधले कुहरे जैसा होता है, मानसिक दृष्टि से गयेबीते, पतित में कालेपन की बहुलता होती है। प्रभामण्डल दिव्यता का परिचायक होता है जिसे दिव्यचक्षुओं, ज्ञानचक्षुओं से ही देखा जा सकता है। यह प्रकाश तीव्र या क्षीण रूप में प्रत्येक व्यक्ति में पाया जाता है। यह

49. शिर की कापालिक नाडी की पीडा।

शारीरिक व मानसिक दो प्रकार का होता है; शरीर से सीधासादा सफेद प्रकाश निकलता है, मानसिक इसी में घुला रंगों की झलक वाला होता है। चेहरे का बाहरी और मस्तिष्क का भीतरी भाग देवशक्तियों का निवास स्थान माना जाता है और उनका प्रतीक चेहरे के इर्दगिर्द फैलाहुआ तेजोवलय है। आध्यात्मिक प्रभामण्डल ध्यानयोग द्वारा ज्ञानचक्षुओं से दर्शनीय है। इसे कीर्लियन तथा शैर्लियन फोटोग्राफी द्वारा जाना जा सकता है। प्रभामण्डल एक प्रकार का छायापुरूष है, अदृश्य व्यक्तित्व है, जो व्यक्ति के गुण, कर्म, स्वभाव, उद्देश्य एवं कृत्य बतलाता है। सामान्य व्यक्ति तेजोवलय के अनुसार स्वभाव और कर्म सुस्थिर रखते हैं, जबकि मनस्वी पुरूष अपनीसुदृढ़ संकल्पशक्ति से अपनी अभ्यस्त आन्तरिक एवं वाह्य स्थिति में आश्चर्यजनक परिवर्तन ला सकते हैं। प्रभामण्डल का स्वरूप प्रत्येक मनुष्य में भिन्न-भिन्न रंगों व विशिष्टताओं का पाया जाता है। प्रभामण्डल में विद्युतकण, चुम्बकत्व, रेडियो विकिरण स्तर की चेतनायुक्त ऊर्जा भरी रहती है जो यन्त्रों से जानी व मापी जा सकती है। इन्फ्रारेड फोटोग्राफी से इसका चित्र खींचा जा सकता है। तेजोवलय का विद्युत मण्डल समीपवर्ती क्षेत्र, सम्बन्धित व्यक्तियों एवं पदार्थों में अपना प्रकाश प्रभाव फैलाता रहता है, यही मनुष्य की चेतना का सूक्ष्म शरीर है। प्रकृति में समूची पृथ्वी ही एक पदार्थ शरीर है और उससे एक विशिष्ट आभामण्डल बाहर निकलते देखा गया है। भू-चुम्बकीय क्षेत्र के प्रभावों के अध्ययन से यह तथ्य प्रकाश में आया है कि मनुष्य पर भी इस क्षेत्र का प्रभाव पड़ता है। भौतिक ऊर्जा को जिस प्रकार चुम्बकीय क्षेत्र या विद्युतीय क्षेत्र से आकृष्ट किया जाता है, उसी प्रकार प्राण-ऊर्जा को मनःशक्ति के द्वारा प्रभावित, आकर्षित किया जा सकता है। हिप्नोटिज्म, मेस्मेरिज्म, साइकिक हीलिंग आदि में भी इसी शक्ति का उपयोग किया जाता है। मित्रवत् आकर्षण के पीछे दोनों व्यक्तियों के तेजोवलय की समानता होती है। अरुचि में आभामण्डल के कम्पनों की असाधारण विपन्नता प्रधान अवरोधक बनती है। त्वचा के अतिनिकट चुम्बक रखने पर आभामण्डल के आकर्षण को स्पष्ट देखा जा सकता है। चिकित्सक की बायोप्लाज्मिक काया से रोगी की बायोप्लाज्मिक काया में प्राण ऊर्जा स्थानान्तरित होती है, इस माडल के समान्तर ऋण आयन्स, विद्युत-चुम्बकीय दबाव, एवं सतत कम्पायमान चुम्बकीय क्षेत्र को मिलाकर अनेकों असाध्य व्याधियों हेतु चिकित्सा का एक वैकल्पिक रूप निकाला गया है।

स्काचमैन मैक्सवेल ने सन् 1600 में यह सिद्धान्त प्रतिपादित किया था कि ब्रह्माण्डव्यापी एक 'जीवनीशक्ति' का अस्तित्व मौजूद है। इससे पहले गोक्लेनियस यह सिद्ध कर चुके थे कि मनुष्य के आत्मबल का प्रमुख आधार जीवनीशक्ति है जिसे 'जैव चुम्बकत्व' के स्तर तक समझा जा सकता है। इस शक्ति के उपयोग से शारीरिक-मानसिक रोगियों के कष्ट को मुक्त करने में वान हेल्मान्ट ख्याति प्राप्त कर चुके हैं। इटली के वैज्ञानिक सेटानेली ने अट्ठारहवीं सदी के आरम्भ में प्रयोगों द्वारा यह सिद्ध कर दिया था कि मनुष्य शरीर में प्रचण्ड विद्युतीय विकरण का अस्तित्व विद्यमान है। सन् 1734 से 1815 में डा0 फेडरिक मेस्मर[50] ने प्राण शक्ति के अस्तित्व एवं उपयोग के सम्बन्ध में शोध कार्य किया। उनके शिष्य कांस्टेट युसिगर ने उनमें सम्मोहन विज्ञान की नई कड़ी जोड़ी और कृत्रिम निद्रा लाने की विधि को 'हिप्नोटिज्म' नाम दिया। ला फान्टेन एवं डा0 ब्रेड ने इन अन्वेषणों को और आगे बढ़ाकर इस योग्य बनाया कि चिकित्सा उपचार में उनका प्रामाणिक उपयोग सम्भव हो सके। अमेरिकी वैज्ञानिक डाकलिंग और फ्रान्सीसी डा0 डुराण्ड डे ग्रास की खोजों ने विज्ञान जगत को यह विश्वास दिलाया कि प्राण शक्ति का उपयोग अन्य महत्वपूर्ण उपचारों से किसी भी प्रकार कम लाभदायक नहीं है, इस प्रक्रिया को 'इलेक्ट्रो बायोलाजिकल्स' नाम दिया गया। ली वाल्ट की जीव विद्युत के आधार पर चिकित्सा उपचार पुस्तक को प्रामाणिकता भी मिली और सराहना भी हुई। इस सम्बन्ध में जिन तीन प्रमुख संस्थानों ने विशेष रूप से शोध कार्य किए उनके नाम हैं - 1. दि स्कूल ऑफ नैन्सी, 2. दि स्कूल ऑफ चारकाट, 3. दि स्कूल ऑफ मेस्मेरिस्ट। मोडाऋयज तथा काउण्ट पुलिगर के शोधों ने यह सिद्ध किया है कि प्राण शक्ति द्वारा रोगोपचार तो एक छलावा खिलवाड़ मात्र है, वस्तुतः इसके उपयोग अत्यन्त उच्चस्तर के हो सकते हैं। जर्मन विज्ञानी रीकनबेक इसे एक विशेष प्रकार की अग्नि मानते हैं, जिसका बाहुल्य वे चेहरे के इर्द-गिर्द मानते हैं और 'ऑरा' नाम देते हैं, उन्होंने प्रजनन अंगों में इसकी मात्रा चेहरे से अधिक परिमाण में पायी है, दूसरे शोधकर्ताओं ने नेत्रों में तथा उंगलियों के पोरों में उसका अधिक प्रवाह माना है। परामनोवैज्ञानिकों का कहना है कि चेतना के विभिन्न स्तरों में एक स्तर 'आयनोप्लाज्मा' का होता है, जिसका हमारे मन और शरीर पर गहरा प्रभाव पड़ता है। सर्जनों द्वारा बिना क्लोरोफार्म सुंघाये सम्मोहन विधि से निद्रित करके छोटे आपरेशन किये गये, डेन्टल सर्जनों ने दाँत उखाड़ने में सुन्न करने के प्रयोग बन्द करके सम्मोहन विधि प्रयोग को

50. वस्तुतः 1734-1815 मेस्मर का जीवन काल है, न कि शोध की अवधि।

सुविधाजनक पाया।[51] जे०एस० एट्सब्रुक ने मन में छिपे हुए रहस्य उगलवा लेने के लिए प्राणविद्युत के प्रयोग की रहस्यमयी विधियां खोजीं और नये सिद्धान्त निकालकर जासूसी विभाग के अफसरों को सिखाया।

समीक्षा तथा मूल्यांकनः उपर्युक्त विवरण, जो पं० श्रीराम शर्मा आचार्य वाङ्.मय से उद्धरित किये गये अंशों के संकलन मात्र हैं, को उपर्युक्त तीन वर्गीकरणों में स्थिति को स्पष्ट करने की दृष्टि से प्रस्तुत किया गया है। ऊपर अन्त में जो तथाकथित वैज्ञानिकों के शोधकार्य और सिद्धान्त-प्रतिपादन का वर्णन तथा इतिहास बताया गया है वह नितान्त त्रुटिपूर्ण है और तथाकथित विज्ञानी भी मान्य तथा प्रतिष्ठित वैज्ञानिक नहीं माने जाते। इसी प्रकार परामनोविज्ञान, साइकिकल रिसर्च और मेस्मेरिज्म की कोई वैज्ञानिक मान्यता नहीं है। तथापि, उपर्युक्त तीसरे वर्गीकरण के अन्तर्गत इन अवधारणाओं की पुष्टि में छल और वितण्डापूर्वक प्राण शक्ति, आभामण्डल, चुम्बकीय विकिरण आदि नाम से जिन संकल्पनाओं की वैज्ञानिकता प्रमाणित करने का प्रयास किया गया है वह कितना बड़ा धोखा है यह 'मनोविज्ञान के इतिहास' विषय की किसी पुस्तक से सहज ही भली प्रकार से जाना जा सकता है। संक्षेप में इस इतिहास को हम प्रोफेसर गार्डनर मर्फी के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'हिस्टारिकल इन्ट्रोडक्शन टु माडर्न साइकालॉजी' के अध्याय 9 पृष्ठ 131-136 से संगत प्रमुख अंशों को अनूदित करके प्रस्तुत कर रहे हैं[52] -

"वास्तव में कहानी सोलहवीं शताब्दी के कायचिकित्सक पैरासेलसस से आरम्भ होती है जिसने मानव स्वास्थ्य पर नक्षत्रों के प्रभाव को दर्शाने की चेष्टा की। सन् 1760 के लगभग मेस्मर पैरासेलसस के इस दृष्टिकोण के सम्पर्क में आया और उससे अत्यधिक प्रभावित हुआ। कुछ वर्षो बाद उसने चुम्बकीकृत पट्टिकाओं के प्रयोग के प्रभाव से प्रत्यक्ष उपचार-लाभों का एक प्रदर्शन देखा। गेसनर नाम के एक पादड़ी ने अपने प्रदर्शनों से उसे भरोसा दिलाया कि मानव हाथ भी चुम्बकीकरण के माध्यम के रूप में उतना ही प्रभावी है जितनी धातु पट्टिकाएं हैं। मानव शरीर के इस प्रभाव के लिए

51. तथ्य यह है कि क्लोरोफार्म तथा एनेस्थेशिया की खोज होने पर सम्मोहन करके शल्य चिकित्सा करना स्वतः अलोकप्रिय हो गया क्योंकि एक ओर निश्चेतक चिकित्सकों द्वारा स्वीकारने और नियंत्रण करने में अधिक सफल दिखे, और दूसरी ओर सम्मोहन पूर्णतः सफल नहीं था, अनेक लोग सम्मोहित नहीं हो पाते थे। ऊपर तथ्यों को तोड़मरोड़ कर ठीक विपरीत स्थिति दर्शायी गयी है जो गायत्री परिवार का स्पष्ट छल है।

52. Gardner Murphy: *Historical Introduction to Modern Psychology*, London: Routledge & Kegan Paul Ltd., 1956.

'जीव चुम्बकत्व' शब्द परिभाषित किया गया। मेस्मर के कार्य-अभ्यास का केन्द्र चुम्बकीकृत लौह छड़ों से पूर्ण एक टब था जिसके चारों और बैठे रोगी इनसे स्पर्शित रहते थे। यह माना जाता था कि चुम्बकीकृत प्रभाव छड़ों से रोगियों के शरीर में गुजरता है। उनमें से बड़ी संख्या में अच्छे हो जाते थे।

'थोड़े दिनों में उन्हें चिकित्सा पेशे के कड़े विरोध का सामना करना पड़ा जिसने उन्हें नीमहकीम चिह्नित किया। लैवोंयसियर और बेंजामिन फ्रेंकलिंग का एक राजकीय आयोग उनके कार्य के गुण की जाँच करने के लिए गठित किया गया। आयोग ने उपचार लाभ के दावों का खंडन नहीं किया, उन्होंने अपना ध्यान जीव-चुम्बकत्व के सिद्धान्त पर केन्द्रित किया। उन्होंने बताया कि उपचार लाभ चुम्बकत्व के कारण नहीं हुए प्रत्युत रोगियों की 'कल्पना' से हुए। मेस्मर के शिष्य मारक्विस डी युसेगर ने महत्वपूर्ण खोज की कि रोगी को बिल्कुल निद्रा जैसी अवस्था में डालना सम्भव है जिससे वह अपनी हालत अच्छी पाता हुआ बाहर आयेगा। उसने पाया कि रोगियों को ठीक करने के लिए उन वृक्षों को भी चुम्बकीकृत किया जा सकता है जिनके नीचे वे हों। फ्रैंकलिन ने इस विधा को रोगियों को यह सुझाव देते हुए दोहराया कि वृक्ष चुम्बकीकृत कर दिये गये हैं, और उनके लिए प्रभावी उपचार लाभ ने यह साक्ष्य इकट्ठा किया कि 'कल्पना' इसका पर्याप्त स्पष्टीकरण था।

'सन् 1820 के थोड़े दिनों बाद एक नई कमेटी द्वारा दूसरी जांच इस चिकित्सकीय दृष्टिकोण से कि मेस्मरिज्म एक अन्तर्राष्ट्रीय दुर्विपाक बन रहा है, में सूचित हुआ कि उपचार लाभ तथा अनेक असाधारण दृश्यमान अनुभव जैसे, बिना एक भी शब्द बोले एक मन से दूसरे में विचारों का स्थानान्तरण, ऐसे बन्द पत्रों का पढ़ना जिनका सामान्य पठन सम्भव न हो, इन्द्रिय अनुभवों का स्थान परिवर्तन- उंगलियों के पोरों से देखना इत्यादि - और ऐसे ही दूरवार्ता, दूरदृश्यता, सिरे आना और प्रेत-संचार वास्तविक थे, तथापि 'जीव चुम्बकत्व' की प्रकृति पर कोई निश्चित निष्कर्ष नहीं निकाला गया। इस सूचना ने अति तीव्र विरोध भड़काया और आपत्तिकर्ताओं ने असाधारण दृश्यमान अनुभवों को धोखेबाजी के मामले माना जिनका स्पष्टीकरण जालसाजी या दृष्टिभ्रम पर आधारित दिया गया। एक तीसरी कमेटी नियुक्त हुई जिसने यह निष्कर्ष लिया कि 'जीव चुम्बकत्व' एक मजाक है। मेस्मेरिज्म और भी अधिक गम्भीर दुर्प्रतिष्ठा में पड़ गया। वह उठने में कभी सफल नही हुआ, और अब उसे वाह्य अंधकार में फेंक दिया गया है।

'इसके अतिरिक्त, ब्रिटेन में यह पाया गया कि रोगी का 'चुम्बकीकरण' के बारे में 'विश्वास' मात्र आवश्यक स्थिति है। इस बीच इंग्लैण्ड में इस्डेल द्वारा श्रीलंका में मेस्मर सम्बन्धी सम्मोहन उत्पन्न करके सफल शल्य क्रिया सम्बन्धी समाचार प्राप्त हुआ। किन्तु सामान्य निश्चेतकों (क्लोरोफार्म और ईथर) द्वारा सफल शल्य क्रिया की सूचनायें संयुक्त राज्य से प्राप्त हुईं और ये चूंकि मेस्मेरिज्म की अपेक्षा स्वीकारने और नियंत्रण करने में सरलतर थी, मैदान पहले ही खाली हो गया।

'मानचेस्टर के एक शल्य चिकित्सक ब्रेड चिन्तनों, सन्देहों और प्रयोगों की एक लम्बी श्रृंखला पर विश्वस्त हुए कि ये वास्तविक दृश्यमान अनुभव थे जिन्हें चुम्बकीय परिभाषा में नहीं अपितु पेशी थकान की शरीर-संक्रियात्मक परिभाषा में एक उपयोगी उद्देश्य की पूर्ति करके स्पष्टीकृत किया जाये। उनके शब्द 'सम्मोहन' ने, जिसका जोर निद्रा की भांति सामान्य और प्राकृतिक चीज पर था, शरीर संक्रियात्मक परिकल्पनाओं की अपेक्षा मनोवैज्ञानिक कारकों पर अधिकाधिक आधारित रहकर दृष्टिकोण परिवर्तन को अंकित किया।

'नैन्सी के ली बाल्ट और बर्नहाइम के लिए 'सुझाव' उस प्रक्रिया का नाम था जिसके द्वारा विचार रोगी के द्वारा इस प्रकार स्वीकार किए जाते थे कि वे सीधे नये विश्वासों, दृष्टिकोणों और आचरण की ओर ले जायें। रोगी अनेक मामलों में सम्मोहनकर्ता के स्वास्थ्य सम्बन्धी सुझावों पर विश्वास करके अच्छा होता हुआ दिखाई पड़ता था। इसके पीछे यह सिद्धान्त था कि जैसे सुझाव हिस्टीरिया के लक्षणों के रूप में कष्ट उत्पन्न करता है वैसे ही वह अच्छे होने का कारण हो सकता है। नैन्सीशाला ने सम्मोहन मूर्च्छा उत्पन्न करने के माध्यम के रूप में सीधे 'निद्रा सुझाव' देना विकसित किया। तथापि, चारकाट के लिए सम्मोहन हिस्टीरिया की एक अभिव्यक्ति समझा जाने योग्य शरीर-संक्रियात्मक दृश्यमान अनुभव था।

इस तथ्य के बाद गायत्री परिवार के बारे में कुछ अधिक कहने की आवश्यकता नहीं रह जाती। हाँ, एक बात और कि पुस्तकों और लेखों में संस्कृत के प्राचीन उद्धरणों से यह स्पष्ट होता है कि इस परिवार के लेखकों को संस्कृत बिल्कुल नहीं आती। फिर, भला वे वेदों के विज्ञान या प्राचीन भारतीय ज्ञान-विज्ञान और दर्शन पर क्या ख़ाक विचार-विमर्श कर रहे हैं ?

गुरुदत्तः गुरुदत्त मूलतः हिन्दी उपन्यासकार हैं। वे राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ से उस काल से सम्बद्ध हैं जब सांस्कृतिक पुनरुत्थान के लिए आचार्य शंकर और विवेकानन्द पर बातचीत हुआ करती थी, न कि किसी मस्जिद ढहाने और मन्दिर बनाने पर जोर रहता हो। उस काल के संस्कारों ने ही इस आयु के अन्तिम सोपान पर भारतीय तत्वदर्शन पर सम्यक् गवेषणा करने की प्रेरणा दी। गुरुदत्त आधुनिक विज्ञान में दीक्षित हैं और एम.एस-सी. उपाधिधारी हैं, तथापि हिन्दू धर्म और राष्ट्रीयता में उनका अगाध विश्वास है, और यही पक्षरूप से उनकी रचनाओं में प्रतिबिम्बित होता है। प्रस्तुत विषय से सम्बन्धित व्याख्यायें वैसे तो अनेकों स्थानों पर पुस्तकों में उनके द्वारा लिखी गई हैं, किन्तु मुख्य रूप से इस विषय का प्रतिपादन उन्होंने अपनी दो पुस्तकों 'सायंस और वेद' तथा 'विज्ञान और विज्ञान' में किया है। इनके विमर्श का संक्षेप निम्नवत् है :-

ज्ञान का आधार वेदः आदि युग से मनुष्य इस बात को समझने में लगा है कि वह सब, जो वह अपने चारो ओर देखता-सुनता है, क्या है और किस लिये है, इसकी खोज को विज्ञान कहते हैं, अर्थात् विज्ञान इस जगत के रहस्यों को जानने के लिए किया गया प्रयास है। वैदिक विज्ञान के लिए गुरुदत्त स्वामी दयानन्द की परिभाषा स्वीकार करते हैं कि ऋक् का अर्थ है 'सत्य' और वेद का अर्थ है 'ज्ञान', इसलिये ऋग्वेद का अर्थ पदार्थों का सत्य ज्ञान है। ऋक् ईश्वर से पृथ्वी पर्यन्त सब पदार्थों के गुण, कर्म और स्वभाव का नाम है, सब सत्य विद्याओं का मूल वेद में है। इसलिए विद्वानों को चाहिए कि पहले ऋग्वेद को पढ़कर मन्त्रों द्वारा ईश्वर से पृथ्वी पर्यन्त सब पदार्थों को यथावत् जानकर संसार में उपकार के लिए यत्न करें।

ज्ञान तथा विज्ञानः जगत की सामान्य जानकारी को 'ज्ञान' तथा विशेष जानकारी अर्थात् जगत के मूल का ज्ञान - यह जगत कहाँ से उत्पन्न हुआ? जिससे इसकी उत्पत्ति हुई उसका स्वरूप, लक्षण और स्वभाव क्या है? इत्यादि - 'विज्ञान' कहलाता है। दृश्य पदार्थों का ज्ञान तो सामान्य ज्ञान है और इसमें अदृश्य अप्रत्यक्ष अव्यक्त पदार्थों का ज्ञान विज्ञान है। संक्षेप में, दृश्य जगत का गुण, कर्म, स्वभाव तथा इनके सहयोगी पदार्थों के सहयोग की विधि 'ज्ञान' के अन्तर्गत आती है, परन्तु कार्य-जगत् के मूल पदार्थों के गुण, कार्य, स्वभाव, कार्य-जगत् से पृथक, 'विज्ञान' में

वर्णित है। 'साइंस' शब्द का मूल अर्थ 'ज्ञान' है, इसकी व्युत्पत्ति लैटिन 'सॉयंशिया' से हुई है, जिसका अर्थ ज्ञान है। गुरुदत्त के अनुसार साइंस और सॉयंशिया संस्कृत 'सांख्य' के तद्‌भव हैं। प्रकृति के परिवर्तनशील स्वभाव से मानवीय सुख-सुविधा का प्रयास 'तकनीकी ज्ञान' या 'कला' कहलाता है, इस प्रकार मानवीय हित में वैज्ञानिक सिद्धान्तों के प्रयोग की कला को 'टेक्नालाजी' कहते हैं।

गुरुदत्त यह मानते हैं कि सृष्टि के आदि में मनुष्य को परमेश्वर ने ज्ञान दिया, वाणी परमात्मा से अन्तरिक्ष के देवताओं को मिली, और वहाँ से भूतल के द्रष्टाओं द्वारा मनुष्यों को सुख देने हेतु प्राप्त हुई। अर्थात्, मस्तिष्क की गुहा में बैठा हुआ परमात्मा ऋषि-मुनियों को सुख की वाणी देता है, जो सामान्य मनुष्यों में इस वाणी का प्रचार करते हैं। इस प्रकार आदि मनुष्य को जो ज्ञान वेद से मिला वही परम्परा से मानव समाज में चला आ रहा है, उसमें वृद्धि तो नहीं हुई कुछ भूले ही हैं। मनुष्य ने कुछ भूली हुई बाते पुनः जान ली हैं, नयी नहीं। हाँ, विज्ञान के सैद्धान्तिक पक्ष में बहुत कम प्रगति हुई है, जबकि विज्ञान के उपयोग की कला में विशेष प्रगति हुई है।

आत्मा मन द्वारा प्राप्त ज्ञान को ग्रहण करता है, ऋषिपद पर पहुंचा आत्मा ज्ञान को मनन कर उसका प्रसार करता है और उसे मन्त्रों में सुरक्षित करता है, अन्यथा की स्थिति में मनुष्य वेदज्ञान को भूल जाता है, या वेदार्थ में प्रमाद करता है और तब ह्रास होने लगता है। परमात्मा का दिया ज्ञान परमात्मा से दी गई वाणी से विस्तार पाता है। वाक् अर्थात् ध्वनि (शब्द नहीं) पद-पद करके ऋषियों को प्राप्त होती है, वे इसे परिष्कृत करके भिन्न-भिन्न विचार भिन्न-भिन्न छन्दों में बोलते हैं। ज्ञान और भाषा को स्थायी बनाने के लिए लिपि की आवश्यकता हुई, लिपि भी उत्कृष्टता को प्राप्त कर अब ह्रास को प्राप्त होने लगी है। ऐसा लिपि के अभिव्यक्ति के स्थान पर सुविधा साधन बनने से हुआ है।

गुरुदत्त यह सही नहीं मानते कि ऋषि-मुनि योगी थे, जो आज यंत्रों से प्रेक्षण होता है उसे वे अपने अन्तर्चक्षुओं से देख और जान लेते थे। उनके विचार से प्रत्येक लेखक और वैज्ञानिक न्यूनाधिक रूप से योगी होता है। योग बुद्धि के विकास में साधन मात्र है, सत्य-दर्शन बुद्धि द्वारा होता है, बुद्धि को आधार प्रेक्षण से प्राप्त होता है जो प्रेक्षित घटनाक्रम का कारण जानने में सहायक होती है। बुद्धिमान किंचित संकेत से भी सत्य को परख

लेता है किन्तु बुद्धिहीन बहुमूल्य यन्त्र साधनों से भी ठीक कारण और अभिप्राय नहीं समझ पाता। पर्याप्त साधन न होते हुए भी भारतीयों ने जगत के रहस्यों को जान लिया था। गुरुदत्त पृथ्वी की तुलना में गृहों के सूर्य-प्रदक्षिणा काल का उदाहरण देते हैं जो आधुनिक विज्ञान में लगभग एक जैसे ही हैं। वे यह मानते हैं कि प्रकृति के रहस्यों को जानने में बड़े-बड़े यन्त्रों की जरूरत नहीं होती, विशुद्ध साइंस में प्रायः सरल परीक्षणों की आवश्यकता हुई है। परीक्षण करने से परीक्षण को समझने के लिए मनन की अधिक आवश्यकता है। प्रकृति के रहस्य प्रत्यक्ष होते हैं परोक्ष नहीं किन्तु उन्हें देखने वाली दृष्टि और समझने वाली बुद्धि चाहिए। देखने और समझने के साधन मनुष्य के पास सुरक्षित हैं, इन्हीं से भारतीय प्रकृति के गूढ़तम रहस्यों को जान सके। रहस्यों को मानवोपयोगी बनाने के लिए कभी-कभी अति जटिल उपकरणों की जरूरत पड़ती है।

गुरुदत्त भारतीय और पाश्चात्य विज्ञान में विरोध नहीं देखते, विरोध भ्रान्ति के कारण दिखता है। सत्य एक है, ज्ञान-विज्ञान सत्य का निरूपण है, इसलिए ज्ञान-विज्ञान दो नहीं हो सकते। कुछ किसी में छूट गया है, उस अंश में वह अधूरा है।

कार्य-जगत् या दृश्यमान-जगत् की व्याख्या ही साइंस है। साइंस कार्यजगत् के मूल तक पहुंची प्रतीत नहीं होती। तथापि, वह वृक्ष, पक्षी, प्राणी, नदी, नाले, पहाड़, सागर, सूर्य, चन्द्र से खोज आरम्भ करता हुआ सत्य की ओर जा रहा है, जबकि भारतीय वैज्ञानिक मूल सत्य को देख पाया है और उससे पग-पग पर निरीक्षण करता हुआ कार्यजगत् की ओर अग्रसर हुआ है। भारतीय ज्ञान-विज्ञान का लक्षण संक्षिप्त होते हुए भी अधिक व्यापक है और वह आधुनिक विज्ञान के लक्षणों की भांति अस्पष्ट नहीं है। गुरुदत्त का विचार है कि भारतीय विज्ञान की विशुद्ध-विज्ञान में पहुंच आधुनिक विज्ञान से कम नहीं है, प्रत्युत वह अधिक गहराई तक पहुंचा है। आधुनिक ज्ञान-विज्ञान का भी बहुत विस्तार हुआ है, प्रमुखतः टेक्नालॉजी के क्षेत्र में।

वैज्ञानिकों के लिए युक्ति (विचार शक्ति) बुद्धि का विषय होने से अति आवश्यक है। बुद्धि को निर्मल और तीक्ष्ण करने की प्रक्रिया योग है, विज्ञान योग से पृथक् नहीं है। योग स्वाध्याय के बिना निष्फल है। उस सामग्री

पर जो स्वाध्याय या परीक्षणों से सामने आती है जब तक निर्मल बुद्धि से मनन नहीं किया जाएगा, तब तक विज्ञान सही दिशा में नहीं जायेगा। इन्द्रियां, मन, बुद्धि और आत्मा जब एक ही स्वर में हों तभी शुद्ध और सत्य परिणाम पर पहुंचा जा सकता है। भारतीय शास्त्र योगी को ही विज्ञानी कहते हैं, बुद्धि का नाम विज्ञान और उससे युक्त जीवात्मा को विज्ञानात्मा कहा जाता है।

जगत रचनाः जगत रचना की प्रक्रिया, काल तथा देश प्रत्यक्ष प्रमाण का विषय नहीं है तथापि यह विज्ञान की सब शाखाओं का मूल और आवश्यक विषय है। सृष्टि रचना के समय उपस्थित सत्, रज्, तम् गुणों से युक्त प्रकृति के परमाणु साम्यावस्था में अर्थात् एक दूसरे के प्रभाव को विलीन करने वाले भरे हुए थे। सत् आकर्षण, रज विकर्षण और तम विषाद करने वाला है, प्राण इन गुणों की साम्यावस्था भंग करने वाला है, परस्पर आकर्षण-विकर्षण भंग होने पर सृष्टि-रचना प्रारम्भ होती है। प्राण परमात्मा का तेज है, इसके प्रभाव से प्रकृति की दिशा परमाणु के भीतर रहने के बजाय बाहर की ओर हो जाती है और पड़ोस के परमाणुओं को आकर्षित करने लगती है।

मूल प्रकृति का रूप एक पदार्थ था, जिसे आपः कहा गया है, आपः का रूप और संस्कार नहीं होता क्योंकि यह गतिहीन था, अणुओं की गतिशीलता से रूप की उपलब्धि होती है। तब यह सब कुछ अन्धकार में लीन था, अगोचर था, अलक्षण था, अतर्क था, चेतन भी नहीं था, सोये हुये के समान था। विपरीत गुणों के आकर्षण से परमाणु अणु बन जाते हैं और समान गुणों की समीपता से विकर्षण होता है और अणु नहीं बनते। आकर्षण-विकर्षण से अणुओं में बड़ापन और छोटापन होता है।

महत् या आपः से बनने वाले परमाणु समूहों को अहंकार कहते हैं। जिस परमाणु-समूह में रजस् और तमस् गुण एक परमाणु से अन्य परमाणुओं के रजस् और तमस् गुणों में विलीन किये जा रहे हैं और समूह में प्रधान रूप से सतोगुण शेष रह जाता है, उसे वैकारी अहंकार कहते हैं। जिस परमाणु समूह में सत् और रजस् परस्पर विलीन हो रहे हैं और प्रधान रूप से तमोगुण शेष रह जाता है उसे भूतादि अहंकार कहते हैं, और जिस परमाणु समूह में सत् और तमस् परस्पर विलीन हो रहे हैं और

प्रधान रूप से रजस् शेष बचता है उसे तेजस अहंकार कहते हैं। कभी अहंकारों के परस्पर ऐसे समूह बन जाते हैं जिनमें तीनों अहंकार इस प्रकार क्रियारत होते हैं कि वैकारी और भूतादि अहंकार केन्द्र में आ जाते हैं और तेजस अहंकार इनके चारों ओर चक्कर काटने लगते हैं, इसे परिमण्डल कहते हैं। रासायनिक क्रियाओं में परिमण्डल कारण-कार्य सम्बन्ध नहीं रखते अर्थात् ज्यों के त्यों बने रहते हैं। परिमण्डलीय अवस्था अथवा आण्विक अवस्था 'सूक्ष्मभूत' कहलाती है, ये अवस्थायें पदार्थों को बनाने वाली होती हैं। आकर्षण-विकर्षण रहित ह्रस्व और दीर्घ परमाणु-समूह, जो परिमण्डल बनाने में भाग नहीं लेते हैं, पूरे अन्तरिक्ष में फैले होते हैं, इन्हें 'आकाश' कहते हैं। आकाश एक प्रकार का निर्मित पदार्थ है जो महाभूतों में से एक है। किन्तु अन्य महाभूतों से सूक्ष्म है। यह दृश्यमान नहीं है फिर भी प्रकाश, विद्युत, ताप और शब्द तरंगों की गति में माध्यम का काम करता है।

अहंकारों में से तन्मात्रायें उत्पन्न होती हैं जिनका मुख्य कार्य जगत के पदार्थों को स्थूल बनाना है। ये शक्ति तरंगे हैं और अपना कार्य करके नष्ट हो जाती हैं। इनके कारण ही परिमण्डल बनते हैं और फिर टूटते नहीं, यही शक्ति इन्हें बनाती है और फिर बांधे रखती है।

दूसरे प्रकार की तन्मात्रा से परिमण्डल या परिमण्डल समूह अपने केन्द्र पर स्पन्दन करते हैं, स्पन्दन की गति से ही ठोस, तरल तथा वायवी स्थितियाँ बनती हैं।

तीसरे प्रकार की तन्मात्रा रासायनिक आकर्षण कहलाती हैं। चौथे प्रकार की तन्मात्रा भू-आकर्षण कहलाती हैं। पांचवे प्रकार की तन्मात्रा चुम्बकीय शक्ति है। तन्मात्राओं की सहायता से स्थूल महाभूत बनते हैं। स्थूल महाभूत से जगत में नाना प्रकार के पदार्थ बनते हैं।

जिनके नाम का कुछ अर्थ निकलता हो उसे पदार्थ कहते हैं, ये छः हैं - द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय। 'द्रव्य' वे पदार्थ हैं जिनसे जगत् बना है। 'गुण' उन लक्षणों को कहते हैं जिनसे द्रव्य पहचाना जाता है और दूसरे द्रव्य से भेद होता है। 'कर्म' ऊपर जाना, नीचे गिरना, संकुचन, प्रसारण और स्थान परिवर्तन है। 'सामान्य धर्म' द्रव्य के नित्य-अनित्य, कार्य-कारण, समानता-भिन्नता का ज्ञान कराता है। 'विशेष' उन धर्मों को

कहते हैं जिनमें द्रव्य, गुण अथवा कर्म का एक ही प्रयोजन का भास हो। द्रव्य नौ हैं – पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, मन और आत्मा, इनका ज्ञान ही जगत् का ज्ञान है। 'पृथ्वी' का अभिप्राय सब ठोस पदार्थों से है, 'जल' का अभिप्राय सभी जलीय या द्रव पदार्थों से है, 'तेज' का अभिप्राय उन आग्नेय पदार्थों से है जिनमें स्वयमेव या सुगमतः शक्ति का आविर्भाव होता रहता है, 'वायु से अभिप्राय' उन पदार्थों से है जो सामान्य तापक्रम पर वायवी (गैस) अवस्था में हों, 'आकाश' उन द्रव्यों को कहते हैं जो परिमण्डलीय स्वरूप के नहीं हैं किन्तु उपज प्रकृति के हैं, ये पांच द्रव्य पंचमहाभूत कहलाते हैं। काल, दिक् और मन लाक्षणिक द्रव्य हैं। आत्मा भी द्रव्य है, यह दो प्रकार का जीवात्मा और परमात्मा है। प्रकृति भी द्रव्य है, अन्तर केवल इतना है कि जहां आत्मा परिणामी नहीं है वहां प्रकृति परिणामी अर्थात् परिवर्तन से अन्य द्रव्य बनाने वाली है। ये तीनों तत्व हैं – प्रकृति, जीवात्मा और परमात्मा, वे द्रव्य भी हैं, पदार्थ भी हैं। तत्व उस पदार्थ को कहते हैं जिसका कारण न हो, जो अनादि हो और विघटित न हो सके।

व्योम के एक सीमित स्थान पर जगत रचना का कार्य प्रारम्भ हुआ। परमात्मा ने जगत रचना की कामना की और प्रकृति के गर्भ में अपने तेज का वीर्य डाला और सृष्टि रचना आरम्भ हो गई। सबसे पहले महत् बना, इसे आपः, जल, सलिल कहा गया। रचना स्थान आपः से परिपूर्ण हो गया, यह समुद्र सा था, किन्तु आकृति बदल रहा था, उस समय इसकी आकृति चमस की भांति थी। चमस के गड्ढे में महत् से अहंकार, अहंकार से पंचमहाभूत आदि परिवर्तित होते रहे, उस समय यह एक अण्डे की भांति बन्द स्थान था, इसको हिरण्यगर्भ कहा गया। इस समय इसमें विस्फोट हुआ और इसमें से बने पदार्थ दूर-दूर फेंके गये। यह विस्फोट 1,92,85,46,833 वर्ष पहले हुआ था। तभी सूर्य बना, पृथ्वी बनी, अन्य तारागण बने तथा अन्तरिक्ष के अन्य पदार्थ बने। नक्षत्रों के चारो ओर ग्रह उनकी लपेट में आ गये। पृथ्वी सूर्य के आकर्षण क्षेत्र में आकर सूर्य की परिक्रमा करने लगी, तब वह अति गरम अर्द्ध-पिघली हुई अवस्था में थी, समय पाकर वह ठण्डी हुई। पृथ्वी के ज्वालामुखी विस्फोटों से वायुमण्डल की हवायें बनीं और पृथ्वी के चारो ओर एकत्र हो गईं, उनमें जल वाष्प रूप में था, वह बादल बन बरसा और पृथ्वी ठण्डी हो गई। तब प्राणी सृष्टि के लिए उचित तापमान बना और प्राणी सृष्टि के उपादान बने।

प्राणी रचनाः भारतीय मत के अनुसार मानव सृष्टि की रचना आज से लगभग अड़तीस लाख वर्ष पूर्व हुई थी। यह रचना उत्तरी ध्रुव-क्षेत्र में सुमेरु पर्वत पर अमैथुनीय उत्पत्ति वाले कुछ मानवों से आरम्भ हुई थी। परन्तु आज से लगभग इक्कीस लाख साठ हजार वर्ष पूर्व पूर्ण सृष्टि जल-प्लावन से विनष्ट हो गई है। जल-प्लावन के उपरान्त पुनः सृष्टि रचना हिमालय के ब्रह्म-सर (वर्तमान मानसरोवर) के तट पर हुई। ज्यों-ज्यों जल उतरता गया मनुष्य सबसे पहले भारत में गंगा, सरस्वती, यमुना, सिन्धु आदि नदियों के तट के साथ-साथ चलता हुआ आया और फिर भारत से वह अफगानिस्तान, ईरान, मेसोपोटामिया, सुमेर इत्यादि देशों में गया। इस प्रवसन में लाखों वर्ष लगे और इससे वे मूलज्ञान को बहुत कुछ भूल गए। प्राणी-सृष्टि सूर्य रश्मियों से हुई। वह मनवन्तर जिसमें प्राणी सृष्टि हुई वैवस्वत सुत कहलाता है। परमात्मा के पुत्र स्वायम्भुव मनु के वंश में उत्पन्न महात्मा तथा पराक्रमी धन्यमान स्वारोचिश, उत्तम, तामस, रैवत, चाक्षुष और वैवस्वत सुत (सूर्य पुत्र) इन छः मनुओं ने अपनी-अपनी प्रजाओं की सृष्टि की। पहले वनस्पतियां हुईं। सोम की सहायता से वनस्पतियों के बीज सृष्टि पर आये। तदन्तर इतर जीव-जन्तु हुए। इनके उपरान्त ही मनुष्य की सृष्टि हुई। भगवान की शक्ति से सम्पन्न होकर ब्रह्मा ने मानव सृष्टि के लिए संकल्प किया और दस पुत्र मरीचि, अंगिरा, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, भ्रगु, वशिष्ट, दक्ष और नारद उत्पन्न किये, इनकी सन्तानें मानव सृष्टि हुईं।

सब वनस्पतियां और जन्तु-जातियां पृथक-पृथक उत्पन्न हुई, बीजारोपण भी पृथक-पृथक हुआ। भूमि ने गर्भाशय का स्थान लिया, सूर्य की किरणों से पुरुष-तत्व आया और रोहिणी नक्षत्र से स्त्री-तत्व प्राप्त हुआ, गर्भ स्थित हो गया। पृथ्वी का यौवन एक सीमित काल तक रहा और उस काल में ही यह गर्भधारण करने में समर्थ हुई। जगत की आधी आयु व्यतीत हो चुकी है, मनुष्य आयु की तुलना में पृथ्वी की पचास वर्ष आयु हो चुकी है।

आदि सृष्टि के समय मनुष्य जन्म के लिए जब भूमि पर संसेचित कोषिका बन गई, तब भूमि में कलल बना जिसने उस संसेचित कोषिका को ढाँप लिया और फिर उसके चारो ओर छिलका बन अण्डे का रूप बन गया। परन्तु यह प्रतीत होता है कि भूमि पर जो गर्भाशय बना वह आज

की माँ के पेट से बहुत बड़ा था और वहां कलल की मात्रा भी अधिक थी। उस पर जो झिल्ली बनी वह माँ के पेट की झिल्ली से अधिक सुदृढ़ थी। इस प्रकार एक बड़ा अण्डा बन गया और उसमें उपस्थित कलल के आश्रय युवा-पुरुष और युवा-स्त्री उत्पन्न हुये।

समीक्षा एवं मूल्यांकनः गुरुदत्त ने ज्ञान-विज्ञान की विवेचना सम्यक् रूप से की है और अवधारणाओं को स्पष्ट किया है। वेद के संदर्भ से ज्ञान और बुद्धि का सही निरूपण भी उन्होंने किया है, तथा ऋषि-मुनियों ने ज्ञान को कैसे प्राप्त किया तथा सुरक्षित रखा यह भी स्पष्ट किया है। उन्होंने वेदों की वैज्ञानिकता का अत्यन्त उपयुक्त निरूपण किया और उन परिस्थितियों पर भी प्रकाश डाला जिसमें ऐसी वैज्ञानिकता स्थापित हुई है। एक महत्वपूर्ण बात उन्होंने यह बतलाई कि भारतीय वैज्ञानिक दृश्यमान् जगत के मूल कारणों में रुचि रखते थे, जबकि आज का वैज्ञानिक दृश्यमान जगत् के अध्ययन तक ही सीमित है। वैज्ञानिक विधियों में भी एक मुख्य बात वे योग के बारे में कहते हैं जो इन्द्रियों, बुद्धि और मन को निर्मल और परिष्कृत करते हुए उसे आत्मा से इस प्रकार संयुक्त कर देती है कि कार्यजगत् का वस्तुनिष्ठ, सम्यक् और त्रुटिरहित ज्ञान स्वतः हो जाता है। इतना सब कुछ निरूपित करने के उपरान्त भी वैज्ञानिक विधियों पर बहुत कुछ बतलाना शेष रह गया है, और गवेषणा के नियोजन से विषय के लेखन तक की प्रक्रिया पर प्रकाश डालने की आवश्यकता है। वेद में और वेदेतर साहित्य में इन सब का समावेश किया गया है, किन्तु गुरुदत्त की दृष्टि वहां तक नहीं पहुंच पायी है, और इस प्रकार वेद की वैज्ञानिकता पर उनका दृष्टिकोण अधूरा है।

जहां तक वेद में विज्ञान के तथ्यात्मक निदर्शन का प्रश्न है, गुरुदत्त ने मुख्यतः जगत्-रचना और प्राणी-रचना पर ही विस्तार से प्रकाश डाला है। इस निदर्शन में वे सही वेदार्थों पर नहीं पहुंच पाये और उन्होंने कल्पना की ऊँची उड़ान भरी है, जो प्रायः भारतीय विचारकों का दोष रहा है। प्रत्यक्ष या समीपस्थ दर्शनीय को न देखकर वे कोरी कल्पना में उड़ान भरते हैं और पौराणिक तथा आधुनिक ज्ञान-विज्ञान के तथ्यों का उसमें घालमेल करते हुए अन्दाजाबाजी करते हैं जो निस्संदेह अनुमान-प्रमाण नहीं है। प्रथमतः प्रतीकों की पूर्णरूपेण उपेक्षा से, तथा धार्मिक विश्वासों से भी इस निदर्शन में अलौकिकता का समावेश हो गया है। दूसरी बात यह होनी चाहिए थी

कि जगत्-रचना और प्राणी-रचना के प्रमाण वेद से ही एकत्र कर प्रस्तुत किये जाते और उनके समर्थन में क्रमबद्ध ज्ञान भारतीय विज्ञानों के मानक ग्रन्थों, जैसे आयुर्वेद, ज्योतिष, भाषा विज्ञान, खगोल आदि के संदर्भों से पुष्ट तथा स्थापित किये जाते। उपवेदों तथा वेदांगों की लगभग पूर्ण उपेक्षा से सृष्टि का निदर्शन असामान्य और अलौकिक हो गया है। एक तीसरी बात यह है कि जगत्-रचना और प्राणी-रचना की प्रक्रिया लगभग एक जैसी होने से यह भ्रम बना रहता है कि वेद का ऋषि वस्तुतः अपने वर्णन में क्या मन्तव्य रखे हुये है, इसके निश्चय के लिए ज्योतिष ग्रन्थों तथा आयुर्वेद ग्रन्थों से प्रमाण देना आवश्यक हो जाता है। गुरुदत्त ने जो प्रमाण दिए हैं वे उन ग्रन्थों से हैं जो स्वयं ही अस्पष्ट हैं और वैज्ञानिक ग्रन्थ नहीं कहे जा सकते हैं। अन्ततोगत्वा गुरुदत्त लगभग यह स्वीकार कर लेते हैं कि उनका निदर्शन विज्ञान नहीं प्रत्युत कोरा तर्क है जिसे अधिक से अधिक एक फिलासफी कहा जा सकता है, तथापि उसे वे अनुमान प्रमाण पर आधारित होने का आग्रह करते हैं, जो वास्तव में वह होने योग्य नहीं है।[53]

प्रतीकात्मकता का तो गुरुदत्त ने कहीं वर्णन ही नहीं किया है। एक स्थान पर[54] प्रतीकात्मकता का सामान्य सूत्र 'यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे' का वर्णन करते हुए उसे अनुमान प्रमाण मानकर पृथ्वी की गर्भाधान हेतु यौवन अवस्था तथा इस समय मनुष्य आयु के अनुपात में उसकी आयु का मात्र आकलन किया है, किन्तु इस सूत्र के सही अर्थों को वे नहीं समझ पा रहे हैं, और न वेद व्याख्या में इस सूत्र की उपयोगिता के बारे में उनकी कोई दृष्टि है। वेद-व्याख्या में निरुक्त, व्याकरण आदि पर भी वे मौन हैं तथा वेदों की आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक व्याख्याओं के सम्बन्ध से भी वे अनजान हैं।

वेदों की समीक्षा में वे नितान्त एकांगी हो गये हैं, यद्यपि परमात्मा को वे आत्मा का पर्याय मानते हैं, और इस प्रकार उसे एक मूल तत्व अर्थात् विघटित न होने वाला मानते हैं, परन्तु आगे की व्याख्या में उसमें अलौकिकता का आरोपण कर सामान्य मानसिकता के परमेश्वरवाद में फँसकर, परमात्मा और जीवात्मा में विघटित करते हुए, उस माता की भांति व्याख्या करते हैं, जो अपने अल्पवयस पुत्र के अटपटे प्रश्नों का उत्तर 'भगवान करता है' करके प्रस्तुत करती है। यदि सब कुछ परमेश्वर ही करता है तो व्यर्थ की प्रक्रियात्मक विवेचना की आवश्यकता ही क्या है?

53. गुरुदत्त:विज्ञान और विज्ञान, नई दिल्ली : हिन्दी साहित्य सदन, 1972, पृष्ठ 108
54. वही, पृष्ठ 106

काहे का ज्ञान और काहे का विज्ञान, तब असली ज्ञान तो यही है कि साफ कह दिया जाये,'यह सब ईश्वर की माया से होता है, वही करता है, उसी की इच्छा से ऐसा होता है, आदि आदि।' दूसरी बात, अनुमान या आप्त प्रमाणों की है। पहले में वे एक स्थापित कार्य-कारण सम्बन्ध का आधार मानते हैं, जिसमें एक के होने पर दूसरे का अनुमान किया जा सकता है, किन्तु दूसरे में स्थापित कार्य-कारण सम्बन्ध जैसी वे कोई व्याख्या नहीं करते और न योगी की निर्मल इन्द्रिय-बुद्धि-मन से शुद्ध-त्रुटि रहित प्रेक्षण को ही वे 'आप्त' मानते हुए दिखते हैं, फिर भी वे अपने निदर्शन में पूर्ण रूप से अनुमान पर निर्भर करते हैं, जो वास्तव में अनुमान-प्रमाण नहीं, प्रत्युत मात्र कोरी कल्पना और कभी-कभी निरी बकवास है।

डा० सत्य प्रकाशः डा० सत्य प्रकाश बहुत समय तक इलाहाबाद विश्वविद्यालय में रसायन विभाग के प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष रहे तथा जाने-माने वैज्ञानिक थे। प्रारम्भ से ही वे आर्य समाज से सम्बद्ध थे और सेवानिवृत्त होने के उपरान्त वे आर्यसमाज में सन्यस्त भी हो गये थे। प्रस्तुत विषय से सम्बन्धित इनकी दो पुस्तकें 'वैज्ञानिक विकास की भारतीय परम्परा' तथा 'भारत में रसायन शास्त्र का विकास' प्रकाशित हैं। डा० सत्य प्रकाश का दृष्टिकोण न तो वेदों को उच्च-वैज्ञानिक-ग्रन्थ बताने का है और न वेदों में आधुनिक विज्ञान की प्राप्तियों के समकक्ष विज्ञान ढूंढने का, प्रत्युत उस अतिप्राचीन काल में मनुष्य जाति की सामान्य वैज्ञानिक खोजों को आज की उच्चतम खोजों और आविष्कारों का आधार मानते हुए वे उन्हें बराबर का महत्व देते हैं। अपनी समीक्षा में वे वस्तुनिष्ठ दृष्टि रखते हैं और कहीं भी कल्पना की न तो ऊँची उड़ान उड़ते हैं और न पक्षपातपूर्ण व्याख्यायें प्रस्तुत करते हैं। जैसे वे अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त वैज्ञानिक हैं वैसा ही औचित्यपूर्ण उनका दृष्टिकोण भी है :-

'मैंने यह प्रयत्न किया है कि इस देश में समुत्पन्न वैज्ञानिक प्रवृत्तियों की एक झांकी मिल जाय। गत दो तीन शताब्दियों का इतिहास यदि हम छोड़ दें, तो शेष शताब्दियों में तो भारत ने संसार की ज्ञान-परम्परा में अच्छा नेतृत्व किया और अन्य देशों की सहयोगिता में मानव जाति की सेवा करने का प्रयास भी किया। योरप में तीन-चार ऐसी खोजे हुई जिनके कारण गत दो शताब्दियों में वह हमसे बहुत आगे निकल गया। जैसे - रसायन में सूक्ष्म तुला, ज्योतिष में दूरदर्शक यन्त्र, भौतिक शास्त्र में रश्मि

चित्र यन्त्र (स्पेक्ट्रोस्कोप), वनस्पति और प्राणिशास्त्र में अणुवीक्षण यन्त्र, शल्य चिकित्सा में सम्मूर्च्छकों (एनेस्थेटिक्स) और क्रमिनाशकों (ऐन्टीसेप्टिक्स) का ज्ञान।

भारत वर्ष अब स्वतंत्र है। हमारा अतीत यह बताता है कि विचार स्वातंत्र्य और नवीन प्रयोगों के प्रति प्रवृत्ति – ये दोनों हमारी पुरानी परम्परायें हैं। इस देश ने यूनान, अरब, मिस्र, फारस और चीन के साथ ज्ञान-विज्ञान का सदा आदान-प्रदान रखा और सबके सहयोग से रसायन, आयुर्वेद और ज्योतिष ही नहीं, समस्त शास्त्रीय विषयों की अभिवृद्धि की। यह हमारी पैत्रिक प्रवृत्ति आज भी हमें उत्साहित कर सकती है और देश के गौरव को उन्नत करने में अवश्य सहायक हो सकती है।'[55]

डा० सत्य प्रकाश की यह उक्ति एकांगी और अतिशयोक्ति हो सकती है, क्योंकि न तो अपनी पुस्तकों में वे ऐसा कुछ स्पष्ट कर सके, न ही इलाहाबाद विश्वविद्यालय के रसायनशास्त्र विभाग में ही ऐसे पाठ्यक्रम और योजनायें निर्माण कर सके जो उनकी इस उक्ति को चरितार्थ कर सकतीं। बहरहाल, उनके दृष्टिकोण और विचार-विमर्श का संक्षेप निम्नवत् है :-

अग्नि मन्थनः विज्ञान के आविष्कारों में सबसे बड़ा आविष्कार अग्नि का आविष्कार है। इस वसुन्धरा का वह स्थल धन्य है, जहां अंगिरस् ने प्रथम बार इस भौतिक अग्नि के दर्शन किये। यह भौतिक अग्नि परमश्रेष्ठ आत्म-अग्नि का दूत माना गया, 'अग्निं दूतं वृणीमहे'[56]; ब्रह्म-सृष्टि में जो स्थान सूर्य का था, मानव-सृष्टि में वही स्थान अग्नि का रहा। जिस व्यक्ति ने अग्नि-खनन के इस कृत्य में नेतृत्व किया, वह अथर्वा या अंगिरस् था, ऊपरवाली (शमी) लकड़ी से संयुक्त दण्ड (पलाश) और डोरी, बीच में सूखी घास रखकर मन्थन करके अर्थात् लकड़ी रगड़ कर अग्नि उत्पन्न की गई।[57] अग्नि की सहायता से मनुष्य ने अपनी परिस्थितियों पर विजय प्राप्त की, उसने असहाय होते हुए भी अपने को सबसे अधिक उत्कृष्ट बना डाला और धरातल के रूप को परिवर्तित कर दिया। मानव सभ्यता और संस्कृति का इतिहास इस अग्नि के खनन, मन्थन और दोहन का इतिहास

55. डा० सत्य प्रकाश : वैज्ञानिक विकास की भारतीय परम्परा, पटना : बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, 1954, 'दो शब्द' की भूमिका से।
56. ऋग्वेद 1:12:1
57. सायण : ऋग्वेद 3:29:1 का भाष्य।

है। जिस दिन अग्नि का यह यज्ञ समाप्त हो जाएगा, उस दिन इस धरातल से मानव का लोप हो जायेगा।

अन्न और खाद्यः आज हम बीसवीं शताब्दी के प्राणी मनुष्य के उस आविष्कार का महत्व अनुभव करने में सर्वथा असमर्थ हैं, जिसने मनुष्य को जंगल से निकाल कर शस्य-पूर्ण खेतों का स्वामी बनाया। गेहूँ, चावल, मक्का, ज्वार, जौ, चना आदि अन्न मनुष्य ने खेतों में अपने लिये तैयार किये, प्रकृति में कहीं भी इन अन्नों के जंगल नहीं पाये जाते। कृषि के योग्य शस्य और अन्नों को मनुष्य ने किस प्रकार बनाया, यह मानव जाति का एक परमोत्कृष्ट आविष्कार है। अन्न, दाल और तिलहन, इन तीनों के प्रतीक हमें यजुर्वेद की सूची[58] में मिलते हैं। सभ्यता और संस्कृति के इतने विकास के बाद भी हम अपने शस्यों की सूची को किंचित मात्र भी विस्तृत नहीं कर पाये हैं, यह आश्चर्यजनक है।

अन्नों का आविष्कार अग्नि के योग से और भी अधिक महत्व का हो गया जब मनुष्य ने इन्हें आग पर पकाने की कला का भी आविष्कार किया। मनुष्य द्वारा पकाये हुये अन्न को खाद्य या भोजन कहा गया। दूध, दही और मधु के योग से अनेक स्वादिष्ट भोजन तैयार किये गये। धानों से लावा तैयार करने के लिये और भुने अन्न से सत्तू बनाने के लिये आर्यजाति ने भाड़ ऐसी कोई चीज अवश्य बनायी होगी। घी, मधु और आटे के योग से अनेक प्रकार के पकवानों के बनाने की परम्परा भी बहुत पुरानी है, जिसकी नींव वैदिक काल में पड़ चुकी थी। सक्तु, करम्भ, परीपाक, तोक्म, नग्नहु, शष्य, मासर, अपूप, पुरोडाश आदि खाद्य पदार्थ विविध प्रकार से बनाये गये।

दूध से दही जमाना और फिर दही से घी का निकालना, यह पुरानी परम्परा है; यह आज साधारण घटना प्रतीत होती है, पर मनुष्य जाति ने अपना पहला 'जामन' कैसे प्राप्त किया होगा, किसने दही की विशेषता का अनुभव किया होगा और 'जामन' के सम्बन्ध में प्रयोग किये होंगें, इसका अनुमान लगाना कठिन है। दही के मन्थन से घी निकालना, यह भी कोई सरल कार्य नहीं है। हमारी सबसे पहली 'मथानी' किस प्रकार रही होगीं, इससे मथकर घी अलग करने का परिज्ञान कोई छोटी घटना नहीं है। इस

58. यजुर्वेद 18:12

प्रारम्भिक मन्थन-यंत्र ने ही आजकल के विशाल सेंट्रीफ्यूज-यंत्रों को जन्म दिया।

मधुः मधु ने समस्त आर्यजाति के जीवन को कविता दी।[59] कोई भी मीठी चीज़ मधु कही जाने लगी, और कोई भी स्वादिष्ट पदार्थ मधु बन गया। शर्करा और ईख भी मधु और मधु वनस्पति बन गये। मधुमक्खी के लिये मक्ष, मधुकृत् और सरघा इन तीन शब्दों का प्रयोग वेद में हुआ। दूध और सोम में मधु मिलाने का उल्लेख मिलता है।

पात्र और भाण्डः भोजन की कला ने हमाने प्रारम्भिक भाण्ड और पात्रों को जन्म दिया। भोजन तैयार करने के अनेक उपकरण भी बने, इसी प्रकार यज्ञ-कृत्य के भी उपकरण बने। यज्ञ-कृत्य गार्हस्थ्य जीवन के केन्द्र और प्रतीक थे अथवा छोटे से नाटक या उसकी भूमिका थे। इस कृत्य को प्रतीक मानकर मानव समाज ने अपने प्रारम्भिक विज्ञान की नींव डाली। यज्ञ समस्त जीवन का आधार बन गया; अध्यात्मवाद का विकास तो हुआ ही, यज्ञों के आधार पर गणित, ज्योतिष, रसायन, पशुशास्त्र और वनस्पतिशास्त्र का विकास हुआ। यज्ञ सम्बन्धी पात्रों में स्रुच (प्याला), चमस (चमचा), वायव्य, द्रोणकलश, ग्रावाण और अधिषवण (सिल-बट्टा), सत (टोकरी), कुम्भी (घड़ा), स्थाली (थाली या कड़ाही), चप्य और ग्रह (कलछुल, चिमटा या सड़सी जैसा पात्र), तितउना (छन्नी या चलनी), मुसल और उलूखल (खल-मूसल), शूर्प (सूप), आपवन, दर्वी, उपसेचनी, आदि पात्र और उपकरण मिट्टी, लकड़ी और धातुओं के बने होते थे। कलश, कुम्भ और कुम्भी के आविष्कार ने कुम्भकार के समस्त पात्रों को जन्म दिया। उलूखल, मुसल, शूर्प और तितउना के आविष्कारों की नींव पर मशीनयुग के विशालकाय यन्त्र बन सके। लीवर, पेंच और गरारी का आविष्कार यंत्रयुग की नींव है। मथानी और रज्जु सभ्यता में आविष्कृत पहलीं गड़ारी है।

कृषि और पशुपालनः जिस आदिम सभ्यता ने अन्न के प्रसार के लिये कृषिकला का विकास किया, वनों को उसने ग्राम में परिणत किया। ग्राम्य जीवन का आधार कृषि और पशुपालन है, ये दोनों ही विज्ञान के आज

59. ऋग्वेद 1:90:6–7

महत्वपूर्ण अंग माने जाते हैं। हम उस आदिम वैज्ञानिक और शिल्पी का स्मरण करें जिसने प्रथम बार कृषि के विभिन्न अंगों का आविष्कार किया। ऋग्वेद के आविर्भाव के समय में कृषि के जिन उपकरणों का प्रयोग आरम्भ हुआ था, वे समस्त उपकरण परम्परागत रूप से अक्षुण्ण होकर आज तक चले आ रहे हैं। कृषि के प्रारम्भ होने का प्रथम संकेत ऋग्वेद[60] में मिलता है। ऋग्वेद के चतुर्थ मण्डल के 57 वें सूक्त में किसान की प्रशस्ति है तथा उसके हल आदि उपकरणों का वर्णन है। हल का प्रथम आविष्कार भारत की उर्वरा भूमि में हुआ, बैलों का प्रयोग, हल में लोहे की फाल लगाना और उनकी सहायता से क्यारियां बनाना, यहीं आरम्भ हुआ।[61] बैल हल में वरत्रा से बांधे जाते थे, उन्हें चलाने के लिये अष्ट्रा (चाबुक) की व्यवस्था हुई।[62] जोतने के लिये जुये का उल्लेख है।[63] कुयें से पानी खींचने में रस्सी से बालटियां बांधकर पत्थर के चक्र द्वारा पानी खींचने का विधान था।[64] इस देश के हल के आविष्कार ने ही संसार को वह सुखसामग्री प्रदान की, जिसकी समता कोई आविष्कार नहीं कर सकता।

रथ और अश्वः आर्यों की शान्तिप्रियता ने हल का आविष्कार और युद्धप्रियता ने रथ का आविष्कार किया। रथ के आविष्कार का मूल श्रेय चक्र के आविष्कार को है, चक्र के प्रयोग ने एक यांत्रिक क्रान्ति उत्पन्न कर दी। यदि चक्र का आविष्कार न होता तो थोड़ी शक्ति से अधिक कार्य सम्पादित करना हमारे लिये सम्भव न होता। रथ के सम्बन्ध में चक्र, नेमि (परिधि), नाभि, अक्ष और ईषा के अतिरिक्त पवि का भी उल्लेख है जो पहिये का टायर (हाल) है। नाभि से नेमि तक फैले हुये दण्ड अरे कहलाते थे। चक्र से ही बाद को चरखा निकला और सुदर्शन चक्र जैसे आयुध।

कताई-बुनाईः चरम उल्लेखनीय आविष्कारों में कताई बुनाई हैं। तन्तु निकाल कर तानने के अर्थ में ऋग्वेद के अनेक स्थल हैं।[65] इनमें सूत,

60. ऋग्वेद 10:28:2
61. ऋग्वेद 10:117:7
62. ऋग्वेद 6:53:9;58:2
63. ऋग्वेद 10:101:4
64. ऋग्वेद 10:101:5
65. ऋग्वेद 1:142:1;159:4;164:5;6:24:4;8:13:14;9:22:6–7;68:6;73:9;86:32.

कपास या चरखे का वर्णन नहीं है। सूत प्राप्त करने के बाद बुनाई की क्रिया आती है।[66] करघे का नाम तंत्र है जिसमें मयूखें (खूँटियाँ) लगी हुई हैं, तसर को फेंक कर बुनने की क्रिया होती है, ताना बाना फैलाया जाता है। ऊन के धागे से बुनाई करने का उल्लेख यजुर्वेद में मिलता है।

शर्कराः क्या गन्ने की शक्कर प्राचीन आर्यजाति का आविष्कार है? यह एक विवादास्पद प्रश्न हैं। अथर्वेद के मधुवनस्पति सूक्त[67] में इक्षु का निर्देश है, " यह पौधा मीठे से जन्मा है, मीठे से ही तुझे हम खोदते हैं, क्योंकि तू मधु के बीच उत्पन्न हुआ है, हमें भी मधुमान बना।"

धातु और खनिजः यह कहना कठिन है कि मानव जाति ने सबसे पहले किस धातु का प्रयोग सीखा और वह धातु पार्थिव पदार्थों की सबसे पुरानी सूची[68] में अश्म, मृतिका और सिकता के अतिरिक्त हिरण्य, अयस्, श्याम-लोह, सीसा तथा त्रपु (टिन या वंग) का उल्लेख है। अयस् शब्द का तद्भव जर्मन शब्द "आयसेम" है जिसका अर्थ लोहा है; आश्चर्य है कि इस सूची में चाँदी का उल्लेख नहीं है। ऋग्वेद[69] में अयस् शब्द अनेक स्थलों पर आया है, धारदार औजारों में इसका उपयोग किये जाने के संकेत मिलते है; लोह शब्द ऋग्वेद में नहीं है।

यजुर्वेद[70] में अयस्ताप का उल्लेख है जो खनिज को तपाकर लोहा तैयार करता है। अथर्ववेद[71] में भी धातु को तपाकर सोना, चांदी और अयस् तैयार करने का संकेत है, चांदी के लिए अर्जुन शब्द का प्रयोग भी है। चांदी का रासायनिक 'अरजेन्टम' नाम रजत और अर्जुन दोनों का तद्भव रूप है।

ध्वनि विज्ञानः वैदिक ऋचाओं के साथ छन्द और स्वर का विशेष सम्बन्ध माना जाता है। उदात्त, अनुदात्त, स्वरित आदि स्वरों के अतिरिक्त

66. ऋग्वेद 2:3:6;28:5;6:9:2—3;10:5:3;130:1—2.
67. अथर्वेद 1:34
68. यजुर्वेद 18:13
69. ऋग्वेद 1:56:3, 88:5, 163:9, 5:30:15, 62:7—8, 6:3:5, 47:10, 75:15 आदि।
70. यजुर्वेद 30:14
71. अथर्ववेद 5:28

षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद ये सात स्वर भी माने जाते हैं, किन्तु इनके नाम वेद की किसी ऋचा में नहीं हैं। इन सात स्वरों के नाम वैदिक सात छन्दों गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुभ्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुभ् और जगती के समन्वय से पड़े। पिंगल छन्द-शास्त्र में इनका समन्वय सात देवताओं, सात रंगों और सात गोत्रों के साथ किया गया है। स्वरों में ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत की कल्पना तथा उसके साथ उदात्त, अनुदात्त और स्वरित ध्वनि के आरोह-अवरोह और इनके साथ साम स्वरों की अन्य सूक्ष्मताओं ने संगीत शास्त्र की कल्पना की। आज उन परिस्थितियों का अनुमान लगाना कठिन है जिसमें आर्यजाति ने सप्तक के सात स्वरों की नींव डाली।

संगीत-प्रियता ने वाद्य-यंत्रों के लिए प्रेरणा दी, ये यन्त्र तीन प्रकार के मुँह से फूंककर बजाये जाने वाले, हाथ से ठोंककर बजाये जाने वाले, और तारों की झंकार से बजाये जाने वाले हैं। संसार के विभिन्न देशों में जितने वाद्य विकसित हुए हैं, वे सब लगभग इन्हीं तीन जातियों के हैं। ध्वनि के आधार पर गर्गर, कर्करि और दुन्दुभि ये तीन प्रकार के हाथ से पीटने वाले वाद्य बने जो गड़गड़ाकर बोलने वाले, कड़कड़ाने वाले और दुम-दुम ध्वनि करने वाले थे।

अंक शास्त्रः अंकों का उपयोग भारत की परम्परा से ही आरम्भ हुआ। एक, द्वि और बहुवचन के भाषा प्रयोग गिनती का आरम्भ है। गिनती गिनने की आवश्यकता किन परिस्थितियों में उद्भूत हुई, यह कहना कठिन है। द्विवचन क्यों बहुवचन नहीं है, यह हम आज के वातावरण में नहीं समझ सकते। नौ संख्या नई संख्या क्यों मानी जाने लगी, दस संख्या में शून्य का प्रयोग है या नहीं, इसमें एक अंक निहित है या नहीं, इसका निश्चय हम आज नहीं कर सकते। शत, सहस्र आदि की भावना और दस से उसके सम्बन्ध ये प्राचीन काल के गौरवपूर्ण आविष्कार हैं जिनका हमारे पास इस समय कोई इतिहास नहीं है।

ऋग्वेद में गिनतियों का उपयोग एक साधारण बात है तथापि अयुत से बड़ी संख्या का नाम नहीं मिलता। शून्य के लिए ऋग्वेद में 'ख' शब्द का प्रयोग है। यजुर्वेद[72] के एक स्थल पर एक से सत्रह तक की गिनती का प्रयोग है। एक अन्य स्थल[73] पर विषम संख्याओं 1 से 33 तक का

72. यजुर्वेद 9:31-34
73. यजुर्वेद 14:28-31

प्रयोग मिलता है। एक अन्य स्थल[74] पर 1,2,3 के 10,20,30 से स्पष्ट सम्बन्ध की ओर संकेत है। एक अन्य स्थल[75] पर चार का 12 बार तक पहाड़ा पढ़ा गया है। यजुर्वेद के एक मन्त्र में दाशमलिक गिनती का परार्द्ध (बिलियन) तक वर्णन है।

ऋतु और संवत्सरः संवत्सर, परिवत्सर, इदावत्सर, इद्वत्सर, वत्सर, उषा, अहोरात्र, अर्धमास, मास और ऋतु, काल-मान सूचक शब्द हैं। चान्द्र और सौर वर्षों का समन्वय पांच वर्षों के एक चक्र में होता है जिन वर्षों के नाम पहले पांच हैं। चान्द्र गति ने अहोरात्र, अर्धमास (पक्ष) और मास को जन्म दिया तथा सौर गति ने ऋतु और वत्सरों को। तीस दिन के मास के आधार पर इसके गुणनखण्ड 15,6,5,10,3,2 से त्रयह, षडह, द्वादशाह आदि याज्ञिक कृत्य तो बने पर सप्ताह जैसे किसी कृत्य का हमारे वैदिक साहित्य में उल्लेख नहीं है। सूर्य दूसरे गोलार्ध में पुरीषिण् और इस गोलार्ध में अर्पित नाम से कहा गया है। उत्तरायण और दक्षिणायन सूर्य की दो गतियां हैं, ऋतुएं छः या पांच हैं या तीन हैं। बारह मास या राशियां, 360 दिन या 720 दिनरात बताये गये हैं। अथर्ववेद[76] में 28 नक्षत्रों का भी उल्लेख है।

व्यवसायः वैदिक समाज में जनता का विभिन्न व्यवसायों में विभाजन स्वाभाविक था। ब्रह्मकृत्यों के लिए ब्राह्मण, राजकृत्यों के लिए क्षत्रिय, वणिक् और कृषि के लिए वैश्य तथा सेवा और तपस्या के लिए शूद्र थे; वर्णविभाग[77] तो बने ही, इसी अध्याय में अनेक अन्य व्यवसायों और उद्योगधन्धों का उल्लेख आया है। विशिष्टतः मणिकार, रज्जुसर्ज, वासः पहपूली (धोबिन), रजयित्री (रंगरेजिन), अजिनसन्ध और चर्मम्न (चर्म-कर्म), अयस्ताप (धातुकर्मी), हिरण्यकार (सुनार) आदि व्यवसायों से वैदिक समाज अति उन्नत और सम्पन्न समझा जाना चाहिए।

ग्राम्य पशुः वन में विचरण करने वाले पशुओं को किस प्रकार मनुष्य ने

74. यजुर्वेद 27:33
75. यजुर्वेद 18:25
76. अथर्ववेद 19:7
77. यजुर्वेद 30:5

अपने उपयोग के योग्य बनाया, इसकी कल्पना हमारे लिए आज बड़ी कठिन है। वायव्य (पक्षी), अरण्य (जंगली) और ग्राम्य (पालतू) तीन प्रकार के पशु माने गये। ग्राम्य पशु पांच माने जाते हैं - ऊँट, घोड़ा, गाय, बकरी और भेड़, कहीं-कहीं सात ग्राम्य पशुओं का उल्लेख है जिनमें गधा और खच्चर गिने गए हैं।

अस्थि निरूपणः मानव शरीर विज्ञान और विशिष्टतः 360 हड्डियों की गणना वैदिक काल में की गई थी जिसका पोषण बाद के आयुर्वेदिक ग्रन्थों में भी किया गया है। वेदी में जिस प्रकार 360 ईटे लगती हैं उसी प्रकार शरीर में 360 हड्डियां हैं, शरीर में जो 360 मज्जायें हैं, वे ही 360 यजुष्मती ईंटें हैं। शिर त्रिविध है - त्वक्, अस्थि और मस्तिष्क। ग्रीवायें पंचदशवृत हैं - 14 करूकर और 15वां वीर्य। उरस् सप्तदश्-वृत् है - 8 जनु एक ओर और 8 दूसरी ओर और उरस् 17वां है। उदर एक विंशवृत् है - 20 कुन्ताप और 21वां उदर। पार्श्व त्रिणव-वृत् अर्थात 3X9=27 वृत वाला - एक पार्श्व में 13 पर्शु और दूसरे पार्श्व में 13 पर्शु, पार्श्व स्वयं 27वां है। अनूक त्रयत्रिंशवृत् हैं - 32 करूकर, अनूक स्वयं 33वां है।

अंक भाषा लिपिः भाषा में संख्यात्मक शब्द प्रथमतः एक, द्वि, त्रि, चतुर् ...... आदि के क्रम से व्यक्त किये गये। उन्नीस का 'नव-दश' न कहकर 'एकोनविंश' कहना महत्व की बात है, तैत्तरीय संहिता में इसे 'एकान्नविंशति' कहा गया जो सूत्रकाल में 'एकान्न' के स्थान पर 'एकोन' परिवर्तित कर दिया गया, पश्चात् एक पद भी निकाल कर इसे 'ऊनविंशति', 'ऊनत्रिंत्' आदि कहने लगे। बाजसनेयी संहिता[78] में 'नव-दश' एवं 'तैत्तरीय संहिता'[79] में भी 'नव-दश' शब्द आदि, वाजसनेयी संहिता[80] में 29 के लिए 'नव विंशति' और ऋग्वेद[81] में 99 के लिए 'नवनवति' शब्द मिलते हैं। पद्य में लिखे जाने की सुविधा की दृष्टि से ऋग्वेद[82] में भी 3339 को 'त्रीणि शतानि त्रिसहस्राणि त्रिंश च नव च' कहा गया है।

ऋग्वेद में ऐसी गायों का वर्णन मिलता है जिनके कानों पर आठ का

78. वा.सं० 14:23
79. तै.सं० 14:22:30
80. वा.सं० 14:31
81. ऋ० 1:84:13
82. ऋ० 3:9:9, 10:52:6

अंक लिखा हुआ था।[83] अक्षसूक्त में पांसे पर अंक लिखे होने का संकेत मिलता है।[84] इसी प्रकार अथर्वेद में दोनों कानों पर मिथुन चिह्न अंकित करने के प्रमाण हैं।[85] मोहनजोदारो के लेखों में 1 से 13 तक के अंकों का पता चलता है, ये अंक छोटी-छोटी रेखाओं को पास-पास खींचकर व्यक्त किये गये हैं। ब्राह्मी लिपि में निम्नलिखित अंकों के लिए पृथक्-पृथक् चिह्न थे - 1,4 से 9 तक, 10, 20, 30, 40, 50, 60, 70, 80, 90, 100, 200,300, ...1000,2000 इत्यादि। खरोष्ठी लिपि में 1,10,20 और 100 अंकों के लिए पृथक् चिह्न और शेष अंक इन्हीं की सहायता से व्यक्त किए जाते थे।

अक्षरपल्ली पद्धति से भी साहित्य में अंकों को व्यक्त किया जाता था। इस पद्धति में वर्णमाला के अक्षर ही अंकों को व्यक्त करते थे। 1,2,3 के लिए खड़ी रेखायें और शेष अंकों के लिए अक्षर काम में लाये जाते थे, जैसे 4-क, 5-त्र, 6-फ्र, 7-ग्र, 8-ह्ल, 9-उ, 10-ठ, 20-थ, 30-ल, 40-स, आदि।

दशमलव स्थानिक मान अंक लिपि पद्धति इस देश का सर्वोपरि आविष्कार है। इस पद्धति में 1 से लेकर 9 और शून्य के लिए कुल दस चिन्ह हैं जिनके स्थानिक मानों के आधार पर सभी अंक व्यक्त किए जा सकते हैं। शून्य का आविष्कार और इसकी सहायता से दस, शत, सहस्र आदि को व्यक्त करना संसार की सबसे बड़ी खोजों में से एक है। नागरी लिपि के अंक ही अनेक विकृत रूपों के साथ सभी देशों में व्याप्त हैं। दशमलव पद्धति के भारतीय आविष्कारक का नाम आज कोई नहीं जानता, पर उसका आविष्कार विश्वव्यापी हो गया है। सम्भव है कि यह आविष्कार 2000 वर्ष पूर्व विक्रम के आसपास हुआ हो।

वेद में अंकों द्वारा पदार्थो की ओर संकेत करने का प्रयोग बहुत है, जैसे अथर्वेद के प्रथम मन्त्र में 'ये त्रिसप्ताः' इनमें तीन और सात किसके वाची हैं इस पर भाष्यकारों ने विस्तृत प्रकाश डाला है। इसी प्रकार कला = 1/16, कुष्ठ = 1/12 और शफ = 1/4 इनका भी प्रयोग है। श्रौतसूत्रों में गायत्री शब्द 24 अंक के लिए एवं जगती 48 के लिए प्रयुक्त हुआ है। वेदांग ज्योतिष में शब्दों का प्रयोग अंकों के लिए कई स्थलों पर हुआ

83. ऋ0 10:62:7
84. ऋ0 10:34:2
85. अथर्वेद 6:141:2

है, यथा रूप =1, अय =4, गुण=युग=12, भ समूह =27 आदि।

भारतवर्ष में पूर्ण संख्याओं के अतिरिक्त भिन्न संख्याओं के प्रयोग की परम्परा भी बहुत पुरानी है। ऋग्वेद[86] में अर्ध (1/2) पाद और त्रिपाद (3/4) का प्रयोग हुआ है तथा पाद (1/4) का प्रयोग मैत्रायणी संहिता[87] में भी हुआ है। शुल्वसूत्रों में इन भिन्नांशों का उपयोग गणना में भी हैं, ऐसी भिन्नें जिनका अंश 1 हो 'भाग' की सहायता से व्यक्त की जाती थीं, जैसे पंचदशभाग (1/15), सप्तभाग (1/7), पंचम भाग (1/5), त्रि-अष्ठम (3/8), द्वि-सप्तम (2/7) आदि। भिन्नों को व्यक्त करने की परम्परा 5000 वर्ष पुरानी है।

समीक्षा एवं मूल्यांकनः डा0 सत्य प्रकाश जी ने प्रारम्भिक या आदिम आविष्कारों का महत्व निर्धारित करते हुए उन्हें वेदों के संदर्भ से भारतीयों द्वारा निष्पादित माना है, साथ ही आधुनिक विज्ञान और तकनीकी में इन आदिम आविष्कारों का विकासात्मक महत्व भी निर्धारित किया है। उदाहरणस्वरुप, मथानी और रस्सी से मथने की क्रिया ही आधुनिक विशाल सेंटीफ्यूज-यन्त्रों की जन्मदात्री है; लीवर, पेंच और गड़ारी से बनने वाले सभी यन्त्रों का आधार भी कदाचित् रज्जु-मथानी ही है, जो यन्त्र-युग की नींव है। डा0 सत्य प्रकाश जी विवादास्पद विषयों से बचते रहे हैं, इस कारण किसी विकसित और उच्च विज्ञान के संदर्भ प्रस्तुत करने की चेष्टा नहीं की है। अस्थियों की संख्या की आयुर्वेद ग्रन्थों से पुष्टि की गई, किन्तु आयुर्वेद ग्रन्थों में वर्णित तमाम वैज्ञानिक विधाओं और तथ्यों की वेद में उपलब्धि का भी संज्ञान लेने में कतराते रहे हैं, यह विवाद से हद-दर्जे तक बचने की प्रवृत्ति है। एक बात यह भी रही है कि आदिम आविष्कारों के वैदिक संदर्भ तो प्रस्तुत किये हैं, किन्तु आविष्कारकों की जानकारी का अभाव है, और वेद के संदर्भ मात्र से उनका आर्य या भारतीय होने का अनुमान लगाया गया है। किन्तु, ऐसे मुद्दे भी विवादास्पद हो सकते थे, अग्नि का आविष्कार एक व्यक्ति ने किया अथवा अलग-अलग देशों में अलग-अलग व्यक्तियों ने किया, किसने पहले किया और किसने पीछे, किसने किससे सीखा, यह सब अन्धकार में है, मात्र वेद में उसके संदर्भ होने से इसके उत्तर नहीं मिल जाते, क्योंकि वेद में बहुत बड़े कालखण्ड

86. ऋग्वेद 10:90:4
87. मैत्रायणी संहिता 3:7:7

के तथा सार्वदेशीय संदर्भ भरे पड़े हैं। बचाव की इस प्रवृत्ति में डा० सत्य प्रकाश योरोपीय वैदिक विद्वानों से भयभीत जान पड़ते हैं, और उनमें कहीं एक हीन भावना घर किये हुए लगती है। अथवा, यूरोपीय विज्ञान और तकनीकी के विकास से वे इतने अभिभूत हैं कि कुछ भी अधिक कहने में उन्हें डर लगता है, और निस्संदेह वे योरोपीय विद्वानों के ज्ञान से सहमे-सहमे और संकोचयुक्त प्रतीत होते हैं। उनके विवरण के अध्ययन से एक बात यह अनुमानित भी होती है कि हो सकता है कि मूलरूप से डा० सत्य प्रकाश ने वेदों का अध्ययन ही न किया हो, और योरोपीय विद्वानों ने जो विवरण प्रस्तुत किए हैं उन्हें ही स्वीकार करके द्वितीयक स्रोत के रूप में उन्हीं आधारों पर अपनी विवेचना प्रस्तुत कर दी हो।

डा० सत्यप्रकाश उपवेदों के वैज्ञानिक विकास के मूल को वेदों में नही देख पाये हैं, तथा वेदों की वर्णन शैली में प्रतीकों के उपयोग में भी उनकी कोई दृष्टि नहीं है। ऐसा भी दिखता है कि आर्य-समाजी होते हुए भी स्वामी दयानन्द जी के वेद-भाष्य को उन्होंने किनारे कर दिया है, और योरोपीय वेद-भाष्यों पर ही उनकी पूर्ण निर्भरता दृष्टिगोचर होती है। सब मिलाकर योरोपीय परिप्रेक्ष्य में ही भारतीय वैज्ञानिकता को परिभाषित करने का उनका उपक्रम और दबी-जबान से ही भारतीय गौरव को उन्मुख करने का उनका प्रयास दिखाई देता है। इन सबके पीछे विदेशी मान्यता प्राप्त कर लेने की अभीप्सा मात्र दिखाई देती है।

कोई खोज या आविष्कार स्वतः ही वैज्ञानिक नहीं हो जाता। वैज्ञानिक खोज या आविष्कार वही माना जाता है जो वैज्ञानिक नियमों के आधार पर किया गया हो। अचानक कोई खोज या आविष्कार होने पर भी वह वैज्ञानिक तभी होता है जब वैज्ञानिक अनुसंधान द्वारा उसकी पुष्टि होती है। किसी शोध, अनुसंधान, गवेषणा, अध्ययन, खोज, आविष्कार आदि के वैज्ञानिक होने के लिए यह आवश्यक होता है कि उन्हें वैज्ञानिक विधियों द्वारा ही सम्पन्न किया जाये। डा० सत्य प्रकाश यह सिद्ध करने का प्रयत्न नहीं करते हैं कि प्राचीनों के पास कोई वैज्ञानिक विधि भी थी, या खोज और आविष्कारों में वैज्ञानिक नियमों का आधार लिया गया हो। उनके उदाहरण भी प्रायः टेक्नालाजी, कला और कौशल क्षेत्रों के ही हैं, न कि शुद्ध विज्ञान अर्थात् सैद्धान्तिक क्षेत्रों के हों। टेक्नालाजी में मानव हित में मान्य मापदण्डों से वैज्ञानिक नियमों पर आधारित विधाओं का उपयोग होता है। कौशल है कार्य को शीघ्र, उत्कृष्ट, व्यवस्थित और सहज रूप में करना तथा

कला सत्यं-शिवं-सुंदरम् के उद्देश्य से पूर्ण होती है, अर्थात् सौन्दर्यपूर्वक आनन्द और जीवन को प्राप्त करने वाली तथा वस्तुरूप में सुरक्षित रखने वाली। इन आधारों पर डा० सत्य प्रकाश का सम्पूर्ण विवेचन ही विज्ञान के लिए खरा नहीं उतरता और मात्र भारतीयों का दिल बहलाता है। हां, भारत में रसायन शास्त्र के विकास पर विशद विवेचन अवश्य सराहनीय और स्तुत्य है।

(घ) शोध के विभिन्न आयामों- विधि, प्रयोग एवं निष्कर्ष के सूत्र एवं निश्चयात्मक उपलब्धियाँ

प्रस्तुत शोध विषय का निरूपण करते समय हमने शोध के स्वरूप और प्रकृति पर विस्तार से विचार किया था। इस प्रकार हमें जो समीक्षात्मक अध्ययन करना है, उसे परिभाषित करते हुए 'सम्यक् ईक्षण' करने के लिए 'सम्यक् दृष्टि रखते हुए निर्णय करना', जहां सम्यक् दृष्टि से तात्पर्य 'पूर्वाग्रहों, पूर्वधारणाओं, पक्षपात और त्रुटि से मुक्त, वस्तुपरक, तथा सभी विकल्पों पर विधिवत विचार' पूर्वक निष्कर्ष निकालना है, तथा ऐसे निष्कर्षो के आधार पर अवधारणा करना या स्पष्ट धारणा निर्मित करना, हमें अभीष्ट रहा है। इस प्रकार की समीक्षा और अध्ययन के लिए हमारे शोध के विभिन्न आयामों, जिनमें शोध की विधि, शोध में विभिन्न प्रयोग, तथा इन प्रयोगों आदि के परिणामों के आधार पर सम्यक् निष्कर्ष आदि की क्या रूपरेखा होगी तथा उससे क्या निश्चयात्मक उपलब्धियाँ होंगी तथा क्या सम्भाव्य प्राप्तियां हो सकेंगी, इसका पूर्वानुमान भी करने की हमें आवश्यकता है। इस के अर्थ यह है कि यहां हम शोध के नियोजन पर विचार करेंगे और शोध के लिए निश्चयात्मक क्रियाकलापों को निर्धारित करेंगे।

हमें ऋग्वेद के दशम-मण्डल का प्रतीकात्मकता और वैज्ञानिकता के लिए अध्ययन करना है। ऋग्वेद के प्रबन्धन और प्रस्तुतीकरण के परिप्रेक्ष्य में ऐसा अध्ययन हमें सजग होकर तथा अतिसूक्ष्म रूप से करना होगा। इस अध्ययन में हमें सम्यक् दृष्टि रखनी होगी, अर्थात् त्रुटि, पक्षपात तथा पूर्वाग्रह से मुक्त रहकर वस्तुपरक दृष्टि रखनी होगी जिसमें सभी विकल्पों पर विश्लेषण और विवेचनापूर्वक विचार करते हुए निश्चयात्मक निष्कर्ष निकालने होंगे। साथ ही सतत उपयुक्तता का विनिश्चय भी हमें करना होगा। हमें जो सतर्क निष्कर्ष निकालने हैं और जो सम्यक् निर्णय लेने हैं, उसके लिए मन्त्र में छिपे हुये परोक्ष अर्थ को स्पष्ट करना होगा तथा वेदार्थ

के अन्य समीकरण प्रस्तुत करते हुए अर्थ की उपयुक्तता की दृष्टि से विनिश्चय करना होगा। इस प्रकार जो भाव, नियम, सिद्धान्त, अवधारणायें आदि प्रतिपादित होंगी उनकी निश्चित स्थिति निर्धारित करनी होगी, और उन्हें प्राप्ति या उपलब्धि के रूप में अवधारित करना होगा।

ऋग्वेद का अध्ययन वस्तुतः एक प्राचीन संस्कृति का अध्ययन है, ऐसा समझ कर हमें ऋग्वेद के रचनाकारों की वस्तु संस्कृति तथा सामाजिक संस्कृति को जानने की चेष्टा करनी होगी। इन दोनों प्रकार की संस्कृतियों को हम ऋग्वेद दशम मण्डल के विवरणों से ही प्राप्त करेंगे। ऋग्वेद की रचना, विषय-वस्तु, प्रबन्धन, भावाभिव्यक्ति, काव्य सौंदर्य, उक्तिवैशिष्ट्य आदि से ऋग्वेदीय मनीषा का अनुमान किया जायेगा। हम उन परिस्थितियों की भी टोह लेंगे जिनमें ऐसी मनीषा उत्पन्न हुई थी, यह प्रकारान्तर से सामाजिक संस्कृति का अध्ययन होगा इसके अन्तर्गत उस समय के समाज की संरचना, मनुष्यों के पारस्परिक संबंध, व्यक्ति और समाज, रीति-रिवाज और संस्थायें, आकांक्षायें और मान्यतायें आदि का विशद विवेचन किया जाएगा। ऋग्वेदीय समाज का आधुनिक भारतीय समाज से तुलनात्मक अध्ययन इस परिप्रेक्ष्य में करना समीचीन होगा कि हम एक परम्परागत समाज हैं तथा अनेक बातें अभी जस की तस हैं। इस परिप्रेक्ष्य में हमें समानतायें और असमानतायें दोनों का निश्चय करना है और यह भी देखना है कि जो समानतायें हैं वे क्यो हैं, और असमानतायें किन परिस्थितियों में उदित हुई हैं।

ऋग्वेद के उत्पादकों के देश-काल-परिस्थिति का ज्ञान प्राप्त करना सांस्कृतिक अध्ययन का आवश्यक अंग है, इन स्थितियों मे उत्पादकों के अनुभव क्या थे, यह जानना, तथा उनका मूल्यांकन करते हुए उन अनुभवों की सार्थकता निश्चित करना हमारे अध्ययन के लिए उपयोगी होगा, क्योंकि ऋग्वेद में जो ज्ञान-विज्ञान की धारा बही वह देश-काल-परिस्थिति के सापेक्ष थी। उत्पाद की दृष्टि से उसकी प्रासंगिकता पर हम विचार करेंगे। इसके लिए एक ओर तो विषय के प्रस्तुतीकरण के वैज्ञानिक आधारों की जानकारी प्राप्त करते हुए उनकी विवेचना आधुनिक दृष्टिकोण और पहुंच के ढंग के तुलनात्मक अध्ययनपूर्वक हम करेंगे, दूसरी ओर हम तथ्यों तथा वैज्ञानिक निष्कर्षों के लिए प्रयुक्त विधि, प्रशिक्षण, उपकरण आदि के आधारों का विवेचन करेंगे जिससे इस प्राच्य-मार्ग में प्रगति के उपादानों का आकलन भी किया जा सके।

ऋग्वेद का विज्ञान कदाचित् इस संसार का प्रथम विज्ञान है, तथापि, किसी ज्ञान को विज्ञान की संज्ञा तभी दी जा सकती है जब वह किसी वैज्ञानिक विधि का उत्पाद हो। हमें यह देखना है कि ऋग्वेद के मनीषी की जो जानकारी थी वह क्रमबद्धरूप से प्राप्त थी या सहज और आकस्मिक थी। जौ वैज्ञानिक उपलब्धियां थीं, क्या उनके पीछे अन्वेषण की कोई प्रखर दृष्टि थी, इसका आकलन और मूल्यांकन भी हमें करना होगा। यदि कोई अनुसंधान विधियां थीं, तो वे किस प्रकार विकसित हुई ? कर्म के द्वारा ज्ञान कैसे प्राप्त हुआ ? इन वैज्ञानिक उपलब्धियों को लोक में किस प्रकार और किस उद्देश्य से प्रचारित किया गया ? यदि कोई प्रशिक्षण था तो उसकी क्या रूपरेखा थी ? इन प्रश्नों के उत्तर के साथ ही वैदिक काल की वैज्ञानिक विधियों का आधुनिक मानदण्डों पर हम मूल्यांकन करेंगे और यह निर्धारित करेंगे कि वेद कालीन प्रेक्षण कितना त्रुटिरहित था। इसके अतिरिक्त विज्ञान के आयाम, वर्गीकरण की विधियां, मापन और मूल्यांकन तथा आधुनिक संदर्भ में इनका महत्व निर्धारित करना हमारे लिए समीचीन होगा।

आधुनिक विकासवाद भौतिक विकास के क्रम को मान्यता देता है। इसके अनुसार एक 'वस्तु' क्रम से अन्य 'वस्तुओं' में परिवर्तित होती हुई चलती है, और इसी क्रम में यह सम्पूर्ण लोक अभिव्यक्त हो रहा है। परिवर्तन और विकास-क्रम को वैदिक मनीषा भी स्वीकार करती है, किन्तु यह परिवर्तन एक ओर सूक्ष्म के स्थूल में परिवर्तन, तथा दूसरी ओर स्थूल के सूक्ष्म में परिवर्तन से समन्वित है। परिवर्तन की यह श्रृंखला लोक और पुरुष दोनों में ही समान रूप से अभिव्यक्त होती है, तथा इसका क्रम भी लोक और पुरुष में एक जैसा ही है। जो अजात है, वही अवस्था भेद से जात और जनिष्यमाण होता है। एक तत्व से ही अनेक तत्व और पुनः अनेक रूप उत्पन्न होते हैं, और विपरीत क्रम में सब उसी में लय हो जाते हैं, इस प्रकार परिवर्तन का यह चक्र चलता रहता है। इसी क्रम में कर्म की प्रक्रिया सूक्ष्म का स्थूल में परिवर्तन और ज्ञान की प्रक्रिया स्थूल का सूक्ष्म में परिवर्तन है। आत्मा, मन, दिशा, काल आदि सूक्ष्म द्रव्यों का स्थूल जीव में परिवर्तन, और स्थूल अन्न का रसादि धातुओं के क्रम में सूक्ष्म आत्मतत्व में परिवर्तन होता है। इस कारण ही वैदिक ऋषि पुरुषभाव में अधिभूत, अधिदेव और अध्यात्म को तथा लोक भाव में भूर्भुवस्स्वः को समान दृष्टि से देखता हुआ सत्वात्माशरीर के विभिन्न रूपों के विकास को

भी द्रष्टा की भांति साक्षात् देखता हुआ स्थित होता है। तभी पुरुष और लोक से सम्पूर्ण संयोग-विभागों को तथा उस एक ही सत्ता की प्रकारान्तर से प्राप्त अन्यान्य विभूतियों को वैदिक ऋषि हस्तामलकमिव देखता है।

इतने विचार के उपरान्त शोध के विभिन्न आयामों की दृष्टि से निम्नलिखित चरणों में कार्य सम्पन्न करने की योजना प्रस्तुत की जा रही है :-

1. सामान्य सर्वेक्षणः सामान्य सर्वेक्षण के अन्तर्गत हम ऋग्वेद दशम मण्डल के सूक्तों और मन्त्रों का सामान्य भाषिक अर्थों के साथ अनुशीलन करेंगे। इस अनुशीलन के द्वारा हम उन सूक्तों तथा मन्त्रों को चिह्नित करते जायेंगे जिनमें प्रतीकात्मकता या वैज्ञानिकता की सम्भावनायें दृष्टिगोचर होती हैं। इन्हें हम अलग-अलग सूचीबद्ध तो करेंगे ही साथ में इनके संदर्भ-सूत्रों, उपमानों और महत्वपूर्ण संकेतों का उल्लेख भी करते जायेंगे। इस प्रकार हम निश्चित सूचियाँ तैयार कर लेंगे, जो आगे विश्लेषण और विवेचन के लिए उपयोगी होंगीं।

2. गहन सर्वेक्षणः दूसरे चरण में सामान्य सर्वेक्षण में प्रतीकात्मकता और वैज्ञानिकता के लिए अलग-अलग चिह्नित और सूचीबद्ध सूक्तों तथा मन्त्रों का गहराई से अध्ययन किया जायेगा। इसके लिए शब्दार्थों और वेदार्थों के अनेक विकल्पों, निर्वचनों, व्युत्पत्तियों, पर्यायों, प्रतीकों आदि पर गहराई से विवचेना और विश्लेषण पूर्वक विचार किया जाएगा, और श्रेष्ठ, सार्थक तथा उपयुक्त विकास का चयन किया जाएगा, जिससे प्रक्रियात्मक, तथ्यात्मक और सैद्धान्तिक निष्कर्ष प्राप्त होते हों। इन सभी उपक्रमों को विधिवत सूचीबद्ध किया जायेगा, तथा विशेष स्थितियों का उल्लेख भी किया जाएगा। प्रतीकात्मकता और वैज्ञानिकता के लिए अलग-अलग ऐसी सूचियां निश्चयात्मक रूपों के लिए तथा सम्भावित अनुरूपों के लिए भी निर्मित की जायेंगी।

3. वर्गीकरणः वर्गीकरण के लिए प्रतीकात्मकता तथा वैज्ञानिकता के अलग-अलग विषय-विभागों को निश्चित किया जाएगा और प्रत्येक विषय-विभाग के अन्तर्गत निश्चयात्मक उपलब्धियों वाले सूक्तों और मन्त्रों तथा उसी प्रकार सम्भावनाओं वाले सूक्तों और मन्त्रों का विनिश्चय करते

हुए उन्हें वर्गीकृत किया जाएगा। ऐसा वर्गीकरण वेदार्थ अनुशीलन की दृष्टि से उपयोगी होगा।

4. व्यवस्थाः विषय-विभागों में वर्गीकृत सूक्तों और मन्त्रों को विषयवार विकास-क्रम, पद, स्तर, प्रक्रिया आदि के अनुसार इस प्रकार सुव्यवस्थित करना होगा कि वे तथ्यात्मक एवं सैद्धान्तिक रूप ग्रहण कर सकें। ऐसी व्यवस्था में कुछ बीच में छूटे हुये अंश हो सकते हैं जो किसी तथ्य, नियम या सिद्धान्त के लिए पूरक हों, उन्हें विशेषतः चिह्नित करते हुए उनके द्वारा पूर्ति की सम्भावनाओं पर प्रकाश डाला जाएगा। इसी प्रकार किसी तथ्य, नियम या सिद्धान्त के पूर्व या पश्चात के भी विनिश्चयात्मक अंश हो सकते हैं जिन्हें पूरकता के लिए इंगित करना आवश्यक है।

5. समरूप अध्ययनः हमें छूटे हुए संपूरक अंशों, पूर्व एवं पश्चात के विनिश्चयात्मक स्थलों, जिनसे तथ्य, नियम या सिद्धान्त की संपूर्ति होती हो, के लिए निश्चित स्पष्टीकरण तथा उनकी पुष्टि के आशय से ऋग्वेद के अन्य मण्डलों के सम्बन्धित सूक्तों तथा मन्त्रों, अन्य वेदों के तत्सम्बन्धित सूक्तों तथा मन्त्रों, वेदेतर साहित्य के तत्सम्बन्धित अंशों, वेदांगों, इतिहास-पुराणों आदि के तत्सम्बन्धित विषयों का अध्ययन करते हुए तथ्य, नियम व सिद्धान्त की संपूर्ति में उनकी उपयोगिता निर्धारित करते हुए उनके प्रयोग की सम्भावना पर प्रकाश डालना है।

6. प्रयोगः समरूप अध्ययन में प्राप्त उपयोगी अंशों से क्रम, प्रक्रिया आदि की पूर्ति करते हुए तथ्यों, नियमों एवं सिद्धान्तों का सम्यक् निरूपण किया जाएगा। हम प्रतीकात्मकताओं का उद्घाटन करेंगे और इस प्रकार उनके प्रयोग द्वारा सूक्तों और मन्त्रों के अर्थ स्पष्ट किये जायेंगे। इन अर्थों के माध्यम से वैज्ञानिक तथ्यों और सिद्धान्तों की पूर्ति की जायेगी तथा उन्हें विवेचना द्वारा स्पष्ट किया जावेगा। इसी प्रकार सम्भावना वाले सूक्तों और मन्त्रों का विश्लेषण, विवेचन और व्याख्या करते हुए तथा अन्य स्पष्ट हुये सूक्तों तथा मन्त्रों से उनकी तुलना करते हुए तथ्यों तथा सिद्धान्तों के निष्पादन के लिए उनके प्रयोग का विनिश्चय करेंगे।

7. निष्कर्षः हमें प्रतीकात्मकता एवं वैज्ञानिकता के लिए उपर्युक्त सभी स्थितियों का सम्यक् आकलन करना चाहिए तथा उनकी उपयोगिता और सम्भावना निर्धारित करनी चाहिए। तथ्यों तथा सिद्धान्तों के संकलन में इनकी विवेचना करते हुए स्पष्ट शब्दों में इनका विनिश्चिय किया जाएगा तथा सम्पूर्ण सम्बन्धित साहित्य के परिप्रेक्ष्य में व्याख्या करते हुए निष्कर्षात्मक समीकरण प्रस्तुत किये जायेंगे।

अन्य स्थितियांः वेद की रचना शैली इस प्रकार की है कि उसमें प्रतीकात्मकता के अनेक आयाम समाविष्ट हैं। कुछ प्रतीकात्मकतायें तो मानक संप्राप्त हैं किन्तु अनेकों विशिष्ट और परिस्थिति रूप हैं। पर्याय, उपमा, रूपक आदि से अनेक प्रतीकात्मकतायें संयुक्त होती हैं, तो प्रत्यक्ष और परोक्ष प्रतीक भी मन्त्रों में प्रयुक्त होते हैं। देवता, ऋषि, छन्द, ऋतु, सवन आदि अनेक अन्य प्रतीक-उपादान भी हैं। पुरुषवत या अपुरुषवत होने में भी प्रतीकों का योगदान रहता है। इस प्रकार हमें शास्त्रीय और मान्य प्रतीकों की व्याख्या भी करनी चाहिये और सूक्त या मन्त्र विशेष में परिस्थितिजन्य प्रतीकात्मकता का भी विश्लेषण करना चाहिए। प्रतीकों का मुख्य कार्य मन्त्र के छिपे हुए अर्थ का उद्घाटन करना है। वैदिक साहित्य में वैज्ञानिक प्रक्रिया या सिद्धान्त को गोपनीय रूप से प्रतीकों में आवेष्टित करते हुए ऐसी संरचना दी गई है कि प्रकट रूप से बड़े सामान्य से अर्थ ही निकलते हैं। इस कारण प्रतीकों के उद्घाटन में बड़ी सावधानी बरतने की आवश्यकता होती है, और मनमानी व्याख्या से सदैव बचने की भी आवश्यकता होती है, यह तभी सम्भव है जब हम प्रयुक्त प्रतीकों के लिए वैदिक-पौराणिक साहित्य से पुष्टीकरण करते हुए चलें।

इसी प्रकार वैज्ञानिकता के लिए भी हमें सतत सावधान रहने की आवश्यकता है। वैज्ञानिकता का आधार वैज्ञानिक विधि होती है। वैज्ञानिक विधि के माध्यम से परखा हुआ विचार ही अन्ततः वैज्ञानिक संज्ञान की संप्राप्ति का प्रदायक बनता है। वैज्ञानिक विधियों के अनेक आयाम हो सकते हैं, और तथ्यों, नियमों और सिद्धान्तों के प्रस्तुतीकरण के भी कई आयाम हो सकते हैं, हमें इन सब का उद्घाटन तथा निरूपण करने की आवश्यकता है।

विज्ञान का एक रूप तो हमें वेदों में स्पष्ट दिखाई देता है, जिसे तीन

स्थान व्यूहों - पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्यु - तथा तीन देवताओं - अग्नि, वायु या इन्द्र, आदित्य - और इनकी विभूतियों तथा कर्मों से जो तीन प्रक्रियायें - कर्म तथा जैव प्रक्रिया, ज्ञान तथा पाक-प्रक्रिया, ऊर्जा संरक्षण प्रक्रिया - प्रकट हैं, उनकी व्याख्या हम सूक्तों तथा मन्त्रों में करते चलें। दूसरे स्तर पर यास्क ने जो शिक्षण-विज्ञान, सामाजिक विज्ञान तथा काव्य शास्त्र आदि को इंगित किया है, उसका विधिवत उद्घाटन दशम-मण्डल के संदर्भ से प्रस्तुत करना है। तीसरे स्तर पर उपवेदों में जो विज्ञान है तथा अन्य वेदों में भी जिनके विवरण मिलते हैं, ब्राह्मणों-आरण्यकों तथा पुराणों में जो उनका विस्तार और व्याख्या मिलती है, तथा वेदांगों में जिन विज्ञानों को विस्तार मिला है, उन्हें भी दशम मण्डल के सन्दर्भ से व्याख्यायित करना है। चतुर्थ स्तर पर हमें उन वैज्ञानिक तथ्यों और सिद्धान्तों का भी पता लगाना होगा जो उपर्युक्त ग्रन्थों में व्याख्यायित नहीं हैं किन्तु आधुनिक ज्ञान-विज्ञान में स्थापित निष्कर्ष है, इससे यह भी आभास होगा कि ऋषियों को ऐसी भी जानकारियां प्राप्त थीं। इन जानकारियों के आधारों को भी हम टटोलेंगे तथा वे कैसे और किस विधि से प्राप्त किये गये यह जानने की भी हम चेष्टा करेंगे। इन सब स्तरों पर व्याख्या प्रस्तुत करने के उपरान्त भी एक महत्वपूर्ण स्थिति यह बनती है कि आधुनिक वैज्ञानिकों ने भी वैदिक-विज्ञान के अनेक निष्कर्षों पर अपने ढंग से अनुसंधान किया है और प्रकारान्तर से वैदिक विज्ञान की पुष्टि की है। हम उन स्थितियों को भी स्पष्ट करेंगे।

वैदिक विज्ञान की विधियों और उनसे प्राप्त निष्कर्षों का आधुनिक वैज्ञानिक संदर्भों में हम मूल्यांकन करेंगे तथा उनके गुण-दोष, उपयोगिता तथा अनुपयुक्तता पर प्रकाश डालेंगे। यदि कुछ ऐसे सूत्र प्राप्त होते हैं जो आधुनिक विज्ञान के लिए भी उपयोगी हो सकते हैं, तो उनकी विवेचनापूर्वक व्याख्या तथा उपयोग पर हम अपनी टिप्पणी प्रस्तुत करेंगे।

ङ. प्रस्तुत शोध में इन सभी उपादानों की उपयोगिता और सम्भावनाओं पर प्रकाशः

प्रस्तुत शोध मुख्यतः ऋग्वेद दशम मण्डल से सम्बन्धित है, तथा इस मण्डल में प्रतीकात्मकता के उपादानों और वैज्ञानिकता के उपादानों का संज्ञान करते हुए और उनकी वेदार्थ के लिए सम्भावनाओं का अनुमान करते हुए उनकी वेदार्थ में उपयोगिता निर्धारित करने की आवश्यकता है।

सर्वप्रथम आवश्यकता इस बात की होती है कि शोध विषय पर विस्तारपूर्वक विचार किया जावे और उसे प्रक्रियात्मक रूप में परिभाषित किया जावे, शोध की सम्भावनाओं और असम्भावनाओं का विवेचन और विनिश्चय किया जावे तथा उसकी विधि, क्रम, प्रयोग और निष्कर्ष के उपक्रमों का भी विनिश्चय किया जावे। यह सब हम इस अध्याय के पूर्व खण्डों में कर चुके हैं। अब हमें यह विचार करना है कि शोध के इन उपादानों की शोध की दृष्टि से क्या सम्भावनायें बनेंगी और इसी आधार पर उपादानों की उपयोगिता को भी हम निर्धारित करेंगे।

जो प्रक्रियात्मक रूप में 'समीक्षा' की हम परिभाषा कर चुके हैं, उससे जो विधि, क्रम, प्रयोग तथा निष्कर्ष के लिए सूत्र प्राप्त होते हैं, उनकी संयोजना करते हुए हमने पिछले खण्ड में शोध के नियोजन की संकल्पना प्रस्तुत की है। उस संकल्पना के प्रत्येक चरण की सम्भावनाओं तथा असम्भावनाओं और उपयोगिता पर वर्तमान खण्ड में हम विचार करेंगे। इसी प्रकार प्रतीकात्मकता और वैज्ञानिकता के उपादानों की सम्भावनाओं और उपयोगिता पर विचार करेंगे।

शोध-विषय की निश्चितता के साथ उससे विशिष्ट एवं विशद परिचय की आवश्यकता होती है। प्रथमतः ऐसा परिचय ऋग्वेद दशम मण्डल का सर्वेक्षण पूर्वक अध्ययन से प्राप्त किया जा सकता है, तथा द्वितीयतः विषयवस्तु सम्बन्धित अंशों का गहन अध्ययन करके ही प्राप्त किया जा सकता है। प्रथम स्थिति के लिये ऋग्वेद के सामान्य अनुवाद का अध्ययन पर्याप्त होगा। ऐसा भाषिक अनुवाद हमें यह बता सकने में समर्थ होगा कि कौन सूक्त और कौन मंत्र हमारे शोध-विषय के लिऐ उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं। इस कार्य में हमें यह ध्यान रखना होगा कि अनुवाद में अनुवादक की क्या प्रवृत्तियां रही हैं और सूक्त और मन्त्र विशेष में इन प्रवृत्तियों का क्या प्रभाव रहा है; इसके अतिरिक्त हमें वेद-प्रबंधन की शैली का भी ध्यान रखना होगा जिसके माध्यम से भाषिक अनुवाद से भी छिपे हुये या रहस्यमय अर्थो को तथ्यात्मक रूप में समझने में सहायता प्राप्त होगी। सामान्य सर्वेक्षण का मुख्य उद्देश्य शोध-विषय सम्बन्धी सूक्तों और मंत्रों का चयन करना है, तथापि ऐसा अध्ययन सम्पूर्ण दशम मण्डल में वर्णित विषय-वस्तु की अवधारणा और रूपरेखा प्रस्तुत करेगा तथा परिवेश और परिस्थितिकी का भी अनुमान प्रदान करेगा जिसमें ऐसी रचना सम्भव हुई है। ऋग्वेद के रचनाकारों की विभिन्न प्रवृत्तियों तथा विचारों का परिचय

परिवेश और परिस्थितिकी के परिप्रेक्ष्य में ऋग्वैदिक मनीषा तथा उसकी कोटि का उद्घाटन करेगा। तथा, आधुनिक परिवेश और परिस्थितिकी से उस मनीषा की तुलना वर्तमान मनीषा से करने में सहायता प्राप्त करायेगा। इसी प्रकार ऋग्वेद काल की वस्तुसंस्कृति और सामाजिक संस्कृति का परिचय हमें वर्तमान भारतीय सांस्कृतिक परम्पराओं का तथा विचार प्रणाली का भी तुलनात्मक आकलन करायेगा और जो समानतायें और विभिन्नतायें हैं उनके परिस्थिति जन्य सूत्रों को बतलायेगा। ये सब स्थितियां हमें अंतिम रूप से विचार विमर्श करने में अत्यधिक सहायता प्रदान करेंगी तथा तथ्यात्मक निर्णय लेने और निष्कर्ष निकालने का साधन बनेगीं। तथापि, सामान्य सर्वेक्षण में चयनित सूक्त और मन्त्र सम्भावनाओं से परे प्रतीकात्मकता और वैज्ञानिकता से असंबद्ध हो सकते हैं, और इसी प्रकार छूटे हुये सामान्य भाषिक अनुवाद के साधारण से लगने वाले अर्थ गहन अध्ययन में रहस्यों का उद्घाटन करने वाले और प्रतीकात्मकता एवं वैज्ञानिकता की दृष्टि से अति महत्वपूर्ण भी हो सकते हैं। सिद्धान्तों और प्रक्रियाओं को स्पष्ट करने वाले वेदार्थों के लिये भी आद्यन्त तथा मध्यवर्ती पूरक भी छूटे हुये सामान्य अनुवादों के बीच हो सकते हैं। कभी-कभी पूरा सूक्त ही वैज्ञानिकता या प्रतीकात्मकता की दृष्टि से महत्वपूर्ण होता है। तो अनेक बार सूक्त का एक मन्त्र या कुछ मन्त्र ही उस दृष्टि से महत्वपूर्ण होते हैं। हमें सामान्य सर्वेक्षण में इन सब स्थितियों का ध्यान रखते हुये सूक्तों और मन्त्रों का गहन अध्ययन हेतु चयन करना चाहिये और सम्भावना वाले सूक्तों और मन्त्रों को भी चिह्नित कर लेना चाहिये।

द्वितीयतः चयनित और सम्भावित सूक्तों और मन्त्रों का प्रतीकात्मकता और वैज्ञानिकता की दृष्टि से गहन अध्ययन करने की आवश्यकता होती है। इस दृष्टि से कुछ सूक्त और मन्त्र तो सामान्य अनुवाद से ही स्पष्ट वेदार्थ प्रस्तुत करने वाले होते हैं, तो अन्यों का प्रतीकों के संदर्भ से या प्रक्रियाओं के सन्दर्भ से वेदार्थ नई दृष्टि से करने की आवश्यकता होती है। वेदार्थ करने में सबसे पहले हमें मन्त्र का सन्धि-विच्छेद पूर्वक अन्वय करना चाहिये, और अन्वय में व्याकरण का विशेष ध्यान रखने की आवश्यकता होती है यद्यपि अनेक बार वेद की भाषा व्याकरण-मुक्त दिखाई देती है। प्रायः ऐसा देखा जाता है कि भाष्यकारों और अनुवादकों ने व्याकरण की उपेक्षा की है और अर्थ निकालने में जल्दबाजी की है; क्योंकि प्रायः सरल भाषा वाले मन्त्र भावों में कठिन होते हैं और कठिन भाषा वाले मंत्र भावों में सरल होते हैं। इसी प्रकार धुरंधर संस्कृतज्ञ महापण्डितों ने बिना कोष देखे

अर्थात् बिना विभिन्न अर्थ देखे और बिना 'निघण्टु' और 'निरूक्त' द्वारा परिभाषित शब्दों को प्राप्त किये वेदार्थ कर दिये हैं; परिणामस्वरूप विकल्पों की उपेक्षा के कारण उनके अनुवाद त्रुटिपूर्ण हो गये। ऐसी उपेक्षा प्रतीकों की भी हुई है। अनुवादकों ने अपने समय में प्रचलित शब्दार्थ भी किये हैं और रूढ़ हुये शब्दार्थ भी किये है, जो ऋग्वेद काल के लिये अनुपयुक्त थे। सन्धि-विच्छेद में भी विकल्पों का ध्यान नहीं रखा और अपने मन से त्रुटिपूर्ण वैकल्पिक सन्धिविच्छेद कर लिये। अनेक बार यह भी ध्यान नहीं रखा गया कि उनके द्वारा किये वेदार्थ से कोई अर्थ ही नहीं निकलता है और हठात् टीका करते हुये मनमाने विचार के अनुसार विमर्श कर दिया गया है। पूर्वनिर्धारित आस्था एवं आग्रह पूर्वक वेदार्थ करने में तो प्रायः सभी भाष्यकार और अनुवादक सिद्ध हस्त रहे हैं, और अनेकों ने तो शब्दजाल पूर्वक वेदार्थ करते हुये अपने मंतव्यों की पुष्टि मात्र की है। वेदार्थ में ऋग्वेद काल की परिस्थितियों, संस्कृति, आचार-विचारों और विकास क्रम का ध्यान रखे बिना ही अनुवाद कर दिये हैं। हमें इन सब बातों का ध्यान रखते हुये ही वेदार्थ करने के लिये उद्यत होना चाहिये तथा अपने अनुवाद को भाषिक, सैद्धान्तिक तथा विषयगत आधार पर वेदों से तथा वेदेतर ग्रन्थों से पुष्ट भी करना चाहिये। ऐसे स्वच्छ और परिपुष्ट वेदार्थ हमें चयनित और सम्भावित दोनों प्रकार के सूक्तों और मन्त्रों के लिये करने होगें। वेदार्थ में छन्द-ऋषि-देवता का निश्चय करना भी अनेक बार आवश्यक होता है और उनकी स्थिति स्पष्ट होने से ही वेदार्थ सम्भव होते हैं। जब हम सही वेदार्थ करेंगे तो प्रक्रियायें और प्रतीकतायें भी उससे स्पष्ट होंगी और हम अपने शोध के उद्देश्यों में सफल हो सकेंगे।

तृतीयतः निश्चयात्मक और सम्भावित वेदार्थ वाले सूक्तों और मन्त्रों को प्रतीकात्मकता एवं वैज्ञानिकता के अलग-अलग विषय-विभागों में वर्गीकृत किया जायेगा। ऐसे वर्गीकरण वेदार्थ को स्पष्ट करने में सहायक होंगे तथा विशिष्ट विज्ञानों और विशिष्ट प्रक्रियाओं के सम्बल बनेंगे। वेदमंत्रों के द्वयर्थक होने या बहुअर्थक होने से वे भिन्न-भिन्न अर्थों में भिन्न-भिन्न प्रक्रियाओं के वाचक हो जाते हैं; ऐसे मन्त्रों की सही जांच करते हुये उनकी उपयोगिता निश्चित करने की आवश्यकता होती है। यदि ऐसे मन्त्र वेदार्थ में प्रक्रिया की सम्भावना मात्र बतला रहे हों अथवा अपूर्ण सिद्धान्त प्रतिपादित कर रहे हों तो भी सम्भावना को निश्चयात्मकता में बदलने तथा अपूर्णता को पूर्ण करने में अन्यत्र प्राप्त सम्पूरकों का प्रयोग करना चाहिये अथवा संपूरकों को ढूंढना चाहिये और यदि वे प्राप्त नहीं होते

हैं तो भी प्रक्रिया की सम्भावना में उन्हें बनाये रखना चाहिये। इस प्रकार प्राप्त वर्गीकरण प्रतीकात्मकताओं को स्पष्ट करने में जहां मानक का कार्य करेगे वही वैज्ञानिकता को परिपुष्ट करने में भी सहायक होंगे।

चतुर्थतः वर्गीकृत मंत्रों को विकास-क्रम में व्यवस्थित करते हुये उन्हें, पद, स्तर तथा प्रक्रिया के अनुसार संयोजित करना चाहिए। छूटे हुए आद्यन्त या मध्यवर्ती अंशों को विनिश्चयता अथवा सम्भावना दोनों ही रूपों में संपूरित कर देना चाहिए। इनसे वेदार्थ तो स्पष्ट होंगे ही प्रतीकात्मकता और वैज्ञानिक सिद्धान्त तथा प्रक्रियायें भी विनिश्चित होंगी और सही तथ्यों तथा नियमों का संज्ञान होगा। इस प्रकार की विनिश्चयात्मकता से अन्य सूक्तों और मन्त्रों के लिए भी सहायता मिल सकती है अथवा सम्भावित हो सकती है तथा वेदार्थ निर्णय में भी सहायक हो सकती है।

पंचमतः संपूरकों को सम्भावित या विनिश्चयात्मक वेदार्थ में तो प्राप्त ही किया जा सकता है, उन्हें अन्य मण्डलों के मन्त्रों, अन्य वेदों के मन्त्रों, वेदेतर ग्रन्थों आदि के अंशों से संपूरित किया जा सकता है। इस प्रकार संपूरित और परिपुष्ट वेदार्थ से तथ्य, नियम, प्रक्रिया तथा सिद्धान्त एक ओर जहां स्पष्ट होते हैं दूसरी ओर उनके प्रयोग की सम्भावनायें भी बढ़ती जाती हैं और अनेक नये क्षेत्र भी प्रकाशित होते हैं जो क्रमशः नई सम्भावनाओं तथा निश्यात्मकताओं पर भी प्रकाश डालते हैं। यह क्रम चलता रहता है जो प्रतीकात्मकता को भी और वैज्ञानिकता को भी निखारते हुए उनके रूप को स्पष्ट करने वाला तथा व्यवस्थित रूप में उनके अस्तित्व तथा स्वरूप का निर्णायक होकर आकार प्रदान करने वाला होता है।

षष्ठतः प्रतीकात्मकता और वैज्ञानिकता का जो स्वरूप और आकार अलग-अलग प्राप्त होगा उनके प्रयोग से वेदार्थ स्पष्ट होंगे तथा वैज्ञानिक तथ्यों और सिद्धान्तों को स्पष्ट किया जा सकेगा। ऐसी प्राप्त प्रतीकात्मकताओं का प्रयोग करते हुए अन्य सूक्तों तथा मन्त्रों में उनके प्रयोग की सम्भावनायें स्पष्ट होंगी और उनसे प्राप्त तथ्य और सिद्धान्तों के रूप उजागर होंगे। इन सबकी विवेचना तथा समीक्षा से हम निश्चयात्मक रूप से ऐसी स्थिति में पहुंच सकेंगे जहां इनकी प्रकृति और उपयोगिता तथा सम्भावना पर प्रकाश पड़ेगा और उत्तरोत्तर इनकी स्थिति स्पष्ट होती हुई चली जायेगी। प्रतीकात्मकता या वैज्ञानिकता के ऐसे उपयोगी अंश यदि प्रयोग में सफल होते हुए चलते हैं तो वे मानक का कार्य करेंगे और जो प्रयोग में फंसते हैं या असफल होते हैं तो उन पर नये सिरे से विचार

करने की आवश्यकता होती है।

सप्तमतः ऐसे सफल या निष्फल संप्राप्त वर्गीकृत विनिश्चयात्मक या सम्भाव्य प्रतीकात्मकता या वैज्ञानिकता के अंशों का विश्लेषण करके उन्हें अन्तिम रूप प्रदान करने की आवश्यकता है। इनका विनिश्चय सम्पूर्ण सम्बन्धित साहित्य के परिप्रेक्ष्य में किया जाना आवश्यक है और यह उत्तरोत्तर इनके उपयोग पर भी निर्भर होगा। इनके उपयोग से प्रतीकात्मकता तथा वैज्ञानिकता के नये आयाम खुलेंगे तथा पुराने आयाम परिपुष्ट होंगे। इनके मानक रूप भी स्पष्ट होते हुए चलेंगे तथा वेदार्थो के लिए हम इनका उपयोग अधिक प्रामाणिक और त्रुटिरहित रूप में करने में समर्थ होंगे। इससे इनकी विश्वसनीयता और वैधता पर सम्यक् प्रकाश पड़ता जाएगा।

अन्ततः यास्क द्वारा प्रतीकात्मकता के जो उपादान प्रतिपादित किए गए हैं, तथा अन्य ग्रंथों में जो उपादान प्रतिपादित हैं, अथवा जो अन्य उपादान हमें अपने शोध में प्राप्त होते हैं, इन सब की उपयोगिता और सम्भावना पर दृष्टि डालने की आवश्यकता होती है। मन्त्र में जो छिपे हुए अर्थ हैं या रहस्यमय, द्वयर्थक या बहुअर्थक, या गोपनीय अंश हैं, प्रतीक-रूपों में इन्हें उद्घाटित कर दिया जाता है और इस प्रकार वेदार्थ स्पष्ट हो जाते हैं। वैज्ञानिकता के उद्घाटन में प्रतीकात्मकता का बहुत योगदान रहता है, क्योंकि वैज्ञानिक प्रक्रियाओं का वर्णन प्रायः प्रतीक रूप में किया गया है। तथापि वैज्ञानिकता का आधार वैज्ञानिक विधि होती है, यद्यपि प्रत्येक तथ्य या सिद्धान्त के पीछे वैज्ञानिक विधि का पता हम नहीं चला सकते हैं। वैज्ञानिकता का पता अभिव्यक्ति के ढंग और प्रकाशन या लेखन-प्रबन्धन की शैली से भी चल सकता है। सामान्य बात यह है कि विज्ञान की एक मानक पारिभाषिक शब्दावली होती है और अभिव्यक्ति का ढंग भी अलग होता है। तथापि, वेद में प्रारम्भिक वैज्ञानिकता होने के कारण ऐसी मानक शब्दावली नहीं बन सकी थी, और इस कारण ही पर्यायवाची शब्दों की सूचियां वेदार्थ की दृष्टि से आवश्यक हुई जो 'निघण्टु' में निहित हैं। वेद में वैज्ञानिक विधियों का विवरण ही इस बात का पर्याप्त प्रमाण होगा कि वेद में वैज्ञानिक तथ्य और सिद्धान्त भी प्रतिपादित किये गये हैं। हमें वैज्ञानिक विधियों के अनेक आयामों और प्रयोगों की जानकारी करनी होगी, और उसी प्रकार विज्ञान के अनेक आयामों तथा उनके प्रस्तुतीकरण के आयामों को भी हमें देखना होगा।

वैज्ञानिकता के लिए वैज्ञानिक विधि के साथ-साथ विज्ञान के आयामों पर भी ध्यान रखना है। ऋग्वेद दशम मण्डल में जो आयाम स्पष्ट हैं या स्पष्ट किए जा सकते हैं, ऋग्वेद के अन्य मण्डलों में, अन्य वेदों में, उपवेदों में, वेदेतर ग्रन्थों में, वेदांगों में तथा इतिहास-पुराणों में विज्ञान के जो आयाम स्पष्ट हैं, उन्हें भी हमे दशम मण्डल में ढूंढना है। आधुनिक विज्ञान के जो आयाम हैं या प्रतिपादित तथ्य, नियम या सिद्धान्त हैं उनकी दृष्टि से भी हमें दशम मण्डल का आकलन करना है। हमें इस बात के प्रमाण भी मिलते हैं कि आधुनिक विज्ञान में वेद का संदर्भ दिए बिना ऐसे अध्ययन किये गये हैं जो वेद पर आधारित थे या जिनकी परिकल्पना वेद के आधार पर बनाई गई, हमें इनके बारे में भी दशम मण्डल से जानकारी प्राप्त करनी है।

वैज्ञानिकता के इन सब उपादानों को वेदार्थ की दृष्टि से उपयोग करते हुए अर्थ को स्पष्ट करना तथा रहस्य का उद्घाटन करना हमारे लिए इष्ट है, और इस प्रकार जहां हम एक स्पष्ट प्रतीक-विज्ञान (या कल्प) का क्रमबद्ध उद्घाटन करते हुए उसे एक सार्थक आकार प्रदान करने का कार्य करेंगे उसी प्रकार हम वेद में वैज्ञानिक-विधियों की खोज तथा विज्ञान के अनेक आयामों का उद्घाटन भी करेंगे और तथ्य, नियम तथा सिद्धान्तों को भी क्रमबद्ध रूप में स्पष्ट करेंगे। इन सब सम्भावनाओं को कार्यरूप देकर इस शोधग्रन्थ में विधिवत प्रबन्धन की हमारी संकल्पना है।

द्वितीय अध्याय

(क) प्रतीकात्मकता की अवधारणा

(ख) प्रतीकात्मकता के मनोवैज्ञानिक आधार

(ग) प्रतीकात्मकता के समाजशास्त्रीय आधार

(घ) प्रतीकात्मकता के काव्यशास्त्रीय आधार

द्वितीय अध्याय

(क) प्रतीकात्मकता की अवधारणा

अभिव्यक्ति में प्रतीकात्मकता प्रतीकों के प्रयोग के कारण होती है। जब अभिव्यक्ति के किसी माध्यम में एक वस्तु की अभिव्यक्ति के लिये किसी अन्य वस्तु का या एक पद की अभिव्यक्ति के लिये अन्य पद का उपयोग होता है, तो यह 'अन्य' पूर्व वाले का 'प्रतीक' होता है। 'प्रतीक' शब्द अव्यय–उपसर्ग 'प्रति' में कन् प्रत्यय पूर्वक निपातनात् 'ई' दीर्घ होकर व्युत्पन्न होता है और 'प्रति' में 'प्रथ्' धातु में उति प्रत्यय से व्युत्पत्ति होने के कारण 'प्रतीक' शब्द का अर्थ "प्रकट करने वाला" होता है। डी०वी० गुरालनिक द्वारा सम्पादित "वेब्सटर का नई दुनिया शब्दकोष" (अंग्रेजी) के पृष्ठ 758 पर 'प्रतीक' के अर्थ "किसी अमूर्त के प्रतिनिधित्व के लिये प्रयुक्त कोई वस्तु है" है।[1] चतुर्वेदी द्वारिका प्रसाद शर्मा एवं पं० तारिणीश झा कृत "संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ" के पृष्ठ 733 पर 'प्रतीक' शब्द के अर्थ में उपयुक्ततः नपुंसकलिंग में "मूर्ति" शब्द दिया गया है।[2] डा० हरदेव बाहरी कृत "शिक्षक हिन्दी शब्द कोष" के पृष्ठ 257 पर 'प्रतीक' शब्द के अर्थो में "प्रतिमा", "मूर्ति", "प्रतिरुप" आदि को सम्मिलित किया गया है, तथा विस्तार में "ऐसा वाक्य, अक्षर आदि जो पूर्णता के द्योतक हों" बताया गया है। यहीं 'प्रतीकात्मक' को "प्रतीक सम्बन्धी" और 'प्रतीकवाद को वह अभिव्यत्रजनात्मक प्रणाली जिसके अनुसार प्रतीकों के आधार पर भावों एवं विषयों आदि का ज्ञान कराया जा सके" कहा गया है।[3] तथापि, कोषों के ये सभी अर्थ न तो सार्थक ही है और न पर्याय, क्योंकि रूढ रुप से 'प्रति' का बोध "विपरीत", "विरुद्ध" या "प्रतिकूल" रूप से किया जाता है और इन्हीं के अर्थ से कोषों के पर्याय बने हैं। इसलिये 'प्रतीक' की अवधारणा स्पष्ट करना आवश्यक हो जाता है।

"किसी अमूर्त के प्रतिनिधित्व के लिये प्रयुक्त कोई वस्तु" की अवधारणा में अमूर्त का ही प्रतीक होना निहित है, मूर्त के लिये प्रतीक होना अथवा अमूर्त के लिये अमूर्त या मूर्त के लिये अमूर्त प्रतीक होना नहीं कहा गया, जबकि प्रतीक इन सभी अवस्थाओं के हो सकते हैं। संस्कृत

---

1. D.B.Guralnik (Ed.) Webster's New World Dictionary; [p. 758 symbol 1. an object used to represent something abstract.] New Delhi : Oxford & 1B.H. Pub. Co., 1979.
2. चतुर्वेदी द्वारिका प्रसाद शर्मा एवं पं० तारिणीश झा "संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ", इलाहाबाद : रामनारायण लाल बेनी प्रसाद, तृतीय संस्करण, 1967.
3. डा० हरदेव बाहरी "शिक्षक हिन्दी शब्दकोष", दिल्ली : रवीन्द्र प्रेस, प्रथम संस्करण, 1990.

कोष में प्रतीक के जो "मूर्ति" अर्थ दिये गये हैं वे सजीव या संक्रियात्मक तत्वों के लिये बेमानी है क्योंकि मूर्ति में जीवन्तता का अभाव होता है तथा प्रायः वह क्रियात्मकता से परे रहती है। 'प्रतिमा' और 'प्रतिरूप' भी मात्रा या रूप के विरूद्ध भाव वाले होने से प्रतीक के समानार्थक नहीं होते इसके अतिरिक्त मात्रा और रूप वस्तु के मात्र कुछ आयाम हैं जिनसे वस्तु का सम्पूर्णतः प्रतिनिधित्व नहीं होता है। इसी प्रकार 'प्रतिबिम्ब' विरूद्ध-बिम्ब है; दर्पण में रूप विरूद्ध ही दिखाई देता है, दक्षिणाङ्.ग वामाङ्.ग तथा वामाङ्ग दक्षिणाङ्.ग दिखाई देता है, और यह इस प्रकार कि बायें नथुने में पहना हुआ नथ दाहिने नथुने में प्रतिबिम्बित होता है, और इस प्रकार से प्रतिबिम्ब प्रायः भ्रम उत्पन्न करने वाले होते हैं।

प्रतीक-प्रक्रिया

किसी वस्तु का किसी इन्द्रिय विशेष पर सन्निकर्षपूर्वक जो दृश्यमान रूप का अनुभव होता है उसे 'बिम्ब' कहते हैं। 'बिम्ब' वी धातु में वन् प्रत्यय लगकर (नियातनात् साधुः) व्युत्पत्ति पूर्वक अक्स या प्रतिच्छाया अर्थ वाला होता है, जिसमें वी धातु का आशय समीप जाने, उत्पन्न होने, प्रकाशित होने या व्याप्त होने से होता है। उस वस्तु के अनेक आयामों, गुणों तथा क्रियाओं के अनेक इन्द्रियों के सन्निकर्षों पूर्वक अनेकानेक बिम्ब बनते हैं। इन अनेकानेक बिम्बों का मन पर वस्तु के हेतु से जो समन्वित समग्र रूप बनता है उसे उस वस्तु का 'विश्व' कहते हैं, द्रष्टा के हेतु से इसे ही 'लोक' कहा जाता है। इस 'लोक' का जब किसी अन्य वस्तु के लिये अभिप्राय होता है तब यह 'प्रतीक' रूप में कार्य करता है तथा उस अन्य वस्तु का समान रूप से प्रतिनिधित्व करने लगता है।

संसार की तमाम वस्तुओं के अनेकानेक विश्व या लोक "पुरूष" में ही निहित होते हैं, इस कारण ही उसे 'विश्वरूप' कहा जाता है। पुरूष इन तमाम विश्वों को अपने भीतर क्रमबद्ध या व्यवस्थित करता है, इस कारण उसे 'विश्वकर्मा' कहा जाता है। ऐसा पुरुष इन्द्रियार्थों को त्वचा से स्पर्श करने से 'स्प्रष्टा', नेत्र से देखने से 'द्रष्टा', नाक से सूंघने से 'घ्राता', कान से सुनने से 'श्रोता' जिह्वा से चखने से 'रसयिता', इस सब की मात्रा का अनुभव करने से 'मन्ता', इनकी संवदेना को प्राप्त करने से 'वेदिता', बुद्धिपूर्वक इनका वर्गीकरण करने से 'बोद्धा', इन्हें स्मृति में धारण किये रहने से 'धाता', इनके विधान या नियम बना लेने से 'विधाता', और इनका सम्पूर्ण ज्ञान होने से 'ज्ञः' या 'विज्ञानात्मा' कहलाता है; इस कारण यही

इनका हेतु, कारण, निमित्त तथा कर्त्ता माना जाता है।[4] तात्पर्य यह है कि पुरुष या पूरुष, जो पुर्, पूर् या पृ धातु से व्युत्पन्न होकर 'पूर्ण' है, वस्तु के प्रभावों को इन्द्रियार्थो रस, रूप, गन्ध, स्पर्श और शब्द को इन्द्रिय-मन सन्निकर्ष से स्पर्शन, घ्राण, श्रोत्र, रसन और चक्षु से ग्रहण करते हुये इनके समस्त रूपों को अपने भीतर पूर्ण रूप से निहित करता हुआ उन्हें व्यवस्थित और क्रमबद्ध करता है, वह इनकी मात्रा से अनुभव करता है और इनकी संवेदना प्राप्त करता है तथा इनमें बुद्धिपूर्वक विभाग करके इनका वर्गीकरण करता है, फिर इन्हें नाम, प्रत्यय, चिह्न, मूर्ति, शब्द, भाव, आभास आदि के रूप में स्मृति में धारण करता है, इनकी प्रक्रिया, संक्रिया, स्थिति और संस्थिति के विधानों को जानता तथा निर्माण करता है; और इस प्रकार इनका सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त करते हुये वही इनका हेतु, कारण, निमित्त और कर्त्ता बन जाता है।

आगे वाक्, उद्घाटन, मनन, चिन्तन और सम्प्रेषण का कार्य-व्यापार विधानों और नियमों के अनुकूल नाम, प्रत्यय चिह्न, मूर्ति, शब्द, भाव, आभास आदि अभिधारणों के माध्यम से ही चलता रहता है, और इस कार्य व्यापार में इनके अन्तर्सम्बन्ध विनिर्मित होते रहते है जिनमें कुछ अन्तर्सम्बन्ध अपेक्षाकृत स्थायी प्रकृति के हो जाते हैं। जब ऐसे स्थायी सम्बन्धों में एकरूपता उत्पन्न होकर एक प्रत्ययादि से दूसरे प्रत्ययादि की पहचान होने लगती है तब प्रत्यय आदि की आधारभूमि पर निर्मित ऐसा सम्बन्ध प्रतीक कहलाता है। भाषा द्वारा अभिव्यक्ति की दशा में ये सब नाम या शब्द रूप ही होते हैं, तथापि एक शब्द के पीछे की सम्पूर्ण अवधारण-प्रक्रिया के संज्ञान सहित जब अन्य शब्द से वैसी ही प्रक्रिया पूर्वक सम्प्रेषण होता है तभी 'प्रतीक' घटित होता है; अन्यथा की स्थिति में नहीं होता है, तथा प्रक्रिया में कोई भी व्यवधान होने से भ्रम की स्थिति उत्पन्न हो जाती है और तब अस्पष्ट और अनर्थक सम्प्रेषण होने लगता है। इस प्रकार प्रतीकों में भी एकरूपता और स्पष्टता का एक श्रेष्ठता सोपान निर्मित हो जाता है, तथापि सर्वाधिक उपयुक्त प्रतीक ही ठीक संप्रेषण के लिये समर्थ हो पाता है।

संप्रेषण में सफलता तथा सही अभिव्यक्ति के लिये भाषा के उत्पाद में रचनाकारों द्वारा जो उदाहरण और दृष्टांत प्रस्तुत किये जाते हैं या साहित्यिक सौन्दर्य की दृष्टि से जो उपमान या रूपक प्रस्तुत किये जाते हैं,

4. एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरूषः स परे ऽक्षर आत्मनि संप्रतिष्ठते।

— प्रश्नोपनिषद् 4 : 9

स हि हेतुः कारणं निमित्तमक्षरं कर्ता मन्ता वेदिता बोद्धा द्रष्टा धाता ब्रह्मा विश्वकर्मा विश्वरूपः पुरुषः प्रभवोऽव्ययो नित्यो गुणी ग्रहणं प्रधानं अव्यक्तं जीवो ज्ञः पुद्गलश्चेतनावान् विभुर्भन्द्रितात्मा चेद्रियात्मा चान्तरात्मा चेति।

— चरक0 शा0 4 : 8

धीरे-धीरे उनकी लोकप्रियता बढ़ती जाती है और अन्य रचनाकार भी उन्हें जान और सीखकर अपने उत्पादों में प्रयोग करने लगते हैं। परम्परा से प्राप्त ऐसे प्रतीक एक 'श्रेणी' (क्लास) का रूप ग्रहण कर लेते हैं, जिनके प्रयोग के नियम भी कालान्तर में अनिवार्यताओं, स्वीकारताओं और वर्जनाओं के साथ विनिर्मित हो जाते हैं, और इस प्रकार प्रतीक रूढ़ होकर इनकी शास्त्रीय स्थिति बन जाती है। तब पूरे साहित्य में प्रायः सभी जगह इनका वह शास्त्रीय रूप ही दृष्टिगोचर होता है। तब प्रतीकों के अर्थ उद्घाटन के लिये साहित्य का सर्वेक्षण करते हुये विशेष-विशेष प्रतीकों के विभिन्न प्रयोगों के स्थल तथा उनके मन्तव्य का उद्घाटन करना होता है और इस प्रकार अर्थ का निश्चय करना होता है। वेद के प्रतीक इसी प्रकार शास्त्रीय हो चुके थे अतः उनके अर्थ के उद्घाटन के लिये कल्पना की आवश्यकता नहीं प्रत्युत सम्पूर्ण वैदिक तथा पौराणिक साहित्य का सर्वेक्षण करते हुये विशेष-विशेष प्रतीकों के स्थल जानना और वहां उनके अर्थ-प्रयोग का मन्तव्य निश्चित करते हुये अर्थ का उद्घाटन करने की आवश्यकता है।

प्रतीक-प्रकार

भाषा में मूर्त या अमूर्त भाव के लिये पहला प्रतीक उसका नाम होता है, यह नामकरण प्रायः भाव के गुण (अभिव्यक्ति) अथवा उसकी क्रिया (चेष्टा) के आधार पर किया जाता है। प्रथम तत्व के रूप में ऐसा नाम 'मन' रखा गया[5], जो 'मा' धातु से निर्मित होकर मात्रा के संदर्भ से था और इस कारण 'इकाई' रूप से उसके गुण के कारण 'एक' कहा गया। इस प्रकार 'एक' मन का प्रतीक हुआ। मन का दूसरा गुण सूक्ष्मता को 'तुच्छ' नाम दिया गया, यह 'तुच्छ' या 'सूक्ष्म' (अणुत्व) भी मन के नाम और प्रतीक हुये। इसी प्रकार अनेक गुण-कर्मो से मन के नाम 'इन्द्र' आदि भी हुये।[6] ये सब पर्यायवाची होकर मन के प्रतीक हो गये। ये सब अमूर्त के अमूर्त प्रतीक रूप हैं।

जब 'इन्द्र' को देवताओं का राजा कहा गया और उसके गुण-कर्म का मानवीकरण करते हुये इन्द्र का भी मानवीकरण किया गया, तब इन्द्र, मघवन् आदि नाम अमूर्त के मूर्त प्रतीक बने। महाभारत कथा में सावित्री के पिता का नाम अश्वपति है जिसके अर्थ सूर्य हैं; सवितृ भी सूर्य है

5. ऋग्वेद 10:129:4; देखें 10:129:2, 3
6. ऐतरेयोपनिषद् 1:3:14; केनोपनिषद् 4:3:5; ऋग्वेद 10:129

जिसकी ही पुत्री सावित्री होती है। इस प्रकार अश्वपति सवितृ-सूर्य का प्रतीक हैं। यह मूर्त का मूर्त प्रतीक है। वृत्रहन् इन्द्र का गुण है तथापि यह मूर्त इन्द्र का अमूर्त नाम भी है। इसी प्रकार 'सम्राट आ रहे हैं; 'पागल बक रहा है' आदि मूर्त के अमूर्त विशेष नाम ही हैं जो प्रतीक रूप में कार्य कर रहे हैं।

इसके अतिरिक्त अर्थ प्रतीक वे हैं जिनके नाम का अर्थ निकाल कर प्रतीक बनता है, जैसे 'जाया' अर्थात् जीतने वाली, 'गो' अर्थात् जाती हुयी, 'सरमा' अर्थात् जाते हुये को मापने वाली, 'अक्ष' अर्थात् जो क्षरित न हो, इत्यादि।

चिह्न प्रतीक वे हैं जो अपने चिह्न से पहचाने जाते हैं, जैसे व्यापनशील 'विष्णु' को व्यापनशील तत्वों, आत्मा, मन, दिशा, काल और आकाश जिनके चिह्न क्रमशः हृदय, पद्म, गदा, चक्र और शंख हैं, से भागवत में बालकृष्ण के जन्म के समय इन्हीं चिह्नों से बतलाया गया है।[7] उपर्युक्त सभी अमूर्त के . मूर्त प्रतीक हैं।

"वाणी ज्ञानी जन के प्रति उसी प्रकार समर्पित हो जाती है जैसे प्रेम से आह्लादित सुवस्त्रा पत्नी पति के लिये समर्पित होती है"[8], में अमूर्त का मूर्त प्रतीक उपमान के रूप में प्रस्तुत किया गया है। विश्वामित्र द्वारा सुदास के पुरोहित के रूप में अभियान की सफलता के लिये मार्ग में पड़ने वाली व्यास और सतलज आदि नदियों से मार्ग देने की प्रार्थना और नदियों का प्रकट होकर आशीर्वाद देना आदि[9] मूर्त प्रतीक के रूपक हैं। "सूर्यो देवीमुषसं रोचमानां मर्त्यो न योषामभ्येति पश्चात्"[10] में अमूर्त उषा का मूर्त स्त्री-प्रतीक उत्प्रेक्षा के भाव से है। इन उदाहरणों में वाणी की भाव-प्रतीक पत्नी है, नदियां मूर्ति-प्रतीक देवियां है, और उषा आभास-प्रतीक स्त्री है। विष्णु या बालकृष्ण प्रत्यय-प्रतीक हैं, तथा चिह्नों से चिह्न-प्रतीक हो जाते हैं। कठोपनिषद् के रथ-रूपक[11] में आत्मा रथी, शरीर रथ, बुद्धि सारथी मन लगामें, इन्द्रियां घोड़े, विषय मार्ग आदि जो प्रतीक बताये गये हैं वे सभी चिह्न प्रतीक हैं। ऊपर जो सवितृ और अश्वपति कहे गये हैं वे शब्द-प्रतीक हैं। इन्द्र और मघवन् नाम प्रतीक हैं। इस प्रकार सभी प्रतीक स्पष्ट हो जाते हैं, तथापि कुछ अन्य प्रकार के प्रतीक भी सम्भव हो सकते हैं।

7. भागवत 10:3:9
8. ऋग्वेद 10:71:4
9. ऋग्वेद 3:33
10. ऋग्वेद 1:115:2
11. कठोपनिषद् 1:3:3-4

वेदों में प्रतीकात्मकता के आधार : रचना प्रबन्ध

इस प्रकार के प्रतीकों के समावेश से वेद की प्रतीकात्मकता परिलक्षित होती है। किन्तु प्रतीकात्मकता मात्र मन्त्रों में प्रतीकों के समावेश से ही नहीं जानी जाती प्रत्युत ऋग्वेद के प्रबन्धन में जो मण्डल-क्रम है और जिनके लिये विशिष्ट ऋषि और उनके परिवार निरूपित किये गये हैं तथा इसी प्रकार सूक्तों में भी ऋषि, देवता, छन्द और विनियोग का जो निरूपण किया गया है, इनमें भी प्रतीकात्मकता समावेशित है और जब तक उन प्रतीकों को स्पष्ट नहीं कर दिया जाता तब तक न तो किसी सूक्त की विषयवस्तु का ही ज्ञान किया जा सकता है और न उस सूक्त के मन्त्रों के अर्थ ही निष्पादित किये जा सकते हैं।

ऋग्वेद का जो दस मण्डलों में विभाजन किया गया है, उनमें प्रथम मण्डल प्राचीन ग्रन्थ-प्रबन्धन की परम्परानुसार शास्त्रीय सूत्रस्थान है जिसमें ग्रन्थ की विषयवस्तु को सूत्र रूप में बतलाया गया है। स्पष्ट है कि ऋग्वेद का प्रथम मन्त्र ही पृथिवीस्थानीय अग्नि की स्तुति वाला है जिससे ऋग्वेद की पार्थिव विषयवस्तु का पता चलता है।[12] इसके अतिरिक्त अस्यवामीय सूक्त 164वें में अनेक विषयों को स्पष्ट किया गया है जिनका विस्तार ऋग्वेद में अन्यत्र हुआ है; इस सूक्त के प्रथम मंत्र में ही पृथिवीस्थान से ऊर्ध्व को जाने वाले शुक्लमार्ग-वाम-उत्तरायण आदित्य का संदर्भ है जिसके अन्य दो भाई दक्षिणायन-विद्युत (मझला) तथा घृतपृष्ठ-अग्नि हैं; ये तीनों ज्ञान-कर्म-पाक आदि प्रक्रियाओं के प्रतीक हैं, यह सब आगे के मन्त्रों से स्पष्ट हो जाता है।[13]

ऋग्वेद का अन्तिम दशम मण्डल खिलस्थान है जिसमें अन्यत्र असमाहित मन्त्रों का परिशिष्ट रूप में संकलन किया गया है; हम देखते हैं कि ऋग्वेद के अतिमहत्वपूर्ण सूक्तों का समावेश प्रायः इसी मण्डल में

12. ऋग्वेद 1:164:39 में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि जो ऋग्वेद के विषय 'अधिभूत' को नहीं जानता उसके लिये ऋग्वेदीय ऋचा का प्रयोजन ही व्यर्थ है। देखें अध्याय 4 में 'श्री अरविन्द' के विवरण में मन्त्रार्थ (फुटनोट 185)।
13. इस मन्त्र के देवता विश्वेदेवाः, ऋषि दीर्घतमा, छन्द विराड् त्रिष्टुप् तथा स्वर धैवत हैं। इस मन्त्र के अर्थ इस प्रकार हैं–
(अत्र) यहां (अस्य) इस (वामस्य) बायें (पलितस्य) शुक्ल (होतुः) होता का (विश्पतिं) राजा (सप्तपुत्रं) सातपुत्रों वाले को (अपृश्यम्) मैं देख रहा हूं। (अश्नः) विद्युत् (तस्य) उसका (मध्यमो) मझला (भ्राता) भाई है। (अस्य) इसका (तृतीयः) तीसरा (भ्राता) भाई (घृतपृष्ठः) अग्नि है।

है। यजुर्वेद की मैत्रायणी संहिता तो स्पष्टतः चार काण्डों (1) आदिम (2) मध्यम (3) उपरि और (4) खिल में विभाजित है। इसी विभाजन के साम्य से ऋग्वेद प्रथम मण्डल को हम सूत्र-मण्डल और दशम मण्डल को खिल मण्डल समझ रहे हैं। बाकी मण्डलों में द्वितीय मण्डल के द्रष्टा-ऋषि गृत्समद, तृतीय मण्डल के विश्वामित्र, चतुर्थ मण्डल के वामदेव, पञ्चम मण्डल के अत्रि, षष्ठ मण्डल के भरद्वाज, सप्तम मण्डल के वसिष्ठ, अष्टम मण्डल के कण्व हैं[14], तथा नवम मण्डल में सोम की स्तुति से सम्बन्धित सूक्तों का समावेश किया गया है, जिनके ऋषि अङ्गिरा तथा उनके वंशज हैं। पाक-प्रक्रिया में पृथिवीस्थानीय अग्नि ही घृतपृष्ठ होकर अन्त में सोम (ओजस्) के उत्पादक होते है, इस कारण ही सोम सूक्तों को लगभग अन्तिम नवम मण्डल में रखना ही विषयानुकूल उपयुक्त भी था।

ऋषि-प्रतीक

दूसरे मण्डल के ऋषि गृत्समद हैं। यास्क ने इस नाम के निर्वचन में गृत्स-मदन सन्धिविच्छेद करते हुये 'मेधावी तथा आनन्दपूर्ण' अर्थ दिया है, तथापि अन्य व्युत्पत्तियों में गृ-निगलना, गृ-स्तुति करना, मस्ज्-पाप को आप्लावित करना, मद्-आनन्द लेना, मन्द्-तृप्त होना, मन्द्-अलंकृत करना आदि धातुओं से अनेक अर्थ निकाले हैं।[15] इन पर विचार करने के उपरान्त उनकी 'मेघा और आनन्द' की प्रक्रिया अथवा 'मद' को निगलने की या नियंत्रित करने की प्रक्रिया पर ही ध्यान केन्द्रित होता है; इत्तफाक से ये दोनों प्रक्रियायें एक ही हैं क्योंकि ये 'ओजस्' से सम्बन्धित हैं जिसका आयुर्वेदानुसार विरुद्ध गुणों के कारण विरोधी 'मद' है।[16] ऋषि के इसी अर्थ में 'विमद' नाम के एक अन्य ऋषि प्रथम मण्डल के कई सूक्तों के द्रष्टा हैं।

तीसरे मण्डल के ऋषि विश्वामित्र हैं। इनके नाम के निर्वचन में यास्क इन्हें 'विश्व का मित्र' बताते हैं।[17] विश्व का अर्थ संसार, सर्व, तथा देवताओं का वह गण जिसमें वसु, सत्य, क्रतु, दक्ष, काल, काम, भृति, कुरु, पुरुरवा

14. ऋग्वेद भाष्यकर्ता पं० राम गोविन्द त्रिवेदी ने अपने लेख ऋषयो मन्त्र दृष्टारः में ऋग्वेद के ऋषियों का विस्तृत विवरण दिया है। देखें कल्याण वर्ष 73, 1999

15. निरुक्त 9:4-5

16. देखें चरक० चिकित्सा० 24:31; अष्टांगहृदय निदान० 6:1

17. निरुक्त 2:24-25

और माद्रवा परिगणित हैं।[18] इनका विचार करने से ये ऋषि समस्त प्रक्रियाओं से सम्बन्धित हैं, अथवा ये पुरुष के चतुर्थ 'विश्व-पाद' (लोक) से सम्बन्धित हैं।[19]

चतुर्थ मण्डल के ऋषि वामदेव हैं। उन्होंने स्वयं अपना परिचय इस प्रकार दिया हैः-

अधा मातुरुषसः सप्त विप्रा जायेमहि प्रथमा वेधसो नॄन्।
दिवस्पुत्रा अङ्गिरसो भवेमाद्रिं रुजेम धनिनं शुचन्तः।।[20]

अर्थात् (मातुः उषसः) माता उषा से (अधाः, न धीयते इति अधाः) ज्ञान से विरत (प्रथमाः) पहले (सप्त विप्राः) सात आगे जाने वाले आदित्य (जायेमहि) हमने उत्पन्न किये हैं, (वेधसः) बुद्धिमान् (अङ्गिरसः) अङ्गिरस से दूर नॄन् ले जाये जाते हुये (दिवः पुत्राः) प्रकाश के पुत्र आदित्यगण (भवेम) हमने बनाये हैं, (धनिनं) धनी को (शुचन्तः) पवित्र करते हुये (अद्रिम्) मेघ को (रुजेम) हमने पीड़ित किया है। तात्पर्य यह है कि रसादिक धातुओं (वसुओं) को परिष्कृत करते हुये जड़तावाले मेघ को काट डाला है। स्पष्ट है कि ज्ञान की प्रक्रिया से पहले आदित्य की प्रथम सात स्थितियों को उत्पन्न करने वाले तथा बुद्धिमान अङ्गिरस से दूर ले जाये जाते हुये जिन्हें प्रकाश अर्थात् ऊर्जा के पुत्र बनाया है, ऐसे वामदेव हैं। इन्हें गर्भ में ही ज्ञान हो गया था-

गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदमहं देवानां जनिमानि विश्वा।
शतं मा पुर आयसीररक्षन्नधः श्येनो जवसा निरदीयम्।।[21]

अर्थात् (अधः) ज्ञान होने से पूर्व (गर्भे) गर्भ में (सन्) रहते हुये (शतम्) सैकड़ों (आयसीः पुरः) कठोर शरीरों ने (मा) मुझे (अरक्षन्) बांध रखा था, (अहं) मैं (नु) अब निश्चय ही (श्येनो जवसा) श्येन पक्षी के वेग से (निरदीयम्) उन्हें तोड़कर (एषाम् देवानाम्) इन देवताओं के (विश्वा जनमानि) समस्त जन्मों को (अनु अवेदम्) जान चुका हूँ। अपने ज्ञान की पराकाष्ठा में उन्होंने कहाः-

अहं मनुरभवं सूर्यश्चाहं कक्षावा ऋषिरस्मि विप्रः।
अहं कुत्समार्जुनेयं न्यृञ्जेऽहं कविरुशनां पश्यता मा।।[22]

अर्थात मुझे सम्पूर्ण रूप से देखें, मैं मनु हूँ और सूर्य मैं हूँ। मैं ही आगे चलने वाला कक्षीवान ऋषि हूँ, मैं ही अर्जुनीपुत्र कुत्स को सिद्ध करता हूँ

18. संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ, पृष्ठ 1086
19. पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि (ऋ० 10:9:3) अर्थात् (अस्य) इसका (पादः) एक पाद (विश्व) विश्व है, (अस्य) इसके (त्रिपाद) तीन पाद (आमूतानि अमृतं) भूतों और अमृत को लेकर (दिवि) द्यु में हैं।
20. ऋग्वेद 4:2:15
21. ऋग्वेद 4:27:1
22. ऋग्वेद :4:26:1

और मैं ही कवि उशना हूँ। यह उक्ति भगवान कृष्ण द्वारा गीता में कहे गये विभूति वर्णन[23] की भांति ही है जिससे ऋषि वामदेव का ज्ञान की प्रक्रिया का द्रष्टा होना निश्चित होता है।

ऐसा लगता है कि वामदेव नाम अस्यवामीय सूक्त[24] प्रथम मन्त्र के ज्ञान प्रक्रिया के देवता उत्तरायण आदित्य के "वाम" नाम पर ही रखा गया है; क्योंकि–

हंसः शुचिषद् वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत्।
नृषद् वरसदृतसद् व्योमसदब्जा गोजा ऋतजा अद्रिजा ऋतम्[25]।।

अर्थात् सूर्य पवित्रों में, शरीर में, अन्तरिक्ष में, आवाहन में, वेदी में, अतिथि में, घर में, मनुष्य में, श्रेष्ठ में, ऋत में, व्योम में स्थित है और जल से उत्पन्न, पृथ्वी से उत्पन्न, मेघों से उत्पन्न, ऋत से उत्पन्न जो हैं उनमें वह ऋत रूप है, अर्थात् वह सर्वत्र व्याप्त है। वामदेव की श्रेष्ठता वर्णन करते हुये पं० रामगोविन्द त्रिवेदी[26] मृत्यु के अनन्तर जीव की गति को अपने पुत्रों के लिये अपनी शक्ति से प्राप्त करने वाला निम्न मन्त्र प्रस्तुत करते हैं:–

नावा न क्षोदः प्रदिशः पृथिव्याः स्वस्तिभिरति दुर्गाणि विश्वा।
स्वां प्रजां बृहदुक्थो महित्वावरेष्वदधादा परेषु।।[27]

किन्तु इस मन्त्र के अर्थ इस प्रकार हैं:–

(पृथिव्याः) पृथिवी का (प्रदिशः) विस्तृत (क्षोदः) जल (न) जैसे (नावा) नाव के द्वारा [पार किया जाता है वैसे ही] (स्वस्तिभिः) आशीर्वादों से (विश्वा) समस्त (दुर्गाणि) कठिनाइयां (अति) पार हो जाती हैं। (बृहदुवस्थः) महान् सूक्तों से स्तुति किया जाने वाला देवता[28] (महित्वा) अपनी महिमा से (स्वां प्रजां) अपने भक्तों को (आ अवरेषु) छोटे सुखों सहित (परेषु) परम् सुखों में (आदधात्) पुष्ट करता है।

पन्चम मण्डल के द्रष्टा ऋषि अत्रि हैं। निरुक्त[29] में 'अत्रि' शब्द को 'अ+त्रि' मानकर जो तीनों में नहीं है ऐसा बताया गया है। महर्षि अत्रि पत्नी 'अनसूया' दोष–बुद्धि से रहित अर्थ में महर्षि की स्थिति भी आती है।

23. गीता अध्याय 9 एवं 10
24. ऋग्वेद 1:164:1
25. ऋग्वेद 4:40:5
26. ऋषयो मन्त्र दृष्टारः, कल्याण वर्ष 73, मई 1999, पृष्ठ 643
27. ऋग्वेद 10:56:7
28. देखिये निरुक्त 6:4
29. निरुक्त 3:17

ऋग्वेद में वे कल्याण और मंगल के द्रष्टा दिखाई देते हैं; इस प्रकार वे तीनों दोषों से ऊपर हैं।

षष्ठ मण्डल के द्रष्टा ऋषि 'भारद्वाज' शब्द के अनेक अर्थ किये गये हैं। 'भृ' धातु से भरत 'विभर्ति लोकान् वा स्वाङ्गम्' और 'वाज' के अर्थ पक्ष, खाद्यपदार्थ, जल, घी आदि हैं। अन्य अर्थ में भर, भरण-पोषण करने वाला तथा द्वाज जिसका दो से जन्म हो, ऐसा भी है। पौराणिक कथाओं के अनुसार भरत द्वारा गोद लिये जाने से अथवा उतथ्य और बृहस्पति दोनों के पुत्र होने से तथा माता द्वारा भरणपोषण किये जाने से 'भरद्वाज' नाम पड़ा। इस मण्डल के विवरण से ये वाणी और ओजस् के द्रष्टा ऋषि हैं, इन दोनों प्रक्रियाओं से सम्बन्धित होने के कारण ही कदाचित् 'भरद्वाज' नाम पड़ा हो।

सप्तम मण्डल के द्रष्टा ऋषि वसिष्ठ हैं। इनके नाम का अर्थ 'वशीनां श्रेष्ठः', निग्रह करने वालों में श्रेष्ठ होता है। इनके नाम का अर्थ 'विशिष्ट' भी माना गया है। ऋग्वेद में इनका विषय योगक्षेम जो 'यूयं पातु स्वस्तिभिः सदानः' आवृत्त ध्रुवपद से अधिकांश सूक्तों में व्याप्त है। शान्ति, कल्याण, दीर्घायुष्य, आधि-व्याधि और मृत्यु से मुक्ति आदि विषयों पर ऋषि के सूक्त हैं। इस प्रकार ये ऊर्जा संरक्षण और जीवनी प्रक्रियाओं के द्रष्टा सिद्ध होते हैं।

अष्टम मण्डल के द्रष्टा ऋषि कण्व हैं, इनके काले होने का संदर्भ मिलता है[30]। इनके नाम की व्युत्पत्ति 'कण्' धातु में वन् प्रत्यय लगकर होती है। कण् धातु छोटा होना, जाना, आँख मूँदना के अर्थ में आती है और इस प्रकार 'कण्व' सूक्ष्मता का द्योतक है। इन ऋषि के ऊपर अश्विद्वय की कृपा की बात अनेक जगह आई है। सब ओर से विचार करने पर ये कर्म के द्रष्टा ऋषि जान पड़ते हैं जिसे धर्मपूर्वक निष्पन्न करना चाहिए ऐसा मत हैः-

माता रूद्राणां दुहिता वसूनां स्वसादित्यानाममृतस्य नाभिः।
प्र नु वोचं चिकितुषे जनाय मा गामनागामदितिं वधिष्ट।।[31]

अर्थात् जो रूद्रों की माता, वसुओ की पुत्री, आदित्यों की बहिन, और अमृत का केन्द्र हैं उस जाती हुयी ऊर्जा को अथवा न आई हुयी ऊर्जा को भी जो दिशाओं में बद्ध नहीं है, नष्ट मत करो, यह मैं मनुष्य को समझाकर

30. ऋग्वेद 1:117:8, "युवं श्यावाय कण्वाय महः क्षोणस्य रुषतीं अदत्तम्" अर्थात् आपने काले कण्व को बड़े घर की सजी हुयी स्त्री प्रदान की।
31. ऋग्वेद 8:101:15

बतलाता हूँ। कालापन या कृष्णपक्ष कर्म से सम्बन्धित होता है, इसे छोटी प्रक्रिया माना गया है तथा धर्मपूर्वक करने से ऊर्जा का क्षरण नहीं होता है, ऐसा मन्तव्य है।

'कल्याण' ने अपने 'वेदकथांक' में अनामित लेख "ऋषि विचार" में ऋषियों और उनके परिवारों का वर्गीकरण और सूची प्रस्तुत की है।[32] सम्भवः यह लेख कल्याण के सम्पादक श्री राधेश्याम खेमका का है। इस लेख में पहले 'ऋषी गतौ' धातु में इण् तथा कित् प्रत्यय लगाकर ऋषि शब्द की व्युत्पत्ति की गयी है और इसके अर्थ के लिये 'ऋषन्ति, अवगच्छन्ति इति ऋषयः' ऐसा विग्रह मानकर ज्ञान सम्पन्न व्यक्ति को इस आग्रह से कि गत्यर्थक 'ऋषी' धातु का 'ज्ञान' अर्थ मानने में 'ये गत्यर्थास्ते ज्ञानार्थाः' निष्पत्ति से ऋषि मान लेना चाहिए ऐसा बताया गया है। किन्तु खेमका जी इस विचार को निष्फल और महत्वहीन मानते हैं। आगे वे 'दृशिर प्रेक्षणे' धातु से 'ऋषि' शब्द की व्युत्पत्ति का आग्रह करते हुये इसका अर्थ 'द्रष्टा' बतलाते हैं, जो उनकी दृष्टि में तो अधिक उपयुक्त हैं ही निरुक्त आदि से भी समर्थित है। हमारा आग्रह यह है कि 'ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः' की व्याख्या से गतिशीलता तो प्रक्रिया का गुण है और प्रक्रिया को जानने वाला ज्ञानी की अपेक्षा द्रष्टा ही अधिक होता है, अतः दोनों व्युत्पत्तियों में कोई विरोध नहीं है।

ऋषियों तथा उनके परिवारों के निर्णय में हमारी दृष्टि वेद मन्त्रों का अर्थ स्पष्ट करने के अभिप्राय से है, उनकी वास्तविकता अवास्तविकता आदि से नहीं है। उपर्युक्त लेख में जो ऋषियों के सात परिवारों का विभाजन दिया गया है वह पौराणिक है तथा ऋग्वेद को आधार मानकर नहीं किया गया है। हम पूर्व में द्वितीय से अष्टम मण्डलों में सात ऋषि परिवारों का वर्णन कर चुके हैं। उपर्युक्त लेख में पुनः सात ऋषि परिवारों का समावेश चार परिवारों- आंगिरस भार्गव, काश्यप और आत्रेय- में कर दिया गया है। आंगिरसों में गौतम तथा भारद्वाजों का अन्तर्भाव है, वैश्वामित्र और जामदग्न्य परिवारों का समावेश भार्गवों में किया गया है, वसिष्ठ परिवार काश्यप के अन्तर्गत तथा आत्रेय परिवार स्वतंत्र माना गया है। इस वर्गीकरण का कोई आधार प्रस्तुत नहीं किया गया है। एकाकी ऋषियों की नामावली अलग दी गयी है। विभिन्न ऋषि-परिवारों के सदस्य भी बताये गये हैं। वैसे यह सूची काफी उपयोगी हैं, किन्तु मन्त्र के अर्थज्ञान में इसका कैसे उपयोग किया जा सके, यह विचारणीय विषय है।

32. श्री राधेश्याम खेमका (सं0) "ऋषि विचार", कल्याण, वर्ष 73, संख्या 1, जनवरी 1999, पृष्ठ 371–375.

देवता–प्रतीक

इसी प्रकार देवता विचार भी उनके वास्तविक होने या न होने, वैदिक धर्म और दर्शन में उनके महत्व आदि के आधार पर नहीं करना है, प्रत्युत देवता के निश्चय से जो मन्त्र की विषयवस्तु का परिज्ञान होता है, जिसके आधार पर ही वेदार्थ निष्पन्न किये जा सकते हैं, पर ही विचार करना है। इस विचार से जहां प्रक्रिया को देखने जानने वाला ऋषि है, वहीं सिद्धान्तरूप से प्रक्रिया को करने वाले देवता हैं। एक प्रक्रिया के भिन्न–भिन्न अंशों को चलाने वाले देवता सहयोगी देवता हो सकते हैं। इसलिये प्रक्रिया का निश्चय करने में देवता का ज्ञान अपेक्षित है, और इस आधार पर ही सम्बन्धित मन्त्र के अर्थ किये जा सकते हैं।

देवता शब्द के निर्वचन में यास्क "देवो दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानो भवतीति वा। यो देवः सा देवता" अर्थात् देव दान देने से 'दा' धातु में, अथवा दीप्त होने से 'दीप्' धातु में अथवा द्योतित होने से 'द्युत्' धातु में अथवा द्युस्थानीय होने से कहलाता है; जो देव है वहीं देवता है, ऐसा बतलाते हैं।[33] सिद्धान्तकौमुदी में 'साऽस्य देवता' सूत्र [34] की वृत्ति में देवता शब्द को दो अर्थों में व्याख्यायित किया गया है– (1) 'त्यज्यमानद्रव्ये उद्देश्य विशेषो देवता' अर्थात् जिसके उद्देश्य से हविर्द्रव्य का त्याग किया जाय उसे देवता कहते हैं; तथा (2) 'मन्त्रस्तुत्या च' अर्थात् मन्त्र से जिसकी स्तुति की जाय वह देवता है। ऋक् सर्वानुक्रमणी की दृष्टि में 'या स्तूयते सा देवता, येन स्तूयते स ऋषिः' अर्थात् जिसकी स्तुति की जाती है वह देवता है और जो स्तुति करता है वह ऋषि है।

दैवत परीक्षा के लिये यास्क कहते हैं कि "यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुंक्ते, तद्दैवतः स मन्त्रो भवति"[35] अर्थात् जिस कामना से जो ऋषि जिस मन्त्र में जिस देवता की स्तुति करते हैं, उस मन्त्र के वे ही देवता माने जाते हैं। इस पर दुर्गाचार्य अपनी टीका में चार प्रकार की स्तुतियों का निर्देश करते हैं:– (1) देवता के नाम में, (2) सहयोगियों के नाम में (3) देवता के कर्म में, तथा (4) देवता के रूप की प्रशंसा में होने वाली स्तुतियां। यास्क के अनुसार ऐसे मन्त्र तीन प्रकार के

33. निरूक्त 7:15
34. सिद्धान्त कौमुद्री 4:2:24
35. निरूक्त 7:10

हैं: (1) परोक्षरूप से सम्बोधित (2) प्रत्यक्ष रूप से सम्बोधित तथा (3) स्वयं को सम्बोधित। इसके अतिरिक्त ऐसे मन्त्र भी हैं जिनमें (1) बिना कामना के स्तुति है, (2) बिना स्तुति के केवल कामना है, (3) शपथ तथा अभिशाप है, (4) किसी विशेष भाव को कहने की इच्छा है, (5) किसी विशेष भाव से होने वाली आशंका है, (6) निन्दा तथा प्रशंसा है, (7) विभिन्न अन्य अभिप्राय हैं। इन प्रसंगों में जिनके देवता निर्दिष्ट नहीं हैं उनकी उपपरीक्षा में यास्क कहते हैं कि "यद्देवतः स यज्ञो वा यज्ञाङ्.गं वा, तद्देवता भवति"[36] अर्थात् यज्ञ या यज्ञांग विशेष के संदर्भ से जो देवता होता है, वहीं देवता होगा। दुर्गाचार्य की विवृत्ति है कि "प्रकरणाद्धि संदिग्ध देवतेषु देवता नियमः" अर्थात् प्रकरण के अनुसार संदिग्ध देवताओं का निर्णय किया जायेगा। विनियोग की दृष्टि से प्रातः सवन के मन्त्र आग्नेय होंगे, माध्यन्दिन सवन के मन्त्र ऐन्द्र होंगे, तथा सायं सवन के मन्त्र आदित्य देवता के होंगे। किन्तु यज्ञ से अतिरिक्त अन्य स्थानों पर मन्त्र का देवता याज्ञिकों के अनुसार 'प्रजापति' होता है तथा नैरुक्तों के अनुसार 'नराशंस'।[37] दुर्गाचार्य के अनुसार ये विष्णु और अग्नि होते हैं। "अपि वा कामदेवता स्यात् प्रायोदेवता वा"[38] अर्थात् विकल्प सूप से उन मन्त्रों में देवताओं की कल्पना कर सकते हैं, अर्थात् देवताओं का समूह हो सकता है। "याज्ञ दैवतो मन्त्रः" अर्थात् मन्त्र याज्ञ दैवत, यज्ञ के अनुसार देवता का निराकरण करने वाले होते हैं।

किन्तु, अदेवता भी देवता की भांति स्तुत्य है; घोड़े से लेकर औषधि पर्यन्त, तब देवताओं का विषय अनैमित्तिक नहीं मानना चाहिए, क्योंकि देवता की श्रेष्ठता के कारण एक आत्मा की अनेक प्रकार से स्तुति की जाती है, अन्य देवता एक आत्मा के प्रत्यंग हैं अथवा सत्वों की प्रकृति के आधिक्य या सार्वभौमता के अनुसार स्तुति करते हैं। वे एक दूसरे से उत्पन्न हैं, एक दूसरे की प्रकृतियां है, वे कर्म से उत्पन्न हैं, वे आत्मा से उत्पन्न हैं। "आत्मैवैषां रथोभवति, आत्मा अश्वः आत्माऽऽयुधमात्मेषवः आत्मा सर्वं देवस्य"[39] अर्थात् देवों के रथ घोड़ा, शस्त्र-वाण, समस्त उपकरण उन्हीं के आत्मस्वरूप होते हैं।

36. निरूक्त 7:4
37. निरूक्त 7:4
38. निरूक्त 7:4
39. निरूक्त 7:4

यास्क की दृष्टि में केवल तीन ही देवता हैं, "तिस्र एव देवता इति नैरुक्ताः। अग्निः पृथिवीस्थानः। वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्ष स्थानः। सूर्यो द्युस्थानः।"[40] अर्थात् पृथिवीस्थान वाला अग्नि, अन्तरिक्ष स्थान वाला वायु या इन्द्र, द्युस्थान वाला सूर्य। "तासां महाभाग्यादेकैकस्या अपि बहूनि नामधेयानि भवन्ति। अपिवा कर्मपृथक्त्वात्"[41] इनमें से प्रत्येक अपनी महानता (विभूतियों) के कारण अथवा कर्मपृथकता के कारण बहुत से नाम प्राप्त करता है। उदाहरण स्वरूप यास्क उस एक ही पुरोहित को उसके कृत्य के अनुसार होता, उद्‌गाता ब्रह्मा या अध्वर्यु कहे जाने की बात बताते हैं। वे यह भी आशंका करते हैं कि वे देवता पृथक् भी हो सकते हैं क्योंकि उनकी स्तुतियां और अभिधान पृथक् हैं। पृथकता के विषय में बहुत होकर भी कर्मों का विभाजन करके अलग-अलग काम कर सकते हैं। ऐसी अवस्था में संस्थान की एकता तथा संभोग की एकता पर विचार करना चाहिए, जैसे पृथिवी में मनुष्यों, पशुओं और देवों की स्थान एकता है और जैसे पृथिवी से दूर बादलों, वायु तथा सूर्य द्वारा सम्मिलित भोग करना और अग्नि के द्वारा पृथ्वी से इतर लोक का भोग। यह इसी प्रकार है जैसे मनुष्यों द्वारा मिलकर राज्य का भोग करना है।[42] स्पष्टतः प्रकारान्तर से यह विवरण अस्यवामीय सूक्त में दी हुयी तीन प्रक्रियाओं के संदर्भ से एक ही सूर्य को आदित्य, विद्युत और अग्नि का नाम देने के अनुकूल है तथा प्रत्येक प्रक्रिया में विनियुक्त पृथक कार्यों के लिये पृथक देवताओं का समावेश होने के भी अनुकूल है, यद्यपि यास्क प्रक्रियाओं के संदर्भ से उदासीन है, फिर भी हमारा आग्रह है कि 'स्थान' की अपेक्षा 'प्रक्रिया' के उद्‌घाटन करने तथा उस आधार पर 'देवता' का निर्णय निश्चित करने से देवताओं की प्रतीकता के रहस्य का उद्‌घाटन होगा तथा प्रक्रिया को जानकर मन्त्र के वेदार्थ की निश्चितता बनेगी।

आगे प्रकारान्तर से ही यास्क प्रतीकात्मकता की अन्य स्थितियों मानवीकरण और रूपकत्व के विषय में विचार करते हैं।[43] इसे वे देवताओं के आकार का चिन्तन बतलाते हैं। देवता पुरुष के समान हैं क्योंकि इनकी स्तुतियां और अभिधान चेतन प्राणियों की स्तुतियों तथा अभिधानों के समान हैं; इसके अतिरिक्त पुरूष के समान अंगों के सम्बन्ध से पुरुष द्वारा प्रयुक्त द्रव्यों के संयोग से, पुरुष के समान कर्मों के संबंध से स्तुति की जाती है। देवता पुरूष के समान नहीं हैं, जैसे प्राकृत अग्नि, वायु, सूर्य,

40. निरूक्त 7:5
41. निरूक्त 7:5
42. निरूक्त 7:5
43. निरूक्त 7:6–7

पृथिवी, चन्द्रमा आदि। तथापि रूपकत्व के साथ पुरूष जैसी उनकी स्तुतियां होती है। देवता उभयविध पुरूष के समान और पुरूष के असमान हो सकते हैं, अथवा वास्तव में पुरूष के समान होकर भी कर्म के अनुसार उनका कोई दूसरा रूप हो सकता है।

इस प्रकार देवताओं का, जो वास्तव में प्राकृत शक्तियां हैं और प्रक्रियाओं से सम्बन्धित हैं, हम प्रतीकों, रूपकों तथा मानवीकरण के आधार पर निश्चय कर सकते हैं, जिससे प्रक्रिया का भी निश्चय हो सकता है, और इस प्रकार मन्त्र में दिये हुये परोक्ष तथा रहस्यमय अर्थ का उद्घाटन किया जा सकता है।

छन्द–प्रतीक

'छन्द' शब्द की व्युत्पत्ति के लिये 'छद्' धातु ढंकना या फेंकना के अर्थ में, अथवा 'छन्द' धातु प्रसन्न करना प्रसन्न होना या प्रवृत्त करना के अर्थ में अथवा 'चद्' धातु मांगना के अर्थ में, अथवा 'चत्' धातु मांगना या जाना के अर्थ में, अथवा 'चन्द' धातु चमकना या प्रसन्न होना के अर्थ में, प्रयुक्त की जा सकती है। यास्क के अनुसार "छन्दांसि छादनात्" अर्थात् छन्द आच्छादन से कहलाते हैं।[44] दैवतब्राह्मण में छन्द का निर्वचन 'छद्' धातु से "छन्दाँसि छन्दयतीति वा" प्राप्त होता है।[45] ऐसा ही तैत्तरीय संहिता में भी हैं, यथा– "ते छन्दोभिरात्मानं छादयित्वोपायस्तच्छंदसा छन्दस्त्वम्"।[46] शतपथ ब्राह्मण में "अन्न वाव पशवः तान्यस्मा अच्छदयंस्तानि अच्छदयंस्तस्माच्छंदासि" से 'सूर्यरश्मि' अर्थ में छन्द पद का प्रयोग प्राप्त होता है।[47] पुराणों में भी प्रसिद्ध सात अश्व–रश्मियां ही छन्द पद से संकेतित हैं, यथा– "छन्दोभिरश्वरूपै"[48], "छन्दोरूपैश्च तैरश्वैः"[49] "छन्दोभिर्वा–जिनरूपैस्तु"[50] इत्यादि। गीता [51] में "छन्दांसि यस्य पर्णानि" से भी पिंगलशास्त्र का संदर्भ नहीं दिखता प्रत्युत "ऊर्ध्वमूलमधः शाखमश्वत्थं" केन्द्रीय स्नायु मण्डल का संदर्भ देता है।[52] यही संदर्भ कठोपनिषद्[53] में भी

44. निरूक्त 7:12
45. दैवत ब्राह्मण 1:3
46. तैतरीयसंहिता 5:6:6:1
47. शतपथ ब्राम्हण 8:5:2:1
48. वायु पुराण 52:45
49. मत्स्य पुराण 125:42
50. मत्स्यपुराण 124:4
51. गीता 15:1
52. देखिये गौरी शंकर गुप्त 'स्नायुमण्डल', कल्याण, भाग 34 संख्या 6, 1960, पृष्ठ 994–999; पृष्ठ 999 पर 'अश्वत्थ'।
53. कठोपनिषद् 2:3:1; देखो ऋग्वेद 1:24:7

उपलब्ध है तथा भेळसंहिता[54] में भी है। केन्द्रीय स्नायुमण्डल में कायसंस्थान स्नायुओं और आन्तरिक अंगों के रूप में स्थित होता है तथा स्नायुसंक्रिया ऊर्जा द्वारा प्रणीत होती है। आधुनिक कायसंक्रियाविज्ञान तथा स्नायुविज्ञान में ये दोनों सिद्धान्त मान्य हैं किन्तु अधिक बल कायसंस्थान पर रहता है; इसके विपरीत भारतीय शास्त्रों में ऊर्जा पर अधिक बल है तथा कायसंस्थान पर बहुत कम है। इन्हीं संदर्भों में छान्दोमिक सूक्त[55] सूर्य अग्नि से सम्बन्धित माना जाता है और ये दोनों ऊर्जा के स्रोत हैं। छान्दोग्य उपनिषद् में अपने नाम में भी तथा इस परिभाषा में भी कि "यदेभिरच्छादयंस्तच्छन्दसां छन्दस्त्वम्"[56] छादन या आवरण का अर्थ स्नायुसंस्थान और ऊर्जा संक्रिया दोनों से है, क्योंकि ऊर्जा स्नायुओं में ही आवृत है। इस उपनिषद् में संक्षेप में हृदय (मस्तिष्क) से निकलने वाली नाडियो का वर्णन तो मिलता ही है[57], तथापि पूरी उपनिषद में आधिभौतिक पृथिवी-अग्नि-अन्न-इन्द्रिय-ऋक्, आधिदैविक अन्तरिक्ष-वायु-जल-मन-यजुः, तथा आध्यात्मिक द्यु-सूर्य-रश्मि-आत्मा-साम आदि ऊर्जाओं और संस्थानों का वर्णन तथा उनकी ही प्रक्रिया मिलती है।

वेद में भी इस आशय के मन्त्र प्राप्त हैं जो ऊर्जा के वहन में नाडियों के योगदान को बतलाते हैं, यथा -

(सूर्यस्य चक्षू) सूर्य की ऊर्जा (रजसैत्यावृतं) क्रिया शक्ति से आवृत होकर चलती है जिसे (उत्तानायां दशयुक्ता वहन्ति)[58] ऊपर की ओर फैली हुई दसनाडियाँ वहन करती हैं, इस प्रकार यह (चक्रमजरं) न कमजोर होने वाला क्रियाचक्र (सनेमि वि वावृत) अपनी नेमि सहित विशिष्टतः घूमता रहता है (यस्मिन) जिसमें (विश्वाभुवनानि) सभी लोक (आ तस्थुः) आकर ठहरे हैं।[59]

काय संस्थान की दृष्टि से भी वेद का ज्ञान आधुनिक संदर्भों में भी

54. भेळ संहिता में– "ऊर्ध्वमूलमधः शाखं त्रिस्थूणं पत्रचदैवतम्।
क्षेत्रज्ञाधिष्ठितं विद्वान् यो वै वेद स वेद वित्।।

55. वाजसनेयी संहिता 33:92 .

56. छान्दोग्योपनिषद् 1:4:2

57. छान्दोग्योपनिषद् 8:6

58. तुलना कीजियेः–

तेन मूलेन महता महामूला मतादश, ओजोवहाः शरीरे अस्मिन विधम्यन्ते समन्ततः।
येनौजसा वर्तयन्ति प्रीणिनाः सर्वदेहिनः यदृते सर्वभूतानां जीवितं नावतिष्ठते।।

– चरक0 सूत्र0 30:8:9

अर्थात् उस हृदयमूल के कारण दस नाडियां महामूलवाली कही जाती हैं, जो इस शरीर में ओजस् को ले जाती हैं तथा उसे समानरूप से दौड़ाती हैं, जिस ओज से पोषित होकर सभी प्राणी अपने जीवन का निर्वाह करते हैं और जिसके बिना सभी प्राणियों में जीवन नहीं रहता।

59. ऋग्वेद 1:164:14

स्तुत्य है, यथा –

(द्वा सुपर्णा) दो पक्षी (सयुजा सखाया) मित्ररूप से संयुक्त होकर (समानं वृक्षं) समान वृक्ष में (परिषस्वजाते) साथ-साथ उत्पन्न होते हैं, (तयोः) उन दो में से (अन्यः) एक (स्वादु पिप्पलं) स्वादिष्ट पीपल के फल अर्थात् अश्वत्थवृक्ष या केन्द्रीय स्नायुमण्डल के परिणामरूप संक्रिया का (अत्ति) भोग करता है (अन्यः अनश्नन्) दूसरा न खाते हुये (अभिचाकशीति) उसको देखता है।[60]

आधुनिक स्नायुविज्ञान द्वारा यह सिद्ध है कि मस्तिष्क का बांया गोलार्ध संक्रिया में सक्रिय रहता है और दाहिना गोलार्ध उसके कार्य का निरीक्षण और नियंत्रण करता रहता है।

छन्दों में भी मूल छन्द 'गायत्री' माना जाता है और अन्य छन्द इसी की विकृति हैं।[61] त्रिपदा गायत्री के प्रत्येक पद में आठ वर्ण होते हैं, अनुष्टुप आठ वर्णों के पदवाला चतुष्पद छन्द है। पंक्ति छंद में ऐसे ही पांच पद होते हैं। गायत्री छन्द के कुल चौबीस वर्णों को बारह-बारह में तोड़कर जगती छन्द के दो पद तैयार हो जाते हैं।[62] जबकि जगती छन्द चतुष्पद है अर्थात् अड़तालीस वर्णों वाला है। उष्णिक् छन्द में दो पद अनुष्टप जैसे और एक पद जगती जैसा होता है, यह त्रिपाद है। बृहती छन्द में तीन पद अनुष्टुप और एक पद जगती जैसा होता है। त्रिष्टुप छन्द चतुष्पद है किन्तु इसके प्रत्येक पद में ग्यारह वर्ण होते हैं। सम्भवतः त्रिष्टुप का पद गायत्री के पद में तीन वर्णों को अधिक जोड़ कर बनाया गया इस कारण ही इसका नाम त्रिष्टुप पड़ा हो। ये सभी सातों छन्द प्रतीक रूप से कार्य करते हैं।

यास्क[63] 'गायत्री' शब्द की व्युत्पत्ति प्रशंसा करना अर्थ वाली 'गै' धातु से और 'त्रि' के साथ 'गम्' धातु में आद्यन्त विपर्यय द्वारा करते हैं और उसका अर्थ 'त्रिगमना' बतलाते हैं; त्रिगमना अर्थात् तीनों लोकों में

60. ऋग्वेद 1:164:21

61. "गायत्री ने गर्भ धारण किया उसने अनुष्टुभ को जन्म दिया, अनुष्टुभ ने गर्भ धारण किया उसने पंक्ति को जन्म दिया, जगती ने गर्भ धारण किया उसने अतिछन्दस् को जन्म दिया।" – ऐतरेय ब्राम्हण 4:28

62. इस प्रकार दो गायत्री मन्त्रों को तोड़कर एक जगती छन्द बनाया जा सकता है, जैसे उदाहरण स्वरूप हम ऋग्वेद 1:1:5–6 के दो गायत्री मन्त्रों को इस प्रकार तोड़ रहे हैं:–
अग्निर्होता कविक्रतुः सत्यश्चित्र, श्रवस्तमः देवो देवेभिरा गमत्।
यदङ्.ग दाशुषे त्वमग्ने भद्रं, करिष्यसि तवेत् तत् सत्यमङ्.िगरः।।

63. निरुक्त 7:12

जाने वाली। छान्दोग्योपनिषद्[64] के अनुसार 'गायत्र' प्राणों में सिला हुआ है। प्राण पुरुषशरीर, हृदय (मस्तिष्क) और वाक् में प्रतिष्ठित हैं और इसके कारण ही पुरुष महान् है।[65] इस सम्बन्ध में ऐसा लगता है कि ज्ञानवाही 'जाती हुयी ऊर्जा'को जो 'गायत्री' कहा गया, वही प्रारम्भ में 'छन्द' का आशय था, किन्तु बाद में इस प्रतीक-अर्थ को भूल गये और गायत्री से विकसित पद्यों को ही छन्द कहने लगे।

यास्क[66] ने उष्णिक् को उत्स्नाता कहा है जिसका अर्थ ऊर्ध्व में स्नान करने वाला होता है। इस सम्बन्ध में यह महत्वपूर्ण है कि स्नानार्थक 'स्ना' धातु से ही 'स्नायु' शब्द (स्ना + उण्) बना है। अथवा उनके अनुसार यह चमकना अर्थ वाली 'स्निह्' धातु से भी बना हो सकता है; तब तो यह ऊर्जा का ही रूप होगा। अथवा उपमा के रूप में इसे उष्णीष से सम्पन्न कह सकते हैं; उष्णीष लपेटना या वस्त्र धारण करना अर्थ वाली 'स्नैः' धातु से व्युत्पन्न है, तब भी शीर्ष में धारण करने या लपेटने के अर्थ में पुनः इसका ऊर्जा रूप ही बनता है।

यास्क अनुष्टुप को पीछे स्तुति करने वाला बतलाते हैं, क्योंकि 'स्तुभ' के अर्थ वे स्तुति करना बतलाते हैं, यथा- "गायत्रीमेव त्रिपदां सतीं चतुर्थेन पादेनानुष्टोभति"[67], अर्थात् यह गायत्री का जिसमें केवल तीन पद होते हैं, स्तुति के अपने चतुर्थ पदके साथ अनुसरण करता है।

'बृहती परिबर्हणात्' अर्थात् बृहती इसलिये कहा जाता है क्योंकि यह चारो ओर बढ़ता है, प्रधान होता है या चारो ओर बिछ जाता है। 'बर्ह्' धातु से ही 'बर्हि' शब्द (बर्ह् + इन्) बना है जिसके पुल्लिंग में 'अग्नि' और नपुंसक लिंग में 'कुश' अर्थ होते हैं। यज्ञ में होता अग्नि को जो कुशों पर बैठने[68] का संदर्भ वेद में है उस सबसे पुनः ऊर्जा का ही मन्तव्य प्रतीत होता है।

पंक्ति पांच पदों का छन्द है, यह अन्तरिक्ष स्थानीय माना गया है। 'पंक्ति' शब्द प्रकट करना अर्थवाली पञ्च धातु में क्तिन् प्रत्यय लगकर व्युत्पन्न है; इसके अर्थ पांच का समूह, श्रेणी, पृथिवी, कीर्ति या पाचन

64. छान्दोग्योपनिषद 2:11:1
65. छान्दोग्योपनिषद् 3:12:1–6
66. निरुक्त 7:12
67. दैवत ब्राम्हण 3
68. ऋग्वेद 10:188:1, 110:5,8

क्रिया इत्यादि हैं।[69] तब यह पांच पादों वाली, पांच देवताओं वाली, पृथिवी, कीर्ति या पाचन क्रिया के अर्थ में भेळसंहिता के पूर्व उल्लिखित श्लोक[70] के अनुरूप होकर केन्द्रीय स्नायुमण्डल से सम्बन्धित हो जाती है, और अन्तरिक्ष स्थानीय होने से पाचन क्रिया से भी सम्बन्धित होती है।

'त्रिष्टुप' शब्द का उत्तर पद स्तुति करना अर्थ वाली 'स्तुभ्' धातु से बना है; परन्तु 'त्रि' का क्या अर्थ है? इसका अर्थ है तीव्रतम या तीर्णतम अर्थात् सबसे अधिक पार करने वाला। अथवा यह त्रिवृत् वज्र है, अथवा उसकी स्तुति करता है। 'तीन बार स्तुति करना' त्रिष्टुप् की विशेषता है।[71] इस व्याख्या में भी ऊर्जा की छाप स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है।

जगती छन्द सबसे अधिक गया हुआ है, या इसकी गति जलचर की है।[72] 'जल्गल्यमानोऽसृजत्'[73] अर्थात् गले में तेज होता हुआ या गले को ढांकता हुआ सृजन करता है। यह छन्द धुलोकस्थानीय कहा गया है। सब प्रकार से विचार करने पर 'गततमम्' या 'जलचरगति' या 'जल्गल्यमानः' सभी ओजस् या ऊर्जा के सम्बन्ध का मन्तव्य ही प्रदर्शित कर रहे हैं।

इस प्रकार गायत्री और अनुष्टुप छन्द पृथिवीस्थानीय है, त्रिष्टुप् और पंक्ति छन्द अन्तरिक्षस्थानीय हैं, तथा जगती और अतिछन्दस् द्युलोक-स्थानीय हैं।[74] प्रक्रियायें पृथ्वी स्थान से अन्तरिक्षस्थान तक, अन्तरिक्षस्थान से द्युस्थान तक, तथा द्युस्थान से पृथिवीस्थान तक चलती रहती हैं, चाहे वे ऊर्जा से सम्बन्धित हों, चाहे जल से सम्बन्धित हों, और चाहे वे धारणशक्ति से सम्बन्धित हों। छन्द अपने ऊर्जा और स्नायुमण्डल तथा सम्बन्धित अंग-उपांगों के संदर्भ से प्रक्रियाओं से जुड़ते हैं। यही उनकी प्रतीकात्मकता है और यही वेदों के रहस्य और अर्थ उद्घाटन की दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

यज्ञ-प्रतीक

सामान्य रूप से यह कहा जाता है कि 'यज्ञ' शब्द 'यज्' धातु से जिसके अर्थ 'यज्ञ करना' है बना है किन्तु यज् धातु इस अर्थ में यास्क

69. संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ, पृष्ठ 639
70. देखें टिप्पणी 54
71. निरूक्त 7:12
72. निरूक्त 7:13
73. दैवत ब्राम्हण 3
74. निरूक्त 7:8-10

के निरूक्त में स्पष्टतः प्राप्त नहीं होती। निघण्टु[75] पर टिप्पणी करता हुआ यास्क लिखता है:-

यज्ञनामान्युत्तराणि पञ्चदश। यज्ञः कस्मात्। प्रख्यातं यजति कर्मेति नैरूक्ताः। याच्त्रो भवतीति वा। यजुरून्नो भवतीति वा। बहुकृष्णाजिन इत्यौपमन्यवः। यजूंष्येन भयन्तीति वा।[76]

अर्थात् निम्न पन्द्रह (शब्द) यज्ञ के पर्यायवाची हैं। यज्ञ किस (धातु) से व्युत्पन्न हैं ? नैरूक्तों के अनुसार यह पूजा का सुविख्यात कर्म है। या यह (देवताओं के प्रति) याचना का कार्य है या यजुषमन्त्र से इसमें जल छिड़का जाता है। औपमन्यव का कथन है कि इसमें काले मृगों के चर्म बहुत संख्या में होते हैं। या यह यजुष के मन्त्रों से प्रणीत होता है।

यज्ञ करना के दूसरे पर्याय 'हु' से भी यास्क ने कहीं भी स्पष्टतः होम करना या आहुति डालना अर्थ नहीं बताये हैं। जहां उसने स्पष्ट अर्थ बताये हैं, वहां 'हु' धातु देने[77] या आह्वान करने[78] के लिये कही गयी है। यज् धातु अधिक से अधिक अर्चन-पूजन के हेतु से मानी जा सकती है।

यज देव-पूजा-संगति-करण-दानेषु, अर्थात् देव पूजा, संगति करण एवं दान के अर्थ में पठित 'यज्' धातु से, यज्ञयाचयत विच्छप्रच्छरक्षो नंङ्. (३:३:९०) इस पाणिनीय सूत्र द्वारा 'नङ्.' आदि देवताओं के पूजन, ऋषि-महर्षि एवं सज्जन पुरूषों के सत्संग और सुवर्ण-रजत आदि उत्तम द्रव्यों के प्रदान द्वारा सम्पादित होता है।[79]

डा० राधाकुमुद मुखर्जी[80] यज्ञ को अर्चन-पूजन मानते हुये जिन शब्दों से वह सब किया जाता है उन्हें यजुष् बताते हैं और यजुर्वेद को चारों वेदों में इस कारण ही महत्वपूर्ण कहते हैं। यजमान पूजक यज्ञ को मन्त्रों द्वारा पोषित मनन से पूर्ण करता है। इसमें मन्त्रों द्वारा यजत देवता का आह्वान किया जाता है और आसक्तिपूर्ण वस्तु की बलि देकर आहुति होता अग्नि में डाली जाती है जो वेदी में इस प्रयोजन हेतु ही जाज्वल्यमान होते हैं।

'यज्ञ' की एक अन्य व्युत्पत्ति देते हुये मुखर्जी महोदय उसे 'य+ज+अस्'

75. निघण्टु 3:17
76. निरूक्त 3:19
77. निरूक्त 10:12
78. निरूक्त 8:8
79. वेदों में यज्ञ 'कल्याण' वर्ष 73 संख्या 1, 1999, पृष्ठ 340
80. डा० राधा कुमुद मुखर्जी 'ऐन्शियेन्ट इण्डियन एजूकेशन' दिल्लीः मोतीलाल बनारसी दास, 1974, पृष्ठ 7-16

से स्पष्ट करते हैं। य=संयत्, अन्तस्थ अर्थात् अन्तर्निहित या संनिहित, जन्=जन्म, अभिव्यक्ति अर्थात् जो कुछ स्पष्ट किया गया; और अस्=वृद्धि स्वयं अर्थात् अभिव्यक्त अवस्था। इस व्युत्पत्ति से वे रचना के वैदिक दर्शन का प्रतिपादन करते हैं और उसे प्राण, प्रकृति और प्रक्रिया द्वारा परिभाषित करते हुये जैविक विकास की प्रक्रिया द्वारा जीवन की रचनात्मक वृद्धि पर प्रकाश डालते है; "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते, येन जातानि जीवन्ति, यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति"।

एकाक्षर शब्दों के आधार पर यज्ञ की एक और व्युत्पत्ति 'या' धातु तथा 'ज्ञा' धातु द्वारा हो सकती है; यहां 'या' धातु जाना अर्थ में 'क' प्रत्यय से 'य' तथा 'ज्ञा' धातु जानने के अर्थ में 'क' प्रत्यय से 'ज्ञ' बनकर य+ज्ञ=यज्ञ अर्थात् जानने की प्रक्रिया होता है। "यज्ञेन वाचः पदवीयमायन् तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम्" अर्थात् ज्ञान की प्रक्रिया द्वारा प्रतिष्ठा को प्राप्त वाणी ने ऋषियों में प्रविष्ट होकर आश्रय लिया।[81] यदि इसे 'जन्' धातु से व्युत्पन्न माना जाये तो यज्ञ का अर्थ रचना या उत्पाद की प्रक्रिया हो जाता है। वेदों में यज्ञ के जो अनेक रूप प्रकाश में आयें हैं उनसे 'यज्ञ' ज्ञान या रचना या उत्पादन की प्रक्रिया के रूप में ही परिभाषित होता है। जो लौकिक व्यवहार के होम-यज्ञ को प्रतीक मानकर प्राकृतिक प्रक्रियाओं को स्पष्ट किया गया है वह उस काल में अवधारणा की अपनी अनोखी स्थिति है। मुखर्जी महोदय यह मानते हैं कि वैदिक विचारधारा यज्ञ को रचना और उसकी प्रक्रिया जैसी वह यज्ञ के द्वारा जानी जाती है, का प्रतीक या प्रतिनिधित्व मानती है।[82]

होम की विधि अत्यन्त सामान्य प्रतीक है और यह अनेक प्राकृतिक और वैज्ञानिक प्रक्रियाओं को समझाने के लिये प्रयुक्त किया गया है। इसका कारण यह रहा होगा कि होम सर्वमान्य और सर्वज्ञात था। भारत में बीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक गांवों में दियासलाई की अनुपलब्धता के कारण अग्नि को घर-घर में सुरक्षित रखा जाता था और यह सब जैसे परम्परागत था। प्राचीनकाल में भी अग्नि को घर में सुरक्षित रखने के प्रमाण मिलते हैं। इस परम्परा में ही धीरे-धीरे अग्नि को देवरूप मिला और उसे भोजनस्वरूप समिधा प्राप्त करायी गयी और उसके माध्यम से पितरों पुनः देवों को हवि प्रदान की जाने लगी। नित्यक्रिया के रूप में इसने यज्ञ का रूप धारण किया और धार्मिक आरोपण के रूप में यज्ञ अर्चन-पूजन

81. ऋग्वेद 10:71:3
82. टिप्पणी 80 में उल्लिखित पुस्तक पृष्ठ 7

का माध्यम बन गया। इस प्रकार की दैनिक क्रिया को अग्निहोत्र नाम दिया गया है।

माता-पिता का सन्तान से और सन्तान का माता-पिता से भावनात्मक सम्बन्ध होता है और विशेषतया यह अधिक गूढ़ हो जाता है जब माता-पिता की मृत्यु हो जाती है। मनुष्य के लगभग सभी समाजों में मृतकों और पितरों को भोजनादि सुविधाजन्य पदार्थ अर्पण करने की रिवाज किसी न किसी रूप में रही है। यज्ञ के माध्यम से पितरों को मात्र बलिभाग ही अर्पित नहीं किया जाता अपितु स्वयं को भी उनके अर्पण के लिये 'स्वधा' का उच्चारण किया जाता है। यह भावना "आत्मा वै पुत्रो" या "रेतोधा पुत्र उन्नयति नरदेव यमक्षयात्[83] अर्थात् गर्भाधान करने वाला पिता ही पुत्र रूप में उत्पन्न होता है और यमलोक से पिता का उद्धार करता है, के अनुरूप है। इस प्रकार अपने पितरों के प्रति श्रद्धा और अभिमान का प्रदर्शन नित्य पितृ-यज्ञ द्वारा किये जाने का विधान है। दूसरे, अति प्राचीन पितर देवरूप माने जाते हैं; इनके साथ ही प्राकृतिक शक्तियां भी देवरूप मानी गयी हैं। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड तक अपनी आत्मा को विस्तृत करने की महत्वाकांक्षा ने एक ऐसे दर्शन को जन्म दिया जिसने आत्मा की सत्ता में सबकुछ समेट लिया और इसकी अभिव्यक्ति देव-यज्ञ में 'स्वाहा' अर्थात् स्वयं की अभिव्यक्ति के उच्चारण द्वारा नित्य प्रति सुनिश्चित की गयी। सम्पूर्णता की एक अन्य अभिव्यक्ति ब्रह्म-यज्ञ में प्राप्त होती है। इसी प्रकार संसार के भौतिक पदार्थों से अभिव्यक्ति के हेतु से भूत-यज्ञ तथा सम्पूर्ण मनुष्यों और पृथिवी से अभिव्यक्ति के हेतु से नृ-यज्ञ के मन्तव्य दैनिक पञ्चमहायज्ञों द्वारा पूर्ण किये जाते रहे हैं।

विषय और परिस्थिति के अनुरूप यज्ञ के अनेक रूप दिखाई देते हैं। ऋग्वेद[84] ऋषियों के यज्ञ को स्तुति द्वारा और मनुष्यों के यज्ञ को बलि द्वारा किया जाना बतलाता है; अन्यत्र[85] वह ज्ञान की प्राप्ति के लिये ऋषियों द्वारा यज्ञ का सन्दर्भ देता है। गीता[86] में द्रव्ययज्ञ, तपोयज्ञ, योगयज्ञ, स्वाध्याययज्ञ, ज्ञानयज्ञ तथा अनेक अन्य प्रकार के यज्ञों का वर्णन किया गया है और समस्त कर्मों को यज्ञ जानकर क्रियाशील व्यक्ति जो आचरण करता है वह उसके सब कर्मों को विलीन करते हुये उसे मुक्त कर देता

83. महाभारत आदिपर्व 95:31
84. ऋग्वेद 1:84:2
85. ऋग्वेद 1:18:7
86. गीता 4:23-33

है क्योंकि सभी कर्म अन्ततोगत्वा ज्ञान में ही समाप्त होते हैं। छान्दोग्योपनिषद्[87] में जो पांच यज्ञ वर्णित किये गये हैं वे प्राकृतिक प्रक्रियाओं के ही रूपक हैं; इनसे सोम की उत्पत्ति, वर्षा, अन्न, पुरूष-शुक्र और गर्भ उत्पन्न होने की प्रक्रिया समझाई गयी है और इस प्रकार यज्ञ उत्पादन की प्राकृतिक प्रक्रिया के रूपक सिद्ध होते हैं।

वैदिक यज्ञ असंख्य हैं, परन्तु यज्ञ मुख्यतः पांच प्रकार के हैं- अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य, पशुयाग और सोमयाग। इनके अवान्तर भेद अनेक हैं। प्रथमतः पाकयज्ञ, हविर्यज्ञ और सोम संस्थाओं का विभाग करते हुये प्रत्येक के अन्तर्गत पुनः सात-सात भेदों को उल्लिखित करके इक्कीस प्रकार के यागों का वर्णन है। इनको विस्तृत रूप से देखने और विचार करने के उपरान्त यह स्पष्ट होता है कि पुरूष और लोक दोनों संदर्भो से यज्ञ की क्रियाप्रणाली का महत्व निर्धारित होता है। पुरूष के संदर्भ से शरीर के भीतर चलने वाली जीवन-प्रक्रियाओं को सम्यक् रूप से नियंत्रित करते हुये तथा उन्हें सुचारू ढंग से चलाते हुये दुख व्याधि, जरा और मृत्यु से विमुक्त रखने का कार्य सुनिश्चित किया जा सकता है। आयुर्वैदिक पत्रचकर्म तथा अनेक चिकित्सा विधियां इसके प्रतीक हैं। सुश्रुत[88] कुष्ठरोग के उपचार में सोमलताओं के प्रयोग के एक ऐसे ही रहस्यमय रूपक का वर्णन करते हैं। इसमें अग्निष्टोम यज्ञ के साथ पंच, पत्र्चकर्मो के करने का विधान तथा सोमलता के सेवन की कुटीविधि का वर्णन है। ऐसे ही किसी यज्ञानुष्ठान के द्वारा संतृप्त ऋषि कहते हैं:-

अपाम सोमममृता अभूमागन्म ज्योतिरविदाम देवान्।
किं नूनमस्मान् कृणवदरातिः किमु धूर्तिरमृत मर्त्यस्य।।[89]

अर्थात् मैंने सोमपान किया, अमृत हो गया, स्वर्गलोक में आया, देवताओं को जान लिया। अब शत्रु मेरा क्या करेंगे। और मुझ अमरलोक को प्राप्त व्यक्ति के लिये जरा क्या कर सकती है?

लोक के संदर्भ में यज्ञ-प्रक्रियायें औषध निर्माण, पर्यावरण संरक्षण तथा अनेक प्रकार की तकनीकियों के प्रयोग से दिखते है। वस्तुतः वैदिक

87. छान्दोग्योपनिषद् 5:4-8
88. सुश्रुत० चिकित्सा० अध्याय 29
89. ऋग्वेद 8:48:3

विज्ञान की विधि और तकनीकों को जो यज्ञों अर्थात् उत्पादन की प्रक्रिया में निहित थी हम भूल चुके हैं और धार्मिकता का आरोपण हो जाने से वे मात्र रीति बनकर रह गयी हैं। तथापि इन दोनों ही संदर्भों से पाकयज्ञ संस्था अग्निचयन की विधि स्पष्अ होती है जिसमें अनुकूल अग्नि का समस्यानुसार, समय और परिस्थिति के अनुसार सम्यक् रूप से स्थापना करते हुये सु-परिपाक का निश्चय करना है। हविर्यज्ञ संस्था में हविद्रव्य का चयन करना जिससे सम्यक् रूप से हवि की स्थापना उसकी शुद्ध क्रियाविधि के परिप्रेक्ष्य में करनी रहती है। सोमसंस्था में सोमरस (ओजस्) की सम्यक् स्थापना और संरक्षण की बात है। द्रव्य के परिपाक से जो रस-युक्त सोम प्राप्त होता है वह शुद्ध और सुचारू प्राप्त हो सके इसकी व्यवस्था करना इस भाग के अन्तर्गत निहित है। इन तीनों स्थानों पर सही नियंत्रण और सम्यक स्थापना से ही सही उत्पाद प्राप्त हो सकता है। इन संस्थाओं का विस्तार करके विधि और तकनीक की पूर्णता की गयी है। किन्तु इस विषय पर विस्तृत शोध की आवश्यकता है तभी यज्ञ की सम्पूर्ण प्रक्रियाओं पर वैज्ञानिक रूप से प्रकाश डाला जा सकता है। यह एक अलग कार्य है। हम यहां वेद के संदर्भ से यज्ञ की प्रतीकात्मकता पर विचार कर रहे हैं। इस सम्बन्ध में इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि यज्ञ के संदर्भों को उनके प्रतीकों का निश्चय करना वेदार्थ के हेतु से उपयोगी होगा।[९०]

विनियोग-प्रतीक

मन्त्र के विशिष्ट उद्देश्य या उपयोग को विनियोग कहते हैं। मन्त्र में अर्थान्तर या विषयान्तर होने पर भी विनियोग के आधार पर उस मन्त्र को विनियुक्त करते हुये वेदार्थ किया जा सकता है। यास्क ने इसे प्रमुख देवताओं के विभाग और सहचर रूप से वर्णित किया है।[९१] उनके अनुसार अग्नि के प्राप्य भाग पृथिवीलोक, प्रातः सवन, बसन्त ऋतु, गायत्री छन्द, त्रिवृत स्तोम, रथन्तर साम तथा प्रथम स्थान में परिगणित देवता समूह, स्त्रियां अग्नायी, पृथिवी तथा इला, इनका कर्म हवियों का वहन करना तथा देवताओं का आवाहन तथा वह सब कुछ जो दृष्टि से सम्बद्ध है अग्नि का भी कर्म है। वे देवता जिनकी अग्नि के साथ संयुक्त रूप से स्तुति की जाती है इन्द्र, सोम, वरुण, पर्जन्य तथा ऋतवः हैं।

इन्द्र के प्राप्य भागों में अंतरिक्ष लोक, माध्यन्दिन सवन, ग्रीष्म ऋतु,

90. यज्ञ-प्रतीक के लिये अध्याय 4 में ब्राह्मण भी देखें।
91. निरुक्त 7:8-11

त्रिष्टुप छन्द, पत्रचदश स्तोम, बृहत् साम तथा मध्यम स्थान में परिगणित देवसमूह और स्त्रियां। उसका कर्म रसों को मुक्त करना तथा वृत्र का वध करना है। बल से सम्बन्धित सभी कार्य इन्द्र के कर्म हैं। संयुक्त रूप से इन्द्र के साथ स्तुति किये जाने वाले देवता अग्नि, सोम, वरूण, पूषन, बृहस्पति, ब्रह्मणस्पति, पर्वत, कुत्स, विष्णु, वायु आदि। इसके अतिरिक्त मित्र की वरूण के साथ, सोम की पूषा तथा रूद्र के साथ, पूषा की वायु के साथ, तथा पर्जन्य की वात के साथ संयुक्त रूप से स्तुति की गयी है।

आदित्य के प्राप्य भागों में द्युलोक सायं सवन, वर्षा ऋतु, जगती छन्द, सप्तदश स्तोम, वैरूप साम, तथा वे देवता जो कि उत्तम स्थान में परिगणित है तथा स्त्रियां। उसका कर्म अपनी रश्मियों से रसों का आदान तथा धारण है तथा वह सब जो महत्ता से सम्बन्ध रखता है आदित्य का कर्म है। उसकी संयुक्त रूप से चन्द्रमा, वायु तथा संवत्सर के साथ स्तुति की जाती है।

अन्य ऋतुओं, छन्दों, सूक्तों इत्यादि के अंश-विभागों की योजना भी इसी प्रकार कर लेनी चाहिये। शरत् ऋतु, अनुष्टुप् छन्द, एकविंश स्तोम, वैराज साम पृथिवी सम्बन्धी हैं। हेमन्त ऋतु, पंक्ति छन्द, त्रिणव स्तोम, शाक्वर साम अन्तरिक्ष सम्बन्धी हैं। शिशिर ऋतु, अतिछन्दस् छन्द, त्रयस्त्रिंश स्तोम, रैवत साम द्युलोक सम्बन्धी हैं।

इसके अतिरिक्त मर्त्य देव और पितर को क्रमशः पृथिवीस्थानीय, अन्तरिक्षस्थानीय और द्युस्थानीय मानना चाहिए। पशु-पक्षी तथा अन्य विनियोगों का भी अपनी बुद्धि से स्थान निश्चित कर लेना चाहिए। अनेक मन्त्र ऐसे हो सकते हैं जिनमें इनका विनिश्चिय करना कठिन या श्रमपूर्ण हो, वहां प्रक्रिया का अनुमान किसी न किसी प्रकार कर लेना चाहिए। प्राचीन विज्ञानों जैसे आयुर्वेद, ज्योतिष आदि के ज्ञान के बिना प्रक्रियाओं का अनुमान नहीं लगाया जा सकता है। इस प्रकार इन अनुमानों के लिये इतिहास-पुराणों तथा ब्राम्हण-आरण्यक-कल्पसूत्रों आदि वैदिक ग्रंथों का भी अध्ययन होना चाहिए। शब्दानुशासन की दृष्टि से व्याकरण, निरूक्त तथा भाषा विज्ञान की जानकारी भी आवश्यक है।

सावधानी: प्रायः भारतीयों में बहुत दूर की ऊँची उड़ान (कल्पना) भरने की आदत है; और वे वेदार्थ में भी इसका प्रयोग करने से बाज नहीं आते।

उन्हें निराधार कल्पनायें न करके वेद या वेदेतर साहित्य में ही प्रतीकों के सूत्र ढूँढना चाहिये। इस सम्बन्ध में यास्क का अनुसरण करना उचित है, क्योंकि यास्क ने वेदार्थों के सूत्र वैदिक साहित्य में ही ढूंढने का प्रयास किया है और उनके उद्धरण भी प्रस्तुत किये हैं।

यम सूक्त[92] में सायण ने कठोपनिषद्[93] के नचिकेतोपाख्यान के संदर्भ से 'कुमार' का अर्थ नचिकेता किया है। नचिकेता गौतम गोत्रोत्पन्न वाजश्रवस का पुत्र है[94], किन्तु सायण ने उसे इस मन्त्र का ऋषि यमगोत्रज कुमार माना है। वह वस्तुतः अश्विनी कुमार है; यम के साथ संयुक्त देवता तथा उनके भाई और दूत के रूप में भी अश्विनी कुमार ही हैं जो एकचक्रीय संवत्सर रूपी रथ के निर्माणकर्ता हैं।

इसी प्रकार हिरण्यगर्भ सूक्त[95] के आठवें मन्त्र में यद्यपि यह स्पष्ट कर दिया गया है कि हिरण्यगर्भ अधिदेवपुरुष है, "या देवेषु अधिदेव एक आसीत्", तथा यह एक अर्थात् मन है क्योंकि मन के दो गुण 'एकत्व' और 'अणुत्व' हैं तथा गुण से गुणी की पहचान होती है। इस प्रकार मन का प्रतीक इन्द्र ही अधिदेवपुरुष है, फिर भी सायण उसे प्रजापति बतलाते हैं और इन्द्र से उसकी भिन्नता ही बतलाते हैं, अथवा इन्द्रेण पृष्टः प्रजापतिमदीयं महत्वं प्रदाय अहं कः कीदृशः स्यामित्युक्तवान्। सः इन्द्रः प्रत्यूचे यदीदं ब्रवीष्यहं कः स्यामिति तदेव त्वं भवेति। अतः कारणात् क इति प्रजापति राख्यायते। इन्द्रो वै वृत्र हत्वा सर्वा विजितीर्विजित्याब्रवीत् इत्यादिकं ब्राह्मण मन्त्रानुसंधेयम्।"[96]

इसी प्रकार यास्क[97] अक्षसूक्त के प्रथम मन्त्र की तो प्रशंसात्मक व्याख्या करते हैं, किन्तु अन्य मन्त्रों को निन्दा वाले बतलाते हुये अक्षों द्वारा दुखी किसी ऋषि की रचना बताते हैं। दुर्गाचार्य ने प्रशंसत्येनान्प्रथमया। निन्दत्युत्तराभिः। ऋषेरक्षपरिद्यूनस्यैतदार्ष वेदयन्ते" को टीका में छोड़ दिया है, शायद उनके समय यह पाठवाह्य रहा होगा।

यास्क 'जाया' का अर्थ 'जीतने वाली' प्रकारान्तर से स्वीकार करते हैं[98]

92. ऋग्वेद 10:135
93. कठोपनिषद अध्याय 1
94. ये ऋषि ऋग्वेद काल के नहीं है प्रत्युत बाद के हैं इनका संदर्भ त्रुटिपूर्ण है।
95. ऋग्वेद 10:121
96. सायण भाष्य ऋग्वेद 10:121:1
97. निरुक्त 9:7–8
98. देखें निरुक्त 7:29, जि धातु में घत्र् प्रत्यय पूर्वक टाप् जाया अर्थात् जीतने वाली।

'कितव' का अर्थ कृतवान् बताते हैं[99], 'अक्ष' शब्द की व्याख्या में उदाहरण सहित वे 'क्षि' धातु से 'क्षियतिनिगमः' और 'क्षर' धातु से 'क्षरतिनिगमः' बताते हैं[100], ऋषि कवषऐलूष हैं जिनकी अनेक ऋग्वैदिक प्रार्थनायें विश्वेदेवता के सम्बन्ध की हैं, छन्द भी त्रिष्टुप और जगती हैं जो अन्तरिक्ष स्थान तथा धुस्थान का संदर्भ देते हैं, सूक्त के अन्तिम तीन मन्त्र स्पष्टतः अग्नि की स्तुति में हैं, तथापि प्रथम मंत्र के बाद निंदा के मन्त्र बतलाना भ्रमपूर्ण है। वस्तुतः यह पूरा सूक्त औषध निर्माण से सम्बन्धित अग्नि कर्म का और बहेड़ा की आयुर्वेदिक महत्ता का द्योतक है, न कि द्यूत-क्रीडा का हो। दुर्गाचार्य का उपरोक्त अंश को छोड़ना यद्यपि महत्वपूर्ण[101] है, तथापि दुर्गाचार्य ने ही 'इरिणे' को द्यूतपट्ट 'ऋण' को जुआड़ी को दिया उधार, और 'जागृवि' को पांसों का जाग्रत होना बताकर पूरे सूक्त का अर्थ बदल दिया है और सायण ने भी दुर्ग का अनुगमन किया है।

(ख) प्रतीकात्मकता के मनोवैज्ञानिक आधार

प्रत्यय

किसी वस्तु के प्रत्यक्ष के लिये अर्थेन्द्रिय-सन्निकर्ष पूर्वक मन पर प्रक्षेपित अनेकानेक बिम्बों का समन्वित-सम्यक्-समग्र दृष्ट रूप विश्व उपस्थित होता है, वस्तु के ऐसे अनेक विश्व रूप सामान्यीकृत होकर धारणा शक्ति द्वारा अवधारित किये जाते हैं, उन्हें उस वस्तु का प्रत्यय कहते हैं। प्रत्यय यद्यपि संक्षेपीकरण है, तथापि बिम्बों के सभी आयामों पर विस्तार की उसमें निहित शक्ति होती है। वस्तु के किसी अन्य रूप को देखकर समानता अथवा असमानता के निर्णय के साथ वस्तु के धर्म, गुण, कर्म आदि का विवेचन करते हुये वर्गीकरण एवं श्रेणी निर्धारण का कार्य भी प्रत्यय के संदर्भ से ही निश्चित होता है, तथा अनुकूल होने पर वह रूप भी प्रत्यय में समावेशित हो जाता है। इस प्रकार प्रत्यय वस्तु के विश्वरूपों का व्यवस्थित अवधारण है।

प्रत्यय बिम्बदर्शन, प्रतिमा, कल्पना, स्मृति, चिन्तन, प्रतीक, चिह्न, सूत्र, भाषा, तर्क, संकेत आदि का केन्द्रबिन्दु है। प्रत्यय के विकास में सामान्यीकरण

99. निरुक्त 5:22
100. निरुक्त 5:3
101. देखें लक्ष्मण स्वरूप निघण्टु तथा निरुक्त पृष्ट 7

और संक्षेपीकरण के द्वारा अमूर्तिकरण होता है और प्रत्यय मूलरूप से अमूर्त होते हुये भी मूर्त बिम्बों को प्रकट करने की क्षमता रखते हैं। सामान्यीकरण और संक्षेपीकरण की प्रक्रियायें स्वतः चलती हैं और इनमें व्यक्ति के विचार या इच्छा का कोई आधार नहीं होता है, वस्तुतः ये अवचेतन या अचेतन मन की प्रक्रियायें होती हैं जिनपर व्यक्ति का कोई वश नहीं होता। मनोवैज्ञानिकों ने यह सिद्ध किया है कि मूर्त वस्तुओं के प्रत्यय शीघ्रता से बन जाते हैं जबकि अमूर्त गुणों आदि के प्रत्यय बाद में बनते हैं, इस कारण देश-प्रत्यय काल, परिस्थिति और अमूर्त संकेतों की अपेक्षा अधिक सहजरुप में निर्मित हो जाते हैं, तथापि भाषा प्रत्ययों के बारे में यह नियम लागू नहीं होता है। भाषा-प्रत्यय अतिशीघ्र और सहजता से साहचर्य के कारण निर्मित हो जाते हैं, क्योंकि भाषा मनुष्य मस्तिष्क में स्थूल पदार्थों के प्रहस्तन की तरह कार्य करती है। प्रत्ययों के निर्माण में समझ का बहुत महत्व है, मनुष्य अपनी जिज्ञासा से वस्तु और उसकी परिस्थितियों की जानकारी प्राप्त करके प्रत्यय बनाते हैं। प्रत्यय शुद्धरूप से बनने की प्रक्रिया में समझ का बहुत महत्व होता है। यदि समझ सही नहीं है तो प्रत्यय भी शुद्ध नहीं बनता, बहुत बार शुद्ध प्रत्यय बनने में बहुत समय लग जाता है क्योंकि व्यक्ति को समझ के बारे में भ्रान्ति बनी रहती है, और जब तक भ्रान्ति का निराकरण होकर सही स्थिति स्पष्ट नहीं होती प्रत्यय भी भ्रमपूर्ण और अशुद्ध रहते हैं। इस प्रकार प्रत्यय समझ या दृष्टि पर आधारित होते हैं। मानव जीवन में प्रत्ययों की शुद्धता का कार्य जीवन भर चलता रहता है। मार्गन और गिलिलैण्ड के अनुसार "प्रत्यय मनुष्य में सम्पूर्ण परिस्थिति का विश्लेषण करने और उसके एक अंग के प्रतिक्रिया करने की क्षमता है। दो या दो से अधिक परिस्थितियों में किसी सर्वमान्य तत्व को अलग करने का नाम प्रत्यय है।" एन.एल.मन के अनुसार "प्रत्यय अतीत के अनुभवों का घनीभूत रूप है। वे उन बातों को विचार में एकत्र कर देते हैं, जो कई वस्तुओं के भिन्न गुणों के बारे में सीखी गयी हैं।" इन परिभाषाओं से व्यक्ति की समझ का प्रत्यय में योगदान सुनिश्चित होता है और यह समझ व्यक्ति में विश्लेषण और निष्कर्ष की सही क्षमता पर निर्भर करती है। दूसरे शब्दों में वैज्ञानिक दृष्टिकोण और विचार प्रणाली समझ निश्चित करने और शुद्ध प्रत्यय बनाने में उपयोगी है।

बिम्ब

प्रत्यय का मूल बिम्ब में है। 'बिम्ब' वस्तु के प्रभावी उद्दीपनों का इन्द्रिय सन्निकर्ष पूर्वक मन पर प्रकट छाप रूप संवेदना है जो दृष्ट होकर

अर्थपूर्ण रूप से वस्तु को प्रत्यक्ष के लिये स्पष्ट करता है। उद्दीपनों के अभावों में बिम्ब अपूर्ण बनता है। अन्य वस्तु के उद्दीपनों से किसी वस्तु के उद्दीपन मिश्रित होकर मिश्रित या विकृत बिम्ब निर्माण करते हैं। ऐसे विरोधी उद्दीपन किसी वस्तु का अस्पष्ट या मात्र आभास रूप बिम्ब ही निर्मित करते हैं। अतः स्पष्ट बिम्ब के लिये उद्दीपनों का समुचित होना आवश्यक होता है। उद्दीपनों की तीव्रता और अतिशयता से बिम्ब में सतत निरन्तरता बनी रहती है और बहुधा वस्तु के हट जाने पर भी वस्तु का बिम्ब मानस पटल पर बना रहता है, यह स्थिति मनोवैज्ञानिकों ने छोटे बच्चों पर प्रयोग करते हुये पायी है। उद्दीपनों की अतितीव्रता तो पश्चात-बिम्ब का कारण होती है और दृष्य, श्रव्य, स्पर्श, घ्राण, विचार आदि के बिम्ब वस्तु के हट जाने के उपरान्त भी बहुत समय तक मानसपटल पर उपस्थित रहते हैं अथवा पुनः-पुनः आ जाया करते हैं। बच्चे और कुछ बड़े लोग भी ऐसे बिम्बों का स्पष्ट वर्णन करते, पुनरावृत्ति करते तथा स्मरण करके प्रकट करते देखे गये हैं। ऐसे पश्चात-बिम्ब दृष्टि के सम्बन्ध में कभी-कभी प्रतिबिम्ब रूप में प्रतिलोमित होते हैं, अर्थात् काला का सफेद और सफेद का काला फोटो-निगेटिव की भांति या रंगों के विलोमान्तर आदि के रूप होते हैं, ध्वनि में विकृतियां और आभास प्रतिध्वनि रूप से, और ऐसी ही प्रतिलोम या अस्पष्ट संवेदनायें अन्य इन्द्रियों पर भी होती हैं; विचारों का बार-बार बहुत देर तक आना भी होता है। बिम्बों की अस्पष्टता, विकृति, तीव्रता इत्यादि दृष्टि-भ्रम, मति-भ्रम, अमूर्त-भ्रम या अहेतुक-भ्रम, संदेह, शंका, आभास, संकोच आदि का भी कारण बनती है।

किसी वस्तु के बिम्ब का मानसपटल पर पुनरुत्पादन स्मृति कहलाती है, ऐसा पुनरुत्पादन प्रायः वस्तु के प्रत्यय द्वारा ही किया जाता है। नये बिम्बों की पहचान में भी प्रत्यय की भूमिका होती है, ऐसी पहचान की आवश्यकता कभी-कभी पुनरुत्पादित बिम्बों के लिये भी पड़ती है। कल्पना और चिन्तन में स्मृति और पहचान कार्यरत रहती है। पुरानी स्मृतियों को नवीन ढंग से क्रमबद्ध और व्यवस्थित करना कल्पना कहलाती है। कुछ मनोवैज्ञानिकों के मत में बिना ऐन्द्रिक उद्दीपन के स्मृतियों और अनुभवों का पुनर्वाहन कल्पना है। मार्गन और गिलिलैण्ड के अनुसार "ज्ञानेन्द्रियों के उत्तेजित हुये बिना ही किसी विचार सम्बन्धी अनुभव को फिर से स्थापित कर लेने की क्रिया को कल्पना कहते हैं।" वुडवर्थ के अनुसार "कल्पना मानसिक प्रहस्तन है।" विलियम जेम्स बिम्ब की सहायता से कल्पना को समझाने का प्रयत्न करते हैं। उनके अनुसार जब हमारी इन्द्रियां किसी

संवेदना का स्पर्श करती हैं तो उसका प्रभाव हमारे नाडीतन्त्र पर पड़ता है। यह प्रभाव हमारी चेतनात्मक क्रियाओं पर भी छाप छोड़ता है। चेतनात्मक क्रियाओं पर पड़ी छाप बिम्ब कहलाती है। इस प्रकार बिम्ब किसी वस्तु के प्रत्यक्षीकरण से सम्बन्धित एक मानसिक छाप है। वस्तु की उपस्थिति से प्रत्यक्षीकरण होता है, उसकी अनुपस्थिति में स्मृति के आधार पर बिम्ब बनता है और बिम्ब के आधार पर कल्पना बनती है। प्रत्यक्षीकरण हुये बिना न स्मृति बनेगी, स्मृति के बिना बिम्ब भी नहीं बनेगा और बिम्ब के बिना कल्पना नहीं बनेगी। प्रत्यक्ष की भांति ही कल्पना भी इन्द्रिय-संवेदनात्मक होती है, अर्थात् चाक्षुष प्रत्यक्ष का चाक्षुष बिम्ब होगा और उसकी चाक्षुष कल्पना होगी।

विचार

प्रत्यय या प्रत्ययों का क्रमबद्ध और व्यवस्थित रूप विचार है। प्रत्यय मुख्यतः नाम-रूप में संस्थापित होकर भाषा के अंग बन जाते हैं, और भाषा की क्रमबद्धता और व्यवस्था के साथ समाहित होकर सार्थकता और महत्व के योग से विचार बन जाते हैं। इस प्रकार भाषा प्रत्ययों को सहज रूप से व्यवस्थित कर देती है, यद्यपि विचार भाषामुक्त भी हो सकते हैं। विचार क्रमबद्ध और व्यवस्थित होते हुये भी जितने यथार्थ से दूर होंगे, वे उतने ही कल्पनापरक होंगे। इस प्रकार विचारों की सार्थकता और उनका वैश्विक या जागतिक महत्व माने रखता है, और तब विचार चिन्तन के अंग बन जाते हैं।

कल्पना

जब विचार इस प्रकार संकलित हो कि उनका कोई सार्थक और जागतिक महत्व न हो और वे वास्तविक यथार्थ से दूर हों तो ऐसा संकलन कल्पना की उड़ान वाला सोच होगा। प्रायः काल्पनिक सोच देश-काल-परिस्थिति से मुक्त होता है और प्रायः नवीनता लिये हुये रहता है, यह प्रायः मोद की स्थिति उत्पन्न करके मनुष्य की अपूर्ण आकांक्षाओं की पूर्ति करता है। कल्पना में सजीवता और यथार्थता का अभाव रहता है। महत्वहीनता और अयथार्थता के कारण कल्पना क्षणिक, चञ्चल, धुंधली तथा अमूर्त होती है और तात्कालिक आकांक्षा को मोद से संतुष्ट करके समाप्त हो जाती है। कल्पना में पुराने अनुभवों को नये ढंग से दोहराया जाता है। कल्पना प्रायः निष्क्रिय होती है। यदि कल्पना में सक्रियता उत्पन्न हो जाये तो वह उत्पादक या सृजनात्मक हो सकती है और मौलिक विचार प्रस्तुत कर

सकती है। ऐसी कल्पना विकास और निर्माण में उपादान कारक बन सकती है। किसी वस्तुस्थिति, पदार्थ या परिस्थिति को जानने समझने में जिस कल्पना का प्रयोग किया जाता है वस्तुतः वह चिन्तन का अंग होती है, जो समस्या को समझने और उसका निदान ढूंढने में अनेकानेक विकल्पों के परिप्रेक्ष्य में प्रयुक्त की जाती है। ऐसी कल्पनायें रचनात्मक, सैद्धान्तिक और व्यावहारिक चिन्तन के पूर्वरूप होती हैं। सौन्दर्यात्मक, कलात्मक और प्रमोद कल्पनायें संस्कृति, साहित्य, सभ्यता और जीवन जीने की शैली को विकसित करती हैं। इस प्रकार की कल्पना बिलकुल अनोखे ढंग से प्रस्तुत होकर जीवन में आशा का संचार करते हुये उसमें रस भरने और सजीव बनाने, आकर्षण और रूचि उत्पन्न करने, तथा कठोर-बन्धन से मुक्ति दिलाने का कार्य करती है। वह दमित इच्छाओं, वासनाओं और महत्वाकांक्षाओं की तात्कालिक पूर्ति करती हुयी चित्त को स्थिर करती है और व्यक्तित्व को टूटने से बचाती है। दूसरी ओर कल्पना अनुभव के प्रसार में सहायक होती है तथा मौलिक आविष्कारों और अनुसंधानों के कार्य कल्पना के बिना सम्भव नहीं होते।

चिन्तन

विचारों की सार्थक और महत्वपूर्ण निरन्तरता को चिन्तन कहते हैं। प्रमुखतया भाषा के माध्यम से सार्थक और महत्वपूर्ण विचार एक धारा में संकलित होकर किसी दिशा विशेष या किसी समस्या विशेष पर चिन्तन करते हैं, और स्मृति, सीख, कल्पना, तर्क आदि के आधार पर समस्या का हल खोजने या कठिनाई का समाधान करने की आन्तरिक क्रिया ही चिन्तन है। इसमें प्रत्ययों का क्रमबद्ध, व्यवस्थित, तर्कपूर्ण और सार्थक संकलन किया जाता है। वारेन के अनुसार "चिन्तन एक प्रतीकात्मक मानसिक क्रिया है। इसका प्रारम्भ किसी समस्या विशेष या कठिनाई के समाधान के लिये होता है। जिसमें भूल और प्रयत्न की क्रियाओं को शामिल करते हुये अन्त में समस्या के किसी निष्कर्ष पर पहुंचा जाता है।" फ्रेड्रिक बार्टलेट के अनुसार "चिन्तन एक उच्चस्तर का कुशलतापूर्ण व्यवहार होता है जिसमें अभिव्यक्ति के लिये चिह्नों एवं प्रतीकों की आवश्यकता पड़ती है।" वाटसन ने चिन्तन को ऐसा आन्तरिक व्यवहार माना है जिसमें कण्ठ के नीचे की बातचीत होती है और भाषा सम्बन्धी आन्तरिक गतियां मस्तिष्क और मांसपेशियों में चलती रहती हैं। उनके अनुसार चिन्तन अपने आप से बात करना है जिसमें मुख, जीभ और कण्ठ की क्रियायें चलती रहती हैं यद्यपि प्रकट ध्वनि नहीं होती है; बच्चों में बुदबुदाकर चिन्तन की प्रवृत्ति देखी जाती

है। मैक्स ने अपने प्रयोगों में पाया कि गूंगे-बहरे चिन्तन के समय हाथ और भुजाओं की क्रियायें अधिक करते हैं। वुडवर्थ चिन्तन में (1) किसी लक्ष्य की ओर प्रेरित होना (2) लक्ष्य की प्राप्ति के लिये मार्ग बनाना (3) पूर्व में प्रेक्षित अनुभवों का पुनर्वाहन करना (4) पुनर्वाहन के तथ्यों को नये रूप में रखना तथा (5) आन्तरिक वाक्य तथा मुद्राओं को आवश्यक मानते हैं; यदि चिन्तन अस्तव्यस्त होगा तो इन क्रियाओं का अभाव होगा।

चिन्तन मुख्यतः दो प्रकार का होता है। प्रथम प्रकार का चिन्तन मानसिक रूप से कम विकसित लोगों और बालकों में पाया जाता है जिसमें एक विचार का दूसरे विचार से साहचर्य सम्बन्ध निर्मित हो चुका होता है, जैसे धुआं देखकर आग का होना जान लेना। प्रायः किसी घटना का वर्णन होने पर वैसी ही घटना अपने अनुभव में याद आ जाना अथवा उसके किसी भाग से सम्बन्धित कोई बात या घटना याद आना साहचर्य चिन्तन के परिणामस्वरूप होता है। दूसरे प्रकार का चिन्तन प्रत्ययात्मक होता है जिसमें क्रमबद्ध और व्यवस्थित प्रत्यय संकलित होकर विचार का रूप रख लेते हैं और ऐसे विचारों की तर्क सम्मत, सार्थक और महत्वपूर्ण श्रृंखला चिन्तन का रूप प्राप्त करती है। प्रत्यात्मक चिन्तन में विचार भाषा के रूप में समाविष्ट हो जाते हैं, अथवा वे चिह्न, आकृति, लिपि, चित्र, सूत्र, प्रतीक आदि के रूप में उपस्थित होते हैं। प्रत्यय नाम या रूप में ग्रहण होते हैं, तब एक प्रत्यय के कई नाम या रूप हो सकते हैं अथवा कई प्रत्ययों का एक ही या एक जैसा नाम या रूप हो सकता है। इस प्रकार एक विचार बहुअर्थक या बहुविचार एकार्थक हो सकते हैं। बहुअर्थक विचार या शब्द यमक-श्लेष, अन्योक्ति, लक्षणा या व्यत्र्जना जैसे पदों को प्रकट करते हैं जबकि एकार्थक शब्द प्रतीकों और चिह्नों आदि के माध्यम बनते हैं, तथा उपमा-रूपक आदि को प्रकट करते हैं। प्रतीक एवं चिह्नों का सहारा लेकर चिन्तन के कार्य को सहजता से पूरा कर लिया जाता है। प्रतीक वास्तविक वस्तु के स्थानापन्न के रूप में कार्य करते हैं, और वस्तु की अनुपस्थिति में उसके नाम या रूप दोनों ही प्रतीक का कार्य करते हैं। प्रतीक के द्वारा वस्तु के गुण का भी निदर्शन होता है। प्रतीक समान्य विचार का प्रतिनिधि होता है। प्रतीक प्रायः सरल और संक्षिप्त होते हैं, मुख्यतः जब वे चिह्न, सूत्र आदि के रूप में हों, इनके प्रयोग से समय और शक्ति की बचत होती है। प्रारम्भ में प्रतिनिधित्व करने वाले प्रतीक अनेक आवृत्तियों के बाद चिन्ह बन जाते हैं और नाम की तरह प्रकट कार्य करते हैं। चिन्तन आन्तरिक वाणी से सम्बद्ध होता है इस कारण भाषा अपने

प्रतीकात्मक गुण और शब्द-प्रचुरता के कारण सबसे सशक्त माध्यम होता है। तर्क चिन्तन का एक आवश्यक अंग है जिसमें एक क्रम, व्यवस्था, विवेचन, विकल्प, विचार, समाधान, दृष्टि या विवेक, तथा निष्कर्ष की क्षमता होती है। तर्क की आगमन विधि विशेष स्थितियों से सामान्यीकरण की ओर चलती है जबकि निगमन विधि सामान्य से विशेष के निष्कर्ष निकालती है।

प्रतीक

मनोवैज्ञानिक आधार पर कोई प्रत्यय या विचार जब समान रूप से किसी अन्य प्रत्यय या विचार का कार्य करता है, तब वह प्रतीक कहलाता है। ऐसा सबसे प्रथम और लोकप्रिय प्रतीक मूर्त का अमूर्त 'नाम' होता है, पर्याय दूसरे स्तर का और समानार्थक शब्द भी लगभग पर्याय के स्तर का प्रतीक होता है। रूप, विशेषता, गुण आदि की समानता से भी प्रतीक बनते हैं। सम्बन्ध भी प्रतीक का कारण हो जाते हैं। मुख्यतः कुछ समानताओं या सार्थकताओं के आधार पर अमूर्त के मूर्त प्रतीक बोधगम्यता के हेतु से निर्माण भी किये जाते हैं। भारतीय संस्कृति में अमूर्त के बोधगम्य मूर्त प्रतीकों का योगदान वैदिक काल से चला आया है। प्राकृतिक शक्तियों और प्रक्रियाओं के प्रतीक तो वेदों में ही हैं, लौकिक साहित्य में भी नख-शिख वर्णन, बारहमासी और प्रकृति वर्णन, नायिका भेद, राग-रागिनी, पुरुष-नारी काम भेद, ज्वरादि रूप भेद, ग्रहादि ज्योतिष भेद आदि में अनेक प्रतीक निर्मित किये गये हैं जिनकी शास्त्रीय मान्यता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भाषा, विचार और संप्रेषण इन तीनों ही स्तरों पर प्रतीक कार्य करते हैं। इनमें कुछ सहज और कुछ निर्मित प्रतीक होते हैं। वस्तुतः निर्मित प्रतीकों को जानने-समझने में कठिनाई होती है, परन्तु चूंकि प्रायः वे शास्त्रीय स्तर प्राप्त कर लेते हैं इसलिये साहित्य उत्पादों में उन्हें ढूंढा जा सकता है और उनके अर्थ तथा उनके पीछे का मन्तव्य समझा जा सकता है।

(ग) प्रतीकात्मकता के समाजशास्त्रीय आधार

आदिकाल से ही समाज को पुरुष-अंगभूत देखने की प्रवृत्ति मिलती है,"यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन..... तथा लोकानकल्पयन" तथा "यावन्तो हि लोके मूर्तिमन्तो भावविशेषाः तावन्तः पुरुषे यावन्तः पुरुषे तावन्तो लोके" में तो लोकसंमित पुरुष का भाव निहित ही है, उसके

अतिरिक्त भी समाज का पुरूष की भांति शरीर होने और उसके विभिन्न अंगों से समाज के विभागों को प्रदर्शित करने के उद्धरण प्राप्त होते हैं जो प्रतीकात्मकता के समाजशास्त्रीय आधारों को व्यक्त करते हैं यथाः-

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्वाहू राजन्यः कृतः।
ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रोऽजायत।।[102]

अर्थात् इस समाज रूपी पुरुष का ब्राह्मण मुख है, क्षत्रिय बाहु हैं, वैश्य इसकी जंघायें हैं तथा पैरों से शूद्र उत्पन्न हुये हैं।

मनुष्य शरीर के ऐसे ही अंगरूप भागों के आधार पर राज्य को भी सात अंगों में बांटा गया है-

स्वाम्यमात्यौ पुरं राष्ट्रं कोशदण्डौ सुहृत्तथा।
सप्त प्रकृतयो ह्येताः सप्ताङ्.गं राज्यमुच्यते।।[103]

अर्थात् स्वामी, मन्त्री, पुर, राष्ट्र (राज्यक्षेत्र), कोश, दण्ड (व्यवस्था) और मित्र ये सात प्रकृतियां हैं, इनसे युक्त होने से राज्य सात अंगों वाला कहलाता है।

इन सप्तांगों का वर्णन कौटिल्य[104] और कामन्दक[105] ने भी किया है तथा अन्य अनेकों ग्रंथों में भी इनका वर्णन मिलता है। इसी प्रकार पाश्चात्य विचारकों ने भी राज्य की पुरूष की भांति कल्पना की है। अफलातून[106] अपने गणतंत्र के आदर्श राज्य को पुरूष के साम्य से निर्मित करता है। वह मनुष्य जीवन के तीन मुख्य तत्व बुद्धि, शक्ति और भोग मानता है और राज्य को पुरूष का विस्तार मानते हुये दोनों के समान धर्म और समान निर्मिति बताता है।

जान ऑफ सैलिसबरी (1115-1180A.D.) समाज को मनुष्य शरीर की भांति देखता है।[107] उसके विचार से आत्मा चर्च (धर्म) है, सिर राजा है, हृदय समिति है, आंखे, कान और जीभ प्रान्तों के शासक हैं, हाथ सेना और नागरिक-प्रशासन हैं, और पैर कृषक तथा कारीगर हैं। राजा धर्म का आदर करता हुआ सभी अंगों पर शासन करता है, सभी अंग धर्मरूपी

102. ऋग्वेद 10:90:12
103. मनुस्मृति 9:294
104. कौटिल्य अर्थशास्त्र 6:1
105. कामन्दक नीतिसार 4:1
106. Plato : The Republic
107. John of Salisbury: Policraticus

आत्मा द्वारा निर्देशित किये जाते हैं जो ईश्वर और मनुष्य के बीच तारतम्य बनाये रखता है।

आगस्ट काम्ट[108] समाज को एक जीव मानता है जो ठीक अन्य जीवों की भांति ही है। इस प्रकार वह जीवविज्ञान और समाजशास्त्र को एक ही विज्ञान की दो शाखायें मानता है। वह मानवता की विकासवादी प्रगति की तुलना मानवी व्यक्ति के विकास से करता है और समाज पर जैविक गुणों को आरोपित करता है।

हर्बर्ट स्पेन्सर[109] भी जीव की भांति समाज को मानता है। वह प्रकृति के विकास में पदार्थ को एक असत्, असंहित तथा समान स्थिति से सत्, संहित तथा विभिन्नतापूर्ण स्थिति में विकसित होते हुये पाता है, और इस नियम को वनस्पतियों, पशुओं और मानवी समाज में समान रूप से क्रियान्वित होता देखता है।

ये उदाहरण तो इस बात के हैं कि विद्वानों ने समाज को कैसे समझा-समझाया है, तथापि समाज ने भी स्वयं को प्रतीक रूपों से समन्वित करके प्रस्तुत किया है; इसके उदाहरण समाज के नाम रूपों में प्राप्त होते हैं। प्राकृत समाजों में 'टोटम' का जो रूप आज भी प्राप्त होता है वह इतना पुराना है कि वानर, रिक्ष, नाग, सुपर्ण आदि के समाज-रूप देव-युग के संदर्भ से भी प्राप्त होते हैं। पुरखों के नाम पर कबीलों की पहचान ऋग्वेद में भी प्राप्त होती है, जैसे याद्व-जन, भरत-जन, आदि। यही नहीं ऐसे कबीलों के नाम पर देश भी बन गये, जैसे कुरू, पात्र्चाल, विदेह आदि।

सामाजिक मूल्यों के अवधारण में भी प्रतीकों का महत्व है, तथा आचरण के लिये भी उनके आदर्श उपस्थित किये जाते हैं। भागवत[110] में यदु-दत्तात्रेय संवाद में दत्तात्रेय द्वारा चौबीस प्राणियों को गुरू बनाने की कथा सामाजिक मूल्यों के अवधारण में प्रतीकों के महत्व को स्थापित करती है। पृथ्वी से क्षमा (वृक्षों से परोपकार), वायु से विषयों का सीमित उपभोग, अनासक्ति और निर्लिप्तता, आकाश से आत्मा की एकरूपता, जल से शुद्धता, स्निग्धता, मधुभाषा और लोकपावनता, अग्नि से तेजस्विता, देदीप्यमानता तथा वशी होना, चन्द्रमा से अवस्थान्तर में एकरसता, सूर्य से

108. Auguste Comte : Cours de Philosophie Positive
109. Herbert Spencer : Man versus the state.
110. भागवत 11:7–9

विषयों का यथायोग्य ग्रहण और त्याग, कबूतर से आरूढच्युतज्ञान, अजगर से निश्चेष्टता; समुद्र से प्रसन्नता तथा गम्भीरता, पतंग से कामसंयम, भौरे से भिक्षावृत्ति, शास्त्रज्ञान संचय, असंग्रह आदि, हाथी से जाति असंगता मधु संग्रहक से अतिथि सत्कार, हरिण से संगीतवार्ता, अमोह-मछली से अस्वाद्यता, वेश्या से वैराग्य, कुरर पक्षी से असंग्रह, बालक से मानापमान पराङ्. मुखता, कुमारी से एकाकीपन, वाणनिर्माणकर्ता से आसन-प्राणायाम, वैराग्य अभ्यास करते हुये लक्ष्यसंघान, सर्प से यायावर जीवन, मकड़ी से परमेश्वरीय सृष्टि रचना विधान और लय-ज्ञान, श्रृंगी कीट से तद्रूपता, आदि ग्रहण किये गये। ये सभी गुण समाज संचालन और व्यक्तिगत आचरण द्वारा सामाजिक मूल्यों के प्रतिपादक हैं।

सामाजीकरण की प्रक्रिया में पशु-पक्षियों की कहानियों के प्रभाव महाभारत से ही देखने को मिलने लगते हैं। इसी क्रम में पञ्चतंत्र और हितोपदेश जैसे नीतिशास्त्रीय कथाग्रन्थ लिखे गये जिनका बच्चों पर ही नहीं अपितु, जनमानस पर भी गहरा प्रभाव पड़ा है। बच्चों के सामाजिक विकास में 'नानी की कहानी' से लेकर पाठ्यपुस्तकों में प्राप्त कथाओं तथा लोक कथाओं सभी में पशु-पक्षी, राजा-रानी तथा अन्य लोक प्रतीक महत्वपूर्ण स्थान रखते हैं और बच्चे के सामाजीकरण में महत्वपूर्ण योगदान करते हैं।

सामाजिक सम्बन्ध एवं सामाजिक अन्तर्क्रिया भी बहुत कुछ प्रतीकों पर निर्भर रहती है, और ये सामाजिक संकल्प समाज के संरूप, संस्थिति और संक्रिया के लिये उत्तरदायी हैं। सामाजिक अन्तर्क्रिया का आधार संप्रेषण होता है जो प्रत्यय, संकेत, चिहन्, भाषा आदि के माध्यम से परिपूर्ण होता है और समाज के विभिन्न सदस्यों के बीच सम्बन्ध स्थापित करता है। विशिष्ट क्रियाओं के लिये इन अन्तर्सम्बन्धों से ही नये प्रत्यय बनते हैं। एक निश्चित ढंग से मनुष्यों के बीच अन्तर्क्रिया प्रत्ययों के स्तर पर ही बनती है, अर्थात् शब्दों के आदान-प्रदान, वार्तालाप, लिखित भाषा आदि के माध्यम से व्यक्तियों के मध्य अन्तर्क्रिया मुख्यतः सम्प्रेषण पर ही आधारित होती है।[111]

सम्प्रेषण के उच्चतर माध्यमों जैसे साहित्य, कला, संगीत, नृत्य, अभिनय आदि एवं तकनीकी माध्यमों जैसे फिल्म, आडियो, दूरसंचार,

111. देखें Sherif & Sherif : An Outline of Social Psychology, New York, Harper & Bros., 1956, Page 11.

कम्प्यूटर और सूचना टेक्नालाजी आदि पूर्णतया प्रतीकों पर ही निर्भर करते हैं। इन विधाओं को समझने के लिये इनमें प्रयुक्त प्रतीकों को सीखना पड़ता है और तभी हम संप्रेषण का लाभ ले पाते हैं तथा उनका मूल्यांकन करने में समर्थ हो पाते हैं।

सामाजिक अन्तर्क्रिया में अनेक व्यवहार रूढ़ हो जाते हैं तथा ऐसी रूढ़ियां किसी समाज की एकरूपता और संगठना की परिचायक होती है। रूढ़ियां आचार-विचारों, रस्म-रिवाजों तथा अन्य सामाजिक संस्थाओं का आधार होती हैं। ये विश्वासों, धार्मिकता, पूर्वाग्रहों तथा भावुकता को जन्म देती हैं तथा मनुष्यों के व्यवहार में समानता और समरसता उत्पन्न करते हुये उन्हें एक विशिष्ट संस्कृति में पिरो देती हैं। इस सब प्रक्रिया में प्रतीकों का महत्व अपरिहार्य रूप से स्थापित रहता है।

(घ) प्रतीकात्मकता के काव्यशास्त्रीय आधार

वैसे तो "वाक्यं रसात्मकं काव्यं"[112] कहा गया है किन्तु सामान्य रूप से "उक्ति-वैशिष्ट्य" से युक्त गेय पद को काव्य स्वीकार कर लिया जाता है। पद में मात्र गेयता का होना 'काव्य' नहीं माना जाता, क्योंकि अनेक बोलियां, देववाणी से लेकर आधुनिक काल तक बोली जाने वाली, गेय हैं और यह गेयता सम्प्रेषण की प्रभावकता मात्र की दृष्टि से ही उद्देशित है, न कि किसी शास्त्रीय प्रयोजन से रही हो। इस प्रकार सम्प्रेषण की दृष्टि से गद्य और पद्य में कोई विशेष अन्तर नहीं होता है, मात्र प्रभावकता के उद्देश्य से इनके तार्किक और गेय रूप हो जाते हैं। इस प्रकार की तार्किकता तथा गेयता कोई उक्ति-वैशिष्ट्य नहीं माना जाता। उक्ति-वैशिष्ट्य तब तक नहीं माना जाता जब तक वाक्य में कोई काव्यशास्त्रीय विशिष्टता आरोपित न हो। "वाक्यं रसात्मकं काव्यं" के आदेश में भी "रस" सम्बन्धी काव्यशास्त्रीय विशिष्टता का आग्रह सन्निहित है। यह आग्रह आचार्य का निजी माना जाता है, वैसे आचार्य विश्वनाथ स्वयं तो अलंकारवादी है।

सामान्य उक्ति के वाक्य विन्यास में भी यदि दोष न हो और गुण ही गुण हों तो इस वैशिष्ट्य के साथ भी वह काव्य को चरितार्थ करने वाला हो सकता है। किन्तु आजकल आडियो कैसेट में देवी माता की स्तुति

112. विश्वनाथ : साहित्यदर्पण

"दाता" कहकर करना या दूरदर्शन धारावाहिकों में "माते" सम्बोधन अथवा "हनुमानाय नमः" वाक्यांश कर्णकटु ही नहीं लगते प्रत्युत काव्य की मर्यादाओं को लांघकर विद्रूपता और जुगुप्सा पैदा कर देते हैं। कभी कभी व्याकरण असम्मत वाक्य विन्यास भी श्रेष्ठ काव्यत्व का वाचक हो सकता है और वेद में अनेक स्थान पर ऐसे प्रयोग किये गये हैं, जिन्हें आज के पण्डितजन आर्षप्रयोग कहकर उनके "वैशिष्ट्य" को टाल जाते हैं तथा इसी आर्षप्रयोग का आधार लेकर स्वयं वाक्य विन्यास और व्याकरण की उपेक्षा करते हुये त्रुटिपूर्ण वेदार्थ करने लगते है, ऋग्वेद 1:164:46 के मन्त्र की जो व्याख्या यास्क, सायण तथा दयानन्द आदि ने की है उसमें वाक्य विन्यास और व्याकरण की यह उपेक्षा स्पष्ट दृष्टिगोचर होती है।[113] इसी प्रकार 'ग्रामत्व' या 'पुनरुक्त' दोष हैं तथापि अर्थ या अभिव्यक्ति को अधिक स्पष्ट करने में या उनपर बल देने की दृष्टि से वेद में ऐसे प्रयोग किये गये हैं जो सर्वथा उपयुक्त और काव्यशास्त्र सम्मत हैं। यथा–

"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया"[114]

में ग्रामत्व दोष होते हुये भी एक ऐसा सौष्ठव है जो उसमें दोष के स्थान पर लालित्य गुण पूरित करता है और इस प्रकार वैशिष्ट्यपूर्ण होकर पद को काव्यत्व प्रदान करता है। इसी प्रकार हिरण्यगर्भसूक्त[115] में "कस्मै देवाय हविषा विधेम" की ध्रुव-आवृत्ति या सप्तम मण्डल के सूक्तों में "यूयं पात स्वस्तिभिः सदानः" की ध्रुव-आवृत्तियां, अथवा वेद में "एवं वै तत्" की पुनरूक्तियां स्पष्ट करने और बल देने के लिये ही प्रयुक्त हैं और इनसे कोई काव्यत्व दोष नहीं उपजता।

अभिधा शब्दशक्ति युक्त वाक्यों में भी सरल एवं सुबोध सम्प्रेषण द्वारा आध्यात्मिक या आनन्दमय भावाभिव्यक्ति जिस शान्तरसयुक्त प्रसाद गुण का अनुदान करती है वह काव्य की अनोखी तथा उच्चतम उपलब्धि होती है। उत्साह भरे शब्दों की ओजपूर्ण वाणी को अथवा प्रकृति के सौष्ठव की अभिव्यक्ति में सुमधुर गान के काव्यत्व को भला कौन नकार सकता है। सीधे, सरल, एकार्थक शब्दों में भी सरसता, सरलता, सुबोधता, सुमधुरता आदि की विशेषतायें वाक्य को काव्यत्व प्रदान करने का कार्य करती हैं। ऐसे वाक्यों के साथ प्रतीक अर्थों में अथवा भावों में अथवा परिणामों में

113. देखें अध्याय 4 पृष्ठ यह पृष्ठांकन अध्याय 4 के आने पर उचित रूप में करना चाहिये
114. ऋग्वेद 1:164:20
115. ऋग्वेद 10:121

अथवा प्रत्यय में अथवा कल्पना में बिम्बाभास होने या अर्थान्तरन्यास होने या भावविन्यास होने की विशिष्ट स्थितियां वाक्य को काव्यत्व प्रदान करने में सार्थक होती हैं।

लक्षणा शक्ति के साथ शब्द के द्वयर्थक या बहुअर्थक मन्तव्य हो जाते हैं, जो वाक्य में वैशिष्ट्य के साथ ही प्रतीकात्मक रूपों की सृष्टि भी करते हैं। इस प्रकार का काव्यत्व अन्योक्ति के साथ श्लेषात्मक विन्यास, उलटबासी, उपमान-उपमेय सम्बन्धों से युक्त विशिष्ट आलंकारिक सौष्ठव तथा बिम्ब-प्रतिबिम्ब युक्त भावनात्मक रचनाओं को प्रश्रय देते हैं। एक-एक नाम के अनेकानेक रूप और एक-एक रूप के अनेकानेक भेद प्राप्त होकर शब्दार्थ को परत-दर-परत उघारते चलते हैं और इनकी समानतायें तथा विभेदतायें समतुल्य तथा विलोम प्रतीकों को निष्पन्न करती रहती हैं।

जहां शब्द के वाच्यार्थ या लक्ष्यार्थ से भिन्न वाक्य का प्रयोजन हो अर्थात् "कहीं पर निगाहें, कहीं पर निशाना" की स्थिति में सांकेतिक रूप से नाटकीय आन्तरिक मन्तव्य को प्रकट करने वाला वाक्य हो, वहां तो प्रतीकात्मकता स्वतः ही आप्लावित होती है और अर्थनिष्पादन में अपनी महती भूमिका निर्वहन करती है। व्यञ्जना की इस विशिष्टता में काव्यत्व का नियोजन स्पष्ट रूप से समीकृत होता है, और अतीव आनन्द का संचार भी करता है। उक्ति वैशिष्ट्य की प्रायः यह चरम सीमा को स्पर्श करता हुआ स्थित रहता है और इसलिये रसालंकार से परे भी काव्यत्व की उच्चतम स्थिति को प्राप्त होता है। काव्यत्व का स्तरीय होना रचनाकार की उस शैली पर निर्भर करता है जिसमें वह अपने कौशल से शब्द के व्यंजनात्मक कलाप का विन्यास करता है।

यदि "वाक्यं रसात्मकं काव्यं" से पूर्ण रूपेण रसनिष्पत्ति का प्रयोजन ही माना जाये, तो भावानुभाव तथा संचारीभावों की प्रतिक्षण बदलाव की प्रक्रिया में एवं उद्दीपन और आलम्बन के प्रसरित बिम्ब प्रतिमानों में प्रतीकात्मकता का दुर्निवार्य सन्निवेश ही प्रकट होता है और वस्तुतः यही रस-निष्पत्ति का प्रमुख आधार भी बनता है। बिम्ब प्रतिमानों का अभाव भाव का अभाव भी करने वाला है और उस स्थिति में संपूर्णतः रसनिष्पत्ति सम्भव ही नहीं है। रसनिष्पत्ति के जो प्रयास प्रकृति चित्रण, नायिका-भेद, नखशिखवर्णन, राग-रागिनी अभिव्यंजना, चित्ररूपता, स्वप्निल शैली, देवानुमान आदि के माध्यम से अभिव्यक्त करते हुये किये गये हैं, प्रतीकात्मकता और

बिम्ब अपरिहार्यता उनकी नियति रही है।

इसी प्रकार विशेषणात्मक वाक्यों में विशेषताओं के साथ-साथ बिम्बप्रतिमानों का निवेश एवं विशेष्य का उनके माध्यम से प्रतिनिधित्व प्रतीकात्मकता का समावेश करता है; यथा- "दिव्यः स सुपर्णः गरुत्मान्"[116] में आत्मा के ये विशेषण उसके प्रतीक रूप भी बनते हैं और नामारोपण से मुक्त होकर भी उसका प्रतिनिधित्व करते हैं। चरकसंहिता के "पूर्वनिवासमपगत ग्राम्यदोषं शिवं पुण्यमुदारं मेध्यमगम्यमसुकृतिभिर्गङ्.गां प्रभावममर-गन्धर्वकिन्नरानुचरितमनेकरत्ननिचयमचिन्त्याद्भुतप्रभावं ब्रह्मर्षि-सिद्धचारणानुचरितं दिव्यती र्थौषधिप्रभवमतिशरण्यं हिमवन्तममराधिपतिगुप्तं"[177] विशेषणात्मक वाक्य तो इतने बिम्ब प्रतिमान भर देता है कि इस वैशिष्ट्य के साथ रसात्मकता और काव्यत्व का आनन्दातिरेक स्वतः निष्पन्न हो ही जाता है। आचार्य वाणभट्ट की कादम्बरी तो विशेषणात्मक प्रयोगों का कोष ही है, और इस विशिष्टता से ही यह रचना मात्र अमर काव्य ही नहीं बनी अपितु वाण को भी अमर कर गयी है।

बहु नाम-रूप वाचक वाक्यों में कर्तारूप में या कर्मरूप में अथवा सम्बोधन रूप में जो बिम्ब प्रतिमान उपस्थित होते हैं, वे एक ओर जहां काव्यगत वैशिष्ट्य उत्पन्न करते हैं वहीं व्यक्ति विशेष को व्याख्यायित करते हुये उसका प्रतीक रूप में प्रतिनिधित्व भी करते हैं; यथा-

> सोऽयं भूतिविभूषणः सुरवरः सर्वाधिपः सर्वदा।
> शर्वः सर्वगतः शिवः शशिनिभः श्री शंकरः पातु माम्।।[118]

आदि में विशेषणात्मक शब्दों के साथ-साथ विभिन्न नाम-रूप भी प्रस्तुत किये गये हैं। एक ऐसा ही उद्धरण हिन्दी में रामचरित मानस के लंकाकाण्ड से प्रस्तुत है जिसमें विभिन्न नाम-रूपों के प्रयोग से अद्भुत रस का निष्पादन किया गया हैः-

> बांध्यो बननिधि नीरनिधि जलधि सिन्धु बारीस।
> सत्य तोयनिधि कंपति उदधि पयोधि नदीस।।[119]

116. ऋग्वेद 1:164:46
117. चरक0 चिकित्सा 1-4:3
118. तुलसीदासः रामचरितमानस अयोध्याकाण्ड, श्लोक 1
1119. वही, लंकाकाण्ड, दोहा 5

गुण-कर्म की विशेषताओं द्वारा प्रतिनिधित्व में भी बिम्बप्रतिमानों द्वारा प्रतीकात्मकता के उदाहरण प्रकट होते हैं; यथा-

एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा
कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः स परेऽक्षर आत्मनि संप्रतिष्ठते ।।[120]

अथवा-

अहं मनुरभवं सूर्यश्चाहं कक्षावाँ ऋषिरस्मि विप्रः।
अहं कुत्समार्जुनेय न्यृञ्जेऽहं कविरुशना पश्यता मा।।[121]

काव्य सौन्दर्य की दृष्टि से ऋग्वेद का अपना स्थान है। ऋग्वेद के अनेक सूक्त शुद्ध काव्य से अनुप्राणित है तथा वे अद्‌भुत काव्यक्षमता, प्रभावकता और मनोहरता से उद्‌भूत हैं। काव्यात्मक सौन्दर्य के ये उदाहरण अमूर्त चित्रणों में मानवीकरण एवं प्रतीकात्मकता के कारण उत्पन्न हुये हैं। ऋग्वैदिक कवि प्रकृति की सुन्दरता से बहुत प्रभावित है और अपनी उपमाओं और रूपकों के माध्यम से उनका सजीव चित्रण करने की चेष्टा करता है। प्रकृति चित्रण में वह सर्वाधिक प्रभावित सूर्य और उसके सौन्दर्य से होता है। यह उस काल की परिस्थिति के अनुरूप भी है क्योंकि जंगलों के बीच छोटी-छोटी बस्तियों में बसे कुटीवास करते आर्यजन रात्रि के गहन अन्धकार में अपने को सतत असुरक्षित अनुभव करते हुये प्रथम सूर्य रश्मि के दर्शन से आह्लादित होकर नाचते हुये यदि काव्य वर्षा करते हैं तो कुछ भी अप्रासांगिक नहीं है। सूर्य के महत्व के सम्बन्ध में मैकडानल और कीथ[122] यह बताते हैं कि यह "ऐसी जाति के लोगों के लिये अस्वाभाविक दृष्टिकोण नहीं है जो प्रत्यक्षतः हिमालय पर्वत के शीतल क्षेत्रों से आये होंगे" और इस प्रकार परोक्षरूप से वे आर्यों का मूल निवास स्थान हिमालय क्षेत्र को मान लेते हैं। तथापि ऋग्वेद की रचना का काल आर्यो के गंगासिन्धु के मैदान में आने के सहस्त्राब्दियों बाद का बैठता है और उनकी रचनाशीलता वस्तुतः तत्कालीन परिस्थितिकी से ही प्रभावित जान पड़ती है। यथा-

भद्रा अश्वा हरितः सूर्यस्य चित्रा एतग्वा अनुमाद्यासः।
नमस्यन्तो दिव आ पृष्ठमस्थुः परि द्यावापृथिवी यन्ति सद्यः।।[123]

120. प्रश्नोपनिषद् 4:9
121. ऋग्वेद 4:26:7
122. मैकडानल और कीथ: वैदिक इण्डेक्स; अनु0 रामकुमार राय, वाराणसी: चौखम्भा विद्याभवन, 1962, पृष्ठ 514
123. ऋग्वेद 1:115:3

अर्थात् सूर्य की शुभ स्वर्णिम भिन्नवर्णा तीव्रगतियुक्ता आह्लादनीया नमिता रश्मियां आकाश पटल पर उदित होते ही द्युलोक एवं पृथिवी लोक को तुरन्त घेर लेती हैं।

एता उ त्या उषसः केतुमक्रत पूर्वे अर्धे रजसो भानुमञ्जते।
निष्कृण्वाना आयुधानीव धृष्णवः प्रति गावोऽरुषीर्यन्ति मातरः।।[124]

अर्थात् पृथिवी और आकाश में उषा अपने प्रकाश को फैलाती है तथा अपने रश्मि-अंश से सूर्य के पूर्व अर्द्धभाग को प्रकाशित करती है। शस्त्रों को पैना करने वाले साहसी वीरों की भांति लाल गऊ मातायें अर्थात् उषायें आगे-आगे चलती हैं। उगते हुये सूर्य की छटा से ऋग्वेद का कवि सर्वाधिक प्रभावित है। रंगबिरंगी उषा को वह स्त्री का रूपक देता है और उसे नारी के सभी रूपों- माता, बहिन, पुत्री तथा प्रेयसी-पत्नी में प्रस्तुत करता है, तथापि सबसे अधिक महत्व वह प्रेयसी पत्नी रूप को प्रदान करता है:-

अर्चन्ति नारीरपसो न विष्टिभिः समानेन भोजनेना परावतः।
इषं वहन्तीः सुकृते सुदानवे विश्वेदह यजमानाय सुन्वते।।[125]

अर्थात जिस प्रकार पराये घरों से आने वाली पत्नियां समानता से जुड़कर अपने कार्यो से समस्त भोज्यपदार्थों को पूर्ण करती हुयी धर्म-कर्म में, शुभ दान में और सोमयज्ञ में यजमान पति के कष्टों का निवारण करके उसकी सेवा करती हैं, उसी प्रकार उषायें मनुष्यों के लिये अपनी व्याप्तियों से करती हैं।

आगे-आगे चलने वाली उषा प्रेयसि-नर्तकी है जो नाचते-नाचते अपने जरीदार रेशमी वस्त्रों को पसार देती है और आसक्त भाव से मस्त होकर अपने वक्षों को उद्घाटित कर देती है।

अधि पेशांसि वपते नृत्रिवापोर्णुते वक्षं उस्रेव वर्जहम्।।[126]

सूर्य भी स्त्रियों के पीछे चलने वाले आसक्त कामी मनुष्य की भांति उषा के पीछे-पीछे आता है।

124. ऋग्वेद 1:92:1
125. ऋग्वेद 1:92:3
126. ऋग्वेद 1:92:4

सूर्यो देवीमुषसं रोचमानां मर्यो न योषामभ्येति पश्चात्।।[127]

विवाह की रस्म में वधू द्वारा वर को और वर द्वारा वधू को वस्त्र पहनाना होता है; इसी प्रतीक से उषा अपनी रंगबिरंगी दीप्तियों से मानो सूर्य को वस्त्र पहनाती है:-

प्रत्यर्ची रूशदस्या अदर्शि वि तिष्ठते बाघते कृष्णमभ्वम्।
स्वसं न पेशों विदथेष्वत्र्जत्रिचत्रं दिवो दुहिता भानुमश्रेत्।।[128]

अर्थात् उषा की तमनाशक दीप्ति सामने दृष्ट है जो महान् अन्धकार को रोकती है तथा सूर्य रश्मि को स्थापित करती है मानो आकाश की पुत्री बहुवर्णी सूर्य को वस्त्र पहनाकर आश्रय लेती है।

उषा सम्पूर्ण संसार को मोह लेने वाली सुन्दरी है, वह शोभायुक्त सुन्दर अंगों वाली है और सब की प्रसन्नता के लिये स्वच्छन्द रूप से मुस्कराती हुयी अपनी सुन्दरता बिखेरती है:-
अतारिष्म तमसस्पारमस्योषा उच्छन्ती वयुना कृणोति।
श्रिये छन्दो न स्मयते विभाती सुप्रतीका सौमनसायाजीगः।।[129]

संध्याकाल के डूबते सूर्य का सौन्दर्य भी ऋग्वेद के कवि के लिये उषा प्रतीक ही है, वहां पत्नी की भांति वह अपने पति की प्रतिष्ठा से ही मानो प्रसिद्ध होती है:-

व्यूर्ण्वती दिवो अन्तां अबोध्यप स्वसारं सनुतर्युयोति।
प्रमिनती मनुष्या युगानि योषा जारस्य चक्षसा विभाति।।[130]

अर्थात् आकाश की मर्यादाओं को ढांकती हुयी अवसान का समय जानकर अपनी भगिनी संध्या को ऊर्ध्व आकाश में नियुक्त करती है तथा युग-युग बीत जाने पर भी अपने प्रेमी की पहचान से ही युवती उषा प्रतिष्ठित होती है।

संध्या या रात्रि उषा की बहिन भी है और सौत भी फिर भी सौत को

127. ऋग्वेद 1:115:2
128. ऋग्वेद 1:92:5
129. ऋग्वेद 1:92:6
130. ऋग्वेद 1:92:11

अधिकार देना बहुपत्नी विवाह की स्वीकृति है। संध्या भी अपने थके हुये पति सूर्य को अपने आगोश में लेकर स्वागत करती हैः-

तत्सूर्यस्य देवत्वं तन्महित्वं मध्या कर्त्तोर्विततं सं जभार।
यदेदयुक्त हरितः सधस्थादाद्रात्री वासस्तनुते सिमस्मै।।[131]

अर्थात् यह सूर्य का देवत्व और महिमा है कि वह आकाश और धरती के बीच फैली हुयी किरणों को समेट लेता है। वह जैसे ही स्वर्णिम अश्वों को अस्तबल में खोलता है तभी रात्रि उसके लिये अपने सभी वस्त्रों को पसार देती है।

यद्यपि उषा के प्रायः दिव्य शुभ सौन्दर्य का ही वर्णन किया गया है, परन्तु दिन-दिन करके बढ़ते समय के मान से उसका मनुष्य के लिये मृत्यु रूप भी प्रदर्शित किया गया हैः-

पुनः पुनर्जायमाना पुराणी समानं वर्णमभि शुम्भमाना।
श्वघ्नीव कृत्नुर्विज अभिनाना मर्त्तस्य देवी जरयन्त्यायुः।।[132]

अर्थात् अनन्त काल से चली आ रही देवी उषा प्रतिदिन उत्पन्न होती हुयी एक समान रूप को चतुर्दिक प्रकाशित करती हुयी शिकारी-स्त्री क्षति पहुंचाकर जैसे पक्षियों को पकड़ती है उसी पकार मरणशील मनुष्य की आयु को क्षीण करती है।

उषा की भांति ही विद्या को भी पत्नी प्रतीक दिया गया है जो विद्वान व्यक्ति के प्रति पूर्ण समर्पण कर देती हैः-

उतो त्वस्मै तन्वं वि सस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः।।[133]

अर्थात् उधर तो विद्वान व्यक्ति के लिये विद्या उसी प्रकार है जैसे पति के लिये प्रेम से भरी सुवस्त्रा पत्नी अपने शरीर को विशेषतः समर्पित करती है।

काव्यत्व में सहृदयता और क्रूरता के भावों को ही नहीं अपितु अन्यान्य भावों को भी संजोया गया है जो उपमा, रूपक, प्रतीकों आदि से अभिव्यक्त किये गये हैं। वे एक अलग शोध के विषय है, अतः हम उनका वर्णन नहीं कर रहे हैं।

131. ऋग्वेद 1:115:4
132. ऋग्वेद 1:92:10
133. ऋग्वेद 10:71:4

तृतीय अध्याय

(क) 'इतिहास पुराणाभ्यां वेदं उपबृंहयेत्' का आदेश।

(ख) उसका अर्थ और मन्तव्य।

(ग) प्रस्तुत शोध में इस आदेश को चरितार्थ करने की विभिन्न स्थितियाँ।

(घ) शोधकार्य के लिये इस आदेश का महत्व एवं उपादेयता।

तृतीय अध्याय

(क) 'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं उपबृहयेत' का आदेश

वेद ज्ञान की परम्परा लुप्त हो जाने के उपरान्त वेदों को समझने में जो कठिनाई होने लगी उसको हल करने के लिये प्रथमतः वेदाङ्गों का प्रादुर्भाव हुआ और शिक्षा-कल्प-निरुक्त-व्याकरण-छन्दज्योतिष के पठन-पाठन तथा विस्तार से वेदार्थों का मर्म जानने के प्रयत्न किये गये। एक द्वितीय विकल्प के रूप में वेद में वर्णित सिद्धान्त और तथ्य उपवेदों के रूप में विन्यासित किये गये और उनका सतत विस्तार किया गया। तीसरे विकल्प के रूप में यज्ञपरक प्रक्रियात्मक विनियोगों से तथ्यों को पुनर्सत्यापित करते हुये सिद्धान्तों को समझने की चेष्टा ब्राम्हणों और आरण्यकों में की गयी, और चौथे विकल्प के रूप में प्राचीन इतिहास और परम्परा को निगूढ़ वेदार्थ के ज्ञान का आधार बनाया गया। इस अन्तिम विकल्प के संदर्भ में सूतों की परम्परा से चली आती हुयी कथाओं का संकलन किया गया और जन-जन में फैले हुये परम्परागत ज्ञान-विज्ञान का संकलन तथा विश्लेषण करते हुये इन्हें नये सिरे से संजोया गया। वेदार्थ ज्ञान के ये सभी प्रयत्न अपने-अपने विकल्पों की पुष्टता के साथ लगभग एक ही समयान्तराल में किये गये, और कहीं कहीं एक ही आचार्यों द्वारा कई विकल्पों की पुष्टि में कार्य किये गये।

वेदों के विलुप्त होने के तो पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध होते हैं, परन्तु विलुप्त होने के कारणों और परिस्थितियों पर कोई सम्यक् चिन्तन उपलब्ध नहीं होता है। महाभारत शानिपर्व की हयग्रीव अवतार की कथा[1] मात्र इतना संकेत देती है कि वेदविलुप्ति के कारण रज और तम की प्रवृत्तियां थीं जिन्हें ही मधु और कैटभ असुरों की प्रतीकात्मकता प्रदान की गयी है। जड़ता, आलस्य और प्रमाद तम के लक्षण हैं तथा राग, यथार्थ और भोग के क्रियात्मक पहलू रज के लक्षण हैं।

इन पर विचार करने से स्पष्ट होता है कि किसी कालखण्ड में आर्यजनों में जो जड़ता-आलस्य-प्रमाद उपजा और भौतिक आसक्ति और भोग की प्रवृत्तियां पनपीं, उनके कारण ही वेदों का ज्ञान विलुप्त हुआ। यदि यह सही माना जाये तो अनुमान यह होता है कि वैदिक काल के उपरान्त एक अन्धकार युग का कालखण्ड होना चाहिए जो कम से कम एक हजार

1. महा० शान्ति० अध्याय 347

वर्षों का रहा होगा।[2] इस काल खण्ड में ही वेदों को लोग भूल गये और वैदिक ज्ञान की सम्पूर्ण परम्परा नष्ट हो गयी। इस विनाश का कारण वेद के सम्बन्ध में ईश्वरीय आस्था और धार्मिक आरोपण भी हो सकते हैं, क्योंकि अन्धयुगों का इतिहास धार्मिक कट्टरवादिता की परिणति रही है तथा उन समाजों ने जो धार्मिक कट्टरता की पराकाष्ठा पर रहे हैं ज्ञान विज्ञान के क्षेत्र में मनुष्यता को कुछ भी योगदान नहीं किया है। उदाहरण के लिये अरबों और इस्लाम का ज्ञान विज्ञान के क्षेत्र में कोई योगदान नही रहा है, और वे स्वयं अपरिहार्य ज्ञान-विज्ञान के लिये भी भारत, चीन और यूनान पर निर्भर बने रहे। ईसाई पादरियों के कट्टरवादी अन्धयुग के कारण ही यूनान के उन्नत ज्ञान विज्ञान को लोग भूल गये, और उस लम्बे अन्धयुग में ज्ञान विज्ञान पर कुठाराघात होता रहा तथा बाइबिल के मिथ्या और अल्पज्ञान को ही प्रतिष्ठित करने की चेष्ठा होती रही। इस्लाम भी कुरान के ज्ञान को अन्तिम सत्य के रूप में सतत प्रतिष्ठित करने की ऐसी ही चेष्ठा करता चला आया है। भारत में गुप्तकाल के बाद जो अन्धकार की लहर आयी और जो भक्ति आन्दोलन से अधिकाधिक पुष्ट हुयी[3], उसने भी ज्ञान-विज्ञान की प्रगति को पीछे ढकेल कर एक अन्धकार युग की शुरूआत की जो तब तक पूर्णतः प्रभावी रहा है जबतक योरप में पुनरुत्थान काल का प्रादुर्भाव हुआ और हम योरप के सम्पर्क में आये, तथापि अभी भी इस अन्धकार का प्रभाव पूर्णतः विलुप्त नहीं हुआ है और कट्टर धर्मावलम्बियों पर उसका प्रभाव यथावत है। तथापि, वेदों के विलुप्त होने के कारणों और परिस्थितियों पर प्रकाश डालने के लिये पर्याप्त सम्यक् अनुसंधान और शोध की आवश्यकता प्रतीत होती है।

इतिहास और परम्परा का वेदार्थ-विकल्प महाभारत आदिपर्व में इन शब्दों में प्रस्तुत किया गया हैः-

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
बिभेत्यल्पश्रुताद् वेदो मामयं प्रहरिष्यति।
कार्ष्णं वेदमिमं विद्वान् श्रावयित्वार्थमश्नुते।।[4]

अर्थात् इतिहास और पुराण द्वारा वेदों का सम्यक् रूप से अर्थ विस्तार

2. अन्धकारयुग प्रायः लम्बे होते हैं जो प्रायः हजार वर्ष से कम नहीं होते; इतने ही समय में भाषा में दुर्बिज्ञ परिवर्तन हो जाते है, जैसे अपभ्रंश और आधुनिक हिन्दी के बीच हुये हैं।

3. धार्मिक कट्टरवाद की विशेषता यह है कि वे अपने धर्मग्रंथ को ईश्वरीय ज्ञान बताते हैं, और उसके आगे सभी ज्ञान विज्ञान का तिरस्कार करते हैं। वेद,अवेस्ता, बाइबिल, कुरान, ग्रंथसहिब आदि सभी पर ईश्वरीय वाणी होने का आरोपण किया गया है।

4. महा0 आदि0 1:267-268

करना चाहिये। वेद अल्पश्रुत अर्थात् अज्ञानी व्यक्ति से डरते रहते हैं कि यह मुझ पर प्रहार कर देगा। जो विद्वान् व्यक्ति कृष्ण द्वैपायन के इस वेद (महाभारत) का दूसरों को श्रवण कराते हैं वे वेदार्थ को प्राप्त करते हैं।

वेदार्थ के सम्बन्ध में महाभारत की विशेषतायें निम्न हैं:-

सूक्ष्मार्थन्याय युक्तस्य वेदार्थैर्भूषितस्य च।
भारतस्येतिहासस्य पुण्यां ग्रन्थार्थसंयुताम्
संस्कारोपगतां ब्राह्मीं नानाशास्त्रोपबृंहिताम्।।[5]

अर्थात् महाभारत संहिता सूक्ष्म-न्यायपूर्ण अर्थों वाली, वेदार्थों के द्वारा सजी हुयी, भारत (भरतवंशी) के इतिहास की, ग्रन्थ के अर्थ से युक्त, पुण्य, शब्द संस्कार की हुयी, सम्पूर्ण ज्ञान से युक्त, अनेक शास्त्रों से अनुरूपतः विस्तरित है।

महाभारत के लक्षण को संक्षेप में इस प्रकार वर्णन किया गया है:-

इतिहासाः सवैयाख्या विविधाः श्रुतियोऽपि च।
इह सर्वमनुक्रान्तमुक्तं ग्रन्थस्य लक्षणम्।।[6]

अर्थात् इस महाभारत ग्रन्थ में व्याख्या के साथ अनेक इतिहास तथा विविध त्रुटियों (सुनी हुयी किवंदन्तियों या वेदमन्त्रों) का पूर्णरूप से निरूपण किया है और यहीं ग्रन्थ का लक्षण बताया है।

ग्रन्थ की विषयवस्तु में वेद का रहस्य, वेदाङ्ग, उपनिषदों और वेदों के विस्तार की क्रिया, तीनों कालों में इतिहास-पुराणों का विकास तथा निर्मिति, जरामृत्युभयव्याधिभावाभाव का विनिश्चय तथा विविध धर्मों और आश्रमों के लक्षण, चातुर्वर्ण्यविधान, पुराणों का सम्पूर्ण तत्व, भूगोल और खगोल, वेद, अध्यात्म, न्याय, शिक्षा, चिकित्सा, दान, पाशुपत, दिव्यमानुष जन्म के कारण, तीर्थ, देश, नदी, पर्वत, वन, युद्ध कौशल, बोलियां, लोकयात्राक्रम तथा सभी लोकोपयोगी पदार्थ संग्रहीत हैं।[7] यह देवताओं का रहस्य है[8], यह निरूक्त है[9], यह भरतों का महान् जन्मवृतान्त और उनका महान् और अद्‌भुत इतिहास है,[10] यह अर्थशास्त्र, धर्मशास्त्र तथा कामशास्त्र भी कहा गया है[11], इस उत्तम इतिहास से विद्वानों की बुद्धियां उत्पन्न होती हैं[12],

5. महा० आदि० 1:18-19
6. महा० आदि० 1:50
7. महा० आदि० 1:62-70
8. महा० आदि० 64:3
9. महा० आदि० 62:40
10. महा० आदि० 62:39-40
11. महा० आदि० 2:383
12. महा० आदि० 2:385

इसके आख्यान में पुराण अर्थात् प्राचीन परम्परा है[13], यह आख्यान द्रव्यों की सभी क्रियाओं और गुणों का आश्रय है जैसे मन की क्रिया ही समस्त इन्द्रियों की विचित्रताओं का आधार है[14], संसार की कोई भी कथा इस आख्यान के बिना स्थिर नहीं है जैसे भोजन के बिना शरीर नहीं रह सकता है[15], विद्वानों के द्वारा यह उपजीव्य है[16], तथा सम्पूर्ण लोक और वेद की वाणी स्वर और व्यञ्जन रूप में इसमें अर्पित है[17], विपरीत दिशा में चेष्टा करते हुये अज्ञान के अन्धकार से अन्धे इस लोक के प्राणी की आंखें खोलने वाली यह ज्ञानाञ्जनशलाका है[18], यह पुराणरूपी पूर्ण चन्द्रमा से श्रुतियों की चांदनी प्रकाशित करने वाला तथा मनुष्यों की बुद्धि को प्रकाशित करने वाला है[19], और भी

धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित।।[20]

अर्थात् धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष के सम्बन्ध में जो इस ग्रन्थ में हैं वहीं अन्यत्र (वेद-शास्त्रों में) भी है, जो इसमें नहीं है, वह कहीं भी नहीं है।

इस महाभारत रूप इतिहास-पुराण के तीन आचार्य[21] है; व्यास, शुक और संजय; तथापि इसके रहस्य को सूत संजय जो लोक कथाओं और परम्पराओं का अनुसंधान करने वाले हैं समझते है कि नहीं यह सन्देहास्पद है। व्यास और शुक ऋषि हैं, इसलिये वे रहस्य के जानकार हैं किन्तु सूत ऋषि नहीं हैं इस कारण उनके बारे में सन्देह है। तथापि शुक का महाभारत का आचार्य होना संदिग्ध है, वे भागवत पुराण के आचार्य अवश्य हैं। तब महाभारत के आचार्य शुक कौन हैं ? एक अन्य स्थान पर व्यास, वैशम्पायन और सूत महाभारत के आचार्य बतलाये गये हैं।[22] नारद, असित और देवल की परम्परा में व्यास के शिष्य वैशम्पायन ही शुक कहलाते हैं।[23] वाणभट्ट ने अपने उपन्यास 'कादम्बरी' में ऋषियों के नाम अपने पात्रों को देते हुये

13. महा० आदि० 2:386
14. महा० आदि० 2:387
15. महा० आदि० 2:388
16. महा० आदि० 2:38
17. महा० महा० आदि 2:39
18. महा० आदि० 1:84
19. महा० आदि० 1:86
20. महा० आदि० 62:53
21. महा० आदि० 1:81
22. महा० आदि० 1:10:11
23. महा० आदि० 1:107-109

चाण्डाल कन्या द्वारा राजाशूद्रक से पिंजड़े में बन्द तोते का परिचय "वैशम्पायनो नाम अयंशुकः" कहकर कराया है[24] जिससे उनके काल तक वैशम्पायन और शुक को ही एक व्यक्ति माने जाने का प्रमाण मिलता है। महाभारत[25] में भी वैशम्पायन के दो बड़े भाई तित्तरि और कठ बताये गये हैं और शुक को मिलाकर तीनों भाइयों के नाम चिड़ियों पर ही हैं, जिनसे ऋषियों की अनुसंधान विधि का भी ज्ञान होता है, क्योंकि तित्तर जड़े खोद-खोद कर, कठ वृक्ष की छाल तोड़-तोड़ कर और शुक दूर तक खोज-खोज कर अपना भोजन प्राप्त करते हैं। इस प्रकार शुक और वैशम्पायन में अनन्यभाव प्राप्त होता है।

व्यास जीके शिष्य वैशम्पायन यजुर्वेद के भी आचार्य हैं।[26] वैशम्पायन यायावर होने के कारण 'चरक' कहे गये हैं और उनके शिष्यों को 'चरकाध्वर्य' कहा गया है[27], तैत्तरीयसंहिता और वाजसनेयी संहिता दोनों ही वैशम्पायन की प्रेरणा से उनकी शिष्य परम्परा में ही विकसित हुयीं। आयुर्वेद की चरकसंहिता 'अग्निवेशतन्त्र' का विकसित संस्करण है; इसके ऋषि वैदिक ऋषि हैं, अधिकांश सिद्धान्त और तथ्य वेद में उपलब्ध हैं, तथा कई मन्त्र जस-के-तस चरकसंहिता में उपलब्ध होते हैं।[28] दूसरे आचार्य सूत संजय की परम्परा में लोमहर्षण और उनके पुत्र उग्रश्रवा 'सूतजी' हैं जो पुराणों के आचार्य कहे गये हैं। पुराणों के लक्षण दस हैं, अथवा संक्षेप में पांच हैं:-

सर्गोऽस्थाय विसर्गश्य वृत्ती रक्षान्तराणि च।
वंशों वंशानुचरितं संस्था हेतुरपाश्रयः।।[29]

अर्थात् विश्व का सर्ग, विसर्ग, वृत्ति, रक्षा, मनवन्तर, वंश, वंशानुचरित, संस्था, हेतु और अपाश्रय।

इनके अर्थ लोक दृष्टि से करने चाहिये क्योंकि इतिहास-पुराण लौकिक काव्य कहे गये हैं। लोक दृष्टि से इनको जानकर मानव विकास के तथ्यों ओर सिद्धान्तों की जानकारी होती है जो वेदार्थ ज्ञान में सहायक होते हैं।

24. वाणभट्ट कादम्बरी
25. महा0 शान्ति 323:9 (पं0 सातवलेकर की टीका में)
26. भागवत 12:6:52
27. भागवत 12:6:61
28. यदि हास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्।
अग्निवेशकृते तन्त्रे चरक प्रति संस्कृते।। चरक9 सिद्धि 12:54 महाभारत की भाति चरक संहिता भी अपने को सर्वथापूर्ण घोषित करती है क्योंकि इस श्लोक का पूर्वार्द्ध ठीक महा0 आदि0 62:53 की भांति ही है।
29. भागवत 12:7:9

(ख) उसका अर्थ और मन्तव्य

उपर्युक्त पूर्वांश में हमने वेदार्थ के लिये महाभारत के आदेश की विवेचना की है और विचार किया है। इस आदेश में इतिहास क्या है, और पुराण क्या है, इस पर भी प्रकाश डाला है, किन्तु अब थोड़ा विस्तार से इनका अर्थ और मन्तव्य देखने की आवश्यकता है। ऊपर जो

"इतिहासाः सवैयाख्या विविधा श्रुतयोऽपि च।
इह सर्वमनुक्रान्तमुक्तं ग्रंथस्य लक्षणम्।।

कहा गया है वह बहुत महत्वपूर्ण है क्योंकि लक्षणों की दृष्टि से महाभारत ग्रन्थ को इतिहास और पुराण में सीमित कर लिया गया है। इतिहास के अर्थ "सवैयाख्या" या विस्तार एवं विकास के साथ "भरतवंशियों का महान् जन्म वृतान्त"[30] है। पुराण के अर्थ ''विविधा श्रुतयः'' अनेक प्रकार की सुनी हुई बातें तथा किवदन्तियां या लोक में प्रचलित कथायें तथा परम्परायें आदि हैं। इस कारण ही पुराण के दस लक्षण बताये गये हैं। इतिहास पुराणों का विकास और उनकी निर्मिति तीनों कालों के संदर्भ में मननीय है।[31] अब आवश्यकता इस बात की है कि हम वेद में भी देखें कि क्या उसमें तीनों कालों के संदर्भ से विस्तार ओर विकास के साथ भरतवंशियों का महान् जन्मवृतान्त है, और क्या प्राचीन परम्पराओं के संदर्भ में लोक में प्रचलित सुनी हुयी बातें और किवंदन्तियों का संकलन है।

यहां 'तीनों कालों' का क्या अर्थ है? विचार करने पर मात्र यह ही निश्चित होता है कि किसी विशिष्ट घटनाक्रम के संदर्भ से ही तीनों कालों का विनिश्चय किया गया है। चूंकि यह संदर्भ महाभारत के रचनाकाल से सम्बन्धित है इस कारण रचनाकाल का सर्वकालिक सम्बन्ध तो है ही, परन्तु इसमें भविष्यकाल भी सम्पन्न हो जाने के कारण केन्द्र बिन्दु उस घटनाक्रम पर ही बनता है जिसकी कथा महाभारत ग्रन्थ में रची गयी है। और, यह घटनाक्रम और कुछ नहीं प्रत्युत भरतवंशियों का महान् जन्मवृतान्त है, जो महाभारत ग्रन्थ के द्वारा वर्णित है।

भरताद् भारती कीर्तिर्येनेद भारतं कुलं।
अपरे ये च पूर्वे वै भारता इति विश्रुताः।।[32]

अर्थात् भरत से इस भूमि की भारती नाम से प्रसिद्धि है और यह भारत कुल प्रसिद्ध है जिसमें जो पहले हो चुके हैं तथा जो बाद में भी हुये हैं वे सभी भारत कहे जाते हैं।

30. महा० आदि० 62:39
31. महा० आदि० 1:63
32. महा० आदि० 74:131

अब, भरतजनों का यह जो महाभारत नाम का महान् और अद्भुत इतिहास है उसको जो 'निरूक्त' जानता है वह सब पापों से छूट जाता है:-

निरूक्तमस्य यो वेद सर्वपापैः प्रमुच्यते।
भरतानां यतश्चायमितिहासो महाद्भुतः।।[33]

यहां 'निरूक्त' का क्या अर्थ है ? जो नहीं कहा गया है यही अर्थ है; तब महाभारत की कथा असली नहीं हैं प्रत्युत न कहे हुये को प्रस्तुत करने वाले मन्तव्य से रची गयी है।[34]

महाभारतमाख्यानं कुरूणां चरितं महत्।[35]
तथा महाभारतमाख्यानं पाण्डवानां यशस्करम्।[36]
एवं महा० आदि० 60:18 में कुरूओं और पाण्डवों का चरित्र कहने की बात कही गयी है।

कुरूणा पाण्डवानां च यथा भेदोऽभवत्पुरा।[37]
तथा भेदं सर्वविनाशं च कुरूपाण्डवयोस्तदा।[38]

आदि इन सबसे कुरु और पाण्डवों के चरित्र का ही आख्यान माना गया है, किन्तु महाभारत युद्ध को अनेक स्थानों पर कुरू और सृंजयवंशियों के बीच युद्ध बतलाया गया है।

पार्जिटर[39] की वंशतालिका में कुरू पांचाल इस प्रकार हैं:-

कुरु	पांचाल
संवरण	सृंजय
कुरु	च्यवन
परीक्षित	सुदास
जनमेजय	सहदेव
भीमसेन	सोमक
	जन्तु
	प्रशत्
	द्रुपद

33. महा० आदि० 62:40
34. हापकिन्स महाकाव्यों का स्रोत नाराशंसी को मानते हैं (ज०अ०ओ०सो० 15, 264 नोट); काठकसंहिता (14.5) गाथा और नाराशंसी को झूठा (अनृत) बतलाती है।
35. महा० आदि० 62:1
36. महा० आदि० 59:6
37. महा० आदि० 60:22
38. महा० आदि० 60:24
39. F.E. Pargiter: Ancient Indian Historical Tradition: London: Oxford University Press, 1922.

महाभारत आदिपर्व ९4 वें अध्याय में कुरूवंश की तालिका निम्नवत् हैः–

संवरण
कुरू
परिक्षित – जनमेजय
भीमसेन – धृतराष्ट्र, पाण्डु
प्रतीप
देवापि, शन्तनु, वाल्हीक

महाभारत आदिपर्व ९5वें अध्याय में कुरूवंश की तालिका इस प्रकार हैः–

संवरण
कुरू
विदूर
अनश्वा
परिक्षित
भीमसेन
प्रतिश्रवा
प्रतीप
देवापि, शन्तनु, वाल्हीक

भागवत २२वें अध्याय के अनुसार कुरु और पांचाल वंशावलियां इस प्रकार हैः–

कुरु	पांचाल
परीक्षित, जह्नु	भर्याश्व
सुरथ	मुद्गल, यवीनर, बृहदिषु, काम्पिल्य, सृंजय
विदूरथ	दिवोदास
सार्वभौम	मित्रेयु
जयसेन	सुदास, च्यवन, सहदेव, सोमक
राधिक	जन्तु
अयुत	प्रषत
क्रोधन	द्रुपद
देवातिथि	
ऋष्य	
दिलीप	

प्रतीप

देवापि, शन्तनु, वाल्हीक

अथर्ववेद[40] में परीक्षित का नाम कई बार आया है और उसके सम्बन्ध में कौरव्य शब्द आया है; इस प्रकार परीक्षित का कुरु का पुत्र या पौत्र होना सिद्ध होता है और यह उपर्युक्त वंशावलियों के भी अनुरूप बैठता है। ब्राम्हण ग्रन्थों में जनमेजय को पारिक्षित्य कहा गया है जो उनके परिक्षित-पुत्र होने का संकेत है, जनमेजय के भाइयों में उग्रसेन, भीमसेन और श्रुतसेन के नाम आते हैं जो अश्वमेध यज्ञ द्वारा पापमुक्त हो गये थे। यह कथा महाभारत आदिपर्व तीसरे अध्याय में भी है, जिसे निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि पूर्ववर्ती परीक्षित-जनमेजयादि से सम्बन्धित है या परवर्ती से 1 तथापि, पहले तथा बाद में भी वे ही पीढ़ियां आने से यह विचार बनता है कि एक काल्पनिक कथा जिसके नाम काल्पनिक और प्रतीकात्मक हैं एवं तथ्य कुरु पान्चाल वंशों की आपसी कलह के परिचायक हैं, को वंशावली के बीच में प्रक्षेपित कर दिया गया है। और इसी कारण परीक्षित, जनमेजय और भीमसेन आदि की पीढ़ियां पहले भी तथा पीछे भी आ गयी हैं।

इसका प्रमाण यह बनता है कि देवता प्रतीक रूप से अवतार ग्रहण किये जाने का जो वर्णन महाभारत आदि पर्व अध्याय 67वें हुआ है उनमें मात्र महाभारत के पात्र, भीष्म से लेकर अभिमन्यु तक, के ही अवतारी होने का प्रसंग है। देवता-प्रतीक रूप से अवतार ग्रहण के आधिदैविक एवं आध्यात्मिक अर्थ हो जाते हैं। दूसरी ओर प्रतीप, शन्तनु, धृतराष्ट्र, पाण्डु, परीक्षित आदि के नाम भी काल्पनिक कथा में जोड़ दिये जाने से, तथा कुरुवंशियों और सृन्जयवंशियों के बीच शत्रुता को यथावत् बनाये रखने से, और पुरोहितों के बीच सद्भाव व दुर्भावनायें भी यथावत् बनाये रखने से, देश-काल-परिस्थिति की जो एकरूपता बनायी रखी गयी, उसने काल्पनिक कथा के भी सत्य प्रतीति का भ्रम उत्पन्न कर दिया है।

आश्चर्यजनक रूप से कुरु-पान्चालों के बीच वैमनस्य की दाशराज्ञ युद्ध की ऋग्वेदीय कथा का वर्णन न महाकाव्यों में दिया गया है और न पुराणों में जबकि लगभग सभी वैदिक कथाओं को इतिहास पुराणों में विस्तार किया गया है। महाभारत आदिपर्व अध्याय 94 वें के अनुसार

40. अथर्वेद 20:127

संवरण के काल में प्रजा की क्षय अनावृष्टि, भूख, व्याधि और मृत्यु से होने लगी, शत्रुओं की सेनायें भरतवंशियों का नाश करने लगीं, इसी समय पान्चालों ने आक्रमण कर संवरण को युद्ध में हरा दिया और उन्हें सिंधु के किनारे तक खदेड़ दिया। वहां सुरक्षित निवास करते हुये संवरण ने वसिष्ठों को पुरोहित बनाकर धीरे-धीरे अपना पूरा राज्य जीत लिया। उनके पुत्र कुरू ने भी अपना विजयक्रम जारी रखा और कुरूजाङ्गल तथा कुरूक्षेत्र प्रदेश उन्हीं के नाम पर बसाये गये। लगता है कुरू पान्चालों का यह वैमनस्य आगे भी कई पीढ़ियों तक चलता रहा।[41]

दाशराज्ञयुद्ध के ऋग्वेद में मात्र संदर्भ मिलने से कोई ऐतिहासिक रूपरेखा प्रस्तुत नहीं होती। पान्चालों की कई पीढ़ियों के नाम तो इतिहास पुराणों की वंशावलियों से यथावत् मिल जाते हैं, किन्तु कुरूओं का क्रम प्राप्त नहीं होता है। पुरोहितों की श्रृंखला से भी कोई निष्कर्ष नहीं निकलता क्योंकि उनमें से अधिकतर दोनों वंशों से सम्बन्धित रहे हैं, भारद्वाज, वशिष्ट, विश्वामित्र और अंगिरस सभी पान्चालों के ही पुरोहित दिखाई देते हैं। "भरतवंशी" शब्द भी दोनों वंशों के लिये प्रयुक्त दिखता है और "पौरव" से भी ऐसा ही आशय निकलता है। कुरूश्रवण त्रासदस्यव, उपमश्रवस और मित्रातिथिनहीं बल्कि परिक्षित स्थिति कुछ-कुछ स्पष्ट करता है और ब्राम्हणों में जनमेजय के अश्वमेधीय संदर्भ भी कुछ स्थिति स्पष्ट करने में सहायक हैं।

ऋग्वेद[42] में अजादि (आजमीढ़वंशी) तृत्सुओं के बैरियों के रूप में आते हैं। इस प्रकार यह संभावना प्रबल हो जाती है कि ऋग्वेदीय दाशराज्ञयुद्ध को ही एक नवीन कलेवर देकर देश-काल-परिस्थिति के साम्य से महाभारत कथा के रूप में वर्णित किया गया। इसमें "दाशराज्ञ" का अर्थ 'मछुआरों' से लेते हुये "गंगा" और "सत्यवती" के जन्मवृतान्त से महाभारत कथा प्रारम्भ करते हुये भरतवंश की समाप्ति पर इन मछुआ कन्याओं तथा इनके

41. ऋग्वेद (5:33:8) में संवरण पुरूकुत्स के पुत्र त्रसदस्यु का पुरोहित है, न कि स्वयं राजा हों। यहीं त्रसदस्यु कुरुश्रवण का पिता है (ऋ 10:33:4)
42. ऋग्वेद 7:18:19

मातृसत्तात्मक पुत्र कृष्णद्वैपायन[43] से पुनः कुरूवंश की उत्पत्ति कराकर उनके बीच ही वैमनस्य दिखाते हुये महायुद्ध का नियोजन और पान्चालों द्वारा कौरवों के विरूद्ध पाण्डवों की सहायता के रचना क्रम के साथ ही इनके प्रतीकों के आध्यात्मिक पहलुओं पर प्रकाश डालने की चेष्टा की गयी है।

निष्कर्ष यह निकलता है कि वेद में संदर्भित जो आख्यान हैं, उन्हें उपाख्यान रूप में इतिहास पुराणों में विस्तार दिया गया है तथा मुख्य उद्देश्य वेद की तत्कालीन भौतिक तथा सामाजिक परिस्थितिकी का परिचय देना है न कि किसी कुल या वंश का वृतान्त बतलाना हो। मात्र सन्दर्भों से कभी-कभी उपाख्यान बना कर प्रक्रियाओं के स्पष्टीकरण के उद्देश्य से कथा की पूर्ति की गयी है और एक सम्पूर्ण कथा का रूपक प्रदान किया गया है। प्रतीकात्मक रूप से संदर्भित आख्यानक को रूपकत्व प्रदान करने के पीछे आधिदैविक अथवा आध्यात्मिक प्रक्रियाओं को समझाने का उद्देश्य भी रहा है। इस प्रकार वेदार्थ को प्रकट करने में इतिहास-पुराणों ने सामाजिकी, परम्परा, इतिहास, तकनीकी आदि के स्पष्टीकरण के साथ महती भूमिका अदा की है।

(ग) प्रस्तुत शोध में इस आदेश को चरितार्थ करने की विभिन्न स्थितियाँ

महाभारत आदिपर्व 67वें अध्याय में देवता-प्रतीक रूप से द्रोण-बृहस्पति, अश्वत्थामा-शिव और यम, शान्तनु पुत्र-अष्टावसु (भीष्म-अपरओजस्), कृप-रूद्रगण, शकुनि-द्वापर, सात्यकि, द्रुपद, कृतवर्मा और विराट सभी मरुद्गण, धृतराष्ट्र-अरिष्टा पुत्र हंस गन्धर्व, विदुर-धर्म, दुर्योधन-कलि, युधिष्ठिर-धर्म, भीमसेन-वायु, अर्जुन-इन्द्र, नकुल और सहदेव-अश्विनी कुमार, अभिमन्यु-चन्द्रपुत्र वर्चा, धृष्टद्युम्न-अग्नि, द्रोपदीपुत्र-विश्वेदेवता, कर्ण-सूर्य (मृत्यु), कृष्ण-नारायण (पर ओजस्), बलराम-शेषनाग, रूक्मणी-लक्ष्मी, द्रोपदी-शची, कुन्ती-सिद्धि, माद्री-धृति, गान्धारी-मति हुये तथा अन्य राजागण असुरों-दैत्यों-दानवों-राक्षसों-गन्धर्वों-देवताओं आदि के प्रतीक रूप हैं। ये प्रतीकात्मकतायें ठीक ऋग्वेद

43. कृष्णद्वैपायन व्यास द्वारा नियोग से कुरूवंश चलाने का प्रतीकात्मक अर्थ कथा के वश की रचना करके चलाना भी हो सकता है।

जैसी हैं और देवताओं के संदर्भ से प्रक्रियाओं को स्पष्ट करने वाली हैं। उदाहरण स्वरूप कृष्ण और भीष्म दोनों ही वसुओं से सम्बन्धित हैं, दोनों अपनी माताओं के आठवें पुत्र है जिनके सात भाई मारे जाते हैं, अन्तर मात्र इतना है कि कृष्ण का सातवां भाई भ्रूणावस्था में ही रोहिणी के गर्भ में चला जाता है, वसु रस-रक्त-मांस-मेद-अस्थि-मज्जा-शुक्र-ओजस् रूप हैं, "यदन्नेनातिरोहति" रोहिणी से अतिरोहित होकर कृष्ण "नारायण" अर्थात् नार या जल के वासस्थान या अंश या पर-ओजस् होते हैं जबकि भीष्म (देवव्रत) अतिरोहित न होने से अपर-ओजस् बनते हैं, तथापि भीष्म कृष्ण के ही अंशावतार हैं और मृत्यु पर उनके शरीर से एक ज्योति निकल कर कृष्ण में ही समाहित हो जाती है। इस प्रकार अन्न की पाचन क्रिया से रस-रक्तादि से लेकर पर और अपर ओजस् तक के निर्माण की प्रक्रिया समझा दी गयी है और पर-ओजस् को ही पुरुष (पर्सनालिटी) का रूप प्रदान कर दिया गया है जो अमृत (जीवन) है, ईशान (मनुष्य शरीर का ईश्वर) है। इस प्रकार हम देखते हैं कि ऋग्वेदीय प्रतीकात्मकता परम्परा रूप से इतिहास-पुराणों तक अक्षुण्ण है, और इस आधार पर इतिहास पुराणों में दिये गये प्रतीकों के प्रयोग से हम वेद के अर्थ का उद्घाटन करने में समर्थ हो सकते हैं।

वस्तु के उद्भव, विकास, स्थिति और लय देशकाल-परिस्थिति सापेक्ष होती हैं। हम पहले ही बता चुके हैं कि देशकाल परिस्थिति की एकरूपता वेद से महाभारत तक बनाई रखी गयी है। ऋग्वेद[44] सोम या चन्द्र वंशियों को पहले आर्जीक (आधुनिक पश्चिमी पंजाब प्रान्त जो अब पाकिस्तान में है और रावलपिण्डी-तक्षशिला क्षेत्र को सम्मिलित करता है) में तथा फिर सरस्वती किनारे पन्चजनों में समाहित करता है। पन्चजन यदु, तुर्वश, द्रुह्यु, अनु और पुरु है जो बलवान हैं।[45] ये सभी तृत्सुवंशी बताये गये हैं।[46] द्रुह्यु के साथ कवष, श्रुत और वृद्ध नामक अन्य कुल संयुक्त थे।[47] तृत्सुवंशियों का यमुना से भी सम्बन्ध है तथा अज, शिग्रु और यक्षु (यदु) भी संयुक्त थे। नदी-सूक्त[48] में काशी से तक्षशिला जाने वाले प्राचीन मार्ग पर पड़ने वाली नदियों का क्रम गंगा से आर्जीकीया तक बतलाये जाने से चन्द्रवंशी

44. ऋग्वेद 9:65:23
45. ऋग्वेद 1:108:8
46. ऋग्वेद 7:18:15
47. ऋग्वेद 7:18:12
48. ऋग्वेद 10:75:5

राजाओं के देश का निश्चय होता है। अथर्वेद[49] में ऋषि द्वारा ज्वर को गान्धार, मूजवन्त, अंग और मगध के निवासियों पर जाने की प्रार्थना करने से देश का आकलन भी पूर्ववत् ही स्थिर होता है। बाद के ग्रन्थों से इस देश की उत्तरी और दक्षिणी सीमायें हिमालय और विन्ध्य-नर्मदा से आबद्ध होती है। इतिहास-पुराणों में इस देश की सीमा का यद्यपि विस्तार मिलता है किन्तु 'मध्य देश' को ही आर्यों का स्थान बताना तथा उसमें काशी, कोशल और विदेह को सम्मिलित करते हुये[50] मगध, अंग, बंग तथा माथुर और कुरु देश के सभी पश्चिमी-दक्षिणी देशों को म्लेच्छदेश कहना कुरु-पान्चालों अर्थात् भरतों के देश का स्पष्ट सूचक है।

काल को संवतों के परिप्रेक्ष्य में परिभाषित करना अत्यन्त कठिन है। हां, उस काल को मानवीय अवस्था की दृष्टि से परिभाषित करना अधिक समीचीन होगा और वत्सरों में भी काल की परिगणना के लिये मानवीय अवस्थाओं के संकेत अति आवश्यक हैं। ऋग्वेद में यद्यपि कृषि प्रधानता की स्थिति प्राप्त होती है और उसकी विधि और उपकरणों में बहुत उन्नति हो चुकी थी, तथापि पशुपालन के ही संदर्भ सर्वाधिक स्पष्ट होते हैं जो सूक्तों की रचनाओं में एक लम्बे समय को इंगित करते हैं। कृषि भूमि पर मनुष्य के स्थायित्व का प्रमाण बनती है, तथापि राजनैतिक अवस्था मात्र जनपदों के प्रारम्भ की ही सूचक दिखाई देती है। ऋग्वेद में प्रायः जनों की स्थिति ही स्पष्ट है। निष्कर्षतः जनों से जनपदों के प्रारम्भ का काल ही ऋग्वेद के समय की राजनैतिक विशेषता है। मानव-समूह से आगे चलकर कुल-कुलव्यवस्था, जन-जनराज्य, जनपद-जनपदीयराज्य, महाजनपद-महाजनपदीयराज्य, एकक्षत्र या चक्रवर्ती साम्राज्य, ये है विकास का क्रम। साम्राज्य का प्रारम्भ छठी शताब्दी ईसापूर्व से बिम्बसार के समय से होता है, जहां यह प्रवृत्ति मगध के बिम्बसार, कोशल के प्रसेनजित और अवन्ति के प्रद्योत में दिखाई पड़ती है जो अन्य महाजनपदों को जीतकर अपना साम्राज्य बढ़ाने में लगे थे। अन्ततोगत्वा एक पूर्ण चक्रवर्ती साम्राज्य की स्थापना मौर्यवंशी अशोक के काल में दिखाई देती है; यह समय 273 ई0पू माना जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि साम्राज्य के प्रारम्भ की प्रवृत्ति से लेकर साम्राज्य की वास्तविक स्थापना के बीच लगभग चार सौ

49. अथर्वेद 5:22:14
50. काशी, कोशल और विदेह मध्य देश में तभी स्थान पा सके जब ब्राम्हणों ने इन्हें अपना लिया। देखें वैदिक इण्डेक्स 'ब्राम्हण' पृ0 102 तथा 'मध्य देश' पृ0 141.

वर्षों का समय लगा है। विकास की प्रक्रिया में एक-एक स्थिति में अपने नवीनतम से पूर्व-प्राचीनों की ओर लगभग दूना समय लगता हुआ चलता है; इस आकलन से महाजनपदों की कालावधि 800 वर्ष और जनपदों की 1600 वर्ष होती है। इस प्रकार जनपद-जनपदीय राज्य का प्रारम्भ काल लगभग 3000 ई0पू0 बैठता है, जो ऋग्वेद की ऋचाओं के अन्तिम चरण की सम्भावित रचना तिथि है और यही कलियुग के प्रारम्भ की भी तिथि है।

पं0 श्याम सुन्दर मिश्र ने अपने लेख "महाभारत युद्धकाल" में अनेक स्रोतों से समय का आकलन कर महाभारत युद्ध का समय लगभग 2000ई0पू0 निश्चित किया है।[51] अन्य भारतीय विद्वानों ने प्रायः यह समय 3102 ई0पू0 निश्चित किया है, जबकि विदेशी विद्वानों ने इसे 1200 ई0पू0 से लेकर 1800 ई0पू0 तक निश्चित किया है। ये सभी आकलन प्रायः पौराणिक साहित्य के संदर्भ से किये गये हैं और पुराणों की वंशावलियों को प्राथमिकता दी गयी है। महाभारत युद्ध की कल्पना मात्र उस काल का आभास कराती है जब "संहिता युग" का आरम्भ होता है, और यह वेदों का पुनरुज्जीवन काल है, जिसके पूर्व एक हजार वर्ष का अंधयुग (वेद के लोप होने की समयावधि) जोड़ने पर ऋग्वेद का काल वहीं 3000ई0पू0 के लगभग निश्चित होता है। ऋग्वेद के एक ही सूक्त[52] में दो अलग-अलग ऋचाओं[53] में जो स्थापित सप्तस्वर लिपि और सद्यः निर्मित एकविंशति श्रवस लिपि के लेख मिलते हैं, उनका मिस्री चित्रलिपि तथा सिनाई की इक्कीस अक्षरों वाली लिपि से तुलना करने पर तथा ब्राह्मी और खरोष्ठी से उनका साम्य देखने पर लगभग 16 चिन्ह ब्राम्ही के और शेष में खरोष्टी के साथ से सभी 21 अक्षरों की समानता प्राप्त हो जाती है।[54] बाईस अक्षरों वाली फोनीशियन लिपिका काल लगभग 1500ईपू0 माना गया है, और भारतीय वाङ्मय में बाईस श्रुतियों का काल भी इसी के समतुल्य हो सकता है; मिस्र और सिनाई की लिपियों का काल 2000-1850ईपू0 का है। यहां भी इक्कीस से बाईस चिन्हों के विकास में ही लगभग 500 वर्षों का समय लगा है, तब सप्तस्वरों से इक्कीस श्रवस के विकास में तथा इक्कीस श्रवस के स्थापित होने में लगभग एक

51. श्यामसुन्दर मिश्र : महाभारत युद्धकाल, राष्ट्रधर्म, अगस्त 1984, पृष्ठ 34-43 तथा आगे।
52. ऋग्वेद 7:18
53. ऋग्वेद 7:18:11 तथा 7:18:24
54. देखें श्यामसुन्दर मिश्र : कम्परेटिव फिलालॉजी एण्ड आर्य प्राब्लम, इतिहास संकलन समिति पत्रिका, 1985, 3, 195-202.

हजार वर्षो का समय लगना चाहिये और इस दृष्टि से भी ऋग्वेद का समय ३०००ई०पू० के लगभग ही बैठता है।

पौराणिक प्रतीकात्मकता में सामाजिक परिस्थितियों में मौलिक विकास को ब्रम्हा से संयुक्त किया जाता है तथा फिर आगे की परम्परा इङ्गित की जाती है। इस क्रम में मनु, सप्तर्षि, सनत्कुमारादि, नारद सभी ब्रम्हा के मानसपुत्र कहे गये हैं। नारद संहिताकाल के प्रणेता जान पड़ते हैं जो वैदिककाल के उपरान्त आये हुये अन्धयुग के समापन पर पुनरूज्जीवनकाल के पुरोधा हैं। उनके शिष्य हैं विश्वक्सेन और इनके भी शिष्य व्यासपाराशर्य हैं। पुराणों के अनुसार व्यास के काल में ही वेदों की संहितायें निर्मित हुयीं अर्थात् वेद की ऋचाओं का संग्रह किया गया और व्यास ने उन्हें ऋक्, यजुः, साम और अथर्व में अलग-अलग बांट कर अपने शिष्यों पैल, वैशम्पायन, जैमिनि और सुमन्त्र को उन्हें पूर्ण करने का दायित्व सौंपा, जो उनके शिष्यों और प्रशिष्यों ने अपनी अपनी शाखाओं और संहिताओं द्वारा परिपूर्ण किया। संहितायुग के प्रारम्भ में वेदों का कलेवर निश्चित हो जाने के उपरान्त वेदों के अर्थज्ञान के लिये जो चेष्टायें की गयी उनके फलस्वरूप ही उपवेद, वेदांग, ब्राम्हण-आरण्यक तथा इतिहास-पुराण विकसित हुये और इस पूरे आन्दोलन की अन्तिम परिणति के रूप में कल्पसूत्र और उपनिषद् प्रकाश में आये। यह विकास लगभग 2000 ई०पू० से लेकर 500 ई०पू० तक चलता रहा। इस कालावधि में महान् खोज और अनुसंधान किये गये जिन सबका सम्बन्ध वेद से था। ये शोधकर्ता और अनुसंधानवेत्ता ऋषि कहलाये। वैदिक काल के बौद्धिकजनों में पुरोहित, ब्रम्हन्, विप्र, विद्वन्, कवि और कारू मिलते हैं,[55] और संहितायुग में ऋषि और मुनि। कवि और कारू रचनाकार थे, किन्तु संहिता युग के ऋषि मात्र मन्त्रद्रष्टा और उनके व्याख्याता थे; जैसे हिन्दी साहित्य में मुंशी भगवानदीन जी संहिताकार (ग्रन्थावलियों के संकलनकर्ता) काव्यद्रष्टा और व्याख्याता थे जबकि कबीर, जायसी, सूर आदि रचनाकार कवि थे। संहिताकाल की गुरू-परम्परा में व्यास पाराशर्य, विश्वक्सेन, नारद के पूर्व बृहस्पति या ब्रम्हा की दैवी स्थिति अथवा सनत्कुमारों, असित या देवल की काल्पनिक गुरु-परम्परा का निर्माण भी लुप्त-अन्तराल था रिक्ति को देशकाल परिस्थिति की एकरूपता दर्शाने की दृष्टि से ही भरने का प्रयास मात्र है। विद्वानों की निरन्तरता दर्शाने के लिये ही गुरूओं की सूचियों में वैदिक कवियों के नाम भी देने की चेष्टा की गयी है; किन्तु विश्लेषण करने पर

55. ऋग्वेद में एक-आध स्थान पर जो ऋषि (ऋ 1:1:2) या मुनि (ऋ0 10:136; 8:17:14) शब्द मिलते हैं; वे भाषा और ग्रंथ संयोजन में नवीनतम हैं और संहिताकारों की प्रविष्टि हो सकते हैं।

ये सूचियाँ नितान्त काल्पनिक ही सिद्ध होती है।

महाभारत की कथा में कृषि का वर्णन या लहलहाते खेतों के दृश्य यदाकदा ही मिलते हैं; मुख्यतः घोड़ों और गायों से सम्बन्धित कथा पशुपालन युग का आभास देती है। तथापि नगरों, की स्थापना और उनका उत्कर्ष, पक्के भव्य मकानों के निर्माण, बहुमूल्य धातुओं और रत्नों की संग्रह-प्रवृत्ति तथा सेना और राजपुरूषों के लिये विभिन्न व्यवस्थायें यह स्पष्ट इन्गित करती है कि उस काल में कृषि स्थापित हो चुकी थी। फिर भी वेद की परिस्थितियों से अनुकूलता दर्शानें के लिये ही महाभारत में पशुपालन युग का आरोपण किया गया है। कृषि की स्थापना के उपरान्त ही बाजार की स्थापना होती है जो विकास की समसामयिक परिस्थितियों की द्योतक है। साथ ही आवागमन और संचार साधनों का परिस्थितिजन्य विकास भी होता है। महाभारत में यह विकास स्पष्ट है। महाभारत में धन को प्राप्त करने की जो होड़ दिखाई देती है, वह ऋग्वेद[56] के समतुल्य है।

महाभारत में इतिहास और पुराण से तात्पर्य यद्यपि स्वयं महाभारत से ही है, तथापि लोक में इतिहास महाकाव्यों को और पुराण अष्टादश-पुराणों को माना जाता है। यह भी माना जाता है कि वेद के मन्तव्य का ही बृंहण महाकाव्यों और पुराणों में किया गया है। महाभारत-महाकाव्य पर पर्याप्त विवेचन हम कर चुके हैं; अब देखते हैं कि रामायण-महाकाव्य मे जो दाशरथ राम का चरित्र-चित्रण किया गया है, उनका कोई संदर्भ ऋग्वेद में प्राप्त नहीं होता है। ऋग्वेद[57] में पृथु के साथ राम नामक राजा का उल्लेख है; इसी प्रकार राक्षस रावण से रक्षा करने की बात कही गयी है।[58] इक्ष्वाकु-वंश की कोई स्थिति ऋग्वेद[59] में समझ नहीं आती और मात्र एक बार ही यह नाम ऋग्वेद में आया है। राम-रावण संघर्ष का कोई उल्लेख ऋग्वेद में प्राप्त नहीं होता। तथापि, रामायण-महाकाव्य में ठीक वे ही भौतिक परिस्थितियां प्राप्त होती हैं जैसी ऋग्वेद में हैं। कोशल नाम का जनपद था जिसका पुर राष्ट्र से घिरा अयोध्या नाम का था; चारो दिशाओं में जो जंगल क्षेत्र था वह अब भी जनस्थान कहलाता था जिससे जनपदीय राज्य की प्रारम्भिक स्थिति का आभास होता है। पुर से निकलने वाला महापथ था। नगर में चौड़ा राज-मार्ग था। नगर बड़े फाटकों वाली प्राचीर से घिरा था जिसके बाहर अलंघनीय गहरी खाई थी। नगर में बहुमंजिली

56. देखें ऋग्वेद 1:25:4:7:18:6, 10:9:112:3

57. ऋग्वेद 10:93:14

58. ऋग्वेद 1:36:15

59. ऋग्वेद 10:60:4; दशम मण्डल में ही राम और इक्ष्वाकु आये हैं जो अपेक्षाकृत नवीन हैं, तथा वेद का परिशिष्ट भाग है।

इमारतें तथा तोरणद्वार थे। भीतर पृथक-पृथक बाजारें थीं। सब प्रकार के यंत्र और अस्त्र-शस्त्र थे तथा कलाओं के शिल्पी, सूत और मागध निवास करते थे। नगर उद्यान, अमराई और शालवृक्षों की पंक्तियों से घिरा था। नगरवधुओं और नाटक संघों से युक्त था; घोड़े, हाथी, गोधन, ऊँट, गदहे आदि पशुओं से भरा था। नगर सामन्तों, राजसंघों, नाना देशों के निवासियों तथा वणिकों से सुशोभित था। पुरी धन-धान्य से भरी थी जिसमें वाद्यों की मधुर ध्वनियां गूंजती रहती थीं। अयोध्यापुरी में महारथी वीर और वेदों के पारगत विद्वान सदा निवास करते थे। सभी नागरिक अतिसम्पन्न थे और भोग सामग्री का कोई अभाव नहीं था; वे बाजूबन्द, निष्क तथा हस्ताभूषण आदि धारण किये रहते थे। राजा धन और वस्तु संग्रह में इन्द्र और कुबेर के समान थे। उनके अर्थशास्त्रज्ञ आठ मंत्री थे। पुरोहितों में वसिष्ठ और वामदेव सहित सुयज्ञ, जाबालि, काश्यप, गौतम, मार्कण्डेय और कात्यायन थे जो राज्य के हित साधन कोषसंचय सेना की व्यवस्था तथा प्रजापालन में लगे रहते थे[60] ये सब स्थितियां ऋग्वेदकाल में भी प्राप्त होती हैं।

राक्षसों ने उत्पात से, उनके ब्रम्हद्रोह से और यज्ञद्रोह से, भयानक नेत्र और कर्मवाले, कच्चा और नर मांस खाने वाले, रात्रि में आक्रमण करने वाले निशाचर, यातुधान से वसिष्ट, विश्वामित्र, भारद्वाज आदि पुरोहित त्रस्त थे, जिनका वर्णन दो पूरे सूक्तों[61] में तथा अनेकानेक मन्त्रों में प्राप्त होता है। हम देखते हैं कि इस समस्या का समापन रामायण में मिलता है। वहां भी वसिष्ठ, वामदेव, विश्वामित्र, भारद्वाज आदि अयोध्या में पुरोहित हैं, जो ऋग्वेद में सुदास आदि पान्चालों के पुरोहित भी हैं। रामायण की कथा का मन्तव्य राक्षसों से ब्राम्हणों और यज्ञ का उद्धार पाना है।

एक अन्य स्थिति कृषि है। यद्यपि ऋग्वेद में कृषि प्रणाली और कृषियंत्रों का पर्याप्त विकास दिखता है[62], किन्तु उपज में मात्र धान और जौ के ही संदर्भ मिलते हैं[63]; रामायण में भी अयोध्यापुरी को शालितण्डुल से भरापूरा बताया गया है[64] किन्तु, अमराई, बागवानी और वानिकी की अयोध्या में कोई कमी नहीं थी।[65] जनक का नाम सीरध्वज और उनकी पुत्री का नाम सीता कृषि की प्रारम्भिक स्थितियों का वर्णन करते हैं;

60. देखो रामायण बालकाण्ड सर्ग 5-7
61. ऋग्वेद 7:104; 10:87
62. ऋग्वेद 4:57; 10:101
63. ऋग्वेद 5:53:13 (धान्यबीज), 1:23:15, 66:3, 117:21, 135:8, 176:2 इत्यादि।
64. रामायण बालकाण्ड 5:17
65. रामायण बालकाण्ड 5:17

पुराकथा होने से ऋग्वेद-पूर्व की ऐसी अवस्था का वर्णन उचित भी है। इस विचार से राम का नाम भी 'आराम' का एक रूप ही हो सकता है। ये सभी पूर्व अवस्था के प्रतीक हैं और पशुपालन युग से कृषियुग में पैर रखने को ही कथानक का रूप प्रदान कर दिया गया है। रामायण में यज्ञों की प्रक्रिया को विधिवत निरूपित किया गया है जो वैदिक ग्रन्थों से मेल खाती है। सीताराम के विवाह की प्रक्रिया भी ऋग्वेद के सूर्या-विवाह से मेल खाती है, जहां मघानक्षत्र की विशिष्टता के साथ पाणिग्रहण और परिक्रमा, मात्र विवाह के इन दो रूपो को ही प्रस्तुत किया गया है, देव विवाह का चूड़ा-श्रृंगार और आर्ष विवाह का सिन्दूरदान दोनों ही ऋग्वेद और रामायण में समानरूप से अनुपस्थित रहे हैं। पुरोहितों द्वारा न्यायपूर्वक समान वितरण का महत्व भी रामायण में प्रतिपादित हुआ है जो जनों और जनराज्य की परम्परा का द्योतक है[66] सभी अभियानों में पुरोहित लोग आगे चलते दिखाई देते हैं, और उनकी मन्त्रणा और योजनानुसार ही राज्य और समाज के सभी कार्य सम्पादित होते हैं।

कृषि में गृह-वाटिका (बारी) से क्षेत्र-कृषि की ओर बढ़ने पर वनों को नष्ट करना आवश्यक होता है। वनवासी जातियां स्वभावतः वनों के नाश का विरोध करती हैं, क्योंकि उनका जीवन वनों पर आश्रित होता है। आर्यों और राक्षसों के बीच यही संघर्ष दिखाई देता है। रामायण कथा ने इसका प्रतीकात्मक रूप ग्रहण किया है। रामायण के माध्यम से ऋग्वेद काल की सभी सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक, धार्मिक तथा भौतिक परिस्थितियों का परिचय दिया गया है और प्रतीकों के माध्यम से अधिदैविक एवं आध्यात्मिक चेतना का भी परिचय कराया गया है। ऋग्वेद के संदर्भ वाले उपाख्यानों का भी विस्तार किया गया है, और प्रायः उपेक्षित इक्ष्वाकुवंशियों की वंशावलियों को प्रस्तुत करते हुये कोशल और विदेह के प्रसिद्ध राजपुरूषों के उपाख्यान भी प्रस्तुत किये गये हैं। ऋषियों के वंश-चरित्रों का थी वर्णन है तथा अनेक अन्य विस्तार भी मिलते हैं जो महत्वपूर्ण हैं।

जो स्थिति महाकाव्यों की बताई गयी है वही स्थिति पुराणों की भी है, तथापि पुराणों की संख्या के बारे में निश्चित रूप से यह कह पाना कठिन है। आजकल उपलब्ध होने वाले पुराणों की संख्या लगभग तीस है और इनमें से कई सोलहवीं सत्रहवीं शताब्दी तक लिखे गये हैं। प्राचीन पुराणों में श्रीमद्भागवत सबसे प्रसिद्ध है और सबसे सिद्ध है। इसे वेद का

66. रामायण बालकाण्ड 14:52; दृष्टव्य है कि प्राकृत साम्यवाद जो जन और जनराज्य का लक्षण है न्यायपूर्ण समान वितरण पर आधारित होता है, तथा यज्ञ उत्पादन की प्रक्रिया है।

पक्व-फल[67] कहा गया है। यह वेद स्तुतियों का भाष्यरूप है[68], सभी वेदों और इतिहास का सार-सर्वस्व[69] है, तथा इसमें पद-पद पर ब्राम्हणों, आरण्यकों, उपनिषदों, कल्पसूत्रों, वेदांगों आदि के अनुसंधेय तथ्यों और रहस्यों के संकेत मिलते हैं। भागवत के प्रारम्भ में ही प्रतीकात्मकता के सूत्ररूप में "यस्यावयवसंस्थानैः कल्पितो लोकविस्तर"[70] कहकर लोकविस्तार के प्रतीकरूपकों का संकेत कर दिया गया है; यही बात लगभग आगे[71] भी कही गयी है। पुरञ्जनोंपाख्यान[72] और भवाटवी[73] में तो पूरे उपाख्यान कहे गये हैं और फिर उनके प्रतीकों को खोलकर रहस्य समझाये गये हैं। अन्यान्य स्थानों पर भी प्रतीकों के प्रयोग उनके रहस्य-निरूपण तथा अर्थ-निरूपण के प्रयत्न मिलते हैं। वेद में संदर्भित उपाख्यानों को विस्तार से बताने, वेद के राजपुरूषों एवं ऋषियों के जन्मवृतान्त पर सम्यक् प्रकाश डालने, वेद के दर्शन, विज्ञान, रहस्य इत्यादि पर पर्याप्त प्रकाश डालने तथा अनेकानेक वेदमंत्रों के अर्थों को खोलने के प्रयत्न भी श्रीमद्भागवत में दिखायी देते हैं। इस प्रकार पुराणों के बीच श्रीमद्भागवत एक श्रेष्ठ रचना और वेदार्थ-विन्यास के रूप में प्रकट होता है। यत्र-तत्र जो वेदमन्त्रों के विस्तार किये गये हैं, वे मतैक्य न होने पर भी विचारणीय तो हैं ही। पुरुषसूक्त[74] के प्रथममन्त्र का विस्तार अनेक स्थानों पर किया गया है; यथा-

पश्यन्त्यदो रूपमदभ्रचक्षुषा
सहस्रपादोरूभुजाननाद्भुतम्।
सहस्रमूर्धश्रवणाक्षिनासिकं
सहस्रमौल्यम्बर कुण्डलोल्लसत्।।[75]
पुरुषं सहस्राङ्ध्र्यूरु बाहुकम्।[76]
सहस्रोर्वङ्घ्रिबाह्वक्षः सहस्राननशीर्षवान्[77]

67. भागवत 1:1:3
68. गायत्री भाष्यरूपोऽयम्।
69. भागवत 1:3:42
70. भागवत 1:3:3
71. भागवत 2:5:36
72. भागवत 4:25–29 अध्याय।
73. भागवत 5:13–14 अध्याय।
74. ऋग्वेद 10:90
75. भागवत 1:3:4
76. भागवत 3:7:22
77. भागवत 2:5:35

इसी प्रकार "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्0" आदि मन्त्र[78] का भाव देखिये-

पुरुषस्य मुखं ब्रह्म क्षत्रमेतस्य बाहवः।
ऊर्वोर्वैश्यो भगवतः पद्भ्यां शूद्रोऽभ्यजायत।।[79]
ब्रह्माननं क्षत्रभुजो महत्मा विडूरूरङ्घ्रिश्रित कृष्णवर्णः।[80]
विप्रो मुखं ब्रह्म च यस्य गुह्यं
राजन्य आसीद् भुजयोर्बलं च।
ऊर्वोर्विडोजोऽङ्घ्रिरवेदशूद्रौ
प्रसीदतां नः स महाविभूति।।[81]

अब ऋग्वेदीय मन्त्र "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया0" आदि[82] की अभिव्यक्ति का स्वरूप देखिये-

सुपर्णावेतौ सदृशौ सखायौ
यदृच्छयैतौ कृतनीडौ च वृक्षे।
एकस्तयोः खादति पिप्पलान्न-
मन्यो निरन्नोऽपि बलेन भूयान्।।[83]

ऋग्वेद का उर्वशी पुरुरवा संवाद[84] श्रीमद्भागवत में वर्णित[85] ही नहीं है अपितु उसकी प्रतीकात्मक व्याख्या भी की गयी है और काव्यात्मक अभिव्यक्ति भी है। उर्वशी के मिलनस्थान पर जाने से शमीवृक्ष के ऊपर उगे हुये पीपल को देखकर उनसे दो अरणियां, नीचे उर्वशी रूप और ऊपर स्वरूप से पुरुरवा, ने कल्पित कर मध्य में पुत्ररूप अग्नि का ध्यान किया। यहां उर्वशी पृथिवी तथा पुरुरवा आकाश हैं और इनके मध्य अग्नि है जो आहवनीय, गार्हपत्य और दक्षिणाग्नि इन तीनों रूपों में अभिव्यक्त होते हैं।

श्रीमद्भागवत में पुराणों की विषयवस्तु के जो दस लक्षण बतलाये गये हैं, उनका अनुभव के आधार पर वेद के अर्थ से वर्णन किया गया है, "वर्णयन्ति महात्मानः श्रुतेनार्थेन चान्जसा"[86] ये दस लक्षण सर्ग, विसर्ग, स्थान, पोषण, ऊति, मनवन्तर, ईशानुकथा, निरोध, मुक्ति और आश्रय है, जो वेद की ही विषयवस्तु को पुष्ट करते हैं। सर्ग का अर्थ सृष्टिक्रम से है

78. ऋग्वेद 10:90:12
79. भागवत 2:5:37
80. भागवत 2:1:37
81. भागवत 8:5:41
82. ऋग्वेद 1:164:20
83. भागवत 11:11:6
84. ऋग्वेद 10:95
85. भागवत 9:14
86. भागवत 2:10:2

और 'विसर्ग' में ऊर्जा का क्षरण होता है, कर्म में ऊर्जाक्षरण होने के कारण गीता में विसर्गः कर्म संज्ञितः"[87] कहा गया है। भौतिक भावों का उत्पादन होने से कर्मलोक ही मनुष्यलोक है, इस कारण भागवत में "विसर्गः पौरुषः स्मृतः"[88] कहा गया है। 'स्थिति' को भागवत में 'वैकुण्ठविजय' कहा गया है[89], कदाचित यह आयुर्वेद के "सत्वावजय" से सम्बन्धित हैं, सृष्टि को स्थिर रखने की आध्यात्मिक स्थिति ही से इसका तात्पर्य है। इसी से सम्बन्धित है पोषण जो आध्यात्मिक अनुग्रह है। इस अभिप्राय से सत् का धारण अथवा विशिष्ट सत्तात्मक भावों का अभिधारण 'मन्वन्तर' हैं। 'ऊति' कर्मवासना है। 'ईशकथा' अवतारों के पीछे प्रतीकात्मक चरित्र से प्रक्रियाओं का वर्णन है। 'निरोध' अपनी सभी शक्तियों को केन्द्रीभूत करके आत्मस्थित होना है और इस आत्मस्थिति से आत्मस्वरूप के ज्ञान द्वारा शेष प्रपन्च के अलगाव को समझना 'मुक्ति' है। सब प्रपन्च के आभास और निरोध जिस आत्मा के कारण होते हैं वही 'आश्रय' है। यही आत्मा पुरुष रूप से आध्यात्मिक, आधिदैविक और अधिभौतिक स्थितियों की द्योतक होती है। पुराण की यह विषयवस्तु वेद में भी है, इस अनुमान से वेदार्थ करने में पुराणों की विवेचना, उनकी प्रतीकात्मकता और उनके विस्तृत तथा क्रमबद्ध ज्ञान-विज्ञान का सार्थक उपयोग करने की आवश्यकता है।

(घ) शोधकार्य के लिये इस आदेश का महत्व एवं उपादेयता

"इतिहास पुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्" आदेश का शोधकार्य के लिये महत्व और उपादेयता निर्धारित करने से पूर्व कुछ तथ्यों पर विचार करना हमारे लिये आवश्यक हो जाता है। ये तथ्य निम्न हैं:-

(1) ऋग्वेद तथा उसके दशम मण्डल का काल निर्धारणः

ऋग्वेद के काल के सम्बन्ध में अनेक मत-मतान्तर हैं, और सवत्सरों के हिसाब से विभिन्न विद्वानों ने इसे 1200ई०पू० से लेकर 6000ई०पू० तक में निर्धारित किया है। यद्यपि ऋग्वेद के मन्त्रों और सूक्तों का एक लम्बा रचनाकाल है, ऋग्वेद के आन्तरिक प्रमाणों से यह साबित होता है कि रचना के अन्तिम चरण में कृषि का प्रारम्भ हो चुका था, जनपदीय राज्यों का प्रारम्भ काल था, नगर तथा राष्ट्र स्थिर हो चुके

87. गीता 8:3
88. भागवत 2:10:3
89. भागवत 2:10:4

थे, व्यापार दूर-दूर तक होने लगा था तथा जनता में धन प्राप्त करने की होड़ मची हुयी थी। शिक्षा और विद्वत्समाओं की दृष्टि से प्राकृत नियमों (ऋत) और सत्तात्मक अर्थात् अस्तित्ववाद (सत्य) ज्ञान-विज्ञान के आधार थे और प्रेक्षण की प्रणालियां विकसित हो चुकी थीं तथा निर्णय और सिद्धि का परिणाम कई-स्तरीय विवेचना के उपरान्त मिलता था; इस कारण रचनाकार की प्रतिष्ठा थी। बुद्धि अपने श्रेष्ठतम प्रत्यय रूप में विकसित हो चुकी थी और भाषा तथा लिपि दोनों उसी के परिणाम थे जो सापेक्ष रूप से साथ-साथ विकसित हो रहे थे; फलतः सप्तस्वरों से इक्कीस श्रवस तक की भाषा विकसित हुयी थी तथापि इक्कीस श्रवस का प्रारम्भ काल था। सभी दृष्टियों से विचार करने पर ऋग्वेद के नवीनतम सूक्तों और मन्त्रों का काल लगभग ३०००ई.पू० निर्धारित होता है। ऋग्वेद का प्रथम मण्डल सूत्रस्थान होने से और दशम मण्डल उपसंहार होने से इनमें अपेक्षाकृत नवीन सूक्तों का समावेश है। इन मण्डलों की भाषा और विषयवस्तु विकसित है। ऐसा भी लगता है कि संहिताकाल में कुछ तत्कालीन साहित्य का भी जुड़ाव इन मण्डलों में हो गया है। वेदमन्त्रों और सूक्तों की रचना छुट-पुट होती रही थी, या अधिक से अधिक मनीषियों और उनके परिवारों के व्यक्तिगत तन्त्र-रूप में ये रचनायें सुरक्षित रही थीं। इसी बीच सामाजिक अवस्थाओं के परिणाम स्वरूप वैदिक रचनायें लुप्त प्राय हो गयीं और लगभग एक हजार वर्षों का एक अन्धयुग आया जिसमें वेदों को लोग उसी प्रकार भूल गये जैसे यूनानी विचारकों को लोग ईसाई-पादड़ी-काल में भूल गये थे। इस कारण भी ऐसा हुआ कि कृषि और स्थायित्व के इस नवीन युग में जब जनपद अपनी जड़ें जमा रहे थे तथा पूर्व स्थिति के यायावर जनों का अस्तित्व धीरे-धीरे समाप्त हो रहा था, पूर्व कालीन ज्ञान-विज्ञान की मान्यता बेमानी हो चुकी थी। लगभग २००० ई०पू० में तत्कालीन सभ्य विश्व में ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न हुयीं कि सर्वत्र युद्ध और विनाश हुआ और इस विनाश के बाद पुनरूज्जीवन और पुनर्स्थापन के सतत प्रयास किये गये। इस पुनरूज्जीवन-काल में वैदिक मन्त्रों का पुनः संग्रह किया गया और उन्हें चार वेदों में विभाजित करके शाखा-प्रशाखाओं सहित अनेक संहिताओं में संकलित किया गया। यह संहिताकाल था। स्वाभाविक रूप से कुछ तत्कालीन प्रभाव भी संहिताओं में प्रवेश कर गये, यद्यपि प्राचीन मंत्रों के संकलन निश्चयात्मक एवं कठोर ढंग से किये गये थे। नारद और व्यास संहिताकाल के पुरोधा और प्रतिष्ठापक हैं। ऐसा लगता है कि पुनरूज्जीवन काल के प्रारम्भ में वैदिक युग से निरन्तरता बनाये रखने की नीति से

नारद आदि नवीन ऋषि मुनियों ने कुछ सूक्तों की रचना की थी, किन्तु बाद में यह निश्चय हुआ कि वैदिक युग की रचनाओं को सुरक्षित रखा जाये और व्यास तथा उनके शिष्य-प्रशिष्यों ने कठोरता से इस नीति का पालन करते हुये वैदिक संहिताओं में मात्र प्राचीन कवियों को ही स्थान दिया और नवीन ऋषि-मुनियों को उनसे अलग रखा; वेद में प्राचीन और नवीन ऋषियों के संदर्भ कदाचित् इसी आशय से दिये गये हैं। तथापि यही नीति बाद में ब्राम्हणों, इतिहास-पुराणों आदि में नवीन ऋषि मुनियों द्वारा अलग से रचना विधान द्वारा सम्पन्न की गयी। स्पष्टतः वैदिक संहिताओं की वैदिक कवियों की रचनाओं मात्र को ही "वेद" के अन्तर्गत स्वीकृत करना उचित है।

(2) <u>वेदों को पढ़ने के प्रयासः</u>

संहिताकाल लगभग 500 वर्षों का 2000-1500ई0पू0 तक रहा। इस बीच वैदिक मन्त्रों की खोज और उन्हें क्रमबद्ध करने का प्रयास चलता रहा। इसी बीच यह भी जानने की चेष्टा की गयी कि वेदों में क्या लिखा है इसमें सबसे बड़ी बाधायें भाषा और लिपि रहीं। इन्हें जानने के लिये वेदांगों के विभिन्न क्षेत्र विकसित हुये। भाषा एक हजार वर्षों से भी अधिक पूर्व की थी और लिपि में बहुत कम ध्वनियां थीं। '<u>शिक्षा</u>' के द्वारा इन ध्वनियों के तमाम रूपों को समझने का प्रयास किया गया और उन्हें अक्षरों में परिवर्तित कर अनेक शब्द प्रकाशित किये गये और उनके अर्थ समझने के प्रयत्न किये गये। '<u>व्याकरण</u>' के द्वारा भाषा के विकास, शब्दों की व्युत्पत्ति, शब्दों के विभिन्न प्रयोग और उनके अर्थ देखने का प्रयत्न किया गया। फिर भी यह देखा गया कि एक ही शब्द अनेक प्रयोगों और अनेक अर्थों में आता रहता है। शब्दों के निर्वचन के लिये '<u>निरुक्त</u>' एक ऐसी विधा के रूप में विकसित किया गया कि शब्द से जो अर्थ पूरा नहीं होता था उसे पूरा करने के लिये अन्य शब्दों और धातुओं का अनुमान किया गया। इसके प्रथम प्रयास में अनुमानित समानार्थक शब्दों और क्रियाओं तथा विशिष्ट तथा स्वतन्त्र शब्दों की सूचियां तैयार की गयी जिन्हें 'निघण्टु' नाम से जाना जाता था। इसके अतिरिक्त वैदिक देवताओं, छन्द, भूगोल और खगोल, काल और <u>ज्योतिष</u> के वैदिक प्रयोग पर भी वेदार्थ की दृष्टि से विचार किया गया। <u>शरीरांग</u> और प्रतीकात्मकता, जिसमें लोक और पुरुष की समरूपता प्रतिष्ठापित की गयी, पर भी विचार विमर्श करते हुये वेद के अर्थ के प्रयोजन से पर्याप्त अनुसंधान किया गया था।

(३) वेद की विषय वस्तु का आकलनः

वेद की विषयवस्तु बहुत विस्तृत थी। देवताओं के लिये साधारण मानवीय प्रार्थनाओं से लेकर गम्भीर दार्शनिक चिन्तन और विवेचना तक का समावेश वेदों में मिलता है। इनमें धार्मिक, नैतिक, सामाजिक, आर्थिक, वैज्ञानिक, चिकित्सकीय, कला-कौशल परक, संगीतपरक, काव्यात्मक, शिक्षण-वैज्ञानिक, मनोवैज्ञानिक तथा जीवन के विभिन्न क्षेत्रों की विषय वस्तु सन्निहित हैं। इन विषय वस्तुओं के अध्ययन के लिये वैदिक काल के अन्य उत्पादों को जानने का प्रयास किया गया और इस क्रम में उपवेदों अर्थात् आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद व स्थापना वेद की संहितायें निर्मित की गयीं। इन संहिताओं में बहुत कुछ विषय सामग्री वेदों जैसी थी और रचनाकार भी प्रायः वैदिक ही मनीषी थे। तथापि निगूढ़ सिद्धान्त और जटिल प्रयोगात्मक प्रक्रिया से अनेक स्थितियां अस्पष्ट रही। प्रक्रियात्मक रूप से इन्हें सिद्ध करने के लिये यज्ञ-प्रक्रिया को जानने और उसे विकसित करने का कार्य किया गया जिसे ब्राम्हणग्रन्थों और आरण्यकों में निष्पादित किया गया। सामाजिक-पारिवारिक स्थितियों की समीक्षा की दृष्टि से कल्पसूत्रों का निर्माण हुआ। यह सब कार्य लगभग 1000 ई0पू0 तक सम्पन्न हो चुका था। इसी बीच यह भी आवश्यकता महसूस की गयी कि इन सभी प्रयत्नों के बीच भी जो छूट गया है उसे परम्परा और श्रुति (किंवदन्तियों) का अध्ययन करते हुये सम्पूरित किया जाये। इनमें सर्वप्रथम नराशंसी वैदिक संदर्भों को सम्पूरित करने की चेष्टा हुयी और किंवदन्तियों के आधार पर वैदिक वीर पुरूषों की कहानियां निष्पन्न की गयीं और उनके जीवन वृतान्त तथा वंशावलियाँ सम्पन्न की गयीं। वेद के आख्यायिक संदर्भों से परम्परागत आचरण और व्यवहार के निश्चयात्मक प्रारूपों को संकलित कर वेद की विषय वस्तुओं का भी सम्यक् आकलन करते हुये उन्हें कल्पना प्रसूत आख्यानों और उपाख्यानों में इस प्रकार पिरोया गया मानों वह आर्य जाति का इतिहास हो। इतिहास पुराणों का यह प्रयत्न बहुत पहले से ही अत्यल्प रूप में प्रारम्भ हो चुका था, जिसे लगातार विस्तार दिया गया और ग्रन्थों के संस्करण-प्रसंस्करण होते रहे। अन्ततः लगभग 500 ई0पू0 इतिहास पुराणों की स्थिति निश्चित हो गयी और वे हर दृष्टि और हर वैदिक संदर्भ के परिप्रेक्ष्य में पूर्णतः सम्पन्न कर दिये गये। इसी समय अर्थात् 1000-500ई0पू0 के काल खण्ड में दार्शनिक चिन्तन और विवेचना का प्रयत्न वैदिक संदर्भों की दिशा में उपनिषदों द्वारा किया गया, जिनका प्रभाव स्पष्ट रूप से इतिहास पुराणों पर भी पड़ा और अलौकिकता

का आरोपण इतिहास पुराणों पर ही नहीं अपितु वेदार्थों पर भी होने लगा जिससे लगातार दार्शनिक वृत्ति वैज्ञानिक परिकलन से दूर होती हुयी मिथ्यालक्ष्य (Mythology) की दिशा में भटक गयी।

(4) अलौकिकता और धार्मिकता का नित्य आरोपणः एक अन्य अंधयुग की शुरूआतः

उपनिषदों और इतिहास-पुराणों की इस अलौकिकता की विषय-प्रवृत्ति ने पाखण्ड और कर्मकाण्ड को प्रश्रय दिया। फलस्वरूप यज्ञीय कर्मकाण्ड की धार्मिक विधायें विकसित हुयीं, चैत्य और देवालय बनने लगे, और अनेक प्रकार के धार्मिक पाखण्ड उपनिषदों और पुराणों की अलौकिक विचारधारा का आश्रय लेकर पनपे। फलस्वरूप, इनका विरोध वेद के आचार्यों द्वारा तो किया ही गया, वेद की परम्परा से हटकर स्वतंत्र विचार करने वाले मनीषियों के द्वारा भी विरोध हुआ; परिणामस्वरूप, जैन और बौद्ध धर्मों और दर्शनों का उदय हुआ तथा चार्वाक जैसे विचारक प्रकाश में आये। इस प्रकार एक ऐसा युग प्रसूत हुआ जिसने विभिन्न धार्मिक विचार-धाराओं के बीच संघर्ष उत्पन्न किया। इस संघर्ष में पारम्परिक अलौकिक (सनातनी) विचारधारा अधिकाधिक परिपुष्ट होती गयी और अपने अपने युग की राजनीति ने इन्हें उत्तरोत्तर प्रोत्साहित ही किया। सनातनी विचारधारा का सर्वाधिक पुनरूत्थान शुंग व गुप्त कालों में हुआ और प्राचीन ग्रन्थों के नवीन संस्करण किये गये तथा धर्मपरक टीकायें और भाष्य लिखे गये। यह प्रवृत्ति अपने चरम लक्ष्य पर धर्माचार्यों के भाष्यों में सुस्पष्ट होती है, और लगभग अभी तक बनी हुयी है, जबकि पश्चिमी समीक्षा के प्रकाश की किरणें आधुनिक शिक्षा के माध्यम से निर्बाध चिन्तकों के ऊपर पड़ना प्रारम्भ हो चुकी हैं।

(5) कुछ प्रकाशस्तम्भ दिशा निर्देशक के रूप में खड़े हैंः

समुद्र में जलयानों के दिशा निर्देशन के लिये जैसे प्रकाश स्तम्भ बनाये जाते हैं, वैसे ही वेदार्थ के दिशा निर्देशन के लिये कई प्रकाशस्तम्भ आज भी उपस्थित हैं। यद्यपि इन प्रकाशस्तम्भों की कांच पर पर्याप्त मल इकट्ठा हो जाने से प्रकाश की किरणें पूरी तरह प्रकाशित नहीं हो पा रही हैं तथापि वेदार्थ के हेतु से पर्याप्त आवश्यक प्रकाश इनसे उपलब्ध हो रहा है, बस उसके सही उपयोग की आवश्यकता है। संक्षेप में ये प्रकाश स्तम्भ निम्नवत् हैः-

(क) <u>वेद स्वयं प्रकाशस्तम्भ हैं</u>ः

पहले प्रकाश स्तम्भ तो स्वयं वेद हैं। वेद में जब बार-बार वे ही शब्द अपने भिन्न प्रयोगों के साथ आते हैं या वे ही विषय सामग्रियां भिन्न संदर्भों में आती हैं या एक कथ्य के सम्पूरक या परिपूरक उपस्थित होते हैं तो इन भिन्नताओं की तुलनात्मक स्थितियों के अध्ययन से शब्द, वाक्य-प्रयोग, विषय वस्तु, सम्पूरक आदि वेदार्थ की दृष्टि से प्रायः अपने आप ही स्पष्ट हो जाया करते हैं। इस प्रकार वेद के आन्तरिक साक्ष्य वेदार्थों की दृष्टि से सर्वथा उपयुक्त और महत्वपूर्ण हैं। भाषिक रूपों में वेद के शब्द संग्रह और वाक्य-विन्यास के ज्ञान का वेदार्थ के लिये महत्व होता है। इनके लिये सर्व प्रथम हमें मन्त्र का "कठ-कर्म" अर्थात् मीमांसा[90] या विश्लेषण[91] करते हुये <u>अनुसंधान</u> करना होता है जिसमें मन्त्र को टुकड़ों-टुकड़ों में विभाजित करते हैं। प्रथमतः यह विभाजन सन्धिविच्छेद करके करते हैं। सन्धिविच्छेद के कभी-कभी कई विकल्प बन जाते हैं और तब अति उपयुक्त का ही चयन करना होता है। सन्धिविच्छेद में उपसर्गों का मुख्यरूप से ध्यान रखना चाहिये; इ, उ, आ, चित्, इत् आदि उपसर्ग और निपात तथा मा, न, त्वा, ते जैसे सर्वनाम और अव्यय अन्वय में उचित स्थानों पर रखे जाने चाहिये जहां वे मन्त्र का सही अर्थ प्रस्तुत कर सकें। इसी प्रकार ये पद-पूरक का भी कार्य कर सकते हैं, और तब ऐसे एकाकी शब्द मात्र से ही 'पदपूरक' पूरे वाक्य का अर्थ निकलता है। द्वितीयतः, वाक्य विश्लेषण द्वारा मन्त्र विभाजन करना चाहिये जो मंत्र के वाक्य विन्यास को स्पष्ट करने वाला होगा। इसमें उपवाक्यों का निश्चय मन्त्र में आई हुयी क्रियाओं की संख्या के आधार पर होगा अर्थात् जितनी क्रियायें होंगी उतने ही उपवाक्य होंगे। कभी-कभी एक ही मंत्र में एक से अधिक वाक्य भी होते हैं। इस प्रकार वाक्य विन्यास के ज्ञान से वेदार्थ में सहायता प्राप्त होती है। कठ-कर्म के उपरान्त "तित्तरि-कर्म" अर्थात् गहराई से खोदकर <u>शोध</u> करने में प्रथमतः शब्द की व्युत्पत्ति करने की आवश्यकता होती है, यह व्युत्पत्ति व्याकरण के अनुसार मूलधातु में प्रत्यय उपसर्गादि लगाकर अथवा भाषा वैज्ञानिक आधार पर शब्द या ध्वनि के बदलते हुये रूपों में की जा सकती है। वाक्य विन्यास में भी शब्द के निगूढ़ रूप का प्रायः उद्घाटन हो जाता है जब कारक या क्रिया का रूप कुछ विशिष्ट ही होता है। इसी प्रकार नाम-रूप के शाब्दिक अर्थ लगाने पर तत्व या प्रक्रिया का उद्घाटन किया

90. मी टुकड़े करना, मा, नापना
91. वि श्लिष्, मिलाना, जोड़ना।

जा सकता है। इस पर भी शब्दार्थ या वाक्यार्थ स्पष्ट न होने पर, द्वितीयतः शिक्षा और निरुक्त के माध्यम से अन्य अर्थ भी प्राप्त किये जा सकते हैं, और सभी विकल्पों पर सम्यक् विचार करते हुये सर्वोचित अर्थ का चयन किया जा सकता है। तीसरा कर्म "शुक-कर्म" है जिसमें खोज खोज कर गवेषणा की जाती है। प्रथमतः इसमें एक शब्द के समानार्थक अनेक शब्दों के सही विकल्प का चयन तथा उसी प्रकार शब्द के अनेकतः प्रयोग का विकल्प का उचित चयन किया जाता है। द्वितीयतः, शब्द के प्रत्यय, नाम-रूप, चिन्ह, प्रतीक आदि के माध्यम से शब्द के मात्र अर्थ ही स्पष्ट नहीं किये जाते अपितु उनके पीछे आख्यान, दृष्टान्त, प्रक्रिया, प्रयोजन आदि का आकलन भी किया जाता है। ऋषि, देवता, छन्द, विनियोगादि का निर्धारण भी इसी क्रम में किया जाता है। विभिन्न ग्रन्थ-संदर्भों में अनुप्रयुक्त उपादानों की खोज भी इसी के अन्तर्गत समाहित है। तृतीयतः, वेद से लेकर पुराणों तक जो वेद सूक्तों और मन्त्रों को स्पष्ट करने या उनका भाष्य करने की चेष्टायें हैं, उनका संकलन करते हुये उनके विकास क्रम का अध्ययन करना और तत्कालीन प्रभावों को दूर करते हुये उसकी मूलवृत्ति का अनुसंधान करना और वेदार्थ के लिये इनकी उपयोगिता निश्चित करना आवश्यक कार्य है। चतुर्थतः, सभी कुछ एक पारिस्थितिक परिवेश में निश्चित करना तथा भौतिक और सामाजिक विकास क्रम के लक्ष्य निर्धारित करते हुये परिस्थितिजन्य संदर्भों में उनकी विवेचना करना तथा अपने वेदार्थ प्रयोजन से उनके समीकरण उपस्थित करना महत्वपूर्ण है। ये सभी कार्य विषय सामग्री की गवेषणा की दृष्टि से भी करणीय होते हैं। इस सम्बन्ध में स्मरणीय है कि यास्क ने शब्दों के निर्वचन वेद के आन्तरिक साक्ष्य के आधार पर ही निश्चित किये हैं, तथा यदाकदा ही ब्राह्मणादि ग्रन्थों से संदर्भ दिये हैं; उपनिषद्, सूत्र और इतिहास-पुराणों से तो यास्क बिलकुल अपरिचित से दिखते हैं। योरोपीय विद्वानों ने भी वेदार्थ के लिये वेद के आन्तरिक साक्ष्यों पर ही बल दिया है। प्रकाश स्तम्भ की दृष्टि से ऋग्वेद का प्रथम और दशम मण्डल, तथा अथर्वेद का 20 वाँ काण्ड महत्वपूर्ण है।

(ख) उपवेद रूप श्रेष्ठ प्रकाश स्तम्भः

उपवेद श्रेष्ठतम प्रकाश स्तम्भ हैं, क्योंकि उपवेदों के रचनाकार वे ही मनीषी हैं जो वेदों के रचनाकार हैं, तथा वेदों की सांदर्भिक विषय सामग्री का क्रमबद्ध और विधिवत विस्तार और विन्यास उपवेदों में किया गया है। तथापि, हैरानी का विषय है कि वेदार्थ के लिये उपवेदों के साक्ष्य

तथा सहायता बिल्कुल ही प्राप्त नहीं की गयी है। उपवेदों में सबसे अधिक महत्वपूर्ण आयुर्वेदिक संहितायें हैं, जिनमें वेद की अधिकांश विषय-सामग्री तथा सिद्धान्त प्राप्त होते हैं। गान्धर्ववेद के रूप में भरत का नाट्यशास्त्र ही आज उपलब्ध होता है जिसकी विषयवस्तु तथा सिद्धान्त सम्बन्धित विषयों पर वेद की व्याख्या प्रस्तुत कर सकते हैं। वास्तुवेदके रूप में आज जो कुछ उपलब्ध है, उसका भी कम महत्व नहीं है। अथर्वेद की व्याख्या के लिये तो वास्तुवेद आवश्यक साक्ष्य उपलब्ध कराता है। धनुर्वेद की विषयवस्तु का परिज्ञान आज बिलकुल भी नहीं है और न वेदसांदर्भिक साक्ष्य ही प्राप्त होते हैं, तथापि इस दृष्टि से विस्तृत अनुसंधान करने की आवश्यकता है।

(ग) ब्राह्मण काल के ग्रन्थः

ब्राह्मण काल के ग्रन्थों में हम ब्राह्मणों, आरण्यकों, उपनिषदों और कल्पसूत्रों को शामिल करते हैं। ब्राह्मण कर्मकाण्ड से, आरण्यक उपासना से, उपनिषद् ज्ञान से तथा कल्पसूत्र सामाजिक-धार्मिक क्रियाकलापों से सम्बन्धित माने जाते हैं। परन्तु, इन सभी ग्रन्थों में ऐसे आख्यान उपलब्ध होते हैं जिन्हें वेद मन्त्रों का भाष्य या विस्तार माना जा सकता है। प्राकृत यज्ञों की अवधारणा तथा यज्ञीय कर्मकाण्ड इस अवधारणा को समझाने के लिये ही निर्मित किये गये हैं। तथापि ब्राह्मण काल के ग्रन्थों में अनेक तत्कालीन आचार-विचार और मान्यतायें प्रवेश कर गई हैं जिनका वेद की व्याख्या की दृष्टि से कोई प्रयोजन नहीं है, प्रत्युत वे भ्रम ही उत्पन्न करते हैं। अतः इनका विश्लेषणात्मक अध्ययन करते हुये ही व्याख्या में प्रयोग करना चाहिये। शायद अर्थवाद के अंगरूप प्रशंसा और निन्दा या नामधेय (विधेय) और निषेध का ऐसा ही मन्तव्य रहा हो।

(घ) इतिहास-पुराणः

इतिहास-पुराण इसलिये महत्वपूर्ण प्रकाश स्तम्भ हैं क्योंकि वेद की लगभग सम्पूर्ण विषय सामग्री का इनमें निरूपण किया गया है। तमाम महत्वपूर्ण वेदमन्त्रों का इन्होंने अपने ढंग से भाष्य भी किया तथा वेदार्थ के समस्त उपादानों और विधियों का टीका सहित परिचय भी दिया है। इतिहास-पुराणों की सबसे बड़ी विशेषता प्रतीकात्मकता है। वेद में आये हुये प्रतीकों का अपनी आख्यायिकाओं में इन्होंने उपयोग ही नहीं किया है, अपितु कई स्थानों पर उनके रहस्यों को खोलकर भी दिखाया है। लगभग

सभी जगह प्रतीकात्मकता के उपमेयों की असलियत के इशारे तो कर ही दिये गये हैं। तथापि, प्रतीकात्मकता के उपादान रूप में जो अवतारवाद का प्रयोग किया गया वह कालान्तर में सत्य स्थापित हो गया और इस प्रकार अलौकिकता और धार्मिकता का आरोपण होकर वेदार्थ के लिये वह अत्यन्त भ्रमात्मक हो गया। वेदार्थ में यदि इस तथ्य का निरन्तर ध्यान रखा जाये तो हम निश्चित ज्ञान पर पहुंचने में सदा सफल होंगे, अन्यथा की स्थिति में इस बीहड़ वन में भटक जाने की सम्भावना ही अधिक है। हमारा सुझाव है कि इस बीहड़ वन में हम चरक-संहिता रूपी मशाल के साथ ही प्रवेश करें जिसके प्रकाश से इतिहास-पुराण भी जगमगाते हुये ही दिखाई देंगे। इस प्रकार प्रतीकात्मकता का उद्घाटन इतिहास-पुराणों की विशेषता साबित होगी। कुछ प्रतीक इतने कठिन हैं कि बिना रहस्योद्घाटन के उनके वेदार्थ स्पष्ट नहीं किये जा सकते। उदाहरणस्वरूप, 'वाक्' एक ऐसा ही प्रतीक है। जब हम इसके वैदिक प्रयोग देखते हैं तो 'वाक्' मात्र वाणी नहीं जान पड़ती :-

बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत्प्रैरत नामधेयं दधानाः।
यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत्प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः।।
यज्ञेन वाचः पदवीयमायन्तामन्व विन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम्।
तामाभृत्या व्यदधुः पुरुत्रां तां सप्तरेभा अभि सं नवन्ते।।
अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्।
तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तीम्।।
अहं सुवे पितरमस्य मूर्धन्मम योनिरप्स्वन्तः समुद्रे।
ततो वि तिष्ठे भुवनानु विश्वोतामूं द्यां वर्ष्मणोप स्पृशामि।।
अहमेव वात इव प्र वाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा।
परोदिवा पर एना पृथिव्यैतावती महिना संभूव।।

'वाक्' की अवधारणा को महाभारत[92] ने स्पष्ट किया है। जब उस अवधारणा से प्रतीकात्मक रूप में रहस्योद्घाटन करते हुये वेदार्थ करते हैं तभी स्थिति स्पष्ट होती है, अन्यथा नहीं। मात्र शाब्दिक अनुवाद कर देने से कोई अर्थ नहीं निकलता।

वेदों के संदर्भ से जो चरित्र प्रकाशित हुये हैं, इतिहास-पुराणों ने उन्हें सार्थक रूप से सम्पूर्ण करने की चेष्टा की है। इस प्रकार वंश चरित्र और वंशावली का परिचय तो मिलता ही है विकासात्मक स्थितियों का भी निरूपण होता है। परम्परा और रीतिरिवाज तथा सामाजिकता आदि का भी

92. महाभारत आश्व0 21:8-9, 16-26, 24: 12-15

इन आख्यानों में पूर्ण निरुपण होता है। वंशावलियां अपनी दृष्टि से प्रस्तुत की गई हैं और वे अलग-अलग ग्रन्थों में अलग-अलग हैं, जिनका विश्लेषण करने की आवश्यकता होती है और प्रायः ये विश्वास न करने योग्य ही हैं। भिन्न-भिन्न ग्रन्थों में वे ही उपाख्यान और आख्यायिकायें थोड़े बहुत अन्तर में प्राप्त होने से उनकी विकासात्मक स्थिति का पता चलता है। कहीं-कहीं एक ही कथा बदलाव के साथ भिन्न-भिन्न चरित्रों से जोड़ दी गई है, वहाँ चरित्रों का महत्व नहीं अपितु कथा की प्रतीकात्मकता का महत्व है। उदाहरणस्वरूप, जमदग्नि और सहस्राबाहु की गोहरण कथा वसिष्ठ और विश्वामित्र के साथ जोड़ दी गई और विश्वामित्र को क्षत्रिय राजा प्रदर्शित कर दिया गया, जबकि ऋग्वेद और रामायण के साक्ष्यों से विश्वामित्र ब्राह्मण वंश के ही सिद्ध होते हैं। चरित्रों में नामों की संरचना का भी बहुत महत्व है। किसी आख्यानक में चरित्र के नाम के अर्थों में प्रतीकात्मकता समाहित होती है और उनका विधिवत विश्लेषण करने पर किसी प्रक्रिया या सिद्धान्त का उद्घाटन होता है। इसी कारण कई व्याख्याकारों ने नाम के पीछे व्यक्ति न होने की सावधानी बरतने को कहा है।

लोक शरीर साम्य की प्रतीकात्मकता मनुष्य, गो और अश्व के संदर्भ में अनेकानेक ग्रन्थों में वर्णित है। वेद में जो ''यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन् ..... तथा लोकानकल्पयन्'' कहा गया और उसी की व्याख्या लोकसंमित पुरुष के रूप में ''यावन्तो हि लोके मूर्तिमन्तो भाव विशेषाः तावन्तो पुरुषे, यावन्तो पुरुषे तावन्तो लोके इति'' आयुर्वेद में की गई तथा वही पुराण में ''यस्यावयवसंस्थाने कल्पितो लोक विस्तरः'' और ''यस्येहावयवैर्लोकान् कल्पयन्ति मनीषिणः'' तथा महाभारत एवं गीता में संकल्पित की गई; किन्तु इतिहास-पुराणों में पुरुष का अर्थ परमेश्वर कर देने से और उनके शरीरों में ही सम्पूर्ण लोक लोकान्तरों की कल्पना कर देने से अलौकिकता को प्रश्रय मिला, तथापि गो और अश्व को परमेश्वर नहीं बनाया जा सका है जिनके शरीरों में भी प्रतीकात्मक लोक लोकान्तर माने गये थे। यह परमेश्वर का आरोपण स्पष्ट रूप से देखते रहना चाहिये (जो आयुर्वेद ग्रन्थों में उनके वैज्ञानिक प्रबन्धन के कारण नहीं हैं) और जहां कहीं ऐसे आरोपण हो उन्हें हटाकर प्रतीकात्मकता का उद्घाटन करना चाहिये तथा वेदार्थ में व्याख्या की दृष्टि से उनका उपयोग करना चाहिये।

वेद की वैज्ञानिकता का स्वरूप भी लोकसंमित पुरुष की प्रतीकात्मकता से जुड़ा है। पुरुष की रचना प्रक्रिया से अधिभूत, अधिदेव और अध्यात्म

की स्थितियां (स्तर) जो ऋक्, यजुस्, साम तथा भूः, भुवः, स्वः या पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्यु रूप में कहे गये हैं, शरीर और ब्रह्माण्ड की रचना प्रक्रिया में साम्य होने से वैज्ञानिक व्याख्या जटिल हो गई है। अधिभूत स्तर पर जहाँ उसे पूर्णतः भौतिक विज्ञानों का वाची मान लेते हैं, वहीं अधिदेव स्तर पर उसे देवता या परमात्मा मानकर तथा अध्यात्म स्तर पर परमेश्वर मानकर व्याख्या करने की पण्डिताऊ प्रवृत्ति परम्परा से विज्ञापित होती चली आ रही है; इसमें लोक लोकान्तर का भाव करके अलौकिक संकल्पनायें की गई हैं तथा मृत्यु के उपरान्त जीव की लोक लोकान्तर में गतियों का वर्णन करके धार्मिकता और अन्धविश्वास का आरोपण किया गया है। आयुर्वेदीय शारीर के अध्ययन से ये आरोपण निवृत्त हो जाते हैं और तीनों स्तर जैव-भौतिक (बॉयोफिजिकल), स्नायुसंक्रियात्मक (न्यूरोफिजियोलाजिकल) तथा मनोवैज्ञानिक (साइकॉलाजिकल) स्तरों में स्पष्ट हो जाते हैं। इतिहास-पुराणों में भी इनसे सम्बन्धित अनेक वैज्ञानिक स्थितियों का समावेश मिलता है तथा तमाम वैज्ञानिक गुत्थियाँ सुलझाई गई हैं, जिन्हें हम अलौकिक आरोपण को हटाकर ही देखने में समर्थ हो पाते हैं। मनुष्य शरीर की व्याख्या में प्रक्रियाओं को समझाते हुये भौतिक विज्ञानों के तमाम तथ्य और सिद्धान्त भी परोक्ष रूप से प्रकाश में आ जाते हैं, जिन्हें समझने और सही जानकारी हासिल करने की आवश्यकता है। प्रतीकात्मकता और अलौकिकता के परिवेश में धार्मिकता और विश्वास की जटिलताओं में गुथे हुये किंवा उलझे हुये तथ्यों और सिद्धान्तों को स्पष्टतः अलग-अलग करके उनकी वेदार्थ व्याख्या की दृष्टि से उपयोगिता निश्चित करना एक अत्यन्त कठिन कार्य तो निःसंदेह है ही, किन्तु भारतीय विज्ञानों के मूल सिद्धान्तों और भावना तक पहुँचने के लिये तथा देशहित, राष्ट्रहित और जातिहित में उनके सम्यक् विस्तार का नियोजन करने के लिये इसके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय भी नहीं है। आश्चर्य के साथ, आधुनिक विज्ञान के पुरोधा देशों में वैदिक विज्ञान के तथ्यों और सिद्धान्तों पर अपने ढ़ंग से शोध और अनुसंधान चल रहे हैं और मौलिक निष्कर्ष बतलाये जा रहे हैं तथा भारतीय ग्रन्थों के तनिक भी संदर्भ नहीं दिये जा रहे हैं, और हम यह भी नहीं कह सकते कि यह हमारी नकल है क्योंकि हमारी परम्परागत व्याख्या तो अलौकिकता और परमेश्वर से सम्बन्धित है। इस त्रासदी से तभी मुक्ति मिलेगी जब प्रतीकात्मकता को जानकर वेद की सही व्याख्या की जाये और वैज्ञानिक तस्वीर प्रस्तुत की जाये।

प्रस्तुत शोध कार्य के लिये आदेश का महत्व एवं उपयोगिताः

हम वेदार्थ की दृष्टि से आदेश 'इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत' के महत्व और उपादेयता पर पर्याप्त प्रकाश डाल चुके हैं और सभी दृष्टिकोणों से उसकी विवेचना प्रस्तुत कर चुके हैं। अब वर्तमान शोध के लिये इस आदेश के महत्व एवं उपयोगिता पर कुछ कहने को वस्तुतः शेष नहीं रह गया है। तथापि, हमारी योजना ऋग्वेद दशम मण्डल में प्रतीकात्मकता एवं वैज्ञानिकता के समीक्षात्मक अध्ययन की है। हम पहले ही बतला चुके हैं कि वेद की सम्पूर्ण विषय सामग्री के इतिहास-पुराणों में विस्तृत विवरण प्रस्तुत किये गये हैं तथा प्रतीकों को लगाकर उपाख्यान और आख्यायिकायें प्रस्तुत करते हुये उनके रहस्य और प्रतीकों को क्रम से खोला भी गया है तथा उसके निष्कर्षतः प्रक्रियाओं और सिद्धान्तों के उद्घाटन भी किये गये हैं। प्रतीकों के उद्घाटन से अनेक वैज्ञानिक स्थितियों पर प्रकाश भी पड़ता है। इतिहास-पुराणों की इन विशेषताओं का उपयोग हम अपने शोध में भली भांति कर सकते हैं, और समीक्षा के उपादानों का संग्रह भी कर सकते हैं। वस्तुतः इतिहास-पुराण हमें वे सभी आधार उपलब्ध करा देते हैं जिन पर हम अपने शोध कार्य को आश्रित कर सकते हैं। अन्यथा की स्थिति में वेदार्थ के उद्घाटन, प्रतीकों के रहस्य के ज्ञान के साथ वैज्ञानिक प्रक्रियाओं और सिद्धान्तों की समझ ही सम्भव नहीं है। इस प्रकार प्रस्तुत शोध के लिये इतिहास-पुराण अनिवार्य हैं तथा सबसे बड़े सहायक भी हैं।

चतुर्थ अध्याय

(क) विभिन्न भाष्यों में प्रतीकात्मकता एवं वैज्ञानिकता के उद्‌घाटन।

(ख) उनके आधारों की समीक्षा।

(ग) इनका प्रस्तुत शोधकार्य के लिये महत्व।

चतुर्थ अध्याय

(क) विभिन्न भाष्यों में प्रतीकात्मकता एवं वैज्ञानिकता के उद्घाटन :

भाष्य का मतलब साधारण बोलचाल की भाषा में समझना है। दुर्बोध, दुरूह और दुर्वाच्य शब्दों की सुबोध, सरल तथा सामान्य बोली में व्याख्या करना भाष्य का मन्तव्य होता है, इस कारण ही व्याख्या में अन्वयजनित शब्दावली में शब्दों के बोधगम्य पर्याय प्रस्तुत करते हुए व्याख्या सम्पन्न करने की परम्परा है। जब शब्द के अर्थ को स्पष्ट करने के लिए टिप्पणी करने की आवश्यकता पड़े तो प्रमुखतः ऐसी व्याख्या को टीका कहते हैं। भाष्य में भी यद्यपि टीका होती है किन्तु प्रमुखता साधारण बोलचाल की भाषा में समझाने की होने के कारण उसे भाष्य ही कहा जाता है। तथापि, जहाँ भाष्य द्वारा भी शब्दों के अर्थ स्पष्ट नहीं हो पाते वहाँ भाष्य पर टीका करने की आवश्यकता होती है और तब टिप्पणीगत व्याख्या विस्तृत होकर शब्द के भाव को स्पष्ट करते हुए अर्थ को प्रकट करने का कार्य करती है।

आजकल वेद-व्याख्या की तीन प्रमुख विधियाँ दिखाई देती हैं। प्रथम विधि को हम पारम्परिक वेदार्थ विधि कह सकते हैं। इसका प्रारम्भ संहिताकाल से ही होता है। यह काल वेद के लुप्त होने के हजार वर्ष उपरान्त उसके पुनरुज्जीवन की अनुकूल परिस्थितियों में पुनः संहिताओं के रूप में संकलित होने का है। यह संकलन अतिप्राचीन भाषा तथा प्रारम्भिक लिपि में होने के कारण दुरूह तथा दुर्बोध रहा होगा, इसलिए ध्वनि और उच्चारण की विधियों से इसके वास्तविक शब्द-बोधों को पहचानने की चेष्टा की गई। एक ओर, पद-पाठ, क्रम-पाठ, जटा-पाठ, माला-पाठ, घन-पाठ आदि पाठों के रूप में मन्त्रों के प्रत्येक पद के स्वरूप का विनिश्चय किया गया ताकि वर्ण या सूक्ष्म-स्वर में भी आगे विभेद उपस्थित न किया जा सके, वहीं दूसरी ओर ध्वनि और उच्चारण की विधियों का शिक्षा, व्याकरण, निरुक्त आदि के माध्यम से विनिश्चय करते हुए वास्तविक शब्द-बोधों की स्थापना की गई। तथापि, ऐसी स्थापना के उपरान्त

भी संहिताओं में अत्यल्पांश रूप में सही विभेद तो हुआ ही है। इसका कारण संहिता सम्प्रदायों और शाखाओं में मतान्तर रहा होगा।

ध्वनि और उच्चारण की विधि से शब्द–बोधों की जो स्थापनायें की गईं, उनमें अनेक ऐसे शब्द–बोध प्राप्त हुये जो एकार्थक और बहु–अर्थक थे। इन्हें सूची–कृत करते हुए एकत्र किया गया। ऐसे संकलन को 'निघण्टु' नाम दिया गया। 'निघण्टवः' के अर्थ ही हैं 'निश्चित ध्वनियाँ', इन्हें 'समाम्नाय' और 'निगमाः' भी कहा गया, जिनके अर्थ क्रमशः 'सम्यक् क्रम' और 'निश्चयपूर्वक' प्राप्त होते हैं। इन सूचियों में पर्यायवाची शब्द हैं जो एक विशेष प्रयोजन से रखे गये हैं। एकार्थक शब्द सूचियाँ 'ऐकपदिकम्' वस्तुतः वेदमन्त्र के एक पद में आया हुआ शब्द होता है, जो प्रत्यक्षरूप से तो उस मन्त्र का संदर्भ देता है, किन्तु परोक्ष रूप से वह संदर्भित मन्त्रों के उस सम्यक्–क्रम का निदेशक होता है जो किसी वैज्ञानिक सिद्धान्त या प्रक्रिया का उद्घाटन करता है। इसके अतिरिक्त पर्यायों, प्रक्रियाओं और दैवत संदर्भो में प्रतीकात्मकता के सिद्धान्त निहित हैं।

इसके अतिरिक्त वेदांगों की सहायता से वेद के मन्त्रों के अर्थबोध विनिश्चित किये गये, जिनमें वैज्ञानिकता और प्रतीकात्मकता के सिद्धान्त प्रतिपादित हुये। भाषा वैज्ञानिक तथ्य तथा सिद्धान्त शिक्षा, व्याकरण तथा निरुक्त के माध्यम से प्राप्त हुये। 'कल्प' के माध्यम से प्रतीकात्मकता इंगित हुई। यद्यपि शीघ्र ही यह विज्ञान विकृत हो गया। 'छन्द' से ऊर्जा संक्रमण और सम्बन्धित शरीर की वैज्ञानिक प्रक्रियाओं पर प्रकाश पड़ा, किन्तु, इन्हें भी शीघ्र विकृत करके पिंगलशास्त्र का रूप दे दिया गया; सप्त–स्वरों, सप्त–छन्दों, आदि को षड्जादि तथा गायत्र्यादि में व्याख्या की गई, जबकि ये व्याख्यायें वर्ण और लिपि, इन्द्रियों तथा ऊर्जा के सप्तरूपों तथा मार्गों की दृष्टि से करना चाहिए थी। वेद में तो पिंगल–छन्दों की संख्या बारह या उससे भी अधिक ही प्राप्त होती है। इसी प्रकार ज्योतिष का मन्तव्य ग्रह–आदिकों के साथ–साथ देवताओं के निर्वचन से सम्बन्धित होना चाहिए था।

सबसे स्पष्ट और उपयुक्त व्याख्यायें उपवेदों के अन्तर्गत की गई। इसका कारण यह था कि उपवेद शुद्ध वैज्ञानिक ग्रन्थ थे जिनमें परोक्षकथन, प्रतीकात्मकता या गोपनीयता का कोई उद्देश्य निहित नहीं था, अपितु तथ्य, प्रक्रियाओं और सिद्धान्तों को स्पष्टतः समझाना ही उद्देश्य था ताकि मानव कल्याण की दृष्टि से उनका उपयोग किया जा सके। इस प्रकार वैदिक पुरूषसूक्त की विधिवत् व्याख्या चरक शारीर में प्रकारान्तर से प्राप्त होती है। व्याख्या का एक उद्धरण हम यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं, जिसमें यजुर्वेद के निम्न मन्त्रों को व्याख्यायित किया गया है :-

प्रजापतिश्चरति गभेऽन्तरजायमानो बहुधा विजायते।[1]
एवो ह देवः प्रदिशोऽनुसर्वाः पूर्वोहजातः सऽउ गर्भे अन्तः।
सड एव जातः स जनिष्यमाणः प्रत्यड्.जनास्तिष्ठति सर्वतोमुखः।।[2]

इस पर चरक संहिता शारीर स्थान खुड्डिकागर्भावक्रान्ति अध्याय तृतीय निम्न व्याख्या प्रस्तुत करता हैः-

"आत्मजश्चायं गर्भः, गर्भात्मा ह्यन्तरात्मा यः, तं जीव इत्याचक्षते ..... स गर्भाशयमनुप्रविश्य शुक्रशोणिताभ्यां संयोगमेत्य गर्भत्वेन जनयत्यात्मनाऽऽत्मानम् आत्मसंज्ञा हि गर्भे। तस्य पुनरात्मनो जन्मानादित्वान्नोपपद्यते, तस्मान्न जात एवायमजातं गर्भ जनयति, अजातो ह्यमजातं गर्भ जनयति, स चैव गर्भः कालान्तरेण बालयुवस्थ-विरभावान् प्राप्नोति, स यस्यां यस्यामवस्थायां वर्तते तस्यां तस्यां जातो भवति, या त्वस्य पुरस्कृता तस्यां जनिष्यमाणश्च, तस्मात् स एव जातश्चाजातश्च युगपद्भवति, यस्मिंश्चै तदुभयं संभवति जातत्वं जनिष्यमाणत्वं च, स जातो जन्यते, स चैवानामतेष्ववस्थान्तरेष्वजातो जनयत्यात्मनाऽऽत्मानम्। सतो ह्यवस्थान्तरगमनमात्रमेव हि जन्म चोच्यते तत्र तत्र वयसि तस्यां तस्यामवस्थायां, यथा-सतामेव शुक्रशोणितजीवानां प्राक् संयोगाद्गर्भत्वं न भवति, तच संयोगइभवति। यथा सतस्यस्यैव पुरुषस्य प्रागपत्यात् पितृत्वं न भवति, तच्चापत्याइभवति तथा सतस्यस्यैव गर्भस्य तस्यां तस्यामवस्थायां जातत्व मजातत्वं चोच्यते।।[3]

वेद के मन्त्रों को उपवेदों में लगभग जस का तस ग्रहण करने के भी उदाहरण हैं, जैसे यजुर्वेद में :-

1. यजुर्वेद 31:19
2. यजुर्वेद 32:4
3. चरक० शारीर० 3:8

अथ तानष्टौ विरूपना लभतेऽतिदीर्घं चातिह्रस्वं चातिस्थूलं चातिकृशं चातिशुक्लं चातिकृष्णं चातिकुल्वं चातिलोमशं च।।[4]
और चरक संहिता में :-

इहखलु शरीरमधिकृत्याष्टौ पुरुषा निन्दिता भवन्ति; तद्यथा – अतिदीर्घश्च, अतिह्रस्वश्च, अतिलोमा च, अलोमा च, अतिकृष्णश्च, अतिगौरश्च, अतिस्थूलश्च, अतिकृशश्चेति।।[5]

वेद में प्राप्त तमाम तथ्यों, प्रक्रियाओं, सिद्धान्तों और प्रतीकात्मकताओं को उपवेदों में उद्‌घाटित किया गया है तथा उपवेद ही इस प्रकार वेदार्थ और वेद व्याख्या के लिए अधिकांशतः पर्याप्त साक्ष्य प्रमाणित होते हैं।

विद्वानों ने ब्राह्मण-ग्रंथों को भी वेद की व्याख्या करने वाला बतलाया है।[6] ब्राह्मण विधि और अर्थवाद में विभाजित किए जाते हैं, विधियां कर्म की ओर प्रेरित करने वाली हैं[7], वे अज्ञात अर्थ को अवबोधित कराने वाली हैं।[8] सायण ने कर्मकाण्डगत विधियों को 'अप्रवृत्तप्रवर्तन' और ब्रह्मकाण्डगत विधियों को 'अज्ञातार्थज्ञापन' वाली बतलाया है।[9] मीमांसादर्शन में याज्ञिक विचार की दृष्टि से विधि के चार भेद माने जाते हैं, (1) कर्मस्वरूप मात्र के अवबोधन वाले 'उत्पत्ति-विधि', (2) कर्म सम्बन्धी द्रव्य और देवता के विधायक 'गुण विधि' या 'विनियोग विधि', (3) कर्मों में किसका अधिकार और क्या उद्‌देश्य बतलाने वाले 'अधिकार विधि' और (4) कर्मों के अनुष्ठान क्रमादि का बोधन कराने वाले वचन 'प्रयोग विधि' के अन्तर्गत आते हैं। प्रयोग विधि के वाक्य साक्षात् उपलब्ध नहीं होते, इनकी कल्पना प्रधान-वाक्य के साथ अंङ्ग वाक्यों की एक वाक्यता द्वारा की जाती है।

4. यजुर्वेद 30:22
5. चरक0 सूत्र0 21:3
6. 'ब्राह्मण नाम कर्मणस्तन्मन्त्राणात्र्च व्याख्याग्रन्थः' आचार्य भट्टभास्करः तै0सं0 1:5:1 पर भाष्य, 'वेदचतुष्टयमन्त्राणां कर्मसु विनियोजकः कर्म विधायको नानाविधानादीतिहासाख्यानबहुलो ज्ञानविज्ञानपूर्णो भागो ब्राह्मण भागः' म0म0 विद्याधर शर्मा : शतपथ ब्राह्मण भूमिका, पृष्ठ 2
7. कर्म चोदना ब्राह्मणानि (आपस्तम्ब परि0 34:35) चोदनेति क्रियायाः प्रवर्तकवचनमाहुः' (भाष्य)
8. 'तत्राज्ञातार्थज्ञापको वेदभागो विधिः' आचार्य लौगाक्षि भास्करः अर्थ संग्रह पृ0 36
9. सायणः ऋ0भा0भू0 विधिप्रामाण्य विचार।

कर्मप्रवर्तन से अतिरिक्त वचन अर्थवाद के अन्तर्गत आते हैं।[10] प्रशंसा तथा निन्दा परक वाक्य को जो अर्थवाद कहा गया[11], उसके अर्थ वस्तुतः समीक्षा या समालोचना हैं। पारकर[12] ने अर्थवाद को 'तर्क' शब्द से निरूपित किया है। तर्क वह है जिसके द्वारा संदिग्ध अर्थ का निश्चय किया जा सके।[13] मीमांसा की दृष्टि में अर्थवाद विधेय अर्थ की प्रशंसा तथा निषिद्ध अर्थ की निन्दा वाला है, इस कार्य में अर्थवाद शब्द की लक्षणा से अपने तात्पर्य की अभिव्यक्ति करता है, न कि मुख्यार्थ से, इस सम्बन्ध में यज्ञादि क्रिया द्वारा[14] ही अभीष्ट की प्राप्ति एवं अनिष्ट का परिहार किया जा सकता है, क्योंकि विधान और निषेध क्रिया का ही होता है, अतएव उनका प्रामाण्य और उपादेयता अर्थवाद से सिद्ध होती है।[15] अर्थवाद द्वारा विषय-परीक्षण तीन प्रकार से होता है - (1) प्रतिपाद्य अर्थ का प्रमाणान्तर से विरोध गुणवाद कहलाता है, (2) पूर्व परिज्ञात या पूर्वानुभूत प्रमाण से अर्थ का बोध करना अनुवाद है, तथा (3) पूर्व घटित यथार्थ के ज्ञापन से भूतार्थवाद होता है, इसमें गुणवाद की भांति न तो प्रमाणान्तर-विरोध होता है, और न अनुवाद की भांति प्रमाणान्तरावधारण ही होता है।

आपस्तम्ब, पारस्कर आदि ने वेद के तीन भाग - मन्त्र, विधि और अर्थवाद माने हैं, किन्तु अर्थसंग्रह[16] में ये पांच हैं - मन्त्र, विधि, अर्थवाद, नामधेय और निषेध। नामधेय प्रकरण में नामों से जुड़े हुए विशेष भागों की समालोचना होती है : नामधेय विजातीयता की निवृत्ति और विधेयार्थ का निश्चय कराता है।[17] नामधेयत्व (1) मत विभिन्नता की लक्षणार्थ के भय से, (2) वाक्य भेद के भय से, (3) सम्बन्धित प्रसिद्ध शास्त्र-वाक्य से, तथा (4) छल की सम्भावना से किया जाता है। अनर्थ उत्पन्न करने वाली क्रियाओं से कर्मी को निवृत्त कराना ही निषेध-वाक्यों का प्रयोजन है।[18]

10. आपस्तम्ब 'ब्राह्मणशेषोऽर्थवादः' (आ0परि0 34:35)
11. 'प्राशस्त्यनिन्दान्यतरपरं वाक्यमर्थवादः' (अर्थ संग्रह पृ0 36)
12. 'विधिर्विधेयस्तर्कश्च वेदः' पा0गृ0सू0 2:6:6
13. 'तर्क शब्देना वादोऽभिधीयते। तर्क्यते ह्यनेन संदिग्धोऽर्थः' पा0गृ0सू0 2:6:5 पर कर्क की टीका।
14. 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वात्' जैमिनिसूत्र 1:2:1
15. 'विधिना त्वेकवाक्यत्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः' जैमिनि सूत्र 1:2:7
16. 'स च विधिमन्त्र नामधेय निषेधार्थवादभेदात् पञ्चविधः' अर्थ संग्रह।
17. 'नामधेयानां च विधेयार्थपरिच्छेदकतयार्थवत्तवम्', अर्थ संग्रह।
18. 'पुरूषस्य निवर्तकं वाक्यं निषेधः', अर्थसंग्रह।

ब्राह्मणों के अन्तर्गत ही आरण्यकों और उपनिषदों का अन्तर्भाव माना जाता है। परम्परा से कर्मकाण्ड के प्रतिपादक 'ब्राह्मण', उपासनाकाण्ड के प्रतिपादक 'आरण्यक' तथा ज्ञानकाण्ड के प्रतिपादक 'उपनिषद्' माने जाते हैं। इन तीनों ही प्रकार के ग्रन्थों में अपने ढंग से वेद की व्याख्या की गई है।[19] हम कल्प सूत्रों का समाहार भी ब्राह्मणों के अन्तर्गत कर सकते हैं। इनमें यज्ञादि-विषयक विधान और विवरण श्रौतसूत्रों में, गृहस्थ कर्तव्यों और अनुष्ठानों का वर्णन गह्यसूत्रों में तथा पारमर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक कर्तव्यों का वर्णन धर्मसूत्रों में किया गया है।

ब्राह्मणों के अन्तर्गत यज्ञ की कल्पना प्राकृतिक गतिमान नियम 'ऋत' के आधार पर की गई और इस कारण ही यज्ञ को भी 'ऋत' कहा जाने लगा। वास्तविक स्थिति यह थी कि वेद में वैज्ञानिक तथ्यों और सिद्धान्तों का प्रत्यक्षतः पुष्टीकरण करना था जिसके लिए 'ऋत' की कल्पना पर 'यज्ञ' का विधान किया गया। शायद इस कारण भी कि वेद में यज्ञ का वर्णन ज्ञानोत्पादन के परिप्रेक्ष्य में किया गया है। प्रारम्भ में यज्ञों के पांच भेद हुये - अग्निहोत्र, दर्शपूर्णमास, चातुर्मास्य, पशुयाग और सोमयाग। प्रकृति रूप में प्रथम दर्शपौर्णमास यज्ञ का विधान हुआ, यहाँ प्रकृति का अर्थ पहले निर्माण या बनने से सम्बन्धित है, इस कारण इसमें अन्य किसी याग की विधि प्रयुक्त नहीं होती जबकि अन्य याग विकृति के कारण दर्शपौर्णमास की विधि से उपकृत होते हैं। याग अमावस्या के दिन से प्रारम्भ होता है, अमावस्या दक्षिणायन-विसर्ग कर्ममार्ग की प्रतीक है। इसमें तीन याग, अग्नि देवता के लिए पुरोडाश इन्द्र देवता के लिए दधिद्रव्य तथा इन्द्र देवता के लिए पयोद्रव्य के त्याग रूप होते हैं। पूर्णिमा के दिन पहला अग्नि देवता के लिए अष्ट कपाल वाला पुरोडाश, दूसरा अग्नि और सोम देवता सम्बन्धी आज्य द्रव्य वाला उपांशु याग, और तीसरा अग्नि और सोम देवता सम्बन्धी ही एकादश कपाल वाला पुरोडाश याग होता है। इस प्रकार दर्शपौर्णमास यज्ञ में कुल छः याग होते हैं। पूर्णिमा उत्तरायण-आदान-ज्ञान मार्ग की प्रतीक है, अष्ट कपाल रसादि अष्ट धातुओं के प्रतीक हैं। आज्य द्रव्य ओजस् का प्रतीक है, तथा एकादश-कपाल मन सहित इन्द्रियों अथवा रूद्रों (रोष या क्षिप्रगति) के प्रतीक हैं; पुनः ये तीनों याग अधिभूत, अधिदेव व

19. देखें, डा0 युगल किशोर मिश्रः वेदस्वरूप, कल्याण, वर्ष 73, संख्या 1 व 2, जनवरी-फरवरी 1999: पृष्ठ 147-153

अध्यात्म के प्रतीक हैं। दर्शपौर्णमास यज्ञ के अनुष्ठान की विधि संक्षेप में इस प्रकार है :–[20]

पहले 'व्रतोपायन' विधि से यजमान को सर्वशुद्ध किया जाता है, इसके अनन्तर यज्ञ का सर्वांग अनुष्ठान किया जाता है। 'अग्नि उद्धरण' के क्रम में गार्हपत्य अग्नि से आहवनीय और दक्षिणाग्नि को अलग करके, 'अन्वाधान' में तीनों अग्नियों में छः–छः समिधाओं का दान किया जाता है। इसके उपरान्त यजमान ऋत्विक् का वरण करता है, इसे 'ब्रह्मवरण' कहते हैं। 'प्रणीता–प्रणयन' में चमस में ज़ल भरकर निर्दिष्ट स्थान में रखते हैं। 'परिस्तरण' में अग्नि के चारों ओर कुश को बिछाते हैं। इसके उपरान्त पात्र, हवि, आदि का प्रमार्जन और प्रोक्षण द्वारा पवित्रीकरण किया जाता है। 'फलीकरण' में चावल–अक्षत को शुद्ध करते हैं, कपाल अर्थात् मिट्टी की सरइयां यथास्थान रखते हैं। गरम जल 'उपसर्जनी' को पिष्ट–संयवन के लिए नीचे रखते हैं। फिर वेदी बनाते हैं, घास को तोड़–तोड़ कर रखते हैं, यज्ञपात्रों, स्रुवा, जुहू, उपभृत, ध्रुवा आदि का मार्जन करते हैं। यजमान पत्नी के लिए मूंज की करधनी बनाते हैं। इध्म, वेदी और बर्हिका का प्रोक्षण करते हैं। 'प्रस्तर–ग्रहण' में कुशों के मूठे को हाथ में लेते हैं। फिर वेदी पर कुश बिछाते हैं और वेदी के चारों ओर परिधि बनाते हैं। फिर ईधन रखते हैं और विधृति–स्थापन करते हैं, तथा यज्ञपात्र जुहू आदि को वेदी पर रखते हैं। इसके उपरान्त अग्नि को शुद्ध करते हैं, इसके लिए अग्नि के एक छोर से दूसरे छोर तक घी की धार डालते हैं। होता का वरण करते हैं। इसके उपरान्त पांच प्रयाज किए जाते हैं। अग्नि और सोम देवता के निमित्त आज्य भाग दिया जाता है। इसके उपरान्त प्रधान देवता को शोभन करने वाली विधि से याग किया जाता है। इसके उपरान्त ब्रह्मा के भाग का निश्चय किया जाता है। इडावदान तथा ऋत्विक् भोजन हेतु अन्वाहार्य दक्षिणा प्रदान की जाती है। इसके अनन्तर तीन अनुयाजों का विधान होता है, फिर जुहू आदि यज्ञीय पात्रों को हटाया जाता है, इसके उपरान्त सूक्तों तथा कल्याण स्तुतियों से देवाराधना की जाती है, फिर देवता–पत्नी के निमित्त चार याग किए जाते हैं। इसके उपरान्त दक्षिणाग्नि होम करके बर्हिहोम किया जाता है और जल

20. देखें, 'वेदों में 'यज्ञ'', कल्याण, वर्ष 73, संख्या 1 व 2, जनवरी–फरवरी 1999, पृष्ठ 338–347

कलश को हटा दिया जाता है। 'विष्णु क्रम' में विश्वेदेवों से लेकर विष्णु तक देवताओं की क्रमानुसार स्तुतियां की जाती हैं। व्रत का विसर्जन करके फिर ब्राह्मणों को भोजन कराया जाता है। इस प्रकार दर्शपौर्णमास यज्ञ समाप्त होता है।

'दर्शपूर्णमास यज्ञ' का शाब्दिक अर्थ 'पूर्णमास की ज्ञान प्रक्रिया का प्रेक्षण' होता है। पूर्णमास दो अर्धमासों कृष्ण-शुक्ल के संदर्भ से विसर्ग-आदान अथवा दक्षिणायन-उत्तरायण अथवा पितृयान-देवयान अथवा कर्म-ज्ञान में विभक्त है। दर्शपूर्णमास के अतिरिक्त ब्राह्मण ग्रन्थों तथा सूत्र ग्रन्थों में यज्ञ के अनेक भेद-प्रभेद दिए गए हैं। इन सभी का समावेश हविर्यज्ञ संस्था, सोमयज्ञ संस्था और पाकयज्ञ संस्था के अन्तर्गत हो जाता है। प्रत्येक संस्था में सात-सात याग होते हैं।[21] इनके अतिरिक्त यज्ञ के अनेक भेद किये गये हैं, और ये अभी तक होते चले आ रहे हैं।

तथापि, हम एक महत्वपूर्ण अवलोकन यह करते हैं कि अतिप्राचीन इतिहास और आख्यानों में ऋषि-आश्रमों से उठते हुये यज्ञ-धूम का कहीं भी वर्णन नहीं मिलता है, न देवालयों में या चैत्य पर उपासना का ही कोई वर्णन है। महाभारत भीष्म पर्व में जो युद्ध से पूर्व अर्जुन द्वारा 'दुर्गास्तुति' है वह प्रक्षेपित सी लगती है, और भण्डारकर शुद्धीकृत संस्करण में इसे छोड़ दिया गया है। उपासना और यज्ञ के ऐसे आख्यान कालिदासादि लौकिक कवियों से ही प्रारम्भ होते हैं, जिनका काल गुप्तकाल के लगभग या उसके बाद का है। प्रतिमा नाटक में इक्ष्वाकुवंशी पूर्वजों के मन्दिर की निजी कल्पना है, किन्तु ऐसे मन्दिरों के भी कोई प्रमाण नहीं मिलते। निष्कर्ष यह निकलता है कि जो धार्मिक यज्ञ इस मध्यकाल में प्रमुखतः विकसित हुये हैं वे उस अन्धयुग की देन हैं, जहाँ ज्ञान-विज्ञान भी धार्मिक पकड़ में आ चुका था और अपना मन्तव्य और अस्तित्व खो चुका था। इस प्रकार प्राचीन विधि, सिद्धान्त, दर्शन तथा विचारधारा पर धार्मिक आरोपण होकर उनकी मौलिकता

21. औपासनहोमः वैश्वदेवः पार्वणः अष्टका मसिश्राद्धम् श्रवणा शूलगव इति सप्त पाकयज्ञ संस्थाः। अग्निहोत्रं दर्शपूर्णमासौ आग्रयणं चातुर्मास्यानि निरूढपशुबन्धः सौत्रामणी पिण्डपितृयज्ञादयो बहिर्होमा इति सप्त हविर्यज्ञसंस्थाः। अग्निष्टोमः अत्यग्निष्टोमः उक्थ्यः षोडशी वाजपेयः अतिरात्रः आप्तोर्याम इति सप्त सोम संस्थाः।। – गौतम धर्मसूत्र

को नष्ट कर दिया गया। तथापि, आधार प्राचीन होने के कारण हम आज इस स्थिति में अवश्य हैं कि आरोपण को हटाकर आधार को उद्घाटित कर सकें। यज्ञ के संदर्भ में जो हविर्यज्ञ संस्था, पाकयज्ञ संस्था और सोमयज्ञ संस्था का वर्णन है, वह ठीक वेद की पृथिवीस्थानीय, अन्तरिक्षस्थानीय और द्युस्थानीय प्रक्रियाओं के नितान्त अनुरूप है, और इन्हें ही जानने और पुष्ट करने के लिए मूलरूप से यज्ञ रूपी ज्ञान कार्य का ब्राह्मणों द्वारा विधान किया गया था।

एक अन्य विकल्प के रूप में प्राचीन इतिहास और परम्परा को निगूढ वेदार्थ के ज्ञान का आधार बनाया गया। इस संदर्भ में सूतों की परम्परा से चली आ रही कथाओं तथा किंवदन्तियों और जन-जन में फैले हुए परम्परागत ज्ञान-विज्ञान, सामाजिकी तथा पारिस्थितिकी का संकलन और विश्लेषण करते हुए इन्हें नये सिरे से इतिहास और पुराणों में संजोया गया।

इतिहासाः सवैयाख्या विविधाः श्रुतयोऽपि च।
इह सर्वमनुक्रान्तमुक्तं ग्रन्थस्य लक्षणम्।।[22]

अर्थात् इस महाभारत ग्रन्थ में व्याख्या के साथ अनेक इतिहास तथा अनेक प्रकार की सुनी हुई किवदन्तियों का पूर्ण रूप से निरूपण किया गया है, और यही ग्रन्थ का लक्षण बताया गया है।

इतिहास-पुराणों की विशेषता यह है कि संदर्भ रूप में वेद के आख्यानों को इनमें विस्तार से सम्पूर्णता के साथ कहा गया है, वेदकालीन सामाजिक स्थिति और पारिस्थितिकी का जस-का-तस निरूपण करने की चेष्टा की गई है, तथा प्रतीकों को स्पष्ट करते हुए उनके द्वारा वेदकालीन ज्ञान-विज्ञान का उद्घाटन किया गया है। दाशराज्ञ-युद्ध के आख्यान को प्रकारान्तर से महाभारत की कथा रचकर वैदिक व्याख्या को पूर्ण करने की चेष्टा हुई है। इसी प्रकार महादानी राम को नायक बनाकर रावणादि राक्षसों से त्रस्त वशिष्ठों के सूक्तों के संदर्भ तथा अन्य उपयुक्त संदर्भों के आधार पर रामकथा का निर्माण किया गया था जिसमें वेदकालीन सामाजिकता और पारिस्थितिकी का ज्ञान कराना अभीष्ट था तथापि, इन दोनों इतिहासग्रन्थों का प्रयोजन तो पीछे छूट गया और रची हुई कथा तथ्य जैसी बनकर प्रमुख हो गई।

22. महाभारत आदिपर्व 1:50

बहरहाल, वेद की व्याख्या के लिए इतिहास-पुराणों में बहुत सामग्री है, तथा अनेक जटिलतायें तो इनकी सहायता के बिना सुलझाई ही नहीं जा सकतीं। उदाहरणस्वरूप, वाक् की अवधारणा महाभारत[23] से ही प्राप्त की जा सकती है, और विश्वेदेवों तथा बर्हि की अवधारणा पुराण[24] के बिना स्पष्ट नहीं होती।

उपवेदों को छोड़कर प्रायः सभी पारम्परिक व्याख्या वाले ग्रन्थों ने वेद की भाँति गोपनीयता, प्रतीकात्मकता, रहस्य और परोक्षकथन को लगातार बरकरार रखा है जिसके परिणामस्वरूप इन्हें सही रूप में वेद की व्याख्या भी नहीं कहा जा सकता है, और वे मौलिक ग्रन्थ से लगते हुए अधिकाधिक रहस्य उत्पन्न करते हैं, और सामान्यजन को भ्रमित करते हैं। पारम्परिक व्याख्या की इस अस्पष्टता और रहस्यमयता के कारण ही परमेश्वरारोपण सहज और पुष्ट होता चला गया।

वेद व्याख्या की द्वितीय विधि को हम आग्रह एवं आस्था परक वेदार्थ विधि कह सकते हैं। इस विधि में सामान्यतया पहले से ही बनी विचारधारा या सिद्धान्तों का वेद-व्याख्या द्वारा पुष्टीकरण या पृष्ठपोषण की प्रवृत्ति होती है। वस्तुतः यह उल्टी गंगा बहाना है, अर्थात् ऐसी व्याख्या का प्रयोजन वेदार्थ करना नहीं होता बल्कि वेदार्थो द्वारा अपने आग्रह और आस्था का पुष्टीकरण करना होता है। मध्यकालीन भाष्यों से लेकर आज तक के लगभग सभी भाष्य इस रोग से ग्रसित हैं। कोई धर्मपरक हैं, तो कोई यज्ञपरक हैं, तो कोई नीतिपरक हैं, तो अन्य योग या अध्यात्मपरक हैं। ये सभी अपने 'मत' के लिए परम्परागत ग्रन्थों से प्रमाण एकत्र करते हैं, और इसलिए ही वे उन परम्परागत ग्रन्थों को 'वेद के भाग' या 'आर्ष' बताते हैं। इसमें इन भाष्यकारों की यह नासमझी भी शामिल है कि परम्परागत ग्रन्थों को वे यज्ञ, धर्म, नीति, अध्यात्म आदि के प्रणेता मानते हैं जबकि इनके द्वारा मूलतः वेद व्याख्या की गई है और उसकी वे विशिष्ट विधायें हैं। तथापि, यह घालमेल

23. महाभारत आश्व0 21:16
24. देखें भागवत 2:6:4, लोमों को ही बर्हि भी बतलाया गया तथा इन पर बैठने वाले ही विश्वेदेव निश्चित होते हैं।

सामान्यजन में ऐसा भ्रम उत्पन्न करता है कि वे इस अतिसूक्ष्म भेद को नहीं समझ पाते, और कभी-कभी तो विद्वान् भी इससे मोहित हो जाते हैं।

ऋग्वेद पर सातवीं शताब्दी में मिलकर भाष्य करने वाले आचार्यत्रय स्कन्द स्वामी, नारायण और उद्गीश हैं, जिन्होंने क्रम से ऋग्वेद के आदि, मध्य और अन्तिम भागों की यज्ञपरक व्याख्यायें की हैं। स्कन्द स्वामी का भाष्य ऋग्वेद के चौथे अष्टक तक ही प्राप्त होता है, शेष भाग पर अन्य दो आचार्यों की व्याख्यायें हैं। स्कन्त स्वामी का भाष्य अत्यन्त विशद है। प्रत्येक सूक्त के प्रारम्भ में ऋषि और देवता का उल्लेख प्राचीन अनुक्रमणियों के श्लोक उद्धृत करके किया गया है। स्थान-स्थान पर निघण्टु निरूक्त आदि से उपयुक्त प्रमाण दिये गये हैं। भाष्य सरल तथा मिताक्षर है, व्याकरण सम्बन्धी तथ्यों का संक्षेप में ही उल्लेख किया गया है। नारायण ने ऋग्भाष्य के लिए स्कन्द स्वामी की सहायता की थी। अनुमान किया जाता है कि ऋग्वेद के मध्य भाग पर नारायण ने भाष्य लिखा होगा। उद्गीथ ने ऋग्वेद के अन्तिम भाग पर भाष्य लिखकर स्कन्द स्वामी की सहायता की थी। इनके भाष्य की शैली स्कन्द स्वामी की भांति ही थी। यह भाष्य ऋग्वेद के दशम मण्डल के सूक्त 5 से लेकर सूक्त 83 के पाँचवें मन्त्र तक उपलब्ध होता है।

माधव नाम के तीन भाष्यकारों का सम्बन्ध ऋग्वेद से माना जाता है। इनमें से एक तो सायण-माधव हैं, जो सायण के अग्रज, निर्देशक तथा सहायक भी रहे हैं, और इस कारण ही सायण भाष्य माधवीय कहलाता है। दूसरे व्यंकट माधव हैं जिनका उल्लेख प्राचीन भाष्यों में मिलता है। तीसरे विद्वान् माधव भट्ट हैं, इनकी प्रथम अष्टक की टीका मद्रास विश्वविद्यालय से प्रकाशित हुई है। यह टीका बड़ी सारगर्भित है, अल्पाक्षर है तथा मन्त्रों के अर्थ समझने में महत्वपूर्ण है। इनकी टीका बहुत दिनों से लुप्तप्राय जान पड़ती है और अभी भी पूरे तौर पर अप्राप्य है, तथापि देवराज यज्वा द्वारा संदर्भित अपनी निघण्टु टीका में इनके उद्धरण लगभग आधे इसी प्रकाशित अंश में प्राप्त हो जाते हैं। माधव भट्ट ऋग्वेद के महान विद्वान् थे, इसके पहले इन्होंने ऋग्वेद के शब्दार्थ को प्रकट करने वाली ग्यारह अनुक्रमणियाँ लिखी थीं, जिनमें से दो नामानुक्रमणी और आख्यातानुक्रमणी प्रकाशित हैं, इनसे अधिक महत्व की निर्वचनानुक्रमणी, छन्दोनुक्रमणी तथा स्वरानुक्रमणी उपलब्ध नहीं हैं।

इनकी टीका का अनुसरण स्कन्द स्वामी, व्यंकट माधव और सायणाचार्य ने किया है, इसलिए ये इन सबसे प्राचीन हैं। यद्यपि इनका भाष्य लघुकाय है तथापि निःसन्दिग्ध अर्थ दिये हैं, और संदिग्ध स्थलों को स्वरभेद और प्रतिशाख्य भेद से विशद करने की इनकी शैली अनूठी है। व्यंकट माधव का काल बारहवीं शताब्दी का अन्त है। इनका भाष्य अत्यन्त संक्षिप्त है, इन्होंने मूलपदों का निवेश भी अपने भाष्य में बहुत कम किया है। केवल पर्यायवाची पदों को देकर ही मन्त्रार्थ को स्पष्ट करने की चेष्टा की गई है, तथापि मन्त्र का अर्थ बड़ी सुगमता से प्राप्त हो जाता है। इसमें व्याकरण सम्बन्धी तथ्यों का निर्देश बिल्कुल नहीं है। सर्वत्र ब्राह्मण ग्रन्थों के प्रमाण दिये गये हैं, तथा उन्होंने वेदों के गूढ़ अर्थों को समझने में ब्राह्मणों को अति उपयोगी बताया है। इस प्रकार यह भाष्य ब्राह्मणपरक भाष्य है।

12वीं शती में मध्वाचार्य या आनन्दतीर्थ द्वैतवादी वैष्णव सम्प्रदाय के प्रवर्तक थे। इन्होंने ऋग्वेद के कतिपय मन्त्रों की व्याख्या वाला वेदभाष्य लिखा जो छन्दोबद्ध है तथा प्रथम मण्डल के सूक्तों पर ही है। इसमें इन्होंने सर्वत्र भगवान् नारायण का प्रतिपादन किया है, तथा इसी भाव से वैदिक ऋचाओं के अर्थ किए हैं। इसी प्रकार चौदहवीं शताब्दी के आत्मानन्द ने ऋग्वेद प्रथम मण्डल के 164 वें अस्यवामीय सूक्त पर अध्यात्म विषयक भाष्य लिखा जिसका मूल विष्णुधर्मोत्तरपुराण में निहित है। प्रत्येक मन्त्र का अर्थ परमात्मा को लक्ष्य करके ही किया गया है। रामानन्द सम्प्रदाय के भागवताचार्य ने चारों वेदों पर भाष्य लिखे हैं। इनके भाष्य में भगवद्भक्ति का सर्वत्र प्रवाह दृष्टिगोचर होता है। भक्ति संस्कार पर आश्रित अपने भाष्य का नाम भी संस्कार-भाष्य रखा है। भगवान् राम को नारायण एवं विष्णु रूप में प्रतिष्ठित किया है। आधुनिक काल के स्वामी दयानन्द और श्री अरविन्द के भाष्य भी अध्यात्मपरक भाष्य कहलाते हैं, तथापि दयानन्द का भाष्य तो नीतिपरक ही अधिक दिखाई देता है।

वेद व्याख्या की तीसरी ऐतिहासिक विधि मूलतः पाश्चात्य वैदिक अनुशीलनकर्ताओं द्वारा प्रणीत है जो मानव विकासक्रम किंवा विकासवाद को आधार मानकर अनुसंधान करते हैं। इनका आग्रह वेद के आन्तरिक प्रमाणों पर अधिक है। व्याख्या की दृष्टि से ये तुलनात्मक भाषा विज्ञान, इतिहास, धर्मों और रीतिरिवाजों की

तुलनाओं, मानवशास्त्र आदि का आधार लेते हैं। इनकी दृष्टि में भारतीय परम्परावादी वेद के मूल अर्थ तक नहीं पहुंच पाता क्योंकि वह अन्धश्रद्धा से युक्त है। यास्क और वेद रचना काल की दूरी के कारण निरुक्त को भी ये अनुपयुक्त मानते हैं, और सायणादि भाष्यकारों को तो बहुत पीछे का बतलाकर उनके वेदार्थ को प्रमाणित नहीं मानते। तथापि, अधिकतर पाश्चात्य अनुशीलनकर्ताओं ने सायण का सहारा लेकर ही वेदार्थ किए हैं। मात्र कुछ शब्दों के अर्थों को बदल देने से वेदार्थ की मूल प्रवृत्ति नहीं बदल जाती।

पाश्चात्य अध्येता अधिकतर वेदों का अनुवाद अंग्रेजी, जर्मन या अन्य योरोपीय भाषाओं में प्रस्तुत करते हैं। यद्यपि प्राचीनों ने वेदार्थ की दृष्टि से अनेक सहायक ग्रन्थ और विधायें तैयार की थीं, तथापि उन पर आश्रित न रहते हुए पाश्चात्यों ने अपने ढंग से कोष, अनुक्रमणी (इन्डेक्स), व्याकरण, आख्यानक (माइथॉलॉजी), छन्द शास्त्र आदि की रचनायें कीं। वेद की भाषा से अवेस्ता तथा अन्य प्राचीन भाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन करके शब्दों के अर्थ निकालने की चेष्टा की। यद्यपि यह सम्पूर्ण प्रयत्न प्रशंसनीय है, किन्तु वेद में इनकी दृष्टि आधुनिक मानव विज्ञान के विकासवादी दृष्टिकोण तक सीमित रहने के कारण त्रुटिपूर्ण हो गई। आधुनिक जनजातियों की स्थितियों के आकलन से वैदिक जनजीवन का निर्देशन त्रुटिपूर्ण था क्योंकि उस काल के जन आज के जनों की भांति किसी भूक्षेत्र में निहित नहीं थे और प्रायः यायावर थे, जिन्हें सतत जल, चरागाहों तथा भोजन और उपयुक्त स्थान की खोज करनी पड़ती थी इसलिए उनकी बुद्धि खोजी हो चुकी थी। ऐसी तीव्र बुद्धि का प्रमाण तब मिलता है जब हम यह पाते हैं कि पूर्व में पशु की भांति बोलने वाला मनुष्य जब अक्षर-ध्वनियों का उच्चारण आरम्भ करता है तो साथ ही साथ ध्वनियों के लिपि-चिह्न भी बनाता है। गैबल-3 और गैबल-2 के बीच जो लिपि परिवर्तन हुए हैं वे ध्वनि परिवर्तन के ठीक अनुरूप हैं, और यह क्रम आगे भी है। ऐसी ही तीव्र बुद्धि के दर्शन वैदिक ऋषियों में होते हैं, जबकि आधुनिक जनजातियों में यह बात नहीं पाई जाती। इसके अतिरिक्त, योरोपीय विद्वान यह समझने में असफल रहे कि वेदेतर वैदिक ग्रन्थों और इतिहास पुराणों तथा अन्य ज्ञान-विज्ञानों का विकास वेदार्थ को जानने के लिए ही किया गया तथा यह तत्तत् ग्रन्थों में निर्दिष्ट भी

है। भारतीय परम्परा को भी समझने में उन्होंने त्रुटि की है, विशेष रूप से वह जो इतिहास-पुराणों में निहित है।

योरोपीय विद्वानों का व्याख्याकाल उन्नीसवीं शताब्दी से प्रारम्भ होता है जब सर्वप्रथम कोलब्रुक ने सन् 1805 में 'एशियाटिक रिसर्चेज' नामक पत्रिका के माध्यम से वेदों पर विवेचनात्मक लेख लिखे। रॉथ का 'वेद का साहित्य और इतिहास' सन् 1846 में प्रकाशित हुआ। वेद मन्त्रों की व्याख्या के लिए शब्दों का सूक्ष्म और तुलनात्मक अध्ययन करने के सुझाव के साथ उन्होंने सेंटपीटर्सबर्ग संस्कृत-जर्मन कोष की रचना की जिसमें शब्दों के विकासक्रम भी प्रस्तुत किये गये। सन् 1875 में मैक्समुलर ने अनेक वर्षों तक अध्ययन करने के उपरान्त सायण भाष्य सहित ऋग्वेद को सम्पादित करके टीका प्रस्तुत की। डा० विलसन ने 1850 में ऋग्वेद का अंग्रेजी अनुवाद प्रकाशित किया जो सायण पर आधारित था। ग्रासमैन ने 1876-77 में ऋग्वेद का जर्मन भाषा में पद्यानुवाद किया तथा एक वैदिक कोष भी लिखा। इसी समय लुडविग ने सायण के आधार पर ऋग्वेद का जर्मन भाषा में अनुवाद प्रकाशित किया। ग्रिफिथ ने 1889-92 में ऋग्वेद का अंग्रेजी पद्यानुवाद काशी में प्रकाशित कराया। जर्मन विद्वान् ओल्डेनवर्ग ने ऋग्वेद की व्याख्या 1909-12 में की जो दो जिल्दों में बर्लिन से प्रकाशित हुई। इसके अतिरिक्त आर्नाल्ड, वेबर, श्रोडर, क्लायर, कीथ, स्टीबेन्सन, बर्नेल, विन्टरनिट्ज, ह्विटनी, ब्लूमफील्ड, मैक्डानल, पीटर्सन आदि अन्य वेद अध्येता प्रसिद्ध हैं।

इन विद्वानों का परिश्रम, अध्ययन के प्रति समर्पण और तथ्यात्मक परख के लिए विधि-विधान यद्यपि निश्चय ही स्तुत्य हैं, तथापि सम्पूर्ण अध्ययन योरोपीय परिवेश में केन्द्रित है तथा योरप को ही केन्द्र बिन्दु मानकर प्रस्तुत किया गया है। इसी क्रम में उपनिवेशवाद की नीति का विस्तार करते हुए वेद के अध्ययन में भी ऐतिहासिक तथ्यों की अपनी व्याख्या प्रस्तुत करने का प्रयत्न हुआ। आर्य-अनार्य सिद्धान्त की अर्थहीन कल्पना, वेद रचना के स्थान और काल की असंगत कल्पनायें, भारतीय परम्पराओं का उपहास, और वेद के मनमाने अर्थ करके कहीं-कहीं यह भी आभास कराने का

यत्न किया गया कि वैदिक ऋषि तथा आर्यजन लगभग जंगली अवस्था में थे। किसी-किसी योरोपीय महानुभाव ने तो वेदों को गड़रियों के गीत और जादू-टोने के मन्त्र कहने में भी हिचक नहीं की। तथापि, अनेक विद्वानों ने वैदिक मनीषा की सराहना की है तथा तत्कालीन विश्व परिवेश में वेदों को अति उन्नतिशील सभ्यता का उत्पाद निश्चित किया है।

(ख) उनके आधारों की समीक्षा

ऊपर वेद व्याख्या की जो तीन विधियां बतलाई गईं तथा उनके अन्तर्गत विभिन्न भाष्यों के संक्षिप्त परिचय के साथ उनकी विशिष्ट प्रवृत्तियां बतलाई गई हैं, उनमें मात्र पारम्परिक वेदार्थ विधि के भाष्यों में ही प्रतीकात्मकता और वैज्ञानिकता के उद्घाटन योजनाबद्ध रूप से किए गए हैं। आग्रह एवं आस्था परक विधि के भाष्यों की मूलतः पारम्परिक ग्रन्थों पर निर्भरता रहने से स्वाभाविक रूप से सहजतः वहाँ भी ऐसे उद्घाटन होते रहे यद्यपि भाष्यकारों को वे इष्ट नहीं थे और न पूर्वनियोजित ही थे। ऐतिहासिक विधि के भाष्यों या अनुवादों का उद्देश्य कुछ और ही था, और उनकी पारम्परिक ग्रन्थों पर निर्भरता भी नही थी अतः उन्होंने प्रतीकात्मकता के उद्घाटन तो किए, किन्तु किसी वैज्ञानिकता का उद्घाटन नहीं किया। पहली बात तो यह कि पाश्चात्य अध्ययन न भाष्य थे, न वेद व्याख्या थे, वे मात्र योरोपीय भाषाओं में योरप के लोगों को वेद से परिचित कराने वाले अनुवाद थे, जो मुख्यतः सायण के भाष्य पर आश्रित थे और थोड़े बहुत शब्दार्थ परिवर्तन के साथ यद्यपि वैसी ही प्रवृत्तियों का पृष्ठपोषण करते थे तथापि व्याख्या से विमुख होकर वे मात्र शाब्दिक अनुवाद रह गये थे। दूसरी बात यह है कि वे संस्कृत भाषा में अभिव्यक्त नहीं थे, तथा तीसरे यह कि वे भारतीय परम्परा से दूर होते चले गये इस कारण वेद के मूल तत्वों का वे स्पर्श भी नहीं कर सके और मात्र शाब्दिक अनुवाद बनकर रह गये।

इस दृष्टि से यहां हम आधारों की समीक्षा के लिए सभी प्रतिनिधि भाष्यकारों का चुनाव इस प्रकार कर रहे हैं जो उनकी प्रवृत्तियों के साथ-साथ काल और परिस्थिति का आकलन भी कराते हों। पारम्परिक भाष्यों के प्रतिनिधि के रूप में हम यास्क की

समीक्षा करेंगे, आग्रह एवं आस्थापरक भाष्यों के प्रतिनिधि रूप में सायण की, नीतिपरक भाष्यों के प्रतिनिधि स्वामी दयानन्द की, और धर्म और अध्यात्मपरक भाष्यों के प्रतिनिधि के रूप में हम श्री अरविन्द की समीक्षा करेंगे।

यास्क मुनि

वेदार्थ निर्णय और वेद व्याख्याकार के रूप में हमें सर्वप्रथम यास्क मुनि दिखाई पड़ते हैं, जिनका ग्रन्थ 'निरुक्त' सर्वांगपूर्ण मानक प्रबन्ध है। 'निरुक्त' शब्द के अर्थ हैं, जो नहीं कहा गया है या नहीं कहा जा सकता है उसे कहना, अर्थात् जब शब्दार्थ की सीधी और सामान्य व्याख्या प्रस्तुत न की जा सके तो दूरंदेशी से उसके अर्थ निकालना। दूरंदेशी से हमारा तात्पर्य उन संज्ञान सूत्रों से है जो शब्द की रचना में परोक्ष कारण होते हैं, और प्रकट धातु रूप तथा व्युत्पत्ति से असम्बन्धित रहते हैं। ऐसी अवस्था में प्रकट धातु से मिलती जुलती अन्य धातुयें, विलोम, विपर्यय, भाषा वैज्ञानिक निष्पत्तियां, प्रतीक, विकृतियां, अन्योक्तियां आदि का समन्वयन शब्दार्थ के निर्वचन का सम्बल बनता है। यास्क ने नाम, आख्यात, उपसर्ग तथा निपात, इन चार शब्द रूपों की विवेचना की है। इसके अतिरिक्त रूढ़ शब्दों, स्वर तथा व्याकरण असम्मत शब्दों का निर्वचन निरुक्त द्वारा किया जाता है और इस प्रकार निरुक्त व्याकरण का पूरक है तथा उसके उद्देश्य की पूर्ति करने वाला है। निरुक्त के बिना पद-विभाग सम्भव नहीं है, सन्धि के द्वारा निकटतम संयोग 'संहिता', शब्दों के मूल स्वरूप पर आधारित हैं जिनका उद्घाटन आवश्यक होता है। यज्ञ और देवता सम्बन्धी निर्वचन उनकी विशिष्टताओं से निष्पादित होते हैं, तथा प्रशंसा और निन्दा भी निर्वचन में सहायक होती है। इन आधारों पर ही यास्क ने अपने निरुक्त में लगभग सभी वेदांगों का समावेश कर लिया है।

व्याख्याकार की हैसियत से यास्क एक व्यक्ति नहीं अपितु परम्परा हैं। अपने ग्रन्थ में यास्क ने यत्र-तत्र लगभग बाईस आचार्यों के मतों का उल्लेख किया है, तथा अनेक को 'एके' तथा 'अन्ये' के रूप में भी उद्धृत किया है। इसके अतिरिक्त आख्यान,

इतिहास, काठक, नैरुक्त, नैदान, ऐतिहासिक, परिव्राजक, याज्ञिक, ब्राह्मण, वैयाकरण, हारिद्र विक्रम आदि सम्प्रदायों के मतों का भी उल्लेख किया है। इनके आधार पर हम यह अनुमान कर सकते हैं कि मौलिक ग्रन्थ होते हुए भी 'निरुक्त' परम्परा से प्राप्त विचारों का संकलन भी है। इसके अतिरिक्त यह भी अनुमान होता है कि इन आचार्यों और सम्प्रदायों से युक्त परम्परा लगभग एक हजार वर्ष पुरानी है जो सम्भवतः 'संहिताकाल' के बाद से ही प्रारम्भ हो चुकी थी। बृहदारण्यक उपनिषद् में प्राप्त आचार्यों की वंशसूचियों[25] में लगभग पच्चीसवें स्थान पर यास्क का नाम होने से, निरुक्त में उपनिषदों तथा सूत्रों के संदर्भ न दिये जाने से यास्क के समय उनका न होना सिद्ध होने से, तथा इस उपनिषद का काल पाँचवीं शताब्दी ईसापूर्व अनुमान करने से यास्क का काल लगभग एक हजार वर्ष ईसापूर्व तथा संहिताकाल लगभग दो हजार वर्ष ईसा पूर्व निश्चित होता है। यास्क अपने में उस सम्पूर्ण परम्परा को समेटे हुए हैं और वेदांगों, ब्राह्मण-आरण्यकों, इतिहास-पुराणों आदि की व्याख्याओं की परम्परा से भी प्रभावित हैं।

यास्क मुनि एक विचक्षण व्यक्तित्व हैं। यास्क की विचक्षणता यह है कि प्रथमतः उनका ग्रन्थ वैदिक-शब्दों की सूचियों पर, जो 'निघण्टु' नाम से विख्यात हैं, टीका है। द्वितीयतः, यह ग्रन्थ निरुक्त के विज्ञान के उद्देश्यों की पूर्ति करता हुआ वेदार्थ के हेतु से शब्दों की व्युत्पत्ति तथा निर्वचन प्रस्तुत करता है। तृतीयतः, इस ग्रन्थ में सभी वेदांगों पर थोड़ा या बहुत प्रकाश डाला गया है, और चतुर्थतः इस ग्रन्थ में अध्याय-अध्याय में समाविष्ट निश्चित योजनायें हैं, जो वेदमन्त्रों का भाष्य करते हुए तथा उनके विभिन्न संदर्भ प्रस्तुत करते हुए, योजना के प्रयोजन की पूर्ति करती हैं।

निघण्टु और उस पर टीका : 'निघण्टु' मात्र कोष ही नहीं है, प्रथम तीन अध्यायों में जो पर्यायवाची से लगने वाले वैदिक शब्दों की सूचियां प्रस्तुत की गई हैं, उनके पीछे भी एक उद्देश्य छिपा है। एक ही शब्द कई सूचियों में प्राप्त होता है और भिन्न-भिन्न अर्थ देता है, किन्तु इसके कारण वे सूचियाँ एकीकृत नहीं की जा सकती हैं। चौथे अध्याय में तीन सूचियां हैं, इनमें वेद

25. बृहदारण्यक उपनिषद् 2:6:3, 4:6:3

मन्त्र के संदर्भ देने वाले शब्द संकलित किये गये हैं, जिन वेदमन्त्रों के क्रम से निश्चित वैज्ञानिक प्रक्रियायें उद्घाटित होती हैं। उदाहरणस्वरूप प्रथम सूची पृथिवी लोक से चन्द्रलोक तक चलने वाली ज्ञान और पाक प्रक्रियाओं के वैदिक सन्दर्भ प्रस्तुत करती है, दूसरी सूची चन्द्रलोक से सूर्यलोक तक चलने वाली उदक प्रक्रिया के वैदिक सन्दर्भ प्रस्तुत करती है, और तीसरी सूची सूर्यलोक से पृथिवीलोक तक चलने वाली कर्म-प्रक्रिया और जीवनीय प्रक्रिया के वैदिक संदर्भों को देने वाली है। पांचवे अध्याय में छः सूचियां हैं। प्रथम सूची में अग्नि और उसके स्वरूप के सन्दर्भ हैं, द्वितीय सूची में यज्ञ-वाह्य किन्तु साधन-सहकारी स्थितियां, उपकरण तथा देवता, जो यज्ञ को प्रारम्भ करने के लिए आवश्यक हैं, वेद के शब्दों द्वारा संदर्भित किये गये हैं। तृतीय सूची में यज्ञ तथा युद्ध सम्बन्धी उपकरणों, विशिष्ट देवियों और प्राणियों के सन्दर्भसूत्रों से पृथिवी स्थानीय देवताओं की विभूतियां सम्पन्न की गई हैं। चतुर्थ सूची में अन्तरिक्ष स्थानीय देवताओं के संदर्भसूत्र हैं। पांचवी सूची में देवताओं और देवियों के नामों को संदर्भित किया गया है। छठी सूची में द्युस्थानीय देवताओं और देवियों के संदर्भसूत्र हैं। इस प्रकार 'निघण्टु' कोष का ही नहीं अपितु सूत्र-साहित्य का भी प्रथम प्रयत्न है, तथा वैदिक विज्ञान एवं प्रतीकात्मकता का निर्देशक भी है।

'निरुक्त' के विवरण से पता चलता है कि 'निघण्टु' पर आचार्यों और सम्प्रदायों द्वारा विवेचना की परम्परा चली आ रही थी।[26] महाभारत[27] में वृष नामक धर्मज्ञ व्यक्ति को 'निघण्टु' का प्रणेता बतलाया गया है। नारद के शिष्य और व्यास के गुरू विष्वक्सेन[28] ऐसे व्यक्ति हो सकते हैं, जिन्होंने वेद के संहिता (संग्रह) काल में ही वेदार्थ व्याख्या के सूत्र संजो दिये हों, क्योंकि विलुप्तप्राय वेद का पुनर्सज्ञान नारद द्वारा किया गया हो तब कुछ विशेषताओं को आधार मानकर ही वेद के महत्व को जाना समझा गया होगा और उनके सूत्र निरूपित किये गये होंगे, और इन कारणों से ही वेद को संग्रह करने का प्रयत्न किया गया होगा। यह समय भी यास्क से लगभग एक हजार वर्ष पूर्व का ही निश्चित होता

26. निरुक्त 1:1 में समाम्नाय को सारणी या परम्परागत सूची माना जाता है। इस अंश में तथा आगे भी आचार्यों के मतोल्लेख के साथ विवेचना प्रस्तुत करने से परम्परा से प्राप्त ज्ञान का बोध होता है।

27. महाभारत मोक्षपर्व 342:86-87

28. देखें मैकडानल और कीथ 'वैदिक इण्डेक्स', भाग 2 पृ0 353

है। इस प्रकार वैदिक संहिता-काल ही 'निघण्टु' का रचनाकाल भी सिद्ध होता है।

यद्यपि 'निरुक्त' 'निघण्टु' पर टीका है, फिर भी यास्क ने इसे मौलिक ग्रन्थ के रूप में प्रणीत किया है। तात्पर्य यह है कि यद्यपि 'निघण्टु' में ही वेदार्थों, प्रक्रियाओं, प्रतीकों आदि के संदर्भसूत्र संचित हैं, तथापि यास्क ने 'निरुक्त' में अपने ढंग से इनमें बहुत कुछ जोड़ा है, और कम से कम प्रथम दो-तीन अध्यायों का रचनाक्रम टीका या भाष्य जैसी स्थिति प्रकट नहीं करता। यास्क ने 'निरुक्त' को तीन काण्डों में बांटा है। प्रथम तीन अध्यायों को नैघण्टुककाण्ड, अध्याय चार से छः तक नैगमकाण्ड, तथा अध्याय सात से बारह तक दैवतकाण्ड बतलाया है।

यास्क का निर्वचन विज्ञान : यास्क सबसे पहले 'निघण्टु' शब्द की परिभाषा देते हैं। उनके अनुसार वेदों से उद्धृत शब्दों की सूची (निगमाः) होने के कारण इसे निघण्टु कहा गया है या सूक्तों को एकत्र करने के पश्चात् परम्परा से प्राप्त होने के कारण कहे गये हैं, अथवा सूची में एकत्र करने (हन् या हृ धातु से) के कारण कहे गये हैं। समाम्नाय् अर्थात सम्यक् क्रम में वेदों के सूत्रों को प्रक्रिया स्पष्ट करने हेतु रखना। वैसे, घण्ट् धातु स्वयं ही ध्वनि करने के अर्थ वाली होने से 'निघण्टु' के अर्थ ध्वनि विज्ञान से सम्बन्धित होकर निश्चित ध्वनियों के रूप हो जाते हैं। यास्क स्वयं भी ध्वनि-व्यापार से परिचित हैं, जब वे (1) उपधालोप, (2) आद्यन्त विपर्यय, (3) वर्णोपजन, (4) समाक्षर लोप, तथा (5) समीकरण (यथा कुटस्य = कृतस्य) आदि के आधार पर निर्वचन प्रस्तुत करते हैं।

यास्क बहुपठित और बहुप्रशिक्षित व्यक्तित्व के धनी थे और उनकी निर्वचन प्रणाली युक्ति संगत तथा वैज्ञानिक दृष्टि से परिपूर्ण थी। चारो वेदों, वैदिक संहिताओं, ब्राह्मणों, आरण्यकों, प्रातिशाख्यों, वेदांगों के व्यापक ज्ञान और विस्तृत अध्ययन से वे सम्पन्न थे, तथा परम्परा, सम्प्रदायों तथा पूर्वाचार्यों के कार्य का उन्हें विस्तृत ज्ञान था। अपने निर्वचन में वे प्रथमतः किसी शब्द विशेष के निर्धारण में अनेक विकल्पों को प्रस्तुत करते हैं, फिर अर्थ निर्धारण करते हुए अपने कथन के प्रमाण स्वरूप वेद से ही उद्धरण प्रस्तुत करके उसकी

पुष्टि करते हैं, जहाँ वह शब्द उस विशेष अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। यास्क निर्वचन-विज्ञान के प्रथम आचार्य सिद्ध होते हैं। संक्षेप में निर्वचन के उद्देश्यों को इस प्रकार बतलाया गया है :-

1. वेदार्थ को सम्यक् समझने के लिए निरुक्त आवश्यक है।
2. निरुक्त व्याकरण का पूरक है।
3. निरुक्त पद-पाठ तथा पदों के धातु-प्रत्ययों के संज्ञान में आवश्यक है।
4. उपमा, चिह्न, विभूति आदि के आधार पर देवता तथा स्थान का निर्धारण करते हुए शब्दार्थ के निर्वचन का अनुमान किया जा सकता है।
5. विज्ञान की दृष्टि से भी निरुक्त का अध्ययन होते रहना चाहिए, जिसमें निर्वचन एक आवश्यक तत्व के रूप में समाहित हो।

यास्क भाषा का मूल धातुओं को मानते हैं। निर्वचन का प्रथम सामान्य सिद्धान्त यह है कि यदि शब्द के ध्वनि और व्युत्पत्ति सम्बन्धी रूप स्पष्ट और दृश्यमान् हैं उनका निर्वचन व्याकरण के नियमों के अनुसार करना चाहिए। तथापि, वे पूर्णतः व्याकरण पर निर्भर रहना पसन्द नहीं करते क्योंकि उनके अनुसार व्याकरण के नियम सार्वभौम नहीं हैं, और उनके अनेक अपवाद होते हैं, और अनेक ऐसे शब्द प्रकाश में आते हैं जिनका निर्वचन ध्वनि या व्याकरण के आधार पर सीधे नहीं किया जा सकता। ऐसी अवस्था में निर्वचन का दूसरा सामान्य सिद्धान्त यह है कि शब्द के अर्थ को महत्व प्रदान करते हुए अर्थ बताने वाले रूप से समानता के आधार पर अनेक विकल्पों द्वारा निर्वचन प्राप्त करने का प्रयत्न किया जा सकता है। इसमें एकाक्षर या शब्दांश की समानता को भी आधार माना जा सकता है। तथापि प्रकरण से अलग अकेले शब्द का निर्वचन नहीं करना चाहिए, क्योंकि प्रकरण के अभाव में किसी शब्द का ठीक अर्थ जानना लगभग असम्भव है। निर्वचन के लिए व्याकरण या निरुक्त का ज्ञान आवश्यक है। निर्वचन के लिए तीसरा सामान्य सिद्धान्त यह है कि यदि शब्दों के अर्थ समान हैं तो निर्वचन भी समान होंगे, यदि उनके अर्थ भिन्न हैं तो निर्वचन भी भिन्न होंगे। बहुत बार विभिन्न मूलों के शब्द समान रूप ग्रहण कर लेते हैं, तब ऐसे शब्दों की व्याख्या उनके अर्थ को ध्यान में रखकर ही की जा

सकती है। इसी प्रकार एक ही मूल के शब्द अर्थ में भिन्न भी हो सकते हैं, तब भी अर्थ के संदर्भ से ही निर्वचन प्रस्तुत किया जा सकता है।

यास्क का मत है कि निरूक्त के बिना वैदिक मन्त्रों का ठीक अर्थ नहीं जाना जा सकता है। जो अर्थ को नहीं समझते हैं, उनके लिए स्वर तथा व्याकरण सम्बन्धी रूप की पूर्ण परीक्षा करना सम्भव नहीं है। इस प्रकार निरुक्त व्याकरण का पूरक है और उसके उद्देश्य को पूर्ण करने का साधन है। इस विषय में यास्क कौत्स की आलोचना का उत्तर देते हैं, वे कहते हैं कि वैदिक मन्त्र अर्थवान् हैं क्योंकि वे बोलचाल की भाषा के शब्दों के समान हैं। ब्राह्मण वचन का संदर्भ देते हुए यास्क बतलाते हैं कि किये जाने वाले कर्म के स्वरूप का निर्देशन ऋक् या यजुः के मन्त्र द्वारा घोषित किया जाता है। मन्त्र विन्यासों में शब्द निश्चित हैं, तथा उनका अनुक्रम भी अपरिवर्तनीय रूप से निश्चित है, पर यास्क कहते हैं कि संसार की दैनन्दिन भाषा के सम्बन्ध में भी यही बात लागू होती है। इस आपत्ति पर कि कर्मकाण्ड की पूर्णता ब्राह्मण वचन द्वारा की जाती है, यास्क कहते हैं कि ऐसा पूर्वकथित या पुनराख्यान मात्र होता है। इस आपत्ति पर कि मन्त्रों का अर्थ असम्भव है, यास्क वैदिक वाक्य के प्रमाण से समझने की सलाह देते हैं। यह आक्षेप कि मन्त्रों के अर्थ परस्पर विरोधी हैं, वे कहते हैं कि दैनन्दिन भाषा पर भी यह आक्षेप हो सकता है। यह आक्षेप कि ऐसे व्यक्ति को काम करने की विधि बताई जाती है जो उसे पहले से जानता है पर यास्क उत्तर देते हैं कि अभिवादन करने वाला व्यक्ति पूर्व परिचित के सम्मुख भी अपना नाम लेकर उच्चारण करता है, आदि। इस आक्षेप के विषय में कि अदिति सब कुछ है यास्क कहते हैं कि दैनन्दिन भाषा में भी ऐसा होता है, जैसै 'सब रस पानी में रहते हैं'। इस आक्षेप पर कि मन्त्रों का अर्थ अस्पष्ट है, वे कहते हैं कि यह न देखने वाले का दोष है, गम्भीर वैदिक ज्ञानी विद्वानों में प्रशसंनीय होता है।

ज्ञान और विज्ञान की अवधारणा : 'विज्ञान' शब्द आधुनिक अवधारणा के रूप में, यास्क के काल में प्रचलित नहीं था, और न तब ज्ञान और विज्ञान का कोई पारिभाषिक या अवधारणात्मक भेद

ही दृष्टव्य होता है। तथापि, इसी अवधारणा की पूर्ति तब निश्चित होती है जब 'वि' उपसर्ग से 'ज्ञा' धातु के शब्द प्रयोग लगभग इसी अवधारणा को सम्पन्न करते हैं - जैसे विज्ञायते, विजानाति, आदि। वे ज्ञान और विज्ञान का भेद करने वाले इन श्लोकों को उद्घृत करते हैं :-

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्यवेदं न विजानाति योऽर्थम्
योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञान विधूतपाप्मा
यद् गृहीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते।
अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित्।।[29]

यास्क 'स्थाणु' को स्था धातु से व्युत्पन्न और 'अर्थ' को अर् धातु से, जो ठहरने के विपरीत जाने के मन्तव्य वाली है, व्युत्पन्न बतलाते हैं। इस प्रकार, ज्ञान (वेद) का मात्र संकलन भार ढोने जैसा है, अर्थ को जानना अर्थात् ज्ञान का सतत प्रवाह (विज्ञान) सब शुभ को प्राप्त कराने वाला है। विज्ञान रहित ज्ञान मात्र भाषण है, तथा वह उसी प्रकार निरर्थक है जैसे राख के ढेर पर सूखी लकड़ियों को जलने के लिए रखना। यास्क का मन्तव्य गतिशील और ऊर्जित ज्ञान से है जो प्रक्रिया को प्रकट करता है। यथा, ऋग्वेद के मन्त्र 10:71:7 पर व्याख्या करते हुए[30] वे बतलाते हैं कि 'चक्ष' देखना, 'अत्रज' प्रकाशित करना 'व्यक्ततर' की वाचक, 'ऋ' जाना, 'अस्' फेंकना, 'स्यन्द' प्रवाहिंत होना, 'दध्' प्रवाहित होना, 'ह्राद्' शब्द करना आदि धात्वर्थ गतिमान प्रक्रिया के वाची हैं और विचारणाशक्ति के संदर्भ से गति और स्थिरतारूप विरोधी भावों के परिप्रेक्ष्य में, आंख और कान के समान परिवेश रखते हुए भी, विचारणा (मन) की गतियों के असमान हैं। यही विज्ञान और ज्ञान का अन्तर है, कि एक ऋत (यहां जल प्रतीक रूप) को अभिव्यक्त करने वाला (मुख तक) है, और दूसरा उसे आबद्ध करने वाला (कोष्ठ तक) है। मन्त्र ऋ0 10:71:4 के संदर्भ[31] से, आंख और कान की इन्द्रियजन्य समानता होते हुए भी विचारणा गति में जो असमानता होती है, उससे एक देखकर भी प्रक्रिया (वाचम्) को नहीं देख पाता है, और सुनकर भी इसे नहीं सुन पाता है, यह अविज्ञानी की स्थिति है।

29. निरुक्त 1:18
30. निरुक्त 1:9
31. निरुक्त 1:19

दूसरे के लिए, वही प्रक्रिया स्वयं को प्रकट कर देती है, किंवा उसी प्रकार अपना शरीर समर्पित कर देती है जैसे सुवासा पत्नी प्रेम में पति को समर्पित हो जाती है। यह विज्ञानी की स्थिति है, जो प्रक्रिया (अर्थ) को समझता है। आगे मन्त्र ऋ0 10:71:5 की व्याख्या[32] में बतलाते हैं कि एक तो वाणी के समान परिवेश (स+ख) में भी स्थिरता में तृप्त और प्रक्रिया (अर्थम्) में अतृप्त हुआ रमण करने वाला है। प्रक्रिया को विशेषतः भली प्रकार जान कर भी, श्रम के द्वारा प्रक्रिया रहित होकर ही आचरण करता है, जिसको वाणीप्रक्रिया में बल प्रदान करके भी उस स्तर तक पहुंचाया नहीं जा सकता। इसके लिए वाणीप्रक्रिया बिना फलफूलवाली हो जाती है, अथवा बहुत कम फलफूलवाली होती है।

यज्ञ प्रक्रिया[33] के संदर्भ से कोई इन्द्रियार्थों के द्वारा (हविर्भिः) इस शरीर से (इतः) आत्मा को (स्वः) बांधते हैं, कोई रसादि धातुओं को (सोमान्) ओजस् प्रक्रियाओं में (सवनेषु) बांधते हैं। अन्य लोग दाक्षणात्य कर्मों से वाणियों को आनन्दित करते हैं, कहीं ऐसा न हो कि हम अनियमित क्रिया से नरक में गिर जायें। नरक है नीचे जाना, अर्थात् नीचे और नीचे गिरना, या इसमें रमण योग्य तनिक भी स्थान नहीं है।

इसके अतिरिक्त[34], कोई शरीर (ऋचां) पुष्टिकरता है, कोई पुष्ट हुई जाने वाली ऊर्जा को (गायत्रं) योग्य होने वाली स्थितियों में (शक्वरीषु) प्रशंसित करता है (गायति), कोई उत्पाद सहित (आ ब्रह्म) उत्पन्न होने वाली विद्या को (जात विद्यां) बतलाता है, और कोई ज्ञान प्रक्रिया (यज्ञस्य) की मात्रा को प्राप्त करता है (वि मिमीत)। ब्रह्मा प्रत्येक उत्पाद में विज्ञान को प्रतिपादित करता है। वह सर्वज्ञान वाला है। सबको जानने में समर्थ है। ब्रह्म सीखे हुये से महान् होता है। ब्रह्म सब ओर से महान् होता है। एक यज्ञ (जानने की प्रक्रिया) की मात्रा (अति, सफलता) को प्राप्त करता है, अर्थात अध्वर्यु। अध्वर्-युः, अध्वर-युः, अर्थात् आकाश या यज्ञ को जोड़ता है। यज्ञ का लाने वाला (नेता) है, अथवा वह आकाश या यज्ञ की इच्छा करता

32. निरूक्त 1:20
33. निरूक्त 1:11
34. निरूक्त 1:8

है। अथवा यह शब्द अध्ययन के अर्थ में 'अधी' धातु के साथ 'युः' प्रत्यय संयुक्त करके बनाया जाता है। 'अध्वर' यज्ञ का पर्याय है। 'ध्वृ' का अर्थ है हिंसा करना, 'अध्वर' इसका प्रतिषेध है।

विज्ञान की प्रक्रिया कालजयी या कालातीत है, इस कारण यह अमृत है, अध्यात्म है। यथा[35]–

"उस समय (काल) को कौन जानता है जो भूत को प्राप्त हो जाता है (अद्भुतं, अतति भूतम्) और न अब (आज) न आने वाला कल (श्वः) है। यह अप्रभावित होने वाले (अनेयः, अन्यः) व्यक्ति की चेतना में अभिसंचार करता हुआ, विचार में धारण होकर (उताधीतम) अध्यात्म को अभिप्रेत होकर (आध्यातमभिप्रेतम्) लुप्त हो जाता है।"

इसीलिए ऐसी भी वैदिक वाणी[36] है कि यह सब कुछ उस एक वृक्ष की भांति स्थिर आकाशस्थित अधिदेवपुरुष के द्वारा पूर्ण है, जिससे परे कुछ भी नहीं है, जिसके अनन्तर कुछ नहीं है, जिससे अधिक सूक्ष्म नहीं है, न ही उससे महान कुछ है।

इस कारण उस अधिदेव पुरुष (इन्द्र) से प्रार्थना[37] करते हैं कि –

"हे इन्द्र! वह आपका ऐश्वर्ययुक्त दक्षिणायन विसर्ग कर्म (दक्षिणा दक्षतेः समर्धयति कर्मणः, व्यृद्धं समर्धयतीति, अर्थात् दक्षिणा 'निष्पादन करना' अर्थ वाली दक्ष् धातु से व्युत्पन्न है, यह अपूर्ण को पूर्ण कराती है) स्तोता के लिए शीघ्र ही प्रत्येक श्रेष्ठ का दोहन करें। सभी स्तोताओं के आप सहायक बनें, अतिक्रुद्ध वाणी न बोलें, हमको महान् ऐश्वर्य प्राप्त हो, हम सभा में सुन्दर वीरतायुक्त शब्द बोलें।"

इस प्रकार दक्षिणायन विसर्ग कर्म के द्वारा अधिदेव एवं अध्यात्म प्रक्रियाओं को संचालित करते हुए पूर्णता को प्राप्त करने वाली वाक् का ऋषिगण साक्षात्कार करते हैं।[38]

35. निरुक्त 1:6
36. निरुक्त 2:3
37. निरुक्त 1:7
38. निरुक्त 1:20

"ऋषिगण 'दृष्टिपूर्वक कर्म करके ज्ञान धारण करने वाले' (स+अक्षात्+कृत+धर्माण) थे। उन्होंने असक्षम ब्राह्मणों को, जो अन्तर्दृष्टि पूर्वक कर्म करके ज्ञान प्राप्त करने में असमर्थ थे, उपदेश के द्वारा मन्त्रों की शिक्षा दी (अर्थात् समीप लाकर गोपनीय स्थितियों को समझाया)। इन अक्षम ब्राह्मणों ने उपदेश में अपक्षीण होने पर अर्थग्रहण करने के लिए इस ग्रंथ वेद तथा वेदांग की क्रमबद्ध रचना की।"

इस प्रकार श्रेष्ठ विज्ञानी और अवर ज्ञानी का विभाग कर दिया गया। और भी बतलाते हैं[39], कि –

"विद्या ब्राह्मण के समीप गई, 'मेरी रक्षा करो, मैं तेरी निधि हूँ। मेरी व्याख्या निन्दक के सम्मुख न करना (नित्यं ह्यविज्ञातुर्विज्ञानेऽसूया, अर्थात् अज्ञानी का विज्ञान में नित्य दोष दर्शन रहता है), न ही कुटिल (अनृजु) के सम्मुख, न ही उससे जिसमें आत्मनियंत्रण नहीं है, इस प्रकार मैं शक्तिशालिनी होऊँगी। हे ब्राह्मण! अपनी निधि की रक्षा में केवल उसी के सम्मुख मेरी व्याख्या कर जिसके विषय में तुझे ज्ञात है कि वह पवित्र है, अप्रमत्त तपस्वी (परिश्रमी), मेधावी, ब्रह्मचर्या में लगा हुआ है, तथा जो तेरे प्रति कभी शत्रुता नहीं रखता'।"

ऋग्वेद के वाणी सूक्त[40] में प्रकारान्तर से शिक्षण विज्ञानों के संदर्भ भी प्रस्तुत किये गये हैं। इसके साथ चतुर्थ अध्याय की ज्ञान-प्रक्रिया योजना को समाहित करने तथा स्थान स्थान पर ज्ञान तथा शिक्षण विज्ञानों से सम्बन्धित मन्त्रों का समावेश करने से वैदिक शिक्षण-विज्ञानों पर प्रकाश पड़ता है। ऋग्वेदीय मन्त्र 3:31:1 के संदर्भ[41] में पद "विद्वाँ ऋतस्य दीधितिं सपर्यन" अर्थात् 'विद्वान आचार्य सेवारत ऋत के धारण करने वाले शिष्य को अनुशासित करता है' से यह सिद्ध होता है कि वैदिक काल में ऋत की शिक्षा भी दी जाती थी, जिसे आधुनिक शब्दों में अनुसंधान विधियों की

39. निरूक्त 2:4; देखें निरूक्त 2:3 भी
40. ऋग्वेद 10:71
41. निरूक्त 3:4

शिक्षा भी कहा जा सकता है। "ऋतस्य योगे वि ष्यध्वमूधः"[42] अर्थात् 'प्राकृतिक नियम के योग में कर्म प्रक्रिया को सक्रिय करो' का संदर्भ[43] देते हुए ऋत की महत्ता वाला यह मन्त्र [44] दिया है :-

"ऋतस्य हि शुरुधः सन्ति पूर्वीर्ऋतस्य धीतिर्वृजिनानि हन्ति।
ऋत्स्य श्लोको बधिरा ततर्द कर्णा बुधानः शुचमान आयोः।।

अर्थात (हि) वस्तुतः (पूर्वी) प्रथम (शुरुधः) जल, उदक (ऋतस्य) प्राकृतिक नियमों के अन्तर्गत उत्पन्न हुये। (ऋतस्य) ऋत की (धीतिः) धारणा या प्रज्ञा (वृजनानि) वर्जन करने योग्यों को, बुराइयों को (हन्ति) नष्ट करती है। (ऋतस्य) ऋतकी (श्लोकः) पुकार (बधिराः) बहिरों के (कर्णा) कानों को (बुधानः आयोः) आयु से जाग्रित करती हुई या प्रकाशित करती हुई (ततर्द) कर्ण भेदन कर देती है, अर्थात् ऋत की पुकार बहिरों के कानों को जाग्रत (बोध कराती) करती हुई आयु से (स्वस्थ रूप से) प्रकाश युक्त करती हुई भेदन करती है।

शिक्षण विज्ञान : पठन-पाठन से सम्बन्धित विज्ञानों को शिक्षण विज्ञान का नाम दिया जाता है। ऋग्वेद काल में इस विज्ञान की स्थिति के बारे में यास्क द्वारा हमें बहुत जानकारी प्राप्त होती है। शिक्षा देने वाले ऋषिगण थे, और कभी-कभी शिक्षा प्राप्त करने वाले भी। शिक्षा प्रायः प्राकृतिक नियमों की दी जाती थी, जिसके लिए ऋषिगण शिष्यों को विशेषतः प्रशिक्षित करते थे। ऋषिगण दो प्रकार की बुद्धि से युक्त थे। प्रथम प्रकार के ऋषि बोधनीय तीक्ष्ण दृष्टि से युक्त थे, "ऋषिर्दर्शनात्"[45] इति। उन्होंने स्तुतियों का दर्शन किया अर्थात् वाक् या ऊर्जा को जाना। यास्क ने इन श्रेष्ठ ऋषियों को "साक्षात्कृतधर्मा" कहा है, अर्थात् 'स अक्षात् कृत धर्मा', अक्षय कर्म करते हुए धारणा या ज्ञान प्राप्त करने वाले। इन श्रेष्ठ ऋषियों ने अवर ऋषियों को जो साक्षात्कृतधर्मा नहीं थे उपदेश के द्वारा मन्त्रों अर्थात् गोपनीय या रहस्यमय सिद्धान्तों को बताया, उपदेश अर्थात् समीप में स्थान देकर। या समीप में लांकर छिपे हुए गोपनीय स्थितियों का प्रेक्षण कराया, किन्तु समीपस्थ होने में कमी होने से अवर ऋषियों ने विभागपूर्वक या स्पष्टीकरण पूर्वक ग्रहण करने के लिए ग्रन्थ अर्थात् मुख्य-मुख्य गाँठो को सम्यक् क्रम में

42. ऋग्वेद 10:30:11
43. निरूक्त 10:41
44. ऋग्वेद 4:23:8
45. निरूक्त 2:11

लिखा या सूचीबद्ध किया।

इस सम्पूर्ण विवरण से स्पष्ट है कि विद्वान आचार्य शिष्य को ऋत का प्रशिक्षण देते थे।[46] यह प्रशिक्षण करके सीखना' के सिद्धान्त पर तथा 'अन्तर्दृष्टि द्वारा सीखना' के सिद्धान्त पर निर्भर था। इस प्रणाली में अक्षय कर्म करते हुए धारणा प्राप्त की जाती थी, अक्षय कर्म अर्थात् सतत प्रक्रिया, उसकी धारणा अर्थात् ग्रहण करना, और यही ऋत् की संकल्पना है। यह धारणा प्रथमतः स्पष्टीकरण वाले प्रभागों में प्राप्त होती है अर्थात् तथ्यों में, जिन्हें एक सम्यक्-क्रम या समाम्नाय में रखकर सम्पूर्ण प्रक्रिया का संज्ञान हो जाता है। प्रक्रिया का पूर्ण ज्ञान हो जाने से उसके प्रमुख केन्द्र-बिन्दु या महत्वपूर्ण ग्रन्थियाँ हस्तामलकमिव दृष्टिगोचर होने लगती हैं, यही है ज्ञान में अन्तर्दृष्टि, और ऋषिगण इसी में निष्णात थे, तथा इसी विधि का प्रशिक्षण प्रदान करते थे। प्रशिक्षण समीप में स्थान दिये बिना अर्थात् सम्यक् सम्पर्क के बिना सम्भव नहीं हो सकता था, क्योंकि रहस्यमय स्थितियों को सतत इंगित करते रहने और उनके रहस्य के सिद्धान्त को समझाते और दिखाते रहने से ही ऐसी दृष्टि विकसित हो सकती है। ऋत के प्रशिक्षण से प्राप्त दृष्टि से प्रक्रियाओं की रहस्यमय ग्रन्थियों के उद्घाटन अर्थात् तथ्यों का ज्ञान, और उनके सिद्धान्तों का जो विनिश्चय हुआ उसे वेद के सूक्त के रूप में लिखा गया।

यह लेखन भी मनमाना और मूल्यांकन बिना नहीं किया गया, प्रत्युत एक विधि-विशेष[47] से परिष्कृत होकर ही विनिश्चित किया गया। यह परिष्कार भी लगातार चार चरणों में किया जाता रहा और तब ही मन्त्र और सूक्त विनिश्चित किया गया। परिष्कार विद्वत-सभाओं[48] में विधिवत किया जाता था। प्रथम चरण में ऋचाओं या सूक्तों को आहूत करने वाला 'होता' उन्हें इकट्ठा करके उनकी जांच और पुष्टि करता था। दूसरे चरण में उन्हें पढ़कर सभा को बतलाने वाला 'उद्गाता' ऋचाओं की योग्यताओं का विधिवत विवेचन प्रस्तुत करता

46. ऋग्वेद 3:31:1

47. निरूक्त 1:8, ऋ0 10:71:11, देखें भागवत 1:4:19

48. ऋग्वेद 10:71:10 में सभा, चरक0 सूत्र0 1:33 में ऋषिसंघ चरक0 विमान0 8 में तद्विद्य सम्भाषा परिषद का अध्ययन-अध्यापन विधियों के साथ विस्तार से वर्णन किया गया है; ऋग्वेद में अन्यत्र ऐसी सभा के लिए 'विदथ' शब्द का प्रयोग भी विस्तार से मिलता है।

था और इस प्रकार विपरीत बन्धनों या स्थितियों का परिष्कार किया जाता था। तीसरे चरण में 'ब्रह्मा' (सभा का अध्यक्ष), जो परम ज्ञानवान् तथा सब कुछ जानने में समर्थ और विश्लेषक होता था, ऋचा में प्रत्येक उत्पन्न होने वाले मौलिक ज्ञान को शब्दशः चुनकर स्पष्ट करता था। चतुर्थ चरण में अध्ययन को जोड़ने वाला 'अध्वर्यु' ऋचा का मूल्यांकन करते हुए और उसे पोषित करते हुए स्थापित ज्ञान में उसे संयुक्त कर लेता था। इस प्रकार लेखन वेद का अं ङ्ग बन जाता था। इससे पूर्व[49], ऋग्वेद के सन्दर्भ[50] से रचनाकार ऋषि के लिए कर्म द्वारा श्रेष्ठ का दोहन करने हेतु शिक्षक या सहायक बनने की, ताकि महान् ज्ञान रूप ऐश्वर्य प्राप्त हो और सभा में पराक्रमी भाषण कर सकें इन्द्र से प्रार्थना की गयी है।

समाज शास्त्र और सामाजिक मूल्य : यास्क ने 'मनुष्याः' शब्द की व्याख्या में समष्टिरूप मनुष्य समाज और व्यष्टिरूप मनुष्य इकाई-सदस्य दोनों की सम्मिलित रूप से परिभाषा कर दी है। वे मनुष्य की परिभाषा[51] यो देते हैं कि 'मनुष्यगण मान्य कर्मो को सम्बद्ध करते हैं', अर्थात् मनुष्य वे हैं जो सामाजिक मान्यता प्राप्त कर्मो के द्वारा एक दूसरे से संसर्ग करते हैं या सम्बद्ध होते हैं। यह परिभाषा 'अन्तः क्रिया पर आधारित सामाजिक अन्तः सम्बन्ध' की आधुनिक परिभाषा के समान है, तथापि 'सामाजिक मान्यता प्राप्त कर्मों' से परिभाषित करके इसकी और विशेषता प्रतिपादित कर दी गई है, और यह परिभाषा इस प्रकार आधुनिक परिभाषा से भी विशिष्ट है। आगे[52], मनुष्यों में ही देवता और असुर का भेद करते हुए बतलाते हैं कि अच्छाई के कारण देवता और बुराई के कारण असुर कहलाते हैं। मनुष्य के पर्याय के रूप में आये हुए शब्द जनाः, मानुषाः, मानवाः, कृष्टयः, क्षितयः, चार्षण्यः, जाताः इत्यादि से भी समान अवधारणा तथा सामाजिक स्थिति प्रकट होती है।

सामाजिक संरचना में मनुष्य एक इकाई है, संरचना पत्रचस्तरीय है जो 'पंत्रचजन' के नाम से बतलाये गये। अब प्रतीकात्मक रूप से पृथिवीस्थान में ये ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद कहे गये।

49. निरुक्त 1:7
50. ऋग्वेद 2:11:21
51. 'मत्वा कर्माणि सीव्यन्ति', निरुक्त 3:7
52. निरुक्त 3:8

यज्ञ सम्बन्ध से वर्णों की परिभाषा पुरुषसूक्त[53] में कर दिये जाने से, यहाँ मात्र निषाद की परिभाषा देना आवश्यक था, सो यहाँ स्थिरता के भाव में 'निषदनोभवति' और 'निषण्णमस्मिपापकमिति' से दे दी गई। प्रक्रिया के हेतु से मनुष्य की परिभाषा 'मन्' विचारणे धातु से कई अर्थों में कर दी गई। दैवतस्थान में 'पंचजन', गन्धर्व, पितर, देव, असुर और राक्षस हैं, जो ऊर्जा संरक्षण प्रक्रिया के पंचस्तरीय उपमान हैं। शरीर स्थानों में स्थित रहने के भाव में असुर की परिभाषा 'प्राण' रूप से कर दी गई। देवों के पर्यायवाची 'यज्ञियासः' से ऊर्जादान 'उत ऊर्जाद' किंवा 'अन्नादाश्च' अन्न खाने वाले सम्बन्ध से ऊर्जा-संरक्षण-प्रक्रिया 'अर्जयतीतिसतः' भी इन्गित कर दी गई।

इस प्रकार ही आगे[54] निर्वचन और व्याख्या करते हुए ऋग्वेद[55] के संदर्भ से दैवतस्थानीय जातियों को प्रकारान्तर से 'दानकर्माणः' और पृथिवीस्थानीय जातियों को उसी प्रकार 'दान प्रज्ञाः' इङ्गित करते हुए क्रमशः ऊर्जा-संरक्षण-प्रक्रिया और ज्ञान-प्रक्रिया में पंचजन के योगदान को व्याख्यायित कर दिया गया है। यज्ञ के संदर्भ से अन्नरूपी हवि को धारण करने वाले 'गन्धर्व', उसका पाक करने वाली अग्नियां 'पितर', उन्हें गति देकर आगे बढ़ाने वाले प्राण 'असुरगण', प्रत्येक स्तर पर रसादि धातुओं की सुरक्षा करने वाले धातृगण 'राक्षस', तथा दानपूर्वक इन धातुओं के रूप परिवर्तन से प्राप्त ऊर्जा का संचय करने वाले और संरक्षण करने वाले 'देवगण' हैं। इसी प्रकार यज्ञ के ही संदर्भ से शुभकर्मा शूद्र पैरों की भांति ऊर्ध्व को चलते या जाते हुए, वैश्य उस जाने का विस्तार (ऊरू) करते हुए, राजन्य उस जाने में बल (गति) प्रदान करते हुए, निषाद प्राप्तियों (ज्ञान) को स्थिति (स्मृति) प्रदान करते हुए और ब्राह्मण उन सम्पूर्ण स्थितियों और प्रक्रिया का ज्ञान करते हुए उन्हें बतलाने वाले (मुख) हैं। इन दोनों ऊर्जा संरक्षण और ज्ञान प्रक्रियाओं में जो स्थितियां प्रसंगतः आती हैं, उनके नामों और क्रियाओं-बाहु, अंगुलि अग्रकारिणी, अवनयः अवन्तिः कर्माणि, कान्तिकर्माण, अन्न, अत्तिकर्माण, बल, धन, गो, क्रुध्यतिकर्माण-क्रोध-गतिकर्माण, क्षिप्र, अन्तिक,

53. ऋग्वेद 10:90:12
54. निरुक्त 3:8-11
55. ऋग्वेद 2:23:9

संग्राम, व्याप्तिकर्माण–आप्नुवान्, वधकर्माण–वियातः, तडित्–विद्युत–वज्र, ऐश्वर्यकर्माण–ईश्वरः, इत्यादि की व्याख्या भी यास्क द्वारा भलीभाँति कर दी गई है। आगे[56] यास्क अपनी अधिदैवत और आध्यात्मिक व्याख्याओं से अपने मन्तव्य की पुष्टि करते हैं।

तीसरे अध्याय की योजना में समाज शास्त्रीय आधार पर पारिवारिक मान्यताओं का भी विश्लेषण किया गया है। परिवार में सदस्य की स्थिति[57] पर प्रकाश डालने के लिए ऋग्वेद[58] के सन्दर्भ दिए गए हैं, जिनका आशय यह है कि सन्तान उत्पन्न करने वाले पिता की ही होती है, दूसरे से उत्पन्न सन्तान पुत्र नहीं हो सकती, वह मूढ़ पुरूष के लिए ही पुत्ररूप में हो सकती है, तथा अज्ञातकुलशील चाहे जितना गुणवान हो ग्रहण करने योग्य नहीं होता, अन्य के गर्भ से उत्पन्न को मन में भी अपना नहीं समझना चाहिए क्योंकि वह निश्चित रूप से अपने घर चला जायेगा, अपने लिए नवीन, तीव्र तथा जिसका निरोध असम्भव है ऐसा पुत्र प्राप्त करें।

दण्ड तथा उत्तराधिकार के सम्बन्ध में यह नियम[59] निकलता है कि समाज से इतर, नियम न पालन करने वाले, का धन परिषद के द्वारा जब्त कर लेने के योग्य होता है। मनु का संदर्भ देते हुए यह कहा गया है[60] कि धर्म के अनुसार दाय का अधिकार बिना किसी भेद के पुत्र तथा पुत्री दोनों को प्राप्त है। जहां एकमात्र पुत्री है वहाँ पुत्री की सन्तान में पुत्री का पिता पुत्रभाव मान सकता है अर्थात् उसे उत्तराधिकारी बना सकता है। इस प्रकार भ्रातृहीन कन्या अपने ही पूर्वजों का अनुसरण करती है न कि अपने पति के कुल का। इस कारण भ्रातृहीना कन्या को अपने समीप से नहीं हटाना चाहिए। ऐसे पिता को पुत्री में पुत्रभाव रखना चाहिए। जब पिता पुत्री के लिए पति नियुक्त करता है तो वह पुत्री के वियोग को धैर्यपूर्वक सहन करता है। यदि परिवार में पुत्र हो जाये तो पुत्री को पिता का उत्तराधिकारी नहीं माना जा सकता। इस पर ऋषि अफसोस करता

56. निरूक्त 3:12
57. निरूक्त 3:1–3
58. ऋग्वेद 7:4:7–8
59. निरूक्त 3:2
60. निरूक्त 3:4

है कि एक ही परिवार में पैदा पुत्र और पुत्री में यह भेद है कि एक उत्तराधिकारी होता है और दूसरी पालपोस कर दूसरे परिवार को दे दी जाती है। परिवार में विधवावधू की स्थिति के बारे में बतलाते हैं कि ऋग्वेद काल में विधवा स्त्री का अपने देवर से वही सम्बन्ध होता था जैसा पति और पत्नी के बीच होता है।

वेदांग शास्त्र : यास्क ने अपने निरुक्त में लगभग सभी वेदांगों का समावेश किया है, किन्तु ये वेदांग प्रायः अपनी प्रारम्भिक स्थिति में थे, अतः उन पर विधिवत् और अलग-अलग विवरण नहीं दिये गये हैं। तथापि, अपने प्रारम्भिक काल में वेदांगों की क्या अवधारणा थी यह 'निरुक्त' से स्पष्ट होता है। सामान्यतया वेदांग छः माने गये हैं - शिक्षा, व्याकरण, निरुक्त, कल्प, ज्योतिष और छन्द। यद्यपि बहुत स्पष्ट रूप से वेदांगों के विभाग करते हुए उन पर 'निरुक्त' में व्याख्या नहीं की गई है, तथापि पाठों की योजनाओं में इनके वर्णन प्राप्त होते हैं। जिनसे महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। इस प्रकार हम वेदांगों के अभिप्राय, विषय-क्षेत्र तथा पारिभाषिक अवधारणाओं को 'निरुक्त' में प्राप्त कर सकते हैं।

1. शिक्षा : ध्वनिशास्त्र और उच्चारण पर यास्क का ज्ञान बृहत् था यह बात हम पहले ही कह चुके हैं। तथापि शिक्षा (उच्चारण विज्ञान) की दृष्टि से यास्क ने अपने निरुक्त में अनेक मन्तव्य प्रस्तुत किये हैं। उदात्त और अनुदात्त उच्चारणों पर कई अध्यायों में उनके विचार यत्र-तत्र प्राप्त होते हैं। उनके अनुसार अधिक निश्चयात्मक अर्थों में स्वर उदात्त होता है तथा कम निश्चयात्मक अर्थों में स्वर अनुदात्त होता है।[61] इसके उद्धरण ऋग्वेद[62] से दिए हैं। इसी खण्ड में 'अस्य' और 'अस्याः' शब्दों के उच्चारण में उदात्त-अनुदात्त का विवेचन किया है। इसी प्रकार नाम को सर्वदा उदात्त तथा निपात को अनुदात्त माना है।[63] सर्वनाम भी अनुदात्त माने गये हैं।[64] विश्लेषण में उच्चारण के आधार पर आचार्यों की आलोचना भी निरुक्त में प्राप्त होती है।[65] तथापि शिक्षा का अति प्रारम्भिक रूप ही निरुक्त

61. निरुक्त 4:25
62. ऋग्वेद 1:138:4, 10:85:39
63. निरुक्त 5:23, 5:5, 1:8
64. निरुक्त 5:22, 1:7
65. निरुक्त 6:28

में मिलता है, यद्यपि ध्वनि विज्ञान के अनेक क्षेत्रों से यास्क परिचित जान पड़ते हैं, विशेषतः जब वे उपधालोप, आद्यन्तविपर्यय, वर्णोपजन, समाक्षरलोप, समीकरण आदि के आधार पर निर्वचन प्रस्तुत करते हैं।

2. कल्प : हम पहले ही बतला चुके हैं कि कल्प का अर्थ 'किसी के जैसा होना' होता है जो प्रतीक के अर्थ में आता है। इसके अन्तर्गत पर्याय, प्रतीक, विकल्प, चिन्ह, उपमा, रूपसादृश्य, आदि सभी आ सकते हैं। यास्क गार्ग्य का संदर्भ देते हुए बतलाते हैं कि जब किसी वस्तु का वैसी, अपने से असदृश्य, वस्तु के साथ कुछ सादृश्य हो तो यह उपमा द्वारा घोषित किया जाता है। इस सम्बन्ध में उपमा का कार्य किसी निम्नगुण वाली या अज्ञात वस्तु की उत्कृष्ट गुणवाली या प्रख्यात वस्तु के साथ तुलना करना। इसके अतिरिक्त उत्कृष्ट की निम्न के साथ भी तुलना होती है। इसका उदाहरण ऋग्वेद[66] में बतलाया गया है, जहाँ दो भुजाओं की तुलना दो चोरों से की गई है[67] (तथापि स्वयं यह मन्त्र इसे रशनोपमा का उदाहरण ही बता रहा है)। इसके अतिरिक्त, पूरा दैवतकाण्ड ही उपमा से भरा हुआ है। पर्यायवाची शब्दों की सूचियों में भी वास्तव में प्रतीक शब्द समाहित किए गए हैं। तथापि वेद और अन्यत्र दिए हुए लोक-पुरुष साम्य के बारे में यास्क मौन हैं, और लोक में किसी प्रक्रिया के चलने के बारे में भी उनका कोई मत प्राप्त नहीं होता है।

3. व्याकरण : यास्क ने निरुक्त के दूसरे अध्याय के प्रथम तीन खण्डों में व्याकरण और निर्वचन के सम्बन्धों को दर्शाया है और शब्द के विकारों पर विस्तृत विवेचना की है। जिन शब्दों के स्वर तथा व्याकरण सम्बन्धी रूप नियमानुकूल हैं तथा जिनमें व्याख्यात्मक धातु सम्बन्धी विकार दृश्यमान हैं, उनका व्याकरण के अनुसार निर्वचन करना चाहिए। जो अर्थ को नहीं समझते हैं, उनके लिए स्वर तथा व्याकरण सम्बन्धी रूप की पूर्ण परीक्षा सम्भव नहीं है। जिस अवस्था में स्वर तथा व्याकरण सम्बन्धी रूप नियमानुकूल न हों तथा व्याख्यात्मक धातु सम्बन्धी विकार दृश्यमान न हों तो शब्द के अर्थ

66. ऋग्वेद 10:4:6
67. निरुक्त 3:13

को महत्व देते हुए उसके अर्थ बताने वाले किसी रूप की समानता के आधार पर निर्वचन करना चाहिए। इस प्रकार निरुक्त को व्याकरण का पूरक बताया गया है। स्थान-स्थान पर धातु, शब्द, विभक्ति, सन्धि, समास, उपसर्ग, प्रत्यय तथा व्युत्पत्ति आदि प्रकरणों पर व्याख्यायें की गई हैं।

4. ज्योतिष : इस शब्द से सूर्य-चन्द्र इत्यादि ज्योतिष्मानों की गति तथा रूप सम्बन्धी निष्कर्षों का तथा देवताओं के स्वरूप का वर्णन द्योतित किया गया है। चतुर्थ अध्याय के 26वें खण्ड से अन्तिम 27वें खण्ड तक विशेषतः ज्योतिष का वर्णन किया गया है। सर्वप्रथम अस्यवामीय सूक्त के प्रथम मन्त्र[68] का उद्धरण देते हुए अग्नि के तीन रूपों का वर्णन किया गया है। इन्हीं तीन रूपों को उत्तमता या कर्मप्रथकता के कारण अनेक नाम रूप प्राप्त होते हैं।[69] यही सिद्धान्त यास्क के दैवतकाण्ड का आधार है। इसी अध्याय के 27वें खण्ड में वैदिक उद्धरणों सहित सूर्य, उसकी सात किरणें, संवत्सर, ऋतुयें, मास, दिन तथा रात का वर्णन भी है और प्रकारात्मक रूप से विभाग द्वारा अयन और पक्ष का भी। तथापि, आश्चर्यजनक रूप से अयनों का स्पष्ट वर्णन निरुक्त में नहीं मिलता है, यद्यपि अध्याय 4 से 6 तक की प्रक्रियायें अयनों से ही सम्बन्धित हैं।

5. छन्द : निरुक्त 7वें अध्याय के 11-12वें खण्डों में छद् आच्छादने धातु से छन्द की व्युत्पत्ति बतलाते हुये यास्क ऋक्, यजुस्, साम, गायत्री, उष्णिक, अनुष्टुप्, बृहती, षड्पक्ति, त्रिष्टुप्, जगती, विराट आदि की व्युत्पत्ति करते हैं। इसके पूर्व 8वें से 10वें खण्ड तक अग्नि, इन्द्र और आदित्य देवताओं से संयुक्त रहने वाले देवी-देवता, स्थान, सवन, ऋतु, छन्द, स्तोम, साम, कर्म आदि का वर्णन मिलता है, जिनसे प्रमुख देवता की पहचान मन्त्र में भी की जा सकती है और तदनुसार मन्त्र के अर्थ स्पष्ट किये जा सकते हैं। छन्दों की व्युत्पत्ति प्रायः ऊर्जा और उसकी क्रिया के परिप्रेक्ष्य में की गई है।

68. ऋग्वेद 1:164:1
69. निरूक्त 7:5

ऊर्जा और उसके स्रोत : यास्क ने यद्यपि दैवत प्रकरण में आदित्य, अग्नि और विद्युत, ये तीन ऊर्जारूप देवता माने हैं, और इन्हीं में अन्य सभी देव-देवियों का अन्तर्भाव किया है, तथापि 'निरुक्त' के दूसरे अध्याय में 'निघण्टु' के प्रथम अध्याय की सूचियों पर टीका करते हुए उनमें से प्रत्येक को ऊर्जा से समन्वित माना है। इस प्रकार 'गौः' शब्द गम् या गा धातु से व्युत्पन्न होकर जाने वाले अर्थ में ऊर्जा (रश्मि) का प्रतीक है, और यास्क के अनुसार[70] नियम यह है कि नामों की व्याख्या उनके अर्थ के अनुसार की जानी चाहिए, यदि उनके अर्थ एक समान हैं तो उनके निर्वचन भी एक समान होंगे, यदि उनके अर्थ भिन्न हैं तो उनके निर्वचन भी भिन्न होंगे। इस प्रकार पृथिवी के सभी इक्कीस पर्यायवाचियों पर यास्क ने विचार किया। इसी प्रकार 'हिरण्यम्' हृ या हर्य धातु से जाना, ले जाना अर्थ में, 'अन्तरिक्ष' पृथिवीलोक और द्युलोक के मध्य में होने से, अथवा शरीरों में अक्षय होने से, अथवा समुद्र रूप में जल का भण्डार होने से और जल ऊर्जा का स्रोत होने से, अगले छः साधारण शब्द आकाश और आदित्य के समानार्थक होने से, अगले पन्द्रह शब्द 'रश्मि' के पर्यायवाची होने से जिसमें प्रथम पाँच अश्व और रश्मि के समान पर्याय हैं, अगले आठ शब्द दिशा के पर्यायवाची हैं जिनमें 'काष्ठा' अनेकार्थक होकर सूर्य के अर्थ में भी होने से, ऊर्जा के रूप या स्रोत हैं। इसी प्रकार रात्रि, उषा, दिन, मेघ, वाक्, उदक, नदी, अश्व, दीप्तिकर्म और ज्वालायें सभी ऊर्जा के रूप या स्रोत में परिभाषित किए गये हैं। इस अध्याय में वेद मन्त्रों के भाष्य की योजना भी ऊर्जा के दैवत रूपों को ही प्रकट करती है।

शरीर प्रक्रियायें : 'निघण्टु' के प्रथम तीन अध्यायों में जो नाम, आख्यात, विशेषण या अन्य शब्दों के पर्याय प्रस्तुत किये गये हैं, उनका उद्देश्य 'निघण्टु' के चतुर्थ और पंचम अध्यायों में दी हुई मन्त्र-संदर्भित योजनाओं में वेदार्थ की पूर्ति करने के लिए है। इस प्रकार चतुर्थ अध्याय में जो तीन सूचियां प्रस्तुत की गई हैं, उनमें प्रक्रिया-संचित मन्त्रों के सूत्रार्थ प्रथम तीन अध्यायों के शब्दों में प्रदत्त हैं, तथा पंचम अध्याय में जो छः सूचियाँ दैवत प्रतीकों के मन्त्र-संदर्भों से प्रस्तुत की गई हैं, उनके रूप भी मन्त्रार्थ की दृष्टि

70. निरुक्त 2:7

से इन्हीं प्रथम तीन अध्यायों के पर्यायवाचियों में निहित हैं। इस कारण 'निघण्टु' के प्रथम तीन अध्यायों के पर्यायवाचियों का अध्ययन तथा उनका मन्त्रार्थ के लिए वैकल्पिक प्रयोग का प्रयत्न अवश्य करना चाहिए। जब अर्थ की दृष्टि से ये अनुपयुक्त लगें, तभी व्याकरण, निरुक्त या अन्य विधियों से मन्त्र के शब्द की व्युत्पत्ति जानना चाहिए और तदनुसार वैकल्पिक अर्थ निश्चित करने चाहिए, और तब ही श्रेष्ठ विकल्प का चयन सम्भव होगा।

'निघण्टु' के चौथे अध्याय में मूलरूप से तीन स्थानों में चलने वाली प्रक्रियाओं की योजना निहित है। इन स्थानों को यद्यपि पृथिवीस्थान, अन्तरिक्षस्थान और द्युस्थान नाम दिये गये हैं जो लौकिक से लगते हैं, किन्तु इनका आशय शरीरान्तर्गत स्थानों से है और ये प्रतीक रूप से आधिभौतिक, आधिदैविक एवं आध्यात्मिक स्थितियों के संदर्भ हैं। 'निरुक्त' के चौथे से छठे अध्याय की योजनायें 'निघण्टु' के चौथे अध्याय की तीन सूचियों के क्रम में हैं। 'निरुक्त' के ये अध्याय क्रमशः पृथिवीस्थान से अन्तरिक्षस्थान तक चलने वाली पाक तथा ज्ञान प्रक्रियाओं, अन्तरिक्षस्थान से द्युस्थान तक चलने वाली ओजस् संरक्षण प्रक्रियाओं, तथा द्युस्थान से पृथिवी स्थान तक चलने वाली जैव और कर्म प्रक्रियाओं से संबंधित हैं। यद्यपि ये सूचियां अनेकार्थक शब्दों की बताई गई हैं जिन्हें अकेले शब्दों से बनी 'ऐकपदिकम्' कहा गया है, परन्तु वस्तुतः ये वैदिक मन्त्रों के सन्दर्भसूत्र हैं जिनके मन्त्र में आने वाले किसी पद के विशिष्ट शब्द से पूरे मन्त्र को सूत्र की भांति इंगित किया गया है, और ऐसे मन्त्रों की सम्यक्-क्रम में योजनायें पूरी वैज्ञानिक प्रक्रिया पर प्रकाश डालती हैं। आश्चर्यजनक रूप से इन परोक्ष तथ्यों को छिपाने के अन्य प्रमाण भी मिलते हैं।

1. पाक प्रक्रिया : 'निरुक्त' के चतुर्थ अध्याय के प्रारम्भ में यास्क ने ऋग्वेदीय मन्त्र 8:75:37 के संदर्भ में व्याख्या[71] करते हुए 'जहा जघानेत्यर्थः', 'अपापकं जघान कमहं जातु', 'मेथतिराक्रोश कर्मा' आदि जो बताये हैं, वे यद्यपि मन्त्र के सामान्य अर्थ[72] से दूर

71. निरूक्त 4:1–2

72. इस मन्त्र के सामान्य अर्थ इस प्रकार हैं –

[इन्द्र कहते हैं] (मर्या) हे मनुष्यो! (को नु) कौन अब (अमिथितः सखा) न झगड़ता हुआ मित्र (सखायम्) मित्र से (जहा) 'मैंने छोड़ दिया है' (अब्रवीत्) ऐसा कहेगा? (को) कौन (अस्मत्) हमसे दूर (ईषते) भागेगा?

हैं तथापि ऐसे संकेत देते हैं जिनका सम्बन्ध पाक-प्रक्रिया से है। 'वध करना', 'अपापी का वध न करना', तथा 'बिना आक्रोश या झगड़े के वध न करना' आदि वाक्यों में जो संकेत हैं, वे संभवतः 'पाक' और 'पाप' एक ही 'पा' रक्षणे धातु से बने शब्दों की दृष्टि से हैं, जहाँ एक के अर्थ हैं 'रक्षा करने वाला', और दूसरे के अर्थ 'रक्षा को पीने वाला' हैं, और इस कारण ही शत्रु-भाव है। इस मन्त्र में पाक के अर्थ में 'स मा धीरः पाकमत्रा विवेश'[73] के रूप में ही 'इन्द्र' प्रस्तुत हैं।

आगे यजुर्वेद के मन्त्रांश[74] को प्रस्तुत करते हुए बकरे के पसन्दीदा मांस भागों - पार्श्वशरीर, पुट्ठों, बाहुओं - के माध्यम से अवयवों की जानकारी कराते हुये परिष्कृत होने के लिए, आगे व्याख्या में अन्ततः निष्कर्ष यकृत, मांस, मेद पर आ गया है।[75] यह निष्कर्ष 'रसाद्रक्तं ततो मांसं मांसान्मेद प्रजायते'[76] के क्रम में ही लिया गया प्रतीत होता है, क्योंकि 'स खल्वाप्यो रसो यकृत्प्लीहानौ प्राप्य रागमुपैति'[77] ऐसा आयुर्वेद का मत है, और तब 'शोणित स्थानं यकृत्प्लीहानौ' ऐसा माना गया है। इस कारण ही शोणित के लिए यास्क 'यकृत' शब्द का प्रयोग कर रहे हैं। रसादि धातुओं का पाक प्रक्रिया में क्रमशः उत्पादन होने से उत्पादन करना अर्थ वाली 'धन्' धातु से उत्पाद के अर्थ में 'धन' शब्द बनता है। यास्क[78] इसे स्वादिगण की 'धि' धातु से आनन्द देने वाले के अर्थ में लेते हैं (इसका उद्देश्य इस शब्द को द्वयर्थक बनाना जान पड़ता है जिससे यह पाक प्रक्रिया और ज्ञान-प्रक्रिया दोनों के ही उपयुक्त हो सके)। तथापि यह ध्यान रखना चाहिए कि यदि शब्द की व्युत्पत्ति सीधे व्याकरण से हो जाये, तो फिर निरुक्त से निर्वचन प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं रह जाती। निरुक्त में मिलती-जुलती धातुओं के विकल्प होते हैं, जिन्हें यास्क ने अपने शब्द व्याख्याओं और निर्वचनों में संकेत मात्र से इंगित किया है और स्पष्ट तथा पूर्ण मन्त्रार्थ कदाचित् ही किये हैं, अर्थ के अनुरूप ऐसे विकल्पों की

73. ऋग्वेद 1:164:21
74. यजुर्वेद 21:43
75. निरुक्त 4:3
76. सुश्रुत0 सूत्र0 14:10
77. सुश्रुत0 सूत्र0 14:4
78. निरुक्त 3:9

उपयुक्तता पर निर्भर होकर मन्त्रार्थ किया जा सकता है। 'धन' शब्द उत्पाद के अर्थ में (धन्+अच्) अन्न के लिए प्रयुक्त होता है, और यहां रसादि अन्न से उत्पन्न होने के कारण धन ही हैं। तथापि, साथ-साथ ज्ञान-प्रक्रिया की विवेचना[79] भी चलने के कारण इसे द्वयर्थक रूप देना यास्क के लिए आवश्यक था।

आगे[80] अधिदेवपुरूष इन्द्र से धन की याचना की जाती है। इसकी व्याख्या[81] में 'ते सोमादो' का क्या मन्तव्य है, तथा 'चित्र', 'राध' और 'वसु' शब्दों से क्या तात्पर्य है? देखिये :-

विभक्तारं हवामहे वसोश्चित्रस्य राधसः।
सवितारं नृचक्षसम्।।

यजुर्वेद के इस मन्त्र[82] में 'चित्र' और 'राधस्' शब्द 'वसु' के विशेषण हैं। 'वसु' शब्द वस् धातु से बना है जिसका अर्थ बसना, ढँकना, रोकना आदि से स्थिरतापूर्वक रहने वाला होता है। राध् धातु पूरा करना, सिद्ध करना, विकास करना के अर्थ में, तथा चित्र धातु लिखना, देखना, चकित होना के अर्थ में आती है। राधस् के अर्थ 'विकसित' और 'चित्र' के अर्थ 'भिन्न-भिन्न' करने पर उपर्युक्त ऋग्वेदीय मन्त्र के ये अर्थ होते हैं :-

(अद्रिवः इन्द्रः) हे वज्रधारी इन्द्र! (यत्) जो (त्वा) आपके द्वारा (आदात) लाया हुआ (चित्र) भिन्न-भिन्न रूप वाला (वसोः) स्थापित (राधः) विकसित उत्पाद (इह) यहाँ (मे) मेरे पास (न अस्ति) नहीं है, (तत्) वह (उभया हस्त्याभर) दोनो हाथों से लाकर (नः) हमें (विदत्) प्रदान कीजिए।

अब, 'ते सोमादो' के बारे में हमें यह कहना है कि रसादिक धातुयें सोम (ओजस्, उदक) कहलाती हैं, और इन्द्र सोमपायी हैं, इसलिए वे इनके ईश्वर हैं।

वध सूचक हन् धातु मारना, त्यागना, स्थानान्तरित करना, ऊँचा उठाना, गुणा करना आदि के अर्थ में आती है। एक शारीर धातु से दूसरी धातु के उत्पन्न होने में 'वध' का ऐसा ही अर्थ लगाया जाता

79. निरूक्त 4:3 में ऋ० 10:73:11 आदि
80. ऋग्वेद 5:39:1
81. निरूक्त 4:4
82. यजुर्वेद 30:4

है। प्रतीकात्मक रूप से गंगा की महाभारत में कथा या देवकी की भागवत में कथा देवव्रत या श्रीकृष्ण के आविर्भाव के पूर्व सप्त-वसुओं के वध का भी यही अर्थ बतलाती है।

आगे[83] अग्नि की प्रार्थना में भी विपरीत परिस्थितियों या शत्रुताओं का नाश करके भोजनीय पदार्थों की पूर्ति करने का निवेदन किया गया है।

यास्क की अन्तरिक्ष और समुद्र की व्याख्या में देवापि और शन्तनु की कथा[84] प्रतीकात्मक रूप से शरीर में चलने वाली यज्ञ प्रक्रिया का वर्णन करती है। शन्तनु शरीर हैं, देवापि शरीरान्तरगत अग्नि हैं, वे देव भी (देव अपि) हैं, वे यज्ञ के पुरोहित, ऋत्विज् और होता हैं (अग्निमीळे के पुरोहितम्, यज्ञस्य देवमृत्विजम्, होतारं रत्नधातमम्)[85], आंगिरस बृहस्पति यज्ञ के ब्रह्मा हैं, आंगिरस अर्थात शरीरावयवों के रस का नियंत्रक, नियमनकर्ता (यम्), बृहस्पति अर्थात् बृहत् (शरीर) का रक्षक या पालक[86], 'वाक्' अर्थात् मन (अधिदेव इन्द्र) की संचालिका शक्ति (ऊर्जा), वर्षा अर्थात् रसों या ओजस् का शरीर के लिए प्रदान किया जाना है। जहाँ शरीर के सुचारू संचालन के लिए रसों का बहना आवश्यक है, वहीं पाक प्रक्रिया द्वारा रसों का बनना भी आवश्यक है। यही समझाना इस कथा का प्रयोजन है।

यास्क यही विषय इस चौथे अध्याय में त्रित की कथा[87] के माध्यम से समझाते हैं। त्रित-कथा बृहदद्वेता[88], महाभारत[89], तथा कई पुराणों में अलग-अलग ढंग से दी गई है। प्रतीक रूप से 'त्रित' घृतपृष्ठ अग्नि हैं , जो पाक-प्रक्रिया का अधिष्ठाता है। 'एकत' और 'द्वित' इसके भाई हैं, जो सूर्य और विद्युत के प्रतीक हैं।[90] भूख से रस-प्रक्रिया का प्रारम्भ भोजन करके होता है, किन्तु उसका अभाव

83. निरूक्त 4:4-5
84. निरूक्त 2:10-12
85. ऋग्वेद 1:1:1
86. निरूक्त 10:11-13
87. निरूक्त 4:5-6
88. बृहद्देवता 3:132-137
89. महा0 शल्य0 अध्याय 36
90. ऋग्वेद 1:164:1

चिन्ता और पीडा का कारण होता है, जैसे अन्धकूप में पड़ा हुआ पुरुष।[91]

इस प्रकार विवेचन करते हुए यास्क ओजस् की जीवन के लिए अनिवार्यता बतलाते हुए[92] प्रार्थना करते हैं :-

हे राजन् सोम! आपके निचोड़े हुए रस का
मन-वांछित रूप से पिता की सम्पत्ति की भांति हम
भोग करें, जैसे सूर्य दिनों को विस्तृत कर देता है,
वैसे ही हमारी आयु (या जीवन) को आप विस्तृत करें।[93]

आगे 'मध्या' शब्द की व्याख्या[94] में ऋग्वेद[95] का संदर्भ देते हुए पाक-प्रक्रिया की परिणति रात्रिरूप कर्म-प्रक्रिया में रसादिक धातुओं के उपयोग के प्रसंग में बतलाते हैं। यहाँ "न्यधाच्छक्म धीरः" अर्थात् 'ज्ञानी या ज्ञान के इच्छुक बुद्धिमान ने कर्म को निरन्तर धारण किया' से कर्म में ज्ञान की अभिव्यक्ति की अवधारणा 'सर्व कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते'[96] का स्मरण दिलाती है।

'ईर्मान्तासः' शब्द की व्याख्या[97] में यास्क ऋग्वेद[98] का संदर्भ प्रस्तुत करते हैं, जिसमें सम्पूर्ण पाक-प्रक्रिया को संक्षेप में प्रस्तुत किया गया है :-

यमेन दत्तं त्रित एनमायुनगिन्द्र एणं प्रथमो अध्यतिष्ठत्।
गन्धर्वो अस्य रशनामगृभ्णात्सूरादश्वं वसवो निरतष्ट।।

अर्थात् (त्रितः) अग्नि ने (यमेन) यम के द्वारा (दत्तं) दिये हुये (एनं) इस अश्व को (आयुनक) जोता, (इन्द्रः) इन्द्र (प्रथमः) सबसे पहले (एनं) इस पर (अध्यतिष्ठत्) सवार हुआ, (गन्धर्वः) वायु ने (अस्य) इसकी (रशना) रास (अगृभ्णात्) पकड़ी, (वसवः) और वसुओं ने (अश्वं) अश्व को (सूरात्) सूर्य से (निरतष्ट) खोला।

91. ऋग्वेद 1:105:8
92. निरुक्त 4:7
93. ऋग्वेद 8:48:7
94. निरुक्त 4:11
95. ऋग्वेद 1:115:4; 2:38:4
96. गीता 4:33
97. निरुक्त 4:13
98. ऋग्वेद 1:163:2

यहाँ 'यम' नियमनकर्ता ऋत, 'वसुगण' रसादिधातुओं में प्रतिष्ठित देवगण, 'अश्व' ऊर्जारूप व 'इन्द्र' मन हैं। अब 'कायमानः' शब्द की व्याख्या[99] में ऋग्वेद[100] के सन्दर्भ से यास्क यह स्पष्ट करते हैं कि पृथिवी से अन्तरिक्ष तक चलने वाली प्रक्रिया है :-

कायमानो वना त्वं यन्मातॄहिरजगन्नपः।
न तत्ते अग्ने प्रमृषे निवर्तनं यद्दूरे सन्निहाभवः।।

अर्थात (वनाः) रश्मियाँ (कायमानः) बटोरते हुये (यत्) जब (त्वं) आप (मातृः) पृथिवी के पास से (अपः) जलों को (अजगन्) गये, (अग्ने) हे अग्ने! (ते) आपका (तत्) वह (निवर्तनम्) पृथिवी से निवृत होना (न प्रमृषे) भूलने योग्य नहीं है, (यत्) जब (दूरे सन्) दूर रहते हुये भी (इह) यहाँ पृथिवी पर (अभवः) हुये अर्थात् होते या रहते हैं।

आगे[101] ऋग्वेदीय मन्त्रों[102] के माध्यम से कर्म-ज्ञान रूप प्रेय-श्रेय, विसर्ग-आदान, दक्षिणायन-उत्तरायण, कृष्ण-शुक्ल, रात-दिन, पितृयान-देवयान नामधेय मार्गो (प्रक्रियाओं) को प्रतीकात्मक रूप से स्पष्ट करते हैं। इन मन्त्रों के माध्यम से प्रेय और श्रेय मार्गो का परिचय, श्रेय-मार्ग की प्रक्रिया, और सोम या ओजस् का शिर स्थित हृदय में संरक्षण पर प्रकाश डाला गया है।

99. निरूक्त 4:14
100. ऋग्वेद 3:9:2
101. निरूक्त 4:15
102. ये मन्त्र इस प्रकार हैं –

1. कनीनकेव विद्रधे नवे द्रुपदे अर्भके।
वभ्रू यामेषु शोभेते।। ऋ0 4:32:23

अर्थात् नवीन शीघ्र जाने वाले पदों में स्थित दो छोटी कन्याओं की भांति काले–सफेद (रात–दिनवाले) सूर्य के घोड़े जाने में शोभित होते हैं।

2. उत प्रयियोर्वयियोः सुवास्त्वा अधि तुग्वनि।
तिसृणां सप्ततीनां श्यावः प्रणेता भुवद्वसुर्दियानां पतिः।। ऋ0 8:19:37

अर्थात् (उत) उधर (मे) मेरे (प्रयियोः वयियोः) प्रेय और श्रेय इन दो मार्गों के (अधि तुग्वानि) उच्च स्थान में (आ सुवास्तु) कल्याणकारी सत्ता को प्राप्त होकर (तिसृणां) तीन गतिमान अग्नियों – आहवनीय, गार्हपत्य तथा दक्षिणात्य – (सप्ततीना) तथा सात ज्वालाओं का (श्यावः) धुआँ (भुवत्) अन्तरिक्ष में (दियानः पतिः) रसादि धातुओं के स्वामी (वसुः) वसु का (प्रणेता) ले जाने वाला है।

3. परि सोम प्र धन्वा स्वस्तये नृभिः पुनानो अभिवासयाशिरम्।
ये ते मदा आहनसो विहायसः तेभिरिन्द्रं चोदय दातवे मघम्।। ऋ0 9:75:5

अर्थात् (सोम) हे सोम! (प्र स्वस्तये) अग्रिम कल्याण के लिए (नृभिः) मनुष्यों द्वारा (परिधन्वा) अन्तरिक्ष पर (पुनानः) पवित्र होते हुए (आशिर) शिर में पूर्णतः (अभिवासय) प्रत्यक्ष वास कीजिये। (ये ते) जो आपके (आहनसः) दिव्य (विहायसः) आकाश के (मदाः) जल हैं (तेभिः) इनके द्वारा (इन्द्र) इन्द्र को (मघम्) धन (दातवे) देने के लिए (चोदय) प्रेरित कीजिये।

अब उन देवी देवताओं का परिचय देते हैं जो श्रेय मार्गों को सम्पन्न करने वाले हैं[103] :–

प्रक्रिया में तेजी प्रदान करने वाले मरूत और रूद्र हैं।[104]

उषा या ऊर्जा कर्म (प्रेय मार्ग) को कराने वाली, श्रेय मार्ग में अन्नपूर्णा माता की तरह और बुद्धि को जगाने वाली पुनः पुनः आकर प्रक्रियाओं को सम्पन्न कराती है।[105]

प्रेय मार्ग में प्राण (मरूद्गण) वाक् (ऊर्जा) से युक्त होकर श्रेयमार्ग के सुखों के लिए आदित्यों, रश्मियों और दीप्तियों से संयुक्त हुये।[106]

इन्द्र[107] और अग्नि[108] की प्रशंसा करते हैं जो प्रक्रिया के मुख्य वाहक हैं।

अश्विनीकुमारो[109] की प्रार्थना है, जो प्रक्रिया के देवता हैं।

यास्क 'अप्रायुवः'[110] की व्याख्या में ऋग्वेदीय मन्त्र[111] से यह बतलाते हैं कि देवगण यथा हमारे जीवनीय उदक (ओजस्) को बढ़ाते हैं, तथैव वे प्रतिदिन आयु के नाश करने वालों से रक्षा करते हैं, आगे ऋग्वेदीय मन्त्र[112] की व्याख्या में बतलाते हैं कि जैसे रथ को बार–बार जोता जा सकता है वैसे ही ओजस् का उपयोग कर्मों के लिए किया जाता है।

अब प्रक्रिया के अनेक स्थलों को स्पष्ट करने वाले मन्त्र इस अध्याय–4 में दिये गये हैं। इनमें से अनेक ज्ञान–प्रक्रिया से भी सम्बन्धित हैं। इनसे प्रक्रिया की अनेक स्थितियां स्पष्ट करने का उद्देश्य पूर्ण होता है।

103. निरूक्त 4:16–18
104. ऋ0 7:58:5
105. ऋ0 1:124:4
106. ऋ0 1:87:6
107. ऋ0 3:53:3, 1:84:7, 3:34:1, 6:30:3, 5:39:2
108. ऋ0 6:6:5, 1:96:7, 5:2:9, 10:3:7
109. निरूक्त 4:17
110. निरूक्त 4:19
111. ऋ0 1:89:1
112. ऋ0 10:39:4

2. ज्ञान प्रक्रिया : देवयान-उत्तरायण-श्रेय मार्ग की इस पाक-प्रक्रिया के अतिरिक्त दूसरी ज्ञान-प्रक्रिया है, जो पितृयान-दक्षिणायन-प्रेय मार्ग की कर्म-प्रक्रिया की परिणति के रूप में प्रस्तुत होती है। इस कारण ही यास्क ने अनेक द्वयर्थक वैदिक मन्त्रों को 'निरुक्त' के चौथे अध्याय में समाविष्ट किया है, जो पाक-प्रक्रिया के साथ-साथ ज्ञान-प्रक्रिया पर भी वैसे ही लागू होते हैं। साथ ही कुछ कर्म-प्रक्रिया का ऐसा वैशिष्ट्य बतलाने वाले वैदिक मन्त्र भी प्रस्तुत कर दिये हैं। अनेक स्थानों पर ऐसी भी प्रतीति होती है कि अन्तरिक्षीय उदक अर्थात् ओजस् ज्ञान-प्रक्रिया की सम्पन्नता के लिए सहायक होता है। यह विचार आधुनिक स्नायु विज्ञान की प्राप्तियों से मेल खाता है, जहाँ सेरीब्रोस्पाइनल-फ्लड स्मृति, चिन्तन और ज्ञान में सहायक सिद्ध हुआ है।

'निरुक्त' के चौथे अध्याय का प्रथम वैदिक मन्त्र यदि पाक-प्रक्रिया का परिचायक है, तो द्वितीय वैदिक मन्त्र[113] ज्ञान प्रक्रिया का विवरण[114] प्रस्तुत करने वाला है :-

वयः सुपर्णा उप सेदुरिन्द्रं प्रियमेधा ऋषयो नाधमानाः।
अप ध्वान्तमूर्णुहि पूर्धि चक्षुर्मुमुग्ध्यऽस्मान्निधयेव बद्धान्।

अर्थात् (सुपर्णाः) सुन्दर पंख वाले, या कल्याणकारी गिरती हुई सूर्य किरणे (वयः) पक्षीगण या जीवन-आयु (इन्द्रं) इन्द्र के (उप) पास (सेतुः) बंधे। (प्रियमेधा) बुद्धिप्रिय, या प्रेय मार्ग की बुद्धि वाले (ऋषयः) ऋषिगण (न अधमानाः) बन्धक न होकर, या याचना की कि (अप ध्वान्तं ऊर्णुहि) नीचे के अन्धकार को ढाँकिये, या (ध्वान्तं अप ऊर्णुहि) अन्धकार को खोलिये, (चक्षुपूर्धिः) दृष्टि या ज्ञान को भरिये। (निधया बद्धान् इव) पाश में बंधे हुये की भांति, या (निधि एव बद्धान्) धन अर्थात् रसादि धातुओं या खजाने में ही बंधे हुये (अस्मान्) हम लोगों को (मुमुग्धि) छुड़ाइये।

यास्क के अनुसार[115], "अपोर्णुह्याध्वस्तं चक्षुः। चक्षुः ख्यातेर्वा। चष्टेर्वा। पूर्धि पूरय देहीतिवा। मुञ्चास्मान् पाशैरिव बद्धान्।" अर्थात नष्ट हुई दृष्टि को खोलिये। 'चक्षुः' जानना अर्थ वाली 'ख्या' धातु

113. ऋ० 10:73:11
114. निरुक्त 4:3
115. निरूकत 4:3

से या देखना अर्थ वाली 'चक्ष' धातु से व्युत्पन्न है। दृष्टि या ज्ञान को भरिये या दीजिये। हमें पाश की तरह के बन्धनों से छुड़ाइये।

आगे 'तितउ' शब्द की व्याख्या में ऋग्वेदीय वाक् सूक्त का दूसरा मन्त्र[116] प्रस्तुत करते हुए ज्ञान की प्रक्रिया में मन और वाक् के महत्व को स्पष्ट किया है :-

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधिवाचि।।

अर्थात् (यत्र) जहाँ (अधिवाचि) महती वाक में (निहिता) निहित (भद्रालक्ष्मी) अपक्व लक्षणा (एषां धीरा वाचम्) कामना [निर्माण] युक्त ज्ञान सम्बन्धी वाक् को (मनसा) मन के द्वारा (तितउना) चलनी से (पुनन्तः) परिष्कृत किये हुये (सक्तुम्) सत्तू (इव) की भांति (अकृत) बनाते हैं, (अत्र) वहां (सखायः) मित्रगण, या (सह+ख्या+डिन् पूर्वक समानं ख्यायते इति) समान रूप से ज्ञान वाले या (स+ख) समान आकाश [परिवेश] वाले (सख्यानि) मित्रताओं को या ज्ञान को या समान प्रसिद्धि को (आ जानते) जान लेते हैं।

इस पर यास्क की टिप्पणी महत्वपूर्ण है :-
"............ विकसितो भवति। यत्र धीरा मनसा वाचमकृषत प्रज्ञानम्। धीराः प्रज्ञानवन्तो ध्यानवन्तः। तत्र सखायः सख्यानि संजानते। भद्रैषां लक्ष्मीर्निर्हिताधिवाचि इति।"
अर्थात् " .... विकसित है। जहां बुद्धिमान् जनो ने मन में वाणी को अर्थात् ज्ञान को खींचा है। 'धीराः' अर्थात् ज्ञानीजन या ध्यानीजन। वहाँ मित्रगण मित्रताओं को भली प्रकार जान लेते हैं। कल्याणमय कामनाओं से युक्त लक्ष्मी महावाक् में संयुक्त रहती है, ऐसा।"

निरुक्त 4:11 में संदर्भित ऋग्वेदीय मन्त्र[117], जिसका पूर्व में हम विश्लेषण कर चुके हैं, ज्ञान-प्रक्रिया में महत्वपूर्ण है। ऋग्वेदीय मन्त्र 1:164:33 में "उत्तान योश्चम्बोर्योनिरन्तरत्रा" से अन्तरिक्ष में ही दोनों उत्तरायण प्रक्रियाओं के जन्म होने की बात कही गई है, अर्थात् पाक-प्रक्रिया और ज्ञान-प्रक्रिया का केन्द्र अन्तरिक्ष ही है।

116. निरुक्त 4:10
117. ऋ० 2:38:4

निरुक्त चौथे अध्याय के अन्त में[118] संक्षेप में प्रक्रियाओं को 'संवत्सर' के माध्यम से 'ऋतु' रूप में समझाया गया है, तथा सभी उपादानों को भी इंगित कर दिया गया है। यद्यपि ऋतुओं की पांच और छः संख्याओं वाले मन्त्रों को भी बतलाया गया है, तथापि तीन ऋतुओं ग्रीष्म, वर्षा और हेमन्त की विवेचना प्रक्रियाओं की दृष्टि से करते हुए उन्हें "संवत्सर प्रधान उत्तरोऽर्धर्चः। त्रिनाभि चक्रम्। ऋतुः संवत्सरः। ग्रीष्मो वर्षा हेमन्त इति। संवत्सरः संवसन्तेऽस्मिन्भूतानि। ग्रीष्मो ग्रस्यन्तेऽस्मिन्नसाः। वर्षा वर्षत्यासु पर्जन्यः। हेमन्तोहिमवान्। हिमं पुनर्हन्तेर्वा। हिनोतेर्वा।" अर्थात् 'ऋचा का उत्तरार्ध मुख्यतः संवत्सर का वर्णन करता है। तीन नाभि वाला चक्र अर्थात् तीन ऋतुओं वाला संवत्सर। ग्रीष्म, वर्षा, हेमन्त ऐसे। संवत्सर क्योंकि उसमें भूतगण एक साथ रहते हैं। ग्रीष्म अर्थात् इसमें रसों को ग्रस लिया जाता है। वर्षा इसमें बादल बरसते हैं। हेमन्त हिम से युक्त है। पुनः 'हिम' चोट करना अर्थ वाली 'हन्' धातु से या आगे बढ़ना अर्थ वाली 'हि' धातु से व्युत्पन्न है।'इस अंश में यद्यपि मासों का वर्णन और दिनों का वर्णन किया गया है, तथा संवत्सर के परिप्रेक्ष्य से 720 दिन-रातों का वर्णन भी कर दिया है और "विभागेन-विभागेन" कहकर कदाचित इसी प्रकार संवत्सर, मास और दिन के विभागों अर्थात् अयन, पक्ष, अहोरात्रि का भी निर्देश कर दिया गया है।

यहाँ एक विरोधाभास दिखाई देता है कि पहले तीन ऋतुओं "ग्रीष्मो वर्षा हेमन्त इति" को बताकर पुनः "पत्र्चर्तवः संवत्सरस्य। इति च ब्राह्मणम्। हेमन्त शिशिरयोः समासेन।" शिशिर-हेमन्त सहित पाँच ऋतुयें बताने में 'हेमन्त' की पुनरूक्ति होती है और 'शरद्' की भूल या उपेक्षा सी लगती है, किन्तु व्याख्या में 'हेमन्तो हिमवान्। हिमं पुनर्हन्तेर्वा। हिनोतेर्वा।' से वधशील 'पाक-प्रक्रिया' का निर्देश होने से प्रथम तीन ऋतुओं का वर्णन वास्तव में प्रक्रियाओं का वर्णन ही निश्चित होता है। ऋग्वेदीय मन्त्र 1:164:2 तथा उसकी व्याख्या से (1) संवत्सर का 'एक चारिणम्' अर्थात् एक ओर गमन करने वाला होता, (2) दिन के परिप्रेक्ष्य से सप्तनामा आदित्य, (3) 'सप्तयुत्र्जन्ति' से वसुओं के परिप्रेक्ष्य से रसादिधातुओं को या अग्नि की सात जिह्वाओं या रूपों को, (4) 'त्रिनाभि' तीन प्रक्रियायें

118. निरूक्त 4:27

जो अजर और अनर्व हैं, तथा जिनमें (5) इस लोक से अधिक लोक जीवन 'विश्वा भुवनाधि' स्थापित हैं।

3. संरक्षण प्रक्रिया : जैसा पूर्व में बतलाया जा चुका है, अन्तरिक्ष से द्युस्थान तक चलने वाली ओजस् संरक्षण प्रक्रिया 'निघण्टु' चतुर्थ अध्याय की द्वितीय सूची के परिप्रेक्ष्य में यास्क द्वारा 'निरुक्त' के पंचम अध्याय में व्याख्यायित है। इस पंचम अध्याय के प्रथम अंश में ही ऋग्वेदीय मन्त्र 8:25:13 के संदर्भ से मित्र, वरुण और अर्यमा अर्थात् ऊर्जा, ओजस् (उदक) तथा संरक्षण के प्रतीक देवताओं वाले सर्वश्रेष्ठ रक्षणीय वरदान को विषय-वस्तु रूप में इस अध्याय में चुनने का परोक्ष संकेत किया गया है। अधिक स्पष्ट करने हेतु ऋग्वेदीय मन्त्र 1:164:16 के परिप्रेक्ष्य में स्त्री-पुरुष प्रतीक जङ्गम-स्थावर उदक ही मन्त्र 10:39:6 में नदी और मेघ का रूप ग्रहण करता है। 'कर्म के चक्र' में ओजस् का अर्थ होने के कारण उनके नर प्रतीक देवता अश्विनीकुमारों का आह्वान किया जाता है[119], जबकि आह्वानकर्ता स्तोम रूप दूत अग्नि[120] है, जो सप्तादित्य की ऊर्जाओं (रश्मियों) से युक्त होकर सात रूपों से सात रसादि धातुओं से अन्न रस (ओजस्) को ऊर्ध्व में संकलित करता है[121], और वर्षा द्वारा[122] जीवन प्रदान करता है। इस प्रकार अन्न के परिपाकों से ओजस् संकलित होकर और ऊर्ध्व में स्थावर रूप से मेघ तथा जङ्गम रूप से नदी होकर भी जीवन के लिए वृष्टिकारक होता है, यह पूरी प्रक्रिया समझा दी गई है।

यहाँ यह बताना अत्यन्त आवश्यक है कि 'निघण्टु' के अनुरूप, यास्क की प्रबन्धन शैली गोपनीय है। प्रथम दृष्ट्या वे मात्र शब्दों के निरुक्त विज्ञानपरक निर्वचन करते हुए दिखाई देते हैं, और इन निर्वचनों के बीच कोई विषयगत या प्रक्रियात्मक तारतम्य नहीं जान पड़ता। उद्धृत मन्त्र निर्वचन को पुष्ट करने वाले प्रमाण जैसे लगते हैं। निर्वचन के अनेक विकल्पों में कुछ अप्रत्याशित, अजीबोगरीब, तथा कभी-कभी सबसे अलग हटकर अर्थ वाले होते हैं। उद्धृत मन्त्र

119. ऋ० 8:26:16
120. ऋ० 10:4:2
121. ऋ० 10:5:5
122. ऋ० 2:14:1

या मन्त्रांश से कभी तो प्रत्यक्ष अर्थ स्पष्ट होते हैं, परन्तु अधिकतर प्रतीक या परोक्ष अर्थ ही निकलते हैं, अपितु अनेक संदर्भ नितान्त अप्रासांगिक लगते हैं। इनमें उस मन्त्रांश से शब्दार्थ का कोई भी बोध नहीं होता, प्रत्युत न दिये जाने वाले उसी मन्त्र के अन्य भाग से अर्थ निकलता है। अध्याय के एक अंश में दिये मन्त्र का अर्थ किसी अन्य अंश के मन्त्र के अर्थ का पूरक हो सकता है। एक ही अंश में उदधृत मन्त्रों के क्रम में पूरकता न होकर व्यतिक्रम से वह पूरकता सम्भव हो सकती है। इस प्रकार 'निरुक्त' मे विषयवस्तु या प्रक्रिया को पहचानने और वेदार्थ को सही रूप में समझने के लिए प्रबुद्ध कल्पनाशीलता, तीक्ष्ण दृष्टि, बहुविज्ञ तथा बहुश्रुत होने, तथा वेदार्थ की सभी विधाओं में पारंगत होने की आवश्यकता होती है। ऊपर पाँचवे अध्याय के प्रथम अंश से विषयवस्तु निरूपण का जो आकलन किया गया है, उसके लिए ऐसी ही विवेचना, विश्लेषण और व्याख्या अपनाई गई है।

संरक्षण प्रक्रिया के इस अध्याय में ऊर्ध्व में ज्ञान और ओजस् दोनों अस्तित्वों के संकलन को बताया गया है। सोम (ओजस्) की परिभाषा, उसके गुण, उसके कार्य और उससे या उसके लिए चलने वाली अनेकानेक प्रक्रियाओं से सम्बन्धित मन्त्रों का संकलन और व्याख्या की गई है।

4. कर्म-प्रक्रिया और जीवन : जैसा पहले बताया जा चुका है, कर्म-प्रक्रिया का वर्णन 'निरुक्त' के छठवें अध्याय में, 'निघण्टु' के चतुर्थ अध्याय की तृतीय सूची के परिप्रेक्ष्य में, प्राप्त होता है। इस छठे अध्याय के प्रारम्भ में कर्म के देवता इन्द्र की गुणगान सहित स्तुति की गई है। आगे द्वितीय खण्ड में ऋग्वेदीय मन्त्र 3:30:10 को उद्धृत करते हुए उसकी विधिवत व्याख्या की गई है, और अन्त में निष्कर्षतः, "प्रावन्वाणी पुरुहूतं धमन्तीः। आपो वा वहनात्। वाचो वा वदनात्। बहुभिराहूतमुदकं भवति। धमतिर्गतिकर्मा।" अर्थात् 'प्रवाहपूर्ण वाणी अनेक प्रकार के आह्वान किये गये को ले जाती हुई, या जलों को ले जाने, या भाषा को बोलने से। बहुत प्रकार से बुलाया हुआ 'जल' होता है। 'धमन' जाने वाला कर्म है, बोलना और चलना जैसे कर्मों के लिए ऊर्जा का मार्ग सुगम और जाने योग्य बतलाकर कर्म प्रक्रिया का दिग्दर्शन कराया गया है। इससे पूर्व के संदर्भित मन्त्र

3:30:8 में वृत्र का बिना हाथ वाला अर्थात् कर्म न करने वाला तथा बिना पैर वाला अर्थात् गति न करने वाला एवं जल को पी लेने वाला बताया गया है, जिसे मार डालने की प्रार्थना की गई है।

इस अध्याय के छठवें खण्ड में इन्द्र को कर्म और ज्ञान मार्गो का समान रूप से स्वामी होना बताया गया है।[123] इन प्रक्रियाओं में प्रकारान्तर से सविता को कर्ता, उसके पुत्र प्राण को वर्षा कराने वाला, पुत्री वाक् को मेघ को ऊपर फेंकने वाली बताया गया है तथा ये सब धातुओं की प्राप्ति के लिए ऊर्जा की भांति प्रक्रिया में चलते रहते हैं।[124] उतरने वाला पक्षी या कृष्ण पक्ष या दक्षिणायन में आदित्य ऊर्ध्व की गोद में बैठा हुआ शीर्ष में रहने वाली श्रेष्ठ ऊर्जा को खाता है अर्थात् उससे संचालित होता है, किन्तु ऊर्ध्व के मार्गो में नहीं चलता, न विपरीत दिशा में ही चलता है, और शिर की रक्षा करता हुआ भूमि अर्थात् शरीर की ओर कर्म कराने के लिए प्रवृत्त होता है।[125] वही आदित्य पूषा रूप में जिस आधे अयन को या तो द्युलोक से पृथिवी लोक तक जाने वाले पितृयान को या देवयान को, संयुक्त होता है, उसे ही सक्रिय करता है, और उसी के आह्वान पर मरूद्गण अलग-अलग प्राणरूप होकर पृथिवी या अन्तरिक्ष में सक्रिय होते हैं।[126] इन दोनों अयनों के देवता अश्विनीकुमार हैं जो कर्ममार्ग को गति और ज्ञान मार्ग को महान् लोक तथा मनुष्यों के लिए शुभ उत्पाद रसादिधातुयें प्रदान करते हैं।[127] दक्षिणायन-उत्तरायण के प्रतीक देवों की पुनः आगे[128] स्तुति है। ये समान शक्ति वाले अश्विनीकुमार उषाओं से प्रकाशित हैं।[129] आदित्य को वाक् का शिर सूंघने वाला पिता बताते हुए उसे कर्म के लिए पृथिवी अर्थात् शरीर की जलयुक्त ऊर्जा का आधार बताया गया है, तथा उसके भाई प्राण को अमृतमय उत्पादों का वितरण करने वाला कहा गया है।[130]

123. ऋ0 1:117:8
124. ऋ0 9:112:3
125. ऋ0 10:27:13
126. ऋ0 6:50:5
127. ऋ0 1:117:8
128. निरुक्त 6:7
129. ऋ0 1:118:11
130. वा.सं0 4:22

अग्नि, आयु और शरीरावयवों को जानने वाला[131] तथा ऊर्ध्व से ओजस् की ऊर्जायुक्त जीवनीय दीप्ति को भी जानने वाला[132] है। सौ वर्ष जीवन के लिए ऊर्जा की शारीरिक शक्तियों से योग करने की प्रार्थना की गई है।[133] नीचे जाने वाली कर्मशील ऊर्जा को चेतना की विरोधी, मोहित करने वाली, अज्ञान से युक्त और शोकादि से हृदयों को जलाने वाली कहा गया है।[134] शुभ कर्म में ज्ञान के द्वारा ऊर्ध्व से प्रकाश दीप्त किया जाता है और हिरण्यपाणि ऊर्ध्व की कृपा से शुभ कार्य का मापन करते हैं।[135] इन्द्र ज्ञानमार्ग का अतिक्रमण करके अपने बल से शत्रुओं को नष्ट करते हुए विद्युत युक्त मेघ का सृजन कर्म मार्ग के लिए करते हैं।[136] इन्द्र आकाश रूप से पृथिवी पर उत्पत्ति के लिए वर्षाकारक हैं, सम्पूर्ण नदियों की जलपूर्ति करने वाले, जलों को रोकने वाले, और श्रेष्ठ मीठा रस पिलाने वाले हैं।[137] चमड़े की पेटी से बंधा हुआ घोड़ा अर्थात् शरीर से बंधी हुई ऊर्जा से पूर्ण आत्मा ने जिस प्रथम मन को प्रज्जवलित किया वह जलों का रक्षक और शरीर का रक्षक है।[138] इन्द्र अर्थात् मन को उदक या ओजस् को पूर्ण करने वाला, गतिशील जलों को प्रवाहित करने वाला, और कर्म मार्ग के पार जाने वाला बताया गया है।[139] आकाश और पृथिवी के बीच चलने वाले देवगण अज्ञानी पुरूषों अर्थात् कर्मो को ले जाते हैं, वे नदी के उथले जल से हमें पार करायें, ऐसी भी प्रार्थना है।[140] उदक या ओजस् दीप्तियों से सम्पन्न है तथा ऊर्ध्व में और नीचे जाता है। द्युलोक को अग्नियां अर्थात् दीप्तियां और पृथिवी को बादल तीव्र करते हैं।[141] आकाश में पूर्ण बलयुक्त ओजस् उड़ता है और किरण की भांति पृथिवी में व्याप्त होता है।[142] अश्विनी कुमारों ने आदित्य रूप हल से ऊर्जा को बोते हुये, और दस्रों ने मानुषी कर्म के लिए दीप्तियों का दोहन करते हुए

131. ऋग्वेद 10:4:4
132. ऋग्वेद 1:127:7
133. अथर्वेद 12:2:28
134. ऋग्वेद 10:103:12
135. अथर्वेद 7:14:2
136. ऋग्वेद 1:33:13
137. ऋग्वेद 6:44:21
138. ऋग्वेद 10:69:4
139. ऋग्वेद 1:61:12, 1:33:12
140. ऋग्वेद 7:60:7
141. ऋग्वेद 1:164:51
142. ऋग्वेद 3:36:4

सम्मुख दस्यु को विद्युत से धौंक डाला, और श्रेष्ठ के लिए विपुल ज्योति उत्पन्न की।[143] ऋषि कहता है कि आयु का आधार द्युलोक में, उसके समीप जलों में तथा विसर्जनीय (कर्म) पथों में है।[144] इस प्रकार प्रतीक रूप से प्रक्रिया को बतलाया गया है। ऊर्ध्व शिर या मस्तिष्क है, पृथिवी शरीर है, उदक ओजस् है, किरण-रश्मि-दीप्ति-अग्नि-आदित्य आदि ऊर्जा के रूप हैं, और इसी प्रकार अन्य प्रतीकों को समझना चाहिये जो कर्म-मार्ग के लिए आवश्यक हैं।

इस प्रकार 'निघण्टु' के चतुर्थ अध्याय की सूचियों के शब्दों की व्याख्या 'निरुक्त' की छठवें अध्याय तक सम्पन्न कर दी गई है। यद्यपि प्रक्रिया की दृष्टि से 'निरुक्त' के अध्याय चार से छः तक अलग-अलग हैं, तथापि शब्दों की व्याख्या में मिश्रित सन्दर्भ दिये गये हैं, कुछ तो ये वेद मन्त्रों की प्रकृति के कारण हैं, कुछ प्रसंगवशात् हैं, और कुछ प्रक्रियाओं की अस्पष्ट अवधारणा के कारण और मुख्यतः परम्परा पर आश्रित रहने के कारण हैं।

प्रतीकात्मकता : ऊपर 'कल्प' के विवरण में प्रतीक, पर्याय, उपमा आदि से प्रतीकात्मकता पर यास्क द्वारा प्रकाश डालने की बात बतलाई जा चुकी है। वहां यह भी कहा गया है कि लोक-पुरुष प्रतीकात्मकता के बारे में यास्क मौन हैं। तथापि, कर्म समानता, संस्थान समानता, सम्भोग समानता, तथा पुरुषविधा प्रतीकात्मकता से लोक-पुरुष साम्य की प्रतीकात्मकता के बारे में यास्क ने भी इंगित कर दिया है।[145] अपने 'निरुक्त' के दैवतकाण्ड अध्याय 7 से 12 तक देवता-निरूपण के परिप्रेक्ष्य से प्रतीकात्मकतायें बतलाई गई हैं जिनमें पर्यायों के साथ-साथ ऋषि, छन्द, आदि को भी आधार माना गया है। दैवतकाण्ड के इन अध्यायों में संक्षेप में निम्न विषय वर्णित किए गए हैं :-

अध्याय7 :- इसमें अग्नि के तीन रूपों का विस्तार करते हुये उनके स्वरूपों को पृथिवीस्थानीय, अन्तरिक्षस्थानीय तथा द्युस्थानीय देवताओं में बांटा गया है और उनकी पहचान सवन, ऋतु. छन्द, साम, देवता समूह, देवियों, कर्म, सहस्तुति आदि से बताई गई है। यज्ञ का

143. ऋग्वेद 1:117:21
144. ऋग्वेद 10:5:6
145. निरुक्त 7:5-6

स्वरूप प्रकृति में चलने वाले या शरीर में चलने वाले यज्ञ (ऋत) से है, न कि किसी लौकिक-धार्मिक यज्ञ से, और ऐसे यज्ञ तीनों स्थानों में चलते हुए दिखाई देते हैं। 'जातवेद' और 'वैश्वानर' की व्याख्यायें की गई हैं और ये अग्नि के ही नाम निश्चित किए गए हैं। इस प्रकार इस अध्याय में 'निघण्टु' के पांचवे अध्याय की प्रथम सूची पर व्याख्या सम्पन्न की गई है।

अध्याय 8 :- इस अध्याय में 'निघण्टु' के पांचवे अध्याय की द्वितीय सूची के शब्दों की व्याख्या प्रस्तुत की गई है। इसमें प्रायः वे देवता और स्थितियां हैं जो यज्ञ को प्रारम्भ करने के लिए आवश्यक हैं, या सहायक तथा साधन हैं।

अध्याय 9 :- इस अध्याय में 'निघण्टु' पांचवे अध्याय की तीसरी सूची के शब्दों की व्याख्या प्रस्तुत की गई है। युद्ध तथा यज्ञ सम्बन्धी उपकरणों तथा कुछ विशिष्ट देवियों और प्राणियों से सम्बन्धित शब्दों के निर्वचन दिये गये हैं और इस प्रकार पृथिवी स्थानीय देवताओं की विभूतियां सम्पन्न की गई हैं।

अध्याय 10 :- इस अध्याय में 'निघण्टु' के पांचवे अध्याय की चौथी सूची के देवताओं के नामों का निर्वचन किया गया है, जिन्हें अन्तरिक्षस्थानीय बतलाया गया है। इनमें कुछ देवता ऐसे भी हैं जिनके लिए हवि प्रदान करने का कोई निर्देश नहीं मिलता है।

अध्याय 11 :- इस अध्याय में 'निघण्टु' के पांचवे अध्याय की पांचवी सूची के देवताओं तथा देवियों के नामों का निर्वचन किया गया है। इसमें परम्परा से प्राप्त निर्वचनों का भी वर्णन है। प्रायः अवधारणा को स्पष्ट करने के लिए 'निघण्टु' में ही पर्यायों के संदर्भ से ठीक आगे के मन्त्रों द्वारा ही विधान किया गया है, यद्यपि, सन्तोषजनक रूप से यास्क उन्हें स्पष्ट नहीं कर सके हैं।

अध्याय 12 :- इस अध्याय में 'निघण्टु' के पांचवें अध्याय की छठवीं सूची के शब्दों की व्याख्या की गई है। इसमें द्युस्थानीय देवों और देवियों का वर्णन बतलाया गया है।

'देवता' शब्द के निर्वचन में यास्क ने "देवा दानाद्वा दीपनाद्वा द्योतनाद्वा द्युस्थानों भवतीति वा। यो देवः सा देवता" अर्थात् देव दान 1 से 'दा' धातु में, अथवा दीप्त होने से 'दीप्' धातु में, अथवा द्योतित होने से 'द्युत्' धातु में, अथवा द्युस्थानी होने से कहलाता है, जो देव है वही देवता है, ऐसा बतलाते हैं।[146] दैवत परीक्षा के लिए यास्क कहते हैं कि "यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यमिच्छन् स्तुतिं प्रयुंक्ते, तद्दैवतः स मन्त्रो भवति" अर्थात् जिस कामना से जो ऋषि जिस मन्त्र में जिस देवता की स्तुति करते हैं, उस मन्त्र के वे ही देवता माने जाते हैं।[147] इस पर दुर्गाचार्य अपनी टीका में चार प्रकार की स्तुतियों का निर्देश करते हैं – (1) देवता के नाम में, (2) सहयोगियों के नाम में, (3) देवता के कर्म में, तथा (4) देवता के रूप की प्रशंसा में होने वाली स्तुतियां। यास्क के अनुसार ऐसे मन्त्र तीन प्रकार के होते हैं – (1) परोक्ष रूप से सम्बोधित, (2) प्रत्यक्ष रूप से सम्बोधित, तथा (3) स्वयं को सम्बोधित। इसके अतिरिक्त ऐसे मन्त्र भी हैं जिनमें (1) बिना कामना के स्तुति है, (2) बिना स्तुति के केवल कामना है, (3) शपथ तथा अभिशाप हैं, (4) किसी विशेष भाव को कहने की इच्छा है, (5) किसी विशेष भाव से होने वाली आशंका है, (6) निन्दा तथा प्रशंसा है, तथा (7) विभिन्न अन्य अभिप्राय हैं। इन प्रसंगों में जिनके देवता निर्दिष्ट नहीं हैं उनकी उप परीक्षा में यास्क कहते हैं कि "यद्देवतः स यज्ञो वा यड्ंग वा तद्देवता भवति"[148], अर्थात् यज्ञ या यज्ञांग विशेष के संदर्भ से जो देवता होता है, वही देवता होगा। दुर्गाचार्य की विवृति है कि 'प्रकरणाद्धि संदिग्ध देवतेषु देवता नियमः' अर्थात् प्रकरण के अनुसार संदिग्ध देवताओं का निर्णय किया जावेगा। विनियोग की दृष्टि से प्रातः सवन के मन्त्र आग्नेय होंगे, माध्यन्दिन सवन के मन्त्र ऐन्द्र होंगे, तथा सायंसवन के मंत्र आदित्य देवता के होंगे। किन्तु यज्ञ के अतिरिक्त अन्य स्थानों पर मन्त्र का देवता याज्ञिकों के अनुसार 'प्रजापति' होता है तथा नैरुक्तों के अनुसार 'नराशंस'।[149] दुर्गाचार्य के अनुसार ये विष्णु और अग्नि होते हैं। "अपिवा सा कामदेवता स्यात्, प्रायोदेवता वा" अर्थात् विकल्परुप से उन मन्त्रों

146. निरुक्त 7:15
147. निरुक्त 7:1
148. निरुक्त 7:4
149. निरुक्त 7:4

में देवता की कल्पना कर सकते हैं, अथवा देवताओं का समूह हो सकता है।[150] "याज्ञदैवतो मन्त्रः" अर्थात् मन्त्र याज्ञदैवत, यज्ञ के अनुसार देवता का निराकरण करने वाले, होते हैं।

किन्तु, अदेवता भी देवता की भांति स्तुत्य हैं, घोड़े से लेकर औषधि पर्यन्त, तब देवताओं का विषय अनैमित्तिक नहीं मानना चाहिए, क्योंकि देवता की श्रेष्ठता के कारण एक आत्मा की अनेक प्रकार से स्तुति की जाती है, अन्य देवता एक आत्मा के प्रत्यंग हैं, अथवा सत्वों की प्रकृति के आधिक्य या सार्वभौमता के अनुसार स्तुति करते हैं। वे एक दूसरे से उत्पन्न हैं, एक दूसरे की प्रकृतियां हैं, वे कर्म से उत्पन्न हैं, वे आत्मा से उत्पन्न हैं। "आत्मैवैषां रथो भवति आत्मा अश्वः आत्मोआयुधमात्मेषवः आत्मा सर्व देवस्य"[151] अर्थात् देवों के रथ-घोड़ा, शस्त्र-वाण, समस्त उपकरण उन्हीं के आत्मस्वरूप होते हैं।

यास्क की दृष्टि में केवल तीन ही देवता हैं "तिस्र एव देवता इति नैरूक्ताः। अग्निः पृथिवीस्थानः। वायुर्वेन्द्रो वान्तरिक्षस्थानः। सूर्यो द्युस्थानः।"[152] पृथिवीस्थान वाला अग्नि, अन्तरिक्ष स्थान वाला वायु या इन्द्र, द्युस्थान वाला सूर्य। "तासां महाभाग्यादेकैकस्या अपि बहूनि नामधेयानि भवन्ति। अपि वा कर्मपृथक्त्वात्"[153], इनमें से प्रत्येक अपनी महानता (विभूतियों) के कारण अथवा कर्मपृथकता के कारण बहुत से नाम प्राप्त करता है। उदाहरण के तौर पर यास्क उस एक ही पुरोहित को उसके कृत्य के अनुसार होता, उद्गा, ब्रह्मा या अध्वर्यु कहे जाने की बात बताते हैं। वे यह भी आशंका करते हैं कि वे देवता पृथक् भी हो सकते हैं क्योंकि उनकी स्तुतियां और अभिधान पृथक् हैं। पृथकता के विषय में बहुत होकर भी कर्मों का विभाजन करके अलग-अलग काम कर सकते हैं। ऐसी अवस्था में संस्थान की एकता तथा सम्भोग की एकता पर विचार करना चाहिए, जैसे पृथिवी में मनुष्यों, पशुओं और देवों की स्थान एकता है, और जैसे पृथिवी से दूर बादलों, वायु तथा सूर्य द्वारा सम्मिलित भोग

150. निरूक्त 7:4
151. निरूक्त 7:4
152. निरूक्त 7:5
153. निरूक्त 7:5

करना, और अग्नि के द्वारा पृथिवी से इतर लोक का भोग। यह इसी प्रकार है जैसे मनुष्यों द्वारा मिलकर राज्य का भोग करना है।[154]

आगे, यास्क प्रतीकात्मकता की अन्य स्थितियों, मानवीकरण और रूपकत्व के विषय में विचार करते हैं।[155] इसे वे देवताओं के आकार का चिन्तन बतलाते हैं। देवता पुरूष के समान हैं, क्योंकि इनकी स्तुतियां और अभिधान चेतन प्राणियों की संस्तुतियों तथा अभिधानों के समान हैं, इनके अतिरिक्त पुरूष के समान अंगों के सम्बन्ध से, पुरुष द्वारा प्रयुक्त द्रव्यों के संयोग से, पुरूष के समान कर्मो के सम्बन्ध से स्तुति की जाती है। देवता पुरूष के समान नहीं हैं, जैसे प्राकृत अग्नि, वायु, सूर्य, पृथिवी, चन्द्रमा आदि। तथापि, रूपकत्व के साथ पुरूष जैसी उनकी स्तुतियां होती हैं। देवता उभयविध, पुरूष के समान और पुरूष के असमान हो सकते हैं; अथवा वास्तव में पुरूष के समान होकर भी कर्म के अनुसार उनका कोई दूसरा रूप हो सकता है।

इस प्रकार देवताओं का जो वास्तव में प्राकृत शक्तियां हैं और प्रक्रियाओं से सम्बन्धित हैं, हम प्रतीकों, रूपकों तथा मानवीकरण के आधार पर निश्चय कर सकते हैं, जिससे प्रक्रिया का भी निश्चय हो सकता है, और इस प्रकार मन्त्र में दिये हुये परोक्ष तथा रहस्यमय अर्थ का उद्‌घाटन किया जा सकता है।

प्रक्रिया की दृष्टि से विनियोग के आधार पर देवता और स्थान का निश्चय करने के लिए यास्क ने संकेत किये हैं।[156] उनके पृथिवीस्थानीय, अन्तरिक्षस्थानीय और द्युस्थानीय विनियोग को निम्नवत् प्रस्तुत किया जा सकता है :-

लोक	पृथिवी	अन्तरिक्ष	द्युलोक
सवन	प्रातः	माध्यन्दिन	सायं
ऋतु	वसन्त, शरद्	ग्रीष्म, हेमन्त	वर्षा, शिशिर
छन्द	गायत्री, अनुष्टुप्	त्रिष्टुप्, पङ्क्ति	जगती, अतिछन्दस्
स्तोम	त्रिवित्, एकविंश	त्रिणव, पञ्चदश	त्रयस्त्रिंश, सप्तदश

154. निरूक्त 7:5
155. निरूक्त 7:6–7
156. निरूक्त 7:8–11

साम	रथन्तर, वैराज	वृहत्, शाक्वर	वैरूप, रैवत
संयुक्त देव	इन्द्र, सोम, पर्जन्य, ऋतवः	अग्नि,सोम,वरुण पूषण,वायु,बृहस्पति पर्वत, कुत्स,विष्णु	चन्द्र,वायु,संवत्सर
देवता	अग्नि	विद्युत, इन्द्र	आदित्य
स्त्रियां	पृथिवी,आग्नयी इला	देवस्त्रियां	देवस्त्रियां
कर्म	हविवहन,देवावाहन तथा दृष्टि संबंधी कर्म	रसों की मुक्ति, वृत्रहन्, बल सम्बन्धी कार्य	महत्ता सम्बन्धी कार्य

इसके अतिरिक्त मर्त्य, देव और पितर को क्रमशः पृथ्वीस्थानीय, अन्तरिक्षस्थानीय और द्युस्थानीय मानना चाहिये। पशु–पक्षी तथा अन्य विनियोगों का भी अपनी बुद्धि से स्थान निश्चित कर लेना चाहिए। अनेक मन्त्र ऐसे हो सकते हैं जिनमें इनका विनिश्चय करना कठिन या श्रमपूर्ण हो, वहां स्थान या प्रक्रिया का अनुमान किसी न किसी प्रकार से निश्चित कर लेना चाहिए।

भाष्य : यद्यपि यास्क को सही रूप से भाष्यकार नहीं कहा जा सकता, क्योंकि उन्होंने एक तो वेद के 'निघण्टु' में निर्दिष्ट या प्रसंगवशात् स्वयं द्वारा ही संदर्भित, कुछ मन्त्रों की ही व्याख्या की है, किन्तु इस व्याख्या के महत्व तथा प्राचीनता के कारण उन्हें प्रारम्भिक भाष्यकार मानना सर्वथा उचित है। वेद मन्त्रों की व्याख्या में निश्चित और निष्कर्षात्मक निर्णय और अर्थ यास्क ने सामान्यतः प्रस्तुत नहीं किये हैं, अपितु वेदार्थ के लिए अनेक शब्द विकल्प प्रस्तुत करते हुये उनका निश्चय पाठक पर छोड़ दिया गया है। इन विकल्पों में आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक व्याख्या से सम्बन्धित संकेत तो प्रस्तुत ही किए गए हैं, वैज्ञानिक प्रक्रियाओं के संकेत भी समाविष्ट हैं। तथापि, यास्क की व्याख्या शैली गोपनीयता से भरी हुई है, और सही व्याख्या और वेदार्थ जानने के लिए अध्ययनकर्ता की दृष्टि का बहुत महत्व हो जाता है कि वह यास्क के मन्तव्य को पकड़ सके, क्योंकि जो संकेत हैं वे भी प्रायः छिपे हुये, अधूरे और परोक्ष हैं तथा अनेक बार अप्रत्याशित हैं। जिस मन्त्र का संदर्भ दिया जाता है, कभी मात्र उसका कोई अंश ही

उपयुक्त होता है, और कभी-कभी तो अंश संदर्भित है, किन्तु उपयुक्त भाग वह है जो वास्तव में संदर्भित ही नहीं किया गया है। अनेक बार स्पष्टतः प्रक्रियात्मक मन्त्रों की ऐसी व्याख्या की गई है मानो मन्त्र का प्रक्रिया से कोई सम्बन्ध ही नहीं हैं, और पूरा दायित्व अध्ययनकर्ता या पाठक पर छोड़ दिया गया है, या मात्र तनिक सा संकेत किया गया है। शब्दों के निर्वचन में यद्यपि व्याकरण और भाषा विज्ञान को महत्व प्रदान किया गया है, किन्तु कभी-कभी कर्म प्रधानता, बोधात्मकता, गुण और प्रसिद्धि को आधार माना गया है, और अनेक बार तो ऐसे निर्वचन प्रस्तुत किये गये हैं जिनका कोई आधार ही नहीं दिखाई देता, तथापि प्रक्रिया ज्ञान और वेदार्थ की दृष्टि से ये अत्यन्त महत्वपूर्ण होते हैं। निरुक्त विज्ञान के द्वारा अर्थ की दृष्टि से जो निर्वचन करने का आग्रह है वह कदाचित इसी कारण है। परन्तु, यदि अर्थ ही पहले ज्ञात हो तो निर्वचन की आवश्यकता क्या है? आशय यह है कि प्रक्रिया के संदर्भ से जो विकल्प अर्थ को प्रस्तुत कर रहा हो उसका ही निश्चय निर्वचन द्वारा करना चाहिये।

संक्षेप में यास्क की व्याख्या वेदार्थ की कुंजी है, और वह वेद की सम्पूर्ण विषयवस्तु को भी स्पष्ट करती है। उसमें न तो ईश्वर का आरोपण है और न धर्म का प्रत्यारोपण, अपितु वह वैज्ञानिक निदान है जिसके बिना वेद को किसी प्रकार नहीं समझा जा सकता।

सायणाचार्य :

आचार्य सायण आन्ध्रप्रदेश के हिन्दू विजयनगर राज्य के संस्थापक महाराज बुक्क तथा महाराज हरिहर के आमात्य तथा सेनानी थे। इन राजाओं के महामात्य पद पर वे सन् 1364-1378 तथा 1379-1387, अपने मृत्यु काल तक रहे। 14वीं शताब्दी का उत्तरार्ध ही इनके वेद भाष्य का काल है। ज्येष्ठ भ्राता आचार्य माधव द्वारा इस कार्य में लगाये जाने के कारण इनका भाष्य 'माधवीय' नाम से विख्यात है।

सायण ने चारो वेदों की संहिताओं तथा चारो वेदों से सम्बन्धित ब्राह्मणों की व्याख्यायें की हैं। यह विपुल कार्य इतना महत्वपूर्ण और अतुलनीय है जिसकी समता न किसी पूर्ववर्ती आचार्य से और न किसी परवर्ती से की जा सकती है। कार्य की विशालता

और सायण की राज्य-व्यवस्था में भी संलग्नता के कारण एक व्यक्ति द्वारा इतना कार्य असम्भावित जानकर अधिकतर विद्वान यह मानते हैं कि वस्तुतः भाष्य विद्वान ब्राह्मणों के समूह ने किये थे जिनके अध्यक्ष सायण थे, इस सम्बन्ध में सहायक विद्वानों के कुछ प्रमाण भी प्राप्त होते हैं।

सायण के वेदभाष्य लोक व्यवहारी यज्ञ परक हैं, न कि ऋत-परक हों। यह उनके काल में हिन्दू धार्मिकता के नितान्त अनुरूप है। यज्ञ परकता के लिए ही भाष्य का प्रारम्भ कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तरीय संहिता से किया गया और उसे पुष्ट करने के लिए इस संहिता से सम्बन्धित ब्राह्मणों और आरण्यकों पर भाष्य किया तथा इन ग्रन्थों को भी वेद का अंश माना, मन्त्र और ब्राह्मण मिलाकर वेद बताने की परम्परा यहीं से चली, क्योंकि बिना ब्राह्मण-आरण्यकों के लोकव्यवहारी-यज्ञ को आधार नहीं बनाया जा सकता था। व्याख्या की यह विधि यास्क की विधि से सर्वथा इतर थी। यज्ञ में अध्वर्यु की प्रधानता मानी जाने के कारण, आध्वर्यव-कर्म का निष्पादन होने के कारण, और यजुर्वेद द्वारा यज्ञ के स्वरूप की निष्पत्ति का विधान होने के कारण यजुर्वेद पर प्रथमतः व्याख्या करना उपयुक्त था। इसके पश्चात् ही ऋग्वेद पर भाष्य का कार्य अध्वर्यु के बाद होता कर्म महत्वपूर्ण माने जाने के कारण हाथ में लिया गया, होता-कर्म में ऋग्वैदिक मन्त्रों द्वारा यज्ञानुष्ठान के समय विशिष्ट देवताओं का आह्वान होता है। इस भाष्य के पूर्व ही इस वेद के ब्राह्मण और आरण्यक पर पहले व्याख्या की जा चुकी थी। होता के बाद उद्गाता का कार्य होने से औद्गात्र-कर्म के लिए सामगान के लिए सामवेद की व्याख्या करना भी उनके लिए उचित था। सामवेद संहिता भाष्य के उपरान्त उनके ब्राह्मणों पर भाष्य लिखे गये। अथर्वेद का भाष्य उन्होंने सबसे अन्त में लिखा। इस विश्वास के साथ कि लौकिक यज्ञ की दृष्टि से वेदत्रयी के विधानों का फल स्वर्ग में मिलता है, किन्तु अथर्वेद के अनुष्ठानों का फल पारलौकिक के साथ-साथ ऐहिक भी होता है, उभय लोक का कल्याण करने वाले अथर्वेद का भाष्य सबसे अन्त में किया गया। इसके भी बाद सायण ने शतपथब्राह्मण पर अपना भाष्य लिखा था, यद्यपि वह पूर्णरूप से आज उपलब्ध नहीं होता है।

महाराज बुक्क ने वेदभाष्य का कार्य अपने तत्कालीन महामात्य माधवाचार्य को सौंपा था, जिन्होंने आग्रहपूर्वक इसके उपयुक्त विद्वान अपने अनुज सायण को कार्य सम्पन्न करने का आदेश कराया। सम्भव है ऋग्वेदादि कुछ ग्रन्थों पर माधव आधिकारिक आचार्य रहे हों, इस कारण अपने अनुज को समय-समय पर सहायता और निर्देश भी करते रहे हों, इस कारण ही इन कुछ ग्रन्थों को 'माधवीय' नाम दिया गया हो। अथवा माधव के कारण सायण को अपने वैदिक भाष्यों को सम्पन्न करने का अवसर मिला, इस कारण आदर और कृतज्ञतावश उनका नाम 'माधवीय' दे दिया हो, यद्यपि सब ग्रन्थों का यह नाम न होने के कारण इस विचार पर शंका होती है। महाराज बुक्क द्वारा मूलतः माधवाचार्य को ही भाष्य का कार्य सौंपने से यह तो स्पष्ट होता ही है कि माधव प्रकाण्ड पण्डित तथा वेद के आचार्य रहे होंगे। संक्षेप में सायण भाष्य की विशेषताओं का दिग्दर्शन आचार्य बलदेव उपाध्याय हमें इन शब्दों में कराते हैं :-

"सायणाचार्य ने .... सब साधनों की सहायता अपने वेद भाष्यों में ली है। उन्होंने परम्परागत अर्थ को ही अपनाया है और उसकी पुष्टि में पुराण, इतिहास, स्मृति, महाभारत आदि ग्रन्थों से आवश्यकतानुसार प्रमाणों को उद्धृत किया है। वेद के अर्थ के लिए षडंगों की भी आवश्यकता होती है। सायण इनसे सविशेष परिचित थे। ऋग्वेद के प्रथम अष्टक की व्याख्या में उन्होंने शब्दों के व्याकरण की अच्छी छानबीन की है। प्रायः प्रत्येक महत्वपूर्ण शब्द की व्युत्पत्ति, सिद्धि तथा स्वराघात का वर्णन पाणिनीय सूत्रों तथा कहीं-कहीं प्रातिशाख्य की सहायता से इतने सुव्यवस्थित ढंग से किया गया है कि इसे ध्यान से पढ़े जाने पर समस्त ज्ञातव्य विषयों की जानकारी सहज में ही हो जाती है। निरुक्त का भी उपयोग खूब

ही किया गया है। यास्क द्वारा व्याख्यात मन्त्रों की व्याख्या को सायण ने ततत् मन्त्रों के भाष्य लिखते समय अविकल रूप से लिख दिया है। इसके अतिरिक्त सायण ने ऋग्वेद के प्राचीन स्कन्दस्वामी और माधव जैसे भाष्यकारों के अर्थ को भी यथावकाश ग्रहण किया है। कल्प सूत्रों का उपयोग विस्तार के साथ किया गया है। सायण यज्ञ-विधान से नितान्त परिचय रखते थे। अतः कल्प सूत्र विषयक आवश्यक तथ्यों का वर्णन बड़ी ही खूबी के साथ उन्होंने सर्वत्र किया है। सूक्त व्याख्या के आरम्भ में ही उन्होंने उसके विनियोग, ऋषि, देवता आदि ज्ञातव्य तथ्यों का वर्णन प्रामाणिक ग्रन्थों के उद्धरण के साथ-साथ सर्वत्र किया है। सूक्त विषयक उपलभ्यमान आख्यायिका को भी सप्रमाण दे दिया है। मीमांसा के विषय का भी निवेश भाष्य के आरम्भ वाले उपोद्धात में बड़े ही सुन्दर और बोधगम्य भाषा में सायण ने कर दिया है। वेद-विषयक समग्र सिद्धान्तों का प्रतिपादन और रहस्यों का उद्घाटन इन उपोद्घातों में बड़े अच्छे ढंग से किया गया है, जिसके कारण ये भूमिकायें वैदिक सिद्धान्तों के भण्डारागार के समान प्रतीत होती है। इन्हीं सब कारणों से सायण के वेदभाष्य का गौरव है। सायण ने 'याज्ञिक पद्धति' को अपने भाष्य में महत्व दिया है। उस समय इसी की आवश्यकता थी। कर्मकाण्ड का उस समय बोलबाला था। इसी कारण इस महत्व को दृष्टि में रखकर सायण ने अपने भाष्यों का प्रणयन किया।"[157]

यह सब होने के उपरान्त भी सायण भाष्य में विकासात्मक अध्ययन का अभाव दिखता है। वेद की व्याख्या में वेदकालीन सामाजिक, शैक्षिक, वैज्ञानिक, भाषात्मक तथा पारिस्थितिक विकास को ध्यान में रखना आवश्यक होता है, और इनके लिए वेद से ही प्रमाण जुटाना वांछनीय है। यास्क में यह सब पाया भी जाता है; और चूंकि यास्क एक परम्परा के प्रतीक हैं, क्योंकि संश्लिष्ट रूप से वे परम्परा के प्रतिनिधि हैं, अतः वास्तविक परम्परा का पता भी

157. आचार्य बलदेव उपाध्याय, वैदिक साहित्य और संस्कृति, वाराणसी; शारदा संस्थान, पंचम संस्करण, 1980; पृष्ठ 87-88

उन्हीं से लगता है। सायण के काल में जिसे परम्परा माना गया है, वस्तुतः उसमें ह्रास और मिश्रण है तथा वह धार्मिक कृत्यों और पराप्राकृतिक (अलौकिक) विश्वासों से बंधी हुई है तथा उसे वेद की परम्परा किसी भी दृष्टि से नहीं कहा जा सकता है। उदाहरणस्वरूप 'नरकं पताम' की व्याख्या में यास्क ने "नरकं न्यरकं नीचैर्गमनम्। नास्मिन् रमणं स्थानमल्पमप्यस्तीति वा" अर्थात् 'नरक है नीचे जाना, अर्थात् नीचे और नीचे गिरना, या इसमें रमण के लिये तनिक भी स्थान नहीं है बतलाया है' जबकि सायण नरक-स्वर्ग की धार्मिक भावना से ग्रसित हैं। यास्क ने विज्ञान, शिक्षण-विज्ञान, समाज शास्त्र, भाषा शास्त्र, पारिस्थितिकी, शारीर, खगोल और भूगोल, काव्य शास्त्र आदि की अवधारणायें और सिद्धान्त प्रस्तुत किये हैं, उनसे भी सायण नितान्त अपरिचित प्रतीत होते हैं। पूर्वापरक्रम के बारे में भी वे भ्रमित हो जाते हैं जब 'कुमार' से वे कठोपनिषद् के 'नचिकेता' का अर्थ ले लेते हैं, न कि अश्विनी कुमार का; जबकि 'नचिकेता' की कोई कथा वेदों में नहीं है, और उपनिषदों की रचना तो यास्क के समय में भी नहीं हुई थी। वैदिक विज्ञान से सायण इतने अपरिचित हैं कि उत्तरायण-आदान को वे 'दान' तथा दक्षिणायन को 'दक्षिणा' समझते हैं; 'वाम-पलित' को भी वे उत्तरायण-शुक्ल नहीं समझ पाते। 'विष्णु' को वे व्यापनशील बताते हैं न कि वर्षा करने वाला और इस प्रकार भी यास्क से उनका मतान्तर है। सायण दुर्ग की निरुक्त टीका से प्रभावित होकर 'अक्ष', 'इरिणे', 'निर्ऋणम्' आदि के अर्थ पांसा, पांसा फेकने की काष्ठपीठ, जुआड़ी के उधार आदि जैसे ही करके पूरे सूक्त को 'जुआड़ी की पीडा' में बदल देते हैं, जबकि यास्क की 'अक्षा अश्नुवत', 'अश्नोतेः', 'क्षियतिनिगमः' 'क्षरतिनिगमः' आदि परिभाषायें, 'इरिणं निर्ऋणम्। ऋणातेः। अपार्ण भवति। अपरता अस्मादोषधय इति वा' व्याख्या कुछ अलग ही निर्देशित करती है और ऋग्वेदीय मन्त्र 10:34:1 की व्याख्या से बहेड़ा के औषधीय गुणों का ही बोध कराया गया है, न कि जुयें के खेल का परिचय दिया गया हो।

सायण का युग वादपरक व्याख्या का युग है जो आग्रह और आस्था पर आधारित थी। शंकर, रामानुज, मध्व, वल्लभ प्रभृति आचार्यो ने प्रस्थानत्रयी पर वादपरक भाष्य ही किये हैं। वादपरक भाष्य में वाद और सिद्धान्त पूर्व में ही निश्चित कर लिये जाते हैं

और उन्हीं के आधार पर और उन्हें ही पुष्ट करने के लिए भाष्य या टीका या व्याख्या प्रस्तुत की जाती है। इस प्रकार का पूरा कार्य ही पूर्वाग्रह, पक्षपात और विचार दोष से युक्त होता है और ऐसी व्याख्या को सम्यक् विवेचन नहीं माना जा सकता। सायण भी जब यज्ञ परक और धार्मिक विश्वासों के आधार पर वेद व्याख्या करते हैं तो वह सम्यक् अध्ययन नहीं है और दोषपूर्ण है। ऐसी व्याख्या में बलात् शब्दों और विचारों की तोड़-मरोड़ अपने पक्ष को सिद्ध करने में की जाती है। यह वास्तविक प्रामाण्य नहीं है। अपितु छल और वितण्डा है, तथा इससे सही रूप में वेदार्थ को तथा वेद और ऋषियों के मन्तव्य को नहीं जाना जा सकता है।

मध्य युग में अनेक अवधारणायें भी दूषित हो चुकी थीं, उनके आधार पर वेदार्थ करना भी दोषपूर्ण ही है। उदाहरणस्वरूप, त्रिस्तरीय शारीर या आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक अभिव्यक्तियों के लिए वेद के मन्त्र "त्रिपाद ऊर्ध्व उदैति पुरूषः ... . पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि" में चार पादों वाले पुरूष का विवरण दिया गया है, जिसके तीन पाद ऊर्ध्व में और एक पाद विश्व (लोक) में है, ऊर्ध्व के पाद भूतों में, अमृत में, और द्युलोक में निहित हैं। इस मन्त्र में 'विश्वा' को 'आ विश्व' समझ कर व्याख्या करनी चाहिये, क्योंकि स्पष्टतः मन्त्र 'पादोऽस्य' से एक पाद, फिर 'त्रिपादस्य' से अन्य तीन पाद बता रहा है। चरक संहिता के 'कतिधापुरूषीय शारीराध्याय प्रथम' में पुरूष के त्रिपाद-रूप को यों बतलाया गया है :-

> खादयश्चेतना षष्ठा धातवः पुरूषः स्मृतः।
> चेतना धातुरप्येकः स्मृतः पुरूष संज्ञकः।।
> पुनश्चधातुभेदेन चतुर्विंशतिकः स्मृतः।
> मनोदशेन्द्रियाण्यर्थाः प्रकृतिश्चाष्टधातुकी।।[158]

इस प्रकार छः तत्वों वाला आधिभौतिक पुरूष, एक ही चेतना तत्व वाला आधिदैविक पुरूष, तथा चौबीस तत्वों से युक्त आध्यात्मिक पुरूष का विवरण दिया गया है; आगे लोक-संमित पुरूष का विवरण अलग प्रस्तुत है। माण्डूक्योपनिषद् में भी पुरूष

158. चरक0 शारीर0 1:16-17

के चार पाद वैश्वानर, तैजस, प्राज्ञ और तुरीय बतलाये गये हैं।[159] किन्तु मध्यकालीन आचार्यगण आधिदैविक को देवताओं से सम्बन्धित और आध्यात्मिक को परमेश्वर से सम्बन्धित मानकर व्याख्यायें करते जाते हैं और यही स्थिति सायण की भी है।

अब एक विवादास्पद मन्त्र[160] को लेते हैं :-

"चत्वारि श्रृंगा त्रयोऽस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासोऽस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महोदेवो मर्त्या आ विवेश।।"

इसके शाब्दिक अर्थ, "इसके चार सींग हैं, तीन पैर हैं, दो सिर, सात हाथ हैं। तीन प्रकार से बांधा गया यह बैल डहकारता है। महान् देवता ने मर्त्यो में प्रवेश कर लिया है", होते हैं।

सायण के अनुसार महादेव यज्ञ हैं, इनके चार वेद सींग हैं, प्रातः, माध्यन्दिन और सायं ये तीन सवन इसके पाद हैं, दो हवन इसके दो सिर हैं, गायत्री आदि सात छन्द इसके हाथ हैं, वह तीन ओर मन्त्र, ब्राह्मण और कल्प से बंधा है। वह वृषभ अर्थात् अभीष्ट को देने वाला है, और अत्यधिक चिल्लाने वाला है। वह महान् देव रूपी यज्ञ मनुष्यों में प्रवेश करता है।

सायण के इस अर्थ में सबसे बड़ी त्रुटि यही है कि उन्होंने यह ध्यान नहीं रखा कि ऋग्वेद का यह मन्त्र जब गढ़ा गया था, उस काल में वेद का चतुर्विध विभाग नहीं था, और उस समय ब्राह्मण और कल्पसूत्र भी नहीं थे। यज्ञ यद्यपि आधिदैविक कृत्य हो सकता है, किन्तु तब अधिदेव इन्द्र ही हैं, वैसे यज्ञ लौकिक, भौतिक, दैविक और आत्मिक सभी प्रकार के हैं। महान् देवता के रूप में भी प्रायः इन्द्र को ही वेद में बताया गया है, आदित्य और अग्नि को भी यह उपाधि प्रसंगवशात् ही दी जा सकती है।

प्रतीकात्मकता की दृष्टि से भी सायण की यह व्याख्या दोषपूर्ण है, क्योंकि शीर्ष, हस्त और पाद की निश्चित प्रतीकतायें हैं। 'शीर्ष' प्रधानता, महानता, उच्चता आदि का द्योतक है, 'हस्त' बल, कर्म, बन्धु, मित्र का, तथा 'पाद' स्थान, पीठ, स्थिरता, गति के लिए प्रयुक्त होता है। शिर से सींग का अक्षुण्ण सम्बन्ध होना चाहिये, किन्तु सायण के लिए इनके बीच कोई सम्बन्ध नहीं है। तथापि,

159. माण्डूक्योपनिषद् 2–7
160. ऋग्वेद 4:58:3

ऋग्वेदीय पुरुष सूक्त के मन्त्र 10:90:9 के आधार पर यज्ञ से चारों वेदों की उत्पत्ति मानी जा सकती है, किन्तु प्रयाज और अनुयाज में यह वेद-विभाग किस प्रकार किया जा सकेगा? आदित्य, विद्युत् और अग्नि तीनों ऊर्जा के रूप हैं इसलिए भाई कहे गये हैं।[161] जबकि इनकी माता अदिति ऊर्जा है।[162] विद्युत ऊर्जा ही इन्द्र रूप में बतलाई गई है, जो सर्वप्रथम मनरूप में एकार्णव से उत्पन्न हुई थी।[163] इस नासदीय सूक्त में 'मन' के दो गुण[164] अणुत्व (तुच्छ) और एकत्व स्पष्ट हैं, और 'तिरश्चीनो विततोरश्मि' से विद्युत् रूप को और 'अधः स्विदासीदुपरि स्विदासीत्' से ऊर्ध्वलोक और पृथिवीलोक पर भी उसके प्रभाव को दर्शाया गया है। इन्द्र को ऋग्वेद के सैकड़ों सूक्तों में 'वृषभ' और 'महान् देव' की संज्ञा और सम्बोधन दिये गये हैं। ऋग्वेदीय विज्ञान के अनुसार, जैसा यास्क ने भी व्याख्यायित किया है, वर्षा तभी होती है जब जल को संचित किये हुये मेघ (वृत्र) को विद्युत् (वज्र) प्रहार से इन्द्र फाड़ डालते हैं, तथा विद्युत् ही मेघ में गड़गड़ाहट का कारण है। ये सभी बातें उपर्युक्त मन्त्र के अर्थ को स्पष्ट कर देती हैं। तब ज्ञान और कर्म ये दो शिर हैं, प्रत्येक शिर में दो-दो सींग हैं। ज्ञान के उत्पाद और ज्ञान की धारणा एवं ज्ञान-प्रेरित कर्म और जीवनीय नित्य-कर्म ही सींगों के रूप हैं। अथवा, द्रव्य के गुण-कर्म विभाग से दो शिर वाक् और प्राण माने जा सकते हैं, जिसके पुनः दो-दो रूप एकत्व और अणुत्व में तथा संकल्प और विकल्प में (या उत्क्षेप और विक्षेप) में विभाजित किए जा सकते हैं। अधिभूत, अधिदेव और अध्यात्म इसके पाद हैं, वह पृथिवी, अन्तरिक्ष और द्युलोक से बंधा है। उत्तरायण पाक-प्रक्रिया के सात स्तर आदित्य और अग्नि के संदर्भ से सप्तरश्मि या सप्तज्वालायें ही सात हाथ हैं। व्याख्या में थोड़ा बहुत मतान्तर रखते हुए भी इसे इन्द्र से ही सम्बन्धित माना जाना सर्वदा उचित रहेगा।

सायण की व्याख्या की आलोचना करते हुए स्वामी दयानन्द जी ने ऋग्वेद मन्त्र 1:164:46 के अर्थ का प्रतिवाद किया है कि यह व्याख्या यास्क सम्मत नहीं है क्योंकि सायण इन्द्र पद को विशेष्य और मित्र आदि पदों को विशेषण मानते हैं, जबकि अग्नि पद को विशेष्य मानना चाहिये। वस्तुतः इस मन्त्र में तीन वाक्यों से

161. ऋग्वेद 1:164:1
162. ऋग्वेद 1:89:10
163. ऋग्वेद 10:129:3–5
164. 'अणुत्वमघ चैकत्वं द्वौ गुणो मनसः स्मृतौ' – चरक० शा० 1:19

सम्बन्धित तीन क्रियायें हैं और इन्द्र, अग्नि, मित्र आदि सभी पद विशेषण हैं। इस प्रकार सभी भाष्यकारों ने व्याख्या में त्रुटि की है। मन्त्र इस प्रकार है :-

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।।

प्रथम पद में 'आहुः', तृतीय पद में 'वदन्ति' और चतुर्थ पद में 'आहुः' ये तीन क्रियायें हैं। पूर्व पदों में 'स' कर्ता है, उत्तर पदों में 'एकं' कर्म है। वैदिक साहित्य में सर्वत्र आत्मा के लिए सर्वनाम 'स' तथा मनस् के लिए गुणवाची 'एक' शब्द प्रयुक्त होता है, गुण से गुणी की पहचान होती है। तब इस मन्त्र के अर्थ इस प्रकार हैं :-

"पक्षों वाला वह दिव्य रश्मि युक्त आत्मा अब इन्द्र को, मित्र को, वरुण को और अग्नि को कहा जाता है। मन रूपी सत्तात्मकता को बुद्धिमान जन अनेक प्रकार से बतलाते हैं; उसी से ही अग्नि को, यम को, मातरिश्वा को कहा जाता है।"

इस मन्त्र की व्याख्या में सभी पदों को एक वाक्य में नहीं पिरोया जा सकता, क्योंकि तब दो बार 'अग्नि' पद आने से पुनरुक्ति दोष हो जायेगा।

यम-यमी संवाद[165] में बहिन द्वारा भाई से शारीरिक सम्बन्ध बनाने के लिए प्रणय निवेदन भारतीय मानसिकता को स्वीकार नहीं है, न परम्परा में ही मान्य है, इसे इस सूक्त के 12वें मन्त्र में भी 'पाप' बताया गया है। तब इस सूक्त के प्रतीक अर्थों को बतलाकर समस्या का निराकरण करना और अधिक आवश्यक हो जाता है। सूक्त के प्रारम्भिक मन्त्रों में ही आने वाले रक्त-सम्बन्धियों को ऋग्वेदीय विषय-वस्तु के परिचयात्मक अस्यवामीय सूक्त[166] के तैंतीसवें मन्त्र के आधार पर व्याख्यायित करना चाहिए। तब पिता सूर्य और माता पृथिवी होती है। सूर्य रूपी द्रव्य के गुण को वाक् (ऊर्जा) और कर्म को प्राण (गति) मानकर वे सन्तान रूप से यमी और यम हैं, पुनः प्राण के अपान, उदान, समान, व्यान आदि प्रभाग

165. ऋग्वेद 10:10
166. ऋग्वेद 1:164

सन्तान रूप में पुत्र होकर सूर्य के पौत्र हो जाते हैं। समान आकाश (द्युः) से उत्पन्न होने के कारण यम–यमी सखा (स+ख) भी हैं, और एक ही 'नाभिः' से उत्पन्न होने से यमज भाई–बहिन हैं। इसी सूक्त के 14वें मन्त्र में यह स्पष्ट रूप से बतलाया गया है कि सूर्य की ऊर्जा (सूर्यस्य चक्षू) क्रियाशक्ति से आवृत होकर (रजसैत्यावृतं) चलती है, जो इस संवाद सूक्त के 'सखायं सख्याववृत्यां' के नितान्त अनुरूप हैं।[167] द्युलोक से पृथिवी लोक पर अर्थात् शिर से शरीर में आने वाली ऊर्जा अपान से युक्त हो जाती है, 'नपातमादधीत वेधा अधिक्षमि प्रतर' इति।

"प्राणेन या सम्भवते शरीरे प्राणादपानं प्रतिपद्यते च।
उदानभूता च विसृज्य देहं व्यानेन सर्वं दिवमावृणोति।।
तथा समाने प्रतितिष्ठतीह इत्येव पूर्वं प्रजजल्प वाणी।
तस्मान्मनः स्थावरत्वाद विशिष्टं तथा देवी जङ्गमत्वाद् विशिष्टा।।[168]

अनुगीता का यह विवेचन इस पूरे संवाद सूक्त की प्रतीकात्मक गुत्थियों को सुलझा देता है। संवाद का 6वां मन्त्र इन्द्र (मन) के विषय में है। 7वें मन्त्र में जो 'जायेव पत्ये तन्वं रिरिच्यां' है वह मात्र तुलना के लिए है जैसी वाणी–सूक्त[169] के चौथे मन्त्र में भी ऐसी ही तुलना "उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः" से दी गयी है। साथ में 'वृहेव' अर्थात् धारण करने वाली की उपमा और 'रथ्येव चक्रा' अर्थात् 'आ चक्र रथ्या इव', चक्र के साथ सड़क की भांति, की भी उपमा इसी मन्त्र में प्रस्तुत की गयी है।

ऊपर अनुगीता के 'उदानभूता च विसृज्य देहं' के अनुरूप संवादसूक्त के 8वें मन्त्र में 'अन्येन मदाहनो याहि तूयं' कहा गया है तथा 9वें मन्त्र में 'सबन्धू यमार्यमस्य विभृयादजामि' भी उसी अर्थ से है। यही भाव 10वें मन्त्र में भी है। अब सबसे विवादास्पद 11वां मन्त्र है, यथा – "कामभूता बह्वे तद्रपामि तन्वां मे तन्वं सं पिपृग्धि", जिसका अर्थ है कि 'निर्माण की इच्छा से युक्त होकर इसे

167. ऋग्वेद 10:10:1
168. महा0 आश्व0 21:25–26
169. ऋग्वेद 10:71

बार-बार बोलती हूं कि शरीर को मेरे शरीर के साथ मिलाओ' जो अनुगीता के 'प्राणेन या सम्भवते शरीरे' के ठीक अनुरूप बैठता है। इस प्रकार वीभत्स रसोद्रेक करने वाले संवादसूक्त के अन्तिम चार-पांच मन्त्रों की सम्यक् व्याख्या की जा सकती थी जो प्रतीक और प्रक्रिया की अज्ञानता के कारण महाविद्वान् आचार्यगण माधव-सायणादि नहीं कर पाये।

अब यमसूक्त का यह मन्त्र देखिये[170] -

इदं यमस्य सादनं देवमानं यदुच्यते।
इयमस्य धम्यते नाळीरयं गीर्भिः परिष्कृतः।।

इस पर सायण भाष्य इस प्रकार है -

"इदं यमस्य नियन्तुरादित्यस्य वैवस्वतस्य वा सदनं स्थानम्। छान्दसः संहितको दीर्घ। यत् सदनं देवमानं देवैर्निर्मितमिति उच्यते। सर्वत्र अभिधीयते। यद्वा। देवानां। रश्मीनां निर्माणसाधनमिति गीयते। अस्य यमस्य प्रीणनाथ इयं नाळीः वाद्यविशेषो वेणुः धम्यते वद्यते। यद्वा नाडीति वाड्.नाम। इयं स्तुतिरूपा वागस्य प्रीणनाथ धम्यते उच्चार्यते। एवं सति अयं यमः गीर्भिः स्तुतिभिः परिष्कृतः अलङ्. कृतोऽभूत।"

हमारे पिताश्री का विचार[171] इस प्रकार है -

"इदं पूर्वमन्त्रे वर्णितमुत्तर मार्ग पश्चादयनं यमस्य नियमनकर्तृर्प्राणस्य प्र सादनं यम प्रसादयति तं देवमानं देवताभिर्युक्तं देवमध्यात्मपुरूषमधिदेवपुरूषं वा मन्यते मानं प्रदायते तं देवयानमार्ग यदुच्यते। अथ चोत्तरायणमादानज्ञानमार्ग कथ्यते। अपरो दक्षिणायनं विसर्गकर्ममार्ग पितृयानमुच्यते। अस्य देवयानमार्गस्य इयं एका नाळी 'मूर्धानमभिनिःसृतैका' (कठोपनिषद् 3:2:16) धम्यते तपते घर्मभिः क्षिप्रं गम्यते। अयं आदानमार्ग गीर्भिः रश्मिभिः गतवतीभिः ऊर्जाभिः किंवा ज्ञानदृष्टिभिः परिष्कृतः शुद्धीकृतमित्यर्थः।।"

अब देखिये, सायण ने इस छोटे से मन्त्र में भी कितनी तोड़-मरोड़ की है। 'सादनं' को 'सदनं' माना और दीर्घता के लिए छात्र्दस् प्रयोग का बहाना बनाया। 'देवमानं' को देवयुक्त न मानकर 'देवैर्निर्मितम्' मान लिया और उसे 'देवयान' भी नहीं समझा। परम्परा से आये 'देव' और 'रश्मि' शब्दों का भी यथोचित सार्थक

170. ऋग्वेद 10:135:7
171. पं० श्याम सुन्दर मिश्र के अप्रकाशित सूक्तार्थों से साभार।

उपयोग नहीं कर सके। 'अस्य' शब्द स्पष्टतः पूर्वपदों के परिप्रेक्ष्य में ही देवयान मार्ग या 'इदं यमस्य सादनं यत् देवमानं उच्यते' के लिए आ रहा है तथापि आचार्य उसे 'यमस्य' मान रहे हैं, 'नाळी' को वाद्य विशेष बांसुरी और 'धम्यते' को 'वद्यते' मानने का कोई हिसाब नहीं बनता है, न ही 'उच्चार्यते' का ही बनता है। 'गीः' निघण्टु में वाक् है, जो ऊर्जा का ही नाम होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि भाष्य का महान् कार्य सम्पन्न करते हुए भी माधव-सायणादि पण्डितजन दृष्टि के अभाव में वेदार्थ का सही निरुपण करने में असमर्थ थे।

इस पृथिवी पर कोई भी ऐसा मनुष्य उत्पन्न नहीं हुआ है जिसकी त्रुटियां न निकाली जा सकें; हाँ, मात्र वैदिक ऋषिगण ही इसके अपवाद हैं। सायण की हजार त्रुटियां और कमियां होने पर भी उनके विशाल, अद्वितीय और अतुलनीय कृत्य के आगे अपना सिर झुकाना पड़ता है। हजार-हजार वर्षों तक जब वेदार्थ के अनुशीलन की कोई विद्वज्जन हिम्मत नहीं कर पाते तब लगभग समस्त वैदिक साहित्य पर भाष्य लिखकर मार्ग प्रशस्त करने के लिए हम उन्हें बार-बार नमन करते हैं। पाश्चात्य विद्वानों ने सायण के भाष्यों के सहारे ही वेद को समझने की चेष्टा की है, और तद्रूप वे इसमें सफल भी हुये हैं। तथापि, पाश्चात्यों के अनुवाद सायण की नकल मात्र हैं, क्योंकि मात्र कुछ शब्दों के अर्थ बदल देने से, या भिन्न निष्कर्ष निकाल लेने से, या मतान्तर होने से भाष्य की मूल प्रवृत्ति नहीं बदल जाती। पाश्चात्यों के अनुवादों की मूल प्रवृत्ति वही है जो सायण के भाष्य की है, और यह यास्क के भाष्य तथा दयानन्द के भाष्य से भिन्न प्रवृत्ति है। सायण भाष्य की सहायता से ही पाश्चात्य विद्वान वैदिक मन्त्रों का अर्थ समझने में सफल हो पाये, इस कारण ही उन्होंने सायण भाष्य को अन्धे की लकड़ी माना। उनके लिए आचार्य सायण का भाष्य वेद की कुन्जी बना और वेद के दुर्गम दुर्ग में प्रवेश के लिए सिंह द्वार भी बना। मैक्समूलर कहते हैं कि 'यदि सायण के द्वारा की गई अर्थ की लड़ी हमें नहीं मिलती, तो हम इस दुर्भेद्य किले के भीतर प्रवेश ही नहीं पा सकते थे,[172] पाश्चात्यों के लिए यह सत्य भी हो सकता है। उनका यह निष्कर्ष[173]

172. **Maxmular : Introduction to Rigvede**
173 **Wilson : Translation of Rigveda**

तो सही है कि निश्चयरूप से सायणाचार्य का वेद ज्ञान इतना अधिक था जितना कोई भी योरोपियन विद्वान रखने का दावा नहीं कर सकता, किन्तु यह तथ्य से परे है कि सायण वेद के परम्परागत अर्थो से नितान्त परिचित थे। वैदिक परम्परा क्या थी यह यास्क से निश्चित होता है, न कि सायण से। लगभग ढाई हजार वर्षो में भारतीय मनीषा में जो विकृतियाँ आई, जिस प्रकार अलौकिकता, पराप्राकृतिक भावों तथा धार्मिकता का आरोपण परम्परा और संस्कृति पर हुआ है उससे वेद का अनुशीलन प्रदूषित हुआ है। वेद का सत्यानुशीलन तभी होगा जब वेदकाल में प्रचलित अर्थो का संज्ञान तथ्यात्मक रूप से हम कर पायेंगे और इसके लिए हमें सतत प्रयत्नशील रहना पड़ेगा। अभी तो फिलहाल स्थिति यह है कि सत्य वेदार्थ से हम अधिक से अधिक दूर होते चले गये हैं।

स्वामी दयानन्द सरस्वती

ऋषि दयानन्द के काल में योरोपीय विद्वानों के कई भाष्य और खोज तथा अनुसंधानपूर्ण अध्ययन प्रकाशित हो चुके थे। इनसे ऋषि दयानन्द प्रसन्न नहीं थे। उनके कथनानुसार योरोपीय विद्वानों की व्याख्यायें वेद मन्त्रों के मूल अर्थो के विरुद्ध थीं तथा सनातन वेदार्थो को स्पष्ट नहीं करती थीं। योरोपीय व्याख्याओं की प्रतिक्रिया में तथा वेदार्थो को परम्परावादी सनातनी जड़ता से मुक्त करते हुए ऋषि दयानन्द ने अपनी व्याख्यायें प्रस्तुत कीं। वेद मन्त्रों के अर्थो का परिचय देने के लिए ऋषि ने सर्वप्रथम संवत् 1933 में 'ऋग्वेद भाष्य भूमिका, प्रकाशित की, जिसमें यह बताया गया कि वेदों की विषयवस्तु क्या है तथा वेद मन्त्रों की व्याख्या करने के क्या आधार हो सकते हैं। ऋषि ने शुक्ल यजुर्वेद की माध्यन्दिनी शाखा पर पहले ही भाष्य लिखा था। फिर संवत् 1934 माघशुक्ल 6 सोमवार (सन् 1878) में ऋग्वेद पर भाष्य लिखना प्रारम्भ किया जिसे वे मात्र सातवें मण्डल के दूसरे सूक्त के दूसरे मन्त्र तक ही लिख पाये कि उनका देहावसान हो गया। ऋग्वेद के शेष अंश का भाष्य उनके शिष्य श्री जयदेव विद्यालंकार द्वारा पूर्ण क़िया गया। उन्हीं के द्वारा शेष अन्य वेदों के भी भाष्य किये गये। आर्य समाज के अनेक विद्वानों ने वेदों का अध्ययन कर अपनी व्याख्यायें प्रस्तुत की हैं जिनका आधार ऋषि दयानन्द के वेद भाष्य और उनकी विधि प्रणाली है। इनमें प्रमुख पं० जयदेव विद्यालंकार, पं० तुलसीराम स्वामी, पं०

वैद्यनाथ शास्त्री, पं० क्षेमकरण दास त्रिवेदी, पं० हरिश्चन्द्र विद्यालंकार आदि हैं।

स्वामी दयानन्द सरस्वती ऋग्वेदभाष्य के प्राक्कथन में लिखते हैं :-

"ऋग्भिः स्तुवन्तीत्युक्तत्वाद्विद्वांस उक्तपूर्वं वेदार्थज्ञानसाहित्य-पठनपुरःसरमृग्वेदमधीत्य तत्रस्थैर्मन्त्रैरीशरमारभ्य भूमिपर्यन्तानां पदार्थानां गुणान् यथावद्विदित्वैते कार्यषूपकृतये मतिं जनयन्ति। ऋचन्ति स्तुवन्ति पदार्थानां गुणकर्मस्वभावाननया सा ऋक्, ऋक् चासौ वेदश्चर्ग्वेदः।"

अर्थात "इस ऋग्वेद से पदार्थों की स्तुति होती है, अर्थात् ईश्वर ने इसमें सब पदार्थों के गुणों का प्रकाश किया है। इसलिए विद्वान लोगों को चाहिए कि ऋग्वेद को प्रथम पढ़ के उन मन्त्रों से ईश्वर से ले के पृथिवी पर्यन्त सब पदार्थों को यथावत् जान संसार में उपकार के लिए प्रयत्न करें। ऋग्वेद शब्द का अर्थ यह है कि जिससे सब पदार्थों के गुणों और स्वभावों का वर्णन किया जाये, वह ऋक् और वेद अर्थात् जो यह सत्य-सत्य ज्ञान के हेतु हैं इन दो शब्दों से ऋग्वेद शब्द बनता है।"

इसका अभिप्राय यह है कि ऋक् ईश्वर से लेकर पृथिवी तक सब पदार्थों के गुण, कर्म और स्वभाव का नाम है और इनके ज्ञान को ऋग्वेद कहते हैं। इस प्रकार यही ज्ञान और विज्ञान का उपक्रम है।

ऋषि दयानन्द ने वेदों की व्याख्या में प्राचीन सनातनी परम्परा को नहीं माना और अनेक युक्तियों से और शास्त्रार्थ करके अपने पक्ष को प्रमाणित किया। उन्होंने अति प्राचीन भाष्यकारों यास्क, स्कन्द स्वामी आदि के मतों को प्रामाणिक माना, किन्तु महीधर, उव्वट, सायण आदि के अर्थों को दृढ़ता और प्रमाण सहित खण्डन किया।

ऋषि दयानन्द ने महीधर की विशेषरूप से आलोचना की क्योंकि अश्वमेध यज्ञ के प्रसंग में महीधर ने यजमान पत्नी द्वारा अश्व-लिंग की पूजा का विधान बतलाया जिसे ऋषि दयानन्द ने अश्लीलता एवं अनर्थकता का वाचक माना। तथापि यास्क द्वारा

वर्णित ऋ० 10:85:37 और ऋ० 10:95:5 में जो स्त्री-पुरुष सम्भोग को स्पष्ट किया गया है उसके बारे में वे क्या कहेंगे? ऋषि दयानन्द के शिष्य और शेष ऋग्वेद के भाष्यकार ने भी ऋ० 10:85:37 के सम्भोगार्थक अर्थ ही किये हैं। वास्तव में वेदार्थ करते समय उस काल का भी ध्यान रखने की आवश्यकता होती है जब मन्त्र बने थे और अपने समय की मान्यताओं को जबरदस्ती लादना नहीं चाहिए।

ऋषि दयानन्द की मन्त्रों की अपनी विशेष व्याख्या है। वेदों की व्याख्या में उन्होंने यास्क को सबसे अधिक प्रामाणिक माना है। ऋषि दयानन्द ने परम्परावादी टीकाकारों के समान वेदों में बहुदेववाद नहीं माना अपितु एकदेववाद का पक्ष लिया है जिसे उन्होंने परमेश्वर माना है तथा विभिन्न देवनामों को उसी परमेश्वर के विभिन्न नाम तथा विभिन्न शक्तियां माना है। इस प्रकार वे अग्नि को परमेश्वर कहते हैं तो इन्द्र को भी परमेश्वर और मित्र तथा वरुण को भी परमेश्वर और अन्य सभी देवताओं के नामों का अर्थ भी परमेश्वर ही करते हैं। अन्य नामों के वे अर्थ निकालते हैं और उन्हें व्यक्ति या देवता नहीं मानते। स्वामी जी की दृष्टि में वेद में लौकिक इतिहास का सर्वथा अभाव है, वेद में जो अनेक पौराणिक और ऐतिहासिक नाम आते हैं उनके भी वे शब्दार्थ करते हैं, जबकि यास्क ने भी ऐतिहासज्ञों का वर्णन किया है।[174] ऋषि दयानन्द का वेदों पर कार्य प्रचारात्मक अधिक था। वे अपने युग से पचास वर्ष आगे थे और अन्धविश्वास, पाखण्ड तथा पूजापाठ के वे विरोधी थे। वे वेदाध्ययन, एकेश्वर आराधना, यज्ञ और नैतिक आचरण के पक्षपाती थे तथा भारत के लोगों में प्रामाणिक दृष्टिकोण उत्पन्न करना चाहते थे। इतना सब होते हुए भी परम्परागत संस्कारों के प्रभाव से वे अपने को मुक्त नहीं कर सके और धर्म तथा अलौकिकता से ऊपर नहीं उठ पाये।

ऋषि दयानन्द ने वेदों को ईश्वरकृत तथा नित्य माना है। उन्होंने बताया कि वेदों के वर्णित विषय को विज्ञान, कर्म, उपासना और ज्ञान में व्याख्यायित किया जा सकता है, ऐसी व्याख्या आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक अर्थों में की जा सकती

174. निरुक्त 2:16; 12:1, 10

है। ऋषि दयानन्द के अनुसार वेद सभी सत्य विद्याओं के भण्डार तथा सभी ज्ञान-विज्ञानों के आदि स्रोत हैं। ये सब बातें परम्परागत वेद-व्याख्याओं में भी प्राप्त हैं, और इस दृष्टि से ऋषि दयानन्द की कोई नवीनता नहीं है। वेद को जो ज्ञान-विज्ञान का आदिस्रोत बतलाया उसे वेद व्याख्या में वे प्रमाणित नहीं कर सके हैं और वेद कालीन ज्ञान-विज्ञान पर वे प्रकाश नहीं डाल सके। जिस प्रकार पश्चिम के ज्ञान-विज्ञान का आदि स्रोत यूनानी दार्शनिकों के विचारों में निकाला जाता है, वैसा स्रोत तो प्राचीनतम ग्रन्थ होने के कारण वेदों में भी निकाला जा सकता है, तथापि उनसे वेदों में वैज्ञानिकता और मनीषा की पुष्टि नहीं हो सकती।

"स्वामी जी के अनुयायी वैदिक पण्डितों की सम्मति में वेदों में विज्ञान के द्वारा आविष्कृत समस्त पदार्थ (रेल, तार, वायुयान आदि) की सत्ता बतलाई जाती है।"[175]

जो निस्संदेह अतिश्योक्तिपूर्ण है। स्वामी जी ने और उनके ऋग्वेद व्याख्याकार शिष्य ने मन्त्रों के जिन अर्थों में विज्ञानयुक्त शब्दों का प्रयोग किया है, उन्हें भी वे न तो तथ्य रूप में और न प्रक्रिया रूप से स्पष्ट कर पाये क्योंकि न तो उन्हें प्राचीन विज्ञानों का ज्ञान था और न ही आधुनिक विज्ञानों का ज्ञान था।

ऋषि दयानन्द ने प्राचीन सनातनी पारम्परिक विचारधारा के विपरीत एक नवीन प्रामाणिक और उदार दृष्टिकोण वाली विचारधारा को पुष्ट किया और वेद भाष्य के क्षेत्र में एक युगान्तर उपस्थित किया। उन्होंने वैदिक संहिताओं को प्रामाण्य माना तथा ब्राह्मण-ग्रन्थों के वेदत्व का खण्डन किया। उन्होंने सनातनी संस्कृति के अंगभूत मूर्तिपूजा, श्राद्ध-तर्पण, कर्मकाण्ड आदि में अविश्वास प्रदर्शित किया। इतिहास पुराणों, ब्राह्मण-आरण्यकों तथा उपनिषदों और श्रौतसूत्रों आदि में भी उनका बहुत विश्वास नहीं था और इन्हें वे वेद की व्याख्या में उपयोगी भी नहीं मानते थे। वेदों के अर्थ निर्णय में ऋषि दयानन्द की विचार पद्धति का बहुत प्रभाव हुआ है, और आज जो वेदों में वैज्ञानिकता की खोज प्रारम्भ हुई है, उसका मूल ऋषि दयानन्द की विचारधारा में ही छिपा है। डा० सत्यप्रकाश ने तो आर्य

175. आचार्य बलदेव उपाध्याय : वैदिक साहित्य और संस्कृति, वाराणसी : शारदा संस्थान, 1980, पृष्ठ 82

समाजी होते हुए ही वेद के विज्ञान पर पर्याप्त प्रकाश डालने का प्रयत्न किया है। आधुनिक समय में एक सबसे बड़ी उपलब्धि यह हुई है कि एक नवीन विश्लेषण पद्धति में विश्वास उत्पन्न हुआ है और वेद के इतर सभी धाराओं को वेद की व्याख्या मात्र मानकर उन पर अधिक आधारित न होते हुए वेद में ही वेदार्थों के मूल को ढूंढने तथा उस काल के ज्ञान-विज्ञान को उजागर करने का प्रयास किया जा रहा है। इसमें पाश्चात्य विद्वानों के विधि-विचारों का भी बहुत योगदान है।

स्वामी जी के अनुसार वेदार्थ में भ्रम का मुख्य कारण निघण्टु एवं निरूक्त की व्याख्याओं के अनुसार वेदार्थ न करके लौकिक संस्कृत की व्याकरण पर आधारित होना तथा शब्दों के कालान्तर में प्राप्त रूढ़ अर्थों को भाष्य का आधार बनाना है। उनके अनुसार निरूक्त में शब्दों का आख्यातज (यौगिक), प्रकृति-प्रत्यय विभाग से स्पष्ट होने वाले, अर्थ-वाची (भिन्न अर्थ वाले शब्दों के योग से मिश्रित) होने, तथा गुण-धर्म के आधार पर विभिन्न स्थलों पर भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयुक्त होने वाले शब्दों का प्रतिपादन किया गया है। उदाहरणार्थ, निरूक्त में 'वराह', जिसे संस्कृत में शूकर कहा जाता है[176], का निर्वचन[177] इस प्रकार है :-

"वराहो मेघो भवति। तराहारः।
वरमाहारमाहार्षीः। इति च ब्राह्मणम्।
विध्यद्वराहं तिरो अद्रिमस्ता। इत्यपि निगमो भवति।
अयमपीतरो वराह एतस्मादेव। बृहति मूलानि। वरं वरं मूलं बृहतीति वा।
वराहमिन्द्र एमुषम्। इत्यपि निगमोभवति।
अंङ्गिरसोऽपि वराहा उच्यंन्ते।
ब्रह्मणस्पतिर्वृषभिर्वराहैः।
अथाप्येते माध्यमका देवगणा वराहव उच्यन्ते।
पश्यन्हिरण्यचक्रानयोदंष्ट्रान्विधावती वराहून्।"

अर्थात् यह उत्तम आहार का देने वाला होता है, इस कारण मेघ का नाम वराह है -

'तू उत्तम आहार लाया' यह ब्राह्मण संदर्भ है।

'अत्यन्त दूरी से उसने अपने वज्र को फेंक कर मेघ का

176. शूकर और वराह भिन्न जाति के जीव हैं, संस्कृत में दोनो ही हैं।
177. निरूक्त 5:4

भेदन किया' ऐसा भी वैदिक मन्त्र है।

उत्तम-उत्तम फल-मूलादि आहार को प्रदान करने वाला होने से पर्वत को वराह कहते हैं। उत्तम-उत्तम जड़ों को खोदकर खाता है इसलिए वराह कहलाता है।

'इन्द्र ने तीव्रता से खाते हुए वराह का वध किया' ऐसा भी वैदिक मन्त्र है।

तेजस्वी महापुरूष उत्तम-उत्तम गुणों को ग्रहण करने से वराह कहलाते हैं –

'प्रार्थनाओं का स्वामी शक्तिशाली अंगिरसों के साथ'

इसके अतिरिक्त अन्तरिक्ष सम्बन्धी देवताओं के ये समूह भी वराहवः कहे जाते हैं :-

'लौहदन्त युक्त स्वर्णिम रथ-चक्रों वाले अन्तरिक्ष सम्बन्धी देवताओं के भागते हुये समूहों को देखते हुये।' इत्यादि।

स्वामी जी के अनुसार यास्क ने परोक्षकृत (प्रकृति-प्रत्यय विभाग स्पष्ट न दिखने वाले शब्द) शब्दों के अर्थ करते समय व्याकरण सिद्ध अर्थ के स्थान पर लोक प्रचलित अर्थ लेने के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। उनके अनुसार शब्दों का व्युत्पत्ति निमित्त तो व्याकरण होता है, परन्तु उनका प्रवृत्ति निमित्त व्याकरण नहीं होता। व्यवहार का नियमन लोक से होता है। कौन सा शब्द किस अर्थ में प्रयुक्त होता है इसकी व्यवस्था में लोक व्यवहार प्रधान रहता है, व्याकरण नहीं, व्याकरण बाद में अनुगामी बनकर उन शब्दों के संस्कार में सहायक होता है। निरूक्त[178] का उद्धरण देते हुए इस पर जोर डाला है कि यदि अर्थ असंगत हो तथा व्याख्यात्मक धातु से सम्बन्धी रूपान्तर उपस्थित न हो, तो सर्वदा उनके अर्थ को ध्यान में रखकर, क्रिया की किसी समान गति के सादृश्य के आधार पर उनकी परीक्षा करनी चाहिए। यदि कोई ऐसा सादृश्य न हो तो उनकी किसी एक शब्दांश या अक्षर के साम्य के आधार पर व्याख्या करनी चाहिए, परन्तु कभी भी निर्वचन छोड़ना नहीं चाहिये। व्याकरण सम्बन्धी रूप को बहुत महत्व नहीं देना चाहिए क्योंकि ये संश्लिष्ट रचनायें प्रायः अपवादों से युक्त होती है। विभक्तियों की व्याख्या अर्थ के अनुसार करनी चाहिए।

178. निरूक्त 2:1

एक ही शब्द विभिन्न भाषाओं में भिन्न अर्थ, कहीं कहीं तो विरोधी अर्थवाचक भी होता है। 'समुद्र' शब्द संस्कृत में केवल सागर का बोधक है, परन्तु वैदिक भाषा में विस्तीर्ण का पर्याय होने से सागर तथा आकाश दोनों ही अर्थों में प्रयुक्त है। 'गो' हिन्दी भाषा में गाय के अर्थ में ही प्रयुक्त होता है किन्तु संस्कृत में गाय और इन्द्रिय के अर्थ में प्रयुक्त होता है। निरूक्त के मतानुसार 'गो' जौ के अर्थ में और 'वत्स' तिल के अर्थ में भी प्रयुक्त है। इसी प्रकार सोम, वृत्र, नदियों आदि के नामों का निघण्टु और निरूक्त के आधार पर निर्वचन करते हुए उनके अर्थ किए हैं।

स्वामी दयानन्द और उनके भाष्यकार शिष्यों ने एकार्थक और अनेकार्थक व्याख्या के आधार पर श्लेष-यमक-अन्योक्ति आदि अलंकारों को स्वीकार किया है, दूसरी ओर उपमा-रूपक उत्प्रेक्षा आदि अलंकार भी वेदार्थों में इंगित किये हैं। तथापि, प्रतीकात्मकता से ये प्रायः अनभिज्ञ हैं और वेदों में पाये जाने वाले स्पष्ट प्रतीकों को भी ये नजरअन्दाज करते हैं। फिर भी भाषा और निरूक्त के आधार पर भी अनेक प्रकार की प्रतीकात्मकतायें तो इनके भाष्यों में प्रकट हो जाती है, किन्तु प्रक्रियाओं के उद्घाटन के हेतु से प्रतीकात्मकता का अभाव रह जाता है जिसके कारण ही ज्ञान-विज्ञान सम्बन्धी अर्थ निष्पादन नहीं हो सका है।

स्वामी दयानन्द जी की दृष्टि में सायण ने वेदों के श्रेष्ठ अर्थ को नहीं समझा, सायण की यह व्याख्या मिथ्या है कि सब वेद कर्मकाण्ड का ही प्रतिपादन करते हैं। उदाहरण के रूप में उन्होंने निम्न मन्त्र[179] को लिया है जिसमें सायण के अनुसार 'इन्द्र' पद विशेष्य है तथा शेष 'मित्र आदि' पद विशेषण हैं। स्वामी दयानन्द ने इस मन्त्र में 'अग्नि' पद को विशेष्य माना और उसका अर्थ परमात्मा बतलाया है। इसके प्रमाण में यास्क के निरूक्त[180] को उद्धृत किया है जिसमें अग्नि को विशेष्य माना गया है।

> इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
> एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।।

179. ऋग्वेद 1:164:46
180. निरूक्त 7:18

स्वामी जी ने इस मन्त्र का अर्थ इस प्रकार किया है[181]

"(विप्राः) बुद्धिमान जन (इन्द्रम्) परमैश्वर्ययुक्त (मित्रम्) मित्रवत् वर्तमान (वरुणम्) श्रेष्ठ (अग्निम्) सर्वव्याप्त विद्युतादि लक्षणयुक्त अग्नि को (बहुधा) बहुत प्रकारों से, बहुत नामों से (आहुः) कहते हैं (अथो) इसके अनन्तर (सः) वह (दिव्यः) प्रकाश में प्रसिद्ध प्रकाशमय (सुपर्णः) सुन्दर जिसके पालन आदि कर्म (गरुत्मान्) महान् आत्मा वाला है इत्यादि बहुत प्रकारों, बहुत नामों से (वदन्ति) कहते हैं तथा वे अन्य विद्वान (एकम्) एक (सत्) विद्यमान परब्रह्म परमेश्वर को (अग्निम्) सर्वव्याप्त परमात्मारूप (यमम्) सर्वनियन्ता और (मातरिश्वानम्) वायु लक्षण लक्षित भी (आहुः) कहते हैं।

भावार्थ :- जैसे अग्न्यादि पदार्थों के इन्द्र आदि नाम हैं वैसे एक परमात्मा के अग्नि आदि सहस्रों नाम वर्तमान हैं। जितने परमेश्वर के गुण, कर्म, स्वभाव हैं उतने ही इस परमात्मा के नाम हैं यह जानना चाहिए।"

इस व्याख्या में तीन स्तर हैं (1) अग्नि को बहुत नामों से कहा जाना, (2) वह दिव्य, सुपर्ण, गरुत्मान् (जिसे स्पष्ट नहीं किया गया कि वह कौन है?) इत्यादि बहुत नामों से कहते हैं, तथा (3) एक विद्यमान परब्रह्म परमेश्वर को अग्नि, यम और मातरिश्वा भी कहते हैं। भावार्थ में भी दूसरे स्तर का जिक्र नहीं है, शायद यह अग्नि का ही रूपक है क्योंकि उसे महान् आत्मा वाला बतलाकर परमात्मा से अलग कर दिया गया है। इस प्रकार दो स्तरों पर आयोजित करके पदार्थों के बहुनाम और परमात्मा के बहु नाम बताये गये हैं। देवताओं के नामों की विशेषतायें मानकर व्याख्या कर दी गई है। सम्पूर्ण अर्थ ही एक वाग्जाल सा है जिससे कुछ भी स्पष्ट नहीं होता और अन्ततः सब परमात्मा में आवेशित हो जाते हैं, और मात्र एक स्तर रह जाता है। स्वामी जी इस तथ्य से नितान्त अपरिचित हैं कि वैदिक साहित्य में 'स' शब्द, यदि अत्यन्त संदर्भित नहीं हैं, तो आत्मा या परमात्मा के नाम में (बिना नाम संदर्भ के सर्वनाम रूप में) प्रयुक्त होता है, और ठीक इसी प्रकार 'एक' शब्द मन या इन्द्र के लिए प्रयुक्त होता है, जो वास्तव में मन का गुण है और गुण से गुणी की पहचान की जाती है।

181. दयानन्द सरस्वती : ऋग्वेद भाषा भाष्य, नई दिल्ली : दयानन्द संस्थान

अग्न्यादि देवताओं को ऐश्वर्यशाली परमेश्वर का रूप मानना किसी भी विद्वान की आपत्ति का कारण नहीं हो सकता, तथापि ऐसे सम्बन्ध को नित्य और रूढ़ मानकर वेदार्थ करने की एक शैली ही विकसित कर ली जाये और देवताओं आदि की सत्ता किसी प्रकार से भी अन्य न मानी जाये, तो स्वाभाविक रूप से आपत्ति उपस्थित हो जाती है। देवता पदार्थों और प्रक्रियाओं के वाचक और प्रतीक हैं। आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक स्तरों पर इनके विभिन्न प्रक्रियात्मक अर्थ हो जाते हैं। जैसे अग्नि, भौतिक-पार्थिव स्तर पर जगत् में व्यवहार के लिए आग का बोधक हो सकता है या शरीरान्तरगत पाक क्रिया से सम्बन्धित अग्नि हो सकता है। आधिदैविक स्तर पर यह विद्युत प्रवाह युक्त रश्मि या तडित् हो सकता है, और आध्यात्मिक स्तर पर यह आत्मस्वरूप प्रकाशमान् आदित्य हो सकता है। अग्नि के ये तीनों रूप[182] अग्नि मन्त्रों को लक्षित करते हैं, और सम्बन्धित अर्थों का उद्घाटन करते हैं। अतः दो रूपों की उपेक्षा करते हुए मात्र परमात्मरूप से व्याख्या करते जाना वेदार्थ को स्पष्ट करने में सहायक नहीं हो सकेगा तथा यह परम्परा के सर्वथा विरुद्ध भी होगा।

विवादास्पद मन्त्र[183] "चत्वारि श्रृंगा0" आदि को स्वामी जी ने धर्म की व्याख्या करने वाला मन्त्र मानकर इस प्रकार अर्थ किया है :-

'हे मनुष्यो! जो (महः) बड़ा सेवा और आदर करने योग्य (देवः) स्वप्रकाशस्वरूप और सबको सुख देने वाला (मर्त्यान्) मरण धर्म वाले मनुष्य आदिकों को (आ) सब प्रकार से (विवेश) व्याप्त होता है (वृषभः) और जो सुखों को वर्षाने वाला (त्रिधा) तीन श्रद्धा, पुरुषार्थ और योगाभ्यास से (बद्धः) बंधा हुआ (रोरवीति) निरन्तर उपदेश देता है (अस्य) इस धर्म से युक्त नित्य और नैमित्तिक परमात्मा के बोध के (द्वे) दो, उन्नति और मोक्षरूप (शीर्षे) शिरस्थानापन्न (त्रयः) तीन अर्थात् कर्म, उपासना और ज्ञानरूप (पादाः) चलने योग्य पैर (चत्वारि) और चार वेद (श्रृंगा) श्रृंगों के सदृश आप लोगों को जानने योग्य हैं और (अस्य) इस धर्म व्यवहार के (सप्त) पांच ज्ञानेन्द्रिय वा पांच कर्मेन्द्रिय, अन्तःकरण और आत्मा ये सात (हस्तासः) हाथों के सदृश वर्तमान हैं और उक्त तीन प्रकार

182. देखें ऋग्वेद 1:164:1
183. ऋग्वेद 4:58:1

से बंधा हुआ व्यवहार भी जानने योग्य है।

इस व्याख्या में वैदिक विचारों की झलक कम और वर्तमान हिन्दू विचारधारा की झलक अधिक दिखाई देती है। धर्म का कोई वैदिक रूप था, यह पूर्णतः अज्ञात है। अनुमान से वैदिक धर्म का जो बहुदेववाद और यज्ञ का रूप प्राप्त होता है उसका भी विधि-विधान अज्ञात है। तब स्वामी जी जो श्रद्धा, पुरुषार्थ और योगाभ्यास बता रहे हैं, जो उपदेश करना बता रहे हैं, नित्य और नैमित्तिक परमात्मबोध की कल्पना कर रहे हैं, अभ्युदय और निःश्रेयस् की अभीप्सायें उठा रहे हैं, तथा कर्म-उपासना-ज्ञान रूप पादों को इंगित कर रहे हैं, वह सब आधुनिक हिन्दू आक्षेप हैं वैदिक नहीं और इस प्रकार वेद काल में उनके मन्त्र में प्रबन्धन का कोई प्रश्न ही नहीं बनता है। सात हाथों में पांच को चाहे ज्ञानेन्द्रियां मान लो चाहे कर्मेन्द्रियां मान लो, ऐसा अनिश्चय सही वेदार्थ कैसे प्राप्त कर पायेगा ? यह व्याख्या जबरदस्ती की ठूसमठूस है। हाँ, इससे इतना अवश्य स्पष्ट होता है कि स्वामी जी के मस्तिष्क में धर्म की नई व्याख्या हिलोरें मार रही थी किंवा प्रकुपित थी, और वही उनके 'आर्यसमाज' के रूप में प्रस्फुटित हुई।

स्वामी जी ने वैदिक संहिताओं के समान ब्राह्मणों-आरण्यकों, उपनिषदों, सूत्रों, स्मृतियों, इतिहास-पुराणों आदि को अनादि या प्रामाणिक नहीं माना और उन्हें श्रुति के अन्तर्गत परिगणित नहीं किया, यह तो प्रामाण्य दृष्टि से उचित ही था। परन्तु वेदार्थ में या व्याख्या में उनकी सहायता लेना भी अस्पृश्य है, यह अतिवादिता है। यद्यपि स्वामी जी की यह प्रतिक्रिया भी यूं थी कि वे हिन्दू धर्म को वैदिक धर्म मानते थे, और वेदों को छोड़ अन्य ग्रंथों को धर्मग्रन्थ मानना उन्हें स्वीकार नहीं था। वास्तव में स्वामी दयानन्द इस्लाम, ईसाई आदि धर्मो से बहुत प्रभावित थे, और हिन्दू धर्म को भी इन्हीं की भांति बनाना चाहते थे। 'आर्य समाज' में उन्होंने यह सब किया भी। अपने को 'आर्य' कहना जैसे इस्लाम धर्मावलम्बी अपने को 'मुसलमान' कहते हैं, एक निराकार परमेश्वर की 'अल्ला' की भांति कल्पना, मूर्तियों और देवताओं से विरोध, 'कुरान' की भांति एक धर्मग्रन्थ 'वेद', 'नमाज' की भांति 'त्रिकाल संध्या', पवित्र

'जुमा' की भांति 'रविवार' और हवन आदि, सब इसी के उपमान थे। इस प्रकार धर्म के मामले में वे कट्टरपन्थी और अतिवादी थे, और चूंकि उनका वैदिक अनुशीलन भी धर्म से आप्लावित था इस कारण वेदार्थ और वेद व्याख्या में भी उसका प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। 'कुरान' की भांति स्वामी जी भी वेदों को परमेश्वर की वाणी और पृथिवी पर अन्तिम सत्य तथा सभी ज्ञान-विज्ञानों का आदि स्रोत मानते थे। 'कुरान' की भांति वेद को भी वे मनुष्य जीवन के लिए नैतिक निर्देश मानते थे, और इसी प्रकार उन्होंने मन्त्रों की व्याख्या भी की, जहां नैतिक निर्देश मन्त्र में नितान्त अनुपस्थित थे वहां स्वामी जी ने अलग से भावार्थ में जबरदस्ती नैतिक निर्देशों की ठूसमठूस की है।

सनातनी पण्डितजन वेद या श्रुति के अन्तर्गत ब्राह्मण-आरण्यक, उपनिषद्, सूत्र आदि का भी अन्तर्भाव करते हैं, तथा अनेक यह भी विश्वास करते हैं कि यजुर्वेदीय संहिताओं में जो गद्य खण्ड हैं वे ब्राह्मण हैं, स्वामी जी का इनसे मतान्तर है। वास्तव में वेद के लुप्त होने के लगभग एक हजार वर्ष बाद जब उसका पुनरुज्जीवन हुआ और वह पुनः संकलित किया गया तथा उसके व्यास द्वारा विभाग किये गये, तब वे भाषा की दृष्टि से अतिप्राचीन रहस्यमय और दुरूह थे तथा वेदानुशीलन की सम्पूर्ण परम्परायें नष्ट हो चुकी थीं। किन्तु नारद-व्यासादि द्वारा प्रथम दृष्ट्या अध्ययन में उनकी वैज्ञानिक महत्ता का संज्ञान होने पर विशद रूप से उनके अध्ययन और संकलन की योजनायें बनाई गईं। उपवेद, वेदांग, ब्राह्मण-आरण्यक और इतिहास-पुराण इस अध्ययन के माध्यम बने, तथा इन विधाओं में जो शोध और गवेषणायें हुईं उनको तत्तत् नाम वाले ग्रन्थों में समाहित किया गया। इस प्रकार के वेदानुशीलन का यह प्रभाव रहा कि शैली की दृष्टि से इन वेदेतर ग्रन्थों में भी वेदों का प्रभाव घुस गया और वे भी रहस्यमय, गोपनीय तथा व्याख्या किये जाने योग्य हो गये, यहाँ तक कि कुछ-कुछ ऐसा प्रभाव यास्क के निरुक्त तक में परिलक्षित होता है। तथापि इन विधाओं की जो वैदिक संदर्भ की तथ्यात्मक उपलब्धियां हैं उन्हें हमें वेदार्थ तथा व्याख्या में अवश्य प्रयोग कर लेना चाहिये। इन ग्रन्थों के उपोद्धात में भी प्रायः यह लिखा हुआ रहता है कि वेदानुशीलन की दृष्टि से ही इनकी रचना

की गई है। तथापि, वेद से ही प्रामाण्य और सतत पुष्टि भी अपेक्षित है। स्वामी जी ने इनकी उपेक्षा कर व्याख्या को अपूर्णता और अविकासपूर्ण स्थिति में डाला है, परन्तु आधुनिक हिन्दू सांस्कारिक विचार जिसके वे स्वयं वशीभूत थे से भी वे उसे मुक्त नहीं कर पाये।

अन्तोगत्वा, स्वामी दयानन्द सरस्वती के महत्व को हम किसी भी प्रकार कम करके नहीं आंक सकते। पूर्वाग्रहों, अन्ध विश्वासों और जड़ीभूत विचारधाराओं से उनकी जो लड़ाई हुई उसने विचारशील पुरूषों को अन्य परिष्कृत दिशाओं में सोचने को मजबूर किया। इससे जो परिणाम निकले और सम्यक् चिन्तन तथा वैज्ञानिक दृष्टिकोण उत्पन्न हुआ वही स्वामी जी के अत्यन्त महत्व का विषय बनता है।

श्री अरविन्द

श्री अरविन्द का योग और दर्शन वेद पर आधारित तो माना ही जाता है, अपितु वे धर्म और वैदिक परम्परा के द्रष्टा और चिन्तक भी माने जाते हैं। उनकी दृष्टि में वेदों पर असीम श्रद्धा रखने से ही वेदार्थ स्वतः स्पष्ट होते हैं। स्वयं वेद ही हमें बताता है कि उसका अर्थ रहस्यात्मक और निगूढ़ है। वेद मन्त्रों का उन्मेष चेतना के गहन तथा अन्तरतम स्तरों से होता है, ऋषियों की यह दृढ़ धारणा थी। वामदेव ऋषि ने अपने को अनुसंधानकर्ता पुरोहित बताते हुए विद्या से युक्त निगूढ़ वचनों वाले तथा अनेक अर्थों वाले मन्त्रों से अग्नि की प्रशंसा करने की इच्छा प्रकट की है।[184] श्री अरविन्द के लिए वैदिक मन्त्र आध्यात्मिक संवेदना के प्रतीक हैं। उनके वेद भाष्य में उनके पूर्ण योग का लक्ष्य सृष्टि के विकास क्रम में अतिमानस संचेतना का अवतरण और अभिव्यक्ति के रूप में परिलक्षित हुआ है। अपने संस्कृत काव्य 'भवानी भारती' में प्रेरक प्रसंग में वे लिखते हैं–

> पुनः श्रृणोमीममरण्यभूमौ, वेदस्य घोषं हृदयामृतोत्सम्।
> सुज्ञानिनामाश्रमगा मुनीनां, कुल्येव पुंसा वहति प्रपूर्णा।।

अर्थात् मैं फिर इस अरण्य भूमि जो हृदय में अमृत के स्रोत वेद के घोष को सुन रहा हूं जो सुज्ञानी मुनिजनों के आश्रम को जाने वाली भरी हुई नहर की भांति मनुष्यों को ले जाता है।

184. ऋग्वेद 4:3:16

वेद बीजमन्त्र : श्री अरविन्द के लिए वेद बीजमन्त्र हैं। यदि वेद न होते तो विश्व के आध्यात्म, धर्म और चिन्तन का कोई भी रूप जैसा आज है वैसा नहीं होता। वेद ब्रह्म के सारतत्व के विषय में ही नहीं अपितु अभिव्यक्ति के विषय में भी सत्य हैं।

यद्यपि श्री अरविन्द वेदों की अपौरुषेयता और उनमें निहित ईश्वरीय ज्ञान का प्रतिपादन करते हैं तथापि वे उन्हें ज्ञेय और अनुसंधेय स्वीकार करते हैं। उनके विचार से भारत और विश्व का विकास इसके अन्वेषण और इसमें निहित ज्ञान के प्रयोग पर निर्भर करेगा। वे वेद का उपयोग जीवन संचालन के हेतु से स्वीकार करते हैं, न कि जीवन के परित्याग के लिए। यह सही नहीं है कि वेद का ज्ञान अति दुरूह और अंधेरी उपत्यका में भटकने जैसा है, प्रत्युत सहजमार्ग की प्राप्ति के लिए वर्तमान और भविष्य के दर्शनों के चिन्तन के केन्द्र में वेद ही उद्गम है।

वेदों की गोपनीयता : श्री अरविन्द वेद को गुह्य इस कारण मानते हैं कि उनके विचार से वेद योग और धर्मशास्त्र के बीजमन्त्र तथा धर्म रक्षक मूल तत्व है। वेदार्थ चेतना के ऊर्ध्वलोक में रहस्यमय पर्दे के पीछे अवस्थित हैं, इसलिए शब्दार्थ की सीमाओं में कभी सीमित नहीं माने गये हैं, क्योंकि वैदिक ऋषि मन्त्र द्रष्टा तथा सत्याश्रुत होने के नाते उस परम ज्ञान के अधिकारी थे, जहां साधारण मानव के मन की गति नहीं है। वे ऋग्वेद के मन्त्र[185] का सन्दर्भ देते हैं कि वेद के मन्त्रों को सदा नित्य तथा अक्षर व्योम में निवास करने वाला माना गया है, जहां सब देवों का निवास है, जो उस परमात्मा को नहीं जानता वह ऋचाओं से क्या करेगा? श्री अरविन्द के अनुसार ऐसे गुह्य ज्ञान को गुरू-शिष्य परम्परा में ही संरक्षित करने का विधान था। स्वाभाविक रूप से इस विधान के कारण ऋचाओं के

185. यह पूरा मन्त्र इस प्रकार हैं – ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन देवा अधि विश्वे निषेदुः।
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत् तद् विदुस्त इमे समासते।। (ऋ0 1:164:39)

अर्थात् (ऋचः) अधिभूत के (अक्षरे परमे व्योमन्) न क्षरित होने वाले महान् आकाश में (यस्मिन्) जिसमें (विश्वदेवाः) विश्वेदेव (अधि निषेदुः) अधिकतर निवास करते हैं (यः) जो (तत्) उसको (न वेद) नहीं जानता (किं ऋचा करिष्यति) उसके लिए ऋग्वेदीय मन्त्र क्या करेंगे? (यः) जो (इत्) बिलकुल (तद विदुः) उसको जानता है (त) वह (इमे) इसमें (समासते) सम्यक् रूप से स्थित होता है।

पीछे छिपा हुआ तात्पर्य दुर्ज्ञेय हो गया, किन्तु इतना नहीं कि अज्ञेय हो जाये। आध्यात्मिक साधना पद्धति के द्वारा ऋषि की चेतना से तदाकार हुआ जा सकता है, और यदि वेद-ऋचा के अर्थबोध की अभीप्सा हो, तो ऐसे अभ्यास से वेद स्वयं ही स्पष्ट हो जायेंगे। आज तो अप्रचलित वेद की भाषा-शैली का साधना के अभाव में वेद के अभिप्राय का व्याप्त अन्धकार से उदय होना उतना ही कठिन है जितनी कठिन अल्पदृष्टि व्यक्ति को विशाल दृष्टि देने के लिए भगवती उषा की अभिव्यक्ति है।[186] अतः वेदोपासक को आज भी यह श्रद्धा रखनी चाहिए कि ऋचायें ऋषियों की कल्पनायें नहीं हैं प्रत्युत सत्य दर्शन हैं, तथा इनके यथा अर्थ को केवल व्याकरण और भाषाशास्त्र के मानसिक क्रियाकलापों द्वारा प्राप्त नहीं किया जा सकता है।

वेद रहस्य : श्री अरविन्द के विवेचनयुक्त अनुशीलन 'वेद-रहस्य' की प्रथम प्रमेय 'गूढार्थ बोधन' है। अपनी पुस्तक 'वेद रहस्य' में उन्होंने निरुक्त, व्याकरण, भाषा विज्ञान, रूपक-रहस्य-भेदन और परम्परा प्राप्त विभिन्न प्रणालियों से गूढार्थ बोधन का मार्ग प्रशस्त किया है। उनकी द्वितीय प्रमेय की दृष्टि में वेदार्थ स्वयं ही प्रतीकात्मक, द्वयर्थक या अनेकार्थक रूप से निहित हैं। सप्त सरिताओं के प्रवाह को खोलना, प्रकाश की मुक्ति, पणियों से पशुओं को छुड़ाना आदि ऐसे संदर्भ हैं जो प्रतीकों की स्थायी, स्वाभाविक और आध्यात्मिक व्याख्या से ही अपने गुह्य तात्पर्य का उद्घाटन कर सकते हैं। लौकिक, वाह्य अर्थों का प्रकटीकरण ज्ञान और शिक्षण के अभ्यास से ही सम्भव है। उदाहरणस्वरूप :-

महो अर्णः सरस्वती प्र चेतयति केतुना।
धियो विश्वा वि राजति।।[187]

अभिप्राय यह है कि सरस्वती अन्तर्दर्शन या प्रज्ञान के द्वारा मानव चेतना के सतत प्रबोधन के माध्यम से मानव चेतना के महान् प्रवाह (ऋतस्य विशालां०) साक्षात् सत्य चेतना को अवतरित कराती

186. ऋग्वेद 1:113:5
187. ऋग्वेद 1:3:12

हैं तथा हमारे सारे चिन्तन को प्रदीप्त करती है।[188]

पूर्व की ऋचाओं में सरस्वती को प्रकाशमय ऐश्वर्य से पूर्ण (वाजेभिर्वाजिनीवती) एवं विचार की सम्पत्ति से समृद्ध (धियावसुः) कहा गया है। किन्तु 'महो अर्णः' को समानाधिकरण मानकर अर्थ किया जाय तो सरस्वती एक नदी मात्र है। अतः प्रतीक की व्याख्या के अभाव में वेदार्थ ही लुप्त हो जायेगा।[189]

इसी परम्परा में ऋषि वामदेव जब समुद्र के विषय में 'हृद्यात् समुद्रात्' कहते हैं तो प्रतीकार्थ ही स्पष्ट हैं :-

एता अर्षन्ति हृद्यात् समुद्राच्छतव्रजा रिपुणा नावचक्षे।
घृतस्य धारा अभि चाकशीमि हिरण्ययो वेतसो मध्य आसाम्।।[190]

इसका शब्दार्थ है कि नदियां हृदय-समुद्र से निकलती हैं। शत्रु द्वारा सैकड़ों बाड़ों में बन्द होने के कारण ये दिखाई नहीं दे सकती। मैं घी की धाराओं को देखता हूँ, क्योंकि उनके अन्दर सुनहरा बेंत रखा हुआ है।[191]

श्री अरविन्द के अनुसार इसका निहितार्थ यह है कि दिव्य-ज्ञान हमारे विचारों के पीछे सतत प्रवाहित हो रहा है, किन्तु आन्तरिक शत्रु उसे अनेक बन्धनों से रोके रखते हैं। अर्थात् वे मनस्तत्व को इन्द्रिय ज्ञान तक पहुंचने वाले किनारों से टकराती हैं, किन्तु वे इन्द्रियों की आश्रिता मनश्चेतना की सीमा में सीमित हो जाती हैं। आगे यह लक्ष्य इस रूप में वर्णित है कि बस मधु ही मधु है - यह

---

188. इस मन्त्र का सामान्य शाब्दिक अर्थ इस प्रकार होता है :-

(सरस्वती) वाणी (केतुना) दृष्टि के द्वारा (महो अर्णः) अगाध शब्द-समुद्र को (प्र चेतयति) चेताती अर्थात् बोध कराती है, वही (विश्वधियो) समस्त बुद्धियों को (विराजति) विशेषतः प्रकाशित करती है।

189. यद्यपि समानाधिकरण इस कारण सम्भव नहीं है कि तब कर्म का अभाव हो जाने से वाक्य पूर्ण नहीं होगा, तथा यदि तृतीय पद से 'धियः' को कर्म के रूप में लेंगे तो दो क्रियायें 'चेतयति' व 'राजति' होने से अर्थ स्पष्ट नहीं होंगे। अतः 'अर्ण' के अर्थ वर्ण या अक्षर तथा 'सरस्वती' के अर्थ वाणी या विद्या ही लेने पड़ेंगे।

190. ऋग्वेद 4:58:5

191. इस मन्त्र के सामान्य भाषिक अर्थ इस प्रकार हैं :-

(एता) ये (शतव्रजा) सैकड़ों ओर चलने वाली (घृतस्य धाराः) घी की धारायें (हृद्यात् समुद्रात्) हृदय-समुद्र से (अर्षन्ति) निकलती हैं, (आसाम्) इनके (मध्ये) बीच में (हिरण्ययः वेतसः) स्वर्णिम अग्नि को (अभिचाकशीमि) मैं प्रत्यक्ष देखता हूँ, (रिपुणा) शत्रु के द्वारा (न अवचक्षे) जरा भी नहीं देखा जाता है, या तो आभास भी नहीं किया जाता।

[अदादि० लट् - मैकडानलः वैदिक व्याकरण, पृष्ठ 503]

लक्ष्य अर्थात् सिन्धु–अति–चेतन का पारावार है।[192]

श्री अरविन्द के लिए वेद–व्याख्या में प्रतीकों का विवेचन भाषा विज्ञान विरोधी सिद्धान्त नहीं है। अध्यात्मपरक भाष्य–प्रणाली वैदिक शब्दावली के अनेकार्थ–सिद्धान्त पर आधारित होने से वेद दुरूह भी नहीं हुए हैं, बल्कि निरुक्त से अनुमोदित शब्दार्थ के वैकल्पिक अर्थों की सम्भावनायें उन्मुक्त हो गई हैं। शिक्षा, साधना तथा ध्यान के अभाव से ही ऋषि–चेतना का स्पर्श सम्भव नहीं हो पाता है। तात्पर्य यह नहीं है कि इस सिद्धान्त के अनुशीलन से वेदार्थ कल्पना पर आश्रित हो जाएगा, बल्कि भाषा विज्ञान को भी शब्दों के स्थायी तात्पर्य के अन्वेषण में सहायता मिलेगी। क्योंकि श्री अरविन्द के अनुसार शब्द कृत्रिम नहीं हैं, प्रत्युत ध्वनि के सजीव विस्तार हैं। बीज–ध्वनि उनका आधार है, अतः बीज–मन्त्रों से उत्पन्न शब्द भी स्थायी अर्थों की अभिव्यंजना में साधक ही हैं, बाधक नहीं।

श्री अरविन्द की <u>तृतीय प्रमेय</u> यह है कि वैदिक शब्दावली का स्वाभाविक और स्थायी अर्थ आध्यात्मिक ही होगा, जैसे ऋत का आध्यात्मिक अर्थ है परम सत्य। जल या अन्न आदि अवान्तर अर्थ हमें स्वाभाविक वेदार्थ से दूर ले जाते हैं। वेद यदि अग्नि को 'क्रतुहृदि' अर्थात् हृदय का सत्य कहते हैं तो अग्नि का अर्थ अधिक व्यापक और उदात्त हो जाता है।[193] यही प्रणाली कथानकों और रूपकों की व्याख्या में भी प्रयुक्त हो सकती है।

अग्नि का आध्यात्मिक अर्थ है 'गोपामृतस्य दीदिविं वर्धमानं स्वे दमे' स्वगृह में दैदीप्यमान सत्य का प्रभासित रक्षक। मित्र और वरुण हैं 'ऋतावृधौ ऋतस्पशौ, – सत्य के स्पर्श तथा अभिवृद्धिकारक'।

192. श्री अरविन्द की यह व्याख्या उनके 'दिव्य जीवन' के दर्शन के अनुरूप है, तथापि यह ऋषि–तदाकार चेतना के स्तर से नहीं, प्रत्युत कल्पना की उच्च उड़ान से सम्बद्ध है। श्री अरविन्द आधुनिक काल के सर्वमान्य तथा निर्विवाद योगिराज हैं, तथापि वे अपनी चेतना से अस्यवामीय सूक्त (ऋ0 1:164) में प्रस्तुत तीसरी 'पाक' प्रक्रिया (मन्त्र 22) को नहीं देख पाये जो हिरण्यमय–अग्नि का ही कार्य है और जिस कार्य में ही घृत की धारायें प्राप्त होती हैं जो रस या ओजस् रूप हैं, तथा जिस कारण ही अग्नि को घृत–पृष्ठ नाम दिया जाता है।

193. उपर्युक्त टिप्पणियां 191 व 192 से अस्यवामीय सूक्त की तृतीय प्रक्रिया में अग्नि का कार्य स्पष्ट किया गया है। इस प्रक्रिया में रसादि धातुओं का क्रम से अग्नि द्वारा परिपाक होने से इसे ही 'यज्ञ' या 'क्रतु' का रूप दिया गया है, और जैसे उपर्युक्त मन्त्र में हृदय से घी की धारायें निकलने की बात कही गई है, उसी अर्थ में 'क्रतु हृदि' का तात्पर्य हृदय में चलने वाले यज्ञ से है। हृदय यहाँ आन्तरिक शरीर के अर्थ में लिया गया है।

'गो' शब्द गाय के अतिरिक्त प्रकाश या रश्मियों का भी वाचक है। यह ऋषियों के नामों में भी प्रयुक्त है, यथा – 'गोतम' और 'गविष्ठिर'। वेदोक्त गायें सूर्य के 'गोयूथ' हैं; यह व्याख्या सर्वत्र सुसंगत और अर्थ प्रदायिका है। घृत शब्द 'घृक्षरणदीप्त्यो' धातु से बना है, अतः वैदिक शब्दावली में घृत का अर्थ प्रकाश भी होगा। इसलिए इन्द्र के अश्व जब 'घृतस्नु' कहे जाते हैं तो इसका अर्थ 'घी चुआने वाले' नहीं बल्कि 'प्रकाश को सर्वत्र विकीर्ण करने वाले' होता है। 'अश्व' शक्ति, आध्यात्मिक सामर्थ्य, तथा तपोबल का प्रतीक है। ऋषि की अश्व के लिए प्रार्थना घोड़ा प्राप्त करने के लिए नहीं बल्कि आन्तरिक स्फूर्ति प्राप्ति के लिए है। 'अग्नि' से तात्पर्य बाहर जलने वाली आग से नहीं अन्तः स्फुरित होने वाले प्राण से है।

श्री अरविन्द की दृष्टि में वेदार्थ योग तथा तप के द्वारा विधूत तथा पवित्र हृदय में स्फुरित होता है। वे कहते हैं कि जो विद्वान संहिता को केवल कर्मकाण्ड का प्रतिपादक और उपनिषदों को ज्ञानकाण्ड का विवेचक मानकर दोनों के बीच भेद दर्शाने का प्रयत्न करते हैं वे सत्य से बहुत दूर हैं। संहिता कर्म के साथ ज्ञान का स्पष्ट प्रतिपादक है क्योंकि उपनिषदों में वेद मन्त्रों के स्पष्ट संदर्भ दिए गए हैं। इसी प्रकार वेद की अन्तः साधना तथा नियमन की शिक्षा तत्कालीन 'योग' का स्पष्ट संकेत करती हैं। श्री अरविन्द के लिए वेद सिद्धों की वाणी है और वह अन्तर्जगत् के आध्यात्मिक तत्वों का ही निरूपण करती है। इस निरूपण में जिन सामान्य शब्दों का प्रयोग वेद करता है उनका अर्थ नितान्त गूढ़ होता है जो असामान्य तथा अन्तः स्तर की धारणा पर आधारित है।[194]

केन्द्रीय चिन्तन :श्री अरविन्द के अनुसार वैदिक ज्ञान का केन्द्रीय चिन्तन सत्य, प्रकाश और अमरत्व की खोज है। यही आध्यात्मिक लक्षण वैदिक कथानकों और रूपकों में भी प्रत्यक्ष है। उदाहरणार्थ देवशुनी सरमा का कथानक सरमा को ज्ञान की पूर्वदर्शिका तथा ज्ञानान्वेषण में लगी दिव्य शक्तियों की पथ प्रदर्शिका के रूप में प्रदर्शित करता है :–

194. श्री अरविन्द : हिम्स टु दि मिस्टिक फायर; भूमिका पृष्ठ 19–32; कपाली शास्त्री : ऋग्भाष्य–भूमिका (संस्कृत), अरविन्द आश्रम, पाण्डिचेरी।

स्वाध्यो दिव आ सप्त यह्वी रायो दुरो व्यृतजा अजानन्।
विदद् गव्यं सरमा दृळ्हमूर्वं येना नु कं मानुषी भोजते विट्।।[195]

तात्पर्य यह है कि विचार को यथार्थ रूप से धारण करती हुई, सत्य की ज्ञाता द्युलोक की सात शक्तिशाली नदियों ने आनन्द सम्पत्ति के द्वारों को जान लिया; सरमा ने गायों की दृढ़ता, विस्तीर्णता को पा लिया। उसके द्वारा मानुषी प्रजा उच्च ऐश्वर्यों का आनन्द लेती है।[196]

अतः देवताओं की कुतिया सरमा दस्युओं द्वारा लूटी गई गायों को खोजने वाली प्राणी नहीं, बल्कि सत्य की शक्ति है, जो प्रकाश करने वाली गौओं को खोजकर दिव्य शक्तियों को पथ दिखाती है, ताकि वे त्रिगुणात्मक पहाड़ी को विदीर्ण कर गौओं को मुक्त करा सकें।

विदद् यदी सरमा रुग्णमद्रेर्महि पाथः पूर्व्यं सध्र्यक्कः।
अग्रं नयत् सुपद्यक्षराणामच्छा रवं प्रथमा जानती गात्।।[197]

जब सरमा ने पहाड़ी के भग्न स्थान को ढूंढकर पा लिया, तब महान् लक्ष्य खुल गया। सुन्दर पंखों से युक्त सरमा इन्द्र को उषा की अवध्य गौओं के सामने ले गई। वह गौओं के शब्द की ओर गई।[198]

---

195. ऋग्वेद 1:72:8
196. इस मन्त्र के सामान्य अर्थ इस प्रकार होते हैं :–

(सु अध्यः) अच्छी प्रकार धारण करने वाले (ऋतज्ञाः) ऋत को जानने वाले (आ दिव) द्युलोक को प्राप्त (सप्त यह्वी) सात आहवनीय अग्नियों ने (रायः दुरः) सम्पत्ति के द्वारों को (वि अजानन्) विशेष रूप से जान लिया। (सरमा) चलने वाले पदार्थों को नापने वाली ने (दृढम्) हढ़ (अर्वम्) विस्तीर्ण (गव्यं) जाने योग्य को (विदद्) जान लिया (येना) जिसके द्वारा (मानुषी विट्) मानुषी प्रजा (नु) शीघ्र (कं) जल वा हर्ष को (भोजते) भोग करती है। [इस मन्त्र में भी पाक–प्रक्रिया का ही वर्णन है]

197. ऋग्वेद 3:31:6
198. इस मन्त्र के अर्थ इस प्रकार होते हैं :–

(यदी) जिस (सरमा) चलने वाले पदार्थों को नापने वाली सरमाने (पूर्व्यं) पहले के (रूग्णं) रोग से घिरे (अद्रेः) आदित्यों के (महिपाथः) महान् अन्न का (सध्र्यक) एक साथ प्रकट (कः) जलों के (वि) विशेष रूप को (दद्) प्रदान किया है [वही] (प्रथमा जानती) प्रथम जानने वाली (सुपदि) उत्तम पाद में (गात्) जाकर (अक्षराणा) न क्षरण होने वालों के (अच्छ) शुभ (अग्रं) आगे के (रवं) गान को (आ नयत्) लाई है।

[इस मन्त्र में पुनः पाक–प्रक्रिया का वर्णन किया गया है, तथा वही अक्षरों से युक्त भाषा को लाने वाली प्रक्रिया भी है]

संकेत : सूर्य के द्वारा अन्तरिक्ष जल या रस का शोषण किए जाने से वह उनका अन्न है। नीचे के मार्ग से ऊपर जाने वाले अर्थात् क्षरण न होने वाले अक्षर हैं, और ऊपर से नीचे जाने वाले क्षर हैं, (ऋ० 1:164:17–18); रूग्ण, जो रोग से घिरे थे अर्थात् जो स्वस्थ या स्वच्छ नहीं थे।

इस कथानक के आध्यात्मिक अर्थ से स्पष्ट है कि श्री अरविन्द का वेद-भाष्य उपर्युक्त परम्परा में वैज्ञानिक प्रयास है। श्री अरविन्द कृत वेद-भाष्य में पूर्व-भाष्यकारों के शुद्धाशय को भी प्रकाश में लाया गया है और सृष्टि के 'अप्रकेतं सलिलम्' की अचेतन स्थिति से जगत् को 'ज्योतिषां ज्योतिः' की ओर विकासशील उत्क्रमण की ऋषि परम्परा को भी अभिव्यक्त किया गया है।

आध्यात्मिक भाष्य त्रिविध उद्देश्यों को चरितार्थ करता है। प्रथम तो उपनिषदों के अर्थबोध में सहायता प्राप्त होती है। द्वितीय लाभ के रूप में वेदान्त, पुराण, तन्त्र, दर्शन सभी के मूल स्रोत के रूप में वेद-ज्ञान की उपलब्धि है, और तृतीय लाभ भविष्य में आने वाले सभी दर्शनों का मूल चिन्तन वेद-सम्मत होना है, जिससे प्रज्ञा को सहज ही अध्यात्म का आधार प्राप्त हो जायेगा।

> ऋतेन ऋतमपिहितं ध्रुवं वां सूर्यस्य यत्र विमुचन्त्यश्वान्।
> दश शता सह तस्थुस्तदेकं देवानां श्रेष्ठं वपुषामपश्यम्।।[199]

सत्य से आवृत एक सत्य है, जहाँ सूर्य या दिव्य ज्योति अर्थात् सत्य घोड़ों अर्थात् ज्योति की यात्रा को उनमुक्त कर देते हैं। दिव्य ऐश्वर्य, समृद्धि, ज्ञान, बल एवं आनन्द आदि की सहस्रों धारायें एकत्र हो जाती हैं, ऐसे दिव्य सूर्य के रूप में वह कल्याणतम रूप-देव एक है।[200]

समीक्षा तथा मूल्यांकन : श्री अरविन्द के वेद-भाष्य में उनके "दिव्य जीवन"[201] के दर्शन का प्रभाव स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है, जिसमें वे मानव विकास क्रम में अतिमानसिक संचेतना का अवतरण

199. ऋग्वेद 5:62:1

200. (अ) इस मन्त्र का अर्थ इस प्रकार है :–

हे मित्र और वरूण! (वां) आप दोनों के लिए (देवानां वपुषां श्रेष्ठ) देवताओं के शरीरों का श्रेष्ठ (तद् एक) उस एक (अपिहितं ध्रुवं ऋत) स्पष्ट और निश्चल ऋत (जल) को (ऋतेन) ऋत के द्वारा (अपश्यम्) मैं देखता हूँ (यत्र) जहाँ (सूर्यस्य) सूर्य की (दश शता सह तस्थुः) हजारों साथ-साथ इकट्ठी (अश्वान्) रश्मियों को (विमुचन्ति) छोड़ते हैं अर्थात् हजारों किरणों का एक साथ इकट्ठा प्रकाश होता है। [इस मन्त्र के देवता मित्र और वरूण हैं जो 'ऋतावृधौ ऋतस्पशौ' कहे गये हैं]

(ब) इस विवरण में (1) श्री देवदत्त : श्री अरविन्द का अध्यात्मपरक वेद-भाष्य, कल्याण वर्ष 73 सं0 1 व 2, जनवरी-फरवरी 1999, पृष्ठ 46-48; तथा (2) आचार्य बलदेव उपाध्याय : वैदिक साहित्य और संस्कृति, वाराणसी, शारदा संस्थान, 1980, पृष्ठ 90-91 से सहायता ली गई है।

201. श्री अरविन्द : दि लाइफ डिवाइन, पाण्डिचेरी : अरविन्द आश्रम

और अभिव्यक्ति की आध्यात्मिक व्याख्या करते हैं। तथापि, श्री अरविन्द का अध्यात्म धार्मिकता से ग्रसित है; अर्थात्, उनका 'अध्यात्म' विज्ञान या शास्त्र नहीं है, प्रत्युत पराप्रकृतिवाद और अलौकिकता में आस्था और विश्वास प्रकट करने वाला है। जब वे वेद को बीज मन्त्र कहते हैं, तो उनका तात्पर्य यह होता है कि योग, अध्यात्म, धर्म और चिन्तन के विकास में वेद बीज का कार्य करते हैं, और जिस प्रकार बीज की क्षमतायें गुह्य होती हैं उसी प्रकार वेद गुह्य हैं। उनकी दृष्टि में मूल विषय के रूप में ब्रह्म के सार-तत्व और उसकी अभिव्यक्ति के लिए वेद सत्य हैं। इस कारण ही वेदार्थ चेतना के ऊर्ध्व-लोक में रहस्यमय पर्दे के पीछे अवस्थित हैं। वैदिक ज्ञान की उपलब्धि के इस ऋषि-चेतना के स्तर तक साधारण मानव के मन की गति नहीं है, इस कारण उस ज्ञान को गुरू-शिष्य परम्परा में ही संरक्षित किया जा सकता था। दूसरे विकल्प के रूप में वेदार्थ के हेतु से आध्यात्मिक साधना पद्धति द्वारा ऋषि-चेतना से तादात्म्य प्राप्त किया जा सकता है, तब वेद स्वयं ही स्पष्ट हो जायेंगे। तीसरे विकल्प की दृष्टि से बीज- ध्वनि के मूल वाले शब्द कृत्रिम नहीं प्रत्युत ध्वनि के सजीव विस्तार हैं तथा वे स्थायी अभिव्यंजना में साधक होते हैं, अतएव वैदिक शब्दावली का स्वाभाविक और स्थाई अर्थ आध्यात्मिक ही होगा। शब्दों में जो प्रतीक और अनेकार्थ निहित हैं उन्हें निरुक्त आदि के माध्यम से व्याख्यायित करते हुए गुह्य अर्थों का प्रकटीकरण सम्भव है। वेद की ऐसी सर्व व प्रकल्पित व्याख्याओं से प्राप्त ज्ञान उपनिषदों के अर्थ-बोध में सहायक होंगे, शास्त्रों और पुराणेतिहासों के आदि स्रोत के अन्वेषक एवं भविष्य के दर्शनों के चिन्तन के मूल आधार बनेंगे।

उपर्युक्त विधि-चिन्तन में तीसरे विकल्प को छोड़कर, जहाँ शब्द के मूलध्वनि की विवेचनापूर्वक उसकी व्युत्पत्ति से वेदार्थ की अभिव्यक्ति सम्भव है, अन्य विकल्प उस सामान्य भारतीय मानसिकता से जड़ीभूत हैं कि योगी अथवा अवतारी व्यक्ति ही कोई महान् कार्य कर सकता है, साधारण मनुष्य तो पशु की भांति मात्र कमाने-खाने और मर जाने के लिए ही पैदा हुआ है, उससे वेदार्थ-बोधन का महान् कार्य सम्भव नहीं। किन्तु, ऋषि-चेतना के तादात्म्य से वेदार्थ-बोधन में स्वयं श्री अरविन्द को कितनी सफलता मिली है,

यह हमारी मन्त्रों पर टिप्पणियों से ही स्पष्ट हो जाता है। ऋषि-चेतना की भारत में तो कमी नही रही है, फिर यह चेतना न तो सिन्धुलिपि का उद्घाटन कर पायी और न वेदार्थो का; यहाँ तक कि तथाकथित ऋषि-चेतना का दावा करने वाले योगी, सन्यासी और तपस्वी तो प्राचीन भारतीय ज्ञान-विज्ञान का उतना भी उद्घाटन नहीं कर सके जितना साधारण मानव माने जाने वाले विश्वविद्यालयीन अध्यापकों ने कर दिखाया है। प्राचीन भारतीय ज्ञान-विज्ञान पर अपनी दुकान चलाने वाले तथाकथित आध्यात्मिक साधु तो मात्र भ्रम और अंधविश्वास फैलाने में ही प्रवीण रहे हैं और ठीक ऐसी ही स्थिति ऋषि-चेतना से तदाकार होने और आध्यात्मिकता के आग्रह की है। जहाँ तक गुरु-शिष्य परम्परा का प्रश्न है, वह तो उस काल में ही नष्ट हो चुकी थी जब विकल्प रूप में वेदार्थ-बोधन के लिए वेदांगो के विकास की आवश्यकता आ पड़ी।

यह भी मात्र कोरी बकवास है कि वैदिक शब्दावली का स्वाभाविक और स्थायी अर्थ आध्यात्मिक ही होगा। वेद के ऋषियों ने मुख्यतः लोकजीवन की स्थितियों का ही वर्णन किया है; जुआड़ी की पीडा और अर्थोपार्जन के लिए मारा-मारी इसके उदाहरण हैं। वेद की सब बातें गुह्य नहीं है, फिर भी अतिप्राचीन, सर्वदेशीय, अपरिचित, कृत्रिम तथा विकृत भाषा का निर्वचन तथा उसकी व्युत्पत्ति साधारण अर्थबोध के लिए भी आवश्यक हो जाते हैं। जो शब्दों के तथाकथित आध्यात्मिक अर्थ तृतीय प्रमेय के अन्तर्गत किये गये हैं, वे न तो व्याकरण सम्मत हैं और न निरुक्त या निर्वचन ही हैं, प्रत्युत नितान्त मनमाने हैं और किसी स्रोत से पुष्ट भी नहीं किये गये हैं। उदाहरणस्वरूप, 'ऋत' का अर्थ 'सत्य' नहीं है, यद्यपि अनेक प्राचीनों ने भी इसे 'सत्य' के तुल्य माना है। 'ऋत' शब्द जाना अर्थवाली 'ऋ' धातु में 'क्त' प्रत्यय लगकर बनता है जिसका अर्थ 'गतिमान' या 'जाता हुआ' होता है। अंग्रेजी का 'आर्डर' शब्द 'ऋतः' का तद्भव होता है, जिसमें उच्चारण सुविधा की मात्रा 'उ' पहले लगा दी गई है, और 'त' का 'द' तथा विसर्ग का 'र' में भाषा वैज्ञानिक परिवर्तन हो गया है। इस 'आर्डर' शब्द के जो अर्थ होते हैं, ठीक वे ही अर्थ 'ऋत' के हैं, जैसे - क्रम, व्यवस्था, संयोजन, नियम, आदेश आदि; हाँ, प्रकृति के सन्दर्भ से ऋत का सही अर्थ प्राकृतिक नियम या प्राकृतिक व्यवस्था होता है, जबकि

'सत्य' का अर्थ 'सत्तात्मकता के योग्य' होता है। सामान्यतया ऋत के अर्थ 'फेनोमेनन्' या 'दृश्यमान जगत्' होते हैं जिसमें 'जगत्' चलने वाले (गम्) के अर्थ वाला होता है। इसी प्रकार 'गो' शब्द जाना अर्थ वाली 'गम्' धातु में 'डो' प्रत्यय लगकर 'जाती हुई' के अर्थ में बनता है, और ऊर्जा के अनेक रूपों का वाचक है; जैसे आकाश, नक्षत्र, वज्र, किरण, स्वर्ग, वाण, वाक्, बैल आदि। वास्तव में यह 'गतिमान ऊर्जा' के अर्थ में प्रयुक्त होता है, मुख्यतः वह जो अन्न की पाक-प्रक्रिया से निर्मित होकर मस्तिष्क में जाकर केन्द्रित होती है, तथापि कभी-कभी मस्तिष्क से कर्म हेतु आती हुई ऊर्जा को भी यही नाम दिया गया है जबकि प्रमुखतः उसे 'अश्व' कहा गया है।

इस कथन पर कि वैदिक ज्ञान का केन्द्र-बिन्दु सत्य, प्रकाश और अमरत्व की खोज है, हम यह स्वीकार करते हैं कि सत्य को जानना और ज्ञान के प्रकाश को फैलाना वैदिक ऋषियों का उद्देश्य रहा है और वह स्पष्टतः ऋग्वेद[202] में वर्णित भी है, तथापि यह सब अमरत्व की खोज के लिए था, यह बात गले के नीचे नहीं उतरती। इसके पुष्टीकरण में सरमा-पणि संवाद[203] के जो संदर्भ दिए गए हैं, उनकी व्याख्या हम अपनी टिप्पणियों में कर चुके हैं, यह अमरत्व की खोज नहीं प्रत्युत जीवन की खोज अवश्य है। जीवन के सब रूपों (अवस्थाओं) में 'मरत्व' भी एक रूप है, किन्तु 'अमरत्व' जीवन का कोई रूप नहीं है, बस एक लुभावनी कल्पना है।

(ग) इनका प्रस्तुत शोध कार्य के लिए महत्व

प्रस्तुत शोध कार्य का मन्तव्य ऋग्वेद दशम मण्डल में प्रतीकात्मकता एवं वैज्ञानिकता से है। हम देखते हैं कि इन दोनों बिन्दुओं पर यास्क ने तो यथेष्ट प्रकाश डाला है, किन्तु अन्य भाष्यकारों ने इनकी सर्वथा उपेक्षा की है। प्रायः अन्य सभी भाष्यकार वैज्ञानिकता से तो नितान्त अपरिचित है ही और जिस आध्यात्मिकता की वे बात करते हैं, वह शास्त्र या विज्ञान नहीं प्रत्युत धार्मिकता और अलौकिकता ही है। इन्द्रिय, मन और आत्मा आयुर्वेद में आध्यात्मिक माने गये हैं और इनका विज्ञान ही अध्यात्म है, और इस प्रकार आधुनिक मनोविज्ञान या सॉइकॉलॉजी से इसके

202. ऋग्वेद 10:71
203. ऋग्वेद 3:31

विषय क्षेत्र मिलते हैं। अवधारणा का यह दोष भाष्यकारों को विज्ञान से अधिकाधिक दूर ले गया है। प्रतीकात्मकता की अवधारणा भी अपरिपक्व और दिग्भ्रान्त है; मात्र उपमा-रूपक अलंकारों या शब्द-पर्याय प्रतीकों से प्रतीकात्मकता संपूरित नहीं होती, और न मन्त्र में दिये प्रतीक को स्पष्ट कर देने मात्र से प्रतीकात्मक ज्ञान की परिपुष्टि ही होती है। तथापि, वेदार्थ की दृष्टि से सभी भाष्यकारों ने कुछ न कुछ अतिमहत्वपूर्ण संकेत प्रस्तुत किए हैं और कुछ मन्त्रों के ऐसे सटीक अर्थ प्रस्तुत किए हैं जो अत्यन्त सराहनीय तथा दृष्टिसम्पन्न प्रतीत होते हैं। हमें उन स्थितियों और वेदार्थों तथा उनके पीछे दृष्टि को एवं रहस्य तथा अर्थ के उद्घाटन की विधिवत समीक्षा तथा विश्लेषण एवं विवेचन करने की आवश्यकता है। भाष्यकारों की विस्तृत व्याख्याओं की दृष्टि से हमारे लिये यह भी अत्यन्त महत्वपूर्ण है कि भाष्यकारों ने वेदार्थ में किन ग्रन्थों की किस प्रकार और कैसे सहायता ली है। निघण्टु, वेदांग, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, कल्पसूत्र, इतिहास पुराण आदि से वेदार्थ में जो सहायता ली गई हैं उनके प्रारूप क्या हैं तथा वह किन बिन्दुओं पर सहायक हुये हैं तथा आगे भी हो सकते हैं, यह हमें देखना है। वेदार्थ के प्रयोजन से सैकड़ों वर्षों तक जो गवेषणायें, शोध और अनुसंधान होते रहे, उनके पीछे क्या मन्तव्य थे, तथा भाष्यकारों ने इनके उद्देश्यों की किस प्रकार से पूर्ति की है।

'निघण्टु' और 'निरूक्त' में वेदार्थ के हेतु से शब्दों के सीमित निर्वचन प्राप्त होने से तथा सहस्रों शब्द अपरिभाषित होने से उनके अर्थ के लिए हमें भाष्यकारों पर ही निर्भर रहना पड़ता है। इस कारण ही विदेशी अनुवादकों ने सायण भाष्य को 'अन्धे की लकड़ी' माना और उस पर निर्भरता रही तथा उन्होंने इस भाष्य को 'वेद की कुन्जी' तथा 'वेद के दुर्गम दुर्ग का प्रवेश द्वार' स्वीकार किया। किन्तु, मात्र एक भाष्यकार पर ही निर्भर हो जाना त्रुटिपूर्ण है। किसी शब्द के निर्वचन के लिए अनेक भाष्यकारों की व्याख्यायें देखना आवश्यक हो जाता है, तथा व्याकरण और निरूक्त के प्रयोग द्वारा उनकी व्युत्पत्ति करना और सभी विकल्पों को सम्मुख रखते हुए प्रकरण के अर्थ के अनुरूप शब्दार्थ को स्वीकार कर लेना अभीष्ट होना चाहिए। भाष्यकारों से अनेक मन्त्रों के लिए निस्सन्देह ऐसे

शब्दार्थ प्राप्त हो जाते हैं अथवा ऐसे संकेत प्राप्त हो जाते हैं कि मन्त्र का अर्थ निकल आता है।

यही बात सूक्तों के अभिप्राय और उनके रहस्यों के उद्घाटन के लिए भी लागू होती है। उदाहरणस्वरूप सरमा-पणि संवाद सूक्त[204] में सरमा, पणि, गायें, पर्वत, नदी, जल, बृहस्पति, अंगिरस्, इन्द्र आदि के अर्थ तथा सूक्त का आशय समझने के लिए हमें भाष्यकारों पर निर्भर रहना होता है। ऋग्वेद में यह सूक्त संवाद जैसा तो लगता है किन्तु किस्सा क्या है, यह पता नहीं चलता। यास्क[205] ने इस सूक्त के प्रथम मन्त्र की व्याख्या की है और यह संकेत दिया है कि ऐसा आख्यान है कि इन्द्र द्वारा भेजी गई देवशुनी ने पणि नामक असुरों से वार्तालाप किया। बृहद्देवता में यह कथा[206] विस्तार से दी गई है और इस सूक्त की अभिप्रेरणा से कुछ आगे भी कथा का विस्तार किया गया है। सर्वानुक्रमणी में भी इस कथा का कुछ वर्णन है। तथापि, कहीं भी प्रतीकों को खोला नहीं गया है। यास्क[207] ने 'सरमा' शब्द का निर्वचन सरकना अर्थ वाली 'सृ' धातु से बताया है। उन्होंने 'जगुरिः', 'परितक्म्यां', 'रसा' आदि के भी निर्वचन प्रस्तुत किए हैं, जिनसे प्रतीकात्मकता के उद्घाटन तथा वेदार्थ के लिए सही दिशा के कुछ संकेत मिलते हैं। किन्तु बृहद्देवता, सर्वानुक्रमणी तथा सायणादि भाष्यकारों ने इसे सत्य कथा के रूप में ही प्रस्तुत कर दिया है और प्रतीकात्मकता एवं रहस्य के उद्घाटन की कोई चेष्टा नहीं की है। स्वामी दयानन्द[208] ने सरमा का अर्थ 'चलने वाले पदार्थों को नापने वाली' बताया है तथा ऐसे संकेत दिए हैं कि पणि 'मेघ', पाथः 'अन्न-रस' तथा रवं को विद्या के अक्षरों युक्त 'शब्द' माना जाये, परन्तु उन्हीं के शिष्य ने संवाद-सूक्त की व्याख्या आध्यात्मिक रूप में करते हुए यह टिप्पणी की है कि "आत्मा की दिव्य वृत्तियों को लोभावरणों ने छुपा लिया है, अन्तरात्मा का शब्द उनका पता लगाता है और लोभ-मोह के आवरणों से बचकर दिव्य वृत्तियों का उद्धार करता है।"[209] श्री

204. ऋग्वेद 10:108
205. निरूक्त 11:25
206. वृहद्देवता 8:24-36
207. निरूक्त 11:24
208. ऋग्वेद 3:31:6 पर दयानन्द भाष्य
209. ऋग्वेद 10:108:11 पर भावार्थ टिप्पणी (दयानन्द भाष्य)

अरविन्द भी इस कथा के आध्यात्मिक अर्थ लेते हैं जो सत्य, प्रकाश और अमरत्व की खोज से सम्बन्धित हैं, वे सरमा को ज्ञान की पूर्वदर्शिका तथा ज्ञानान्वेषण में लगी दिव्य शक्तियों की पथ प्रदर्शिका के रूप में देखते हैं। अतः देवताओं की कुतिया सरमा दस्युओं द्वारा लूटी गई गायों को खोजने वाली प्राणी नहीं, बल्कि सत्य की शक्ति है, जो प्रकाश करने वाली गौओं को खोजकर दिव्य शक्तियों को पथ दिखाती है, ताकि वे त्रिगुणात्मक पहाड़ी को विदीर्ण कर गौओं को मुक्त करा सकें।[210] कठिनाई यह है कि अध्यात्म-विज्ञान की यह विशदता और गम्भीरता ऋग्वेद में प्राप्त नहीं होती, और न यास्क ने ही ऐसे किसी अध्यात्म-विज्ञान होने पर प्रकाश डाला है। यास्क ने जिन पृथिवीस्थानीय, अन्तरिक्षस्थानीय और द्युस्थानीय प्रक्रियाओं का वर्णन किया है, उसी में इस संवाद सूक्त तथा इससे सम्बन्धित अन्य छुटपुट मन्त्रों के उद्‌घाटन सूत्र उपस्थित करने चाहिये। इस विषय में यास्क तथा दयानन्द दोनों भाष्यकारों ने पर्याप्त संकेत दे दिये हैं, और बृहद्‌देवता की कथा के प्रतीक खोलने से भी तत्सम्बन्धित अर्थ ही प्राप्त होता है।

वेद में प्रतीकात्मकता का आशय गोपनीयता रहा है, और यह गोपनीयता वैज्ञानिक तथ्यों और सिद्धान्तों को छिपाने की दृष्टि से बरती गई है। प्रथमतः प्रतीकात्मकता पर्यायों के रूप में प्रयुक्त है। नाम-रूप की प्रतीकात्मकता के लिए शब्दों की विकृति, नई संयोजना या रचना, संकेत आदि के भी प्रयोग किये गये हैं। इसलिए ऐतिहासिक से लगने वाले व्यक्तियों के नामों का भी निर्वचन यास्क ने किया है, और स्वामी दयानन्द ने तो ऐसी किसी ऐतिहासिकता को जड़ से नकार कर सभी नामों के निर्वचन प्रस्तुत करते हुए ही व्याख्यायें की हैं। उदाहरणस्वरूप उर्वशी-पुरूरवा संवाद[211] में ऐतिहासिक से लगने वाले स्त्री-पुरुष के निर्वचन यास्क ने प्रस्तुत किए हैं; उर्वशी[212] को वे अश्, वश्, प्सा आदि धातुओं से व्युत्पन्न करते हुए व्याप्त करने वाली, इच्छा करने वाली, दर्शन वाली, सौन्दर्य युक्त आदि अर्थ बताते हैं, पुरूरवा[213] को रव् धातु से शब्द करने वाला बतलाया है। किन्तु, इस संवादसूक्त के मात्र 7वें और 10वें मन्त्रों

210. ऋग्वेद 1:72:8 की व्याख्या में 'वेद-रहस्य' देखें
211. ऋग्वेद 10:95
212. निरूक्त 5:13
213. निरूक्त 10:46

की ही व्याख्या करने से कुछ स्पष्ट नहीं होता कि ये किस प्रक्रिया के कौन से तत्व हैं। इसी सूक्त के पांचवे मन्त्र[214] तथा चौदहवें मन्त्र[215] के अंश संदर्भ रूप में भी यास्क ने प्रस्तुत किये हैं। इन सब का तथा उन विषयाक्रमों का जिनमें ये उपलब्ध हैं विश्लेषण करने पर पुरूरवा वृष्टिकारक मेघ और उर्वशी मेघ–विद्युत प्रमाणित होती है। भागवत[216] में तो उर्वशी–पुरूरवा का एक और प्रति–प्रतीक 'शमी वृक्ष पर उगे हुए पीपल' के रूप में दिया गया है जो दो अरणियों, शमी काष्ठ पर पीपल की लकड़ी, की रगड़ से पुत्ररूप अग्नि उत्पन्न करने के प्रयोजन वाला है, यहाँ उर्वशी को पृथिवी तथा पुरूरवा को आकाश माना गया है। कुछ भाष्यकारों ने उर्वशी–पुरूरवा को सेना तथा सेनापति का प्रतीक माना है, किन्तु इसका कोई आधार नहीं है। ऐसा दिखता है कि ये दोनों संज्ञायें एक ही धातु से व्युत्पन्न हैं, 'उर्वस्' शब्द में डीष् प्रत्यय लगाकर और 'श' आदेश के साथ 'उर्वशी' संज्ञा बनती है, जबकि पुरू+उर्वस् 'पुरूर्वस्' संज्ञक होता है। 'उर्व' धातु भ्वादिगण परस्मैपदी सकर्मक क्रिया में 'मारना' अर्थ में आती है।[217] तब 'उर्वसी' मारने वाली तथा 'पुरूर्वस्' अत्यधिक मारने वाला हो जायेगा। यद्यपि इस व्युत्पत्ति से 'सेना' और 'सेनापति' के अर्थ लगाये जा सकते हैं, किन्तु वह बहुत दूर की कौड़ी है; जबकि इसी संवादसूक्त के मन्त्र 17 और 18 उर्वशी और पुरूरवा के प्रतीकों पर पर्याप्त प्रकाश डालते हैं, यथा – उर्वशी को अन्तरिक्षस्थानीय और पुरूरवा को स्वर्ग अर्थात् द्युस्थानीय माना है जो पुनः उनके विद्युत् और वर्षाकारक देवता होने को प्रमाणित करता है। वृत्र को मारने मे सर्वत्र सहायक होने वाली ऊर्जा के रूप में उर्वशी तथा जलों को मुक्त कराने के लिए वृत्र का वध करने वाले पुरूरवा के रूप भी इस संवादसूक्त में स्पष्ट होते हैं, और अन्ततोगत्वा 'वसिष्ठ' अर्थात् अवशिष्ट या श्रेष्ठ जल (ओज) की प्राप्ति के संकेत भी प्राप्त होते हैं।[218]

214. निरूक्त 3:21
215. निरूक्त 7:3
216. भागवत 9:14
217. देखें संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ, पृ0 262
218. वसिष्ठ को मित्रावरूण द्वारा उर्वशी का पुत्र माना गया है, तब 'पुरूरवा' मित्रावरूण के सम्मिलित प्रतीक भी हो सकते हैं। देखें ऋग्वेद 7:33:11

प्रतीकात्मकता के लिए उपमा-रूपक आदि अलंकारों का भी वेद में प्रयोग मिलता है। सादृश्य की दृष्टि से यास्क ने उपमा का उदाहरण देते हुए ऋग्वेद के संदर्भित मन्त्र[219] की 'छोटे का बड़े के लिए' प्रयोग माना है। वे इस मन्त्र की व्याख्या यूं करते हैं :-

"तनूत्यक् तनूत्यक्ता। वनर्गू वनगामिनौ। अग्निमन्थनौ बाहू तस्कराभ्यामुपमिमीते। तस्करस्तत्करोति। तत्करोभवति। यत्पापकमिति नैरुक्ताः। तनोतेर्वा स्यात्। सन्ततकर्मा भवति। अहोरात्रकर्मा वा। रशनाभिर्दशभिरभ्यधीताम्। अभ्यधीतामिति। अभ्यधाताम्। ज्यायांस्तत्र गुणोऽभिप्रेतः।"[220]

यहाँ वे बताते हैं कि अग्निमंथन करने वाली दो भुजाओं की दो तस्करों से उपमा दी गई है। इस पर दुर्गाचार्य की टीका अत्यन्त साधारण कोटि की और भ्रम उत्पन्न करने वाली है। वे मानते हैं कि उत्कृष्ट की निम्न के साथ तुलना केवल वेद पर लागू होती है। 'तनूत्यक्' दुर्ग के लिए वे डाकू हैं जो लूटने और मर जाने का निश्चय कर लेते हैं। तुलना के विषय में वे कहते हैं जिस प्रकार चोर अपने शिकार को प्राप्त करते हैं हम उसी प्रकार अग्नि प्रज्ज्वलित करने के लिए अरणियों को पकड़ते हैं। सायण दो दस्युओं द्वारा वन में विचरते हुए यात्री को रस्सियों से बांधने की उपमा बाहुओं की दसों उंगलियों द्वारा ग्राह्य पदार्थ को पकड़ने से करते हैं। वस्तुतः यास्क के भाव को पकड़ने का प्रयत्न भाष्यकार नहीं कर सके। यास्क का आशय पापकर्मी उन दो चोरों से है जो देहत्याग के लिए दस रस्सियों द्वारा काष्ठ में बांध कर वनस्थित, वधस्थान को ले जाये जाते हैं, जैसा प्राचीन भारत में होता था, वध किये जाने वाले चोरों को जुएं में बैलों की भांति जोता जाता था और दोनों हाथ, दोनों पैर तथा कमर पांच-पांच रस्सियों से बांधी जाती थी। यहाँ "युक्ष्वा रथं न" भी इसी आशय की पुष्टि करता है। इस मन्त्र में दो उपमायें 'इव' तथा 'न' से दी गई हैं। वैसे यह रशनोपमा का उदाहरण है, और पिताश्री ने इसके अनेकानेक अर्थ किये हैं।[221]

219. ऋग्वेद 10:4:6
220. निरुक्त 3:14
221. पं० श्याम सुन्दर मिश्र : वेदार्थ कुन्जिका (अप्रकाशित)

प्रक्रियाओं के सम्बन्ध में नाम-रूपों की स्थिति भी बड़ी संदिग्ध रहती है। उत्तरायण-दक्षिणायन प्रक्रियाओं को अनेक नाम दिये गये हैं, यथा - आदान-विसर्ग, अहोरात्रि, शुक्ल-कृष्ण, ज्ञान-कर्म, देवयान-पितृयान, श्रेय-प्रेय इत्यादि; किन्तु वेद में इनके भी विकृत नाम मिलते हैं जिनका अनुमान करना पड़ता है। देवमान, दैवी, देवयुतं, देवस्पश, उत्तर, दान, वाम आदि अनेक नाम उत्तरायण के लिए मिलते हैं और वैसे ही दक्षिणायन रात्रि, तम, धूम, श्याव, दक्षिणा, प्रिय, प्रिययः आदि से परिभाषित होते हैं। प्रक्रियाओं को जानने के लिए देवताओं को जानना आवश्यक होता है, जो सम्बोधन से, चिह्न से, वाहन से, गुण या कर्म से, अपत्य आदि से स्पष्ट होते हैं; यथा - ऋग्वेदीय मन्त्र[222] "ऋतेन ऋतं0" का अर्थ तभी स्पष्ट होता है जब इसके देवता मित्रावरूण का परिज्ञान हो जाता है; कई भाष्यकारों ने 'वां' का अर्थ भी द्विवचन में नहीं किया है। "ऋतावृधौ ऋतस्पशौ" कहे जाने वाले ये देवता अन्न-रस तथा उसकी संरक्षण प्रक्रिया से सम्बन्धित है तब एक ऋत के अर्थ जल और दूसरे के प्राकृतिक नियम हो जाते हैं।

लोकसंमित-पुरूष की संकल्पना भाष्यकारों में तो कहीं पाई नहीं जाती तथापि वेद में स्वयं, आयुर्वेद में, ब्राह्मण-आरण्यक-सूत्रों में, उपनिषदों में तथा इतिहास-पुराणों में यह विस्तार से प्राप्त होती है। इसके प्रतीकों को वहीं से पकड़ा जा सकता है। तथापि इस बात की सावधानी रखनी चाहिए कि उपनिषदों में पुरूष को ब्रह्म या आत्मा या ईश्वर के रूप में और इतिहास-पुराणों में परमेश्वर या अवतारी रूप में आरोपण हो चुके हैं। इन आरोपणों को दूर हटाकर जब पुरूष के अधिभूत, अधिदेव और अध्यात्म स्थितियों का विचार करेंगे तभी वेदार्थ स्पष्ट हो जायेंगे। परन्तु यह बात निश्चित है कि इन ग्रन्थों में बड़ी सार्थक और महत्वपूर्ण स्थितियां अंकित हैं जो वेदार्थ के लिए इनकी अपरिहार्यता द्योतित करती हैं।

वेद की वैज्ञानिकता की उपेक्षा 'निघण्टु' और 'निरूक्त' को छोड़कर सभी भाष्यकारों और पारम्परिक ग्रन्थों द्वारा की गई है। यास्क ने यद्यपि बुद्धि-भेद, शिक्षण-विधि, ज्ञान का प्रमाणीकरण, आदि पर विचार प्रस्तुत करते हुए ज्ञानी और विज्ञानी का अन्तर स्पष्ट

222. ऋग्वेद 5:62:1

किया है और रचनाकार ऋषियों को 'मन्त्र द्रष्टारः' माना है तथा उन्हें 'अक्षय कर्म करके अवधारण करने वाला' बताया है, तथापि वैज्ञानिक विधियों पर उनके द्वारा कोई प्रकाश नहीं डाला गया है, जबकि वेदों में वैज्ञानिक-विधियों के अनेक संदर्भ[223] प्राप्त होते हैं तथा उनके शिक्षण की व्यवस्था[224] का भी पता चलता है। यास्क के शिक्षण-विज्ञान और मानव समाज शास्त्र सम्बन्धी निदेश तो आधुनिक विज्ञान के लिए आश्चर्य का विषय है, तथापि इतिहास-पुराणों में इन विषयों की विस्तृत सामग्री फैली पड़ी है जिनका विधिवत संकलन करके इन क्षेत्रों के परिपक्व विज्ञान प्रबन्धित किये जा सकते हैं। 'निघण्टु' की व्याख्या में यास्क ने जो पृथिवीस्थानीय, अन्तरिक्षस्थानीय और द्युस्थानीय शारीर प्रक्रियाओं का उद्घाटन किया है उनकी विषय सामग्री भी उपवेदों से लेकर इतिहास-पुराणों तक फैली पड़ी है तथा वेद में और वेदेतर ग्रन्थों में भी इन प्रक्रियाओं के संदर्भ से ही भौतिकी, रसायन आदि के अनेक तथ्य और सिद्धान्त प्रतिपादित किये गये हैं जिनका आधुनिक काल में भी महत्व है, और आश्चर्य होता है कि सभ्यता के उस प्रारम्भिक युग में भी साधनहीन ऋषियों ने किस प्रकार ऐसे वैज्ञानिक सूत्रों का प्रेषण और परिज्ञान किया। इससे भी अधिक आश्चर्य का विषय यह है कि यास्क द्वारा अपने 'निरुक्त' में प्रारम्भ से ही वैज्ञानिकता और विज्ञान के अन्यान्य क्षेत्रों के संकेत दिये गये, किन्तु उनके बाद आज तीन हजार वर्षों के बीच एक भी वेदाध्येता ने उनका संज्ञान नहीं लिया और न वेद के विज्ञान को अपनी ओर से इंगित किया। स्वामी दयानन्द ने वेद को सभी ज्ञान-विज्ञानों का स्रोत माना और ईश्वर से लेकर पृथिवी पर्यन्त सब पदार्थों को यथावत् जानने की प्रेरणा दी। अपने भाष्य में भी वैज्ञानिक मन्तव्यों को उन्होंने अपनी क्षमता भर प्रकाशित करने की चेष्टा की किन्तु यास्क द्वारा संकेतित वैज्ञानिकता का संज्ञान वे भी नहीं कर पाये और उनका पूरा प्रयत्न ही निष्फल गया, "अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम्"[225] इति। इस विषय में इनसे भी बुरी स्थिति अन्य भाष्यकारों की है जिनको वेद में विज्ञान का आभास तक नहीं हुआ। भाष्यकारों से इतर वेद के विद्वानों ने इधर वेद में विज्ञान पर अपने

223. देखें ऋग्वेद 1:164:24; 6:7:6; 10:10:9 इत्यादि
224. देखें ऋग्वेद 3:31:1; 10:30:11 इत्यादि
225. ऋग्वेद 10:71:5

ढंग से अनुसंधान करते हुए महत्वपूर्ण वैज्ञानिक तथ्यों और सिद्धान्तों को प्रतिपादित करने की चेष्टा की है, किन्तु यह प्रयत्न अभी अत्यल्प बाल्यावस्था में ही है और बहुत कुछ जानना-सीखना बाकी है। एक बात और, कि वेद की प्रबन्धन शैली में गोपनीयताओं को, रहस्यों को, और प्रतीकों को, जिनके पीछे वैज्ञानिक तथ्य और सिद्धान्त छिपाकर रखे गये थे, ही जब भाष्यकार उद्घाटित नहीं कर सके तो वे वैदिक विज्ञान तक कैसे पहुंच पाते। अतः हमारे लिये मात्र यास्क ही एक पथ प्रदर्शक हैं और वेद की वैज्ञानिकता के लिये हमें उनके ही पथ पर चलना होगा। हाँ, इस पथ के इधर-उधर अपनी खोजी दृष्टि दौड़ाते हुए विज्ञान के क्षेत्रों का और कुछ अनुसंधान हम कर सकें उसे संस्कारवशात् ही समझना चाहिए।

विज्ञान के अनेक सूत्र वेद में स्पष्टतः भी दिये गये हैं, किन्तु भाष्यकारों ने प्रायः परमेश्वर और अलौकिकता का आरोपण कर उनकी वैज्ञानिकता को ही विकृत कर दिया है। उदाहरणस्वरूप नासदीय सूक्त में "तद् एकं अवातं स्वधया आनीत् प्रकेतः तस्मात् परः अन्यत् किंचन न ह"[226] कथन में मन के इकाईपरक गुण नाम को "मायया युक्तं ब्रह्म" मान कर सायण ने टिप्पणी की है कि "एकमेव ब्रह्मआसीदिति तात्पर्यम्" तथा अन्य भाष्यकारों ने भी लगभग यही अर्थ लिया है, किन्तु अगले ही मन्त्र में 'एक' के उत्पन्न होने की प्रक्रिया दी गई कि "यत् एकं आसीत तत् महिना तपसः अजायत तुच्छ्येन अपिहितं आ भूः"[227] और उसके अभिव्यक्त होने की सूक्ष्म-गुण वाली इकाई भी बतला दी गई, तब "स्वधया आनीत्" परिभाषित कर दिया गया। 'निघण्टु' में स्वधा, सलिलम्, रेतः, गहनम्, गभीरम्, अमृतम्, अभ्वम्, व्योम, ऋतम् आदि उदक के पर्यायवाची बताये गये हैं[228] तथा आगे सलिलम् को 'बहु' रूप में भी परिभाषित किया गया है।[229] यही 'तपः' को ज्वलतः (ऊर्जा) से नामांकित किया गया है।[230] अब स्पष्ट हो जाता है कि उदक (ओजस्) और उसमें स्थित ऊर्जा से ही उस एक और तुच्छ (सूक्ष्म) गुण वाले मन की सर्वप्रथम उत्पत्ति हुई, और उससे "कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्"[231] हुआ जिससे "तिरश्चीनो

226. ऋग्वेद 10:129:2 के अंश पर हमारा अन्वय

227. ऋग्वेद 10:129:3 के अंश पर हमारा अन्वय, यह "तुच्छेयन अभ्व (म्) पिहितं यत् एकं आसीत तत् महिना तपसः अजायत" भी हो सकता है।

228. निघण्टु 1:12

229. निघण्टु 3:1

230. निघण्टु 1:17

231. ऋग्वेद 10:129:4

विततो रश्मिः" जबकि "स्वधा अवस्तात् प्रयतिः परस्तात्"[232] रही। लगभग यही आशय पुरूरवा-उर्वशी संवाद[233] में निकलता है। इस प्रकार हम यह पाते हैं कि शुद्ध वैज्ञानिक सूक्तों में भी अज्ञानतावश् परमेश्वर का आरोपण कर उसे विकृत कर दिया गया है। परमेश्वर के आरोपण से प्रत्येक समस्या सहजरूप में हल हो जाती है जबकि वैज्ञानिक उपादानों का वेद में छिपा रहस्य जानना अत्यन्त दुस्तर कार्य है।

हमें भाष्यकारों से क्या लेना है और क्या नहीं लेना है, इस बारे में हमें 'मीठा-मीठा गप और कड़ुआ-कड़ुआ थू' की कहावत चरितार्थ करनी चाहिए तथापि यह तो संज्ञान करना ही होगा कि 'कड़ुआ' क्या है और 'मीठा' क्या है, अर्थात् जो अपने विचार के अनुरूप और अनुकूल हो उसे समीक्षापूर्वक ग्रहण कर लें और जो प्रतिकूल हो उसे त्याग दें, किन्तु इसमें भी 'सम्यक् ईक्षण' करते चलें।

232. ऋग्वेद 10:129:5
233. ऋग्वेद 10:95:10

पञ्चम अध्याय

(क) ऋग्वेद दशम मण्डल में स्पष्ट एवं प्रत्यक्ष वैज्ञानिक विवरणों का समीक्षात्मक अध्ययन एवं उद्घाटन।

(ख) वैदिक विज्ञान की प्रवृत्ति, क्षेत्र एवं विषय–वस्तु का समीक्षात्मक अध्ययन एवं उनका प्राचीन दार्शनिक–वैज्ञानिक सन्दर्भों में पुष्टीकरण।

पञ्चम अध्याय

(क) ऋग्वेद दशम मण्डल में स्पष्ट एवं प्रत्यक्ष वैज्ञानिक विवरणों का समीक्षात्मक अध्ययन एवं उद्घाटन :

(1) स्पष्ट तथा प्रत्यक्ष वैज्ञानिक विवरणों के लिये वेद की भाषा-शैली का महत्व :

वेद के सम्बन्ध में धार्मिक विश्वास यह है कि स्तुत्य देवगण परोक्षप्रिय होते हैं, 'परोक्षप्रिय या एव हि देवा भवन्ति', प्रत्यक्षद्विषः;[0] इस कारण ही भाषा अप्रत्यक्ष और अस्पष्ट है, किंवा वह दुरूह, दुर्मेध और दुर्वाच्य है। तथापि इस विश्वास का कोई आधार प्राप्त नहीं होता। एक उगते हुये, विकसित होते हुये विज्ञान में एक ही अवधारणा के लिये भिन्न-भिन्न मनीषियों द्वारा भिन्न-भिन्न पारिभाषिक शब्दावली की सम्भावना से तथा वैज्ञानिक तथ्यों को गोपनीय रखने की नीति से यह भाषिक विषमता उपस्थित हुई है, जिसके प्रमाण वेद से ही मिल जाते हैं। यथा-

सतो नूनं कवयः सं शिशीत वाशीभिर्याभिरमृताय तक्षथ।
विद्वांसः पदा गुह्यानि कर्तन येन देवासो अमृतत्वमानशुः।।[1]

अर्थात् वर्णन करने वालों ने शीघ्र ही वाणियों से यथार्थ सत्यों को सम्यक् पैना किया जिनसे कालजसी स्थिति के लिये रचना की गई; विद्वानों ने मन्त्रों को गोपनीय बनाया जिससे देवों ने अमरता को प्राप्त किया।

ग्राव्णां योगे मन्मनः साध ईमहे।[2]

अर्थात् स्तुतियों या गीतों के योग में विचार को व्यवस्थित करके हम प्राप्त करते हैं।

---

0. गोपथब्राह्मण पूर्वभाग 1:1
1. ऋग्वेद 10:53:10
2. ऋग्वेद 10:35:9

भूरि वक्षेभिर्वचनेभिर्ऋक्वभिः सख्येभिः सख्यानि प्र वोचत्।[3]

अर्थात् कर्मों के द्वारा, वचनों के द्वारा, स्तुतियों या ऋचाओं के द्वारा, समान व्याख्याओं या परिवेशों द्वारा समान वर्णनों को बहुत बार आगे कहा गया है–

पिपर्तु मा तद् ऋतस्य प्रवाचनं देवानां यत् मनुष्या अमन्महि।[4]

अर्थात् उस ऋत की भाषा से मुझको पूर्ण करो जिससे मनुष्यों ने देवों का विचार किया। और अन्ततः –

कश्छन्दसां योगमावेद धीरः को छिष्ण्यां प्रति वाचं पपाद।[5]

अर्थात् कौन मन्त्रों के योग को सम्पूर्णतः जानता है, कौन बुद्धिमान अवधारणा के समान शब्द को प्राप्त करता है?

अब यह स्वीकार करते हुये कि वेद की भाषा अस्पष्ट और अप्रत्यक्ष है, जिसमें प्रतीकात्मकता के साथ-साथ विभिन्न भाषिक विग्रहों का समावेश है। ये परिभाषिक शब्दों और मन्त्रों के साथ इस प्रकार गुंथे हुये है कि स्पष्ट और प्रत्यक्ष वैज्ञानिक विवरण प्राप्त करना प्रायः दुरूह हो जाता है। प्रत्यक्ष और स्पष्ट भाषा के सूक्तों और मन्त्रों की इतनी अल्पता है कि मात्र उनसे कोई समीक्षा या अध्ययन सम्भव नहीं होगा। तब आवश्यकता इस बात की होती है कि शब्दों के ऐसे योग प्राप्त किये जावें जिनसे स्पष्टता और प्रत्यक्षता सम्मुख हो सके। किन्तु, तब प्रतीकात्मकता का निर्गमन किस प्रकार सम्भव होगा? जो सूक्त पूर्णतः प्रतीकात्मक हैं उनकी विवेचना हम अगले अध्याय में करेंगे, परन्तु जिन मन्त्रों में प्रतीकात्मक शब्दावली है उन्हें सरल करने के लिये हम युक्तियों का प्रयोग करेंगे। ऐसी युक्तियों से यास्क ने निरुक्त में हमें परिचित कराया है। उदाहरणस्वरूप नाम प्रतीकों के पर्याय हमें निघण्टु से प्राप्त हो जाते हैं, जहाँ वे नहीं होते हैं वहाँ हम व्याकरण या निरुक्त से उनका निर्वचन करते हुये उन्हें स्पष्ट और प्रत्यक्ष कर सकते हैं। देवताओं, ऋषियों और व्यक्तियों के नामों के निर्वचन यास्क ने दिये है;

---

3. ऋग्वेद 10:113:9
4. ऋग्वेद 10:35:8
5. ऋग्वेद 10:114:9

स्वामी दयानन्द जी ने भी नामों के व्युत्पत्तिपूर्वक अर्थ ही बताये हैं और किसी ऐतिहासिकता होने का विरोध किया है। नाम के पर्यायरूप निघण्टु में भी प्राप्त होते हैं तथा अनेक भाष्यकारों ने भी नामों के व्युत्पत्तिमूलक अर्थ किये हैं। इसके अतिरिक्त अनेक शब्दों को स्वयं वेद ने ही स्पष्ट किया है; अन्य वैदिक ग्रन्थों तथा इतिहास-पुराणों में भी पर्याय या व्युत्पत्तिमूलक अर्थ मिलते हैं। यहाँ हम ऋग्वेद दशम मण्डल में आये व्युत्पत्तिमूलक या अन्य निर्वचनों के प्रमाण संक्षेप में प्रस्तुत कर रहे हैं। सर्वप्रथम इस मण्डल का 154 वां सूक्त का सन्दर्भ हम दे रहे हैं, जिस पूरे सूक्त में निर्वचन दिये गये हैं।

प्रथम मन्त्र में सोम, घृत और मधु को समान बताया गया है, तथा 'एके', 'एकेभ्यः' आदि से कोई यह इंगित करते हैं कोई वह का आशय मिलता है।[6] द्वितीय मन्त्र में तप से ही ज्ञान, दुर्जयता, स्वर्ग और ओजस् की प्राप्ति बताई गई है।[7] तृतीय मन्त्र में उत्पाद-संघर्ष में शरीरों का त्याग करना या अनेकों दक्षिणा देना समान अर्थ वाले हैं।[8] चतुर्थ मन्त्र में जो ऋत का सम्मान करने वाले, ऋत से युक्त, ऋत को बढ़ाने वाले कहे गये हैं, तपते हुये पितरों को विस्तारित करना भी उसी अर्थ में है।[9] पञ्चम मन्त्र में जो सहस्रनाडीपुञ्ज में गतिशील, ऊर्जित करने वाले, सूर्य की रक्षा करने वाले, ऋषियों को बढ़ाने वाले, तपस्या करने वाले, तप से उत्पन्न होने वालों को भी समान अर्थ में प्राप्त करना चाहिये।[10] इसके अतिरिक्त निम्न सन्दर्भ भी विचारणीय हैं :-

भर्गो ह नामोत यस्य देवाः।[11]

अर्थात् दीप्ति वाले देवगण और भर्ग निश्चय जिसका नाम है।

अग्निर्ह नामोत जातवेदाः।।[12]

---

6. सोम एकेभ्यः पवते धृतमेक उपासते।
   येभ्यो मधु प्रधावति ताँश्चिदेवापि गच्छतात्।।
7. तपसा ये अनाघृष्यास्तपसा ये स्वर्ययुः।
   तपो ये चक्रिरे महस्ताँश्चिदेवापि गच्छतात्।।
8. ये युध्यन्ते प्रधनेषु शूरासो तनूव्यजः।
   ये वा सहस्रदक्षिणास्ताँश्चिदेवापि गच्छतात्।।
9. ये चित्पूर्व ऋतसाप ऋतावान ऋतावृधः।
   पितृन्तपस्वतो यम ताँश्चिदेवापि गच्छतात्।।
10. सहस्रनीथाः कवयो ये गोपयन्ति सूर्यम्।
    ऋषीन्तपस्वतो यम तपोजाँ अपि गच्छतात्।।
11. ऋग्वेद 10:61:14
12. ऋग्वेद 10:61:14

अर्थात् उत्पत्ति को जानने वाले और अग्नि निश्चय जिनका नाम है। इस मन्त्र में ये दोनों अर्थ व्युत्पत्तिमूलक है, जैसे देव = √दिव्+अच् और अग्नि = √अङ्ग+नि अर्थात् आकलन करने वाला। ये अर्थ क्रमशः भर्ग और जातवेदा से परिभाषित किये गये हैं।

वाचस्पतिं विश्वकर्माणम्।[13]

अर्थात् विश्वकर्मा वाचस्पति है, किंवा ऊर्जा का स्वामी सब का निर्माणकर्ता। इस प्रकार वाचस्पति और विश्वकर्मा दोनों के लिये कोई अर्थ–विकल्प लिया जा सकता है।

पर एकमाहुः।[14]

अर्थात् 'पर' एक अर्थात् मन को कहा गया है।

उग्रं ते पाजः ननु आ रुरुध्रे वशी वंश नयस एकजत्वम्।[15]

अर्थात् आपका उग्रपोषण से उत्पन्न (बल) किसी भी प्रकार रोका नहीं जा सकता; आप मन से उत्पन्न आधिपत्य करने वाले उत्पत्ति को आगे ले जाते हैं। यहाँ 'मन्यु' शब्द को 'उग्रपाजः' और 'एकजः' से परिभाषित किया गया है।

वि हि सोतोरसृक्षत नेन्द्रं देवममंसत।[16]

अर्थात् वस्तुतः उस आत्मा ने इन्द्र को निर्माण से विशेषतः उत्पन्न किया, दीप्तियों से युक्त नहीं माना। तात्पर्य यह है कि इन्द्र या मन निर्माण (√इन्द्, √मा) से व्युत्पन्न हैं।

वेधा ऋतस्य वीरिणीन्द्रपत्नी महीयते।[17]

---

13. ऋग्वेद 10:81:7
14. ऋग्वेद 10:82:2
15. ऋग्वेद 10:84:3
16. ऋग्वेद 10:86:1
17. ऋग्वेद 10:86:10

अर्थात् वीरिणी इन्द्रपत्नी ऋत की अनुसंधानकर्ती महान् है। ऋत की अनुसंधानकर्त्री का तात्पर्य वाक् से है। निघण्टु में भी शची को वाक् माना गया है।[18]

पर्शुर्ह नाम मानवी साकं ससूव विंशतिम्।
भद्रं भल त्यस्या अभूद्यस्या उदरमामयत्।।[19]

अर्थात् पर्शु वास्तव में मानवी स्थिति वाला नाम है जिसके साथ बीस (दस अन्नादि और दस ओजस्) उत्पन्न हुये हैं। जिसका पेट कच्चा हुआ है (पक्व धातु न बनने वाली स्थिति में) उसका 'भद्र' निरूपण हुआ है। तात्पर्य यह है कि 'भद्र' शब्द धातु निर्माण प्रक्रिया के लिये निरूपित है और 'पर्शु' शब्द धातुओं और ओजस् को निरूपित है।

विश्वमस्तु द्रविणं वाजो अस्मे।[20]

अर्थात् समस्त सम्पत्ति, हमारे लिये जल से उत्पन्न, अन्न हो। तात्पर्य यह है कि धन-सम्पत्ति, अन्न तथा जल से उत्पन्न रश्मि, बल, अन्न आदि सब उत्पाद के पर्याय है।

आप इद्वा उ भेषजीरापो अमीवचातनीः।[21]

अर्थात् जल औषधियां भी है, या यहाँ रोग को डराने वाली कही गई हैं।

पृणक्षि सानसिं क्रतुम्।[22]

अर्थात् उत्पाद वाले यज्ञ को आप पूर्ण करते हैं। तथा **दधासि सानसिं रयिम्।[23]**

---

18. निघण्टु 1:11:49
19. ऋग्वेद 10:86:23
20. ऋग्वेद 10:35:13
21. ऋग्वेद 10:137:6
22. ऋग्वेद 10:140:4
23. ऋग्वेद 10:140:5

अर्थात् उत्पादवाली सम्पत्ति को आप धारण करते हैं। इन उदाहरणों से उत्पाद और उत्पादन प्रक्रिया 'यज्ञ' परिभाषित होती है।

केश्यग्निं केशी विषं केशी बिभर्ति रोदसी।
केशी विश्वं स्वदृशे केशीद् ज्योतिरुच्यते।।[24]

अर्थात् ज्ञान के लिये केशी सम्पूर्ण अध्यात्म, यह ज्योति जो अन्तरिक्ष को भर देती है, अग्नि, जल कहलाता है।

नृचक्षसा एष दिवो मध्य आस्त आ पप्रिवान् रोदसी अन्तरिक्षम्।[25]

अर्थात् यह सूर्य मानुषी स्थितियों के ज्ञान से भरा हुआ आकाश और पृथिवी के बीच अन्तरिक्ष में वर्तमान हुआ। स्पष्ट है कि 'रोदसी के बीच', या इसी प्रकार 'धावापृथिवी के बीच' का अर्थ अन्तरिक्ष होता है।

मायाभिरनवद्य मायिनं श्रवस्यता मनसा।[26]

अर्थात् निर्माणों द्वारा निर्दोष उत्पाद से विस्तृत निर्माण करने वाले मन से। इस प्रकार 'मा' धातु से निर्माण करना या मापन करना अर्थ में 'मन' और 'माया' आदि शब्द बने हैं। यही भाव निम्न मन्त्र में स्पष्ट होता है-

मित्रो वरुणो न मायी पित्वो।[27]

अर्थात् जैसे निर्माणशील मित्र और विकास करने वाला वरुण यह मन्त्र 'मित्र' और 'वरुण' को परिभाषित करता है (और 'पि' धातु से बने शब्द विकास के अर्थ में होते हैं।)[28]

अब एक ही हरीसूक्त में हरी तथा सम्बन्धित शब्दों के अनेक प्रयोग मिलते हैं जिनके अलग-अलग अर्थ लगाना आवश्यक हो जाता है। 'हरि'

---

24. ऋग्वेद 10:136:1
25. ऋग्वेद 10:139:2
26. ऋग्वेद 10:147:2
27. ऋग्वेद 10:147:5
28. ऋग्वेद 10:96

शब्द इन्द्र, उसके घोड़े, वज्र, सूर्य, घोड़ा, ऊर्जा, रश्मियां, दीप्ति, रश्मि, सोम आदि के लिये प्रयुक्त हुआ है। 'हरिवः' रश्मिवान्, 'हरितः' हरीधातु का, 'हरिता' दिशा से, 'हरिणी' दो मार्ग के लिये प्रयुक्त हुये शब्द हैं। 'हृ' या 'हर्य्' धातु से बने अनेक रूपों के अर्थ प्रकाशमान होना, प्राप्त करना, गतिमान होना, ले जाना आदि अर्थों में प्रयोग हुये हैं। इससे इन शब्दों की वेद में स्थिति स्पष्ट होती है।

यो यज्ञस्य प्रसाधनस्तन्तुर्देवेष्वाततः।[29]

अर्थात् जो दीप्तियों में सर्वतः फैला हुआ उत्पादन की प्रक्रिया की प्रकृष्ट व्यवस्था का तानाबाना है। इससे यज्ञ की स्थिति स्पष्ट होती है, जो दीप्तियों से विस्तृत उत्पादन व्यवस्था का तानाबाना है।

वेदों की रचना शैली की दृष्टि से यास्क ने मन्त्रों के तीन प्रकार बतलाये हैं– (1) परोक्ष रूप से सम्बोधित (2) प्रत्यक्ष रूप से सम्बोधित तथा (3) स्वयं को सम्बोधित। इनमें परोक्ष रूप से सम्बोधित मन्त्रों के नामों की सभी विभक्तियों में रचना हुई है, परन्तु क्रिया का केवल प्रथम पुरुष ही प्रयुक्त हुआ है। प्रत्यक्षरूप से सम्बोधित मन्त्रों की रचना मध्यमपुरुष में की गई तथा सर्वनाम के रूप में 'तू' शब्द से संयुक्त है। इसके अतिरिक्त परोक्ष रूप से सम्बोधित मन्त्र अपेक्षाकृत बहुत अधिक हैं; स्वयं को सम्बोधित बहुत कम है। कुछ मन्त्रों में बिना कामना के केवल स्तुति है, कुछ मन्त्रों में बिना किसी स्तुति के केवल कामना है; इसके अलावा कुछ मन्त्रों में शपथ तथा अभिशाप है। कुछ मन्त्रों में किसी विशेष भाव या तथ्य को बतलाने की इच्छा है, कुछ में आशंका है, कुछ में निन्दा या प्रशंसा है। इस प्रकार विभिन्न अभिप्रायों से ऋषियों के मन्त्रों का दर्शन होता है। यास्क ने इन सब के उद्धरण वेद से प्रस्तुत किये हैं।[30]

ऊपर टिप्पणी 1 से 4 तक में भी वेद की शैली पर प्रकाश पड़ता है। वर्णन करने के लिये भाषा को पैना किया गया और मन्त्रों को गोपनीय बनाया गया ताकि रचना कालजयी हो सके, इसी से संदर्भित देवगण अमर हो गये। विचार को स्तुतियों और गीतों में व्यवस्थित रूप से निबद्ध किया गया। विचार को स्तुतियों और गीतों में व्यवस्थित रूप से निबद्ध किया

---

29. ऋग्वेद 10:57:2
30. यास्क : निरुक्त 7:1:3; सम्पादक : लक्ष्मणस्वरूप, हिन्दी भाषान्तर : सत्य भूषण योगी, पृ. 493–95 का सारांश।

गया। इन विचारों को समान वर्णनों में अनेक बार यज्ञ के परिप्रेक्ष्य में, स्तुतियों के परिप्रेक्ष्य में, समान परिवेशों के परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत किया गया तथा एक वैज्ञानिक (ऋत की) भाषा स्थापित करने की चेष्टा की गई। ऋषि, छन्द तथा देवता के माध्यम से भी मन्त्रों की स्थितियाँ स्पष्ट करने के योग बनाये गये तथा महत्वपूर्ण कथनों के लिये ध्रुवपद या आवृत्ति के द्वारा जोर डाला गया। इन सभी स्थितियों की सम्यक् जानकारी विवरणों को स्पष्ट और प्रत्यक्ष करने में आवश्यक होती है।

(2) वेद का परिचय :

प्रायः सभी देशी-विदेशी भाष्यकारों और समीक्षाकारों ने अपनी-अपनी दृष्टि से वेद का परिचय दिया है जो वेद की विषय सामग्री और विवरणों को प्रत्यक्ष और स्पष्ट करने में सहायक होता है। वेद ने स्वयं अपना परिचय ऋग्वेद दशम मण्डल के 114 वें सूक्त में प्रस्तुत किया है, जो सर्वाधिक प्रामाणिक और महत्वपूर्ण है, तथा उसकी विवेचना से वेद के सम्बन्ध की अनेक भ्रान्तियाँ दूर होती हैं तथा अनेक तथ्य प्रकाशित होते हैं। हम यहाँ उसका परिचयात्मक विवरण प्रस्तुत कर रहे हैं।

इस सूक्त के 8 वें मन्त्र में कहा गया है कि-

सहस्रधा पञ्चदशान्युक्था यावद् द्यावापृथिवी तावदित्तत्।[31]

अर्थात् पन्द्रह हजार मन्त्र हैं, जब तक धावापृथिवी है तब तक ये भी हैं।

वेद में पन्द्रह हजार मन्त्र हैं जो कालजयी हैं। ऊपर टिप्पणी 1 में भी मन्त्रों के अमरत्व अर्थात् कालजयी होने की बात कही गई है। वर्तमान में ऋग्वेद में 10589 मन्त्र है; स्वतन्त्ररुप से शेष मन्त्र अन्य तीन वेदों में निहित हैं, जबकि प्रत्येक इन वेदों में ऋग्वेद के मन्त्र भी समाहित है, तथापि पुनरावृत्ति को हटाने पर चारों वेदों में लगभग पन्द्रह हजार मन्त्र ही प्राप्त होते हैं। ऋग्वेद के 10589 मन्त्र, अथर्वेद में 2799 अथर्वण मन्त्र, तथा यजुः संहिताओं में लगभग 40 प्रतिशत मन्त्र जो 1200 से 1800 के बीच हो सकते है; इस प्रकार कुल मन्त्रों की संख्या लगभग 1500 ही

---

31. ऋग्वेद 10:114:8

होती है। सामवेद के सभी मन्त्र ऋग्वेद के माने जाते है, यद्यपि कुछ लोग 75 मन्त्रों को स्वतंत्र भी मानते हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि पन्द्रह हजार मन्त्र होने की बात तब कही गई है जब वेद एक था और उसका विभाजन नहीं किया गया था। भागवत में कहा गया है कि–

व्यदधाद्यज्ञसन्तत्यै वेदमेकं चतुर्विधम्।
ऋग्यजुः सामाथर्वाख्या वेदाश्चत्वार उद्घृता।।[32]

अर्थात् यज्ञों का विस्तार करने के लिये व्यास जी ने एक ही वेद को चार प्रकार से ऋक्,यजुः, साम और अथर्व नामों से उद्घृत किया। इससे विदेशी विद्वानों की इस बात में कोई दम नहीं रह जाता कि सबसे पहले ऋग्वेद, फिर यजुः और साम, तब सबसे अन्त में अथर्वेद बना; साथ ही पुराण की व्यास द्वारा वेद विभाजन की पुष्टि होती है। इसके अतिरिक्त मन्त्रों की संख्या का निर्धारण तभी हो सकता था जब संकलित रूप से वेद एक पुस्तक रूप बन चुका हो, तब उसके श्रुति होने की बात खण्डित हो जाती है, तथा संहितारूप में उसके संकलन होने की बात भी संदेहास्पद हो जाती है। हाँ, पुस्तकरूप होने से पूर्व कभी संकलन हुआ हो तो यह सम्भव हो सकता है; बहरहाल विभिन्न ऋषियों की विभिन्न कालों की ओर विभिन्न देशों की रचनाओं का संकलन पुस्तक रूप वेद में निश्चय ही हुआ है। यह सब तभी सम्भव हो सकता है जब लिपि और लेखन प्रारम्भ हो चुका हो। हम पहले ही बता चुके हैं कि फोनेशिया के गबल क्षेत्र में उत्खनन के तीन स्तरों पर लिपि के सात चिह्नों से प्रारम्भ होकर बारह, फिर पन्द्रह तक प्राप्त हुये हैं और फोनेशियन कुल लिपि चिह्न बाईस पाये जाते हैं। ये पुराणों और वेद में भी सप्तस्वर, इक्कीस श्रवस और बाईस श्रुतियों को प्रमाणित करते हैं तथा लिपि के ऐसे विकास को भी पुष्ट करते हैं। वेद में लेखन तथा लेखन सामग्री के भी प्रमाण मिलते हैं। वेद का पुस्तकरूप होना निस्सन्देह निश्चित हो जाता है। पन्द्रह हजार मन्त्र वेद में बताने से यह मान्यता भी खण्डित हो जाती है कि ब्राह्मण भी वेद का भाग हैं। ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद सभी इन मन्त्रों की संख्या ने वेदवाह्य कर दिये हैं। इस प्रकार हमारा यह विचार भी कि ब्राह्मणादि वेद की व्याख्या की एक विधा हैं ही महत्वपूर्ण हो

32. ऋग्वेद 1:4:19-20

जाता है।

छन्दांसि च दधात आ द्वादशाम्।[33]

छन्दासि च दधतो अध्वरेषु ग्रहान्त्सोमस्य मिमते द्वादश।।[34]

यहाँ दोनों ही स्थानों पर बारह छन्द वेद में होने के प्रमाण मिलते है, और इनसे मात्र सात छन्दों द्वारा वेद रचना की बात खण्डित हो जाती है। वेद में आये हुये बारह छन्द अपने शुद्ध रूप में अर्थात् अतिछन्दस् को हटाकर गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप्, जगती, शक्वरी, घृति, कृति उक्ता और प्रतिष्ठा हैं। ये छन्द श्री रामकिशोर मिश्र की सूची [35] से संशोधित करके प्रस्तुत किये गये हैं।

सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति।[36]

अर्थात् वर्णन करने वाले पुरोहित शब्दों से वर्तमान हुये एक पक्षी की बहुत प्रकार से तुल्यता बतलाते हैं।

एकः सुपर्णः स समुद्रमा विवेश स इदं विश्वं भुवनं विचष्टे।
तं पाकेन मनसापश्यमन्तितस्तं माता रेळ्हि स उ रेळ्हि।।[37]

अर्थात् एक पक्षी है, उसने अन्तरिक्ष में सर्वतः प्रवेश किया है, वह इस समस्त अन्तरिक्षलोक को विशेषतः संज्ञान करता है। उसको पाकक्रिया के मापन द्वारा मैने देखा है। पहले माता (निर्माण करने वाली ऊर्जा) उसको बढ़ाती है, फिर वह (मन या इन्द्र) माता को बढ़ाता है।

ऊपर दोनों मन्त्रों में आया 'एक सुपर्ण' कौन है? ये दोनों मन्त्र ऋग्वेद प्रथम मण्डल के 164 वें सूक्त के मन्त्र संख्या 21 और 46 से सम्मिलित रूप से प्रभावित हैं। ये मन्त्र इस प्रकार हैं–

---

33. ऋग्वेद 10:114:5
34. ऋग्वेद 10:114:6
35. श्री रामकिशोर मिश्रः वेद के विविध छन्द और छन्दोनुशासन ग्रन्थ, कल्याण 73:1:193-196
36. ऋग्वेद 10:114:5
37. ऋग्वेद 10:144:4

यात्रा सुपर्णा अमृतस्य भागमनिमेषं विदथाभिस्वरन्ति।
एना विश्वस्य भुवनस्य गोपाः स मा धीरः पाकमत्रा विवेश।।[38]
इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।।[39]

और स्पष्ट करने के लिये नासदीय सूक्त[40] के प्रथम तीन मन्त्र ध्यान देने होंगे। इस प्रकार हम पाते हैं कि प्रथम उत्पन्न होने वाला सत्तावान् सलिल में निहित ऊर्जा से उत्पन्न मन था जो तुच्छ की अभिव्यक्ति से महानता की अभिव्यक्ति तक उत्पन्न होता गया माप की इकाई मात्र था। इसी के अनेक रूप है; यही शरीरस्थ अन्तःकरण में इन्द्ररूप से विद्यमान होता है। ऊर्जा से उत्पन्न मन ऊर्जा का ही मापन करता है, और यही पाक प्रक्रिया में भी प्रवेश करता है। यह स्थिति आगे और स्पष्ट होगी। अब इस प्रकरण में निम्न भाव का भी समावेश है–

अदितेर्दक्षो अजायत दक्षाद्वदितिः परि।[41]

अर्थात् अदिति से् दक्ष (कर्म) उत्पन्न हुआ, दक्ष से फिर अदिति उत्पन्न हुई। हम जानते हैं कि मन या इन्द्र उभय पक्षी है, कर्म का और ज्ञान का भी नियन्ता है। इस प्रकार ऊर्जा से कर्म होता है, तथा कर्म से पुनः ऊर्जा निर्माण होती है।

सहस्रधा महिमानः सहस्रं यावत् ब्रह्म विष्ठितं तावत् ई वाक्।[42]

अर्थात् हजारों महानताओं (विस्तार) से युक्त 'सहस्र' कहलाते हैं, जबतक अन्न विशेषतः स्थित है तबतक यह वाक् (वाणी या ऊर्जा) स्थित है।

'सहस्र' शब्द की व्युत्पत्ति √सह्+अस्+र, दीप्तियों वाला अर्थ में हैं; निघण्टु में 'सहः' का अर्थ बल बतलाया गया है,[43] तथापि सहस्र का भाव बहुलता में है।[44] सहस्रियाँ हजारों नाड़ियों, हजारों कोषाओं, हजारों अङ्गावयवों,

38. ऋग्वेद 1:164:21
39. ऋग्वेद 1:164:46
40. ऋग्वेद 10:129:1-3
41. ऋग्वेद 10:72:4
42. ऋग्वेद 10:114:8
43. निघण्टु 2:9:17
44. निघण्टु 3:1:10

हजारों लोमों, हजारों छिद्रों आदि की स्थितियां है–

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।[45]

अर्थात् पुरुष बहु शीर्षनाडियों, बहु ज्ञानेन्द्रियों या ज्ञानवाही नाडियों, बहु कर्मेन्द्रियों या कर्मवाही नाडियों से युक्त है।

उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति।[46]

अर्थात् जो अन्न से अतिरोहण करता है वह अमृत (उदक)[47] निश्चय इस पुरुष का स्वामी है। यह भाव भी उपर्युक्त मन्त्र में निहित हैं।

आप्नानं तीर्थं क इह प्र वोचद्येन पथा प्र पिबन्ते सुतस्य।[48]

अर्थात् जिस मार्ग से निचोड़े हुये जल को फिर पीते हैं, प्राप्त होने वाले जलस्थान को इस लोक में 'सुख' (क = जल) बतलाया है।

धर्मा समन्ता त्रिवृतं व्यापतुस्तयोर्जुष्टिं मातरिश्वा जगाम।
दिवस्पयोदिधिषाणा अवेषन्विदुर्देवाः सहसामानमर्कम्।।[49]

अर्थात् समग्र रूप से दोनों (आहवनीय और गार्हपत्य) तापों ने त्रिवृत यज्ञ (हविर्यज्ञ, पाकयज्ञ और सोमयज्ञ) को विशेषतः प्राप्त किया। उनकी दीप्ति को वायु (प्राण) ने प्राप्त किया। दीप्तियाँ जल को धारण करती हुयी सक्रिय हुईं, दीप्तिमानों ने शक्ति या दीप्ति के द्वारा सूर्य के निर्माण को जाना।

ऊर्जो नपात्सहसावन्निति त्वोप स्तुतस्य बदन्ते वृषा वाक्।[50]

अर्थात् जाकर कार्य करने वाली (इति) वर्षाकारक ऊर्जा (वृषावाक्)

---

45. ऋग्वेद 10:90:1
46. ऋग्वेद 10:90:2
47. निघण्टु 1:12:83
48. ऋग्वेद 10:114:7
49. ऋग्वेद 10:114:1
50. ऋग्वेद 10:115:8

दीप्ति द्वारा ऊर्जा प्राप्तकर्त्ता या स्तुत्य अग्नि की न गिरने वाली ऊर्जा को बढ़ाते हुये, उपदेश करते हैं। ये हैं दो प्रकार की ऊर्जायें जिन्हें ज्ञानीजन उपदेश करते हैं।

तिस्रो देष्ट्राय निर्ऋतीरुपासते दीर्घश्रुतो वि हि जानन्ति वह्नयः।
तासां नि चिक्युः कवयो निदानं परेषु या गुह्येषु व्रतेषु।।[51]

अर्थात् तीन अत्यधिक दान देने के लिये स्थावरों के समीप बैंठते हैं, इन्हें दीर्घकाल तक विशेषतः प्रवचन सुनते रहने वाले बहुश्रुत विद्वान निश्चयपूर्वक अग्नि मानते हैं; वर्णन करने वाले विद्वान उनके निश्चय दानों को, जो ऊर्ध्वों में, शरीरगुहावालों में और कर्मों में हैं, निश्चय देखते हैं।

इस मन्त्र की विशेषता यह है कि यास्क आदि ने जहाँ तीन अग्नियों को क्रमशः द्युस्थानीय, अन्तरिक्ष स्थानीय और पृथिवीस्थानीय माना है और इस प्रकार स्थान को महत्व दिया है, वहीं वेद उन्हें प्रक्रियाओं में मानता है। व्रतेषु अर्थात् कर्मों या कर्मप्रक्रिया में गुह्येषु अर्थात् गुहावालों में या शरीरगुहा की पाकज्ञान आदि प्रक्रियाओं में, तथा परेषु अर्थात् ऊर्ध्वों में या ऊर्ध्व में होने वाली ऊर्जा संरक्षण और जैव प्रक्रियाओं में क्रमशः इन अग्नियों ने स्थान बनाया है, जिन्हें निघण्टु[52] ने अग्नि, जातवेदस् और वैश्वानर बताया है।

चतुष्कपर्दा युवतिः सुपेशा घृतप्रतीका वयुनानि वस्ते।
तस्यां सुपर्णा वृषणा नि षेदतुर्यत्र देवा दधिरे भागधेयम्।।[53]

अर्थात् चार कर्मवाली, रूपवाली, घृततुल्य अर्थात् ओजस् वाली और उत्तमा ज्ञानों को धारण करती है। उसमें दो कल्याण रश्मियों की वृष्टि करने वाले (सूर्य और अग्नि) नित्य स्थित हुये हैं, जहाँ दीप्तिमानों (देवों) ने निश्चित भाग को रखा है। इस वर्णन में पक्षी गति की नीचे-ऊपर दिशा को बताने वाले हैं, सभी प्रकार की स्थितियों का ज्ञान वाक् द्वारा होता है, तथा देवगण ऊर्जा या दीप्ति देने वाले हैं, ये शक्तियाँ पूरे जीवन को संचालित करती हैं।

---

51. ऋग्वेद 10:114:2
52. निघण्टु 5:1
53. ऋग्वेद 10:114:3

षट्त्रिंशाँश्च चतुरः कल्पयन्तश्छन्दांसि च दधत आ द्वादशम्।
यज्ञं विभाय कवयः मनीष ऋक् सामाम्यां प्र रथं वर्तयन्ति।।[54]

अर्थात् मनीषी वर्णन करने वाले छत्तीस को (12 आदिव्य, 11 रुद्र, 8 वसु, 2 अश्विनी कुमार, 3 अग्नियाँ, कुल 36) और चार को (चार पुरुष, अधिभूत, अधिदेव, अध्यात्म और विश्व) समानता करते हुये, और बारह में छन्दों (रश्मिपुञ्जों) को धारण करते हुये, अधिभूत और अध्यात्म अर्थात् धावापृथिवी के लिये उत्पादन प्रक्रिया को प्रकाशित करते हुये शरीर को आगे मोड़ते हैं। समानता करने के कारण एक की प्रवृत्ति में अन्य की प्रवृत्ति मानकर, सोमयज्ञ में जो बारह कपाल बारह आदित्यों के सन्दर्भ से रखे जाते हैं, उनमें सभी अङ्गावयवों का धारण मान कर, विश्व-पुरुष की कल्पना से अधिभूत और अध्यात्म द्वारा उन्हें प्रकाशित करते हुये, शरीर को परिवर्तित करते हैं। पुनश्च-

छन्दांसि च दधतो अध्वरेषु ग्रहान्त्सोमस्य मिमते द्वादश।[55]

अर्थात् बारह राशिमपुञ्जो को प्रक्रिया में धारण करते हुये सोम की उपलब्धियों का मापन करते हैं। द्वादश आदित्यों के माध्यम से सोम की उपलब्ध्याँ प्राप्त की जाती हैं।

चतुर्दशान्ये महिमानो अस्य तं धीरा वाचा प्र णयन्ति सप्त।[56]

अर्थात् इस प्रक्रिया की चौदह अन्य विकासवान् स्थितियां हैं; बुद्धिमान् जन उसको वाणी से आगे सात में निर्देश करते हैं। उत्पादन प्रक्रिया में सात रसादि धातुओं और उनसे प्राप्त सात ओजस्, ये चौदह स्थितियाँ हैं, किन्तु विद्वान इन्हें सात ही बतलाते हैं।

कमृत्विजामष्टमं शूरमाहुर्हरी इन्द्रस्य निचिकाय कः स्वित्।[57]

---

54. ऋग्वेद 10:114:6
55. ऋग्वेद 10:114:5
56. ऋग्वेद 10:114:7
57. ऋग्वेद 10:114:9

अर्थात् जल (ऋत) से उत्पन्न होने वालों में ओजस (का) को आठवाँ वीर्यवान् कहते हैं ? किसने सम्भवतः इन्द्र के दो अश्वों को निश्चित ध्यान से देखा है ? यहाँ जो प्रश्न है उस का उत्तर तो आगे ही दे दिया गया है।

भूम्या अन्तं पर्येके चरन्ति रथस्य धूर्षु युक्तासो अस्थुः।
श्रमस्य दायं विभजन्त्येभ्यो यदा यमोभवति हर्म्ये हितः।।[58]

अर्थात् कोई दो शरीर की चतुर्दिक् सीमा में वर्तमान हुये। शरीर रूपी रथ के जुओं में जुते हुये अनेक विचरते हैं। जब विस्तार करने वाला घर में स्थित होता है, तब इनसे श्रम के देने योग्य वितरण किया जाता है। ये दो तो अश्विनीकुमार हैं जो शरीर की चतुर्दिक् सीमा संवत्सर में वर्तमान रहते हैं, ये ही इन्द्र के दो घोड़े हैं। शरीर रथ में जूड़े हुये अनेक विश्वेदेवता हैं। धातुस्थानों में प्रयत्न योग्य विभाजन होता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस सूक्त में वेद का और उसकी विषयवस्तु का संक्षेप में वर्णन कर दिया गया है। वेद में पन्द्रह हजार मन्त्र बारह छन्दों में रचे गये हैं। मन्त्रों के योग को सम्पूर्णतः जानना और अवधारणा के अनुरूप शब्द को पकड़ना बुद्धिमान् के ही अनुकूल है, सामान्य जन के नहीं। मन्त्र कालजयी हैं। अन्न की विशेष स्थिति में ही ऊर्जा निहित रहती है। 'सहस्र' और 'सुख' की परिभाषा बताई गई है। ऊर्जा से उत्पन्न होने वाला कर्म पुनः ऊर्जा को ही उत्पन्न करता है। ऊर्जा ही अनेक रूपों में उपस्थित होती है। तीन अग्नियों सहित छत्तीस देवताओं की गणना, चार पुरुषों की गणना तथा शरीर में इनके कार्य, चौदह शरीर विकास की स्थितियां, इन्द्र के दो अश्व और शरीररथ में जुते विश्वेदेवता, निर्माण की प्रक्रिया में प्राप्त स्थितियों के विभाजन आदि। यज्ञ की अवधारणा, त्रिवृत् यज्ञ और दो प्रकार की अग्नि के कार्य, तीन अग्नियों के कार्य, वायु द्वारा दीप्ति की प्राप्ति, जलों का दीप्तियों द्वारा धारण, दीप्तियों द्वारा सूर्य का निर्माण चार प्रकार की वाक्, आदि विषय वेद को अभीष्ट हैं।

(३) वेद के वैज्ञानिक आधार :

वेद की वैज्ञानिकता जिन आधारों पर निर्भर थी, उनकी एक संक्षिप्त

58. ऋग्वेद 10:114:10

रूपरेखा ऋग्वेद दशम मण्डल में उपलब्ध होती है। इसमें सबसे पहले हमारा ध्यान इकहत्तरवें वाणी सूक्त पर जाता है। यास्क ने इस सूक्त के आधार पर वैदिक ज्ञान की विशद विवेचना की है, तथा अन्य सन्दर्भ भी खोजे हैं। ज्ञान प्रक्रिया की दृष्टि से विवेचना ओर उद्‌घाटन के लिये फिर भी इस सूक्त में बहुत सामग्री शेष है। इसलिये हम इस सूक्त के प्रत्येक मन्त्र को उद्‌धृत करते हुये उसकी समीक्षा प्रस्तुत कर रहे हैं।

बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत्प्रैरत नामधेयं दधानाः।
यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत्प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः।।[59]

अर्थात् जिन नाम को धारण करने योग्य प्रथम वाणियों को प्रयत्नों के स्वामी (बृहस्पति) ने धारण करते हुये प्रकृष्टतः आगे बढ़ाया, जो इन वाणियों का श्रेष्ठ, जो संघर्षरत प्रेरणारूप था, वह इनकी शरीरगुहा में स्पष्टतः निहित था।

तात्पर्य यह है कि वाणियों का बीज या मूल शरीर गुहा में ही धारित था, वह संघर्षरत प्रेरणा रूप था, जिसे पकड़ कर प्रयत्नों के स्वामी बृहस्पति् अर्थात् चेष्टागत क्रिया पर अधिकार रखने वाले ऊर्जातत्व ने प्रकृष्ट रूप से आगे बढ़ाया।

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि।।[60]

अर्थात् जहाँ बुद्धिमान जन वाणी को मन रूपी चलनी से सत्तू की भांति परिष्कृत करते हैं, वहाँ समान परिवेश वाले, जिनकी वाणी में अपक्व लक्षण (भद्रलक्ष्मी)[61] विशेषतः निहित है, समान परिवेशों को जानेंगे।

यहाँ 'मन' का अर्थ 'मा' धातु से मापन की इकाई के रूप में है, इस कारण ही इसे चलनी की उपमा दी गई है, और 'सक्तु' का अर्थ मिला हुआ या मिश्रित है ऐसे विचार को, जो निश्चित अपक्व लक्षण वाला है, परिष्कृत करने की आवश्यकता होती है, तभी बुद्धिमानों के समान परिवेश

---

59. ऋग्वेद 10:71:1
60. ऋग्वेद 10:71:2
61. ऊपर टिप्पणी 19 के मन्त्र की व्याख्या में 'भद्र' का निर्वचन देखे।
62. ऋग्वेद 10:71:3

को प्राप्त कर सकते हैं।

यज्ञेन वाचः पदवीयमायन्तामन्व विन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम्।
तामाभृत्या व्यदधुः पुरुत्रा तां सप्त रेभा अभि सं नवन्ते।।[62]

अर्थात् वाणियों ने उत्पादन प्रक्रिया (यज्ञ) द्वारा प्रतिष्ठा या स्थान को प्राप्त किया, फिर रश्मियों (ऋषिषु) में प्रविष्ट हुई ऊर्जा को प्राप्त किया। विपुल स्थान वालों ने (ऊर्ध्वों ने) उस वाणी को सर्वतः पूर्ण करके सब ओर से विशेषतः धारण किया। सप्तस्वर उस वाणी को सम्मुख सम्यक् स्तुति करते हैं। अर्थात्, सप्तस्वरों की भाषा उसका परिणाम है।

ऊपर के दोनों मन्त्रों के सार को ग्रहण करते हुये इस तीसरे मन्त्र में यह स्पष्ट किया गया है कि उत्पादन प्रक्रिया का आश्रय लेते हुये वाणियों (वाक्) ने उदक रश्मियों में स्थित ऊर्जा[63] को ग्रहण किया, फिर ऊर्ध्व मस्तिष्क में स्थित मानसिक स्थितियों से उन्हें पूर्ण करके सर्वतः और विशेषतः धारण किया गया, जो सप्तस्वरों वाली भाषा में प्रत्यक्षतः स्पष्ट होती है।

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं वि सस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः।।[64]

अर्थात्, और वाणी को कोई व्यक्ति देखते हुये भी नहीं देख पाता है, और इसको कोई व्यक्ति सुनते हुये भी नहीं सुन पाता है। और भी, इस पति के लिये प्रेम से युक्त हुयी, सुन्दर वस्त्रों को धारण करने वाली पत्नी की भाँति, शरीर को विशिष्ट रूप से समर्पित कर देती है।

यहाँ दृष्टि की बात है, देखने और सुनने की नहीं, जिसमें दृष्टि है वही संज्ञान कर पाता है, देखने सुनने वाले तो अनेक होते हैं। दृष्टि वाला ही विद्यावान होता है, तब विद्या उसे सम्पूर्णतः समर्पित होकर पत्नी की भाँति आनन्द देती है।

उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुर्नैनं हिन्वंत्यपि वाजिनेषु।
अधन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम्।।[65]

63. देखें यास्क निरुक्त 10:26, ''ऋषीणानि ज्योतींषि, `तेभ्यः पर आदित्यः, ताज्येतरस्मिन्नेक भवन्ति।''
64. ऋग्वेद 10:71:4
65. ऋग्वेद 10:71:5

अर्थात्, और किसी को समान परिवेश के लिये स्थिर-विकसित कहा गया है, जिसको संघर्षों में भी प्रेरित नहीं किया जा सकता। यह व्यक्ति ऊर्जाविहीन निर्मात्री द्वारा फलपुष्परहित वाणी को सुनता हुआ विचरता है।

कुछ लोग ऐसे होते हैं कि उन्हें चाहे जितना प्रेरित किया जाये फिर भी ज्ञान के परिवेश में उन्हें नहीं लाया जा सकता इनमें मौलिकता के अभाव वाली वाणी ही निर्मित होती है।

यस्तित्याज सचिविदं सखायं न तस्य वाच्यपि भागो अस्ति।
यदीं शृणोत्यलकं शृणोति नहि प्रवेद सुकृतस्य पन्थाम्।।[66]

अर्थात्, जो वाणी को जानने वाले मित्र को या समान परिवेश को त्याग देता है, उसका वाणी में ऐश्वर्य या अंश भी नहीं रह जाता है। इस वाणी को जैसा सुनता है निरर्थक सुनता है, ओर निश्चित ही अच्छे कर्मो के मार्ग को नहीं समझता है।

स्पष्ट है, कि विद्या के लिये विद्वानों का सम्पर्क भी आवश्यक है, अन्यथा सब पढ़ना-लिखना-सुनना-जानना निरर्थक होता है, और सही दिशा प्राप्त नहीं हो पाती।

अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेष्वसमा बभूवुः।
आदघ्नास उपकक्षास उ त्वे ह्रदा इव स्नात्वा उ त्वे उदृश्रे।।[67]

अर्थात्, नेत्रवाले कानवाले मित्रगण या समान परिवेश वाले भी मन की गतियों में या विचारों में समान नहीं हो सकते है, जिस प्रकार वे अनेक जलाशय जो स्नान करते हुये मुख के समीप तक या कमर के समीप तक पहुँचते है, और वे अनेक जो मात्र दर्शनीय होते हैं।

समान परिवेश के विद्वान भी सब दृष्टि में समान नहीं होते, कुछ अवगाह्य ओर कुछ मात्र दिखावटी होते हैं।

---

66. ऋग्वेद 10:71:6
67. ऋग्वेद 10:71:7

हृदा तुष्टेष मनसो जवेषु यद् ब्राह्मणो संयजन्ते सखायः।
अत्राह त्वं वि जहुर्वेद्याभिरोह ब्राह्मणों वि चरन्त्यु त्वे।।
इमे ये नार्वाङ् न परश्चरन्ति न ब्राह्मणासो न सुतेकरासः।
त एते वाचमभिपद्य पापया सिरीस्तन्त्रं तन्वते अप्रजज्ञयः।[68]

अर्थात् हृदय में निष्पादित मन के वेगों या विचारों में, जिसे समान परिवेश वाले मित्र उत्पाद के जानने वाले ज्ञान से सम्यक् प्रेरित करते हैं, निश्चय ही यहाँ बताने योग्य किसी व्यक्ति को विशेषरूप से छोड़ दिया गया है और अब दूसरे अनेक प्रमुख व्यक्ति प्रकटतः ऊँचे उठे हुये विशिष्ट आगे बढ़ते हैं। ये जो लोग न तो समीप और न दूर, न ज्ञानीजनों और न एक साथ उत्पादन करने वालों के साथ, चलते है, वे ऐसे सब ज्ञान को न बढ़ाने वाले पाप के द्वारा वाणी को गिराकर वाग्जाल फैलाते हैं।

सर्वे नन्दन्ति यशसागतेन सभासाहेन सख्या सखायः।
किल्विषस्पृत्पितुषणिह्यैऽषामरं हितो भवति वाजिनाय।।[69]

अर्थात् सभी समान ज्ञानविचार वाले मित्र यश से पूर्ण होकर सभा में प्रमुखता प्राप्त करके समान ख्याति से आनन्दित होते हैं। पराक्रमी के लिये बुराई से दूर होकर निश्चय ही इनका अतीव हित होता है।

उपर्युक्त तीनों मन्त्रों में सामूहिक उत्पादन की भावना निहित है, यह वैदिक काल की सामाजिक विशेषता है। ज्ञातव्य है कि ऋग्वेद काल में सामाजिक–राजनैतिक विकास का तीसरा स्तर जन का था, इसके पूर्व समूह या ग्राम, तथा कुल के दो स्तर बीत चुके थे। यद्यपि व्यक्तिगत सम्पत्ति का काल आ चुका था, तथापि आदिम साम्यवाद की भावनायें पूर्णतया नष्ट नहीं हुई थीं, और सामूहिक उत्पादन और वितरण लगभग यथावत था। ये मन्त्र उसी मूलभावना के प्रतीक हैं। इसमें उत्पादन की प्रक्रिया से किसी एक व्यक्ति को भी हटाना पाप है। जो एक साथ नहीं चलते हैं वे ज्ञान का अपचयन करने वाले तथा बुद्धिजाल फैलाने वाले माने गये हैं। इस बुराई से दूर रहकर सामूहिक रूप से ख्याति प्राप्त करने वाले आनन्दित होते हैं।

---

68. ऋग्वेद 10:71:8-9
69. ऋग्वेद 10:71:10

ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान्गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु।
ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रां विमिमीत उ त्वः।।[70]

अर्थात् कोई ऋचा (रचना) की पुष्टि के लिये स्थित होता है, कोई ऋचाओं में पोषण करता हुआ पाठन का निरूपण करता है। उत्पादन में पूर्ण कोई उत्पत्ति विद्या को बतलाता है, और कोई उत्पाद के मूल्य को विशेषतः मापता है अर्थात् मूल्यांकन करता है।

इस मन्त्र में ज्ञान योग्य रचना के निर्माण की तत्कालीन प्रक्रिया को बतलाया गया है। ऐसी रचना चार स्तरों से गुजरती थी। यह सब विद्वत् सभा में होता था। प्रथमतः रचना को होता के पास जमा करना पड़ता था, जो रचना में पूर्णता लाता था, अर्थात् रचना की कमियों को पूरा करके एक निश्चित प्रारूप में उपस्थित करता था। दूसरा उद्गाता रचनाओं को शुद्ध और पूर्ण करता हुआ पाठन का निरूपण करता था। तीसरा उत्पादन में पूर्ण ब्रह्मा उत्पत्ति विद्या के अनुसार रचना का विवेचन करता था, और चौथा अध्वर्यु या अध्ययनकर्ता रचना था उत्पाद का मूल्यांकन करता था। वैज्ञानिक प्रणाली की भी यही चार स्तरीय विधि थी, जिसे हम आगे यथास्थान विवेचित करेंगे।

इस वाणी सूक्त में मन्त्र 1-3 तक ज्ञान की प्रक्रिया को समझाया गया है। चौथे मन्त्र में ज्ञान के लिये दृष्टि की अनिवार्यता बताई गई है। पाँचवें मन्त्र में अज्ञानी की स्थिति का वर्णन किया गया है। छठे मन्त्र में ज्ञान के लिये विद्वत् सम्पर्क पर जोर डाला गया है। सातवें मन्त्र में विद्यार्थी को विद्वानों के दो रूप बताकर आगाह किया गया है; एक रूप अवगाह्य अर्थात् निष्णात् का जो स्नान करने योग्य जलाशय की भाँति और दूसरा रूप मात्र दिखावटी है। आठवें और नवें मन्त्र में ज्ञान प्राप्ति में सामूहिकता का महत्व बताया गया है, किसी एक को प्रक्रिया से हटाना पाप है; असामूहिकता से ज्ञान का अपचय होता है और ऐसे लोग मात्र वाग्जाल फैलाते हैं। दसमें मन्त्र में सामूहिक ज्ञान प्राप्ति से यश और सभा में प्रमुखता प्रप्ति तथा असामूहिकता की बुराई से दूर अतीव हित प्राप्त कर ज्ञानी समान ख्याति से आनन्द प्राप्त करता है, ऐसा बताया गया है। अन्तिम मन्त्र में ज्ञान की चार स्तरीय प्रणाली का वर्णन किया गया है, जिससे रचना का परिष्कार होकर विद्वत् समाज में उसे स्वीकृत किया जाता था। अब, ऋग्वेद दशम मण्डल के कुछ अन्य स्थानों से ज्ञान सम्बन्धी निदेशों

---
70. ऋग्वेद 10:71:11

पर हम प्रकाश डालेंगे।

चक्षुर्नो धेहि चक्षुषे चक्षुर्विख्यै तनूभ्यः।
सं चेदं वि च पश्येम।।[71]

अर्थात् हमकों ज्ञान के लिये दृष्टि रखिये, तुच्छ आकारों की व्याख्या के लिये दृष्टि रखिये। और इस लोक को हम सम्यक् देखें और विभिन्न प्रकार से देखें।

यहाँ सूर्य से दृष्टि की प्रार्थना की गई है, वे चक्षु के देवता और बुद्धियों को प्रेरित करने वाले माने जाते हैं।

अयमस्मासु काव्य ऋभुर्वज्रो दास्वते।
अयं बिभर्त्यूर्ध्वकृशनं मदमृभुर्न कृत्व्यंमदम्।।[72]

अर्थात् यह ज्ञान देने वाले के हेतु हममें प्राप्त हुआ बज्र है, जैसे जाने वाली ऊर्जा (ऋभु) या सूर्यरश्मि आनन्द को या सोम को बनाया करती है, यह ज्ञान ऊर्ध्व में प्रकाशयुक्त आनन्द को धारण करता है।

यहाँ ज्ञान की महत्ता बताई गई है जो आयुध भी है और आनन्द देने वाला भी है।

पिपर्तु मा तद् ऋतस्य प्रवाचनं देवानां यत्मनुष्या अमन्महि।[73]

प्रार्थना है कि उस ऋत की भाषा से मुझको पूर्ण करो जिससे मनुष्यों ने देवों का विचार किया। यह भाषा वही है जिसे–

सतो नूनं कवयः सं शिशीत वाशीभिर्याभिरमृताय तक्षथ।
विद्वांसः पदा गुह्यानि कर्तन येन देवासो अमृतत्वमानशुः।।[74]

वर्णन करने वालों ने शीघ्र ही वाणियों से यथार्थ सत्यों को सम्यक्

71. ऋग्वेद 10:158:4
72. ऋग्वेद 10:144:2
73. ऋग्वेद 10:35:8
74. ऋग्वेद 10:53:10

पैना किया जिनके द्वारा कालजयी स्थिति के लिये रचना की गई। विद्वानों ने मन्त्रों को गोपनीय बनाया जिससे देवों ने अमरता को प्राप्त किया।

ऋतेन राजन्ननृतं विविञ्चन्मम राष्ट्रस्याधिपत्यमेंहि।[75]

प्रार्थना की गई है कि ऋत के द्वारा प्रकाशित हों और अनृत का विवेचन करें और मेरे राष्ट्र के अधिपति हों। ऋत यथार्थ सत्य है। इसके शाब्दिक अर्थ 'गत' या 'प्राप्त' है, किन्तु प्रायः इसे सत्य के समतुल्य माना गया है। वेदज्ञों ने इसे प्राकृतिक नियम माना है। किन्तु, सब प्रकार से विचार करने पर यह त्रुटि रहित यथार्थ प्राप्ति या ज्ञान है जबकि इनृत त्रुटिपूर्ण तथा झूठा है; इस प्रकार इस 'ऋत' शब्द का प्रयोग ऋषियों ने 'साइंस' या 'विज्ञान' के निमित्त किया हो, ऐसा अनुमान होता है। आगे स्थिति और स्पष्ट होगी।

मक्षूकनायाः सख्यं नवग्वा ऋत वदन्त ऋतयुक्तिमग्मन्।
द्विवर्हसो य उप गोपमागुरदक्षिणासो अच्युता दुदुक्षन्।।[76]

अर्थात् अब नवीन गतियों वालों ने विज्ञान को बतलाते हुये क्षिप्र प्राप्त करने वाली प्रकाशवती (वाक्) के समान परिवेश में विज्ञान की विधि को प्राप्त किया। जो दोनों ओर (कर्म और ज्ञान) देने वाले वाक् के संरक्षक के पास आये तो उन्होंने कर्ममार्ग में न जाने वाली, न चूने वाली को दुहा।

यहाँ महत्व की बात यह है कि नवीन ऋषियों (नवग्वाः) ने विज्ञान और वैज्ञानिक विधि को बतलाया जो क्षिप्र प्राप्त करने वाली प्रकाशवती वाक् के समान परिवेश वाली थी।

तथापि कर्ममार्ग में न जाने वाली और न चूने वाली वाक् का दोहन किया गया, अर्थात् यह विशेषतः बौद्धिक कार्य था। यह सब कैसे किया गया, देखिये–

सहस्तोमाः सहछन्दस आवृतः सहप्रमा ऋषयः सप्त दैव्याः।
पूर्वेषां पन्थामनुदृश्य धीरा अन्वालेभिरे रथ्यो न रश्मीन्।।[77]

75. ऋग्वेद 10:124:5
76. ऋग्वेद 10:61:10
77. ऋग्वेद 10:130:7

अर्थात् सात प्रकाशमान् ऋषिगण वेधनी शक्ति और शुद्ध बोध वाले मन्त्रों के साथ सर्वतः मुड़े। जैसे लगामों के अनुसार रथ में जुता घोड़ा चलता है, उन बुद्धिमानों ने पूर्व ऋषियों के मार्ग को फिर से देखकर फिर उसका लाभ उठाया।

नवीन ऋषियों ने पूर्व ऋषियों के मार्ग का फिर से निरीक्षण किया; ये नवीन ऋषि कौन थे? निस्सन्देह ये सात वंशों वाले ऋग्वेदीय ऋषि थे जिन को द्वितीय से अष्टम मण्डलों का द्रष्टा ऋषि माना जाता है, अर्थात्– गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, आत्रेय, भरद्वाज, वासिष्ठ और कण्व; इन्हीं के वंशज, शिष्य और प्रशिष्य सम्पूर्ण ऋग्वेदीय सूक्तों के रचयिता हैं। ये ज्ञान से प्रकाशमान् अपनी वेधनी शक्ति (छन्दस्) और शुद्ध बोध (प्रभा) के साथ मुड़े अर्थात् ऋतयुक्तियों के साथ परिवर्तित हुये।

कासीत्प्रमा प्रतिमा किं निदानमाज्यं,
किमासीत्परिधिः क आसीत।
छन्दः किमासीत्प्रउगं किमुक्थं,
यद्देवा देवमयजन्त विश्वे।।[78]

अर्थात् शुद्धबोध कौन था (प्रमा)? सादृश्य (प्रतिमा) क्या था ? निदान और परिणाम क्या था? विस्तार कौन था? छन्द (वेधन) क्या था? अब आगे प्राप्त हुये मन्त्र क्या थे कि समस्त देने वालों ने पहले देने वाले का सम्मान किया?

प्रमा शुद्धबोध या यथार्थ अनुभव को कहते हैं, प्रतिमा यथार्थ अनुभव का प्रतिबिम्ब है। इनका आधार 'निदानमाज्यं' अर्थात् कारण और परिणाम है। कारण से कार्य की ओर पूर्ववत् कहलाता है, और कार्य से कारण की ओर शेषवत् कहलाता है, ये अनुमान प्रमाण के अङ्ग है। उस अत्यन्त प्राचीन ऋग्वेद काल में शायद इन्हें ही प्रमा और प्रतिमा कहा गया हो। अथवा, यह भी हो सकता है कि आगे मापन के बोध से प्रमा तथा विपरीत मापन के बोध से प्रतिमा का भाव हो, इन्हें आधुनिक विज्ञान में क्रमशः प्रोजेक्टिव और एक्सपोस्ट फैक्टो अध्ययन कहा जाता है। अब, परिधि या विस्तार सीमा निश्चित करने वाला है, जिसके भीतर ही अध्ययन सम्भव है। छन्द को छेदन–भेदन या वेधन से सम्बन्धित माना जा सकता है। आगे प्राप्त हुये मन्त्र

---

78. ऋग्वेद 10:130:3

क्या थे; इस पर कुछ प्रकाश डाला जा चुका है। आगे हम क्रमवार इन समस्याओं के समाधान के लिये वेद से प्रमाण प्रस्तुत कर रहे हैं।

पश्वा यत्पश्चा वियुता बुधन्तेति ब्रवीति वक्तरी रराणः।[79]

अर्थात् प्रेक्षणकर्ता जिन परिणाम रूप बोधों को वाणियों को देता हुआ प्राप्ति को बतलाता है।

यह प्रमा की स्थिति है, जहाँ प्रेक्षण होना, फिर परिणाम रूप बोधों को वाणी प्रदान करना, और तब उन्हें बतलाना। इसमें प्रमेय, प्रमाता और प्रमाण का समावेश हो जाता है।

पशुं न नष्टं पदैरनुग्मन्।[80]

अर्थात् जेसे खोये हुये पशु को पदचिह्नों द्वारा अनुसरण करके प्राप्त करते हैं।

अनुष्टुभं अनुचर्चूर्यमाणं इन्द्रं नि चिक्युः कवयः मनीषा।[81]

अर्थात् वर्णन करने वाले विद्वानों ने अपनी विचारणा शक्ति से वाक् या ऊर्जा के पीछे चलते हुये मन को निश्चय ध्यान से देखा।

उपर्युक्त दोनों मन्त्रांश प्रतिमा के उदाहरण हैं, जो भी प्रेक्षण और बोध की एक विधि है।

न हि स्थूर्यृतुथा यातमस्ति नोत श्रवो विविदे सङ्गमेषु।।[82]

अर्थात् निश्चय ही विशाल ढेर को ऋत या नियम के अनुसार प्राप्त नहीं किया जा सकता या गति नहीं होती। और सभाओं में अक्षरज्ञान नहीं प्राप्त किया जा सकता है।

ये परिधि के उदाहरण हैं। प्रत्येक कार्य की एक परिस्थिति होती है

---

79. ऋग्वेद 10:61:12
80. ऋग्वेद 10:46:2
81. ऋग्वेद 10:124:9
82. ऋग्वेद 10:131:3

जिसमें ही वह सम्पन्न होता है, अन्यथा नहीं होता अथवा, परिधि से 'यूनिवर्स' का मन्तव्य भी हो सकता है; तब ढेर या राशि को ऋत के अनुसार नहीं चलाया जा सकता, इस वक्तव्य में अंश, नमूने, या चुने हुये भाग पर ही युक्ति का प्रयोग करने पर जोर डाला गया है। उत्तरपद में यह परिस्थिति ही है कि सभा में अक्षरज्ञान नहीं कराया जा सकता, अक्षरज्ञान के लिये व्यक्तिगत स्थिति ही अनुकूल है। इस प्रकार इकाई की उपयोगिता दर्शायी गई है।

एको बहुनामसि मन्यु वीळितो विशं विशं युधये सं शिशाधि।[83]

अर्थात् हे मन्यो ! तुम बहुतों में इकाई हो, संघर्ष के लिये प्रेरित होकर प्रत्येक रेशे (अंश) को साथ-साथ पैना कीजिये या ध्यान दीजिये।

समानां मास आकृतिः।।[84]

अर्थात् पैमाना समान मापों की निर्मिति है।

समौचिद्धस्तौ न समं विविष्ट सम्मातरा चिन्न समं दुहाते।
यमयोश्चिन्न समावीर्याणि ज्ञाती चित्सन्तौ न समं पृणीतः।।[85]

अर्थात् दो समान हाथ भी समान रूप से विशेष सक्रिय नहीं होते, समान निर्माण करने वाली से भी समान दोहन नहीं होता, जुड़वां होने वाले भी बल में समान नहीं होते, दो जानने वाले भी समान रूप से पूर्ति करने वाले नहीं होते। इस प्रकार अन्तराल पैमाना 'इण्टरवल स्केल' के विभिन्न विन्दुओं पर समानता में सन्देह सम्भावित हो सकता है।

'छन्द' की परिभाषा छेदन-भेदन या फिर वेधन से करने पर 'बहु' को इकाइयों में बांटने की आवश्यकता होती है, और प्रत्येक रेशे या अंश को समान रूप से प्रेरित करते हुये एक साथ निष्पादन किया जाता है। समान इकाइयों के आधार पर पैमाना बनाया जाता है किन्तु यह ध्यान रखना चाहिये कि अनेक परिस्थितियों में समान दिखने वाली इकाइयाँ भी वास्तव

83. ऋग्वेद 10:84:4
84. ऋग्वेद 10:85:5
85. ऋग्वेद 10:117:9

में समान नहीं होतीं।

**सहस्व मन्यो अभिमातिमस्मे रुजन्मृणन्प्रमृणन् प्रेहि शत्रून्।
उग्रं ते पाजो नन्वा रुरुध्रे वशी वशं नयस एकज त्वम्।।[86]**

अर्थात् हे मन्यो! हमारे लिये प्रत्यक्ष ज्ञान को दृढ़ कीजिये। काटने लायक को (√ऽशद्+क्रुन्) टुकड़े-टुकड़े करते हुये, रेशे (मृण) बनाते हुये, और उनके भी रेशे बनाते हुये प्राप्त कीजिये, या आगे बढ़िये। आप इकाई को वश में करके उत्पत्ति को आगे ले जाते हैं, आपका रक्षा करने का सामर्थ्य उग्र है जो किसी भी तरह रोका नहीं जा सकता। प्रत्यक्ष ज्ञान (अध्ययन) के लिये इकाई में बाँटना, फिर उनको भी छोटे-छोटे अंशों में तथा अति छोटे-छोटे अंशों में बाँटना स्ट्रैटीफाइड सॉम्पलिंग और एरिया सॉम्पलिग की याद दिलाता है, इसे अटामिस्टिक या मालिक्यूलर अप्रोच भी कह सकते हैं। इकाई को वश में करना आधुनिक विज्ञान विधि में 'कंट्रोल' की भावना को बताने वाला है।

त्वष्टा शन्तमा देवपानानि पात्रा बिभ्रत् माया अपसां अपस्तमः वेत्।।[87]

अर्थात् तराशनेवाले (वैज्ञानिक) ने सर्वाधिक कुशलता या उपचार से रक्षा किये हुये प्राप्त पात्रों (अंशों) को पकड़ते हुये मापन के द्वारा अशुद्धों में अशुद्धतम को जाना।

अंशों को उपचार (ट्रीटमेन्ट) तथा फिर मापन (मेजरमेन्ट) करते हुये, अशुद्धियों को जानते हुये अशुद्धतम का निर्णय करना, आधुनिक प्रयोग विधि के समतुल्य है।

वि चष्टे सरूपेण ज्योतिषा वि व्रतेन।[88]

अर्थात् विशेष नियमों द्वारा समानरूप की ज्योति से विशेषतः देखते हैं या ज्ञान प्राप्त करते हैं।

समान रूपों की ज्योति से प्रेक्षण करना ट्रीटमेन्ट में कन्ट्रोल और चरों

86. ऋग्वेद 10:84:3
87. ऋग्वेद 10:53:9
88. ऋग्वेद 10:55:3

(वैरियेबुल) में समानता के विचार पुष्ट करता है। तुलनात्मक विधि में भी समान प्रारूपों का प्रयोग होता है।

ऋतस्य पथा नमसा मियेधो देवेभ्यो देवतमः सुषूदत्।[89]

अर्थात् दीप्तियों (ज्ञानों) के लिये सर्वाधिक देने वाले ने ऋत के मार्गों को वाक् (ज्ञान) द्वारा मापने-परखने के हेतु से क्रमबद्ध किया।

संपश्यन्पङ्क्तीरुपतिष्ठमानः।[90]

अर्थात् क्रमों को साथ-साथ देखता हुआ समीप में स्थित हो जाता है। वैज्ञानिक विधि के अनुसार अध्येयों को क्रमबद्ध करते हुये उन्हें मापना-परखना या साथ-साथ प्रेक्षण करना एक ओर क्रमिक-पैमाने (ऑरडिनल स्केल) का बोध कराता है तो दूसरी ओर प्राथमिकताक्रम और वर्गीकरण का संकेत देता है।

श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि।[91]

अर्थात् मूर्धा (शीर्ष) में वाक् या बुद्धि के द्वारा आश्रय या विभाग के विकास के अवधारण को हम ज्ञात करते हैं।

विकास का प्रेक्षण भी किया जाता था। ऊपर जो क्रमबद्ध करने की बात कही गई है वह भी विकासात्मक अध्ययन के हेतु से एक वैज्ञानिक विधि ही है।

जो ये अनेक प्रकार की वैज्ञानिक विधियाँ वेद में संदर्भित हैं, वे एक पुष्ट विज्ञान की ओर संकेत करती हैं। वास्तव में, विज्ञान वही है जिसकी प्राप्ति वैज्ञानिक विधियों से हो, अन्यथा चाहे जितना सुस्पष्ट, क्रमबद्ध और सम्यक् ज्ञान हो उसे विज्ञान (साइंस) नहीं कह सकते; उसे मात्र दर्शन (फिलासफी) कह सकते हैं। विपरीततः हम यह कह सकते हैं कि यदि वेद में विज्ञान है तो उसकी वैज्ञानिक विधि भी वेद में होनी चाहिये। अब हम यह सिद्ध कर चुके हैं कि वेद में अनेक प्रकार की वैज्ञानिक विधियों के संदर्भ

---

89. ऋग्वेद 10:70:2
90. ऋग्वेद 10:117:8
91. ऋग्वेद 10:151:1

मिलते है, इसलिये निश्चित रूप से वेद में विज्ञान है। और यदि वेद में विज्ञान है तो वेद के रचनाकारों में वैज्ञानिकों का होना सम्भाव्य है। वेद के अनुसार ये वैज्ञानिक तीन प्रकार के है; (1) विपश्चित, जो टुकड़ों में चुनने का कार्य करने वाले हैं, (2) वेधस्, वेधन करने वाले या खोदने वाले जो आधार को जानना चाहते हैं, और (3) कवि, खोजने वाले जो विस्तार से और विशेष दृष्टि से खोजते हैं।

पतङ्गमक्तमसुरस्य मायया हृदा पश्यन्ति मनसा विपश्चितः।
समुद्रे अन्तः कवयो विचक्षते मरीचीनां पदमिच्छन्तिवेधसः।।[92]

अर्थात् चुनने वाले सूक्ष्म इकाई के मापक द्वारा गहराई में स्थित प्राण की जुड़ी हुई किरण को देखते हैं। चित्रण करने वाले अन्तरिक्ष के भीतर (रश्मियों को) विशेषतः देखते हैं। वेधन करने वाले रश्मियों के आधार को (जानना) चाहते हैं।

स सध्रीचीः स विषूचीर्वसान आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तः।।[93]

अर्थात् वह (प्राण) साथ-साथ प्रकट करने वाला (सध्रीची), विशेष दृष्टि रखने वाला (विषूची) अन्तरिक्षों के भीतर, बन्धनों को काटने वाला (वसान) भीतर बार-बार मुड़ता है।

ये तीन प्रकार के वैज्ञानिक, जो उपर्युक्त दोनो मन्त्रों में बताये गये हैं, महाभारत के सन्दर्भ से कठ, शुक और तित्तरि के रूप में हम पहले ही बता चुके हैं। इन पक्षियों के नाम पर प्रसिद्ध वैशम्पायन बन्धु क्रमशः तोड़-तोड़ कर, घूम-घूम कर, और खोद-खोद कर अनुसंधान करने वाले वैज्ञानिक थे, यहाँ ये ही क्रमशः सध्रीची, विषूची और वसान हैं।

अधीन्न्वत्र सप्ततिं च सप्त च सद्यो दिदिष्ट तान्वः।
सद्यो दिदिष्ट पार्थ्यः सद्यो दिदिष्ट मायवः।।[94]

अर्थात् यहाँ अब सतहत्तर (मार्ग या तत्त्व) केवल जाने गये हैं, जो

92. ऋग्वेद 10:177:1
93. ऋग्वेद 10:177:3
94. ऋग्वेद 10:93:15

गति के ज्ञाता ने वास्तव में संकेत किये है, जो पार्थिवों के ज्ञाता ने वास्तव में संकेत किये हैं, जो मापन के ज्ञाता ने वास्तव में संकेत किये हैं।

स्पष्ट है कि क्षेत्र के हिसाब से पुनः तीन प्रकार के वैज्ञानिक होते थे; प्रथम, गति के ज्ञाता; द्वितीय, स्थिर पार्थिवों के ज्ञाता, और तीसरे, मापन के ज्ञाता। शरीर की दृष्टि से हम इन्हें क्रमशः अनॉटामिस्ट, फिजियोलाजिस्ट और वायोमेट्रीशियन कह सकते हैं।

वाक् मन की जङ्गम शक्ति है। संकल्प और विकल्प मन के कर्म माने जाते हैं। मन की यह जङ्गम शक्ति वाक् मन के कर्म का कारण बनती है, और सम्पूर्ण शारीर प्रक्रियाओं का संचालन करती है। मुनि (√मन+इनि, उत्व) भी विचारण करने वाले के अर्थ में वाक् का पर्याय बनता है अतः, इस खण्ड के प्रारम्भ में जो तीन मन्त्रों में वाणी की प्रक्रिया बताई गई है, लगभग वही प्रक्रिया इस मण्डल के सूक्त 136 वें में मुनि के सम्बन्ध में दी गई है। इस प्रक्रिया से विचार के संचरण पर प्रकाश पड़ता है।

मुनयो वातरशनाः पिशङ्गा वसते मला।
वातास्यानु ध्राजिं यन्ति येद्दवासो अविक्षत।।[95]

अर्थात्, वायु (काला) और रश्मियों (सुनहरा लाल) से सजे हुये (कत्थई) अङ्गो वाले विचारण करने वाले मुनिगण मलों (रज-तम, वात-पित्त-कफ) को पहन लेते हैं अर्थात् उनका संचालन करते हैं। फिर, जिनमें दीप्तियों ने प्रवेश किया है वे वायु की गति को प्राप्त करते हैं।

उन्मदिता मौनेयेन वाताँ आ तस्थिमा वयम्।
शरीरेदस्माकं यूयं मर्तासो अभि पश्यथ।।[96]

अर्थात्, सब ओर से मद को ऊपर ले जाने वाले हम लोग मुनियों के गुण (विचार) द्वारा वायुओं में स्थित हुये। हमारे मरणशील शरीर भी आप सम्मुख देखते हैं।

अन्तरिक्षेण पतति विश्वा रूप चाकशत्।
मुनिर्देवस्य देवस्य सौकृत्याय सखा हितः।।[97]

---

95. ऋग्वेद 10:136:2
96. ऋग्वेद 10:136:3
97. ऋग्वेद 10:136:4

अर्थात्, मुनि या विचारणा शक्ति प्रत्येक दीप्ति के समस्त रूपों का आभास करते हुये कल्याण निर्माण के हेतु से अन्तरिक्ष के द्वारा समान परिवेश को धारण किये हुये उड़ता है।

वातस्याश्वो वार्योः सखाऽथो देवेषितो मुनिः।
उभौ समुद्रावा क्षेति यश्च पूर्व उतापरः।।[98]

अर्थात्, इसके अतिरिक्त, बात को वहन करने वाली रश्मि, वायु की दीप्तियों द्वारा भेजी गयी समान परिवेश वाली विचारणा शक्ति, दोनों समुद्रों को, एक जो प्राचीन तथा दूसरा पीछे वाला, अधिकार करती है।

जैसे वाक् सूक्त में कहा गया कि वाक् का संघर्षरत प्रेरणा-रूप शरीर गुहा में निहित था, वैसे ही यहाँ विचारणा शक्ति को वायु और रश्मियों से युक्त अर्थात् प्राण और ऊर्जा से युक्त तथा मलों को संचालित करने वाली, मल अर्थात् रज-तम मानसिक स्तर पर और वात-पित्त-कफ या वायु, अग्नि और जल, शारीरिक स्तर पर, दीप्तियों के योग से वायु के समान, प्राण के समान गति वाली बताया गया है। यह विचारणा शक्ति दीप्तियों अर्थात् ऊर्जा के समस्त गुणों को प्राप्त करते हुये उसी समान परिवेश वाली होकर कल्याण निर्माण हेतु अन्तरिक्ष को प्राप्त करती है, अर्थात् रसादिधातुओं, ओजस् और ज्ञान के उत्पादन का कार्य करती है। वाक्-सूक्त में भी प्रयत्नों का स्वामी बृहस्पति रूप प्राण तत्व वाक् को आगे बढ़ाता है। यदि यहाँ कल्याण निर्माण की बात है, तो वहाँ अपक्व लक्षण वाली वाणी के परष्कार की बात है। वहाँ भी वाणियों ने उत्पादन प्रक्रिया में स्थान लिया और रश्मियों में प्रविष्ट ऊर्जा को प्राप्त किया, और यहाँ भी ऐसा ही हुआ। फिर वाणी को ऊर्ध्वों ने धारण किया, यहाँ विचारणा शक्ति दोनों ऊर्ध्व समुद्र और अन्तरिक्ष समुद्र पर अधिकार वाली हुई। इस प्रकार हम देखते हैं कि जो वाक् या वाणी है, वही मुनि है। विचारणा की यह प्रक्रिया ही वैदिक ज्ञान-विज्ञान का मूल आधार है।

यज्ञ के सदृश्य से विद्वत्सभा द्वारा रचना के अनुमोदन की चतुःस्तरीय विधि, जिसका वर्णन हम वाक्-सूक्त की विवेचना में कर चुके हैं, वैज्ञानिक प्रयोग विधि का भी युक्ति-प्रारूप था। इसका प्रमाण हमें केनोपनिषद् से प्राप्त होता है, जो वस्तुतः एक शोधपत्र का प्रबन्ध जैसा है। इस उपनिषद

98. ऋग्वेद 10:136:5

के प्रथम खण्ड में वैज्ञानिक अध्ययन की समस्यारूप कुछ प्रश्न उठाये गये हैं; फिर परिकल्पना और उसके उपरान्त प्रति कल्पना प्रस्तुत की गई है।[99] फिर एक हल्के से सिद्धान्त (वाद) द्वारा परिकल्पना को आधार प्रदान किया गया है। दूसरे खण्ड में, अध्ययन की युक्ति और उसका वैचारिक आधार प्रस्तुत किया गया है, तथा टुकड़ों (मांस) में उसे नापने (मी) से जानने की प्रणाली स्थापित की गई है।[100] यहाँ स्थिति है कि यदि जानकारी है या जानकारी सम्भव नहीं है तो प्रयत्न व्यर्थ है; हमें न-जानकारी से जानकारी की ओर चलना है और अपना कोई पूर्वमत नहीं बनाना है। आगे 'प्रतिबोध मतम्' ओर 'भूतेषु भूतेषु विचित्य धीरा' से खण्ड-खण्ड में तथा सीधे और प्रतिबोध से भी ज्ञात करने की प्रणाली निर्धारित की गई है।[101] तृतीय खण्ड में प्रतीकात्मक रूप से अनुभूत परिणामों को प्रस्तुत किया गया है; मापनशील (उमा) के माध्यम से मन (इन्द्र) द्वारा उस क्षर ब्रह्म (यक्ष) का आभास बिजली चमकने या पलक झपकने की भाँति हुआ।[102] यह जाता हुआ सा विचार जिससे स्मृति और निरन्तर संकल्प होता है, जो आश्रय स्थान 'वन' (उदक का स्रोत) है, वही ब्रह्म है।[103] यह निष्कर्ष है। इस प्रकार समस्या, प्रणाली या युक्ति, परिणाम और निष्कर्ष इन चार पादों में वैज्ञानिक अध्ययन का प्रारूप है। यही चारों पाद यज्ञ संदर्भ से होता, उद्गाता, ब्रह्मा और अध्वर्यु के हैं। होता अध्ययन को आहूत करने वाला, वैज्ञानिक अध्ययन की समस्या को निर्धारित करता है। उद्गाता (उत् √गा+तृच्) आगे ले जाने वाली प्रणाली का चयन और अनुमोदन करने वाला है। ब्रह्मा (आ+ब्रह्म) उत्पाद की युक्तता या प्राप्ति वाला परिणामी है। तथा, अध्वर्य,[104] अध्ययनशील होकर अर्थात् विवेचनापूर्वक निष्कर्ष प्राप्त करने वाला है। इस प्रकार वैज्ञानिक प्रयोग या अध्ययन की सम्पूर्ण रूपरेखा वाक्-सूक्त के इस अन्तिम मन्त्र[105] में उपसंहार पूर्वक प्रस्तुत कर दी गई है।

(4) सृष्टि विज्ञान :

यह जगत ओर ब्रह्माण्ड तथा जीव-जन्तु और अन्य सब कुछ जो

99. केनोपनिषद् 1:1-3
100. केनोपनिषद् 2:1
101. केनोपनिषद् 2:2-5
102. केनोपनिषद् 3:12:4:4
103. केनोपनिषद् 4:5-6
104. देखें निरुक्त 1:8
105. ऋग्वेद 10:71:11

महत्वपूर्ण है किस प्रकार बना, वेद में अनेक स्थानों पर इसके विवरण प्राप्त होते हैं। विद्वानों ने इस सम्बन्ध में नासदीय सूक्त को अति महत्वपूर्ण माना है। तथापि, नासदीय सूक्त की व्याख्या अत्यन्त कठिन है। 'ईश्वर ने यह सब कुछ किया', ऐसा मानकर व्याख्या को सरलतम करने की चेष्टा वेद के साथ बलात्कार है, क्योंकि ईश्वर ही यदि सबकुछ करता है तो काहे का ज्ञान और काहे का विज्ञान। ऐसा चिन्तन भी तत्त्वचिन्तन नहीं है, फिर तत्त्वदर्शन तो बहुत दूर है। इस कारण हम शुद्ध तात्विक व्याख्या प्रस्तुत करेंगे।

तब न तो सत्ता थी न असत्ता थी, न कण (अणु) था या न रजस था, न जो इससे रहित व्योम (शून्य Vacuum) ही था। गहन गम्भीर आधार कौन था? जाल के आवरण की भाँति झुका हुआ कौन था?[106]

तब न मृत्यु (मृत्तिका, मैटर) थी न अमृत (ओजस्, नानमैटर) था न रात (संकुचित ऊर्जा) थी न दिन (रश्मि) था। वह एक वायु रहित था जो अपनी ही धारिता द्वारा कर्मशील हुआ जिया। उससे बड़ा दूसरा कोई नहीं कहा गया।[107]

''आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किञ्चनास'' में 'एक' शब्द ऊर्जा या आत्मा के लिये आया है, जबकि मुख्यतः यह 'मन' का पर्याय है। इस सम्बन्ध में ऋग्वेद दशम मण्डल के छप्पनवें सूक्त का प्रथम मन्त्र स्थिति स्पष्ट करता है– ''इदं त एकं पर ऊ त एकम्'' अर्थात् हे इन्द्र! आपका यह 'एक' (मनरूप अधिदेव पुरुष) है, आपका अन्य 'एक' दूर सोम है। ध्यान रखें कि इन्द्र मनरूप भी है और ऊर्जापुञ्ज अन्तरात्मा रूप भी है।

तम था। पूर्वकाल में तम से निगूढ़ इस सम्पूर्ण से युक्त निष्क्रिय सलिल था। और जो तुच्छ से अव्यक्त हुआ वर्तमान था, वह विकसित ताप या फर्म से इकाई (रूप में) उत्पन्न हुआ।[108]

पूर्वकालमें वह निर्माण या उत्पादन की भावना के साथ वर्तमान हुआ, जो मन की प्रथम महान् गति थी। वर्णन करने वालों ने अपनी विचारणा से बाद में सब ओर से हृदय में विचार करके असत्ता में सत्ता के बन्धन को सम्यक् प्राप्त किया या जाना।[109]

तिर्यक जाती हुई रश्मि फैल गई। इसके नीचे क्या था, ऊपर क्या

---

106. ऋग्वेद 10:129:1
107. ऋग्वेद 10:129:2
108. ऋग्वेद 10:129:3
109. ऋग्वेद 10:129:4

था? गति को धारण करने वाले थे वे विकास से युक्त हुये। नीचे स्वयं को धारण करने वाली पृथिवी और उससे परे प्रकृष्ट नियमन करने वाला (आत्मा) था।[110]

अब वस्तुतः किसने जाना है? कौन ठीक-ठीक बता सकता है कि यह सृष्टि कहाँ से सर्वतः उत्पन्न हुयी, किधर से इसको विशेषतः रचा गया? अब बाद में इसके विशेष निर्माण के द्वारा देवता आये। कौन जानता है जहाँ से आकर वर्तमान हुये?[111]

यह विशेष सृष्टि जिससे उत्पन्न हुई है किंवा वह इसे धारण करता है या नहीं? जो इसका अध्यक्ष परमव्योम में है वह इसे ठीक जानता है या नहीं जानता है?[112]

सत्ता अभिव्यक्ति में होती है जो एक निश्चित पैमाने पर ही हो पाती है। पैमाना न होने पर असत्ता में भी उतना ही सन्देह है। न अणु और न अणुरहित शून्य ही था। किन्तु, आधार था, उस पर कोई जालमय आवरण की भाँति झुका था। न 'मैरर' था न 'इनर्जी' थी, ऊर्जा नहीं थी तो रश्मि भी नहीं थी, वायु (प्राण) भी नहीं था। वह एक था जो अपनी धारिता से कर्मशील हुआ जिया, सब इसी में समाया हुआ था। तप से निगूढ़ वह निष्क्रिय सलिल था, जो अव्यक्त हुआ वर्तमान था, वह ताप के विकास से इकाई रूप हुआ। इस से ही निर्माण की भावना आई जो मन की प्रथम महान् गति थी। गति से रश्मि फैल गई। रश्मि से दीप्तिमान देवता बने। आगे ऋषि मौन है कि यह सामान्य सृष्टि और यह विशेष सृष्टि कहाँ से हुई। ऋषि को शंका है कि इस सृष्टि का जो अध्यक्ष परमव्योम में स्थित है वह भी इस तत्त्व को जानता है या नहीं, यथा-

यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्त्सो अङ्ग वेद यदि वा न वेद।[113]

मन्त्र का यह अंश ईश्वरवादियों के लिये चुनौती है, अध्यक्ष कौन है, यह भी स्पष्ट नहीं है; किन्तु इस पूरे सूक्त में जो जीवनीय इकाई के रूप में अभिव्यक्त होता हुआ और चेष्टा करता हुआ स्थित हुआ, वह मन था। यही इन्द्र था, और यही परमव्योम (उत्तम जल) स्थित अध्यक्ष था। किन्तु

---

110. ऋग्वेद 10:129:5
111. ऋग्वेद 10:129:6
112. ऋग्वेद 10:129:7
113. ऋग्वेद 10:129:7

सायण के लिये यह ईश्वर है, और उन्होंने शङ्का को भी तोड़मरोड़ कर निश्चय में बदल दिया है, जो ईश्वरवादियों का सामान्य चरित्र है।[114]

वेद स्वयं नासदीय सूक्त की इन शङ्काओ की पुष्टि करता है। एक अन्य सूक्त में यह स्पष्ट कहा गया है कि–

तं न विदाथ यः इमा जजान।[115]

अर्थात् उसको नहीं जाना जा सकता है जिसने इन जलों को उत्पन्न किया है। आधुनिक विज्ञान को भी यह अज्ञात है कि प्लाज्मा कहां से आया और कहाँ से उत्पन्न हुआ। ब्रह्माण्डीय सृष्टि का प्रक्रम जैसा है, वैसा ही माता के गर्भ में जीव की सृष्टि का प्रक्रम है; इस कारण भ्रान्ति हो जाती है कि वेद का वर्णन किस सृष्टि का वर्णन है। नासदीय सूक्त का वर्णन तो स्पष्टतः ब्रह्माण्डीय सृष्टि का ही वर्णन दिखता है। वेद स्वयं इसे स्पष्ट भी करता है–

अन्यत् युष्माकं अन्तरं बभूव।[115]

अर्थात् दूसरा रूप तुम्हारे भीतर वर्तमान हुआ है। इस कारण ही इस सूक्त में प्रथमतः भ्रम के साथ ही उत्पत्ति दर्शायी गई है। 'पिता' शब्द 'पा' धातु से पालनकर्ता के अर्थ में, और 'पि' धातु से जाने वाले या विकसित होने वाले या करने वाले के अर्थ में है। प्रथम अर्थ में यह माता के गर्भ में जीव की सृष्टि से सम्बन्धित होता है, तो द्वितीय अर्थ में यह कर्म है जो मन की सृष्टि में उपादान कारण होकर ब्रह्माण्ड की सृष्टि प्रेरित करता है। इसी प्रकार जल भी कई प्रकार का है; प्रथमतः ब्रह्माण्डीय सृष्टि के लिये उपस्थित सलिल (प्लाज्मा), द्वितीयतः माता के गर्भ में जीव सृष्टि के लिये पिता द्वारा प्रदत्त उदक (जैव प्लाज्मा) और तीसरा रसादि धातुओं से बनने वाला सारभाग रूप घृत (ओजस्); तब कौन सा सृष्टि का वर्णन है यह स्पष्ट जाना जा सकता है। यह भी ध्यान रखना चाहिये कि ऐसी प्रक्रियाओं में उत्पन्न करने वाले भी उत्पन्न होने वालों से पुनः उत्पन्न होते हैं। यथा–

अदितेर्दक्षो अजायत दक्षाद्वदंतिः परि।[116]

114. देखे सायण भाष्य 10:129:7 पर
115. ऋग्वेद 10:82:7
116. ऋग्वेद 10:72:4

अर्थात् (गतिहीन) ऊर्जा से कर्म उत्पन्न हुआ और कर्म से ऊर्जा पूर्ण हुई। इसी प्रकार उदक की सहायता से ही ओजस् की उत्पत्ति होती है, और ओजस् ही ऊर्ध्वरिता होकर उदक बन जाता है।

अब प्रश्न यह है कि तम से निगूढ़ निष्क्रिय सलिल में कर्म से इकाई रूप में सर्व प्रथम उत्पन्न होने वाला मन या इन्द्र था, तो यह उपादान कारण कर्म, या प्राण या तप कहाँ से आया यह वेद को भी आज्ञात है, यथा–

अपां सखा प्रथमजा ऋतावा क्वस्विज्जातः कुत आ बभूव।[117]

अर्थात् सबसे पहले उत्पन्न होने वाले ऋत वाले जलों के समान परिवेश वाला (प्राण) सखा कहां उत्पन्न हुआ था और कहाँ से आकर वर्तमान हुआ ?

यद्यपि वेद आश्वस्त नहीं है कि यह सब कहाँ से हुआ, उसके लिये कदाचित् यह सब अज्ञात है, फिरभी वह कुछ इशारे देता है–

यद्ध प्राची रजगन्तोरो मण्डूरधाणिकीः।
हता इन्द्रस्य शत्रवः सर्वे बुदबुदयाशवः।।[118]

अर्थात् जब वस्तुतः प्राचीन जाने वाले फेन में प्रदीप्त ऊर्जा गतिमान हुई, तो जलों के बुलबुले से इन्द्र के समस्त शत्रु मारे गये।

अग्रे ब्रहन्नुषसामूर्ध्वो अस्थान्निर्जन्वान्तमसो ज्योतिषागात्।।[119]

अर्थात् सबसे आगे, महान उषाओं के पहले, स्थित हुये गति न करने वाले तम से प्रकाश निकला।

बेदेतर तथा पौराणिक ग्रन्थों में त्रिगुणात्मक प्रकृति को सृष्टि का कारण माना गया है। एकार्णव की अवस्था में प्रकृति अपने गुणों की साम्यावस्था में सोयी हुई सी थी। गुणों में क्षोभ उत्पन्न हुआ और यही क्षोभ सृष्टि का मूल कारण बना। वेद में कदाचित् इस क्षोभ को ही कर्म या प्राण या तप कहा गया है। प्राण से गति और गति से प्रदीप्त ऊर्जा उत्पन्न हुई,

117. ऋग्वेद 10:168:3
118. ऋग्वेद 10:155:4
119. ऋग्वेद 10:1:1

जिसने अभिव्यक्ति न होने देने वाले तत्वों को नष्ट किया, तब अभिव्यक्ति की इकाई रुप मन उत्पन्न हुआ। श्री गुरुदत्त ने अणु-सिद्धान्त के आधार पर साम्यावस्था और क्षोभ से अणु विस्तार आदि का वर्णन करते हुये भारतीय सृष्टि मत की पुष्टि की है।[120] तथापि

एष देवः देवानाम् आत्मा भुवनस्य गर्भः यथावश चरति।[121]

अर्थात् यह देव (प्राण) देवताओं की आत्मा है, और उदक का गर्भ (पुत्र) है, इच्छानुसार चलता है। प्रश्न है, यह गर्भ किस ने डाला, देखिये वाक् सूक्त में स्वयं वाक् (ऊर्जा) का वक्तव्य-

अहं सुवे पितरमस्य मूर्धन्मम योनिरप्स्वन्तः समुद्रे।
ततो वि तिष्ठे भुवनानु विश्वोतामूं द्यां वर्ष्मणोप स्पृशामि।।[122]

अर्थात् तब समस्त जलो में पहले ही स्वाँस लेते हुये विशेषतः स्थित होती हूँ (ततः विश्वा भुवना उ अन् वि तिष्ठे), समुद्र के भीतर जलो में इस (समुद्र) का शिखर मेरी योनि है, और इस शरीर को वीर्यवान् से समीप स्पर्श (आलिंगन) करती हूँ। मैं विस्तार करने वाले प्राण को और उस दीप्ति को उत्पन्न करती हूँ।

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि जलों की आत्मा ऊर्जा है और जल शरीर हैं, और जलों का शिखर अर्थात् ऊपरी तल योनि है जिससे ऊपर छाये हुये तम का स्पर्श होता है, गर्भ धारण होता है, और प्राण या कर्म उत्पन्न होता है। दूसरे शब्दों में सत् और तम के संभोग रो रजस् (कर्म, प्राण) की उत्पत्ति हुई। यही सत् और असत् का बन्धन (सम्बन्ध) था जिसे ऋषियों ने हृदय में विचारणा शक्ति से बाद में जाना। अब प्रश्न है-

कं स्विद् गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवाः समपश्यन्त विश्वे।[123]

अर्थात्, जलों ने किस सम्भावित गर्भ को सबसे पहले धारण किया,

120. श्री गुरुदत्त : विज्ञान और विज्ञान, पृ. 38-50
121. ऋग्वेद 10:168:4
122. ऋग्वेद 10:125:7
123. ऋग्वेद 10:82:5

जहाँ समस्त देवों ने साथ-साथ बोध प्राप्त किया। उत्तर है-

तमिद्गर्भं प्रथमं दध्र आपो यत्र देवाः समगच्छन्त विश्वे।
अजस्य नाभावध्येकमर्पितं यस्मिन्विश्वानि भुवनानि तस्थुः।।[124(क)]

अर्थात् जलों ने बिल्कुल पहले उस गर्भ को धारण किया जहाँ समस्त देवगण साथ-साथ प्राप्त हुये। अजन्मा (आत्मा, ऊर्जा, वाक्) के केन्द्र में मन को पूर्णतः सौंपा गया जिसमें समस्त जल स्थित हुये।

नीहारेण प्रावृता जल्प्या च असुतृप उक्थशासः चरन्ति।[124(ख)]

अर्थात् जलीयततव से प्रकृष्ट रूप से आवृत हुये और वाक् द्वारा प्राणों से भरे रश्मियों से युक्त (देवगण) आगे बढ़ते हैं।

सहोभिर्विश्वं परि चक्रमू रजः पूर्वा धामान्यमिता मिमानाः।
तनुषु विश्वा भुवना नि येमिरे प्रासारयन्त पुरुष प्रजा अनु।।[125(क)]

अर्थात् पूर्व रजस् ने शक्तियों के साथ न नापे हुये स्थानों को नापते हुये अब विश्व की ओर डग भरा, समस्त जलों को शरीरों में विस्तृत किया; फिर पुरुष और प्रजा को फैलाया।

वाज्यसि वाजिनेना सुवेनीः सुवितः स्तोमं सुवितो दिवं गाः।
सुवितो धर्म प्रथमानु सत्या सुवितो देवान्त्सुवितोऽनु पत्म।।[125(ख)]

अर्थात् ऊर्जावान् मन गतिमान प्राणों को लेकर ऊर्जा से रश्मि को आच्छादित करता है, फिर आकाश को भली प्रकार व्याप्त करते हुये सत्ता के योग्य होकर फिर भली प्रकार आच्छादित हुये देवों (दीप्तियों) को प्राप्त करता है।

इस प्रकार नासदीय सूक्त की भावना कि-

124(क). ऋग्वेद 10:82:6
124(ख). ऋग्वेद 10:82:7
125(क). ऋग्वेद 10:56:5
125(ख). ऋग्वेद 10:56:3

कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसो रेतः प्रथमं यदासीत्।[126]

पहले वह निर्माण कामना उसमें उत्पन्न हुई जो मन का प्रथम महान् गति थी। फलतः-

तिरश्चीनो विततो रश्मिरेषामधः स्विदासीदुपरि स्विदासीत्।
रेतोधा आसन्महिमान आसन्त्स्वधा अवस्तात्प्रयतिः परस्तात्।।[127]

इनके पार जाती हुई रश्मि फैल गई। इसके नीचे क्या था ऊपर क्या था? गति को धारण करने वाले थे वे विकास से युक्त हुये। नीचे स्वयं को धारण करने वाली जल और उससे परे प्रकृष्ट गति वाला (प्राण) था।

त आयजन्त द्रविणं समस्मा ऋषयः पूर्वे जरितारो न भूना।
असूर्ते सूर्ते रजसि निषत्ते ये भूतानि समकृण्वन्निमानि।।[128]

अर्थात् उन पहले ऊर्जित होने वाली रश्मियों ने, जैसे ही उत्पन्न हुये, वैसे ही इसके लिये उत्पाद सहित प्रक्रिया की। जो प्राण से प्रेरित होकर कल्याणकारी प्रेरणा से युक्त संक्रिया में स्थित हुये उन्होंने इन उत्पन्न हुये (प्राणियों) को सम्यक् रूप से बनाया।

इस प्रकार यह सम्पूर्ण सृष्टि उत्पन्न हुई किन्तु अभी भी अनेक रिक्तियाँ शेष हैं, उन्हें भरने का प्रयास आगे किया गया है। देखिये-

अवर्धयो वनिनो अस्य दंससा शुशोच सूर्य ऋतजातया गिरा।[129]

अर्थात् मन ने जलों को बढ़ाया, सूर्य कर्म (प्राण) से फेंकी हुई जलों से उत्पन्न होने वाली ऊर्जा से प्रकाशित हुआ।

असच्च सच्च परमे व्योमन्दक्षस्य जन्मन्नदिते रुपस्थो।
अग्निर्ह नः प्रथमजा ऋतस्य पूर्व आयुनि वृषभश्च धेनुः।।[130]

---

127. ऋग्वेद 10:129:5
128. ऋग्वेद 10:82:4
129. ऋग्वेद 10:138:2
130. ऋग्वेद 10:5:7

अर्थात् सत्ताहीन और सत्तायुक्त (असत च सत च) उत्तम (परमे) उदक में (व्योमन्) पूर्ण ऊर्जा की (अदितेः) गोद में (उपस्थे) कर्म के (दक्षस्य) जन्ममे (जन्मन्) प्रक्रिया के (ऋतस्य) पहले (पूर्वे) तम और वाक् केसंयोग में (वृषभः च धेनुः आयुनि, वृषभः~ √वृ, आयुन्नि ~ आ√यु+नि) अविभक्त (नः) अग्नि (अग्नि) निश्चय (ह) प्रथम उत्पन्न हुआ (आ प्रथमज)।

ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत।
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः।।[131]

अर्थात् जल और मन सम्मुख धारण किये गये तप (कर्म) से भी अधिक विस्तृत हुये। वहाँ से संकुचित ऊर्जा उत्पन्न हुई और वहाँ से अन्तरिक्ष गति से युक्त हुआ।

समुद्रादर्णवादधि संवत्सरो अजायत।
अहोरात्राणि विदधद्विश्वस्य मिषतो वशी।।

अर्थात् गति से युक्त अन्तरिक्ष से संवत्सर आगे उत्पन्न हुआ। वश में करने वाले गतिमान ने आँख झपकाने वाले विश्व के दिन रातों को विशेषतः धारण किया।

गर्भे योषामदुधुर्वत्समासन्यपीच्येन मनसोत जिह्वया।।[133]

अर्थात् फेकने वाले (प्राण) ने गुप्त मन और वाक् से ऊर्जा के गर्भ में संवत्सर को रखा।

सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथापूर्वमकल्पयत्।
दिवं च पृथिवीं चान्तरिक्षमथो स्वः।।[134]

अर्थात् जिस प्रकार पहले धारणकर्ता उदक ने अन्तरिक्ष को बनाया उसी

131. ऋग्वेद 10:190:1
132. ऋग्वेद 10:190:2
133. ऋग्वेद 10:53:11
134. ऋग्वेद 10:190:3

तुलना में अब सूर्य और चन्द्रमा ने आकाश और पृथिवी को बनाया। और अब एक अन्तिम तथ्य, जो इस विषय का उपसंहार है–

दूरं किल प्रथमा जग्मुरासामिन्द्रस्य याः प्रसवे ससुरापः।
क्व स्विदग्रं क्व बुध्न आसामापो मध्यं क्व वो नु नमन्तः।।[135]

अर्थात् जो उदक इन्द्र के जन्म में बहे थे उनका प्रथम भाग, अवश्यमेव दूर चला गया है। इनका छोर किधर सम्भव है, अन्तरिक्ष कहाँ है, मध्य भाग किधर है? हे जलो! अब आप सभी को हम नमस्कार करते हैं।

अब, कुल मिलाकर ऋग्वैदिक सृष्टि सिद्धान्त यह बनता है कि प्रारम्भ में यद्यपि न सत्ता थी, न असत्ता थी, न रजस् या कण था न कणहीन व्योम था, न मृत्तिका थी न अमृत था। न रात (ऊर्जा) थी न दिन (रश्मि) था। परन्तु तम था, तम से ढंका इस सम्पूर्ण को लिये हुये निष्क्रिय सलिल था, वह एक प्रोण रहित था जो अपनी ही धारित! द्वारा कर्मशील हुआ जिया। उससे परे दूसरा कोई नहीं कहा गया। यह जल कहाँ से आया और किसने इसे उत्पन्न किया, यह अज्ञात है।

जलों की आत्मा छिपी हुई ऊर्जा के रूप में विशेषतः वर्तमान थी, जल उसका शरीर थे और जल–तल उसकी योनि थी, उसने अपने ऊपर झुके हुये छिपाने वाले तम से किंवा वीर्यवान् से सम्भोग क्रिया, जिससे गर्भ हुआ, और गतिशील प्राण ने जन्म लिया; सत् और तम से रजस् का जन्म हुआ। वह विस्तृत होने से 'पिता' (√पि+तृन्) कहलाया, द्रव्य का कर्म होने से 'कर्म' कहलाया, और गति के साथ ताप बढ़ने से 'तपस्' कहलाया। इससे धारित हुआ तुच्छ से महान् तक इकाई माप (√मा) से 'मन' हुआ। यही ऐश्वर्यवान् इन्द्र (√इन्द्+र) था। तम (नियामिका वृत्ति) में जो निर्माण की कामना उत्पन्न हुई थी वही इसकी प्रथम गति थी, जो असत्ता में सत्ता के सम्बन्ध को स्पष्ट करने वाली थी।

पूर्व समुद्र में गति हुई तो अन्तरिक्ष बना। ऊर्जा में गति हुई तो जङ्गम वाक् बनी, उससे प्रकाश की रश्मि फैल गई, इससे ज्योतिषियाँ (सूर्य, चन्द्र, समस्त देवगण) बनीं, इनसे आकाश और पृथिवी बने। अन्तरिक्ष में गतिमान

---

135. ऋग्वेद 10:111:8

टिप्पणी : सत् को प्रकाशित, राज संचालित और तम की नियमिका वृत्ति नाबा जाता है। प्राकृतिक नियम ऋत कहलाता है, किन्तु तम ऋत की प्रसुप्त अवस्था है 'दिपाने वाली अवस्था'।

ऊर्जा से संवत्सर बना, दिन-रात बने, विश्व बना। इस प्रकार सृष्टि पूर्ण हुई। इसे पूर्ण करने वाली गतिमान उदक का श्रेष्ठ भाग कहीं दूर फैल गया है, अब न उसका छोर दिखता है न मध्य ही दिखता है; उसका प्रतीक रूप मात्र यह अन्तरिक्ष विद्यमान है।

(5) मानुषी सृष्टि :

ब्रह्माण्डीय सृष्टि के उपरान्त, लगभग ठीक वैसी ही सृष्टि जीव की भी है, यह ध्यान रखते हुये, मानुषी सृष्टि का ऋग्वेद दशम मण्डल में हम अध्ययन कर रहे हैं-

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विधेम।।[136]

हिरण्यगर्भ अर्थात् स्त्री के गर्भाशय में स्थित शुक्र-शोणित संयोग वाला गर्भ, जब बीज को आर्तव रक्त के द्वारा चारों ओर से लपेट लेने के कारण, आदित्यवर्ण अर्थात्, हिरण्यमय स्वर्णिम रंग का होकर, पञ्चमहाभूतों या भौतिक अङ्गावयवों से पूर्व उत्पन्न होने से प्रथम या आगे, सम्यक् अर्थात् बिना क्षोभवाले समभाव से रहता है। वह अधिदैविक पुरुष, जो अजात होकर भी अवस्था परिवर्तन से उस समय अवस्था में जात अर्थात् उत्पन्न हुआ माना जाता है, गुणोपादान काल में, पहले अन्तरिक्ष को उत्पन्न करता है, फिर क्रम से अन्य चार भूतों को उत्पन्न करता है, इस प्रकार इन भूतों का पिता होकर इनका नियन्ता प्रभु, इनका अध्यक्ष या अधिपति भी होता है; इस प्रकार वह प्रभु इधर इस पृथिवी (शरीर) को, या अधिभूत होकर पार्थिव तत्वों को, तथा ऊपर ऊर्ध्व में धु अर्थात् आध्यात्मिक तत्वों को, अध्यात्म पुरुष होकर धारण करता है।[137]

इस मन्त्र के लिये इसी सूक्त का आठवाँ तथा दसवाँ मन्त्र भी स्पष्टता के लिये देख लेना चाहिये, क्योंकि आठवे मन्त्र में इसे अधिदेव कहा गया है, तो दसवें मन्त्र में इस देव के लिये क्यों हवन करें, इसे स्पष्ट किया गया है, जिससे अन्यथा व्याख्या की संभावनायें ही समाप्त हो जाती हैं।

136. ऋग्वेद 10:121:1
137. पूज्य पिताजी इस मन्त्र की व्याख्या इस प्रकार करते हैं- "हिरण्यगर्भः हिरण्यमयो गर्भः, स्त्रियाः गर्भाशयें

तब, हिरण्यगर्भ अर्थात् चमकने वाला अभ्यन्तर भाग सबसे पहले सम्यक् रूप से विद्यमान हुआ। इकाई के रूप में उत्पन्न होकर उदक का गिराने वाला पति हुआ। उसने इस पृथिवी को और आकाश अर्थात् अन्तरिक्ष को धारण किया। तब अन्य किस दीप्तिमान् के लिये उदक के द्वारा हम विधान कर सकते हैं? यह ऋषि का साधारण भाव है।

ऋतायिनी मायिनी स दधात मित्वा शिशुं जज्ञतुर्वर्धयन्ती।
विश्वस्थ नाभिं चरतो ध्रुवस्य कवेश्चित्तन्तुंमनसावियन्तः।।[138]

अर्थात् जलों में गति करने वाली, निर्माणशीला ऊर्जा ने सम्यक् धारण करते हुये श्रेष्ठ को उत्पन्न किया और मापन पूर्वक विस्तृत किया। वर्णन करने वाले कवि के अनुसार भी जङ्गम तथा स्थावर विश्व की भाभि स्नायु तन्तु रुपी अधिदेव को मन (मापन) द्वारा विस्तारित किया। नाभि स्नायुतन्तु रुपी देव का यह विस्तार कैसा है, यह देखिये–

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतोवृत्वात्यतिष्ठद्दशाङ्गुलम्।।[139]

टिप्पणी : स्थितोऽधिदेवो यथा अष्टमे मन्त्रे व्याख्यायतः 'या देवेषु अधिदेवः' इति, अथ च चरके शारीरस्थाने (अध्यायः 1 श्लोकः 16) 'चेतना-धातुरप्येकः स्मृतः पुरुष संज्ञकः' पुरुषः 'ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः, इति गीतोक्ते (15:7), सः गर्भाशयमनुप्रविश्य शुक्रशोणिताभ्यां संयोगमेत्य गर्भत्वेनजनयत्यात्मनाऽत्मानं आत्मसंज्ञा हि गर्भे' इति चरके (शा. 3:8) 'एषो ह देवः प्रदिशो नु सर्वाः पूर्वो ह जातः स उ गर्भे अन्तः' इति श्रुतौ (यजु. 32:4), 'स सर्व गुणवान गर्भत्यमापन्नः प्रथमे मासि संमूर्छितः सर्व धातुकललीकृतः खेटभूतो भव्यत्यक्त विग्रहः सदसद्भूताङ्गावयवः' इति चरके (शा. 4:9), 'शुक्रशोणित जीव संयोगे तु खलु कुक्षिगते गर्भसंज्ञा भवति' इति चरके (शा. 4:5), 'प्रविष्टमात्रं बीजं हि रक्तेन परिवेष्ट्यते' इति काश्यपे असमानगौत्रीय शरीराध्याये वर्णितः श्रुतौऽपि 'महान्तं पुरुषं आदित्यवर्णम्' इति (यजु. 31:18), ततः रक्तेन हिरण्येन परिवृत्यमानो बीजः गर्भे हिरण्मयो भूत्वा हिरण्यगर्भः इत्येव वर्तते; अग्रे पूर्वे प्रजानां भूतानां भौतिकान्यङ्गावयवानां, समवर्तत सम्यकेन अक्षोभेन समभावेन वर्तते स्म। जातः जातमानः 'स एव जातः स जनिष्यमाणः इति श्रुतौ (यजु. 32:4), अथ च 'प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते (यजु. 31:19) 'तस्य पुनरात्मनो जन्मानादित्वान्नोपपद्यते, तस्मान्न जातैवायमजातं गर्भं जनयति, अजातो हि अयमजातं गर्भं जनयति; सचैव गर्भः कालान्तरेण बालयुवस्थिविरभावान् प्राप्नोति, स यस्यां यस्यां अवस्थाया वर्तते तास्यां तस्यां जातो भवति, या त्वस्य पुरस्कृता तस्यां जनिष्यमाणश्य, तस्मात् स एव जातश्चाजातश्च युगपद्भवति' इत्यादि चरके (शा. 3:8), भूतस्य एकः पतिः 'स गुणोपादान काले अन्तरिक्षं पूर्वतरमन्येभ्यो गुणेभ्यः उपादत्ते, यथा-प्रलयात्यये सिसृक्षुर्भूतान्यक्षरभूतात्मा सत्वोपादानः पूर्वतरमाकाशं सृजति, ततः क्रमेण व्यक्ततरगुणान् धातून् वाय्वादिकांश्चतुरः तथा देहग्रहणेऽपि

138. ऋग्वेद 10:90:3
139. ऋग्वेद 10:90:1

अर्थात्, वह पुरुष सहस्रों शीर्षस्नायुओं वाला (प्रथम साहस्री), सहस्रों अक्षर ज्ञानवाही स्नायुओं वाला (द्वितीय साहस्री) सहस्रों क्षर कर्मवाही स्नायुओं वाला (तृतीय साहस्री) विश्वरूप जङ्गम तथा स्थावर शरीर को घेर करके दशाङ्गुल परिमाण शिर में अतिरेकपूर्वक स्थित है। कठोपनिषद् के वर्णन में हृदय (मस्तिष्क) में स्थित पुरुष और नाडीतन्त्र का वर्णन इसका कुछ आभास देता है।[140]

एकपाद्भूयो द्विपदो वि चक्रमे द्विपात्त्रिपादमभ्येति पश्चात्।
चतुष्पादेति द्विपदामभिस्वरे सम्पश्चन्पङ्क्तीरुपतिष्ठमानः।।[141]

अर्थात् वह (पुरुष) एक पाद वाला होकर दो पाद का विशेषतः बन जाता है; बाद में दो पाद वाला तीन पादों को स्पष्टतः प्राप्त करता है। चार पादों वाला प्रकट शब्दों में दो पाद वाले को प्राप्त करता है; इस प्रकार क्रमों को साथ-साथ देखता हुआ समीप में स्थित होता रहता है।

यद्यपि अधिदेव पुरुष मूलतः एक पादवाला है,[142] किन्तु उत्तरायण-दक्षिणायन कर्म में वह दो पाद वाला हो जाता है, आगे, उत्तरायण में ही पाक और ज्ञान ये दो मार्ग हो जाने पर, वही पुरुष तीन पाद प्राप्त कर लेता है। चार पादों वाला पुरुष अर्थात् अधिभूत, अधिदेव, ऊध्यात्म और विश्व, भी उत्त्रायण-दक्षिणायन पादों में ही अभिव्यक्ति को प्राप्त कर पाता है। इस प्रकार वह एक पुरुष ही सभी क्रमों को साथ-साथ देखता हुआ, अनुभव करता हुआ, क्रम के अनुरूप ही अपनी स्थिति बनाता जाता है।

टिप्पणी : प्रवर्तमानः पूर्वतरमाकाशमेवोपादत्ते तत्रः क्रमेण व्यक्ततरगुणान् धातून वाय्वादिकांश्चतुरः' इतिचरके (शा. 4:8) तस्मात् ऐतेषांप्रजानां पिता भूत्वा एकश्चाधिपतिरध्यक्षश्च प्रभुः आसीत्। ततः स प्रभुः इत इमां पृथिवीं उत च धां यद्वा सोऽधिदेवो पुरुषः इत् इमांपृथिवीं पार्थिवानिभूतानि अधिभूतश्च भूत्वा तथैव च धां ऊर्ध्वमाध्यात्मिकं तत्वमाध्यात्मपुरुषो भूत्वा दाधार धारितवान् इत्यर्थः। अथ ततो 'गतिभर्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सृहृत् प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्' (गीता 9:18) सामर्थ्यवन्तं प्रभुं पुरुषं देव च विहाय कथं अन्यै देवाय नः वयं कस्मै देवाय हविषा विर्भिः विधेम विधिना क्रियाया सम्पादयेम कुर्याम जुहुयाम वा इति। तदपि व्याख्यायतः एतत् सूक्तस्य दशमोमन्त्रः विस्तरात् प्रवर्तते। (अप्रकाशित विज्ञान भाष्य)

139. ऋग्वेद 10:90:1

140. शतं चैका च हृदयस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमाभानिःसृतैका।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति।।
अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः।
कठोपनिषद् 2:3:16-17

141. ऋग्वेद 10:117:8

142. चेतना धातुरप्येकःस्मृतःपुरुषसंज्ञकः। चरक शा0 1:

मानुषी सृष्टि

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति।।[143]

अर्थात् सब यह, जो भूत है और जो होने वाला भाव्य है, और जो अन्न के द्वारा अतिरोहण करने वाला निश्चित इसका स्वामी अमृत है, पुरुष ही है।

इस मन्त्र में चार पादों को इङ्गित किया गया है। एक यह सब जो 'विश्व' कहा जाता है (सर्व यहाँ विश्वं का पर्याय है) दूसरा 'भूत' अर्थात् भौतिक शरीर से सम्बन्धित, तीसरा भाव्य' यह अधिदैविक है जो उत्पाद-स्वरूप धातु और ज्ञान से युक्त है, तथा चौथा अन्न द्वारा अतिरोहण करने वाले ओजस् से युक्त अमृतपाद है। यही बात पुनः दोहराते हैं-

पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।।[144]

इसका एक पाद विश्व में (आ विश्व) है, इसके तीन पाद भूतों, अमृत और धु में हैं। धु यहाँ अन्तरिक्ष के लिये आया है, या अमृत को ही अन्तरिक्षसमुद्र मान लिया गया है।

त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुनः।
ततो विष्वङ् व्यक्रामत्साशनानशने अभि।।[145]

अर्थात् पुरुष तीन पादों से ऊर्ध्व में ऊपर की ओर जाता है, इसका विश्व पाद बार-बार होता है। वहाँ से वह पोषक तथा अपोषक सभी तत्वों में प्रकटतः संक्रमण करता हैं

विश्वपाद दृश्यमान जगत् का पाद होने से वह बार-बार होता है, जबकि अधिभूत, अधिदेव और ऊध्यात्म पाद ऊर्ध्व में जाने वाले होते हैं; किन्तु विश्व पाद पुनः उत्पन्न होकर प्रकटतः सभी पादों का अतिक्रमण करता है अर्थात् उन पर प्रभावी रहता है।

---

143. ऋग्वेद 10:90:2
144. ऋग्वेद 10:90:3
145. ऋग्वेद 10:90:4

तस्माद्विराळजायत विराजो अधिपूरुषः।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुरः।।[146]

अर्थात् उस दृश्यमान विश्वपाद से विशेषतः चमकता हुआ अत्यधिक पुरुषरूप विशेष रजस् उत्पन्न हुआ। इसके अतिरिक्त उस उत्पन्न हुये ने पहले श्रेष्ठों को वंचित किया, बाद में भूमि को किया।

बार-बार उत्पन्न होने वाले दृश्यमान जगत् से शनैः-शनैः स्थिर होते हुये विशेष रूप वाले अत्यधिक पुरुषरूप विशेष रजस् की उत्पत्ति होती है (यह व्यक्ति की स्वयं की अवधारणा 'सेल्फ कॅन्सेप्ट' है) जिसके उत्पन्न होने पर पहले अधिदेव और अध्यात्म और फिर अधिभूत या शरीर वंचित हो जाते हैं। सुश्रुत संहिता 'बहवस्तु पुरुषाः' की कल्पना करती है।[148] इस प्रकार हम देखते हैं कि भाव के अनुसार ही पुरुष की रचना होती है और पुरुष अनेकधा हैं। वेद में भी-

यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्।[149]

अर्थात् जिस पुरुष को विशेषतः धारण किया गया उसे कितने प्रकार से विभिन्नतः कल्पित किया गया? चरकसंहिता में भी यही प्रश्न है, "कतिधापुरुषो धीमन् धातुभेदेन विद्यते,"[150] अर्थात् धातु भेद से पुरुष कितने प्रकार का जाना जाता है? इस सब में धारणा (√धा) या वर्तमानता (√भू, भाव) का पुरुष की कल्पना में योग दिखाई देता है, और उन्हीं स्थितियों में पुरुष के अनेकानेक रूप प्रकाशित होते जाते हैं।

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः।
यस्य छायामृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम।।[151]

अर्थात् जो (हिरण्यगर्भ अधिदेव पुरुष) आत्मभान का देने वाला तथा शरीर का देने वाला है, जिसके शासन को समस्त देवगण मानते हैं, यह

---

146. ऋग्वेद 10:90:5
147. सुश्रुत. शा. 1:13
148. गीता 8:3-5
149. ऋग्वेद 10:90:11
150. चरक. शा० 1:3
151. ऋग्वेद 10:121:2

अमृतलोक (अध्यात्म) और यह मृत्युलोक (अधिभूत) जिसकी छाया मात्र है ....। इस प्रकार हम देखते हैं कि जीव रूप पुरुष ही अन्य पुरुषों को आत्मभाव और बल देने वाला है तथा वे सभी जीव की छायामात्र ही हैं।

(6) देव सृष्टि :

देवता का अर्थ है दीप्तियाँ या दीप्तिमान्, और इस प्रकार देवसृष्टि ब्रह्माण्डीय भी होती है और मानुषी भी होती है। ब्रह्माण्डीय सृष्टि के वर्णन में ऊर्जा के गतिमान होने से जो रश्मि निकली उससे ज्योतिषियाँ अर्थात् सूर्य, चन्द्र, देवगण बने ऐसा बताया जा चुका है। अब इस सृष्टि के सम्बन्ध में निम्न प्रश्न हैं–

किं स्विद्वनं क उ स वृक्ष आस यतो धावापृथिवी निष्टतक्षुः।।[152]
किं स्विदासीदधिष्ठानमारम्भणं कतमत्स्वित्कयासीत्।।[153]

अर्थात् सम्भावित वन कौन था और वह वृक्ष कौन था जिससे आकाश और पृथिवी स्थिर बनाये गये। यहाँ 'वन' का अर्थ हे योग या संकलन चाहे वह वृक्षों का हो या जल का या रश्मि का या नाड़ियों का या अन्य कोई। 'वृक्ष' का अर्थ है व्याप्त करने वाला।

सम्भावित आधार क्या था? सम्भावित आरम्भ कौन सा और कैसे था?

उत्तर है कि मनीषियों ने विचार करके ऊर्ध्व में बैठे हुये लोकों का पोषण करने वाले आत्मा के बारे में भी प्रश्न किये, अर्थात् इशारा किया।[154] तथा, भलीप्रकार स्थिर हुये और जीर्ण न होने वाले धावापृथिवी ने इस लोक से निर्माण प्रक्रिया के दिनों को पूर्वकाल की उषाओं अर्थात् ऊर्जाओं से प्रेरित किया।[155] दोनों ही स्थितियों में ऊर्जापुञ्जों से सृष्टि या निर्माण की प्रेरणा मिलने की बात स्पष्ट होती है। आगे अधिक स्पष्ट करते हुये यह कहा गया कि इससे श्रेष्ठ इतना बड़ा दूसरा कोई नहीं है जो बढ़ता हुआ आकाश और

152. ऋग्वेद 10:31:7, 10:81:4
153. ऋग्वेद 10:81:2
154. मनीषिणो मनसा पृच्छतेदु तद्यदध्यतिष्ठद्भुवनानि धारयन्।।
ऋग्वेद 10:81:4
155. संतस्थाने अजरे इत ऊती अहानि पूर्वीरुषसो जरन्त।।
ऋग्वेद 10:31:7

पृथ्वी को धारण करता है, और जैसे दिशायें सूर्य को धारण करती हैं वैसे ही अपनी धारिता से युक्त वह आवरण को पवित्र करता है।[156] वह सब ओर दृष्टि वाला, सब ओर मुख वाला, सब ओर बाहुवाला, सब ओर पैरों वाला एक देव अर्थात् अधिदेव रश्मियों से आकाश और पृथिवी को एकसाथ उतपन्न करता हुआ कर्म-ज्ञान रूप बाहुओं से सम्यक् जीवन जीता है।[157] विश्व को बनाने वाले ने भूमि (शरीर) को उत्पन्न करके ऊर्ध्व को या दीप्तियों के लोक को आच्छादित करते हुये वाक् (चेतना, ऊर्जा, वाणी) द्वारा समस्त ज्ञानों को विस्तृत किया।[158] अब, पूरे एक सूक्त में देव सृष्टि को बतलाया गया है (सूक्त 72 वाँ) :

देवानां नु वयं जाना प्र वोचाम विपन्या।
उक्थेषु शस्यमानेषु यः पश्यादुत्तरे युगे।।[159]

अर्थात् अब हम लोग देवताओं की विशेष उर्जारश्मि से होने वाली उत्पत्ति आगे बतलाते हैं, जो उत्तरायण में उत्पादयुक्त रश्मियों में देखी जाती हैं।

ब्रह्मणस्पतिरेता सं कर्मार इवाधमत्।
देवानां पूर्व्ये युगेऽसतः सदजायत।।[160]

अर्थात् देवताओं के पहले वाले युग में असत् से सत् उत्पन्न हुआ था। उत्पादों के स्वामी ने कारीगर की भांति इन देवताओं को सम्यक् ऊर्जित किया।

देवानां युगे प्रथमेऽसतः सदजायत।
तदाशा अन्वजायन्त तदुत्तानपद्स्परि।।[161]

---

156. नैतावदेना परो अन्यदस्त्युक्षा स धावापृथिवी विभर्ति।
त्वचं पवित्रं कृणुतः स्वधावान्यदीं सूर्यं न हरितो वहन्ति।।
ऋग्वेद 10:81:8
157. विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्।
सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्धावाभूमी जनयन्देव एकः।।
ऋग्वेद 10:81:3
158. यतो भूमिं जनयन्विश्वकर्मा वि द्यामौर्णोन्महिना विश्वचक्षाः।। ऋग्वेद 10:81:2
159. ऋग्वेद 10:72:1
160. ऋग्वेद 10:72:2
161. ऋग्वेद 10:72:3

अर्थात् देवताओं के पहले युग में असत् से सद् उत्पन्न हुआ था। उसके बाद दिशायें उत्पन्न हुईं, उसके चारों ओर ऊर्ध्वपाद बने या ऊर्ध्व मार्ग बने।

भूर्जज्ञ उत्तानपदो भुव आशा अजायन्त।
अदितेर्दक्षो अजायत दक्षाद्वदितिः परि।।[162]

अर्थात् पृथिवी ऊर्ध्वमार्गों या ऊर्ध्वपद से, तथा अन्तरिक्ष दिशा से उत्पन्न हुये। ऊर्जा से कर्म और बाद में कर्म से ऊर्जा उत्पन्न हुई।

अदितिर्ह्यजनिष्ट दक्ष या दुहिता तव।
तां देवा अन्वजायन्त भद्रा अमृत बन्धवः।।[163]

अर्थात् निश्चय ही दक्ष की पुत्री अदिति उत्पन्न हुई अर्थात् कर्म से ऊर्जा उत्पन्न हुई, उसके बाद कल्याण उत्पाद वाली दीप्तियाँ (देवता), जो ओजस् से सम्बन्धित थे, उत्पन्न हुये।

यद्देवा अदः सलिले सुसंरब्धा अतिष्ठत।
अत्रा वो नृत्यतामिव तीव्रो रेणुरपायत।।[164]

अर्थात् भली प्रकार उपलब्ध दीप्तियाँ विश्व को देने वाले अर्थात् उत्पन्न करने वाले जल में स्थिति हुई। यहाँ उन्होंने नाचती हुई तीव्र रजस् (प्राण) को प्राप्त किया।

यद्देवा यतयो यथा भुवनान्यपिन्वत।
अत्रा समुद्र आ गूळहमा सूर्यमजभर्तन।।[165]

अर्थात् जब यत्नशील देवों ने धातुस्थानों को इस प्रकार स्थूल (विस्तृत) बनाया कि यहाँ गहराई से युक्त अन्तरिक्ष में सूर्य को सर्वतः धारण किया।

---

162. ऋग्वेद 10:72:4
163. ऋग्वेद 10:72:5
164. ऋग्वेद 10:72:6
165. ऋग्वेद 10:72:7

अष्टौ पुत्रासों अदितेर्ये जातास्तन्वस्परि।
देवाँ उ प्रैत्सप्तभिः परा मार्ताण्डमास्यत्।।[166]

अर्थात् जो शरीरों में आठ पुत्र अदिति (समग्र ऊर्जा) से उत्पन्न हुये, अब सात से दीप्तियों (देवों) को आगे बढ़ाया, तथा शेष ने सूर्य की ऊर्जा को प्राप्त किया।

सप्तभिः पुत्रैरदितिरुप प्रैत्पूर्व्यं युगम्।
प्रजायै मृत्यवे त्वत्पुनर्मार्ताण्डमाभरत्।।[167]

अर्थात् अदिति ने सात पुत्रों द्वारा पूर्व काल को शीघ्र प्राप्त करके मरे हुये को फिर से आगे उत्पन्न करने के लिये उससे सूर्य की ऊर्जा को सब ओर से भरा।

इस प्रकार देवसृष्टि का सिद्धान्त यह बनता है कि मनीषियों ने ऊर्ध्व में स्थित लोकपालक अन्तर्रात्मा के बारे में भी विचार किया जो 'वन' था और ऊर्जारश्मियाँ 'वृक्ष' थीं जिनसे धावापृथिवी भली प्रकार स्थिर किये गये, यह उसका कर्म या; इन्हीं ऊर्जारश्मियों से इस लोक में निर्माणप्रक्रिया को प्रेरित किया गया, और समस्त ज्ञानों को विकसित किया गया।

देवताओं से पहले वाले युग में असत् से सत् उत्पन्न हुआ। इस सृष्टिकर्ता सत् ने दीप्तियों (देवताओं) को सम्यक् ऊर्जित किया। भली प्रकार उपलब्ध दीप्तियाँ विश्व को उत्पन्न करने वाले सलिल में स्थित हुईं, यहाँ उन्होंने तीव्र गतिमान रजस् (प्राण) को प्राप्त किया। उससे दिशायें उत्पन्न हुईं, इनसे ऊर्ध्वमार्ग उत्पन्न हुये। ऊर्ध्वमार्गों से पृथिवी (शरीर) और दिशा से अन्तरिक्ष (धातुस्थान) उत्पन्न हुये। ऊर्जा से कर्म और बाद में कर्म से ऊर्जा उत्पन्न हुई। उसके बाद कल्याण उत्पाद वाले देवता (दीप्तियाँ) जो ओजस् (अमृत) से सम्बन्धित थे, उत्पन्न हुये। यत्नशील दीप्तियों ने धातुस्थानों को ऐसा विस्तृत किया कि वहाँ गहराई से युक्त अन्तरिक्ष में सूर्य को सब ओर से धारण किया। शरीरों (धातुस्थानों) में अदिति (समग्र ऊर्जा) के आठ पुत्र (आदित्य) उत्पन्न हुये, जिनसे सात से दीप्तियों (देवों) को आगे बढ़ाया, तथा शेष ने सूर्य की ऊर्जा को प्राप्त किया। अदिति ने सात पुत्रों

---

166. ऋग्वेद 10:72:8
167. ऋग्वेद 10:72:9

द्वारा शीघ्र (धातुओं को) पूर्वकाल जैसा प्राप्त करके मरे हुओं (वलिअंशों) को फिर से आगे उत्पन्न करने के लिये, सूर्य की ऊर्जा को सब ओर से भरा।

(सृष्टिविज्ञान के अन्तर्गत ऋग्वेद 10:56:3-5 को भी देखें)

7. ऊर्जा :

ऋग्वेद दशम मण्डल में स्त्रियों के जो भी सूक्त हैं, वे सभी सीधे या प्रतीक रूप में, और कभी-कभी कुछ अंशों में भी, ऊर्जा से सम्बन्धित हैं। ब्रह्माण्डीय सृष्टि में ऊर्जा के कार्य बताये जा चुके हैं जो अत्यन्त संक्षिप्त है, किन्तु अन्य सृष्टियों में ऊर्जा के अनन्त कार्य हैं। सूर्याविवाह के सूक्त में इन कार्यों का विस्तृत उल्लेख किया गया है। वाक् सूक्त, रात्रि सूक्त, इन्द्र-इन्द्राणी संवाद, आदि में ऊर्जा का विवरण प्राप्त होता है, इन्हें समन्वित रूप में हम प्रस्तुत कर रहे हैं।

अहमेव वात इव प्र वाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा।
परो दिवा पर एना पृथिव्यैतावती महिना संबभूव।।[168]

इतने बड़े परिमाण वाली ऊर्जा आकाश से पहले, इन लोकों से पहले उदक से या अपनी महानता (विस्तार) से सम्यक् वर्तमान हुई थी। वह ही समस्त लोकों को उत्पन्न करती हुई वायु की तरह प्रवृत्ति होती है।

ऊर्जा समस्त जङ्गम-स्थावर रश्मियों और दीप्तियों द्वारा संचरित होती है। वह निर्माण और व्याप्ति, ज्योति और ताप, तथा कान्ति और शोभा का आधार है।[169]

ऊर्जा क्षरित न होने वाले, पोषण करने वाले और प्रकाश में चलने वाले दिव्य जलों का आधार है। वह (प्रक्रियावान) होता, उद्गाता, ब्रह्मा और अध्वर्यु के लिये उत्पादों को धारण करने वाली है।[170]

ऊर्जा सर्वाधिक देने वाली, धातुओं के साथ चलने वाली, और

---

168. ऋग्वेद 10:125:8
169. अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः।
अहं मित्रावरुणोभा विभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमशिवनोभा।।
ऋग्वेद 10:125:1
170. अहं सोममाहनसं बिभर्म्यहं त्वष्टारमुत पूषणं भगम्।
अहं दधामि द्रविणं हविष्मते सुप्राव्ये यजमानाय सुन्वते।।
ऋग्वेद 10:125:2

प्रक्रियावानों का प्रथम ज्ञान करने वाली है। उस अग्रिम स्थान वाली, अनेक रूपों में अवस्थित, सब कुछ अपने भीतर निवेशित करने वाली ऊर्जा को दीप्तियां विशेष रूप से धारण करती हैं।[171]

संकुचित ऊर्जा प्राण से संचालित जल द्वारा दीप्तियों को प्राप्त करती हुई अपनी सारभूत उषा को निश्चित कृपा पूर्वक आगे बढ़ाती है और अन्धकार को भी भगाती हैं।[172]

अपार्थिव दीप्तिमती ने विपुल ज्योति से चारों दिशाओं को भर दिया तथा नीचे जाते हुये और ऊपर जाते हुये अन्धकारों को बाधित किया।[173]

संकुचित ऊर्जा दीप्तियों को प्राप्त करती हुई अक्षरणशीलों से समस्त शक्तियों को प्रमुखतः धारण करती है, और बहुत से स्थानों पर विशेषतः दिखाई पड़ती है।[174]

पवित्र करने वाली अग्नि ऊर्जायें, उदक की ऊर्जाये, समग्र ऊर्जायें अग्नि ऊर्ध्व में रश्मि द्वारा प्राप्त करते हैं।[175]

गतिमान ऊर्जा अग्नि से, ऊष्मा सूर्य से, रुकी हुई या स्थिर ऊर्जा सोम से, और विस्तृत या बढ़ी हुई, ऊर्जा बृहस्पति से सम्बन्धित है।[176]

विशेष प्रकाशित होने वाली मित्रावरुण के साथ, पकाने वाली या शोभा वाली इन्द्र की, इस लोक में त्रिवृत् स्थिर दिन (उत्तरायण) का भाग, तथा जङ्गम ऊर्जा ने समस्त देवों में प्रवेश किया है। उस ऊर्जा के द्वारा मनुष्यगण ऋषियों के अनुरूप हुये।[177]

निश्चय ही समूहों ने (जैसे मरुद्गण, वसुगण, आदित्यगण), निश्चय ही पदों से युक्तों ने (जैसे अधिभूत, अधिदेव, अध्यात्म), निश्चय ही पक्ष

---

171. अहं राष्ट्री संगमनीय स्नां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्।
तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्याविशयन्तीम्।।
ऋग्वेद 10:125:3

172. निरु स्वसारमस्कृतोषसं देव्यायती। अपेदु हासते तमः।।
ऋग्वेद 10:127:3

173. ओर्वप्र अमर्त्या निवतो दव्युद्वतः। ज्योतिषां बाधते तमः।।
ऋग्वेद 10:127:2

174. रात्री व्यख्यदायती पुरुत्रा देव्यक्षभिः। विश्वा अधि श्रियोऽधित।।
ऋग्वेद 10:127:1

175. पालक वर्चाः शुक्रवर्चाः अनुनवर्चाः भानुमा उत् इयार्षि।।
ऋग्वेद 10:140:2

176. अग्नेगायत्र्यभवत्सयुग्वोष्णिहया सविता सं बभूव।
अनुष्टुभा सोम उक्थैर्महस्वान्बृहस्पतेबृहती वाचमावत्।।
ऋग्वेद 10:130:4

177. विराण्मित्रावरुणयोरभि श्रीरिन्द्रस्य त्रिष्टुबिह भागो अह्न।
विश्वान्देवास्जगत्या विवेश तेन चाक्लृप्र ऋषियो मनुष्याः।।
ऋग्वेद 10:130:5

वालों ने (जैस दिन-रात, शुक्ल-कृष्ण, उत्तरायण-दक्षिणायन), निश्चय ही रश्मियों ने, कामना वाले (रसादिधातुओं) ने भी प्रवेश लिया।[178]

जो समान रूप की, भिन्न रूप की, एक रूप की हैं अग्नि प्रवृत्ति द्वारा उनके नामों को जानते हैं; अङ्गिरस ताप द्वारा उनको इस लोक में बनाते हैं, उनके लिये वृष्टि महान् घर विस्तारित करती हैं।[179]

जिन्होंने शरीर को दीप्तियों में प्रेरित किया, सोम उनके समस्त रूपों को जानते हैं। इन्द्र उत्पादों से युक्त उनको जलों से बलवान करते हुये ऊर्जास्थान में प्राप्त कराते हैं।[180]

उत्पादों के स्वामी इन कल्याणी सत्ताशील ऊर्जाओं को समस्त देवों और पितरों (दीप्तिमानों और विकास करने वालों) से साथ-साथ विशेष दान प्राप्त करते हुये और मनुष्य को देते हुये मनुष्य के ऊर्जास्थान में घुमाते हैं और उनके उत्पादन से मानुषी धातुओं को सम्यक् स्थित करते हैं।[181]

वात रश्मि होकर प्रकटतः बहती है, ऊर्जा से युक्त हुई रश्मियाँ रसादिधातुओं को सर्वतः विभाजित करती हैं, जैविक उत्पाद वाली विकास से युक्त होकर रक्षा करती हैं, पद-स्थान वाले की सहायता उग्र होकर दयापूर्वक करती है।[182]

शची (वाक्) रश्मि है, वह मूर्धा (मस्तिष्क) है, वह तीक्ष्ण विवेकशीला है। इन्द्र उसका ही अनुगमन करते हैं, वे निर्माण के लिये उद्योग करते हुये प्राप्त करने वाली से मिले हुये चलते हैं।[183]

प्रथम उत्पन्न होने वाले दीप्तियों से युक्त जल ऋत (नियम) के द्वारा

---

178. नि ग्रामासो अविक्षत नि पद्वन्तो निपक्षिणः। नि श्येनासश्चिदर्थिनः।।
ऋग्वेद 10:127:5

179. याः सरूपा विरूपा एकरूपा यासामग्निरिष्ट्या नामानि वेद।
या अङ्गिरसस्तपसेह चक्रुस्ताभ्यः पर्जन्य महि शर्म चच्छ।।
ऋग्वेद 10:169:2

180. या देवेषु तन्वमैरयन्त यासां सोमो विश्वा रूपाणि वेद।
ता अस्मभ्यं पयसा पिन्वमानाः प्रजावतीरिन्द्र गोष्ठे रिरीहि।।
ऋग्वेद 10:169:2

181. प्रजापतिर्मह्यमेता रराणो विश्वेदेवैः पितृभिः संविदानः।
शिवाः सतीरुप नो गोष्ठमाकस्तासां वयं प्रजया सं सदेम।।
ऋग्वेद 10:169:4

182. मयोभूर्वातो अभि वातूस्रा ऊर्जस्वतीरोषधीश रिशन्ताम्।
पीवस्वतीर्जीवधन्याः पिबन्त्ववसाय पद्वते रुद्र मृळ।।
ऋग्वेद 10:169:1

183. अहं केतुरहं मूर्धाहमुग्रा विवाचनी।
ममेदनु क्रतुं पतिः सेहानाया उपाचरेत्।।
ऋग्वेद 10:159:2

बलग्रहण करने वाले तीव्र ताप से युक्त हुये।[184]

वह ऊर्जा अपरिवर्तित वर्तमान थी। सर्वप्रथम प्रकाशमान् सोम (जल) ने न ग्रहण करने योग्य उससे युक्त होकर उस उत्पादन को जीतने वाली को फिर से अधिक विस्तृत किया। निर्माण करने वाले, विस्तृत करने वाले, तथा सक्रिय करने वाले आकलनकर्ता उसे हाथ से पकड़ कर ले जाये।[185]

तपाने के लिये निश्चित स्थित हुई जो पूर्वकालीन सात आदित्य रश्मियाँ थीं उन्हें दीप्तियों से वाक् के बारे में ज्ञान हुआ कि उत्पादन विज्ञ के समीप लाई गई, कठिनाई से धारण की जाने वाली, भयानक कर्मवाली, जीतने वाली, सर्वोच्च आकाश में स्थित होती है।[186]

उत्पाद को प्राप्त करने वाला जलों को सक्रिय करता हुआ चलता है, जैसे दीप्तियाँ जल से लाई हुई ऊर्जा को आहूत करती हैं। वह दीप्तियों का एक अङ्ग हो जाता है, फिर प्रयत्नों का स्वामी उससे जीतने वाली वाक् को प्राप्त करता है।[187]

वस्तुतः दीप्तियों ने पुनः और धातुओं ने पुनः दिया, फिर प्रकाशों ने उत्पाद को जीतने वाली को सत्ता के योग्य बनाने के लिये दिया।[188]

उत्पाद को जीतने वाली शरीर की ऊर्जा को दीप्तियों द्वारा निर्दोष बना करके, विभाजित करके, बार–बार देकर के ज्योतिपुञ्ज के समीप स्थित किया।[189]

वाक् ने कल्याणकारी बुद्धियों को प्राप्त करते हुये अन्न की ऊर्जा को, कल्याणमय शरीर को, समस्त प्रकाशों को सब ओर से बढ़ाया। ऊर्जा अग्नि की जलों के द्वारा संयुक्त होकर विशेष आनन्द से युक्त मनीषा को भी

---

184. वीळुहरास्तप उग्रो मयोभूरापो देवीः प्रथमजा ऋतेन।।
ऋग्वेद 10:109:1

185. सोमो राजा प्रथमो ब्रह्मजायां पुनः प्रायच्छदहृणीयमानः।
अन्वर्तिता वरुणो मित्र आसीदग्निर्होता हस्तगृह्या निनाय।।
ऋग्वेद 10:199:2

186. देवा एतस्यामवदन्त पूर्वे सप्तऋषयस्तपसे ये निषेदुः।
भीमा जाया ब्राह्मणस्योपनीता दुर्धां दधाति परमे व्योमन्।।
ऋग्वेद 10:109:5

187. ब्रह्मचारी चरति वेविषद्विषः स देवानां भवयेकमङ्गम्।
तेन जायामन्वविन्दद् बृहस्पतिः सोमेन नीतां जुहं न देवाः।।
ऋग्वेद 10:109:4

188. पुनर्वै देवा अददुः पुनर्मनुष्या उत।
राजानः सत्यं कृण्वाना ब्रह्मजायां पुनर्ददुः।।
ऋग्वेद 10:109:6

189. पुनर्दाय ब्रह्मजायां कृत्वी देवैर्निकिल्विषम्।
ऊर्जं पृथिव्या भक्त्वायोरुगायमुपासते।।
ऋग्वेद 10:109:7

उत्पन्न करती हैं।[190]

वस्तुतः वे प्रसिद्ध प्रक्रियाशील धातुयें भी किरण में बंधी हुई ऊर्जा को जिस प्रकार सर्वथा मुक्त करते हैं, उसी प्रकार ऊर्ध्व अध्यात्म खिलता हुआ रक्षा के नाश (पाप) से सर्वथा छुड़ाता है, (ऊर्जावान्) अग्नि हमारे, प्रकृष्ट जीवन को पार लगाते हैं।[191]

अब बरसते हुये जलों की रश्मि ने मानुषी आधारो (धातुओं) के लिये उत्पाद युक्त सूयं की ऊ़र्जा और संकुचित ऊर्जा को वर्तमान किया, जो (उत्पाद) इनके (जलों के) नाश करने वाले जुड़े हुये मेघों के अन्तरिक्षों में निवासी हुआ।[192]

अभी तक की स्थिति, संक्षेप में, यह बनती है कि सबसे पहले संकुचित ऊर्जा जलों में वर्तमान थी, वही प्राण से संचालित जल द्वारा दीप्तियों को प्राप्त कर अपनी सारभूत ज्योति (उषा) से सब दिशाओं को भरती हुई अन्धकार को बाधित करती, अक्षरणशीलों से समस्त शक्तियों को धारण करती और अनेक स्थानों पर प्रकट होतीं हैं। वह निर्माण और व्याप्ति, ज्योति और ताप, तथा कान्ति और शोभा एवं अक्षय, पोषक और प्रकाश में गति करने वाले दिव्य जलों का आधार है। प्रक्रिया के हर स्तर पर वह उत्पादों को धारण करने वाली है। अनेक रूपों में अवस्थित सब कुछ अपने भीतर निवेशित करने वाली ऊर्जा को दीप्तियां विशेषतः धारण करती हैं। ऊर्जा के अनेक रुप हैं जिनका प्रवृत्ति द्वारा आकलन किया जा सकता है, ताप द्वारा वर्तमान किया जा सकता है और रश्मि वृष्टि द्वारा विस्तारित किया जा सकता है। गतिशील ऊर्जा अग्नि से, उष्मा सूर्य से, स्थिर ऊर्जा जलों से तथा विस्तृत ऊर्जा प्रयत्न से प्राप्त होती है। विशेष प्रकाशित होने वाली निर्माण और व्याप्ति में, शोभा वाली या पकाने वाली प्रभा में, कर्म और उत्पाद वाली रश्मि में, ओर जङ्गम ऊर्जा दीप्तियों में स्थित होती हैं। शरीर की सम्पूर्ण संक्रियायें ओर शक्तियां ऊर्जा में वर्तमान हैं। शरीर में जलों द्वारा वह दीप्तियों में प्रेरित होती है, जलों से बलवती होकर वह धातु स्थानों में

---

190. एवा ते अग्ने विमदो मनीषामूर्जो नपादमृतेभिः सजोषाः।
गिर आ वक्षत्सुमतीरियान इषमूर्जं सुक्षितिं विश्वमाभाः।।
ऋग्वेद 10:20:10

191. यथा ह त्यद्वसवो गौर्यं चित्पदि षितामभुञ्चता यजत्राः।
एवो स्वस्मन्मुञ्चता व्यंहः प्र तार्यग्ने प्रतरं न आयुः।।
ऋग्वेद 10:126:8

192. उत नो नक्तमपां वृषण्वसू सूर्यामासा सदनाय सधन्या।
सचा यत्साधेषामहिर्बुध्नेषु बुध्न्यः।।
ऋग्वेद 10:93:5

वर्तमान होती है। वह सत्ताशील होकर आदान और विसर्ग संक्रियाओं में घूमती हुई धातुओं को सम्यक स्थित करती है। वह बात के साथ रश्मि होकर बहती है, धातुओं को विभाजित करती हैं, विकास से युक्त जैविक उत्पाद वाली होकर रक्षा करती है, तथा पद स्थितियों की सहायक होती हैं। वाक् रूप में वह मूर्धा तथा तीक्ष्ण विवेकशीला रश्मि है, प्रभा असका अनुगमन करती है तथा निर्माण और प्राप्ति में उसकी सहयोगी है।

अपरिवर्तित ऊर्जा को प्रकाशमान जलों ने उत्पादन प्रक्रिया के लिये विस्तृत किया। निर्माण करने वाली, विस्तृत करने वाली, आकलन करने वली शक्तियाँ उसे किरण से पकड़ कर लाती हैं। उत्पादन प्रक्रिया में जल को सक्रिय किया जाता है जिसकी ऊर्जा दीप्ति रूप में प्रकट होती है फिर आदित्य रश्मियों से तप्त होकर विजयिनी वाक् में परिवर्तित होती है और सर्वोच्च आकाश (मूर्धा) में स्थित होती है। दीप्तियों, धातुओं, प्रकाशों द्वारा निर्दोष बनाकर तथा विभाजित करके ऊर्जा को बारबार प्रदान किया जाता है ओर वह ज्योति पुञ्ज में स्थित होती है। जलों के वर्षण में रश्मि यप से वर्तमान ऊर्जा उत्पादों को उत्पन्न करने वाली तथा स्थिर उत्पाद स्थानों में संकुचित रूप में वर्तमान हो जाती है।

सूर्या-विवाह सूक्त में प्रतीकात्मक रूप से ऊर्जा सम्बन्धी अनेक तथ्य बताये गये हैं, जिन्हें हम अगले अध्याय में स्पष्ट करेंगे; परन्तु जिन मन्त्रों में निर्वचन द्वारा ही स्पष्ट अर्थ प्राप्त हो रहे हैं उन्हें हम यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं। सूर्याविवाह की कथा में सूर्य की पुत्री का विवाह सोम से बताया जाता है। सूर्य, प्रणी की आत्मा है, सूर्या आत्मा से प्राप्त जैव ऊर्जा है, तथा सोम ओजस् हैं। इस सूक्त के प्रथम पाँच मन्त्र सोम से सम्बन्धित है। छठवें मन्त्र से उत्तरायण आदान में सूर्य-ऊर्जा की स्थिति और कार्य बतलाये गये हैं।

रैभ्यासीदनुदेयी नाराशंसी न्योचनी।
सूर्याया भद्रमिद्वासो गाथयैति परिष्कृतम्।।[193]

अर्थात् वाक् आदान के योग्य हुई, जलों को शुद्ध करने वाली और संचय करने वाली हुई। सूर्य ऊर्जा के वासस्थान भी कल्याण उत्पाद को प्राप्त करते है, वे वाक् द्वारा परिष्कृत होते हैं।

193. ऋग्वेद 10:85:6

कर्म में वृद्धि को प्राप्त हुई, दृष्टि में सम्मुख प्रकाशन को प्राप्त हुई, तथा उसके आकाश और पृथिवी शरीरकोश हुये जब सूर्य–रश्मि ने गिरने वाले जल को प्राप्त किया।[194]

वाक्–ऊर्जा फिर से धारण योग्य हुई, बुरी गति वाले (कु+रीर) सर्वतः आनन्द युक्त (आशःउप) आवरण (श+रीर) हुये, दोनों कृष्ण–शुक्ल पक्ष सूर्य ऊर्जा की श्रेष्ठ किरणों से युक्त हुये और अग्नि आगे जाने वाले हुये।[195]

ओजस् वहन करने वाले हुये। आत्मा ने मन के साथ दोनों कृष्ण–शुक्ल मार्ग में जाने वाली श्रेष्ठ किरणों को गिरने वाले जलों से आनन्दित होती हुई उस ऊर्जा को प्रदान किया।[196]

ऊर्जा ने घर (शरीर) प्राप्त किया मन इसका प्राण हुआ, दीप्तियाँ इसका आवरण थीं, शुद्ध करने वाली दोनों ज्ञान–पाक प्रक्रियायें प्राणों को वहन करने वाली हुई।[197]

आधिभौतिक और आध्यात्मिक धारिताओं वाली वशी दो जाने वाली ऊर्जायें हैं, दो अन्तरिक्षमण्डल कर्म और ज्ञान हैं, तथा दीप्तियों में स्थावर और जङ्गम मार्ग हैं।[198]

शुद्ध करने वाले दो मार्ग (पाक और ज्ञान) प्राप्त होते है जिनसे न क्षरण होने वाला विशेष जीवन अवधारित है। वह जीवन मनोमय है ओर गिरने वाले जल को प्राप्त करती हुई सूर्य ऊर्जा उस पर चढ़ती है।[199]

ऊर्जा का वहनकर्ता पहले प्राप्त होने पर आत्मा जुड़वा कर्म ज्ञान (दक्षिणायन्–उत्तरायण) का निर्माण करती है। जब जाने वाली रश्मियाँ उत्पादों में मारी जाती हैं तो दोनों प्रक्रियाओं की रश्मियों की पूर्ति की जाती है।[200]

---

194. चित्तिरा उपबर्हणं चक्षुरा अभ्यञ्जनं।
धौर्भूमिः कोष आसीद्यदयात्सूर्या पतिम्।।
ऋग्वेद 10:85:7

195. स्तोमा आसन्प्रतिधयः कुरीरं छन्द ओपशः।
सूर्याया अश्विना वराग्निरासीत्पुरोगवः।।
ऋग्वेद 10:85:8

196. सोमो वधूयुरभवदश्विनास्तामुभावरा। सूर्या यत्पत्ये शसन्तीं मनसा सविता ददात्।।
ऋग्वेद 10:85:9

197. मनो आस्या अन आसीत् घौरासीदुत छदिः। शुक्रावनड्वाहावास्तां यदयात्स्र्या गृहम्।।
ऋग्वेद 10:85:10

198. ऋक्सामाभ्यामभिहितौ गावौ ते सामनावितः। श्रोत्रं ते चक्रे आस्तां दिवि पन्थाश्चराचरः।।
ऋग्वेद 10:85:11

199. शुची ते चक्रे यात्या व्यानो अक्ष आहतः। अनो मनस्मयं सूर्या रोहत्प्रयती पतिम्।।
ऋग्वेद 10:85:12

200. सूर्याया: वहतुः प्रागात्सविता यमवासृजत्। मधासु हन्यन्ते गावः अर्जुन्योः पर्युह्यते।।
ऋग्वेद 10:85:13

जब ऊर्जा को तीन मार्गों से (कर्म-ज्ञान-पाक) ले जाने के लिये पूंछती हुई रश्मियाँ आतीं है तब उसका अनुसरण करती हुई समस्त दीप्तियाँ उन दोनों रश्मिपुञ्जों को प्रकट करतीं हैं। पोषणकर्ता गमनार्थी ने द्यावापृथिवी को व्याप्त कर लिया।[201]

ऊर्जा के दो (कर्म-पाक) मार्गों को उत्पाद के ज्ञाता ऋत के अनुसार जान लेते हैं, और जो एक (ज्ञान) मार्ग गुप्त है उसको धारणाओं को प्राप्त करने वाले बुद्धिमानों ने जाना है।[202]

निर्माण करने वाली ऊर्जा के लिये वे दो कर्मशील प्रेरणा दायक रश्मिपुञ्ज (अश्विनौ) पहले नीचे चलते हैं, फिर अन्तरिक्ष में सब ओर जाते हैं। उनमें से एक समस्त उत्पादस्थानों को देखता है, और दूसरा ऋत के नियमों को विशेष धारण करता हुआ बार-बार उत्पन्न होता है।[203]

सूर्य ऊर्जा गिरने वाले जल को वहन करने के लिये किरण को बनाती है; वह प्रकृष्ट प्रकाशमान्, शुद्ध, विश्वरूप, हिरण्यवर्ण, कल्याण व्याप्ति वाले, शुभ मार्ग वाले उदक के लोक को जाती है।[204]

समस्त स्थावर रसादि धातुओं को मुड़ने वाली रश्मियाँ प्रेरित की जाती हैं जो सदैव चलने वाली, गिरने वाले जल से युक्त ऊर्जा को ऊर्ध्व में ले जाती हैं। दूसरी (संकुचित ऊर्जा) को प्राण की सत्ता में प्राप्त करते हैं।[205]

आत्मा ऊर्जा को व्यापकता के पाश द्वारा कल्याण सुख से बाँधते हैं, जो दुःखनाशक होकर सुकर्म के लोक जल के स्रोत में गिरते हुये जल से

---

201. यदश्विना पृच्छमानावयातं त्रिचक्रेण वहतुं सूर्यायाः।
विश्वे देवा अनु तद्वामजानन्पुत्रः पितरावvृणोत पूषा।।
ऋग्वेद 10:85:14

202. द्वे ते चक्रे सूर्ये ब्रह्माण ऋतुथा विदुः।
अथैकं चक्रं यपद् गुहा तदद्धातय इद्विदुः।।
ऋग्वेद 10:85:16

203. पूर्वापरं चरतो माययैतौ शिशु क्रीळन्तौ परियातो अध्वरम्।
विश्वान्यन्यो भुवनाभिचष्ट ऋतूँरन्यो विदधज्जःयते पुनः।।
ऋग्वेद 10:85:18

204. सुकिंशुकं शल्मलिं विश्वरूपं हिरण्यवर्ण सुवृतं सुचक्रम्।
आरोह सूर्ये अमृतस्य लोकं स्योनं पत्ये वहुतं कृणुष्व।।
ऋग्वेद 10:85:20

205. उदीर्ष्वातः पतिवती ह्येषा विश्वावसु नमसा गार्भिरीळे।
अन्यामिच्छ पितृषदं व्यक्तां सते भागो जनुषा तस्य विद्धि।।
ऋग्वेद 10:85:21
उदीर्ष्वातो विश्वावसो नमसेळामहे त्वा।
अन्यामिच्छ प्रफर्व्यं सं जायां पत्या सृज।।
ऋग्वेद 10:85:22

युक्त होकर धारण की जाती है।[206]

पोषणकर्ता ऊर्जा या वाक् को इस लोक से आगे ले जाते हैं, दो कर्म–ज्ञान सम्बन्धी रश्मि–पुञ्ज शरीर से, रश्मि से पकड़े जाने योग्य ऊर्जा को, दो आगे ले जाते हैं। वह वाक् धातुगृह की स्वामिनी होकर चाही जाती है और संघर्ष में बोलने वाली होती।[207]

वाक् का प्रेयमार्गी (प्राण) इस लोक में उत्पाद से समृद्ध होता है। गृह (धातुस्थान) में वाक् गार्हपत्य अग्नि से सम्पर्क करती है। इस प्रकार गिरने वाले जल से शरीर को सम्यक् बनाते हैं। संघर्ष में तब दोनों जीर्ण हुये ज्ञान देते हैं।[208]

निर्माण करने योग्य लाल रंग का रक्त होता है जिसे सम्पूर्ण योग आगे बढ़ाता है। वाक् या ऊर्जा के निकट सम्बन्धी बढते हैं। गिरने वाला जल उत्पादों में बँधता है।[209]

ऊर्जा अगले को लाकर देती है, देने योग्य को शान्त करती है, बसने की इच्छा वाले को विशेष उत्पादों के लिये आगे विभाजित करती है, वह निर्माण को स्थानवत् वर्तमान करती है, वह ऊर्जा गिरने वाले जल को अपने भाग में प्राप्त करती है।[210]

रोष करने वाली उग्र ऊर्जा का शरीर पालनकरता को पी लेने के पाप से शोभाहीन हो जाता है, क्योंकि गिरने वाले जल ने वहन की इच्छा वाली ऊर्जा के निवास के साथ अपने शरीर को प्रत्यक्षतः धारण कर लिया है।[211]

बाद में, उत्पत्ति से सोम को वहन करने के लिये वहन करने की इच्छा वाली ऊर्जा की क्षीणता जो (शक्तियां या स्थितियां) प्राप्त करती हैं उन्हें

---

206. प्र त्वा मञ्चामि वरुणस्य पाशाद्येनु वा बध्नात्सविता सुशेवः।
ऋतस्य यौनौ सुकृतस्य लोकेऽरिष्टां त्वा सह पत्या दधामि।।
ऋग्वेद 10:85:24
प्रेतो मुञ्चामि नामुतः सुबद्धाममुतस्करम्।
ऋग्वेद 10:85:25

207. पूषा त्वेतो नयतु हस्तगृह्याश्विना त्वा प्र वहतां रथेन।
गृहान्गाच्छ गृहपत्नी यथासो वशिनी त्वं विदथमा वदासि।।
ऋग्वेद 10:85:26

208. इह प्रियं प्रजया ते समृध्यतामस्मिन्गृहे गार्हपत्याय जागृहि।
एना पत्यां सं सृजस्वाधा जिव्री विदथमा वदाथः।।
ऋग्वेद 10:85:27

209 नीललोहित भवति कृत्यासक्तिर्व्यज्यते।
एधन्ते अस्या ज्ञातयः पतिर्बन्धेषु बध्यते।।
ऋग्वेद 10:85:28

210. परा देहि शामुल्यं ब्रह्मभ्यो वि भजा वसु। कृत्यैषा पद्वतो भूत्व्या जाया विशते पतिम्।।
ऋग्वेद 10:85:29

प्रक्रियाशील पुनः आने वाली दीप्तियाँ विस्तृत कर देती है।[212]

यह ऊर्जा शुभ कल्याण को वहन करने वाली है, इसको सम्यक प्राप्त करना चाहिये और ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। इसके सुन्दर भाग को देते हुये आगे घर में विस्तारित करना चाहिये।[213]

यह दूर होकर संतुष्ट करने वाली, विष की भाँति तीक्ष्ण, अखाद्य है। जो उत्पादविज्ञ सूर्य ऊर्जा को जानता है वह ही वहन करने वाली शक्ति के योग्य होता है।[214]

सूर्य की ऊर्जा के रूपों जैसे सम्पूर्णतः वध करना, बरबाद कर देना, विशेषतः अधिक काटना का संज्ञान करना चाहिये। उत्पादविज्ञ (वैज्ञानिक) तो उनको शुद्ध कर लेता है।[215]

प्रकाश में गमन करने वाली, जाते हुये या श्रेष्ठ को मापने वाली, उत्पन्न करने वाली, धातुस्थानों या शरीर को धारण करने वाली, दीप्तियों से युक्त, शक्तियां मनुष्य के गार्हपत्य अग्नि के लिये ऊर्जा प्रदान करती है। जैसे तेजी से गिरने वाले जल द्वारा पुराना बीज (वृक्ष रूप में) वर्तमान हो जाता है, वैसे ही कल्याण रूप प्रकाश में गमन के लिये मानुषी उत्पाद ऊर्जा रश्मि को पकड़ता है।[216]

पोषणकर्ता उस अतिशय कल्याणी को प्रेरित करता है जिसमें मानुषी स्थितियां बीज को बोती हैं। वह ऊर्जा मानुषी स्थिति को प्रेरित करती है और दो विस्तार विशेष आश्रय पाते हैं। मानुषी स्थिति प्रेरित करती हुई इस ऊर्जा पर सोये हुये (धातु) को आगे ले जाती है।[217]

---

211. आश्रीरां तनूर्भवति रुशती पापयामुया। पतिर्यद्वध्वो वाससा स्वमङ्गमभिधित्सते।।
ऋग्वेद 10:85:30

212. ये वध्वश्चन्द्रं वहतुं यक्ष्मा यन्ति जनादनु। पुनस्तान्यज्ञिया देवा नयन्तु यत आगताः।।
ऋग्वेद 10:85:31

213. सुमङ्गलीरियं वधूरिमां समेत पश्यत। सौभाग्यमस्यै दत्वायाथास्तं वि परे तन।।
ऋग्वेद 10:85:33

214. तुष्टमेतत्कटुकमेतदपाष्ठवद्विषवन्नैतदत्तवे। सूर्यां यो ब्रह्मा विद्यात्स इद्वाधूयमर्हति।।
ऋग्वेद 10:85:34

215. आशसनं विशसनमथो अधिविकर्तनम्।
सूर्यायाः पश्य रूपाणि तानि ब्रह्मा तु शुन्धति।।
ऋग्वेद 10:85:35

216. गृभ्णामि ते सौभगत्वाय हस्तं मया पत्या जरदष्टिर्यथासः।
भगो अर्यमा सविता पुरन्धिर्मह्यं त्वादुर्गार्हपत्याय देवाः।।
ऋग्वेद 10:85:36

217. तां पूषञ्छिवतमामेरयस्व यस्यां बीजं मनुष्या वपन्ति।
या न ऊरू उशती विश्रयाते यस्यामुशन्तः प्रहराम शेपम्।।
ऋग्वेद 10:85:37

सबसे पहले सूर्य ऊर्जा ने वहन करने वाले दोनों रश्मिपुञ्जों के साथ अग्नि को चारों ओर जलाया, फिर उत्पाद के साथ गिरने वाले जलों के लिये विजय करने वाली ऊर्जा अग्नि ने दी।[218]

फिर अंग्नि ने उत्पाद तथा आयु के साथ ऐश्वर्यवाली को प्रदान किया। जो इसका रक्षक हे वह सौ वर्षों की दीर्घायु जिया करता है।[219]

सबसे पहले सोम ऊर्जा को विशेषतः प्राप्त करता है, बाद में वायु विशेषतः प्राप्त करता है; ऊर्जा का तीसरा रक्षक अग्नि है, चौथा मानुषी उत्पाद हैं।[220]

सोम वायु (प्राण) के लिये ऊर्जा को देता है, प्राण अग्नि के लिये देता है; अग्नि मुनष्य के लिये इस उत्पाद को और गतिशील जलों को देता है।[221]

इन्द्र उत्पाद के प्राप्त करने वालों, कल्याणमय प्रकाश में गमन करने वालों का निर्माण करते हैं तथा ऊर्जा की दस प्राप्तियों (अन्न से लेकर पर ओजस् तक के उत्पाद) का सम्पूर्णतः पोषण करते हैं। इसके ग्यारहवें रक्षक (पति) स्वयं बनते हैं।[222]

न भयानक दृष्टि वाली, न रक्षक घातिनी, कल्याणी, ओजस् से युक्त, अच्छे मन वाली, शुभ उत्पाद वाली, वीर्य को उत्पन्न करने वाली, देवयान की कामना वाली, सुखयाकारिणी उत्तरायण-दक्षिणायन पदों में तथा अधिभूत, अधिदेव, अध्यात्म और विश्व पदों में कल्याण रूप से विद्यमान होती है।[223]

ऊर्जा श्रेष्ठ जीवन में, जीवनज्ञानों में, प्रसन्नता में,

---

218. तुभ्यमग्रे पर्यवहन्त्सूर्यां वहतुना सह।
पुनः पतिभ्यो जायां दा अग्ने प्रजया सह।।
ऋग्वेद 10:85:38

219. पुनः पत्नीमग्निरदादायुषा सह वर्चसा।
दीर्घायुरस्या यः पतिर्जीवाति शरदः शतम्।।
ऋग्वेद 10:85:39

220. सोमः प्रथमो विविदे गन्धर्वो विविद उत्तरः।
तृतीयो अग्निष्टे पतिस्तुरीयस्ते मनुष्याजाः।।
ऋग्वेद 10:85:40

221. सोमो ददद् गन्धर्वाय गन्धर्वो ददग्नये।
रयिं च पुत्रांश्चादादग्निर्मह्यमथो इमाम्।।
ऋग्वेद 10:85:41

222. इमां त्वमिन्द्र मीढ्वः सुपुत्रां सुभगां कृणु।
दशास्यां पुत्राना धेहि पतिमेकादशं कृधि।।
ऋग्वेद 10:85:45

223. अधोरचक्षुरपतिघ्न्येधि शिवा पशुभ्यः सुमनाः सुवर्चाः।
वीरसूर्देवृकामा स्योना शं नो भव द्विपदे शं चतुष्पदे।।
ऋग्वेद 10:85:44

प्रकाशयुक्तों में अधिक सम्यक् रूप से प्रकाशित होने वाली है।[224]

सूर्याविवाह सूक्त के छठवें मन्त्र में ही संक्षेप में उत्तरायण आदान में ऊर्जा के कार्य बता दिये गये हैं। ये हैं रसादिधातुओं की परिष्कृत रूप में प्राप्ति और ओजस् का इन धातुओं से शुद्धीकृत रूप में प्राप्त होना तथा उन्हें संचय करना। इसके लिये ऊर्जा कर्म में वृद्धिको प्राप्त हुई (दक्षिणायन) तथा ज्ञान का प्रकट प्रकाशन (उत्तरायण) हुआ और यह अधिदैविक अन्तःशरीर में, जो अधिभूमि (भूमि ~ भौतिक शरीर) और अध्यात्म (द्यौ ~ कारणशरीर) के मध्य था, हुआ। इसके लिये दोनों अश्विनीकुमार (दक्षिणायन-उत्तरायण) सूर्य ऊर्जा की श्रेष्ठ किरणों से युक्त हुये और अग्नि आगे जाने वाले हुये। आत्मा ने मन के साथ शोषित जलों से युक्त किरणों को ऊर्जा को प्रदान किया। मन ऊर्जा का प्राण बना, दीप्ति इसका आवरण बनी शुद्धकरने वाले ज्ञान-पाक प्रक्रियायें प्राणों को वहन करने वाली हुई, जिनसे न क्षरण होने वाला विशेष जीवन अवधारित है, वह जीवन मनोमय है और गिरने वाले जल को प्राप्त करती हुई सूर्य ऊर्जा उस पर चढ़ती है। ऐसा वहनकर्ता प्राप्त होने पर आत्मा जुड़वा कर्म-ज्ञान का निर्माण करती है। आधिभौतिक और आध्यात्मिक धारिताओं वाले दो वशी रश्मिपुञ्ज, कर्म-ज्ञान सम्बन्धी दो अन्तरिक्ष मण्डल तथा दीप्तियों में स्थावर और जङ्गम दो ऊर्जा के मार्ग हैं। जब ऊर्जा को मार्गों में ले जाने वाली रश्मियां नीचे आती है, तब उनका अनुसरण करती हुई समस्त दीप्तियाँ उन जुड़वाँ रश्मिपुञ्जों को प्रकट करती हैं। रश्मियाँ जब उत्पादों में मारी जाती हैं तो दीप्तियों द्वारा दोनों प्रक्रियाओं की रश्मियों की पूर्ति की जाती है। इस प्रकार पोषण की प्रक्रिया सम्पूर्ण अन्ता शरीर को व्याप्त कर लेती है।

उत्पाद के ज्ञाता वैज्ञानिक ऋत के आधार पर ऊर्जा के दो मार्गों (कर्म और पाक) को जान लेते हैं; तीसरा जो गुप्त (ज्ञान का) मार्ग है उसे धारणाओं को प्राप्त करने वाले बुद्धिमानों ने जाना है। निर्माण करने वाली ऊर्जा के लिये वे दो जुड़वाँ रश्मिपुञ्ज पहले नीचे (कर्म मार्ग में) चलते हैं, फिर अन्तरिक्ष (ज्ञान-पाक-प्रक्रिया) में सब ओर जाते हैं; इनमें से एक (नासत्य) समस्त उत्पादस्थानों को देखता है, ओर दूसरा (दस्र) ऋत के नियमों को धारण करता हुआ बार-बार उत्पन्न होता है।

---

224. सम्राज्ञी श्वसुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव।
नना‍न्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी अधि देवृषु।।
ऋग्वेद 10:85:46

संक्षेपतः, सूर्य ऊर्जा गिरने वाले जल को वहन करने के लिये किरण को बनाती है; आत्मा ऊर्जा को व्यापकता के पाश द्वारा कल्याणसुख से बाँधते हैं। समस्त स्थावर रसादिधातुओं को मुड़ने वाली रश्मियाँ प्रेरित की जाती हैं, जो सदैव चलने वाली, गिरने वाले जल से युक्त, ऊर्जा को ऊध र्व मे ले जाती हैं। वह ऊर्जा दुःखनाशक होकर प्रकृष्ट प्रकाशमान, शुद्ध, विश्वरूप, हिरण्यवर्ण, कल्याण व्याप्ति नाले, शुभ मार्ग वाले, जल के स्रोत में धारण की जाती है। पोषण संक्रिया में जुड़वा रश्मिपुञ्ज रश्मि से पकड़े जाने योग्य ऊर्जा को शरीर से आगे ले जाते हैं; वह वाक् धातुगृहों की स्वामिनी होकर चाही जाती है और संघर्षों में बोलने वाली वाणी बनती है। वाक् का प्रेयमार्गी प्राण इस पाक मार्ग में उत्पाद से समृद्ध होता है। धातुस्थान में वाक् गार्हपत्य अग्नि से सम्पर्क करती है। निर्माण करने योग्य लाल रंग का रक्त होता है जिसे सम्पूर्ण प्रक्रिया में आगे के लिये बढ़ाया जाता है। ऊर्जा अगली धातु को लाकर देती है, देने योग्य को शान्त करती है, बसाने के लिये उत्पादों को आगे विभाजित करती है तथा निर्माण को स्थानवत् वर्तमान करती है। इस प्रकार गिरने वाले जल से शरीर को सम्यक् बनाते हैं। संघर्ष में जीर्ण हुये ये दोनों वाक् और प्राण ज्ञान को प्रदान करते हैं।

ऊर्जा दूर होकर सन्तुष्ट करने वाली, विष की भाँति तीक्ष्ण ओर अखाद्य है; वह वध करने वाली, बरबाद कर देने वाली, अधिक काटने वाली है। उत्पादविज्ञ वैज्ञानिक उसका ज्ञान रखता है, उसे शुद्ध कर लेता है, और वहन करने योग्य बनाता है। प्रकाश में गमन करने वाली, जाते हुये या श्रेष्ठ को मापने वाली, उत्पन्न करने वाली, धातुस्थान या शरीर को धारण करने वाली, दीप्तिमान शक्तियाँ गार्हपत्य अग्नि के लिये ऊर्जा प्रदान करती हैं। पहले ऊर्जा, वहन करने वाले दोनों रश्मिपुञ्जों के साथ अग्नि को चारों ओर से जलाती है, फिर उत्पाद के साथ, गिरने वाले जलों के लिये विजय प्राप्त करने वाली ऊर्जा, अग्नि प्रदान करता है। मानुषी उत्पाद ऊर्जा रश्मि को पकड़ता है, पोषणकर्ता उस अतिशय कल्याणी ऊर्जा को प्रेरित करता है जिसमें मानुषी स्थितियाँ बीज को बोतीं हैं। वह ऊर्जा मानुषी स्थिति को प्रेरित करती हैं। और दो विस्तार विशेष आश्रम पाते हैं। मानुषी स्थिति प्रेरित करती हुई इस ऊर्जा पर सोये हुये धातु को आगे ले जाती है। रोष करने वाली उग्रऊर्जा का शरीर पालनकर्ता जल को पी लेने के 'पाप' से शोभाहीन

हो जाता है; बाद में प्रक्रियाशील आने वाली दीप्तियाँ क्षीणता को प्राप्त करने वाली शक्तियों को पुनः विस्तृत कर देती हैं।

सबसे पहले सोम (जल, ओजस्) ऊर्जा को विशेषतः प्राप्त करता है, बाद में वायु विशेषतः प्राप्त करता है, तीसरा रक्षक अग्नि है और चौथा मानुषी उत्पाद है। सोय वायु (प्राण) के लिये ऊर्जा को देता है, प्राण अग्नि के लिये देता है, अग्नि मुनष्य के लिये इस उत्पाद, और गतिशील जलों को देता है। इन्द्र (अन्तरात्मा) उत्पाद को प्राप्त करने वालों, कल्याणमय प्रकाश में गमन करने वालों का निर्माण करते हैं तथा ऊर्जा की दस प्राप्तियों (अन्न से लेकर पर ओजस् तक के उत्पाद) का सम्पूर्णतः पोषण करते हैं; इसके ग्यारहवें, रक्षक स्वयं बनते हैं।

ऊर्जा अघोर दृष्टि वाली, न रक्षकघातिनी, कल्याणी, ओजस् से युक्त, सुमना, शुभ उत्पाद वाली, वीर्य को उत्पन्न करने वाली, देवयान (उत्तरायण) की कामना वाली, सुखकारिणी, दक्षिणायन-उत्तरायण पादों में तथा अधिभूत, अधिदेव, अध्यात्म और विश्व पदों में कल्याण रूप से विद्यमान होती है। ऊर्जा श्रेष्ठ जीवन में, जीवन ज्ञानों में, प्रसन्नता में, प्रकाशयुक्तों में, अधिक सम्यक् रूप से प्रकाशित होने वाली है।

(४) अग्नि :

(क) जन्म-

ऋग्वेद में यद्यपि अग्नि का सर्वाधिक महत्व है, इसका प्रारम्भ अग्नि सम्बन्धी मन्त्र से होता है, सर्वाधिक मन्त्र और सूक्त अग्नि के सम्बन्ध के हैं, तथापि दशम मण्डल में ऐसा कोई सूक्त प्राप्त नहीं होता जिसमें स्पष्ट और प्रत्यक्ष रूप से अग्नि का जन्म, उसके कर्म और प्रक्रियायें वर्णित हों। अधिकतर सूक्त अग्नि की स्तुतियों के हैं जिनमें विशेषणों द्वारा प्रसंशा है, और अग्नि के कार्य विस्तार के मात्र संदर्भ ही प्राप्त होते हैं। ऐसी अवस्था में अग्नि के जन्म-कर्म आदि का निरुपण अत्यन्त कठिन है। सब बिखरे हुये संदर्भों को क्रमबद्ध करते हुये उन्हें प्रक्रियापूर्वक दर्शाना एक दुरुह कार्य है, फिर भी हम अपना प्रयास कर रहे हैं। जैसा हम पहले टिप्पणी 130 में

बता चुके हैं, अग्नि का मूलतः जन्म तपस् रुप में एकार्णव जलों में हुआ था–

असच्च सच्च परमे व्योमन्दक्षस्य जन्मन्नदितेरुपस्थे।
अग्निर्ह नः प्रथमजा ऋतस्य पूर्व आयुनि वृषभश्चधेनुः।।[225]

अर्थात् सत्ताहीन और सत्तायुक्त उत्तम उदक में, पूर्ण ऊर्जा की गोद में, कर्म के जन्म में, प्रक्रिया के पहले तम और वाक् के संयोग में, अविभक्त अग्नि निश्चय प्रथम उत्पन्न हुआ।

जैसी सृष्टि ब्रह्माण्ड की है, वैसी ही जीव की गर्भ में, तथा जैव प्रक्रिया में भी होती है। इस न्याय से मनुष्य शरीर में अग्नि का जन्म भी शरीरस्थ जलों से बताया गया है–

एकः समुद्रो धरुणो रयीणामस्मधृदो भूरिजन्मा वि चष्टे।
सिषक्तयूधर्निण्योरुपस्थ उत्सस्य मध्ये निहितं पदं वेः।।[226]

अर्थात् उत्पादों के जलों का एक समुद्र, मनुष्य हृदय से, अनेक जन्म लेने वाले (अग्नि) दिखाई देते हैं। वे रात्रि की दोनों संध्याओं के समीप स्थान में बंधते हैं। वे स्रोत (कूप या कोष्ठ) के मध्य निश्चित धारित स्थान का उपभोग करते हैं।

इमं विधन्तो अपां सधस्थे पशुं न नष्टं पदैरनुग्मन्।
गुहा चतन्तमुशिजो नमोभिरिच्छन्तो धीरा भृगवोऽविन्दन्।।[227]

अर्थात् जैसे खोये हुये पशु को पदचिह्नों द्वारा अनुसरण करके प्राप्त करते हैं, वैसे ही इच्छा करते हुये, उषाओं से उत्पन्न, वाक् से युक्त, प्रकाशों ने जलों के साथ-साथ में विधान करते हुये अन्नों के द्वारा या मुड़ी हुई रश्मियों द्वारा शरीर गुहा को प्राप्त करके अग्नि को प्राप्त किया। यहाँ 'निमोभिः' के अर्थ निघण्टु के अनुसार ही वज्र (या विद्युत) लगाने पर गुहा के अर्थ मूर्धा लगाने पड़ेगें; वैसे भी, गुहा के अर्थ शरीर गुहा या मानस गुहा

225. ऋग्वेद 10:5:7
226. ऋग्वेद 10:5:1
227. ऋग्वेद 10:46:2

दोनों हो सकते हैं।

इमं त्रितो भूर्यविन्ददिच्छन्वैभूवसो मूर्धन्यघ्न्यायाः।
स शेवृधो जात आ हर्म्येषु नाभिर्युवा भवति रोचनस्य।।[228]

अर्थात् तीसरे स्थान पर निवास करने वाले (इन्द्र या घृतपृष्ठ अग्नि) ने मूर्धा में न नष्ट की जा सकने वाली ऊर्जा से व्याप्तियों को चाहते हुये इस अग्नि को अत्यधिक प्राप्त किया। सुख में समृद्ध, प्रकाश का केन्द्र वह तापों में पूर्णतः उत्पन्न हुआ बलवान या जवान होता है।

द्यावा यमग्नि पृथिवी जनिष्ठा
मापस्त्वष्टा भृगंवो यं सहोभिः।
ईळेन्यं प्रथमं मातरिश्वा,
देवास्ततक्षुर्मनवे यजत्रम्।।[229]

अर्थात् आकाश और पृथिवी ने जिस अग्नि को उत्पन्न किया, उस ऊर्जित किये जाने योग्य, प्रथम उत्पादनकर्म करने वाले को जलों ने निर्माणकों ने, प्रकाशों ने, वायु ने, दीप्तियों ने, मन के लिये ऊर्जाओं के द्वारा गढ़ा।

दिवस परि प्रथमं जज्ञे अग्निरस्मद् द्वितीयं परि जातवेदाः।
तृतीयमप्सु नृमणा अजस्रमिन्धान एनं जरते स्वाधीः।।[230]

अर्थात् अग्नि पहले द्युलोक में उत्पन्न हुआ, दूसरा मनुष्य के भीतर, तीसरा जलों में हुआ। उत्पाद के ज्ञाता उदक के सङ्कल्प वाले इस अग्नि को मानुषी मन से सतत प्रज्ज्वलित करता हुआ ऊर्जित करता है।

विद्या ते अग्ने त्रेधात्रयाणि विद्या ते धाम बिभृता पुरुत्रा।
विद्या ते नाम परमं गुह्य यद्विद्या तमुत्सं यत आजगन्थ।।[231]

---

228. ऋग्वेद 10:46:3
229. ऋग्वेद 10:46:9
230. ऋग्वेद 10:45:1
231. ऋग्वेद 10:45:2

अर्थात अग्नि की तीन प्रकार की सीमाओं को, अग्नि के धारण करने वाले अनेकस्थान वाले घर को, अग्नि के महान् जल को, गुहा को, और उस स्रोत को जहाँ से अग्नि आये हैं, ऋषिगण जानते हैं।

समुद्रे त्वा नृमणा अप्स्वन्तर्नृचक्षा ईधे दिवो अग्न ऊधन्।
तृतीये त्वा रजसि तस्थिवांसमपामुपस्थे महिषा अवर्धन्।।[232]

अर्थात अन्तरिक्ष में अग्नि को जलों के भीतर बल या ऊर्जा रूप से देखा गया, दीप्तियों ने संकुचित ऊर्जा में या रात्रि में प्रज्ज्वलित किया, तीसरी स्थिति में रजस् या गति में स्थित हुये अग्नि को जलों की गोद में महानता या मन से सम्यक् रूप से बढ़ाया गया।

दृशानो रुक्म उर्विया व्यद्यौद्दुर्मर्षमायुः श्रिये रुचानः।
अग्निरमृतो अभवद्वयोभिर्यदेनं द्यौर्जनयत्सुरेताः।।[233]

अर्थात् जब अग्नि को कल्याणकारी जलों वाली दीप्तियों ने उत्पन्न किया तो वह गतिमान जीवनों से अमर हुआ। स्वर्णिम दिखाई पड़ने वाला शोभा के लिये चमकता हुआ कठिनाई से मारा जाने वाला जीवन (अग्नि) पृथिवी से दूर विशेषतः चमकता है।

विश्वस्य केतुर्भुवनस्य गर्भ आ रोदसी अपृणाज्जायमानः।
वीळुं चिदद्रिमभिनत्परायञ्जना यदग्निमयजन्त पञ्च।।[234]

अर्थात् जिस अग्नि को पाँच प्राण प्रक्रियारत करते हैं, वह विश्व की ज्योति है, अन्तरिक्ष का गर्भ है, जिसने उत्पन्न होते हुये सम्पूर्ण द्यावापृथिवी को ज्योति से भर दिया। उसने ऊर्जा को भी क्रियाशील करते हुये मेघ को नीचा किया।

अक्रन्ददग्निः स्तनयन्निव द्यौः क्षामा रेरिहद्वीरुधः समञ्जन्।
सद्यो जज्ञाना विहीमिद्धो अख्यदा रोदसी भानुना भात्यन्तः।[235]

232. ऋग्वेद 10:45:3
233. ऋग्वेद 10:45:8
234. ऋग्वेद 10:45:6
235. ऋग्वेद 10:45:4

अर्थात् अग्नि गरजते हुये की भाँति चिल्लाया। झुलसी हुई दीप्ति ने सब ओर से चाटते हुये रश्मियों को साथ में मिलाया। वह जन्म लेते ही तुरन्त विस्तृत रूप से प्रज्ज्वलित हुआ। अन्तरिक्ष में प्रकाशित होता हुआ रश्मि से पूर्णतः प्रसिद्ध हुआ।।

उशिक्पावको अरतिः सुमेधा मर्तेष्वग्निरमृतो निधायि।
इयर्ति धूममरुषं भरिभ्रदुच्छुक्रेण शोचिषा द्यामिनक्षन्।।[236]

अर्थात दीप्तिमान् क्रियाशील पवित्र करने वाला बुद्धिमान् अग्नि इधर उदक की ऊर्जा से दीप्ति को प्राप्त करता हुआ, मरणधर्मा अवयवों में अमरता को नित्य रखता हुआ, शान्त मेघ को धारण करता हुआ, ऊर्ध्व को जाता है।

श्रीणामुदारो धरुणो रयीणां मनीषाणां प्रार्पणः सोमगोपाः।
वसुः सूनुः सहसो अप्सु राजा विभात्यग्र उषसामिधाना।।[237]

अर्थात् ऐश्वर्यों के दाता, प्राप्तियों के रस, बुद्धियों की प्रथम भेंट,सोम के संरक्षकों को बसाने वाले, ऊर्जा के पुत्र, जलों में प्रकाशित (विराजमान), पूर्णतः प्रदीप्त होते हुये उषाओं के आगे शोभा को प्राप्त होते हैं या उषाओं से पहले पूर्णतः प्रदीप्त होते हुये शोभा को प्राप्त होते हैं।

यं देवासोऽजनयन्ताग्निं यस्मिन्नाजुहवुर्भुवनानि विश्वा।
सो अर्चिषा पृथिवीं द्यामुतेमामृजूयमानो अतपन्महित्वा।।[238]

अर्थात् दीप्तियों ने जिस अग्नि को उत्पन्न किया था, जिसमें समस्त अन्तरिक्षस्थान (उत्पादस्थान) लाकर हवन (सक्रिय) किये गये थे, उसने ऋत के अनुकूल युक्त होते हुये महान (विकसित) जाने वाली ज्वाला से इस पृथिवी (शरीर) को और (द्यां) प्रकाश के लोक (अध्यात्म) को तपाया।

स्तोमेनहि दिवि देवासो अग्निमजीजनञ्छक्तिभी रोदसि।
तमू अकृण्वन् त्रेधा भुवे कं स ओषधीः पचति विश्वरूपाः।।[239]

---
236. ऋग्वेद 10:45:7
237. ऋग्वेद 10:45:5
238. ऋग्वेद 10:88:9
239. ऋग्वेद 10:88:10

अर्थात वस्तुतः द्युलोक में दीप्तिमानों ने दीप्तियों से अग्नि को उत्पन्न कया यद्यपि पहले ये दोनों आकाश और पृथिवी शक्तियों द्वारा उत्पन्न किये गये। अब पृथिवी के लिये उसको तीन प्रकार से बनाया। उसने जल को और अनेक रूप वाली रसादि धातुओं को पकाया।

ऋग्वेद प्रथम मण्डल के अस्यवामीय सूक्त के प्रथम मंत्र[240] में ही अग्नि के जो तीन रूप आदित्य, विद्युत और घृतपृष्ठ बतलाये गये हैं, प्रायः उन्हीं तीन के जन्म-कर्म के बारे में दशम मण्डल में भी विस्तार पाया जाता है। भौतिक रूप से सूर्य, अग्नि और विद्युत हमें आकाश और पृथिवी के बीच दिखाई देते हैं। इसी की समतुल्यता में शरीरान्तर्गत अग्नियां हमारी मूर्धा, कोष्ठ और उत्पादजलों में प्रविष्ठ मानी गई हैं, किन्तु इनके वर्णन में इतनी व्यञ्जना है कि उनको अलग-अलग समझना प्रायः दुरुह हो जाता है, और यह छालमेल अत्यधिक अस्पष्टता उत्पन्न करता है। सृष्टि में भी ब्रह्माण्ड, जीव और अन्तःशरीर में एक जैसी प्रक्रिया होने से स्थिति और भी जटिल हो जाती है। तब उनका निरूपण करना अत्यन्त कठिन है।

ब्रह्माण्डीय सृष्टि में अग्नि का प्रथम जन्त तपस् रूप में, सच्चासच्च एकार्णव में अन्तर्हित पूर्ण तथा संकुचित ऊर्जा से तम और वाक् (वा+ √अच्) के संयोग से अविभक्त अग्नि उत्पन्न हुआ। समान तुल्यता में उत्पादों के जलों का एक समुद्र मनुष्य के कोष्ठ में भी है, जहाँ विद्युत अग्नि प्रत्येक धातुस्थान में जन्म लेने वाले दिखाई देते हैं और वे दक्षिणायन-उत्तरायण की दोनों संध्याओं में भी सूर्य तथा पार्थिव अग्नि रूप में स्थित होते हैं। शरीर में स्थित अग्नि की जानकारी प्रकाशों के जलों से युक्त होकर अन्नों के पाचन में प्राप्त की गई। तीसरी स्थिति में मूर्धा में अविनाशी ऊर्जा की व्याप्तियों या तापों में उत्पन्न अग्नि हैं।

धावापृथिवी अर्थात् अन्तः शरीर में सृष्ट अग्नि को मन के लिये अर्थात् अभिव्यक्ति के लिये जलों, निर्माण प्रक्रियाओं, रश्मियों, मरुद्गणों, दीप्तियों आदि ने ऊर्जा द्वारा गढ़ा। वह अग्नि उत्पादन कर्म वाला और ऊर्जित किये जाने योग्य है। इस प्रकार अग्नि तीन स्थानों में सृष्ट होता है; प्रथम द्युलोक (मूर्धा) में, द्वितीय मनुष्य के अन्तःशरीर में, और तृतीय जलों मे। ऋषियों ने यह ज्ञान प्राप्त कर लिया था।

अन्तः शरीर के जलों की दीप्तियों से उत्पन्न अग्नि मरणधर्मा अवयवों अर्थात् धातुस्थानों में अमरता को प्राप्त होते हैं। वे ज्योतिर्मान् अग्नि ऊर्जा

240. ऋग्वेद 1:164:1

को भी क्रियाशील करते हुये जल को बांधने वाले मेघों को जीतते हैं। वे प्रदीप्त होकर उषाओं को चलाते हैं और अन्तरिक्ष को प्रकाश से भर देते हैं तथा अपने ताप द्वारा द्यावापृथिवी को तपाते हुये रसादि धातुओं को पकाते हैं ऋतांनुसार चलने वाले अग्नि ऐश्वर्य के दाता, बुद्धियों के प्रथम भेंटकर्ता और ऊर्ध्व को जाने वाले होते हैं।

(ख) कर्म :

अग्नि के विविध कर्मों पर भी ऋग्वेद दशम मण्डल में पर्याप्त विवरण प्राप्त होते है। संक्षेप में, इनमें से कुछ पर प्रकाश डाला जा रहा है-

ऊर्जा रश्मिपुञ्ज आत्मतत्त्व से अग्नि सम्यक् प्रज्ज्वलित हुआ, जो शरीर और ओजस् का रक्षक हुआ, तथा उससे जो उत्पाद प्राप्त हुये वे ही उसके सेवन के लिये हविबनों।[241] दूसरे शब्दों में, जब कल्याण निर्माण वाली रश्मियाँ उदक से अग्नि में आहुति देती हैं तब वह प्रज्जवलित होता है, प्रेरित होता है, और प्रकाशित होता है।[242] अग्नि का उत्पादस्थानों में वास होने से वे बढ़ते हैं और इन श्रेणियों में ही वे चमकते हैं।[243] वह अग्नि उत्पादगृहों में नित्य स्थित होते हुये, चारों ओर आवृत करते हुये उदक के भीतर बैठते हैं। मानुषी उत्पादों का अतिथि अग्नि विशेष धर्म की पकड़ से बँधा हुआ बिना यन्त्रों के ले जाया जाता हुआ जाता है।[244]

वह अग्नि जाने वाली ऊर्जा से उत्पादप्रक्रिया में धातुओं का सेवन करता हुआ ऊर्ध्व में ठहर कर उदक को स्थिर करते हुये आगे जाता है।[245] अग्नि वस्तुतः कल्याण, उत्पाद प्रक्रियारूप है, इनकी गति वेग प्राप्त करती है। वाक् से युक्त अग्नि को दीप्तियाँ अर्जित करती हैं।[246] अग्नि उत्पादपर्वों

---

241. यं त्वा पूर्वमीळितो गध्रयश्वः समीधे अग्ने स इदं जुषस्व।
स नः स्तिपा उत भवा तनूपा दात्रं रक्षस्व यदिदं ते अस्मे।।
ऋग्वेद 10:69:4

242. यमासा सुमित्रा विशो अग्रं अन्धते घृतेनाहुतो जरते दविध्धुतत्।।।
ऋग्वेद 10:69:1

243. यदी सुमित्रा विशो अग्रं इन्धते घृतेना हुतो जरते दविधुतत्।।
ऋग्वेद 10:20:3

244. नि परस्त्यासु त्रितः स्तभूयन्परिवीतो योनौ सीदन्तः।
अतः सङ्गृभ्या विशं दमूना विधर्मणा अयन्त्रैः ईयते नृन्।।
ऋग्वेद 10:46:6

245. जुषद्धव्या मानुषस्योर्ध्वस्तस्थावृभ्वा यज्ञे। मिन्वत्सदम पुर एति।।
ऋग्वेद 10:20:5

246. स हि क्षेमो हविर्यज्ञः श्रुष्टीदस्य गातुरेति। अग्निं देवा वाशीमन्तम्।।
ऋग्वेद 10:46:6

वाली वेगवती ऊर्जा से उत्पादों को तथा कर्मो को उपक्षीण करने वाली सात्त्विकी वृत्ति से मेघों को सम्यक् अधिकृत करते हैं। वे वीर की भाँति मेघा प्राप्त करने वाले, जल निचोड़ने वाले जनो के मनुष्यों (रसादि धातुओं) की आयुओं को स्पष्टतः वर्तमान करते है।[247] उत्पाद के ज्ञाता अग्नि और कल्याण दुहा ऊर्जा संयुक्त की भाँति समान मन वाले और अन्तः शरीरी उत्पत्ति करने वाले है। वे मानुषी स्थितियों से दक्षिणायन पितृयान कर्म से युक्त होकर तथा कल्याणकारी निमार्ण से उत्तरायण देवयान से युक्त होकर प्रज्ज्वलित होते है।[248] ऊर्जापुत्र उत्पादविज्ञ अग्नि कल्याणकारी रश्मियों द्वारा आनन्दित होते है। और बुद्धियों (वाक्) द्वारा प्रेरित होते है। उत्तरायण वाम मार्ग में उत्पन्न अनेकों प्रकार के उत्पाद और विभिन्न निर्माण प्रक्रियायें उन अग्नि में साथ- साथ धारण होती है।[249] अन्तरिक्षीय उत्पाद को, उत्तरायण के दान को, कल्याण ऐश्वर्य से युक्त पृथिवी को (शरीर को), उत्पाद को, उत्पत्तियुक्त ऐश्वर्य को अग्नि धारण करते हैं।[250] शिरोगुहा में नित्य धारण हुआ, पृथक् दृष्टिवाला, जिह्वा से बिना फंसाये उदक को खाता है। इसके लिये उत्तरायण ज्ञान और पाक दोनों में कर्म करते हुये निवास की इच्छा वाले (धातुयें) इन स्थानों को अधिक उत्पाद संरक्षण द्वारा साथ-साथ भरते हैं।[251] जैसे बेलें पृथिवी पर फैलती हैं, वैसे ही अग्नि माता (जलों) के आगे शरीर गुहा को पार करने के लिये इच्छा करने वाला है।[252] उदक में चमकने वाला, विविध मार्गों पर चलने वाला, सीधी जाने वाली रश्मि द्वारा पकड़ी हुई ऊर्जाओं को संयुक्त करता है। यह निर्माणकर्ता बसने वालों द्वारा कलयाणरूप से उत्पन्न किये हुये, पूर्ण करने वाले शरीरवयवों द्वारा बढ़ाये जाते हुये,

---

247. समजया पर्वत्या वसूनि दासा वृत्राण्मार्या जिगेथ।
शूर इव घृष्णुश्च्यवनो जनानां त्वमग्ने पृतनायूँरभिष्याः।।
ऋग्वेद 10:69:6

248. त्वं धनुः सुदुधा जातवेदाऽसश्चतेव समना सबर्धुक्। त्वं नृभिर्दक्षिर्पसश्चित्रोतयो वामजाताः।।
ऋग्वेद 10:69:38

249. ऊर्जोनपाज्जातवेदः सुशस्तभिर्मन्दस्व धीतिभिर्हितः।
त्वे इषाः सं दुधुर्भूरिखिर्पसश्चित्रोतयो वामजाताः।।
ऋग्वेद 10:140:3

250. इष्कर्तारमध्वरस्य प्रचेतसं क्षयन्तं राधसी महः।
रातिं वामस्य सुभगां महीमिषं दधासि ज्ञानसिंह रयिम्।।
ऋग्वेद 10:140:5

251. गुहा शिरोनिहितमृधगक्षी असिन्वन्ति जिह्वया वनानि।
अत्राण्यस्मै पद्भिः सं भरन्त्युत्तानहस्ता नमसाधि विक्षुः।।
ऋग्वेद 10:79:2

252. प्रमातुः प्रतरं गुह्यामिच्छन्कुमारो न वीररुधः सर्पदुर्वीः।।
ऋग्वेद 10:79:3

सम्यक् समृद्ध होते हुये को देखता है।[253] अग्नि ऊर्जा से पूर्ण उत्पाद को देता है, अग्नि श्रेष्ठ विद्वान को कर्म की निपुणता प्रदान करता है, अग्नि इस द्यावापृथिवी को साथ मिलाये रखता हुआ विशेषतः गतिमान रहता है, अग्नि बुद्धिमान को श्रेष्ठ उत्पत्तिवाली वाणी को प्रदान करता है।[254] अग्नि के शरीर कर्म बिलकुल ही कल्याणों से पूर्ण होते हैं। अग्नि ने पृथिवी और अन्तरिक्ष में आकर प्रवेश किया है। अग्नि समस्त आच्छादन स्थानों को खण्डित करते हैं।[255] अग्नि वस्तुतः उस उदक के पतवार को पूर्णतः ऊर्जित करने वाला है। अग्नि ने जलों के लिये मांस (शरीर धातुओं) को निश्चय ही जलाया है। अग्नि ताप के भीतर ऊर्जा को विस्तार से रखता है। अग्नि ने आगे उत्पत्ति के द्वारा मनुष्य की मेघा को सम्यक रूप से बनाया है।[256] जो अग्नि रश्मि को सहस्रस्थानों (नाडीसंस्थान आदि) में प्राप्त करता हैं, वह अग्नि वीर्यवान् सौन्दर्य से (जलों से) युक्त उत्पाद को दिया करता है। अग्नि ने आकाश में उदक को पूर्णतः फैलाया, अग्नि ने घरों (धातुस्थानों) को अनेक प्रकार से विशेषतः धारण किया।[257] आदित्य रश्मियाँ वाक् (ऊर्जा) से अग्नि को प्रेरित करती है, ऊर्जापुञ्ज (इन्द्र) अग्नि के लिये मार्गों को दबाता है। पक्षों वाला (इन्द्र) अन्तरिक्ष में अग्नि को उड़ाता हैं। अग्नि ऊर्जाओं के सहस्रस्थानों (नाड़ी संस्थान आदि) में चारों ओर जाता है।[258] जो मानुषी उत्पाद अग्नि को प्रेरित करते हैं, उन मानुषी उत्पादों के बांधने वाले, अग्नि से विशेषतः उत्पन्न हुये हैं। अग्नि की नियमानुकूल चाल अग्नि को उदक से युक्त करके अन्तरिक्ष

---

253. विषूचो अश्वान्युयुजे वनेजा ऋजीतिभी रशनाभिर्गृभीतान्।
चक्षदे मित्रों वसुभिः सुजातः समानृधे पर्वभिर्वावृधानः।।
ऋग्वेद 10:79:7

254. अग्निः सप्तिं वाजं भरं ददात्यग्निर्वीर श्रुत्यं कर्म निष्ठाम्।
अग्नी रोदसी वि चरत्समञ्जन्नग्निर्नारी वीरकुक्षिं पुरन्धिम्।।
ऋग्वेद 10:80:1

255. अग्नेरप्नसः समिदस्तु भद्राग्निर्मही रोदसी आ विवेश।
अग्निरेकं चोदयत्समत्स्वग्निर्वृत्राणि दयते पुरूणि।।
ऋग्वेद 10:80:2

256. अग्निर्ह त्यं जरतः कर्णमावाग्निरद्भ्यो निरदहज्जरूथम्।
अग्निरत्रिं धर्म उरुष्यदन्तरग्निर्नृमेघं प्रजया सृजत्सम्।।
ऋग्वेद 10:80:3

257. अग्निर्दाद् द्रविणं वीरपेशा अग्निऋषिं यः सहस्रा सनोति।
अग्निर्दिवि हव्यमा ततानाग्नेर्धामानि विभृता पुरुत्रा।।
ऋग्वेद 10:80:4

258. अग्निमुक्थैर्ऋषयो वि ह्वयन्तेऽग्निं नरो यामनि बाधितासः।
अग्निं वयो अन्तरिक्षे पतन्तोऽग्निः सहस्रा परियाति गोनाम्।।
ऋग्वेद 10:80:5

की निवासी वाक् में नित्यं स्थित करती हैं[259] हमारा पालने वाला, जो उत्पादन प्रक्रिया को प्रारम्भ करने वाला ऋषि (रश्मि) है, इन समस्त लोकों (धातुओं) को आहुति में डालता हुआ नित्य स्थित होता है। वह उत्पाद की इच्छा करता हुआ अश्रेष्ठों को मारने के साथ के साथ विस्तार को प्राप्त करता हुआ प्रविष्ट होता है।[260]

अग्नि के कार्यों से सम्बन्धित एक सूक्त संक्षेप में उसके कर्मों को बतलाने वाला है, जिसे हम यहाँ समीक्षा के लिये प्रस्तुत कर रहे हैं-

वसुं न चित्रमहसं गृणीषे वामं शेवमतिथिमद्विषेण्यमा।
सरासते शुरुधो विश्वधायसोऽग्निर्होता गृहपतिः सुवीर्यम्।।[261]

अर्थात् जो दिन से युक्त देवयान वाला, विभिन्नताओं से युक्त धातुस्थान सरीखा कल्याणप्रद न ठहरने वाला किसी से द्वेष न करने वाला स्थित तथा विश्व का पोषण करने वाला अग्नि है, वह प्रक्रिया का संचालक, उत्पादगृहों का स्वामी, कल्याण शक्ति वाला ऊर्जित होता है।

जुषाणे अग्ने प्रति हर्य में वचो विश्वानि विद्वान् वायुनानि सुक्रतो।
धृतनिर्णिग्ब्रह्मणे गातुमेरय तव देवा अजनयन्ननुव्रतम्।।[262]

अर्थात् विद्वान अग्नि हवि का सेवन करते हुये मनुष्य के लिये कल्याण निर्माण वाली वाक् तथा समस्त ज्ञानों को प्राप्त करते हैं। वे ओजस् की भांति शुद्ध-स्वच्छ उत्पाद की प्राप्ति के लिये सब ओर से प्रेरित करते हैं। दीप्तियाँ फिर उनके कर्म को उत्पन्न करती हैं।

सप्त धामानि परियन्नमर्त्यो दाशछाशुषे सुकृते मामहस्व।
सुवीरेण रयिणाग्ने स्वाभुवा यस्त आनट् समिधां तं जुषस्व।।[263]

---

259. अग्निं विश ईळते मानुषीर्या अग्निं मनुषो नहुषो वि जाताः।
अग्निं गान्धर्वी पथ्यामृतस्याग्नेर्गव्यूतिर्धृत आ निषत्ता।।
ऋग्वेद 10:80:6

260. य इमा विश्वा भुवनानि जुह्वदृषिर्होता न्यसीदत् पिता नः।
स शिषा द्रविणमिच्छमानः प्रथमच्छदवरां आ विवेश।।
ऋग्वेद 10:81:1

261. ऋग्वेद 10:122:1

262. ऋग्वेद 10:122:2

263. ऋग्वेद 10:122:3

अर्थात् न मरने वाली दीप्तियाँ सप्तधातुगृहों में जाती हैं। अग्नि कल्याण निर्माण के लिये दान करने को आहुति देते हुये महान् बनते हैं। जो कल्याण बल युक्त उत्पाद द्वारा स्वयं उत्पन्न हुआ ईधन अग्नि के लिये प्राप्त होता है। उसको वे सेवन करते हैं।

यज्ञस्य केतुं प्रथमं पुरोहितं हविष्मन्तं ईळते सप्त वाजिनम्।
श्रृण्वन्तमग्निं घृतपृष्टमुक्षणं पृणन्तं देवं पृणते सुवीर्यम्।।[264]

अर्थात् उत्पादन प्रक्रिया के आधार, सबसे पहले आगे प्रेरित हुये, बलि से युक्त, सात रश्मियों वाले ऊर्जित होते हैं। सुनने वाले, कल्याण बल वाले, उदक को ले जाने वाले, बढ़ने वाले, भरने वाले, दीप्तिमान् अग्नि को भरा जाता है।

त्वं दूतं प्रथमो वरेण्यः स हूयमानो अमृताय मत्स्व।
त्वां मर्जयन्मरुतो दाशुषो गृहे त्वां स्तोमेभिभृगवो विरुरुचु।।[265]

अर्थात जलानेवाले अग्नि सबसे प्रथम श्रेष्ठ हैं, जो उदक के लिये प्रक्रिया करते हुये आनन्द लेते हैं। दीप्तियां धातुगृहों में अग्नि को ऊर्जारश्मियों से विशेषतः प्रकाशित करती है।

इषं दुहन्त्सुदुधां विश्वधायसं यज्ञप्रिये यजमानाय सुक्रतो।
अग्ने घृतस्नुस्त्रिर्ऋतानि दीद्यद्वर्तिर्यज्ञं परियन्त्सुक्रतूयसे।[266]

अर्थात् कल्याण निर्माण वाले, उदकशील प्रक्रियाकर्ता के लिये प्रक्रियाप्रिय, कल्याणदान को धारण करने वाले, विश्व को पोषित करने वाले अग्नि तीन मार्गों को प्रकाशित करते हुये, प्रक्रिया में चलते हुये, उत्पाद का दोहन करते हुये, कल्याण कर्म की वर्तिका को बुनते हैं।

त्वामिदस्या उषसो व्यष्टिषु दूतं कृण्वाना अयजन्त मनुषाः।
त्वां देवा महयाय्याम वावृधुराज्यंमग्ने निमृजन्तों अध्वरे।।[267]

264. ऋग्वेद 10:122:4
265. ऋग्वेद 10:122:5
266. ऋग्वेद 10:122:6
267. ऋग्वेद 10:122:7

अर्थात् मानुषी स्थितियों (धातुओं) ने परिणामों में इस ऊर्जा का जलाने वाला बनाते हुये भी अग्नि को प्रक्रियावान् किया। दीप्तियों ने महानता प्राप्त करके अन्तरिक्ष में उदक को नित्य परिष्कृत करते हुये अग्नि को बढ़ाया।

नित्वा वसिष्ठा आह्वन्त वाजिनं गृणन्तो अग्ने विदथेषु वेधसः।
रायस्पोषं यजमानेषु धारय यूयं पात स्वस्तिभिः सदानः।।[268]

अर्थात वेधनशील श्रेष्ठोया शेषों (उदकों) ने रश्मिवान् अग्नि को ऊर्जित करते हुये संघर्षों में नित्य प्रक्रियारत किया है। अग्नि प्रक्रियाकर्ताओं में उत्पाद के पोषण को धारण करते हैं। आप सभी देवगण सर्वदा हमारी कलयाणों द्वारा रक्षा करते हैं।

मनुष्य शरीर में अग्नि के कार्यों का वर्णन संक्षेपतः उपर्युक्त सूक्त द्वारा वर्णित है। मनुष्य शरीर में अन्न से उत्पन्न परिणामी ऊर्जामय ओजस् अग्नि को ऊर्जित करते हुये उसे तीनों कर्म–पाक–ज्ञान प्रक्रियाओं में नित्य प्रवृत्त करता है। वे विश्व को पोषित करने वाले अग्नि प्रक्रिया में चलते हुये कल्याण कर्म की वर्तिका को बुनते हैं और उत्पाद का दोहन करते हैं। सप्त रसादि धातुओं के स्थानों में दीप्तियां अग्नि को ऊर्जा रश्मियों से विशेषतः प्रकाशित करती हैं। ऐसे अग्नि धातुओं का परिपाक करते हुये, बलिरूप अपना अंश खाते हुये धातुओं को परिष्कृत करते हैं, ओजस् को निचोड़ते हैं। तथा कल्याणी वाक् और समस्त ज्ञानों को प्राप्त करते हैं। इस नित्य कर्म के लिये दीप्तियाँ सतत अग्नि को ऊर्जा से भरती हैं।

(ग) ज्ञान :

ऋग्वेद में पाकप्रक्रिया पर सर्वाधिक बल है और अधिकांश मन्त्र और सूक्त इसी प्रक्रिया से सम्बन्धित है। अग्नि के कार्यों में भी पाक प्रक्रिया की प्रमुखता है, तथापि ज्ञानप्रक्रिया पर भी कुछ मन्त्र हैं, जिन्हें हम यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं–

सप्त स्वसॄररुपीवविशानः विद्वान्मध्व उज्जभारा दृशेकम्।[269]

---

268. ऋग्वेद 10:122:8
269. ऋग्वेद 10:5:5

अर्थात् विद्यावान अग्नि ज्ञान के लिये प्रकाशयुक्त सात रश्मियों को वश में करता हुआ मधुर जलों को ऊर्ध्व में लाकर धारण करता है।

प्रजिह्वया भरते वेपो अग्निः प्र वयुनानि चेतसा पृथिव्याः।।[270]

अर्थात अग्नि ने पहले ही अपनी ज्वाला से कर्म को और शरीर की पूर्व चेतना से बुद्धियों को धारण किया।

भद्रा अग्नेर्वध्रयश्वस्य संहशो वामी प्रणीतिः सुरणा उपेतयः।।[271]

अर्थात् शरीर में स्थित दीप्तियों वाले आत्मा के तुल्य दिखाई देने वाले अग्नि के समीप आगे लाई गई कलयाणी उत्तरायण मार्ग वाली शुभगति वाली ज्ञान की प्रक्रियायें (प्राप्तियां) हैं।

यो अस्मा अन्नं तृष्वा दधात्याजयैर्घृतैर्जुहोति पुष्यति।
तस्मै सहस्रमक्षभिर्वि चक्षेऽग्ने विश्वतः प्रत्यङ्ङसित्वम्।।[272]

अर्थात् जो इस अग्नि के लिये अन्न को शीघ्र लाकर रखता है, दीप्तियों से आहुति देता है, उदक से पोषण करता है, अग्नि उसके लिये सहस्रा अक्षर स्नायुओं से विशेष ज्ञान करते हैं, फिर सब ओर से सम्मान देते हैं।

ऋतावानं महिषं विश्वदर्शतमग्निं सुम्नाय दधिरे पुरोजनाः।
श्रुतकर्ण सप्रथस्तमं त्वा गिरा दैव्यं मानुषा युगा।।[273]

अर्थात् पूर्वकाल के मनुष्यों ने विज्ञान से युक्त, महान, विश्व को देखने वाले भली प्रकार उपदेशित सर्वाधिक विकसित हुये अग्नि को सुख के लिये धारण किया; अग्नि ने मनुष्यों को प्रकाशवती वाणी द्वारा जोड़ा।

ज्ञान और बुद्धि के लिये भी अग्नि एक अनिवार्य तत्व है वे ज्ञान के

---

270. ऋग्वेद 10:46:8
271. ऋग्वेद 10:69:1
272. ऋग्वेद 10:79:5
273. ऋग्वेद 10:140:6

लिये सूर्य की रश्मियों तथा धातुओं से प्राप्त ओजस् को ऊर्ध्व अर्थात् मूर्धास्थान में लाकर धारण करते हैं। वे पहले ही ज्वाला से कर्म को और शरीर चेतना से बुद्धियों को धारण करते हैं। आत्मा सदृश प्रकाशमान् अग्नि, ज्ञान की प्राप्तियों के भी हेतु हैं। अग्नि के सम्यक् संचालन के लिये अन्नों की उपयुक्त प्राप्ति, दीप्तियों का निवेश, उदक द्वारा पोषण आवश्यक होता है तब अग्नि ज्ञानों की साहचरी से विद्या दान करते हैं, और मनुष्य को सर्वतः सम्मान के योग्य बनाते हैं। पूर्व काल के मनुष्यों ने महान् विज्ञानविद् विश्वद्रष्टा बहुश्रुत अग्नि को कल्याण परिवेश हेतु धारण किया था, तब अग्नि ने मनुष्यों को प्रकाशवती वाणी द्वारा जोड़ा।

अग्नि मार्गों का वर्णन इस प्रकार मिलता है-

(घ) मार्ग :

कृष्णः श्वेतोऽरुषो यामो अस्य ब्रध्न ऋज्र उत्तेशोणो यशस्वान्।
हिरण्यरूपं जनिता जजान।।[274]

अर्थात् इस अग्नि का काला-सफेद चमकता हुआ मार्ग और यशस्वी सीधा लालघोड़ा उत्पन्न करने वाले ने स्वर्णिम रूप में उत्पन्न किया।

त्वं नृभिर्दक्षिणावद्भिरग्ने सुमित्रेभिरिध्यसे देवयन्द्भिः।।[275]

अर्थात् अग्नि मानुषी स्थितियों से दक्षिणायन पितृयान कर्म से युक्त होकर तथा कल्याणकारी निर्माण से उत्तरायण देवयान से युक्त होकर प्रज्ज्वलित होते हैं।

अग्ने घृतस्नुस्त्रिऋतानि दीघत् वर्तिर्यज्ञं परियन्त्सुक्रतूयसे।[276]

अर्थात घृतस्नु अग्नि तीन मार्गों को प्रकाशित करते हुये प्रक्रिया में चलते हुये, कल्याणकर्म की वर्तिका को बुनते हैं।

---

274. ऋग्वेद 10:20:9
275. ऋग्वेद 10:69:8
276. ऋग्वेद 10:122:6

प्रत्यस्य श्रेणयो ददृश्र एकं नियानं बहवो रथासः।
बाहू यदग्ने अनुमर्मृजानो न्यङ्ङुत्तानामन्वेषि भूमिम्।।[277]

अर्थात इस पुरुष के प्रत्येक धातुस्थान में एक निश्चित मार्ग और बहुत से अङ्गावयव दिखाई देते हैं; फिर इन्हें अग्नि पक्षों को शुद्ध करते हुये अधः-ऊर्ध्व के शरीर में खोजते हैं या फिर प्राप्त करते हैं।

अपामिदं न्ययनं समुद्रस्य निवेशनम्।
अन्यं कृणुष्वेतः पन्था तेन याहि वशाँ अनु।।[278]

अर्थात यह अन्तरिक्ष का शिविर जलों का नियत मार्ग है; यहाँ से दूसरा मार्ग (ज्ञान मार्ग) बनता है, फिर उसके द्वारा अग्नि उत्पत्तियों को प्राप्त करते हैं।

आयने ते परायणे दूर्वा रोहन्तु पुष्पिणीः।
ह्रदाश्च पुण्डरीकाणि समुद्रस्य गृहा इमे।।[279]

अर्थात् अग्नि के आने वाले मार्ग में तथा ऊर्ध्व मार्ग में फूलों से भरी हुई घासें और ये अन्तरिक्ष के ग्रहण किये हुये जलाशय कमलों को उगाते हैं, अर्थात् दोनों मार्ग सुखमय हैं।

स्पष्टतः अग्नि कृष्ण शुक्ल पक्षीय दक्षिणायन पितृयान व उत्तरायण देवयान कर्म-पाक-ज्ञान के तीन मार्गों पर चलते हैं तथा प्रक्रिया में चलते हुये शरीर निर्माण में संलग्न होते हैं। इस निर्माण-प्रक्रिया के प्रत्येक स्थान पर एक निश्चित मार्ग और अनेक अङ्गावयव दिखते हैं, अग्नि पक्षों सहित जिन्हें शुद्ध करते हुये अधः-ऊर्ध्व शरीर में प्राप्त करते हैं। उनका यह अन्तरिक्षीय शिविर जलों का नियत मार्ग है, यही से दूसरा ज्ञानमार्ग आगे बनता है, जिसके द्वारा ज्ञानोत्पाद प्राप्त किये जाते हैं। इस प्रकार अग्नि के आने वाले कर्म-मार्ग तथा ऊर्ध्व को जाने वाले कल्याण-ज्ञान मार्ग ऐसे सुखकर हैं मानों वे फूलों से भरे हुये पौधों और कमलों से भरे हुये तालाबों

277. ऋग्वेद 10:142:5
278. ऋग्वेद 10:142:7
279. ऋग्वेद 10:142:8

से परिपूर्ण हों।

(ङ) उत्पादः

अग्नि से प्रार्थना की गई है कि वे अपनी लपटों को विस्तृत करते हुये कर्मशील शक्ति से रश्मि का अनुगमन करें; वाक् द्वारा बनाये हुये ज्योतिष्मय देवयान की रक्षा करें; बिना आच्छादन वाले, उच्चस्वर से गाने वाले जलों को प्राप्त करें; तथा निर्माणकर्ता मनु बनकर दिव्य उत्पाद को सर्वतः उत्पन्न करें।[280] अग्नि के लिये जाने वाली ऊर्जाओं ने उत्पाद को गढ़ा; वे युवा अग्नि शरीर में उत्पाद को प्रक्रियारत करते हैं।[281] शीघ्र जाने वाली दीप्तियाँ भी उत्पत्ति के जानने वाले अग्नि के महान शरीरस्थ ऊर्जा-अपव्यों को बतलाती हैं। जो रसादि धातुमय मानुषी प्रजायें सम्यक् खोज के लिये प्राप्त हुई है, अग्नि ने अवश्य उनको विकसित मानुषी स्थितियों द्वारा जीत लिया है।[282] उत्पाद ज्ञाता अग्नि और कल्याण को दुहने वाली रश्मि एक दूसरे से संयुक्त की भांति समान मन वाले और अन्तः शरीर में उत्पत्ति करने वाले हैं।[283] अग्नि से उत्पाद, आयु और महान तेजस्वी दीप्तियाँ प्रकाशित होती हैं; वे विस्तृत किरणों वाले सूर्य के बल से ऊर्जा रश्मि को उदार विद्वान के लिये ज्ञानरुप में धारण करते हैं।[284] अमर्त्थ अग्नि उत्पाद को प्रापत करते हुये जीवनीय स्थितियों से उन्हें बढ़ाते हैं, वे पुरुष के शरीरों को साथ-साथ समझते हुये विशेषतः नियंत्रित करते हैं और उत्पत्ति युक्त निर्माण को पूर्ण करते हैं।[285] अग्नि वाक् से युक्त, प्रक्रिया के प्ररम्भकर्ता, उषाओं से उत्पन्न

---

280. तन्तु तन्वव्रजसो भानुमन्विहि ज्योतिष्मतः पथो रक्षधिया कृतान्।।
अनुहबण वयत जोगुवामपो मनुर्भव जनया दैव्यं जनम्।।
ऋग्वेद 10:53:6

281. अग्नये ब्रह्म ऋभवस्ततक्षुः .... यविष्ठाग्ने महि द्रविणमा यजस्व।।
ऋग्वेद 10:80:7

282. देवाश्चित्ते अमृता जातवेदी महिमानं बाध्यश्व प्रवोचन्।
यत्सम्पृच्छं मानुषीर्विश आयन्त्वं नृभिरजयरस्त्वावृधेभिः।।
ऋग्वेद 10:69:9

283. त्वं धेनुः सुदुधा जातवेदाऽसश्चतेव समना सबर्धुक्।।
ऋग्वेद 10:69:8

284. अग्ने तव श्रवों वयो महि भ्रजन्ते अचयो विभावसो।
बृहन्दनो शवसा वाजमुक्थ्यं दधासि दाशुषे कने।।
ऋग्वेद 10:140:1

285. इरज्यन्नग्ने प्रथमस्व जन्तुमिरस्में रायो अमर्त्स।
स दर्शतस्य तपुषो वि राजसि पृणक्षि सानसिं क्रतुम्।।
ऋग्वेद 10:140:4

हैं, वे रश्मियों के द्वारा अन्तरिक्षों में चलती हुई उत्पाद प्रक्रिया को आगे ले जाने वाले हैं। वे धातुओं के दोषों को पवित्र करके मानुषी स्थितियों में बलि के वहन को पोषित करते हैं।[286] अग्नि की उत्पत्ति ने पक्रिया में गति प्रदान की, वे सहयोगी की भांति उत्पाद को विस्तारित करने वाले समस्त धातुस्थानों को निर्देशित करते हैं। आगे की ऊर्जाओं ने प्रकृष्ट एकाग्रता से युक्त होकर मनुष्य की बुध्यिों को पशुपालकों की की भांति आत्मा द्वारा आगे चलाया है।[287] अग्नि उत्पाद के लिये जलों को बंजर भूमियों में मोड़ते हैं कि वे उपजाऊ हो जाती हैं और बहुत सी बेलों को बोते हैं; अग्नि की बलयुक्त दीप्ति इस प्रक्रिया क्रोध को प्राप्त नहीं होती।[288] अग्नि ऊपर और नीचे जाने वाले हैं, वे अधिक लालची सेना की भांति अलग-अलग विखेरते हुये उत्पाद को प्राप्त करते हैं; जब वायु अनुकूल बहता है तब जैसे नाई दाढ़ी बनाता है, वैसे ही वे ज्यावाला को बिखेरते हैं।[289] प्रार्थना है कि अग्नि का बल, दीप्ति, उछल कर जाने वाली ऊर्जायें ऊर्ध्व में आगे बढ़े और शुभ को ऊर्ध्व में मोडे। वृद्धि से युक्त अग्नि सर्वतः परिवर्तनशील हो, मोड़े। वृद्धि से युक्त अग्नि सर्वतः परिवर्तनशील हों, और समस्त धातुयें स्थित हों।[290]

अग्नि के उपयुक्त वर्णन में उनका प्राथमिक उषाओं से उत्पन्न होना, तथा आगे सूर्य-रश्मि के साथ संयुक्त होकर उत्पादों को प्राप्त करने का मुख्य कर्म है। यह देवयान का आदान माना जाता है। उत्पादन प्रक्रिया में धातुओं का निर्माण दोषयुक्त धातुओं का नाश करते हुये उनका शुद्धीकरण, धातुओं के सारतत्त्व को ओजस् रुप में निचोड़ना उसके संरक्षण द्वारा आयु का विस्तार, और ऊर्ध्वगामी होकर बुद्धि और ज्ञान का संवर्धन अग्नि के मुख्य कार्य है। अग्नि की उत्पत्ति से उत्पादन प्रक्रिया गतिमान होती है, और

286. मन्द्र होतारमुशिजी नमोभिः प्राञ्चं यज्ञं नेतारमध्वराणाम्।
विशामकृणवन्नरतिं पावकं हव्यवाहं दधतो मानुषेषु।।
ऋग्वेद 10:46:4

287. प्रवत्ते अग्ने जनिमा पितूयतः साचीव विश्वा भुवनान्यृञ्जसे।
प्रसप्तयः प्र सनिषन्तं नोधियः सरश्चरन्ति पशुपा इव त्मना।।
ऋग्वेद 10:142:2

288. उत वा उ परि वृणक्षि वप्सद्बहोरग्न, उलपस्य स्वधावः।
उत खिल्या उर्वराणां भवन्ति माते हेतिंतविषीं चुक्रु धाम।।
ऋग्वेद 10:142:3

289. यदुद्धतो निवतो यासि वप्सत्पृथगेषि प्रगर्धिनीव सेना।
यदा ते वातो अनुवाति शोचिर्वप्तेव पूमश्रु वपसि प्र भूम।।
ऋग्वेद 10:142:4

290. उत्ते शुष्मा जिहतामुत्ते अर्चिरुत्ते अग्ने शशमानस्य वाजाः।
उच्छ्वञ्चस्व निनम वर्धमान आत्वाद्य विश्वे वसवः सदन्तु।।
ऋग्वेद 10:142:6

उनकी ज्वालायें अनुकूल वायु द्वारा फैलती हैं, ये ज्वालायें प्रदीप्त होकर भी विनाशकारी नहीं होतीं अपितु सहयोगी की भांति उत्पाद को विस्तारित करने वाली और धातुस्थानों को निर्देशित करने वाली होती है। अग्नि जलों को उत्पादन के लिये उसी प्रकार मोड़ते हैं जैसे बेलों को बोने के लिये बंजर भूमि को भी जलों से सींच कर उपजाऊ बनाया जाता है। अग्नि नीचे धातुस्थानों को पुष्ट करते हैं, और ऊर्ध्व में जाकर आत्मा द्वारा बुद्धि और ज्ञान के संचालन में तत्पर होते हैं।

(च) जल :

अग्नि के जलों से सम्बन्ध के बारे में कुछ वर्णन इस प्रकार प्राप्त होते हैं :–

अग्निमीळे भुजां यविष्ठं शासा मित्रं दुर्धरीतुम्।
यस्य धर्मन्त्स्वरेनीः सपर्यन्ति मातुरूधः।[291]

अर्थात मैं उस अग्नि की स्तुति करता हूँ जिसकी पकड़ रखने में कठिन बलिष्ठ भुजा निर्माण करने वाली रश्मियों को धारण करते हुये अनेक वर्णों वाले प्रकाश के शासन द्वारा जल के स्रोतों को मिलाते हैं।

सप्त स्वसॄररुषीर्वावशानः विद्वान्मध्व उज्जभारा दृशेकम्[292]

अर्थात् विद्यावान् अग्नि ज्ञान के लिये प्रकाश युक्त सात रश्मियों को वश में करता हुआ मधुर जलों को ऊर्ध्व में लाकर धारण करता है।

जुषद्धव्या मानुषस्योर्ध्वस्तस्थावृम्वा यज्ञे।
मिन्वत्सद्म पुर एति।।[293]

अर्थात वह अग्नि जाने वाली ऊर्जा से उत्पाद प्रक्रिया में धातुओं का सेवन करता हुआ ऊर्ध्व में ठहर कर उदक को स्थिर करते हुये आगे जाता

291. ऋग्वेद 10:20:2
292. ऋग्वेद 10:5:5
293. ऋग्वेद 10:20:5

है।

घृतमग्नेर्वर्ध्रयशवस्य वर्धन घृतमन्नं धतम्वस्य मेदनम।
घृतेनाहुत उर्विया वि पप्रथे सूर्य इव रोचते सर्पिरासुतिः।।[294]

अर्थात उदक शरीरस्थ ऊर्जा वाले अग्नि का वर्धन करने वाला है, उदक अन्न है, और उदक इस अग्नि का बल है। निचोड़ा हुआ उदक शरीर द्वारा उदक से बलिदान किया हुआ विशेषतः विस्तृत होता है और सूर्य की भांति चमकता है।

उत्पाद प्रक्रिया में उदक का योगदान अग्नि को ऊर्जित करने में होता ह। अग्नि उत्पाद के सारभूत उदक को निचोड़ते हैं, उसे संचित करते हुये ऊर्ध्व में स्थिर करते हैं, और उसे वहाँ धारण करते हुये उसकी ऊर्जा से ज्ञान का संवर्धन करते हैं। इस प्रकार, उदक अग्नि का वर्धन करने वाला अन्न है, वह ऊर्जा युक्त होकर अग्नि का बल है निचोड़ने की क्रिया में पाक से वह बलिरुप हवि है, और इस प्रकार सर्वशुद्ध होकर ऊर्ध्व में ठहरने वाला ज्ञानयुक्त आत्मा का प्रकाशमान रूप भी है।

(छ) आयु :

अग्नि का मनुष्य की आयु से महत्वपूर्ण सम्बन्ध होता है। इस विषय में निम्न मन्त्र ग्रहणीय हैं :

यज्ञासाहं दुव इषेऽग्निं पूर्वस्य शेवस्य।
अद्रः सनुमायुमाहुः।।[295]

अर्थात उत्पाद प्रक्रिया से तृप्त हुये अग्नि को ऋषि स्तुतियां प्रेषित करता है। पाषाणपुत्र अग्नि को समग्र कलायाण की आयु कहा जाता है।

तामायवः शुचयन्तं पावकं मन्द्रं होतारं दधिरे यजिष्ठम्।[296]

---

294. ऋग्वेद 10:69:2
295. ऋग्वेद 10:20:7
296. ऋग्वेद 10:46:8

अर्थात् आयुओं ने प्रक्रिया में स्थित, गम्भीर ज्ञान वाले प्रक्रियाकर्ता शुद्ध करते हुये पवित्र करने वाले उस अग्नि को धारण किया।

आयोर्ह स्कम्भ उपमस्य नीळे पथां विसर्गे धरुणेशु तस्थौ।[297]

अर्थात् बस्तुतः आयु को आधार समीपस्थ जलों में इस अग्नि के आवास में, और इसके विसर्जनीय कार्यों में सुनिश्चत पथों में स्थित होना है।

प्र होता जातो महान्नभोविन्नृषद्वा सीददपामुपस्थे।
दधिर्यो धायि स ते वयांसि यन्ता वसूनि वधते तनूपाः।।[298]

अर्थात प्रथम प्रक्रियाकता, जलों से उत्पन्न होने वाले, अन्धकार युक्त को जानने वाले, मनुष्यों में स्थित अथवा जालों के अङ्क में स्थित, जिसने धातुओं को पोषित किया, वह अग्नि मनुष्य के लिये देहों के पालन करने वाले तथा आयुओं को बढ़ाने वाले वसुगणों अर्थात् बसने वाली रसादि धातुओं का विधान करते हैं।

यं त्वा देवा दधिरे हव्यवाहं पुरुस्पृहो मानुषासो यजत्रम।
स यामन्नग्ने स्तुवते वयोधाः प्र देवयन् यशसः सं हि पूर्वी।[299]

अर्थात दीप्तियों ने, और विपुल कामनाओं वाली मानुषी स्थितियों अर्थात् धातुओं ने जिस प्रक्रियावान, धातुओं अर्थात् बलि को ले जाने वाले अग्नि को पोषित किया, वह निश्चित ही ऊर्जित करने वाले के लिये सम्यक् यश से आगे चमकते हुये, पहले की आयुओं का विस्तार करते हुये उन्हें पोषित करते हैं।

विभ्राद्व बृहस्पिबतु सोम्यं मध्वायुर्दधाद्यज्ञपतावविहुतम्।
वातजूतो यो अभिरक्षति त्मना प्रजाः पुपोष पुरुधा वि राजति।।[300]

---

297. ऋग्वेद 10:5:6
298. ऋग्वेद 10:46:1
299. ऋग्वेद 10:46:10
300. ऋग्वेद 10:170:1

अर्थात वायु द्वारा वेगवान हुआ अग्नि स्वयं उत्पाद को बहुत प्रकार से पुष्ट करता हैं, सर्वथा रक्षा करता है और शासन करता है। विशेषतः ज्वलनशील अग्नि सामयुक्त विकसित उदक को पीता है, तथा प्रक्रियाकर्ता में विपरीततः बलि न देने वाली आयु को रखा करता है।

अग्नि समग्र कल्याण की आयु है; आयु अग्नि को धारण करती है। पोषक जलों में अग्नि का आवास और निर्माण के पथों में स्थिर होना आयु का आधार है। अग्नि मनुष्यों की देही का पालन करने वाले तथा आयु को बढ़ाने वाले रसादि धातुओं का विधान करते हैं। अग्नि दीप्तियों और धातुओं से पोषित होते हैं और वह ऊर्जित करने वाले धातुओं में व्याप्ति पूर्वक उनकी आयुओं का विस्तार करते हुये उन्हें पोषित करते हैं। वे सोमयुक्त विकसित उदक को पीते हैं, तथा प्रक्रिया करने वालों में विपरीततः नाश न करने वाली आयु को रखते हैं।

(९) सूर्य :

अग्नि के तीन रूपों में से एक प्रमुख रूप सूर्य है। इसकी उत्पत्ति जल में स्थित ऊर्जा रश्मियों से हुई–

अवर्धयो वनिनो अस्य दंससा शुशोचं सूर्य ऋतजातयागिरा।[301]

अर्थात् न बढ़े हुये जलों में नियम से उत्पन्न होने वाली वाक् द्वारा कर्म से फेंकी हुई रश्मियों से सूर्य चमका।

पश्चेदमन्यदभवद्यजत्रममर्त्यस्य भुवनस्य भूना।
सुपर्णो अङ्ग सवितुर्गरुत्मान्पूर्वो जातः स उ अस्यानु धर्म।।[302]

अर्थात् पहले उत्पन्न हुआ पंखों से युक्त रश्मिवान् वह (अग्नि) ही इस सूर्य का फिर अङ्ग रूप धारण हुआ। पीछे यह प्रक्रियारत न मरने वाले अन्तरिक्ष का दूसरा स्थान वर्तमान हुआ।

301. ऋग्वेद 10:138:2
302. ऋग्वेद 10:149:3

यत्रा समुद्रः स्कभितो व्यौमदयां नपात्सविता तस्य वेद।
अतो भूरत आ उत्थितं रजोऽतो द्यावापृथिवी अप्रथेताम्।[303]

अर्थात जहाँ थामा हुआ समुद्र सब ओर से जलों की सन्तान रश्मि को विशेषतः गीला करता है, सूर्य उसको प्राप्त करता है।

यहाँ से पृथिवी, यहाँ से क्रिया शक्ति सब ओर से उठी हुई है; यहाँ से आकाश और पृथिवी विस्तृत हुये हैं।

सूर्यरश्मिर्हरिकेशः पुरस्तात्सविता ज्योतिरुदयाँ अजस्रम्।
तस्य पूषा प्रसवे याति विद्वान्त्सम्पश्यन्विश्वा भुवनानि गोपाः।।[304]

अर्थात् घोड़े के केशरूप अविच्छिन्न सूर्य रश्मि और उत्पन्न करने वाली ज्योति प्रारम्भ में ऊर्ध्व में प्राप्त हुये। समस्त अन्तरिक्षस्थानों के रक्षक तथा जानकार पोषणकर्ता उसकी उत्पत्ति को जानते हुये प्राप्त करते हैं।

नृचक्षसा एष दिवो मध्य आस्त आ पप्रिवान् रोदसी अन्तरिक्षम्।
स विश्वाचीरभि चष्टे घृताचीरन्तरा पूर्वमपरं च केतुम्।।[305]

अर्थात् यह दिव्यसूर्य मानुषी स्थितियों के ज्ञान से भरता हुआ आकाश और पृथिवी के मध्य अन्तरिक्ष में वर्तमान हुआ। उस सबको प्राप्त करने वाले, उदक को प्राप्त करने वाले ने पहले वाले और बाद वाले के बीच रश्मि को प्रकट देखा।

सूर्य की उत्पत्ति के ये वर्णन सृष्टि के प्रारम्भ, जीव के जन्म, तथा मनुष्य के अन्तःशरीर के लिये समानरूप से लागू होते हैं। प्रारम्भ में प्राकृतिक जलों में निहित वाक् रूपी ऊर्जा द्वारा कर्म से फेंकी हुई रश्मि से सूर्य बना। बाद में यही सूर्य अन्तरिक्ष में वर्तमान हुआ। और भी–

विश्वस्मा अग्निं भुवनाय देवा वैश्वानरं केतुमह्नामकृण्वन।
आ यस्ततानोषसो विभातीरयो ऊर्णोति तमो अर्चिषा यन्।।[306]

---

303. ऋग्वेद 10:149:2
304. ऋग्वेद 10:139:1
305. ऋग्वेद 10:139:2
306. ऋग्वेद 10:88:12

अर्थात दीप्तियों ने समस्त अन्तरिक्षीय लोकों के लिये दिनों की पताका वैश्वानर अग्नि अर्थात् सूर्य को बनाया, जिसने प्रकाश पूर्ण उषाओं को सम्पूर्णतः फैलाया, जलों को व्याप्त किया, अपनी दीप्ति से अन्धकार को जीता।

मूर्धा भुवो भवति नक्तमग्निस्ततः सूर्यो जायते प्रातरुधना।
मायामू तु यज्ञियानामेताममयो यत्तूर्णिश्चरति प्रजानन्।।[307]

अर्थात अग्नि रात में अन्तःशरीर की मूर्धा होता है, वहाँ से प्रातः काल में उगता हुआ सूर्य रूप में उत्पन्न होता है, वहाँ से प्रातःकाल में उगता हुआ सूर्य रूप में उत्पन्न होता है। तब यहाँ से प्रक्रियावानों को उत्पन्न करने वाली वाक् अलग होकर शीघ्रता से संज्ञान करती हुई विचरती है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि वाक् ऊर्जा की दीप्तियों से उत्पन्न होने वाला अग्नि ही अन्तरिक्ष में सूर्य रूप से प्रकट होता है और अन्तःशरीर प्रक्रिया के लिये क्रियाशील होता है।

विभ्राड बृहत्सुभृतं वाजसातं धर्मन्दिवो धरुणे सत्यमर्पितम्।
अमित्रहा वृत्रहा दस्युहन्तमं ज्योतिर्जज्ञे असुरहा सपत्नहा।।[308]

अर्थात् आकाश को धारण करने वाले बढ़े हुये विशेषतः ज्वलनशील सूर्य ने भली प्रकार भरे हुये उत्पादसुख्या वाली, उदक में भेंट दिये हुये सत्ता के योग, शत्रुसंहारक, घेरने वाले की नाशक, बलवान् प्राण की नाशक, प्रतिस्पर्धी की नाशक, उजाड़ने वाले की नाशक ज्योति को उत्पन्न किया।

इदं श्रेष्ठ ज्योतिषां ज्योतिरुत्तमं विश्वजिद्धनजिदुच्यते बृहत्।
विश्वभ्राड् भ्राजो महि सूर्यो दृश उरु पप्रथे सह ओजो उच्चयुतम्।।[309]

अर्थात् यह श्रेष्ठ, उत्तम, बढ़ा हुआ प्रकाशें का प्रकाश सब को जीतने वाला, उत्पादों को जीतने वाला कहा जाता है। न गिरने वाले ओजस् (उदक) के साथ महान् सूर्य सर्वथा ज्वलनशील को प्रदीप्त करने वाले ज्ञान के लिये

---

307. ऋग्वेद 10:88:6
308. ऋग्वेद 10:170:2
309. ऋग्वेद 10:170:3

विपुलता से फैलता है।

स्पष्ट है कि आकाश को धारण करने वाले, बढ़े हुये, विशेषतः ज्वलनशील सूर्य से ज्योति उत्पन्न होती है, जो उत्पाद सुख वाली है, उदक में अर्पित उत्पादों की सत्ता के योग हैं, घेरने वाले की नाशक, अधिक प्राण की नाशक, प्रतिस्पर्धी की नाशक, तथा विपरीत क्रिया वाले शत्रु की नाशक है, वह सबको जीतने वाली कही जाती है। अच्युत उदक के साथ महान् सूर्य सब ज्वलनशीलों को प्रदीप्ति करने वाले ज्ञान के लिये विपुलता से फैलता है। अब सूर्य के कार्यों को बतलाते हैं–

सविता यन्त्रैः पृथिवीमरम्णादस्कम्भने सविता द्यामदृंहत्।।
अश्वमिवाधुक्षद्धुनिमन्तरिक्षमतूर्ते बद्धं सविता समुद्रम्।।[310]

अर्थात् उत्पन्न करने वाले सूर्य ने बन्धनों द्वारा अर्थात् रश्मियों द्वारा पृथिवी में रमण किया, सूर्य ने बिना सहारे वाले आकश को दृढ़ बनाया। सूर्य ने शान्त बंधे हुये अन्तरिक्ष समुद्र को, जैसे घोड़ा जलाशय को रौंदता है वैसे ही, उद्दीप्त किया।

पतिरिव जायामभि नो न्येतु धर्ता दिवः सविता विश्ववारः।।[311]

अर्थात् जैसे पति पत्नी को रखता है वैसे ही सूर्य आकाश की समस्त जलराशि का धारण करने वाला है, वह हमारे सम्मुख आये।

वि सूर्यो मध्ये अमुचद्रथं दिवो विदद्दासाय प्रतिमानमार्यः।।[312]

अर्थात् प्रतिष्ठित सूर्य ने आकाश के बीच रथ को खोल दिया और उजाड़ने वाले के लिये युक्तियों को प्राप्त किया।

अनाधृष्टानि धृषतो व्यास्यन्निधीरँदेवाँ अमृणदयास्यः।
मासेव सूर्यो बसु पुर्यमा ददे गृणानः शत्रूँरशृणाद्विरुक्मता।।[313]

310. ऋग्वेद 10:149:1
311. ऋग्वेद 10:149:4
312. ऋग्वेद 10:138:3
313. ऋग्वेद 10:138:4

अर्थात् इस प्रकार उस साहसी ने दबे हुये उत्पादों को विशेषतः स्थापित करते हुये उद्यम किया; न दने वालों को कुचला। सोमों की भाँति सूर्य ने बसे हुये स्थानों को ले लिया, गुर्राते हुये विशेष दीप्ति से शत्रुओं को फाड़ डाला।

अयुद्धसेनो विम्वा विम्वा विभिन्दता दाशद् वृत्रहा तुज्यानि तेजते।
इन्द्रस्य बज्राद बिभेदभिश्नथः प्राकामच्छुन्ध्यूरजहादुषा अनः।।[314]

अर्थात व्याप्त करने वाली रश्मियों ने इन युद्ध न करने वालों को फाड़ते हुये आहुति दी। आवरण का नाश करने वाले ने सम्मुख बींधने के लिये रश्मि पुञ्ज के वज्र से फाड़ा और उत्पादों को तीव्र किया। शोधन करने वाले आदित्य ने आगे बढ़ते हुये उषा के द्वारा प्राणों को छोड़ा।

मासां विधानमदधा अधि द्यवि त्वया विभिन्नं भरतिप्रधिंपिता।[315]

अर्थात् सूर्य ने ऊर्ध्व आकाश में सोम का आयोजन रखा। पिता आकाश सूर्य के द्वारा प्रकृष्ट बुद्धि को पोषित करता है।

इस प्रकार सूर्य अपनी रश्मियों से पृथिवी में रमण करता है, वह आकाश को दृढ़ बनाता है, और अन्तरिक्ष समुद्र को जलाशय में घोड़े की भांति रौंदता है। पति द्वारा पत्नी को रखने की भांति सूर्य आकाश की सम्पूर्ण जलराशि को धारण करता है। वह अपने शरीर को आकाश के बीच पूर्णतः खोलदेता (प्रस्फुटितकरता) है, और उत्पादों को उजाड़ने वालों के नाश के लिये युक्तियों को प्राप्त करता है, इस प्रकार उत्पादों को स्थापित करने का उद्यम करता है, और अनुत्पादकों को कुचलता है। शोधक आदित्य उषा रश्मियों द्वारा प्राणवायु को प्रकट करता है; वह ऊर्ध्व आकाश में सोमका विधान करता है। और प्रकृष्ट बुद्धि को पोषित करता है।

(10) यज्ञ :

जैसा पूर्व में बतलाया जा चुका है, यज्ञ उत्पादन प्रक्रिया का नाम

314. ऋग्वेद 10:138:5
315. ऋग्वेद 10:138:6

है; यह शब्द 'जन' धातु से व्युत्पन्न है। यज्ञ के सम्बन्ध में यत्रतम अनेक मन्त्र है जिन्हें हम व्यवस्थित रूप में संकलित कर रहे हैं।

यो यज्ञस्य प्रसाधनस्तन्तुर्देवेष्वाततः।
तमाहुतं नशीमहि।।[316]

अर्थात् जो उत्पादन प्रक्रिया की प्रकृष्ट व्यवस्था का तानाबाना दीप्तियों में फैला हुआ है, उसके प्रारम्भ को हम प्राप्त करें।

धर्मा समन्ता त्रिवृतं व्यापतुस्तयोर्जुष्टिं मातरिश्वा जगाम।
दिवस्पयोदिधिषाणा अवेषन्विदुर्देवाः सहसामानमर्कम्।।[317]

अर्थात् समग्र रूप से दोनों (आहवनीय और गार्हपत्य) तापों ने त्रिवृत उत्पादन, प्रक्रिया (हविर्यज्ञ, पाकयज्ञ और सोमयज्ञ) को विशेषतः प्राप्त कया। उनकी दीप्ति को वायु (प्राण) ने प्राप्त किया। आकाशीय जलों को धारण करते हुये दीप्तिमान सक्रिय हुये, उन्होंने दीप्ति के द्वारा सूर्य या रश्मि के निर्माण को जाना।

क्रतूयन्ति क्रतवो हृत्सु धीतयो वेनाः पतयन्त्या दिशः।
न मर्डिता विद्यते अन्य एभ्यो देवेषु में अधिकामा अयंसते।।[318]

अर्थात् कर्मशील यज्ञ अन्तः शरीरों में कर्म और ज्ञान दोनों को प्राप्त करते हैं। विचारणाशील यज्ञ बुद्धियों को गति देते हैं। निर्देशक यज्ञ उन्हें पूर्णतः उड़ाते हैं। दीप्तियों में इनसे दूसरा ऊर्जित हुआ विद्यमान नहीं है जो मनुष्य की विकास की कामना (धातुनिर्माण) को अधिक बढ़ा सके।

ये स्था मनोर्यज्ञियास्ते श्रृणोतन यद्वो देवा ईमहे तद्दधातन।
जैत्रं क्रतुं रयिमद्वीखद्यशस्तद्देवानामवो अद्या वृणीम है।[319]

---

316. ऋग्वेद 10:57:2
317. ऋग्वेद 10:144:1
318. ऋग्वेद 10:64:2
319. ऋग्वेद 10:36:10

अर्थात मन से जो दीप्तिमान यज्ञकर्ता स्थित हैं वे सुने कि उनके लिये उत्पादककर्म, वार्यवान विजयी यश हम प्राप्त करते हैं उसको धारण करें, अब दीप्तियों की वह रक्षा हम सर्वतः वरण करते हैं।

तात्पर्य यह है कि दीप्तियाँ उत्पादन प्रक्रिया के मूल हैं। प्रक्रिया की व्यवस्था का ताना बना उन्हीं में फैला है। अपने आहवनीय और गार्हपत्य तापों से वे हविर्यज्ञ, पाकयज्ञ, और सोमयज्ञ को प्राप्त करती हैं। दीप्ति को वायु (प्राण) प्राप्त करता है, दीप्तिमान आकाशीय जलों को धारण कर सक्रिय होते हैं, और दीप्ति से रश्मि के निर्माण को जाना जाता है। दीप्तियों के अतिरिक्त अन्य कोई भी विकास की वृद्धि में समर्थ नहीं है। कर्म प्रधान उत्पादन प्रक्रिया से कर्म और ज्ञान विचार प्रधान प्रक्रिया से बुद्धियों में गति, और निर्देशक प्रक्रिया से उन प्रक्रियाओं को सक्रिय और विकसित किया जाता है। मनुष्य अपने प्रयत्न से प्रक्रियारत दीप्तियों के लिये उत्पादन कर्म, वीर्यवान् विजयी यश, और दीप्तियों की रक्षा प्राप्त कर सकता है। इन्हीं भावों को प्रकारान्तर से पुरुषसूक्त में भी बतलाया गया है।

तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन्पुरुषं जातमग्रतः।
तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये।।[320]

अर्थात् उस उत्पादन प्रक्रिया में जलों को छिड़कता हुआ पुरुष सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ। उससे जो व्यवस्था करने वाली रश्मियाँ थीं उनमें और दीप्तियों ने प्रक्रिया की।

यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत।
वसन्तो अस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः।।[321]

अर्थात् जब पुरुष के जल से दीप्तियों ने उत्पाद प्रक्रिया को फैलाया तो इसका प्रकाश वायव्य संग्रह वसन्त हुआ, ताप अग्नि संग्रह ग्रीष्म हुआ, और जलीया-रश्मि श्लेष्म संग्रह शरद् हुआ।

---

320. ऋग्वेद 10:90:7
321. ऋग्वेद 10:90:6

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः संभृतं पृषदाज्यम्।
पशूंतांश्चक्रे वायव्यान् आरण्यान् ग्राम्यांश्च ये।।[322]

अर्थात उस सब को सक्रिय करने वाली उत्पाद प्रक्रिया से सम्यक् धारण किये हुये जल को पार किया गया, तथा उन पशुओं (जीवनीय तत्वों या इन्द्रियों को जो चैतन्यमय द्रष्टा है) को बनाया गया जो वायु से युक्त, नाड़ी-वन से युक्त, और समूहमय थे।

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत।।[323]

अर्थात् उस सब की सक्रिय करने वाली उत्पादन प्रक्रिया से अधिभूत और अध्यात्म (भौतिक तथा चेतनतत्व) उत्पन्न हुये, उनसे इन्द्रियगोलक और उनसे अधिदैविक ऊर्जामार्ग आदि उत्पन्न हुये।

तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः।
गावोह जज्ञिरे तस्मात् तस्माज्जाता अजावय।।[324]

अर्थात् उससे रश्मिरूप स्नायुशक्ति उत्पन्न हुई जो दोनों ओर उच्च और निम्न संक्रियाओं में कार्य करती है। निश्चय उससे जाने वाली (गतिशील) ऊजायें उत्पन्न हुई और उससे अजर-अमर चैतन्य ऊर्जा रूप आत्मा उत्पन्न हुई।

स्प्तस्थासन् परिधयस्त्रिःसप्त समिधः कृतः।
देवः यद्यतं तन्वाना अबध्नन् पुरुषं पशुम्।।[325]

अर्थात् दीप्तियों ने जिस उत्पाद प्रक्रिया को फैलाया उससे पुरुष रुपी पशु (चैतन्यमय द्रष्टा) को बाँध लिया। इसकी सीमायें सात धातु स्थानों की

---

322. ऋग्वेद 10:90:8
323. ऋग्वेद 10:90:9
324. ऋग्वेद 10:90:10
325. ऋग्वेद 10:90:15

हैं तथा समिधाओं ने इन्हें इक्कीस प्रकार से बनाया है।[326]

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथा सन्।
ते ह नाक महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः।।[327]

अर्थात् दीप्तियों ने उत्पाद प्रक्रिया द्वारा उत्पाद प्रक्रिया को संचालित किया। पहले जहाँ दीप्तियाँ व्यवस्था करने वाली हुई थीं, उन्हीं प्रथम धर्मों में दीप्तियाँ वर्तमान रहीं, उन्होंने वस्तुतः जलों के वाहक आकाश का विकास से साथ दिया।

इस वर्णन में प्रथमतः गर्भस्थ उदक में जीवरूप पुरुष क्षोभ उत्पन्न करता हुआ विद्यमान हुआ, जिस क्षोभ से दीप्तियों और व्यवस्था करने वाली रश्मियों ने प्रक्रिया की। जब उदक से दीप्तियों ने उत्पाद प्रक्रिया को फैलाया तो बात, पित्त और कफ की उत्पत्ति हुई। इनकी पारस्परिक अन्त क्रिया से चैतन्यमय जीवनीय तत्व उत्पन्न हुये जो समूहमय थे और स्नायविक गति से परिपूर्ण थे। इनसे ही पार्थिव-दैहिक और चेतन तत्व बने, इन्द्रिय गोलक, तथा ऊर्जामार्ग उत्पन्न हुये। इनसे स्नायुशक्ति उत्पन्न हुई, फिर गतिशील ऊर्जा उत्पन्न हुई, पुनः अजर-अमर चैतन्य-ऊर्जा-पुञ्ज रूप आत्मा बनी। दीप्तियों ने जिस उत्पाद प्रक्रिया का विस्तार किया उससे जैविक पुरुष को बांध लिया। यह बन्धन सांत धातु स्थानों की सीमाओं वाला था जो समिधाओंसे इक्कीस प्रकार का हुआ। इस प्रकार दीप्तियों ने उत्पाद प्रक्रिया द्वारा ही उत्पाद प्रक्रिया को संचालित किया।

अब देखिये, ऋग्वेद दशम मण्डल का 130 वाँ सूक्त''यज्ञ प्रजापत्य'' नाम से उत्पाद प्रक्रिया का ही द्योतक होता है। यहाँ प्रक्रिया का विवरण इस प्रकार है-

यो यज्ञों विश्व तस्तन्तुमिस्तत एकशंत देवकर्मेभिरायतः।
इमे वयन्ति पितरो य आययुः प्रवयापवयेत्यासते तते।।[328]

अर्थात जो यज्ञ (उत्पादप्रक्रिया) सब ओर एक सौ एक नाड़ियों द्वारा फैलाया हुआ है, वह दीप्तियों के कर्मों द्वारा सर्वतः विस्तृत हुआ है। इसे

326. ऋग्वेद ''सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात् सप्तार्चिषः समिधः सप्त होमाः।
सप्त हमे लोका येषु चरन्ति प्राणा गुहाशया निहिताः सप्त-सप्त।।
- मुण्डकोप निषद् 1:2:8

327. ऋग्वेद 10:90:16

328. ऋग्वेद 10:130:1

ये विस्तार करने वाले बुनते हैं। जो आगे जाने वाले तथा नीच जाने वाले पक्षी (शुक्ल–कृष्ण पक्ष वाले) आये हैं, वे फैलाई हुई जाने की प्रक्रिया में स्थित होते हैं।

पुमाँ एनं तनुत उत्कृणत्ति पुमान्वि तत्ने अधि नाके अस्मिन।
इमे मयूखा उप सेदुरु सदः सामानि चक्रुस्तसराण्योतवे।।[329]

अर्थात पुरुष इसको फैलाते हुये ऊर्ध्व में लपेटता है। पुरुष ने इस जलों के वाहक आकाश के ऊपर विशेषतः इसे फैलाया। ये रश्मियाँ समीप में स्थित हुईं। निर्माण के लिये अध्यात्म में स्थित ढरकियों को सोम ने बनाया।

इस सूक्त में यहाँ तक तो लगभग वही वर्णन है जो हम पहले व्याख्यायित कर चुके हैं। अगला मन्त्र पुरुषसूक्त के उपर्युक्त मन्त्रों के रहस्यमय शब्दों पर प्रश्न उठता है :–

कासीत्प्रमा प्रतिमा किं निदानमाज्यं किमासीत्परिधिः क आसीत्।
छन्दः किमासीत्प उगं किमुक्थं यद्देवा देवमयजन्त विश्वे।।[330]

अर्थात् यथार्थ माप या प्रथम निर्माण कौन था, उसका प्रतिरूप क्या था (मन्त्र 10:90:7), निश्चित देने वाला प्रकाश कौन था, (मन्त्र 10:90:6,8) परिधि कौन था (मन्त्र 10:90:15), छन्द क्या था? (मन्त्र 10:90:9), आगे जाने वाले मन्त्र क्या थे (मन्त्र 10:90:9) कि समस्त देवों ने अधिदेव को पूजा या सक्रिय किया (मन्त्र 10:90:7,16)।

इस इशारों से पुरुष सूक्त के अर्थ स्पष्ट करने का बीजमन्त्र प्राप्त होता है, जिनकी व्याख्या साधारण नहीं अपितु विशिष्ट हैं। हम पहले ही ऐसी व्याख्या कर चुके हैं और रहस्यमय शब्दों के अर्थों को खोल चुके हैं। आगे और देखिये–

अग्नेर्गायत्र्यभवत्सयुग्वोष्णिहया सविता सं बभूव।
अनुष्टुभा सोम उक्थैर्महस्वान्बृहस्पते बृहती वाचं आवत्।।[331]

329. ऋग्वेद 10:130:2
330. ऋग्वेद 10:130:3
331. ऋग्वेद 10:130:4

अर्थात् गतिमान ऊर्जा अग्नि के साथ रहने वाली हुई, सूर्य ऊष्मा के साथ वर्तमान हुआ, सोम रुकी हुई ऊर्जा से विस्तृत हुये, और प्रयत्नों के स्वामी बृहस्पति की बढ़ी हुई ऊर्जा को सर्वथा समझिये।

विराण्मित्रावरुणयोरभि श्रीरिन्द्रस्य त्रिष्टुबिह भागो अह्नः।
विश्वान्देवाञ्जगत्या विवेश तेन चाक्लृ प्र ऋषयो मनुष्या।।[332]

अर्थात् ऐश्वर्यवान् इन्द्र की शोभा, मित्र (निर्माणशील) और वरुण (व्यापनशील) के सम्मुख विशेष प्रकाशित होने वाली, त्रिवृत् स्थिर, फैलने वाले (दिन) का पार्थिव अंश, जङ्गय ऊर्जा ने समस्त देवों में (दीप्तियों में)प्रवेश कर लिया। मानुषी स्थितियां (रसादि धातुयें) ऊर्जा के द्वारा रश्मियों के अनुरूप (गतिमान) हुईं।

चाक्लृपे तेन ऋषियों मनुष्या यज्ञे जाते पितरो नः पुराणे।
पश्यन्मन्ये मनसा सक्षसा तान्य इमं यज्ञमयजन्त पूर्वे।।[333]

अर्थात प्राचीन उत्पन्न हुई उत्पादन प्रक्रिया में हमारी विस्तार करने वाली मानुषी स्थितियाँ उस ऊर्जा द्वारा रश्मियों के अनुरूप हुईं। जो पहले वालों ने इस उत्पादन प्रक्रिया को सम्पन्न किया था उनको मैं अपनी मनीषा से देखता हुआ विचार करता हूँ।

सहस्तोमाः सहछन्दस आवृतः सहप्रमा ऋषयः सप्त दैव्याः।
पूर्वेषां पन्थामनुदृश्य धीरा अन्वालेभिरे रथ्यो न रश्मीन्।।[334]

अर्थात् सात दीप्तिमान सूर्यरश्मियाँ ऊर्जित करने वाली शक्तियों के साथ, आच्छादित करने वाली इन्द्रियों के साथ, यथार्थ (प्रथम) माप या निर्माण के साथ आवृत हुईं। लगामों का अनुसरण करते हुये रथ में जुते घोड़े की भांति बुद्धिमान जनों ने पूर्व पुरुषों के मार्ग को फिर देखकर सर्वतः लाभ लिया।

---

332. ऋग्वेद 10:130:5
333. ऋग्वेद 10:130:6
334. ऋग्वेद 10:130:7

अर्थात् इसी क्रम में प्रक्रिया सदा गतिमान रहती है।

यहाँ पूर्वपुरुषों से प्रभा का कार्य और धीराः से प्रतिमा का कार्य सम्पन्न किया गया है; इसी प्रकार से मन्त्र (10:90:16) में दीप्तियों का प्रथम कार्य प्रभा तथा उन्हीं धर्मों में बने रहना प्रतिमा का कार्य है। इस प्रकार रहस्यों का उद्घाटन करने में विशेष शब्दावली को व्याख्यायित किया गया है।

(11) प्राप्तियाँ :

यास्क ने आप्री सूक्तों पर एक पूरा अध्याय[335] अपने निरुक्त में दिया है। आप्रीसूक्तों को यास्क प्राप्तियाँ (√आप्) या प्रार्थनायें (√प्री) मानते हैं। यद्यपि दूसरे अर्थ में एक ब्राह्मण प्रमाण भी यास्क ने प्रस्तुत किया है, किन्तु इन सूक्तों में प्रार्थना जैसा कुछ दिखाई नहीं देता। 'आप' में आ+प्र से भी निर्वचन सम्भव है, तब इसका अर्थ प्रथम व्याप्तियाँ होता हैं। यद्यपि आप्तीसूक्तों की संख्या ग्यारह बताई गई है, तथापि अपनी व्याख्या में यास्क ने ऋग्वेद दशम मण्डल के 110 वें सूक्त को आधार माना है। इसी मण्डल के 70 वें सूक्त का भी एक आध संदर्भ दिया है। हम देखते हैं कि निघण्टु पाँचवे अध्याय की दूसरी सूची 'आप्र' सन्दर्भों की है, और ठीक इसी क्रम में दशम मण्डल के सूक्त 70 और 110 निर्मित हुये हैं; कदाचित् 'तनुनपात्' और 'नराशंस' को समान मानकर 70 वें सूक्त में नराशंस और 110 वें सूक्त में तनूनपात् पर मन्त्ररचना की गई है, क्योंकि आन्तरिक विषय सामग्री एक सी है। अतः हम अपनी समीक्षा में उक्त दोनों सूक्तों को सम्मिलित रूप से व्याख्यायित करते हुये चल रहे हैं।

इमा मे अग्ने समिधं जुषस्वेळस्पदे प्रतिहर्या घृताचीम।
वर्ष्मन्पृथिव्याः सुदिनत्वे अह्नामूर्ध्वो भव सुक्रतो देवयज्या।।[336]

समिद्धो अद्य मनुषो दुरोणे देवो देवान्यजसि जातवेदः।
आ च वह मित्रमहश्चिकित्वात्वं दूतः कविरसि प्रचेताः।।[337]

---

335. यास्क : 10:70:1
336. ऋग्वेद 10:70:1
337. ऋग्वेद 10:110:1

बुद्धिमान, प्रथम चेतनावान्, तापशील, दीप्तिमान्, उत्पाद विज्ञ, अग्नि निर्माणकर्ता आदित्य (मित्र) को जानकर उसे सर्वतः वहन करते हुये, मनुष्य शरीर में सम्यक् प्रज्ज्वलित होकर दीप्तियों को उत्पादन कर्म में लगाते हैं। वे इलापद (अधिभूत, पृथिवीस्थान) में वाक् अर्थात् ऊर्जासंक्रिया को लाते हैं, देवयान (अधिदेव, अन्तरिक्षस्थान से कल्याण (उत्पाद) प्राप्त कर ऊर्ध्व (अध्यात्म, द्युस्थान) में वर्तमान होते हैं।

आ देवानामग्रयावेह यातु नराशंसो विश्वरूपेभिरश्वैः।
ऋतस्य पथा नमसा मियेधो देवेभ्यो देवतमः सुषूदत्।।[338]

तनूनपात्पथ ऋतस्य यानान्मध्वा समञ्जन्त्स्वदया सुजिह्व।
मन्मानि धीभिरुत यज्ञमृन्धन्देवत्रा च कृणुह्यध्वरं नः।।[339]

इन मन्त्रों का भी अग्नि से ही सम्बन्ध है; जिनकी कल्याणकारी ज्वाला ऋत के अनुसार अन्तरिक्षस्थानीय उत्पाद प्रक्रिया में अनेक रूपों वाली दीप्तियों से जलों और शरीरधातुओं का निर्माण करती हैं और बुद्धियों के साथ ज्ञान को विकसित करती हैं। सर्वाधिक प्रदीप्त अग्नि दीप्तियों के लिये बाकृ द्वारा निर्माण या मापने-परखने के हेतु से ऋत के मार्गों को क्रमबद्ध किया करता है।

शाश्वत्तममीकते दूत्याय हविष्मन्तो मनुष्यासो अग्निम्।
वहिष्ठैरश्वैः सुवृता रथेना देवान्वक्षि निषदेह होता।।[340]

आजुह्वान ईड्यो बन्धश्चायाह्यग्ने वसुभिः सजोषाः।
त्वं देवानामसि यह्व होता स एनान्यक्षीषितो यजीयान्।।[341]

सर्वथा निरन्तर रहने वाले अग्नि को जलाने के लिये अंशों को देती हुई रसादि धातुयें ऊर्जित करती हैं। होम करने वाले अग्नि ने सर्वाधिक वाहक रश्मियों द्वारा भले प्रकार परिवर्तित शरीर के साथ दीप्तियों को चाहा और

338. ऋग्वेद 10:70:2
339. ऋग्वेद 10:110:2
340. ऋग्वेद 10:70:3
341. ऋग्वेद 10:110:3

इस शरीर में स्थित हुये। ऐसे अग्नि ने ऊर्जित किये जाने योग्य और कैद किये जाने योग्य समान बल वाले वास करने के इच्छुक वसुगणों के साथ दीप्तियों को प्राप्त किया और दोनों ने उन्हें साथ-साथ ही बलिदान किया।

वि प्रथतां देवजुष्टं तिरश्चा दीर्घ द्राहमा सुरभि भूत्वस्मे।
अहेकता मनसा देव बर्हिरिन्द्रज्येष्ठाँ उशतो यक्षि देवान्।।[342]

प्राचीन बर्हिः प्रदिशा प्रथिव्या वस्तोरस्या वृज्यते उग्रे अहाम्।
व्यु प्रथते वितरं वरीयो देवेभ्यो अदितये स्योनम्।।[343]

अन्तरिक्ष स्थानीय प्रकाशवान् आत्मा ने मन के साथ ज्येष्ठ दीप्तिमानों अधिकार करते हुये विभिननतः फैली हुई, लम्बी-चौड़ी, दीप्तियों से सेवित तथा परिवर्तनशील देह को रश्मियों से ऊर्जित करते हुये बलिदान किया। दूसरे शब्दों में, उत्तरायण प्रक्रिया प्रारम्भ होने से पूर्व इस शरीर के फैले हुये साधनों से पूर्वकाल के बाह्य अवयवों को चुना जाता है, फिर दीप्तियों तथा समग्र ऊर्जा के लिये चुनी हुई विकीर्णतर रश्मि को फैलाया जाता है।

दिवो वा सानु स्पृशता वरीयः पृथिव्यावामात्रुया वि श्रयध्वम्।
उशतीर्द्वारो महिना महद्भिर्देवं रथं रथयुर्धारयध्वम्।।[344]

व्यचस्वतीरुर्विया वश्रयन्ता पतिम्यो न जनयःशुम्भमानाः।
देवीर्द्वारो बृहतीर्विश्वमिन्व देवेभ्यो भवत सुप्रायणाः।।[345]

चुनी हुई सूर्य के सहश दीप्तियाँ देह से सर्वतः स्पर्श करती हैं और इस प्रकार उसे मापती हुई विशेष आश्रय लेती हैं। ज्ञान, महानता से वश में किये हुये शरीर से जुड़े इन्द्रिय द्वार बुद्धियों, महानताओं से दीप्तिमान शरीर को धारण करते हैं। जैसे स्त्रियां पतियों के लिये सुन्दर बनती हैं, वैसे ही व्यापक होती हुई अन्तःदेह विशेष परिचर्या करती हैं। वह समस्त विस्तृत प्रदीप्त इन्द्रिय द्वारों को व्याप्त करके दीप्तियों के लिये सुगम मार्ग बनती हैं।

342. ऋग्वेद 10:70:4
343. ऋग्वेद 10:110:4
344 ऋग्वेद 10:70:5
345. ऋग्वेद 10:110:5

देवी दिवो दुहितरासुशिल्पे उषासानक्ता सदतां नि योनौ।
आ वां देवास उशती उशन्त उरोसीदन्तु सुभगे उपस्थे।।[346]

आ सुष्वयन्ती यजते उपाके उषासानक्ता सदतां नि योनौ।
दिव्ये योषणे बृहती सुरुक्में अधिश्रियं शुक्र पिशं दधाने।।[347]

आकश की कल्याणकर्म वाली पुत्रियाँ, दीतिओं की मातयें उषा और रात्रि (ऊर्जायें प्रकट और छिपी हुई) स्थित होंती हैं। देवगण दीप्तिमन्त प्रेमपूर्वक उनकी प्रकाशमान शुभ ऐश्वर्ययुक्त विस्तृत गोद में बैठते हैं। निर्माण प्रक्रिया के उपक्रम में विस्तृत और क्रियाशील होती हुई शुक्र निर्माण की परिचर्या धारण करने में ज्वलनशील तथा अप्रकट ऊजायें किंवा दीप्तिमती तथा सुधातु दो प्रकार की परिचारिकायें जुड़ी हुई और विस्तृत होती हुई स्थित होर्ती हैं।

ऊर्ध्वो ग्रावा वृहदग्निः समिद्धः प्रिया धामान्यदितेरुपस्थे।
पुरोहितावृत्विजा यज्ञ अस्मिन् विदुष्टरा द्रविणमा यजेथाम्।।[348]

दैव्या होतारा प्रथमा सुवाचा मिमाना यज्ञं मनुषो यजध्यै।
प्रचोदयन्ता विदथेषु कारू प्राचीनं ज्योतिः प्रदशिा दिशन्ता।।[349]

ऊर्ध्व के अग्रिम प्राप्त उत्पादों में समग्रऊर्जा के बीच सम्यक् प्रज्ज्वलित अग्नि ने ग्रसने वालों को फाड़ डाला। इस उत्पादन प्रक्रिया में प्रमुखतः दुस्तर उत्पाद निर्माणक पूर्व प्रेरित ऋतवान वाक् और प्राण प्रक्रिया को चलाते हैं। दीप्तियों को पुकारने वाले प्रथम निर्माता वाक् और प्राण मानुषी उत्पादन प्रक्रिया को चलाने के लिये संघर्ष में क्रियाशील प्रेरणा करते हैं तथा पहले की ज्योति को आगे की दिशा का निर्देश करते हैं।

आनो यज्ञं भारती तूयमेत्विष्ठा मनुष्वदिह चेतयन्ती।
तिस्रो देवी बर्हिरिदं स्योनं सरस्वती स्वपसः सदन्तु।।[350]

346. ऋग्वेद 10:70:6
347. ऋग्वेद 10:110:6
348. ऋग्वेद 10:70:7
349. ऋग्वेद 10:110:7
350. ऋग्वेद 10:110:8

प्राप्तियाँ

तिस्रो देवीबर्हिरिदं वरीय आ सीदत चकृमा वः स्योनम।
मनुवद्यज्ञं सुधिता हवींषीळा देवी घृतपदी जुषन्त।।[351]

तीन दीप्तियाँ इस सुखमय अन्तःशरीर में स्थित हैं। प्रकाशवती हमारी उत्पादन प्रक्रिया में शीघ्रता लाती है, वाक् मानुषी उत्पादवाली इस देह को सचेतन करती है, तथा उदकवती कल्याणकारी ओजस् को प्राप्त करती है। हमने जिनके लिये सुख बनाया है वे तीन दीप्तियाँ इस चुने हुये अन्तःशरीर में स्थित रहती है। मानुषी उत्पादन प्रक्रिया में भली प्रकार धारण किये गये बलिदानों को निर्माणपाद वाली दीप्तिमती वाक् सेवन करती हैं।

देव त्वष्ट यद्ध चारुत्वमानड् यदाङ्गिरसामभवः सचाभूः।
स देवानां पाथ उप प्र विद्वानुशन्यक्षि द्रविणोदः सुरत्नः।।[352]

य इमे द्यावापृथिवी जनित्री रूपैर पिंशद्भुवनानि विश्वा।
तमद्य होतरिषितो यजीयान्देव त्वष्टारमिहयक्षि विद्वान्।।[353]

निश्चित आठ रूपों वाला जो दीप्तिमान अङ्गो के रस ओजसों के साथ वर्तमान होता हुआ अनुकूलता प्राप्त करता है, वह उत्पादों को देने वाला जानकार पहले ही नियंत्रण करता हुआ देवयान में कल्याण उत्पाद को संचालित करता है। जो इस निर्माणशील अन्तःशरीर को और इन समस्त धातुस्थानों को रूपों से सजाता है, वह भेजा हुआ जानकार बलिदान करने वाला उत्पादक अब आठ निश्चित दीप्तियों को प्राप्त करता हुआ इस शरीर में सक्रिया करता है।

वनस्पते रशनया नियूया देवानां पाथ उप वक्षि विद्वान्।
स्वदाति देवः कृणवद्धवींष्यवतां द्यावापृथिवी हवं में।।[354]
उपाव सृज त्मन्या समञ्जन्देवानां पाथ ऋतुथा हवींषि।
वनस्पतिः शमिता देवो अग्निः स्वदन्तु हव्यं मधुना घृतेन।।[355]

---

351. ऋग्वेद 10:70:8
352. ऋग्वेद 10:70:10
353. ऋग्वेद 10:110:10
354. ऋग्वेद 10:110:11
355. ऋग्वेद 10:70:11

जानकार अग्नि आदित्य रश्मियों से पूर्णतः जुड़कर देवयान में अधिकार करते हैं, तथा वे दीप्तिमान अग्नि बलि उत्पादों को बनाते हुये स्वयं को विखण्डित करते हैं। अन्तः शरीर मनुष्य के बलि उत्पाद की रक्षा करता है। नियमानुसार देवयान सब ओर से स्वयं में बलि उत्पादों को सम्यक् सजाता हुआ शीघ्र ही उन्हें अलग निकालता है। दीप्तिमान अग्नि आदित्य को सक्रिय करते हुये आनन्दमय ओजस् के साथ बलि का स्वाद लेते हैं।

सद्यो जातो व्यमितीत यज्ञमग्निर्देवानामभवत्पुरोगाः।
अस्य होतुः प्रदिश्यृतस्य वाचि स्वाहाकृतं हविरदन्तु देवाः।।[356]

अग्ने वह वरुणमिष्टये न इन्द्रं दिवो मरुतो अन्तरिक्षात।
सीदन्तु बर्हिर्विश्व आ यजप्राः स्वाहा देवा अमृता मादयन्ताम्।।[357]

तुरन्त उत्पन्न हुये अग्नि ने उत्पादन प्रक्रिया को विशेष रूप से निर्मित किया और दीप्तिमानों में आगे जाने वाले हुये। इस प्रक्रिया के संचालक की विस्तृत ऊर्जा में अपने दृढ़ संकल्प से निर्मित बलि उत्पाद का भोग दीप्तियाँ करती हैं। मनुष्य की प्रवृत्ति के लिये आकलनकर्ता अग्नि मन सहित बात-पित्त-कफ को अन्तःशरीर से वहन करके उत्पादकों को समस्त वाह्य अवयवों पर स्थित करते हैं। दीप्तियाँ अपने दृढ़ संकल्प से ओजों का भोग करती है।

इस प्रकार सम्पूर्ण उत्पादप्रक्रिया को इस प्राप्ति के सूक्तों से समझा दिया गया है।

(12)उत्पाद :

प्राजियों के अलावा भी उत्पाद के सम्बन्ध में अनेक मन्त्र हैं। इस प्रयोजन की दृष्टि से निम्न मन्त्र सम्पूर्ण प्रक्रिया का ज्ञान कराने वाला है :

ऋतस्य हि वर्तनयः सुजातं दूष वाजाय प्रदिवः सचन्ते।
अधोवासं रोदसी वावसाने घृतैरन्नैर्वावृधाते मधूनाम्।।[358]

356. ऋग्वेद 10:110:11
357. ऋग्वेद 10:70:11
358. ऋग्वेद 10:5:4

अर्थात् वस्तुतः ऋत की स्थितियां (या व्यवहार) कल्याण उत्पत्ति वाले जलों के उत्पाद को शक्तिमान् अग्रिम दीप्तियों से युक्त करते हैं। आकाश और पृथिवी (अन्तरिक्ष) अधोवास करते हुये उदक को रसादिधातुओं और ओजस् से बढ़ाते हैं। और भी–

धृतवृताः क्षत्रिया यज्ञनिष्कृतो बृहद्दिवा अध्वराणामभिश्रियः।
अग्निहोतार ऋतसापो अद्रुहोऽपो असृजन्ननु वृत्रतूर्ये।।[359]

अर्थात् ऋत से युक्त, नियमों को धारण करने वाली उत्पाद की प्रक्रिया में निर्मित, अग्नि को क्रियाशील करने वाली, अन्तरिक्षों को सम्मुख पकाने वाली अवरोधरहित, महान् दीप्तियों ने वृत्र या घेरे का नाश करते हुये फिर जलों को निकाला।

द्यावापृथिवी जनयन्नभि व्रताप ओषधीर्वनिनानि यज्ञिया।
अन्तरिक्ष स्वरा पप्रुरूतये वंश देवासस्तन्वीनि मामृजुः।।[360]

अर्थात् नियमों से युक्त प्रक्रियावान् द्यावापृथिवी ने जलो, वनस्पतियों (नाड़ी जालो) और रश्मियों (ऊर्जा तरंगों) को उत्पन्न करके निर्माण पर अधिकार के लिये स्वर्ग सहित अन्तरिक्ष को भर दिया। हे दीप्तियों ! मुझको ऋजु या निर्मल प्राप्तियाँ बढ़ाइये।

अब पूरे एक सूक्त में उत्पाद के लिये देवताओं की प्रवृत्ति पर प्रकाश डाला गया है :–

हे शक्तिशाली इन्द्र ! आत्मा शरीर को स्थापना द्वारा उगलने के साथ हमारे लिये दवयान लाती हुयी आपके लिये गृह धारण करे; और सूर्य की महान् ज्योति भी उदक को धारण करने के लिये दीप्तियों की आकाश की भाँति सर्वतः माये।[359]

हे इन्द्र ! आपका यह एक (मन रूप अधिदेव पुरुष) है, आपका अन्य

---

359. ऋग्वेद 10:66:8
360. ऋग्वेद 10:66:9
359. तनूष्टे वाजिन्तन्वं नयन्ती वामसम्यम्यं (धातुस्थान) धातु शर्भ तुभ्यम्।
अह्नतो महो धरुणाय देवान्दिवीव ज्योतिः स्वामा मिमीयाः।।
ऋग्वेद 10:56:2

एक दूर सोम है, ''चन्द्रमा मनसो जातः'' ऋग्वेद 10:90:13 तीसरी ज्योति (अग्नि) के साथ स्थित होइये। परम् उत्पत्ति के लिये देवयान के सुन्दर शरीरों को गृह में वर्तमान कीजिये।[360]

पूर्व रजस् (संचालिका वृत्ति) ने शक्तियों के साथ न नापे हुये स्थानों को नापते हुये या न निर्मित हुये लोकों का निर्माण करते हुये अब विश्व की ओर डग भरा, समस्त भुवनों (अन्तरिक्षों, जलो) को शरीरों में विस्तृत किया, फिर पुरुष और प्रजा को फैलाया।[361]

उत्पन्न हुओं ने तीसरे अग्नि के कर्म द्वारा उदक या ऊर्ध्व को जानने वाले प्राण को दो प्रकार से लाकर स्थापित किया। विस्तारकों (पितरों) ने फैलाये हुये विस्तार के योग्य नाड़ी-जाल के साथ अपनी आगे की उत्पत्ति को आवरणों धातु स्थानों में धारण किया।[362]

पूर्वस्थित पृथिवी का जल या रजकरण अविनाशी ऊर्जा रश्मियों द्वारा नाव की भांति समस्त कठिन मार्गों या मजबूत गृहों को पार कर जाता है, वैसे ही अत्यधिक शक्तिसम्पन्न देव इन्द्र अपनी महिमा से अपनी प्रजाओं को परम् स्थानों में और अन्य छोटे स्थानों में पोषित करता है।[363]

हे इन्द्र ! आप ऊर्जावान् हैं। भली प्रकार बहने वालों को लेकर ऊर्जा के द्वारा रश्मि को भली प्रकार आच्छादित करता हुआ, आकाश को भली प्राकर व्याप्त करता हुआ जाया करता है। भली प्रकार व्याप्त करते हुये पहले धर्म को (धारण शक्ति को), फिर भली प्रकार व्याप्त करते हुये सत्ता के योग्य होकर, फिर भली प्रकार आच्छादित हुई दीप्तियों को हम प्राप्त करें।[364]

अब इष्टतम उत्पाद उद्क की प्रक्रिया बतलाते हैं-

जैसे स्वच्छ जलों को पहले मन से सर्वतः जुड़ना हुआ है, वैसे ही निर्माणकर्ता और व्याप्तकर्ता मित्रवरुण के भली प्रकार स्वच्छ पार्थिव अन्न

360. इद्र त एकं पर ऊ त एकं तृतीयेन ज्योतिषा सं विशस्व।
संवेशने तन्वश्चारुरेधि प्रयो देवानां पर में जतनित्रे।।
ऋग्वेद 10:56:1

361. सहोभिर्विश्वं परिचक्रमू रजः पूर्वा धामान्यमिता मिमनाः।
तनुषु विश्वा भुवना नि येमिरे प्रासारकन्त पुरुष प्रजा अनु।।
ऋग्वेद 10:56:5

362. द्विधा सूनवाऽसुरं स्वर्विदमास्थापयन्त तृतीयेन कर्मणा।
स्वां प्रजां पितरः पित्र्यं सह आवरेष्वदधुस्तन्तुमाततम्।।
ऋग्वेद 10:56:6

363. नावा न क्षोदः प्रदिशः पृथिव्याः स्वस्तिभिरति दुर्गाणि विश्वा।
स्वां प्रजां बृहदुक्थो महित्वावरेष्वदधादा परेषु।।
ऋग्वेद 10:56:7

364. वाज्यसि वाजिनेना सुवेनीः सुवितः स्तोमं सुवितो दिवं गाः।
सुवितो धर्म प्रथमानु सत्या सुवितो देवान्त्सुवितोऽनु पत्म।।
ऋग्वेद 10:56:3

(रसादिधातुओं) को तीव्र वेग वाले शासक इन्द्र (मन) हेतु अधीन किया जाता है। ऊर्जा दीप्ति द्वारा उत्पाद के लिये आगे जाये।[365]

हम पहले बता चुके हैं कि सृष्टि, गर्भ में जीव, तथा उत्पाद की प्रक्रियायें लगभग एक सी है। उपर्युक्त मन्त्र से इसी बात की पुष्टि होती है। मन्त्र के द्वितीय पद में नासदीय सूक्त ऋग्वेद 10:129:3 का सन्दर्भ दिया जा रहा है और उसी से रसादिधातु रूप उत्पाद प्रक्रिया की तुल्यता बताई जा रही है।

चमकते हुये अन्तरिक्ष के अन्न (रसादिधातुयें) हवियों से युक्त होकर वस्तुतः यहाँ प्रकाशयुक्त शुद्ध जल हुये। अरुणिम किरणों वाले सूर्य (ऊर्जा रश्मियों या जलों) को नीचे डालते हैं, उस लहर को आज कल्याणकारी हाथों वाले इन्द्र सम्पूर्णतः फेंकिये।[366]

(हे विश्वेदेव !) अन्तरिक्ष के अनों के जल की यहां समुद्रसहित जलों की सन्तान अग्नि को हवि के द्वारा आप लोग प्रक्रियाशील करें। वे अग्नि आप लोगों को आज भीली प्रकार पवित्र की हुई लहर को सर्वतः देते हैं, उनके लिये मधु से युक्त सोम (ओजस्) को आप लोग निचोड़ें।[367]

बिना ईंधन वाला जो जलों के भीतर चमकता है, विशेषरूप से आगे जाने वाले जिसको अन्तरिक्षों में प्रेरित करते हैं, वह जलों की सन्तान अग्नि मधु से युक्त जलों (ओजस्) को देते हैं जिनसे इन्द्र वीरता के लिये बढ़ते हैं।[368]

जिस प्रकार मर्द जवान स्त्रियों से प्रसन्न और उत्तेजित होता है, उसी प्रकार सोम (ओजस्) इन कल्याणकारी जलों से होते हैं जो अन्तरिक्ष में उन जलों को स्वच्छ रूप में लेते हैं ताकि ऊर्ध्व में निश्चित सींची हुई वनस्पतियों (नाड़ी जाल) द्वारा पवित्र करें।[369]

---

365. प्र देवत्रा ब्रह्मणे गुतुरेत्वषो अच्छा मनसो न प्रयुक्ति।
महीं मित्रस्य वरुणस्य धासिं पृथुज्रयसे रीरधा सुवृक्तिम्।।
ऋग्वेद 10:30:1

366. अध्वर्यवो हविष्मन्तो हि भूताच्छाप इतोश तीरुशन्तः।
अव याश्चष्टे अरुणः सुपर्णस्तमास्यध्वमूर्मिमद्या सुहस्ता।।
ऋग्वेद 10:30:2

367. अध्वर्यवोऽदूता समुद्रमपां नपातं हविषा यजध्वम्।
स वो ददूर्मिमद्या सुपूतं तस्मै सोमं मधुमन्तं सुनोत।।

368. यो अनिध्मो दीदयदप्स्वन्तर्यं विप्रास ईळते अध्वरेषु।
अपां नपान्मधुमतीरपो दो या भिरिन्द्रो वावृधे वीर्याय।।
ऋग्वेद 10:30:4

369. याभिः सोमो मोदते हर्षते च कल्याणीभिर्युवतिभिर्न मर्यः।
ता अध्वर्यो अयो अच्छा परेहि यदासिञ्चा ओषधीभिः पुनीतात्।।
ऋग्वेद 10:30:5

ये प्रकाशवती देवयान के जल मन के द्वारा अन्तरिक्ष के अन्न (रसादधातुओं) को दबाती हुई सम्यक् या साथ-साथ देखती और जानती हैं तथा चमकती हुई स्वच्छता को प्राप्त करती है, जेसे कि युवतियाँ भी जुड़ाव के लिये झुकती हैं।[370]

हे जलो ! उस इन्द्र (मन) के लिये देवयान वाले ओजस् युक्त लहर को पूर्व ही प्रेरित करें जिसने आपके व्यापकत्व से कृपा कर के लोक को बनाया, जिसने आपकी महती ऊर्जा को सम्मुख छोड़ा।[371]

हे उछलते हुये जलो ! जो आपकी सन्तोन, नदियों (नीडीन्स्रोतसों) के ओजों का स्रोत है, उस प्रेरणा के योग्य घृतपृष्ठ अग्नि को मेरे आह्वान या आहुति को अन्तरिक्षों में सर्वतः सुनिये, तथा इसके लिये ओजस् युक्त लहर को पूर्व ही प्रेरित करिये।[372]

हे नदियो (नाडियो) ! जो दोनों ओर (ऊपर और नीचे) जाता है उस इन्द्र द्वारा पान किये जाने वाले सोम की लहर को आगे बढ़ाइये। मद का नाश करने वाले, प्रकाशों से युक्त होने वाले, आकाश में उत्पन्न होने वाले, तीनों नाडियों (शीर्ष, कर्मवाही क्षर और ज्ञानवाही अक्षर) में विचरने वाले स्रोत को (आगे बढ़ाइये)।[373]

[हे विश्वेदेव !] आपके लिये सर्वथा नीचे मुड़ती हुईं, निश्चित दो धाराओं वालीं, ऊर्जाओं में संघर्ष न कराने वालीं, अन्न को नियमित उपचार करने वालीं, रश्मि की मातायें अन्तरिक्ष की पत्नियाँ, समान गर्भ से उत्पन्न तथा साथ-साथ बढ़ने वाली जलों को आप स्तुति करें या प्रेरित करें।[374]

[हे विश्वेदेव !] हमारी उत्पादन प्रक्रिया को देवयान के लिये सर्वथा प्रेरित करो, धनों (रसादि धातुओं) के प्राप्त करने के लिये अन्न को प्रेरित

---

370. एवेधूने युवतयो नमन्त यदीमुशन्नुशतीरेत्यच्छ।
सं जानते मनसा सञ्चिकित्रेऽध्वर्यवो धिषणापश्च देवीः।।
ऋग्वेद 10:30:6

371. यो वो वृताभ्यो अकृणोदु लोकं यो वो मह्याअभिशस्तेरमुञ्चत्
तस्मा इन्द्राय मधुमन्तमूर्मिं देवामादनं प्र हिणोतनाषः।।
ऋग्वेद 10:30:7

372. प्रास्मै हिनोत मधुमन्तमूर्मिं गर्भो यो वः सिन्धवो मध्व उत्सः।
घृतपृष्ठमीड्यमध्वरेष्वापो रेवतीः श्रृणुता हवं में।।
ऋग्वेद 10:30:8

373. तं सिन्धवो मत्सरमिन्द्रपानभूर्मिं प्र हेत य उभे इयति।
मदच्युतमौशानं नमोजां परि त्रितन्तुं विचरन्तमुत्सम्।
ऋग्वेद 10:30:9

374. आवर्वृततीरध नु द्विधारा गोषुयुधो न नियवं चरन्तीः।
ऋषे जनित्रीर्भुवनस्य पत्नीरपो वन्दस्व सवृधः सयोनीः।।
ऋग्वेद 10:30:10

करो, प्राकृतिक नियम के योग में रात्रि (प्रसुप्त ऊर्जा या कर्म) को सक्रिय करो, शीघ्रता में श्रेष्ठ जलों को हमारे लिये बनाओ।[375]

हे उछलती हुई चलने वाली जलो ! आप लोग सब ओर गिरती हो। हे वसुगण ! वस्तुतः कल्याणकारी प्रक्रिया को और अमृत को भी आप सर्वथा धारण करते हैं, और रसादि धातुओं को स्थिर करके सुलाते हैं। इस इन्द्र की पत्नी वाक् ज्ञान के लिये उसके पक्ष को धारण करती हैं।[376]

जब कर्म को धारण करने वालीं जलों ने घी, दूध, मधु की ओर देखा (रसादि धातुओं के लिये कर्म का निश्चय किया) तो अन्तरिक्ष से जुड़े हुये विश्वेदेवों द्वारा मन के साथ पारस्परिक सहमति से मुक्त हुई भले प्रकार निचोड़े गये सोम (ओजस्) को इन्द्र के लिये भर दिया।[377]

अन्तरिक्ष से जुड़े हुये समान परिवेश वाले विश्वेदेव जीवनीय धन (उत्पाद) प्रदान करने वालीं, उछलते हुये चलने वालीं को मार्ग पर जाते हुये सर्वथा स्वच्छ करें। जलों की सन्तान (मन या अग्नि) द्वारा पारस्परिक सहमति से युक्त ये सोम पीने के योग्य देवगण कुशाओं (वाह्य इन्द्रिय गोलार्कों) निश्चय बैठाये जायें।[378]

वक्र चलने वाले के समान ही देवयान पर जाती हुईं प्रकाशवती जलों को यज्ञा (उत्पाद प्रक्रिया) में निश्चय इन कुशाओं (वाह्य इन्द्रियों या अङ्गो) पर बैठाया जावे। हे अन्तरिक्ष से जुड़े विश्वेदेवो ! इन्द्र के लिये सोम को आप लोग निचोड़िये, अब आपकी देवयान सहज हुई।[379]

इस प्रकार उत्पाद के समबन्ध में यह स्थिति बनती है कि प्राकृतिक-प्रक्रिया के नियमों के अन्तर्गत अन्तरिक्ष में दीप्तियों के द्वारा रसादि-धातुओं, ओजस् रूप जलों, रश्मिरूप ऊर्जा तरंगो, और इनके संचालन के आधारभूत नाड्यादि

---

375. हिनोता नो अध्वरं देवयज्या हिनोत ब्रह्म सनये धनानाम्।
ऋतस्य योगे विष्यध्वमूधः श्रुष्टीवरीर्भुतनास्मभ्यमापः।।
ऋग्वेद 10:30:11

376. आपा खेतीः क्षयथा हि वस्वः क्रतुं च भ्रदं विभृयामृतं च।
रायश्च रथ स्वपत्यस्य पत्नीः सरस्वती तद्गृणते वयोधात्।।
ऋग्वेद 10:30:12

377. प्रति यदापो अदृश्रमायतीर्घृतं पयाँसि विभ्रतीर्मधूनि।
अध्यवर्युभिर्मनसा संविदाना इन्द्राय सोमं सुषुतं भरन्ती।।
ऋग्वेद 10:30:13

378. एमा अग्मत्रेवतीजीवधन्या अध्वर्यवः सादयता सखायः।
नि बर्हिषि धत्तन सोम्यासोऽयां नप्त्रा संविदानास एनाः।।
ऋग्वेद 10:30:14

379. अग्मिन्नांप उशतीर्बर्हिरेदं न्यध्वरे असदन्देवयन्ती।ः।
अध्यवर्यवः सुनुतेन्द्राय सोममभूदु वः सुशका देवयज्या।।
ऋग्वेद 10:30:15

संस्थानों को निर्मित और विकसित किया गया। संचालितका वृत्ति वाक् ने आदि जलों को शरीर रूप में फैलाया, और फिर पुरुष और प्रजा को विकसित किया। उत्पन्न हुओं ने अग्निकर्म द्वारा प्राण को द्विधा स्थापित किया और विस्तारकों ने नाड्यादि जालों के साथ आगे के उत्पादों को अवरणों में धारण किया। ऊजावान मन से गतिमानों (प्राणों) को लेकर ऊर्जा से रश्मि को आच्छादित करता है, फिर आकाश को व्याप्त करता है; इस प्रकार वह पहले धारण शक्ति को फिर सत्तात्मकता को, और फिर देवों (दीप्तियों) को प्राप्त करता है। अर्थात्, गतिशील प्राण उदकावास्थित ऊर्जा (वाक) को रश्मि में आच्छादित करके आकाश में व्याप्त कर देता है, तिरश्चीनो विततो रश्मि' किन्तु ऊर्जा को आधार चाहिये, इसलिये अतिशयता से केन्द्रीभूत होकर धारक शक्तियों (धर्म) को प्राप्त किया रेतोधा महिमान आसन जिससे ऊर्जा सत्तायुक्त बनी, और फिर दीप्ति (प्रकाश, रश्मि, शक्ति ओर ताप) से युक्त होकर देवरूप हुई; यह देवों की उत्पत्ति की प्रक्रिया है। देव शरीर में ऊर्जा पुञ्ज और ब्रह्मण्ड में ग्रह-नक्षत्रादि रूप हैं।

जैसे सूर्य की रश्मियाँ उदक को धारण करती हैं। और दीप्तियों को आकश में फैलाती हे, वैसे ही आत्मा शरीर को स्थापित करती हैं और देवयान द्वारा रसादि धातुक गृहों का निर्माण करती है। इसके लिये मन अग्नि से संयुक्त होकर पाकसंक्रिया करता है। पूर्वस्थित शरीर का जल अविनाशी ऊर्जा रश्मियों द्वारा नाव की भांति समस्त मजबूत गृहों को पार कर जाता है, वेसे ही मन अपनी ऊर्जा से प्रजाओं को परम स्थानों में तथा अन्य छोटे स्थानों में भी पोषित करता है। जेसे स्वच्छ जलों को पहले मन से सर्वतः जुड़ना होता है, वैसे ही निर्माणकर्ता और व्याप्तकर्ता मित्रावरुण के भली प्रकार स्वच्छ पार्थिव अन्न (रसादि धातुओं) को तीव्रवेग (प्राण) वाले शासक इन्द्र (मन) हेतु अधीन किया जाता है, तब ऊर्जा दीप्ति द्वारा अग्नि द्वारा) उत्पाद के लिये आगे जाती है।

ऋग्वेदीय सूक्त 10:30 का संक्षेप में आशय यह बनता है कि उदक प्रकाश (ऊर्जा) युक्त हैं, और वे जीवनीय तत्त्व रूप में बरस कर शरीर के अङ्गो और इन्द्रियों में स्थित ऊर्जा-पुञ्जों को पुष्ट करते हैं, ये पुनः देवयान की प्रक्रिया को सक्रिय करते हुये मन-प्राण से युक्त होकर जलीय-ऊर्जा को अग्नि को अर्पित करते हुये रसादि धातुओं को उत्पन्न करते हैं और साथ-साथ इनकी बलि (हवि) देते हुये शुद्धीकृत रूप में ओजस् को निचोड़ते हैं यह ओजस् ऊर्ध्व नाडियों में पुनः शुद्धीकृत होकर सोम का रूप बनता

करो, प्राकृतिक नियम के योग में रात्रि (प्रसुप्त ऊर्जा या कर्म) को सक्रिय करो, शीघ्रता में श्रेष्ठ जलों को हमारे लिये बनाओ।[375]

हे उछलती हुई चलने वाली जलो ! आप लोग सब ओर गिरती हो। हे वसुगण ! वस्तुतः कल्याणकारी प्रक्रिया को और अमृत को भी आप सर्वथा धारण करते हैं, और रसादि धातुओं को स्थिर करके सुलाते हैं। इस इन्द्र की पत्नी वाक् ज्ञान के लिये उसके पक्ष को धारण करती हैं।[376]

जब कर्म को धारण करने वालीं जलों ने घी, दूध, मधु की ओर देखा (रसादि धातुओं के लिये कर्म का निश्चय किया) तो अन्तरिक्ष से जुड़े हुये विश्वेदेवों द्वारा मन के साथ पारस्परिक सहमति से मुक्त हुई भले प्रकार निचोड़े गये सोम (ओजस्) को इन्द्र के लिये भर दिया।[377]

अन्तरिक्ष से जुड़े हुये समान परिवेश वाले विश्वेदेव जीवनीय धन (उत्पाद) प्रदान करने वालीं, उछलते हुये चलने वालीं को मार्ग पर जाते हुये सर्वथा स्वच्छ करें। जलों की सन्तान (मन या अग्नि) द्वारा पारस्परिक सहमति से युक्त ये सोम पीने के योग्य देवगण कुशाओं (वाह्य इन्द्रिय गोलाकों) निश्चय बैठाये जायें।[378]

वक्र चलने वाले के समान ही देवयान पर जाती हुईं प्रकाशवती जलों को यज्ञा (उत्पाद प्रक्रिया) में निश्चय इन कुशाओं (वाह्य इन्द्रियों या अङ्गो) पर बैठाया जावे। हे अन्तरिक्ष से जुड़े विश्वेदेवो ! इन्द्र के लिये सोम को आप लोग निचोड़िये, अब आपकी देवयान सहज हुई।[379]

इस प्रकार उत्पाद के समबन्ध में यह स्थिति बनती है कि प्राकृतिक-प्रक्रिया के नियमों के अन्तर्गत अन्तरिक्ष में दीप्तियों के द्वारा रसादि-धातुओं, ओजस् रूप जलों, रश्मिरूप ऊर्जा तरंगो, और इनके संचालन के आधारभूत नाड्यादि

---

375. हिनोता नो अध्वरं देवयज्या हिनोत ब्रह्म सनये धनानाम्।
ऋतस्य योगे विष्यध्वमूधः श्रुष्टीवरीर्भुतनास्मभ्यमापः।।
ऋग्वेद 10:30:11

376. आपा खेतीः क्षयथा हि वस्वः क्रतुं च भ्रदं विभृथामृतं च।
रायश्च रथ स्वपत्यस्य पत्नीः सरस्वती तद्गृणते वयोधात्।।
ऋग्वेद 10:30:12

377. प्रति यदापो अदृश्रमायतीर्घृतं पयाँसि विभ्रतीर्मधूनि।
अध्यवर्युभिर्मनसा संविदाना इन्द्राय सोमं सुषुतं भरन्ती।।
ऋग्वेद 10:30:13

378. एमा अग्मत्रेवतीजीवधन्या अध्वर्यवः सादयता सखायः।
नि बर्हिषि धत्तन सोम्यासोऽयां नप्त्रा संविदानास एनाः।।
ऋग्वेद 10:30:14

379. अग्मिन्नांप उशतीर्बहिरेदं न्यध्वरे असदन्देवयन्ती।ः।
अध्यवर्यवः सुनुतेन्द्राय सोममभूद्द वः सुशका देवयज्या।।
ऋग्वेद 10:30:15

संस्थानों को निर्मित और विकसित किया गया। संचालितका वृत्ति वाक् ने आदि जलों को शरीर रूप में फैलाया, और फिर पुरुष और प्रजा को विकसित किया। उत्पन्न हुओं ने अग्निकर्म द्वारा प्राण को द्विधा स्थापित किया और विस्तारकों ने नाड्यादि जालों के साथ आगे के उत्पादों को अवरणों में धारण किया। ऊजावान मन से गतिमानों (प्राणों) को लेकर ऊर्जा से रश्मि को आच्छादित करता है, फिर आकाश को व्याप्त करता है; इस प्रकार वह पहले धारण शक्ति को फिर सत्तात्मकता को, और फिर देवों (दीप्तियों) को प्राप्त करता है। अर्थात्, गतिशील प्राण उदकावास्थित ऊर्जा (वाक्) को रश्मि में आच्छादित करके आकाश में व्याप्त कर देता है, तिरश्चीनो विततो रश्मि' किन्तु ऊर्जा को आधार चाहिये, इसलिये अतिशयता से केन्द्रीभूत होकर धारक शक्तियों (धर्म) को प्राप्त किया रेतोधा महिमान आसन जिससे ऊर्जा सत्तायुक्त बनी, और फिर दीप्ति (प्रकाश, रश्मि, शक्ति ओर ताप) से युक्त होकर देवरूप हुई; यह देवों की उत्पत्ति की प्रक्रिया है। देव शरीर में ऊर्जा पुञ्ज और ब्रह्माण्ड में ग्रह-नक्षत्रादि रूप हैं।

जैसे सूर्य की रश्मियाँ उदक को धारण करती हैं। और दीप्तियों को आकश में फैलाती हे, वैसे ही आत्मा शरीर को स्थापित करती हैं और देवयान द्वारा रसादि धातुक गृहों का निर्माण करती है। इसके लिये मन अग्नि से संयुक्त होकर पाकसंक्रिया करता है। पूर्वस्थित शरीर का जल अविनाशी ऊर्जा रश्मियों द्वारा नाव की भांति समस्त मजबूत गृहों को पार कर जाता है, वेसे ही मन अपनी ऊर्जा से प्रजाओं को परम स्थानों में तथा अन्य छोटे स्थानों में भी पोषित करता है। जेसे स्वच्छ जलों को पहले मन से सर्वतः जुड़ना होता है, वैसे ही निर्माणकर्ता और व्याप्तकर्ता मित्रावरुण के भली प्रकार स्वच्छ पार्थिव अन्न (रसादि धातुओं) को तीव्रवेग (प्राण) वाले शासक इन्द्र (मन) हेतु अधीन किया जाता है, तब ऊर्जा दीप्ति द्वारा अग्नि द्वारा) उत्पाद के लिये आगे जाती है।

ऋग्वेदीय सूक्त 10:30 का संक्षेप में आशय यह बनता है कि उदक प्रकाश (ऊर्जा) युक्त हैं, और वे जीवनीय तत्त्व रूप में बरस कर शरीर के अङ्गो और इन्द्रियों में स्थित ऊर्जा-पुञ्जों को पुष्ट करते हैं, ये पुनः देवयान की प्रक्रिया को सक्रिय करते हुये मन-प्राण से युक्त होकर जलीय-ऊर्जा को अग्नि को अर्पित करते हुये रसादि धातुओं को उत्पन्न करते हैं और साथ-साथ इनकी बलि (हवि) देते हुये शुद्धीकृत रूप में ओजस् को निचोड़ते हैं यह ओजस् ऊर्ध्व नाडियों में पुनः शुद्धीकृत होकर सोम का रूप बनता

है, जो प्रारम्भिक उदक में ही परिवर्तित हो जाता है; यह पर-ओजस् के निर्माण की प्रक्रिया है।

(13) कर्म प्रक्रिया :

वेद में जिन प्रक्रियाओं का वैज्ञानिक विवरण दिया गया है, उनमें कर्मप्रक्रिया सर्वप्रथम संचालित हुई यह सृष्टिक्रम में बतलाया जा चुका है, सृष्टिक्रम में बतलाया जा चुका है, वहाँ कर्म रजस् रूप से चेष्टा, गति, तपस् का हेतु बना। इसी क्रम में-

इन्द्राय गिरो अनिशित सर्गा अपः प्रेरयं सगरस्य बुध्नात्।
यो अक्षेणेव चक्रिया शचीभिर्विष्वक्तस्तम्भ पृथिवीमुतद्याम्।।[380]

अर्थात् वाक् इन्द्र के लिये अन्तरिक्ष के मेघ से जलों में सतत कर्मों को प्रेरित करती है, जो इन्द्र धुरे से परिधि की भांति कर्मों से पृथिवी और आकाश को सब ओर से थामता है।

यदश्विना पृच्छमानावयातं त्रिचक्रेण वहतुं सूर्यायाः।
विश्वे देवा अनु तद्वामजानन्पुत्रः पितराववृणोत पूषा।[381]

अर्थात् जो अश्विनी कुमार (रश्मियाँ) तीन मार्गों से (अर्थात् कर्म-पाक-ज्ञान रूप तीन प्रक्रियाओं में) सूर्या (ऊर्जा) को ले जाने के लिये खोजते हुये जाते हैं, उसका अनुसरण करते हुये समस्त देवताओं (दीप्तियों) ने दोनों अश्विनीकुमारों (ऊर्ध्व-अधो गतियों में) को जान लिया है। पोषणकर्ता पुत्र (इन्द्र, मन) ने माता-पिता (द्यावा-पृथिवी) को आच्छादित कर लिया।

इस भूमिका के बाद अब हम एक पूरे सूक्त (8:135) की व्याख्या प्रस्तुत कर रहे हैं जिसमें कर्म-प्रक्रिया का समावेश है-

यस्मिन्वृक्षे सुपलाशे देवैः संपिवते यमः।
अत्रा नो विश्वपतिः पिता पुराणँ अनुवेनति।।[382]

---

380. ऋग्वेद 10:89:4
381. ऋग्वेद 10:85:14
382. ऋग्वेद 10:135:1

अर्थात् जिस भलीगति युक्त गोपनीय (वृक्ष) में निर्माणकर्त्ता या विस्तारकर्त्ता (यम) दीप्तियों के साथ संयुक्त होते हैं, वहाँ हमारा विस्तारकर्त्ता विश्वपाद का अधिपति पूर्वपूरुषों (अधिभूत, अधिदेव और अध्यात्म पुरुष) या पहले के कर्मों का अनुसरण करता है।

हम पहले पुरुष सूक्त के मन्त्रों की व्याख्या में बतला चुके हैं कि विश्वपाद बार-बार होने वाला पुरुष है, 'त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहा भवत पुनः' इति। इस प्रकार कर्म विश्वपाद का पुनः-पुनः हाने वाला कार्य है, किंवा मूल कर्म और उनसे सम्बन्धित पुरुषों का अनुसरण करने वाला है।

पुराणाँ अनुवेनन्तं चरन्तं पापयामुया।
असूयन्नभ्यचाकशं तस्मा अस्पृहयं पुनः।।[383]

अर्थात् पुराने त्रिपाद पुरुषों के अनुसरण के आचरण करने में उस रक्षा के नष्ट होने स (आमुया पापया) प्रत्यक्ष होवें तो उसका तिरस्कार करते हुये उसी कर्ममार्ग की इच्छा होती है।

यं कुमार नवं रथं अचक्रं मनसाकृणोः।
एकेषं विश्वतः प्राञ्चमपश्यन्नधि तिष्ठसि।।[384]

अर्थात् अश्वनीकुमार जो एक-इच्छा वाला, विश्व की ओर गति वाला, अपूर्णचक्रवाला (कर्म-मार्ग या दक्षिणायन विसर्ग मार्ग मात्रमें चलने वाला) यह नया रथ बनाते हैं, उसे निरीक्षण करते हुये प्रत्यक्ष नियुक्त रहते हैं।

यं कुमार प्रावर्तयो रथं विप्रेभ्यस्परि।
तं सामानु प्रावर्तत समितोनाव्याहितम्।।[385]

अर्थात् अश्विनी कुमार ने जिस आगे चलने वालों से घिरे रथ को चलाया उसको इधर हृदयरुपी नाव में समाहित अध्यात्म पुरुष ने पीछे या फिर चलाया।

383. ऋग्वेद 10:135:2
384. ऋग्वेद 10:135:3
385. ऋग्वेद 10:135:4

कः कुमारमजनयद् रथं को निरवर्तयत्।
कः स्वित्तदद्य नो ब्रूयादनुदेयी यथा भवत्।।
यथा भवदनुदेयी ततो अग्रमजायत।
पुरस्ताद् बुध्न अतात पश्चान्निरयणं कृतम्।।[386]

अर्थात् आज हमें बतायें कि अश्विनी कुमार को किसने उत्पन्न किया था? रथ को किसने बनाया था? वह कौन सम्भावित था जो ऐसे अनुदान या अनुसरणकरने वाला हुआ?

जैसे अनुदान करने वाला हुआ इस कारण पहले उत्पन्न हुआ था, आगे-आगे जानने वाला विस्तृत हुआ पीछे या बाद में नीचे जाने का मार्ग (कर्म मार्ग) बनाया गया या मार्ग समाप्त किया गया।

इदं यमस्यसादनं देवमानं यदुच्यते।
इयमस्य धम्यते नाकीरयं गीर्भिः परिष्कृतः।।[387]

अर्थात् यहजोयम (विस्तार या निर्माण करने वाले प्राण) को प्रसन्न करने वाला, देवता से युक्त या अध्यात्मपुरुष देव को मान प्रदान करने वाला या अनुदान का मापक या दीप्तियों वाला (देवयान मार्ग) कहा गया है, इसकी यह एक नाडी (मूर्धा को) ताप (दीप्तियों) द्वारा तेजी से जाती है। यह देवयान मार्ग रश्मियों द्वारा जाने वाली ऊर्जा द्वारा या ज्ञानदृष्टि द्वारा शुद्ध किया गया है।

इसी विषय को एक अन्य सूक्त में इस प्रकार बतलाया गया है:-

स तु वस्त्राण्यध पेशनानि वसानो अग्निर्नाभा पृथिव्याः।
अरुषो जातः पद इळायाः पुरोहितो राजन्यक्षीह देवान्।।[388]

अर्थात् और तब वह जरीदार तत्त्वों को पहने हुये अग्नि देव पृथिवी या शरीर की नाभि (केन्द्र) द्वारा कर्मवाही क्षर नाडी (इला) के स्थान या गति से बिना उग्रता उत्पन्न हुये प्रकाशित होते हुये आगे-आगे प्रेरित करता हुआ पृथिवी स्थानीय दीप्तियों को सक्रिय करता है।

386. ऋग्वेद 10:135:5-6
387. ऋग्वेद 10:135:7
388. ऋग्वेद 10:1:6

आ हि द्यावापृथिवी अग्ने उभे सदा पुत्रोः न मातरा ततन्थ।
प्र याह्यच्छोशतो यविष्ठाथा वह सहस्येह देवान्।।[389]

अर्थात् अग्नि दोनों पृथिवी और आकाश को माता द्वारा पुत्र की भांति हमेशा या सत्ता में (आसात्) निश्चयपूर्वक बढ़ाते हैं। अच्छी प्रकार दीप्ति होते हुये अग्नि देव आगे जाते हैं और पृथिवीस्थानीय देवताओं को शक्ति के साथ लेकर जाते हैं।

अब एक महत्वपूर्ण मन्त्र देखिये-

त्रिकद्रुकेभिः पतति षळुर्वीरेकमिद् बृहत्।
त्रिष्टुबायत्री छन्दांसि सर्वा ता यम आहिता।।[390]

सायण ने इस मन्त्र की इस प्रकार व्याख्या की है-

त्रिकद्रुकेभिः। द्वितीयार्थे तृतीयैषा। त्रिकद्रुकान। ज्योतिगौरायुरिति त्रयोयाग विशेषास्त्रिकद्रुकाउच्यन्ते। तान्प्रत्यङ्गभावाय संरक्षणार्थं च पतति। यमः तान् प्राप्नोति। षट् संख्यका ऊर्वी भूमिः कृताकृत प्रत्यवेक्षणाय प्राप्नोति। तश्चाव्यैः शाखान्तरमन्त्रे समाम्नाता :- षण्मोर्वीरहसस्पान्तु धोश्च पृथिवी चापश्चोषद्ययश्चोर्क्च सूनृता चेति। एकमित् एकमेव बृहत् महत् जगत् यमश्च प्रतिपालनीयः प्राप्नोति। किं च यानि त्रिष्टुब्गायत्र्यादीनि छन्दांसि सन्ति सर्वाणि तानि छन्दांसि यमे आहिता आहितानि ऋत्विग्भिः स्तुतित्वेनावस्थितानि।।[391]

अर्थात् वह यम तीन कद्रुकों अर्थात् ज्योति, आयु और गौ नामक तीन यज्ञ, विशेषों को प्राप्त करता है, अथवा रक्षा करता है। वह यम छः भूमियों द्यौः पृथिवी, आपः ओषधयः, ऋक् और सुनृता तथा एकमात्र इस विराट्

389. ऋग्वेद 10:1:7
390. ऋग्वेद 10:14:16
391. सायण भाष्य ऋग्वेद 10:14:16

संसार की भी रक्षा करता है। त्रिष्टुप्, गायत्री आदि सभी छन्द उस यज्ञ में निहित हैं अर्थात् यजमान और ऋत्विक इन छन्दों में यम की स्तुति करते हैं।

पूज्य पिताजी ने इस मन्त्र की व्याख्या निम्न प्रकार की है–

"स यमः विनियामको शासकश्च भूत्वा शरीरस्य त्रिकद्रुकेभिः त्रयश्कद्रुपुत्राणि नाड्यश्च कर्मवह ज्ञानवह साहचर्यनाम्ना क्षराक्षरपरेतीति ये तु सायणेन क्रमशः आयुर्गौं ज्योतिश्कथयन्ते तस्मादादानोत्तरायणो देवयानों ज्ञानमार्गः गोरूर्जायुक्तो विसर्गः दक्षिणायनो पितृयानो कर्ममार्गः आयुषश्निभरोभूतश्चामृतमाध्यात्मं परं ज्योतिर्मयमावस्थितं भवतीत्यैषः "प्रत्यङ्गभावाय" अर्थो प्रयोजनः तेभिः **पतति** संचालनाय च क्षरति चरति वा इत्यर्थः। **पळुर्वी** पृथिव्यः जलमग्निर्वायुश्चाधिभूतमधिदेवमध्यात्मञ्च यद्वा श्लेष्मं पित्तं वातञ्च सात्विकं राजसं तामसञ्च **एकमिद्बृहत्** विश्वापादो तानि सर्वाणि संचालयति यमः। उपस्थितानि त्रिष्टुपइति त्रिभागे शरीरस्य शिरश्कोष्ठो शाखाश्च तत्रैव स्थितानि कर्मेद्रियाणि छन्दांसि गास्थानानि ज्ञानेन्द्रियाणि गायत्रीति ता सर्वा यमे आहिता यमं विन्दन्ति यमेन हितञ्चेच्छन्ति,यमः तासां सर्वेषां नियामकः संचालकश्च भवति इत्यर्थः।।"[392]

अर्थात् वह यम शरीर का नियामक और शासक होकर तीनक द्रुपुत्रों अर्थात् ज्ञानवह, कर्मवह, साहचर्य नाडियों जो क्षर-अक्षर-परा हैं, जिन्हें सायण ने क्रमशः आयु गौ और जयोति कहा है, इस प्रकार आदान-उत्तरायण-देवयान-ज्ञान मार्ग गो ऊर्जा से युक्त है, विसर्ग-दक्षिणायन-पितृयान-कर्ममार्ग आयु पर निभ्रर है, और अमृत-अध्यात्म परं ज्योतिर्मय रुप में अवस्थित है, ऐसा इस "प्रत्यङ्गभावाय" का अर्थ और प्रयोजन है, उनके द्वारा गिरताहै, संचालन हेतु से क्षरित होता है अथवा बढ़ता है, यह अर्थ है। षळुर्वी अर्थात् छः पृथिवियां जल-अग्नि-वायु और अधिभूत-अधिदेव-अध्यात्म अथवा कफ-पित्त-बात और सात्विक-राजस-तामस आदि हैं, तथा यह एक बृहत् विश्वपाद है, उन सभी का संचालन करता है। शरीर के समीप में स्थित त्रिष्टुप आदि तीन भाग शिर, कोष्ठ और शाखायें और उन्हीं में स्थित कर्मेन्द्रियाँ छन्द हैं, गोस्थान ज्ञानेन्द्रियाँ गायत्री है, वे सभी यम को प्राप्त हैं, यम को पहुँचती हैं, यम से हित की इच्छा करती हैं, यम उन सभी के नियामक और संचालक हैं, यह अर्थ है। संक्षेप में

392. पं. श्याम सुन्दर मिश्र ऋग्वेद विज्ञान भाष्य (अप्रकाशित) में ऋग्वेद 10:14:16 की व्याख्या।

विस्तारक यम ज्ञानवह, कर्मवह और साहचर्य रूप क्षाराक्षर परा नाडियों से षडाङ्ग शरीर तथा मात्र एक विश्वपाद पुरुष पर नीचे गतिमान होता है, वह शिर, कोष्ठ और शाखाओं में स्थित कर्मेन्द्रियों को तथा ज्ञानेन्द्रियों को धारण करता है।

ऐसे यम की गति के बारे में निम्न मन्त्र हैं-

परेयिवांसं प्रवतो महीरनुं बहुभ्यः पन्थानमनुपस्पशानम्।
वैवस्वतं संगमनं जनानां यमं राजानं हविषा दुवस्य।।[393]

अर्थात् पूर्व वाले की तरह के पृथिवी (शरीर) स्थानों को फिर से ले जोने वाले, अनेक मार्गों को फिर से स्पर्श करने वाले, अपने जनों के साथ जाने वाले, प्रकाशित होने वाले (राजा), प्रेरित हुये (वैवस्वत) विस्तारक या निर्माणक (यम) को उदक से (हविषा) परिचर्या करते हैं।

यमो नो गातुं प्रथमा विवेद नैषा गव्यूतिरपभर्तवा उ।
यत्रा नः पूर्वे पितरः परेयुरैना जज्ञानाः पथ्या अनु स्वाः।।[394]

अर्थात् निर्माणकर्ता या विस्तारकर्ता (यम, प्राण) हमारे शरीराङ्ग को या मार्ग को पहले जान लेता है, इसकी जाने की पद्धति नीचे भरण करने वाले को ऊपर नहीं ले जाती। पहले समय में हमारे विस्तार करने वाले (पितरः) दूर तक जहाँ गये हैं, नहीं जाने हुये अपने मार्गों से फिर जाते हैं।

इसी भाव में और भी-

प्रेहि प्रेहि पथिभिः पूर्व्येभिर्यत्रा नः पूर्वेपितरः परेयुः।
उभा राजाना स्वंध्या मदन्ता यमं पश्यासि वरुणं चदेवम्।[395]

अर्थात् पूर्वकाल में जहाँ हमारे विस्तार करने वाले दूर गये हैं, उन्हीं पहले वाले मार्गों से आगे बढ़ो, आगे जाओ। उदक से प्रसन्न हुये दोनों राजा, निर्माणकर्त्ता यम और व्याप्तकर्ता दीप्तिमान् वरुण को देखो या जानो। यहाँ

393. ऋग्वेद 10:14:1
394. ऋग्वेद 10:14:2
395. ऋग्वेद 10:14:7

यह विचारणीय है कि प्रायः वरुण की स्तुति मित्र के साथ है किन्तु यहाँ यह यम के साथ है। वस्तुतः मित्र के अर्थ भी निर्माण कर्त्ता हैं, तब यह यम का पर्याय ही है।

अब विस्तार करने वाले पितर कौन हैं, यह बतलाते हैं–

मालती कव्यैर्यमो अङ्गिरोभिर्बृस्पति ऋक्वभिर्वावृधानः।
यांश्च देवा वावृधुर्ये च देवान्त्स्वाहान्ये स्वधयान्ये भदन्ति।।[396]

अर्थात् सर्वोत्कृष्ट (इन्द्र) धातुओं के अंश (कव्य), से, यम अंङ्गों में रहने वाले रस से, तथा बृहस्पति ऊर्जा रश्मियों से बढ़ते हैं। और जिनको दीप्तियाँ बढ़ाती हैं, वे अन्य फिर दीप्तियों को उदक की ऊर्जा रश्मियों (वाक) द्वारा आनन्द देते हैं। यम अर्थात् निर्माण या विस्तार करने वाला, बृहस्पति अर्थात् प्रयत्नों के स्वामी तथा इन्द्र ऐश्वर्यवान् मन हैं।

अङ्गिरसो नः पितरो नवग्वा अथर्वाणो भृगवः सोम्यास।
तेषां वयं सुमतौ यज्ञियानामपि भद्रे सौमनसे स्याम।।[397]

अर्थात् हमारे विस्तारकर्त्ता अङ्गों के रस, नये जाने वाले जो बिना गति के हैं, तथा सोम की इच्छा वाले दीप्तिवान् हैं। हम उन प्रक्रिया करने वालों की सुमति (कर्म) में, कल्याण उत्पाद (पाक) में तथा शुभ मन में स्थित हों।

सं गच्छस्व पितृभिः सं यमेनेष्टापूर्तेन परमे व्योमन्।
हित्वायावद्यं पुनरस्तमेहि सं गच्छस्व तन्वा सुवर्चा।।[398]

अर्थात् विस्तारकर्त्ता पितरों से संयुक्त होकर, इष्टपूर्ति करने वाले निर्माणकर्त्ता यम से संयुक्त होकर उदक को प्राप्त करो। मना किये हुये मार्ग को छोड़कर पुनः अस्ताचल की ओर आओ। शुभ प्रकाश युक्त शरीर से संयुक्त होकर जाओ।

कर्मप्रधान मृत्युलोक का निर्माणकैसे हुआ :–

---

396. ऋग्वेद 10:14:3
397. ऋग्वेद 10:14:6
398. ऋग्वेद 10:14:8

अपेत वीत वि च सर्पतातोऽस्मा एतं पितरो लोकमक्रन्।
अहाभिरद्भिरक्तुभिर्व्यक्तं यमो ददात्यवसानमस्मै।।[399]

अर्थात् विस्तारकर्त्ता पितरों ने इस कर्म के लिये नीचे गया हुआ, बीता हुआ और सरकता हुआ यह मृत्युलोक बनाया। निर्माणकर्त्ता यम ने इसके लिये जलों की सुप्त ऊर्जा तथा ऊर्जा रश्मियों द्वारा व्यक्त होने वाला नीचे के कर्म वाले लोक को दिया।

अब मार्गों का निरूपण करते हैं-

अतिद्रव सारमेयौ श्वनौ चतुरक्षौ शबलौ साधुना पथा।
अथा पितॄन्त्सुविदत्राँ उपेहि यमेन ये सधमादं मदन्ति।।[400]

अर्थात् उत्तम मार्ग द्वारा अविनाशी चार प्राणों वाले, चेतनाभूत कृष्ण-शुक्ल पक्षों से युक्त दो अश्विनी कुमारों को पार करो। तब कल्याण ज्ञान युक्त विस्तार करने वाले पितरों के पास जाओ जो निर्माकर्त्ता यम के साथ आनन्द को प्राप्त करते हैं।

यौ ते श्वानौ यम रक्षितारौ चतुरक्षौ पथिरक्षी नृचक्षसौ।
ताभ्यामेनं परिदेहि राजन्त्स्वस्तिचास्मै अनमीवं च धेहि।।[401]

अर्थात् हे यम ! आपके जो दो चार प्राणों द्वारा परिवेक्षित, स्नायु पथ या उत्तरायण-दक्षिणायन की रक्षा करने वाले, मनुष्यों या पृथिवी पर निगाह रखने वाले, रख वाले चौकीदार अश्विनी कुमार हैं, हे राजन् ! उन दोनों के द्वारा इस कर्मशील मनुष्य को सब ओर से सुरक्षित करो और इसके लिये शुभ तथा निरोगता प्रदान करो।

उरुणसावुसुतृपा उदुम्बलौ यमस्य दूतौ चरतो जनाँ अनु।
तावस्मभ्यं दृशये सूर्याय पुनर्दातामसुमद्येह भद्रम्।।[402]

---

399. ऋग्वेद 10:14:9
400. ऋग्वेद 10:14:10
401. ऋग्वेद 10:14:11
402. ऋग्वेद 10:14:12

अर्थात् अधिक जोड़ने वाले (नासत्य), प्राणों का संचार करने वाले, महान् बल शाली वे दोनों यम के दूत (अश्विनी कुमार), उत्पन्न होने वालों के पीछे चलते हुये सूर्य को देखने के लिये आज इस लोक में हमारे लिये फिर कल्याण प्राणों को प्रदान करें।

अब कुछ महत्वपूर्ण मन्त्र और देखें-

आच्या जानु दक्षिण तो निषद्येमं यज्ञमभि गृणीत विश्वे।
मा हिंसिष्ठ पितरःकेन चिन्नो यद्व आगः पुरुषता कराम।।[403]

अर्थात् पितरगण (विस्तारकर्त्तागण) दक्षिणायन कर्म मार्ग में पैर बढ़ाकर, विश्व पुरुष में वर्तमान रहकर इस प्रक्रिया (यज्ञ) की प्रत्यक्ष गणना करें अर्थात् सफल बनायें। यदि पुरुष के लिये किसी रूप से हम अपराध करें तो हमें आप दण्ड न दें।

ये चेह पितरोयेच नेह याँश्च विद्म याँ उ च न प्रविद्म।
त्वं वेत्थ यति ते जातवेदः स्वधाभि यज्ञं सकृतं जुषस्व।।[404]

अर्थात् और जो विस्तारकर्त्ता पितर इस लोक (शरीर) में हैं, और जो इस लोक में नहीं हैं, और जिनको हम जानते हैं, और ऊर्ध्वलोक वाले जिनको हम पहले से नहीं जानते हैं। उत्पन्न को जानने वाले अग्नि जो इहलोक वाले हैं उनको जानते हैं। भली प्रकार बनाई हुई प्रक्रिया या कल्याण निर्माण प्रक्रिया को उदकों से सेवित कीजिये।

ये अग्निदग्धा ये अनग्निदग्धा मध्ये दिवः स्वधया मादयन्ते।
तेभिः स्वराळ सुनीतिमेतां यथावंश तन्वं कल्पयस्व।[405]

अर्थात् जो अग्नि से दहनीय अर्थात् ऊर्जा से चलने वाले हैं और जो अग्नि से दहनीय नहीं हैं, ऐसे विस्तारकर्त्तागण दीप्तियों या द्युलोक के बीच उदक से आनन्द प्राप्त करते हैं। उनके द्वारा प्राणों को ले जाने वाले इस

403. ऋग्वेद 10:15:6
404. ऋग्वेद 10:15:13
405. ऋग्वेद 10:15:14

शरीर को स्वयं दैदीप्यमान अग्नि यथाशक्ति पहले जैसा बनायें।

अब कुछ कर्म प्रक्रिया पर प्रकाश डालने वाले मन्त्र हैं, इनको हम अर्थसहित यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं-

सा ते जीवातुरुत तस्य विद्धि मा स्मैतादृगप गूहः समर्ये।
आविः स्वः कृणुते गूहते बुसं स पादुरस्य निर्णिजो न मुच्यते।।[406]

अर्थात् वह आत्मा या सूर्य तुम्हारी जीवनीय शक्ति या आयु है, और वह मनुष्य में भीतर छिपा हैं पूर्वकाल में उसका इस प्रकार का प्रकटीकरण पूर्णतः मत जानो। वह आत्मा द्युलोक को बनाता है, ओजस् या उदक को अपने में छिपा लेता है। इसका शुद्ध पाद नहीं छूटता है।

कृतं न श्वघ्नी वि चिनोति देवने संवर्गं यत्मघवा सूर्य जयेत्।
न तत्ते अन्यो अमुवीर्यं शकन्न पुराणो मघवन्नोत नूतनः।।[407]

अर्थात् आदित्य कर्म को ऊर्जा में विशेषतः चुनता है, वैसे ही जब इन्द्र ने समानधर्मी समूह में आत्मसात् करने हेतु सूर्य को जीता तो उससे अन्य दूसरा, न पुराना न नया, पीछे पराक्रम करने में समर्थ नहीं था।

पत्तो जगार प्रत्यञ्चमति शीर्ष्णा शिरः प्रति दधौ वरूथम्।
आसीन ऊर्ध्वामुपसि क्षिणाति न्यङ्उत्तानामन्वेति भूमिम्।।[408]

अर्थात् उड़ने वाला पक्षी प्रत्येक विपरीत वायु को निगल लेता है, शीर्ष स्थित ऊर्जा को खाता है, शिर में शिरस्त्राण (शिर में लिपटी नाडियों) को धारण करता है, ऊर्ध्व की गोद में बैठा हुआ ऊर्ध्व में फैले हुये जाने वाले मार्गों को नष्ट करता है, फिर भूमि (शरीर) को जाता है।

आपान्तमन्युस्तृपलप्रभर्मा धुनिः शिमीवाञ्छरुमाँ ऋजीषी।
सोमो विश्वान्यतसा वनानि नार्वागिन्द्रं प्रतिमानानि देभुः।।[409]

---

406. ऋग्वेद 10:27:24
407. ऋग्वेद 10:43:5
408. ऋग्वेद 10:27:13
409. ऋग्वेद 10:89:5

अर्थात् सब ओर से कर्म की रक्षा करने वाले, प्रसन्नता लाने वाली ऊर्जा से युक्त, उदक से पूर्ण, कर्म कराने वाले, (उत्पादन सम्बन्धी) कामना से युक्त, सीधे चलने वाले सोम ने समस्त जल के रूपों को ऊर्ध्व से नीचे की ओर इन्द्र की भांति गिराया।

कदा वसो स्तोत्रं हर्यत आव श्मशा रुधद्वाः।
दीर्घं सुतं वाताप्याय।।[410]

अर्थात् वायु से भरे हुये होने के कारण सम्पूर्ण धमनीशिराओं में रुके हुये व्याप्त होने वाले निचोड़े हुये जलों को, वसुओं की ऊर्जा को इन्द्र कब नीचे चला देगें।

अब कर्मप्रक्रिया का सिद्धान्त सम्यक् रूप से इस प्रकार स्पष्ट है कि प्रथम जैविक उदक रजस् द्वारा क्षुभित होकर प्राण से गतिमान हुआ और सत्तात्मक मन से ऊर्जापुञ्ज रूप आत्मा (सूर्य) बना। वह आत्मा मनुष्य की जीवनीय शक्ति है और मनुष्य के भीतर छिपी हुई हैं। वह आत्मा दीप्तियों के लोक का कर्ता तथा उदक और उसकी ऊर्जा को अपने भीतर छिपा लेने वाला है, और इसका यह शुद्ध सात्विक पाद कभी नहीं छूटता।

पुमाँ एनं तनुत उत्कृणत्ति पुमान्वि तत्ने अधिनाके अस्मिन्।
इमे मयूखा उप सेदुरू सदः सामानि चक्रुस्तसराण्योतवे।।[411]

पुरुष इस ऊर्जापुञ्ज को फैलाते हुये ऊर्ध्व में लपेटता है, पुरुष ने इसे जल के वाहक आकाश के ऊपर विशेषतः फैलाया। ये रश्मियाँ समीप में स्थित हुई हैं। उन्हें बुनने के लिये अर्थात् शक्तिरूप में विस्तृत करने के लिये सोम ने अध्यात्म स्थित ढरकियों को बनाया।

यो यज्ञों विश्वतस्तन्तुभिस्तत एकशतं देवकर्मेभिरायतः।
इमे वयन्ति पितरो य आययुः प्रवयापवयेत्यासते तते।।[412]

जो यज्ञ विश्व की ओर एक सौ एक नाड़ियों द्वारा फैलाया हुआ है

410. ऋग्वेद 10:105:1
411. ऋग्वेद 10:130:2
412. ऋग्वेद 10:130:1

वह दीप्तियों के कर्मों द्वारा सर्वतः विस्तृत हुआ है। ये विस्तार करने वाले बुनते हैं। जो आगे जाने वाले पक्षी और नीचे जाने वाले पक्षी (उत्तरायण–दक्षिणायन) आये हैं वे फैलाई हुई जाने की प्रक्रिया में स्थित होते हैं।

फैले हुये निचोड़े धमनी–शिराओं में आकर वायु के भरने से रुके हुये, वसुओं की ऊर्जा वाले जलों (ओजस्) को इन्द्र (मन) नीचे की ओर गतिमान करता है। उड़ने वाला पक्षी विपरीत वायु को (प्राण को) निगल लेता है। (अर्थात पञ्च प्राणों में उपयोगी अपान या उदान को छोड़कर आवश्यकता नुसार अन्य चार प्राणों को आत्मसात कर लेता है जो परिवेक्षक रुप में कार्य करते हैं), शीर्ष स्थित ऊर्जा को खाता है (अर्थात् शिरा आत्मा की ऊर्जा उसमें समाविष्ट हो जाती है) शिर में शिर स्त्राण की भांति नाड़ियों को लपेटता है, ऊर्ध्व में फैला हुआ ऊर्ध्व में फैले जाने वाले मार्गों को नष्ट करता है, फिर भूमि अर्थात् नीचे शरीर में जाता है। उदक से पूर्ण कर्म कराने वाला, कर्म की रक्षा करने वाला, उत्पादन की कामना से युक्त, प्रसन्नता लाने वाली ऊर्जा से युक्त, सीधे चलने वाले सोम ने समस्त जल के रुपों को ऊर्ध्व से नीचे की ओर इन्द्र की भांति गिराया।

अंश (कव्य) से इन्द्र (मन) वृद्धि को (निर्माण को) प्राप्त होता है, अङ्गों में रहने वाले रस (आजस्) से निर्माणकर्ता (यम) वृद्धि को प्राप्त होता है, तथा ऊर्जा रश्मियों से प्रयत्नों का स्वामी (बृहस्पति) वृद्धि को प्राप्त होता है। और जिनको दीप्तियाँ बढ़ाती हैं, वे अन्य फिर दीप्तियों को उदक की ऊर्जा रश्मियों (वाक्) द्वारा आनन्द देते हैं। ऐसे विस्तारकर्त्ता अङ्गों के रस वाले, गतिहीन नये जाने वाले, तथा दीप्तियों से युक्त जो सोम की इच्छा वाले हैं, वे सब कर्म प्रक्रिया में कल्याण उत्पाद में तथा शुभ मन में स्थित होते हैं। इन विस्तारकों ने कर्म के लिये नीचे गया हुआ, बीता हुआ और सरकता हुआ यह (मृत्यु) लोक बनाया। निर्माणकर्ता (यम) ने इसके लिये जलों की सुप्त ऊर्जा तथा रश्मियों द्वारा व्यक्त होने वाला नीचे के कर्म वाले लोक को दिया। वाक् इन्द्र के लिये, जो धुरे से परिधि की भांति कर्मों से पृथिवी और आकाश को सब ओर से थमता है, अन्तरिक्ष के मेघ से जलों में सतत कर्मों को प्रेरित करती है। रश्मियाँ (अश्विनी कुमार) कर्म की इच्छा वाला, कर्ममार्ग में चलने वाला, विश्व की ओर गतिवाला जो नया रथ बनाती है, उसके निरीक्षण के लिये भी प्रत्यक्ष नियुक्त रहती हैं।

निर्माणकर्त्ता या विस्तारकर्त्ता (यम, प्राण) हमारे शरीराङ्गों या मार्गों को पहले जान लेता है, इसकी जाने की पद्धति नीचे भरण करने वाले को ऊपर

नहीं ले जाती। विस्तार करने वाले पहले जहाँ तक गये हैं, इन्हीं जाने हुये अपने मार्गों से फिर जाते हैं। पूर्व वालों की तरह केशरीरस्थानों को फिर से ले जाने वाले, अनेक मार्गों को फिर से स्पर्श करने वाले, प्रकाशित होने वाले विस्तारक उदक की शक्ति से प्रेरित होते हैं। रश्मियाँ (अश्विनी कुमार) कर्म-पाक-ज्ञान के तीन मार्गों से ऊर्जा को ले जाने के लिये खोजते हुये जाती हैं, समस्त दीप्तियाँ उनका अनुसरण करती हैं और ऊर्ध्व अधो गतियों में रश्मियों का अभिज्ञान करती हैं। रश्मियाँ जब आगे जाने वालों से घिरे रथ को चलाती हैं, तो पीछे से हृदय रुपी नाव में समाहित अध्यात्म पुरुष (ज्ञान द्वारा) उसे पुनः चलाता है। आगे-आगे जानने वाला विस्तृत होता है, पीछे नीचे जाने का मार्ग बनता है, ज्ञान का अनुदान करने के कारण प्रथम उत्पन्न माना जाता है। विस्तारकर्ता ज्ञानवह-अक्षर, कर्मवह-क्षर और साहचर्य-परा नाडियों से षड़ाङ्ग शरीर और पुरुष के मात्र एक विश्वपाद को संचालित करता है, वह शिर, कोष्ठ और शाखा में स्थित कर्मेन्द्रियों को तथा ज्ञानेन्द्रियों को धारण करता है। विस्तार कर्त्ता भलीगतियुक्त गोपनीय अश्वत्थ वृक्ष अर्थात् नाड़ी-संजाल में दीप्तियों के साथ संयुक्त होता है, वहाँ वह विश्वपाद का अधिपति अधिदेव, अधिभूत और अध्यात्म पुरुषों या पहले के कर्मों का अनुसरण करता है, अन्यथा कर्मों का तिरस्कार करता है और उसी पूर्ववत् कर्ममार्ग की इच्छा करता है। इस प्रकार कर्म विश्वपाद का संसार में पुनः-पुनः होने का कार्य है।

विस्तारकर्त्ता की प्रसन्नता का यह जो अध्यात्म पुरुष को मान प्रदान करने वाला मार्ग कहा गया है, इसकी यह एक नाडी मूर्धा को ताप द्वारा तेजी से ले जायी जाती है, जो रश्मियों द्वारा जाने वाली ऊर्जा या ज्ञान दृष्टि द्वारा परिष्कृत किया गया है। तब जरीदार वस्त्र धारि अग्निदेव शरीर के केन्द्र से बिना उग्रता कर्मवाही क्षर नाडी की गति से प्रकाशित होते हुये पहले ही धारण करता हुआ दीप्तियों को सक्रिय करता है। अच्छी प्रकार प्रदीप्त होते हुये अग्नि देव आगे जाते हैं और पृथिवीस्थानीय दीप्तियों को शक्ति के साथ लेकर जाते हैं। जो विस्तारकर्त्ता इस शरीर में है और जो इस लोक में नहीं हैं, जिनको हम जानते हैं और ऊर्ध्व लोक वाले जिनको हम पहले से नहीं जानते, इहलोक वाले अग्नि उन सब को जानते हैं। जो अग्नि दग्ध अर्थात् ऊर्जा से चलने वाले हैं और जो ऊर्जा से नहीं चलने वाले हैं, वे विस्तारकर्त्ता दीप्तियों के बीच उदक से आनन्द को प्राप्त करते हैं। इति।।

(14) पाक प्रक्रिया :

पाक प्रक्रिया से शरीरान्तरगत चलने वाली उस प्रक्रिया का आशय है जो अन्न का पाचन करती हुई उससे रस, रक्त, मांस, मेद, अस्ति, मज्जा, शुक्र और ओजस् का निर्माण करती है। पुनः ओजस् संकलित और परिष्कृत होकर ऊर्ध्व में संरक्षित होता है और अध्यात्म पुरुष रुप आत्मा में एकरुप हो जाता है–

यह सब जो अन्न से अतिरोहण करता (ऊर्ध्वतम जाने वाला) है, जो हुआ है और जो होने वाला है, पुरुष ही है। ऊर्ध्व में तो इसका स्वामी अमृत (अध्यात्म) है।[413]

जहाँ रश्मियों बिना एक दूसरे से स्पर्धा वाले अमृत (ओजस्) के भाग का ज्ञान करने के साथ समूह में प्रकट परिष्कार करती हैं, वहाँ वह बुद्धिमान् तथा शक्तिशाली सम्पूर्ण उदक का छिपाने वाला आत्मा मेरी पाचन प्रणाली में आकर घुसता है।[414]

यह जो विस्तार या निर्माण करने वाले यम को प्रसन्न करने वाला, दीप्तियों से युक्त (मार्ग) कहा जाता है, इसकी यह एक रश्मियों द्वारा परिष्कृत नाड़ी (मूर्धा को) प्रदीप्त होकर भागती है।[415]

ऊर्ध्व का पाक–प्रक्रिया में जो योगदान है, उस भूमिका के साथ प्रक्रिया के वर्णन में निम्न मन्त्रों का समीक्षात्मक अध्ययन समीचीन है :–

अग्रे बृहन्नुषसामूर्ध्वो अस्थान्निर्जन्वान्तमसो ज्योतिषागात्।
अग्निर्भानुना रुशता स्वङ्ग आ जातो विश्वा सद्मान्यप्राः।[416]

अर्थात् महान् उषाओं के पहले ऊर्ध्व में स्थित हुये गति न करने वाले तमस् (नियामिका वृत्ति) से प्रकाश प्राप्त हुआ। अग्नि ने रोशयुक्त रश्मि से शुभ शरीर को या गति को प्राप्त होकर समस्त लोकों को भर दिया।

413. ऋग्वेद 10:90:2
414. यात्रा सुपर्णा अमृतस्य भागमनिमेणं विदथाभिस्वरन्ति।
इनो विश्वस्य भुवनस्य गोपाः समा धीरः पाकमत्रा विवेश।।
ऋग्वेद 10:164:21
415. ऋग्वेद 10:135:7, कृपया मन्त्र पीछे टिप्पणी 378 में देखें
416. ऋग्वेद 10:1:1

स जातो गर्भो असि रोदस्योरग्ने चारुर्विभृत ओषधीषु।
चित्रः शिशुः परि तमांस्यक्तून्प्र मातृभ्योऽधि कनिक्रदद्गाः।[417]

अर्थात् अग्नि द्यावापृथिवी का गर्भ है जो ओषधियों (धातुओं) में अनुकूलता से विशेषतः भरा हुआ है। वह उत्पन्न हुआ रंगबिरंगा या विचित्र बालक माता-पिता से पूर्व चारों ओर फैले हुये निष्क्रिय ऊर्जाओं के तमस् को अधिक ललकारता हुआ गतिमान होता है।

विष्णुरित्था परममस्य विद्वाञ्जातो बृहन्नभि पाति तृतीयम्।
आसा यदस्य पयो अकृत स्वं सचेतसो अभ्यर्चन्त्यत्र।।[418]

अर्थात् इस प्रकार जानने वाले और वर्षा करने वाले (विष्णु) ने इसके महान् जन्म होने को बढ़ाते हुये तीसरे (घृतपृष्ठ अग्नि) की प्रयत्क्ष रक्षा की। इसके मुख से जो उदक बनाये गये वे चेतना से युक्त होकर यहाँ ऊर्ध्व में उत्कृष्ट रूप से चमकते हैं।

अत उ त्वा पितुभृतो जनित्रीरन्नावृधं प्रति चरन्त्यन्नैः।
ता ईं प्रत्येषि पुनरन्यरूपा असि त्वं विक्षु मानुषीषु होता।।[419]

अर्थात् अब आगे विकास को धारण करने वाले, अन्न (रसादिधातुओं) को बढ़ाने वाले अग्नि के पास उत्पन्न करने वाली (मातायें) अन्न के द्वारा लौटती हैं, उन इनको फिर दूसरे रूपों में अग्नि लौटाता है। अग्नि मानवीय रसादि धातुओं में होम करने वाले होते हैं।

ऋतस्य हि वर्तनयः सुजातं इषः वाजाय प्रदिवः सचन्ते।
अधोवासं रोदसी वावसाने घृतैरन्नैर्वावृधाते मधूनाम्।।[420]

अर्थात् वस्तुतः ऋत (गतिमानता या प्राकृत नियम) के व्यवहार कल्याण उत्पत्ति वाले जलों के उत्पाद को शक्तिमान् अग्रिम दीप्तियों से युक्त

---

417. ऋग्वेद 10:1:2
418. ऋग्वेद 10:1:3
419. ऋग्वेद 10:1:4
420. ऋग्वेद 10:5:4

करते हैं। आकश और पृथिवी अधोवास करते हुये उदक को रसादि धातुओं और ओजस् से बढ़ाते हैं।

**अहं पितृन्सुविदत्राँ अवित्सि नपातंच विक्रमण च विष्णोः।
बर्हिषदा ये स्वधया सुतस्य भजन्त पित्वस्त इहागमिष्ठाः।।**[421]

अर्थात् मैने भली प्रकार जानने वाले, विस्तार करने वाले, और वर्षा करने वाले के न गिरने को तथा जाने की विशिष्ट क्रिया को सब ओर से जान लिया है। जो अन्तरिक्ष में बैठने वाले विस्तारकर्त्ता है वे इस लोक में जलों के द्वारा उपस्थित होकर निचोड़े हुये सोम के भागों को या निचोड़े हुये यज्ञ के अन्नों (रसादि धातुओं) को विभाजित करते हैं।

**तद् श्रेष्ठं सवनं सुनोतनात्यों न हस्तयतो अद्रिःसोतरि।
विदद्ध्यर्यो अभिभूति पौंस्यं महो राये चित्तरुते यदर्वतः।।**[422]

अर्थात् हाथ से खींचे जाते हुये घोड़े के समान अब उस श्रेष्ठ यज्ञ को निचोड़िये। स्वामी सूर्य निश्चय ही प्राप्त किये हुये निचोड़ने वाले में बल को व्याप्त करते हैं, जो महान् उत्पाद के लिये भी हिसां करते हुये पार जाते हैं।

**आसीना सो अरुणीनामुपस्थे रयिं धत दाशुषे मर्त्याय।
पुत्रेभ्यः पितरस्तस्य वस्वः प्रयच्छत त इहोर्जं दधात।।**[423]

अर्थात् उषाओं (ऊर्जाओं) की गोद में बैठे हुये विस्तार करने वाले मर्त्य (मनुष्य) के लिये दान (दक्षिणायन कर्म) में, या हवि में उत्पाद को धारण करते हैं। उस मर्त्य के आगे जाने वालों या आगे की उत्पत्ति वालों के लिये वसने वालों या रात्रि सुषुप्त ऊर्जा ने आगे विस्तार किया है, वे इस लोक में ऊर्जा को धारण करते हैं।

**अग्निष्वाताः पितर एहं गच्छत सदः-सदः सदत सुप्रणीतयः।
अत्ता हवींषि प्रयतानि बर्हिष्यथा रयिं सर्णवीर दधातन।।**[424]

421. ऋग्वेद 10:15:3
422. ऋग्वेद 10:76:2
423. ऋग्वेद 10:15:7
424. ऋग्वेद 10:15:11

अर्थात् वे विस्तार करने वाले जो अग्नि की ऊर्जा और वात के आवेगों से युक्त हैं (अर्थात् वाक् और प्राण से युक्त हैं) इस लोक में आते हैं, वे भली प्रकार आगे लाये जाकर अपनी-अपनी सत्ताओं में स्थित होते हैं। आगे विस्तृत हुये उत्पादों को अन्तरिक्ष में भक्षण करते हैं, तब सर्वशक्तिमान उत्पाद (ओजस्) को धारण करते हैं।

त्वमग्न ईळितो जातवेदोऽवाड्ढव्यानि सुरभीणि कृत्वी।
प्रादाः पितृभ्यः स्वधया ते अक्षन्नद्धि त्व देव प्रयता हवींषि।।[425]

अर्थात् उत्पाद को जानने वाले अग्नि ऊर्जित होकर विस्तार करने वालों से आगे दिये गये उत्पादों को पृथिवी द्रव्यगुण से युक्त करके वहन करते हैं। वे दीप्तिमान् अग्नि विस्तृत किये हुये उत्पादों को निश्चित उदक द्वारा या अपनी धारिता से प्राप्त करके या अङ्गभङ्ग करके खाते हैं।

सप्त स्वसृररुषीर्वावशानः विद्वान्मध्व उज्जभारा दृशे कम्।
अन्तर्येमे अन्तरिक्षे पुराजा इच्छन्वव्रिमविदत्पूषणस्य।।[426]

अर्थात् जानकार अग्नि ज्ञान के लिये प्रकाशयुक्त सात रश्मियों को वश में करता हुआ मधुर जलों को ऊर्ध्व में लाकर धारण करता है। पहले उत्पन्न होने वाला अग्नि अन्तरिक्ष में भीतर अधिक विस्तार करता है, वह इच्छा करता हुआ पोषणकर्त्ता के रूप को प्राप्त करता है।

सप्त मर्यादाः कवयस्ततक्षुस्तासामेकामिदम्यंहुरो गात्।
आयोर्ह स्कम्भ उपमस्य नीळे पथां विसर्गेधरुणेशु तस्थौ।।[427]

अर्थात् रश्मियों ने सात मनुष्य को दी गई (रसादि धातुओं) को बनाया है, उनमें से एक का भी उल्लङ्घन होने पर मनुष्य दुःख से युक्त हो जाता है। आयु का आधार समीपस्थ जलों में इस अग्नि के आवास में, और इसके विसर्जनीय कार्यों में सुनिश्चित पथों में स्थित होना बताया गया है।

---

425. ऋग्वेद 10:15:12
426. ऋग्वेद 10:5:5
427. ऋग्वेद 10:5:6

प्र होता जातो महान्नभोविन्नृषद्वा सीददपामुपस्थे।
दधिर्यो धायि स ते वयांसियन्ता वसूनि विधते तनूपाः।[428]

अर्थात् प्रथम प्रक्रियाकर्त्ता, जलों से उत्पन्न होने वाले, अन्धकार युक्त को जानने वाले, मनुष्यों में स्थित अथवा जलों के अङ्क में स्थित, जिसने धातुओं को पोषित किया, वह अग्नि मनुष्य के लिये देहों के पालन करने वाले तथा आयुओं को बढ़ाने वाले वसुगणों अर्थात् बसने वाली रसादि धातुओं को विधान करते हैं।

प्र मातुः प्रतरं गुह्यमिच्छन्कुमारो न वीरुधः सर्पदुर्वीः।
ससं न पक्वमविदच्छुचन्त रिरिह्वांसं रिप उपस्थे अन्तः।।[429]

अर्थात् जेसे बेले पृथिवी पर फैलती हैं वैसे ही कुमार अग्नि निर्माण करने वाली (ऊर्जा) से पहले ही शरीर गुहा को पार करने की इच्छा करता हुआ गोद के भीतर चाटने को लिप्त हुआ है, वह विद्युत की भाँति पाक प्रक्रिया को जाज्वल्यमान करता है।

तदिद् ह्यस्य सवनं विवेरपो यथा पुरा मनवे गातुमश्रेत्।
गो अर्णसि त्वाष्टे अश्व निर्णिजि प्रेमध्वरेष्वध्वराँ अशिश्रयुः।।[430]

अर्थात् वस्तुतः उस अग्नि ने इस पुरुष के यज्ञ का बिलकुल आश्रय लिया जैसे पूर्वकाल में मन के जाने (गति) के लिये जलों का विशेष उपभोग किया गया। त्वष्टा (अष्ट रसादि धातुओं) के लिये ऊर्जा ने और रश्मि ने जल में इनको पहले ही शुद्ध किया तथा अन्तरिक्षों में यज्ञों को आश्रय दिया।

उक्ष्णो हि मे पञ्चदश साकं पचन्ति विंशतिम्।
उताहमद्मि पीव इदुभा कुक्षी पृणन्ति मे।।[431]

अर्थात् वस्तुतः इन्द्र के छिड़काव पाँच प्राणों के साथ दस रसादि

428. ऋग्वेद 10:46:1
429. ऋग्वेद 10:79:3
430. ऋग्वेद 10:76:3
431. ऋग्वेद 10:86:14

धातुओं को बीस प्रकार से पकाते हैं, और मोटे बलवान् इन्द्र खाते हैं, कि उनकी दोनों कोखें अर्थात् द्यावापृथिवी (शरीर और मस्तिष्क) बिलकुल भर जाती हैं, (शरीर रसादि धातुओं से और मस्तिष्क उदक से)

प्र रुद्रेण ययिना यन्ति सिन्धवस्तिरो महीमरमतिं दधन्विरे।
येभिः परिज्मा परियन्नुरु ज्रयो वि रोरुवज्जठरे विश्वमुक्षते।।[432]

अर्थात् रश्मियाँ क्षिप्रता से आगे जाती हैं। टेढ़ी चलने वाली नदियाँ कामना युक्त (उत्पाद की इच्छा वाले) शरीर को भागती हैं। तीव्र गतिमान (मन) इनके द्वारा शरीर के चारों ओर घूमता हुआ और चिल्लाता हुआ पाक संस्थान उदर में सबको सीचता है।

कुविदङ्ग यवमन्तो यव चिद्यथा दान्त्यनुपूर्वं वियूय।
इहेहैषां कृणुहि भोजनानि ये बर्हिषो नमोवृक्तिं न जग्मुः।।

अर्थात् क्या वास्तव में जैसे युवों को प्राप्त करने वाले यवों को पहले की भांति फिर विशेष रूप से जोड़ करके भी काटते हैं, उसी प्रकार इन पुरुषों के भोजनों को भिन्न-भिन्न स्थानों में बनाया जाता है। जो बाहर अन्न हैं वे शुद्धि को प्राप्त नहीं करते हैं।

एते वदन्त्यविदन्ना मधु न्यूङ्खयन्ते अधिपक्व आमिषि।
वृक्षस्य शाखामरुणस्य बप्सतस्ते सूभर्वा वृषभाः प्रेमराविषुः।।[433]

अर्थात विद्वत्जन कहते हैं कि अधिक पकाये हुये मांसों में निश्चय जाते हुये इस प्रकार उदक को प्राप्त करते हैं। वे भली प्रकार पोषित बल लाल वृक्ष की शाखा (रक्त और उसके परिवर्तित रूपों) को खाते हुये आगे फिर इनको पुकारते हैं अर्थात् बनाते हैं।

पहले हम 'उत्पाद' के विवरण में प्रकारान्तर से पाक प्रक्रिया पर प्रकाश डाल चुके हैं। उसके साथ ही वर्तमान अंश को पढ़ते हुये यह निष्कर्ष निकलता है कि ऊर्ध्व का जैविक उदक अपने अन्दर निहित ऊर्जा से गतिमान

---

432. ऋग्वेद 10:92:5
433. ऋग्वेद 10:94:3

होकर बरसता है और ऊर्जा से उत्पन्न रश्मियों से अग्नि का निर्माण होता है। अग्नि पाक प्रक्रिया को जाज्वल्यमान करता है और जैव उदक पाक संस्थान में सिंचित करता है। नाडी संस्थान के द्वारा यह कार्य सम्पन्न होता है। मन विस्तारक और निर्माणक रूप में जैव उदक और अन्तरनिहित ऊर्जा रश्मियों को शरीर में चारों ओर फैलाता हैं। रश्मि और उदक की यह वृष्टि पञ्च प्राणों द्वारा सम्पन्न होती है। यह विस्तार और निर्माण दस रूपों में सम्पन्न होता है, जो अन्न, रस, रक्त, मांस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र, अपर ओजस् और पर ओजस् हैं। इन उत्पादों से दोनों पृथिवी और द्युलोक भर जाते हैं अर्थात् धातुओं से पृथिवी और ओजस् से द्युलोक भर जाता है। सात रंगों वाली रश्मियाँ ही कदाचित् सप्तादित्य और अग्नि की सात जिह्वायें कहलाती हैं और रसादि सप्तधातुओं का निर्माण करती हैं। सभी धातुओं से ओजस् निचोड़ा जाता है। इस प्रक्रिया में उत्पादन का कुछ भाग अग्नि खा जाते हैं अर्थात् वह पकने से कम हो जाता है। तथा सार भाग (शराब की भांति) वाष्पीकृत होकर निचुड़ जाता है और अन्तरिक्षीय जल का रूप ग्रहण कर लेता है। विस्तार की इस प्रक्रिया में वाक् (ऊर्जा) और प्राणवायु से युक्त अनेक स्थितियाँ विभिन्न सत्ताओं के रूप में माने गये हैं। ये सब प्रक्रिया अन्तरिक्ष में ही रसादि धातुओं का सेवन करते हैं और उत्पाद रूप ओजस् को धारण करते हैं। उत्पाद रूप ओजस या अन्तरिक्षीय जल ऊर्ध्व में जाकर पुनः संशोधित होता है ओर जैव उदक का भाग बन जाता है। यही प्रक्रिया में पुनः पुनः क्रियाशील बनता रहता है और प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है।

(15) ज्ञान प्रक्रिया :

पूर्व की कर्म और पाक प्रक्रियाओं के विवरण में कर्म प्रक्रिया से ही ज्ञान प्रक्रिया के उदय को बताया गया था। अन्यत्र भी

''उत्तानयोश्चम्बोर्योनिरन्तरत्रा''
पिता दुहितुर्गर्भमाधात्।।[434]

434. ऋग्वेद 1:164:33

अर्थात् ऊपर फैलने वाली दो सेनाओं (पाक और ज्ञान प्रक्रियायें) का जन्मस्थान अन्तरिक्ष है;

यहाँ पिता (सूर्य) ने पुत्री (सूर्य रश्मि) को गर्भ (अग्नि) को लाकर रखा है।

''त्रिनाभि चक्रमजरमर्वं
यत्रेमा विश्वा भुवनाधि तस्थुः''[435]

अर्थात् अजर तथा दुर्निवार चक्र तीन नाभियों (कर्म, पाक, तथा ज्ञान) वाला है, जहाँ सब ये अन्तरिक्ष अधिकता से या उच्चतर स्थित हैं। संक्षेप में–

सनेमि चक्रमजरं विवावृत उत्तानायां दश युक्ता वहन्ति।
सूर्यस्य चक्षू रजसैत्यावृतं यस्मिन्नातस्थुर्भुवनानि विश्वा।।[436]

अर्थात् अजीर्ण हुआ चक्र नेमिसहित विशेषतः घूमता है; सृष्टि में ऊपर की ओर फैली हुई दस नाडियाँ वहन करती हैं। सूर्य की रश्मि क्रियाशक्ति से आवृत होकर जाती हैं जिसमें सभी लोक या उदक आकर ठहरे हैं। इस भूमिका के साथ पूर्वसंदर्भित मन्त्रों को यहाँ हम पुनः प्रस्तुत कर रहे हैं–

अत उत्वा पितुभृतो जनित्रीरन्नावृधं प्रति चरन्त्यन्नैः।
ताईं प्रत्येषि पुनरन्यरूपा असि त्वं विक्षु मानुषीषु होता।[437]

अर्थात् अब आगे विकास को धारण करने वाले, अन्न (रसादिधातुओं) को बढ़ाने वाले अग्नि के पास उत्पन्न करने वाली मातायें (रश्मियाँ) अन्न के द्वारा लौटती हैं, उन इनको फिर दूसरे रूपों में अग्नि लौटाता है। अग्नि मानवीय (रसादि धातुओं) में होम (प्रारम्भ) करने वाले होते हैं।

---

435. ऋग्वेद 1:164:2
436. ऋग्वेद 1:164:14
437. ऋग्वेद 10:1:4

यं कुमार प्रावर्तयो रथं विप्रेभ्यस्परि।
तं सामानु प्रावर्तत समितो नाव्याहितम्।।[438]

अर्थात् अश्विनी कुमार ने जिस आगे चलने वालों से घिरे रथ को चलाया उसको इधर हृदयरुपी नाव में समाहित अध्यात्म पुरुष ने फिर चलाया।

इदं यमस्य सादनं देवमानं यदुच्यते।
इयमस्य धम्यते नाळीरयं गीर्भिः परिष्कृतः।।[439]

अर्थात् यह जो यम (विस्तार या निर्माणकर्ता) को प्रसन्न करने वाला, दीप्तियों के निर्माण वाला देवयान मार्ग कहा गया है, इसकी यह एक नाडी दीप्तियों (ताप) द्वारा तेजी से (मूर्धा) को जाती है। यह मार्ग रश्मियों द्वारा शुद्ध किया गया है।

विष्णुरित्था परममस्य विद्वाञ्जातो बृहन्नभि पाति तृतीयम्।
आसा सदस्य पयो अकृत स्वं सचेतसो अभ्यर्चन्त्यत्र।।[440]

अर्थात् इस प्रकार जानने वाले और वर्षा करने वाले (विष्णु) ने इसके महान् जन्म होने को बढ़ाते हुये तीसरे (घृत पृष्ठ अग्नि) की प्रत्यक्ष रक्षा की। इसके मुख से जो उदक बनाये गये वे चेतना से युक्त होकर यहाँ ऊर्ध्व में उत्कृष्ट रूप से चमकते हैं।

यहाँ तक की स्थिति यह बनती है कि तीन कर्म–पाक–ज्ञान प्रक्रियायें जुड़ी हुई हैं जिनमें से एक (कर्म प्रक्रिया) उदक–ऊर्जा की वृष्टि से संचालित होती है, तथा अन्य दो (पाक और ज्ञान) प्रक्रियायें ऊर्ध्व की ओर अन्तरिक्ष में फैली हैं, जिन्हें दस नाडियो[441] में सूर्य की रश्मियाँ क्रियाशक्ति से आवृत होकर वहन करती है और इनमें सभी उदक आकर ठहरते हैं। यह प्रक्रिया

---

439. ऋग्वेद 10:135:7
440. ऋग्वेद 10:1:3
441. तेन मूलेन महता महामूलाकता दश ओजोवहाः शरीरेऽस्मिन विधम्यन्ते समन्ततः।।
चरक. सत्र 30:8
अर्थात् उस हृदय मूल के कारण दस नाडियां महामूल वाली कहीं जाती हैं जो इस शरीर में ओजस् को ले जाती हैं तथा उसे समानरूप से दौड़ाती है।

दीप्तियों के निर्माण वाली देवयान प्रक्रिया कहलाती है जिसमें एक नाडी[442] उदक-ऊर्जा को रश्मियों द्वारा शुद्ध करके दीप्तियों द्वारा मूर्धा की ओर तेजी से संचालित होती है। इस प्रक्रिया के प्रारम्भ में उदक और सूर्य रश्मि के द्वारा अग्नि का जन्म होता है। अग्नि अन्नों का पाक कराते हैं और ओजस् को सभी रसादि धातुओं से निचोड़ते हैं; ओजस् चेतना से युक्त होकर ऊर्ध्व में उत्कृष्ट रूप से प्रकाशित होते हैं (प्रकाशन की यह प्रक्रिया ही ज्ञान-प्रक्रिया है)। जिस ऊर्जा रश्मि से अग्नि उत्पन्न हुआ है उसे अन्न-धातु-पाचन द्वारा ओजस् के रूप में वह लौटाता जाता है। कर्म-प्रक्रिया के संचालन और गति का संज्ञान ऊर्ध्व में स्थित चेतना पुरुष करता रहता है, इस प्रकार कर्म-प्रक्रिया ज्ञान प्रक्रिया का आधार बनती है।[443]

अब आगे ज्ञानप्रक्रिया के सन्दर्भ क्रम से प्रस्तुत है-

यो यज्ञो विश्वतस्तन्तुभिस्तत एकशंत देवकर्मेभिरायतः।
इमे वयन्ति पितरो य आयुयुः प्र वयाप वयेत्यासते तते।।[444]

अर्थात् जो यज्ञ (उत्पाद प्रक्रिया) सब ओर एक सौ एक नाडियों द्वारा फैलाया हुआ है, वह दीप्तियों के कर्मों द्वारा सर्वतः विस्तृत हुआ है। इसे ये विस्तार करने वाले बुनते हैं। जो आगे जाने वाले तथा नीचे जाने वाले पक्षी (शुक्ल-कृष्ण पक्ष वाले) आये हैं वे फैलाई हुई जाने की प्रक्रिया में स्थित होते हैं।

पुमाँ एनं तनुत उत्कृणत्ति पुमान्वि तत्ने अधिनाके अस्मिन्।
इमे मयूखा उपसेदुरू सदः सामानि चक्रुस्तसराण्योतवे।।[445]

अर्थात् पुरुष इसको फैलाते हुये ऊर्ध्व में लपेटता है। पुरुष ने इस जलों के ले जाने वाले आकाश के ऊपर विशेषतः इसे फैलाया। ये रश्मियां

---

442. शंत चैका च हृदस्यं नाड्स्तासां मूर्धानमभिनः सृतैका।
तयोर्ध्वमायन्नमृत्यमेति विष्वङ्ङन्या उत्क्रमणे भवन्ति।।
कठोपनिषद् 2:3:16
अर्थात् इस हृदय की एक सौ एक नाडियां हैं उनमें से एक मूर्धा की ओर निकली हुई हैं, उसके द्वारा ऊर्ध्व को उदक आते हैं और अमृतत्व प्राप्त करते हैं।

443. सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने पिरसमाप्यते।। गीता 4:19।।
अर्थात् सभी सम्पूर्ण कर्म ज्ञान में जाकर समाप्त होते हैं।

444. ऋग्देव 10:130:1

445. ऋग्देव 10:130:2

समीप में स्थित हुईं। निर्माण के लिये अध्यात्म में स्थित ढरकियों को सोम ने बनाया।

इस प्रकार कर्म, और ज्ञान दोनों प्रक्रियाओं का आधार स्नायुतन्त्र है; कर्म के लिये ये नीचे जाते हैं और ज्ञान के लिये उच्चमार्गी संकलित होते हैं। सभी बोध चाहे वे इन्द्रियार्थ बोध हो, आन्तरिक अंङ्गों के गति, दबाव, वायु पीड़ा आदि के बोध हो, अथवा शुद्ध विचार बोध हो स्नायुतन्तुओं द्वारा द्रष्टा और बोधा आत्मा तक पहुँचते हैं। ये स्नायुतन्तु ऊर्जा रश्मियों और सोम रसायनों संचालित होते हैं इसे ही आधुनिक भाषा में विधुत द्वारा रसायनिक प्रक्रिया कहा जाता है। ऊपर यज्ञ के विवरण में इनकी स्थिति, संचालन तथा उत्पत्ति आदि को बताया जा चुका हैं कुछ मुख्य बातों को हम पुनः प्रस्तुत कर रहे हैं जिससे प्रक्रिया का सम्यक् और क्रमबद्ध ज्ञान प्रस्तुत हो सके।

तं यज्ञं बर्हिषि प्रोक्षन्पुरुषं जातमग्रतः।
तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये।।[446]

अर्थात् उस उत्पाद प्रक्रिया में जलों को छिड़कता हुआ पुरुष सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ। उससे व्यवस्था करने वाली रश्मियों ने तथा दीप्तियों ने प्रक्रिया की।

यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत।
वसन्तों अस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः।।[447]

अर्थात् जब पुरुष के जल से दीप्तियों ने उत्पाद प्रक्रिया को फैलाया तो इसका प्रकाश वायव्यसंग्रह (वसन्त) हुआ, ताप अग्निसंग्रह (ग्रीष्म) हुआ, और जलीया-रश्मि श्लेष्मसंग्रह (शरद्) हुई।

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः संभृतं पृषदाज्यम्।
पशूंन्तांश्चक्रे वायव्यान् आरण्यान् ग्राम्यांश्च ये।।[448]

---

446. ऋग्वेद 10:90:7
447. ऋग्वेद 10:90:6
448. ऋग्वेद 10:90:8

अर्थात् उस, सब को प्रारम्भ करने वाली उत्पाद प्रक्रिया, से सम्यक् धारण किये हुये प्रकाश (ज्ञान) को पार किया गया, तथा उन चैतन्यमय-द्रष्टाओं (इन्द्रियों) को बनाया गया जो वायु से युक्त, नाडी-वन से युक्त, और समूहमय थे।

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छंदासि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत।।[449]

अर्थात् उस, सब को प्रारम्भ करने वाली उत्पाद प्रक्रिया, से भौतिक तथा चेतन तत्व उत्पन्न हुये, उनसे इन्द्रियगोलक, और उनसे (फिर) ऊर्जामार्ग आदि उत्पन्न हुये।

तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात् तस्माज्जाता अजावय।।[450]

अर्थात् उससे रश्मि रुप स्नायुशक्ति उत्पन्न हुई जो दोनों ओर (उच्च और निम्न संक्रियाओं में) कार्य करती हैं। निश्चय उससे गतिशील ऊर्जायें उत्पन्न हुईं, और उससे (फिर) अजर-अमर चैतन्य-ऊर्जा रुप आत्मा उत्पन्न हुई।

देवः यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन् पुरुषं पशुम्।।[451]

अर्थात् दीप्तियों ने जिस उत्पाद प्रक्रिया को विस्तृत किया उससे चैतन्यमय-द्रष्टा पुरुष को बांध लिया।

इस प्रकार प्रथमतः वह पुरुष उत्पन्न हुआ जिसने उदक की वृष्टि की जिससे व्यवस्था करने वाली रश्मियों और दीप्तियों ने प्रक्रिया की। जब उदक से दीप्तियों ने उत्पाद प्रक्रिया को फैलाया तो बात, पित्त और कफ की उत्पत्ति हुई। इनकी पारस्परिक अन्तक्रिया से चैतन्यमय जीवनीय तत्व उत्पन्न हुये जो समूहमय थे और स्नायविक गति से परिपूर्ण थे। इनसे ही पार्थिव-दैहिक और चेतन तत्व बने, इन्द्रिय-गोलक तथा ऊर्जामार्ग उत्पन्न हुये। इनसे स्नायुशक्ति उत्पन्न हुई, फिर गतिशील ऊर्जा उत्पन्न हुई पुनः अजर-अमर

449. ऋग्वेद 10:90:9
450. ऋग्वेद 10:90:10
451. ऋग्वेद 10:90:15

चैतन्य-ऊर्जा-पुञ्ज रूप आत्मा बनी। दीप्तियों ने जिस उत्पाद प्रक्रिया का विस्तार किया उससे जैविक पुरुष को बांध लिया अर्थात् प्रक्रिया की निरन्तरता और आवृत्ति अक्षुण्ण रही, जो पुरुष का बार-बार होना "पादोऽस्येहाभवत पुनः:"[452] निश्चित करती है। अब आगे देखिये-

प्र रुद्रेण ययिना यन्ति सिन्धवस्तिरो महीमरमतिं दधन्विरे।
येभिः परिज्मा परियन्नुरु श्रयो वि रोरुवज्जठरे विश्वमुक्षते।।[453]

अर्थात् अदृश्य नदियाँ या नाडियाँ क्षिप्र रश्मि से आगे बढ़ती है और निर्माण कामनायुक्त शरीर को भागती हैं। इनके द्वारा विशेष ध्वनि से युक्त तीव्र गतिमान् जल पूरे शरीर में घूमता हुआ उदर में सबको सींचता है।

ते हि प्रजाया अमरन्त विश्रवो बृहस्पतिर्वृषभः सोमजामयः।
यज्ञैरथर्वा प्रथमो वि धारयद्देवा दक्षैर्भृगवः सं चिकित्रिरे।।[454]

अर्थात् बलवान प्रयत्नों के स्वामी ने अब सबसे पहले की उद्क से उत्पन्न होने वाली गतिहीन रश्मियों (ऊर्जा) या उदक की बहनों अर्थात् ओजो-जलों को विशेषतः धारण किया। दीप्तियों ने ताप के साथ कर्मों से शोधन किया। वे निश्चित ही आगे उत्पन्न होने वाले उत्पादों को विशेषतः पूर्ण करते हैं।

क्राणा रुद्रा मरुतो विश्वकृष्टयो दिवः श्येनासो असुरस्य नीळयः।
तेभिश्चष्टे वरुणो मित्रो अर्यमेन्द्रो देवेभिर्खशेभिरर्वशः।।[455]

अर्थात् कर्म करते हुये क्षिप्रों, प्रकाशमान, विश्वविस्तारक, प्राणों निवासी दीप्तिमान रश्मियों, व्याप्त करने वाले, मापन करने वाले श्रेष्ठ का उत्पादन करने वाले ऐश्वर्यवान ने उन दीप्तिमान रश्मियों से किरण का ज्ञान प्राप्त किया गया।

452. ऋग्वेद 10:90:4
453. ऋग्वेद 10:92:5
454. ऋग्वेद 10:92:10
455. ऋग्वेद 10:92:6

यं कुमार प्रावर्तयो रथं विप्रेभ्य स्परि।
तं सामानु प्रावर्तत समितो नाव्याहितम्।।[456]

अर्थात् अश्विनीकुमार ने जिस आगे चलने वालों से घिरे रथ को चालया, उसको इधर हृदयरूपी नाव में समाहित अध्यात्म पुरुष ने फिर चलाया।

यथाभावदनुदेयी ततो अग्रमजायत।
पुरस्ताद् बुध्न आतत पश्चान्निरयणं कृतम्।।[457]

अर्थात् जैसे अनुदान करने वाला हुआ इस कारण पहले उत्पन्न हुआ था; आगे-आगे जानने वाला विस्तृत हुआ पीछे या बाद में नीचे जाने का मार्ग (कर्ममार्ग) बनाया गया, अर्थात् यद्यपि अनुदान करने वाला था किन्तु जानने वाला होने के कारण पहले उत्पन्न होने वाला कहा गया क्योंकि ज्ञान के विस्तार के बाद कर्म का मार्ग निश्चित किया गया।

अतिद्रव सारमेयौ श्वनौ चतुरक्षौ शबलौ साधुना पथा।
अथा पितृन्त्सुविदत्राँ उपेहि यमेन ये सधमादं मदन्ति।।[458]

अर्थात् उत्तम मार्ग द्वारा अविनाशी चार प्राणों वाले चेतनाभूत कृष्ण-शुक्ल पक्षों से युक्त दो अश्विनी कुमारों को पार करो। तब शुभज्ञान युक्त विस्तार करने वाले (पितरों) के पास जाओ जो निर्माणकर्ता (यम) के साथ आनन्द को प्राप्त करते हैं।

सं गच्छस्व पितृभिः सं यमेनेष्टापूर्तेन परमे व्योमन्।
हित्वायावद्यं पुनरस्तमेहि सं गच्छस्व तन्वा सुवर्चा।।[459]

अर्थात् विस्तारकर्ता (पितरों) से संयुक्त होकर, इष्टापूर्ति करने वाले निर्माणकर्ता यम से संयुक्त होकर परम आकाश (उदक) को प्राप्त करो। मना किये हुये अथवा अज्ञान के मार्ग को छोड़कर पुनः अस्ताचल की ओर आओ।

---

456. ऋग्वेद 10:135:4
457. ऋग्वेद 10:135:6
458. ऋग्वेद 10:14:8
458. ऋग्वेद 10:14:10

शुभ प्रकाश युक्त शरीर को सम्यक् प्राप्त करो।

हस्तेनैव ग्राह्य आधिरस्या ब्रह्मजायेयमिति चेदवोचन।
न दूताय प्रह्ये तस्य एषा तथा राष्ट्रं गुपितं क्षत्रियस्य।।[460]

अर्थात् इसका ज्ञान प्रकाश से या हाथ (कर्म) से ही पकड़ने योग्य है; इस उत्पाद को जीतने वाली (ऊर्जा) ने ज्ञान प्रक्रिया को और भी बतलाया है कि यह उसी प्रकार स्थित होती है जैसे राजा के राज्य की रक्षा में दूतों (गुप्तचरों) को प्रेरित किया जाता है; अर्थात् सम्पूर्ण शरीर की क्रिया व स्थिति की जानकारी मस्तिष्क में पहुँचाकर ज्ञान प्रक्रिया सम्पन्न होती है।

अयम स्मासु काव्य ऋभुर्वज्रो दास्वते।
अयं बिभर्त्यूर्ध्वकृशनं मदमृभुर्न कृत्व्यं मदम्।।[461]

अर्थात् यह ज्ञान देने वाले के लिये हममें सूर्य रश्मि रूपी बज्र है। जैसे सूर्य किरण सोम को बनाया करती है यह ज्ञान ऊर्ध्व में प्रकाश युक्त उदक को धारण करता है।

स्वर्वज्ज्योतिरवृकं नशीमहि तद्देवानामवो अद्या वृणीमहे।[462]

अर्थात् आज वह दीप्तियों का अन्न (उत्पाद) या रक्षा हम पूर्णतः वरण करते हैं, उदक या ऊर्ध्व की भांति अग्नि रहित प्रकाश हमें प्राप्त करना चाहिये।

श्रेष्ठं नो अद्य सवितर्वरेण्यं भागमासुव सहिरत्नधा असि।
रायो जनित्रीं धिषणामुप ब्रुवे स्वस्त्यग्निं समिधानमीमहे।।[463]

अर्थात् सविता देवता से प्रार्थना है कि वे हमारे लिये आज श्रेष्ठ चुनने योग्य भाग पूर्णतः उत्पन्न करें। वह अशरीरी निश्चय ही रत्न (अन्न) को

---

460. ऋग्वेद 10:109:3
461. ऋग्वेद 10:144:2
462. ऋग्वेद 10:36:3
463. ऋग्वेद 10:35:7

धारण करने वाली उत्पाद की माता वाक् (वाणी, ज्ञान) को समीप से पुकारता है।

इस प्रकार कर्म से ज्ञान की प्राप्ति होना, सिद्धान्त का मर्म है। यह कर्म ऊर्ध्व में स्थित अध्यात्म पुरुष का प्रयत्न है। ऊर्ध्व के उदक नाडियों द्वारा आकर समाहित गतिमान ऊर्जा रश्मि से आगे बढ़ाये जाते हैं और वे सम्पूर्ण शरीर में जैविक हेतु से फैलाये जाते हैं। इन्हें इन्द्रियों और अङ्गवयवों में स्थित ऊर्जापुञ्जों ताप के साथ संशोधित करते हैं। कर्मों में भी ऊर्जापुञ्जों का योगदान होता है। उत्पादित और संशोधित उदक पुनः ऊर्ध्व के उदक में समाविष्ट हो जाता है। इस चक्र में नीचे और ऊपर जाने की नाडीप्रक्रियायें दक्षिणायन और उत्तरायण नाम से पक्ष रूप में बताई गई हैं तथा दो अश्विनी कुमारों (रश्मिपुञ्जों) द्वारा संचालित मानी जाती हैं। जब कर्म का रथ ऊर्ध्व से नीचे चलता है तो कर्म की प्रक्रिया का ज्ञान अध्यात्म पुरुष करता रहता है। इस प्रकार एक ओर निश्चित कर्म की विधायी स्थिति निर्मित होती है, तो दूसरी ओर कर्म से ज्ञान का आधार बनता जाता है। सूचना देने वाले राजकीय चरों की भाँति सम्पूर्ण शरीर की क्रिया व स्थिति की जानकारी मस्तिष्क में पहुँचाकर ज्ञान प्रक्रिया सम्पन्न होती है। ज्ञान ऊधर्व में प्रकाशयुक्त उदक को धारण करता है, तो उदक और उसमें समाहित ऊर्जारश्मि ही ज्ञान प्रक्रिया को आगे बढ़ाने वाली होती है। अब एक पूरे सूक्त में उदक (सोम) का ज्ञान प्रक्रिया (इति) से सम्बन्ध निर्धारित किया गया है-

इति वा इति मे मनो गामश्वं सनुयामिति।
कुवित्सोमस्यापामिति।।[464]

अर्थात् ज्ञान की प्रक्रिया उदक है, ज्ञान की प्रक्रिया आत्मा का मन है, ज्ञान की प्रक्रिया जाने वाली ऊर्जा और आने वाली ऊर्जा को प्राप्त करने वाली है। क्या वास्तव में ज्ञान की प्रक्रिया सोमरूप (निचोड़े हुये जलों) से सम्बन्धित है?

प्र वाता इव दोधत उन्मा पीता अयंसत। ध्रुवपद[465]

464. ऋग्वदे 10:119:1
465. ऋग्वदे 10:119:2

अर्थात् पिये हुये सोम आत्मा को वायुओं (प्राणों) की भांति कंपाते हुये ऊर्ध्व में अधिक खींचते हैं। ध्रुव.

उन्मा पीता अयंसत रथमश्वा इवाशवः।ध्रुव.[466]

अर्थात् भली प्रकार पिये हुये अन्न अश्वों द्वारा रथ को खीचने (या रश्मि द्वारा शरीर को चलाने) की भांति आत्मा को ऊर्ध्व में अधिक खींचते हैं। ध्रुव.

उप मा मतिरस्थित वाश्रा पुत्रभिव प्रयिम्। ध्रुव.[467]

अर्थात् उत्तरायण ने आत्मा को प्यारे पुत्र की ।भांति ज्ञान के समीप खड़ा किया है। ध्रुव.

अहं तेष्टेव बन्धुरं पर्ययामिहृदा मतिम्। ध्रुव.[468]

अर्थात् आत्मा बढ़ई की भांति हृदय में तरंगित ज्ञान को चारो ओर से झुकाता (मोड़ता) है। ध्रुव.

न हि में अक्षिपच्चनाच्छान्त्सुः पुच कृष्टयः।ध्रुव.[469]

अर्थात् वस्तुतः पञ्चकर्म आत्मा को नहीं फेंकते (ऊपर उठाते) है, और न शुद्धों को फेंकने वाले हैं। ध्रुव.

न हि मे रोदसी उभे अन्यं पक्षं चन प्रति।ध्रुव.[470]

अर्थात् वस्तुतः आत्मा की ओर दोनो धावापृथिवी नहीं हैं। और न दूसरा दक्षिणायन–कृष्ण पक्ष ही आत्मा के लिये है। ध्रुव.

---

466. ऋग्वदे 10:119:3
467. ऋग्वदे 10:119:4
468. ऋग्वदे 10:119:5
469 ऋग्वदे 10:119:6
470 ऋग्वदे 10:119:7

अभि द्यां महिना भुवमभीमां पृथिवीं महीम् ।ध्रुव.[471]

अर्थात् आत्मा अपनी महानता से प्रकट द्युलोक को, प्रकट अन्तरिक्षलोक को, इस महान् पृथिवी लोक को संचालित करता है। ध्रुव.

हन्तांह पृथिवीमिमां नि दधानीह वेह वा। ध्रुव.[472]

अर्थात् वस्तुतः आत्मा इस पृथिवी को ऊपर उठाने वाला है, या इसलोक को या इस शरीर को ही पोषण करने वाला है। ध्रुव.

ओषमित्पृथिवीमहं जङ्घनानीह वेह वा। ध्रुव.[473]

अर्थात् आत्मा पृथिवी को या इस लोक को या इस शरीर को भी शीघ्र ऊपर उठाया करता है। ध्रुव.

दिवि में अन्यः पक्षोऽधो अन्यमचीकृषम्। ध्रुव.[474]

अर्थात् आत्मा का एक शुक्ल पक्ष (उत्तरायण) द्युलोक में है, आत्मा दूसरे को नीचे (दक्षिणायन में) खींचता है। ध्रुव.

अहमस्मि महामहाऽभिनम्यमुदीषितः। ध्रुव.[475]

अर्थात् आत्मा महान् से भी महान् है, वह ऊर्ध्व में स्वर्ग की ओर भेजा हुआ है। ध्रुव.

गृहो याम्यरङ्कृतो देवेभ्यो हव्यवाहनः। ध्रुव.[476]

---

471 ऋग्वदे 10:119:8
472 ऋग्वदे 10:119:9
473. ऋग्वदे 10:119:10
474 ऋग्वदे 10:119:11
475 ऋग्वदे 10:119:12
476 ऋग्वदे 10:119:13

अर्थात् पूर्ण बनाया हुआ आत्मा, हवियों को ले जाने वाला है, वह दीप्तियों के लिये घरों को प्राप्त करता है। ध्रुव.

निष्कर्ष यह बनता है कि उदक में समाहित ऊर्जापुञ्ज रूप अध्यात्म पुरुष आत्मा ज्ञान की प्रक्रिया का आधार है। आत्मा महान् से भी महान् है, वह ऊर्ध्व में स्वर्ग की ओर भेजा हुआ है। आत्मा अपनी महानता से धुलोक को,अन्तरिक्ष को और इस महान् पृथिवी लोक (शरीर) को संचालित करता है,वह इस शरीर को ऊपर उठाने वाला और पोषण करने वाला है। वह पूर्णता को प्राप्त हुआ हवियों किंवा धातु अंशो को आगे ले जाने वाला और दीप्तियों के लिये घरो को प्राप्त करने वाला है। प्राण के माध्यम से सोम आत्मा को ऊर्ध्व में खींचते हैं तथा रश्मि के माध्यम से अन्न आत्मा को ऊर्ध्व में खीचते है। इस प्रकार उत्तरायण आत्मा को ज्ञान के समीप खड़ा करता है और आत्मा बढ़ई (करीगर) की भांति ज्ञान को सब ओर मोड़ता है। वस्तुतः शुद्ध करने वाले पञ्चकर्म आत्मा को ऊर्ध्व में नहीं फेंकते है अर्थात् ये युक्तियां शरीर शोधन या मल शोधन की है, ये शुद्ध रूप आत्मा पर प्रभावी नहीं होती हैं। आकाश और पृथिवी तथा उनसे चलने वाला दक्षिणायन आत्मा का हेतु नहीं है,उसका शुक्ल पक्ष उत्तरायण है, आत्मा दक्षिणायन को नीचे ढकेलता है।

(16)ऊर्जा संरक्षण प्रक्रिया :

शरीर में ऊर्जा का स्थान, जीवन के लिये उसका क्षरण, तथा प्राप्तियों द्वारा उसका सतत संरक्षण मनुष्य की आयु के अनिवार्य आधार एवं अभिकरण है। वेद में इस प्रक्रिया के सम्बन्ध में भी बहुत कुछ बताया गया है। ऋग्वेद दशम मण्डल में इस प्रकार का वर्णन कुछ इस तरह मिलता है-

सूर्यरश्मिर्हरिकेशः पुरस्तात्सविता ज्योतिरुदयाँ अजस्रम्।
तस्य पूषा प्रसवे याति विद्वान्त्सम्पश्यन्विश्वा भुवनानि गोपाः।[477]

अर्थात् अविच्छिन्न निचोड़ने वाले (सूर्य) की किरणें, ले जाने वाले (हरि, घोड़े) के केश रूप रश्मि उत्पन्न करने वाले (सविता) का प्रकाश आरम्भ में ऊर्ध्व में प्राप्त हुये। सम्पूर्ण अन्तरिक्ष स्थानों या सम्पूर्ण जलों के रक्षक

---
477. ऋग्वेद 10:139:1

तथा जानकार पोषणकर्ता (पूषा देवता) सम्यक् देखते हुये उस (सूर्य) की उत्पत्ति के लिये जाते हैं।

गुहा शिरो निहितमृधगक्षी असिन्वन्नत्ति जिह्वया वनानि।
अत्राण्यस्मै पद्‌भिः सं भरन्त्यु त्तानहस्ता नमसाधि विक्षु।।[478]

अर्थात् शिरोगुहा में वस्तुतः धारण हुआ समृद्धि प्राप्त करने वाला आत्मा जिह्वा से बिना फंसाये उदक या रश्मियों को खाता है। इसके लिये ऊपर हाथ उठाये हुये अर्थात् उत्तरायण दोनों विभागों, ज्ञान और पाक, में कर्म करते हुये विशेष उत्पाद वाले इन स्थानों को अधिक उत्पाद संरक्षण द्वारा सम्यक् रूप से भरते हैं।

गा इन्द्रो अकृणुत स्वयुग्भिः।।[479]

अर्थात् इन्द्र (मन या आत्मा) ने ऊर्जाओं या रश्मियों को जलों के योगों (जोड़ों) से सर्वर्था बनाया।

सं गोभिराङ्‌ गिरसो नक्षमाणो भग इवेदर्यमणं निनाय।।[480]

अर्थात् उत्पाद को प्राप्त करते हुये की भांति ही अङ्गों के रस वाला ओजस् जाने वाली ऊर्जा रश्मियों से श्रेष्ठ जल का निर्माण करने वाले को सम्यक् रूप से ले गया।

वृहस्पतिरनुमृश्या वलस्याभ्रमिव वात आ चक्र आ गाः।।[481]

अर्थात् प्रयत्नों के स्वामी ने जैसे वायु बादल को सर्वथा बनाती है वैसे ही फिर मेघ की ऊर्जा को सर्वथा जानकर पूर्णतः बनाया।

---

478. ऋग्वेद 10:79:2
479. ऋग्वेद 10:89:7
480. ऋग्वेद 10:68:2
481. ऋग्वेद 10:68:5

साध्वर्या अतिथिनीरिषिराः स्पार्हाः सुवर्णा अनवद्यारूपाः।
बृहस्पतिः पर्वतेभ्यो वितूर्या निर्गा ऊपे यव मिव स्थिविभ्यः।[482]

अर्थात् प्रयत्नों के स्वामी ने आग्नेय पर्वों के द्वारा भली अधिकार वाली अतिथि, सक्रिय, कामनावाली, सुवर्णा अवर्णनीय रूपों वाली विशेष क्षिप्रतावाली ऊर्जा रश्मियों को जौ की भाँति बोया।

यदा बलस्य पीयतो जसु भेद् बृहस्पतिरग्नितपोभिरर्कैः।
दद्भिर्न जिह्वा परिविष्टमाददाविर्निधीरकृणो दुस्रियाणाम्।।[483]

अर्थात् जब प्रयत्नों के स्वामी ने अग्नि के ताप की रश्मियों से मेघ के पिये हुये जल को फाड़ा और मुक्त किया तब उन्होंने ऊर्जाओं के कोषों को सम्मुख वैसे ही बनाया जैसे दांतों द्वारा लपेटे गये भोजन को जीभ खाया करती है।

बृहस्पतिर्गोवपुषो बलस्य निर्मज्जानं न पर्वणोजभार।।[484]

अर्थात् प्रयत्नों के स्वामी ने मेघ के शरीर की ऊर्जा को पर्वों में मज्जा की भाँति निश्चयपूर्वक धारण किया।

हिमेव पर्णा मुषिता वनानि बृहस्पतिनाकृपयद्बलो गाः।
अनानुकृत्यमपुनश्चकार यात्सूर्यामासा मिथ उच्चरातः।।[485]

अर्थात् प्रयत्नों के स्वामी ने ऊर्ध्व में रोष चलाते हुये बिना अनुकरण करके फिर न बनाकर सूर्यरश्मि को दिशा से प्राप्त किया और जैसे हिम पत्तों को करता है वैसे ही जलों को सर्वथा आच्छादित करते हुये मेघ की ऊर्जा को रचा।

बृहस्पतिरमत हि त्यदासां नाम स्वरीणां सदने गुहायत्।
आण्डेव भित्वा शुकुनस्य गर्भमुदुस्रियाः पर्वतस्य त्मनाजत्।।[486]

---

482. ऋग्वेद 10:68:3
483. ऋग्वेद 10:68:6
484. ऋग्वेद 10:68:9
485. ऋग्वेद 10:68:10
486. ऋग्वेद 10:68:7

अर्थात् प्रयत्नों के स्वामी ने वस्तुतः उस प्रसिद्ध रश्मियों के जल को जो गुप्त घर में एक ओर रखा गया था जान लिया। शकुन पक्षी के अण्ड-गर्भ की भांति या स्वयं द्वारा फाड़कर मेघ की ऊर्जाओं को ऊर्ध्व में हांका।

अश्नापिनद्धं मधु पर्यपश्ययन्मत्स्यं न दीन उदनिक्षियन्तम्।
निष्टज्जभार चमसं न वृक्षाद् बृहस्पतिर्विखेणा विकृत्य।।[487]

अर्थात् भोजन के साथ क्रम में बंधे हुये ओजस् जल में रहने वाली मछली की भांति सब ओर दीन दिखाई दिये। प्रयत्नों के स्वामी ने उसे वृक्ष से चमस् की भांति ऊर्जा द्वारा विशेषतः बनाते हुये निश्चय पूर्वक धारण किया।

आप्रषायन्मधुन ऋतस्य योनिमवक्षिपन्नर्क उल्कामिव द्यौः।
बृहस्पतिरुद्धरन्नश्मनो गा भूम्या उदनेव वि त्वचं विभेद।।[488]

अर्थात् प्रयत्नों के स्वामी ने आकाश से रश्मि को उल्का की भांति नीचे फेंका, जलवृष्टि के तुल्य शरीर की त्वचा को पोषित किया, मेघ से रश्मियों को ऊपर ले लिया, (तथा) जल के स्रोत को ओजस् से छिड़काया।

सोषामबिन्दत्स स्वः सो अग्निं सो अर्केण वि बबाधे तमांसि।।[489]

अर्थात् उसने उषा को, उसने उदक को, उसने अग्नि को प्राप्त किया; उसने रश्मि से अन्धकारों को विशेषतः दबाया।

इन्द्र स्तवानृतमंयस्य मह्नावि बबाधे रोचना विज्मो अन्तान।
आयः पप्रो चर्षणीधृद्वरोभिः प्रसिन्धुभ्यो रिरिचानो महित्वा।।[490]

अर्थात् नरश्रेष्ठ इन्द्र की आकर स्तुति करो जिसकी महान् दीप्ति से

---

487. ऋग्वेद 10:68:8
488. ऋग्वेद 10:68:4
489. ऋग्वेद 10:68:9
490. ऋग्वेद 10:89:1

कांपने वाले जलों की सीमाओं को भङ्ग किया जाता है। जो अपनी महानता से सिन्धुओं से (जलों को) पहले खाली करता हुआ उन्हें मानुषीधातुओं वाले जलों से सम्पूर्णतः भरता है।

स सूर्यः पर्यरूवरांस्येन्द्रो ववृत्याद्रथ्येव चक्राः।।[491]

अर्थात् वह इन्द्र सूर्य के ओर जाने की इच्छा वाले जलों को मार्ग पर पहिये की भांति मोड़े।

मधासु हन्यन्ते गावोऽर्जुन्योः पर्युह्यते।।[492]

अर्थात् जाने वाली ऊर्जायें उत्पादों में मारी जाती हैं, दोनों प्रक्रियाओं की उषाओं (ऊर्जाओं) में सर्वतः पूर्ति की जाती है।

विश्वप्सुर्यज्ञो अर्वागयं सु वः प्रयस्वन्तो न सत्रा च आगत।[493]

अर्थात् आपके शुभ उत्पादों से युक्त यह प्रक्रिया समीप के समस्त जलों में हमारी सत्ता में आकर सम्पूर्णतः प्राप्त होवें।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जलीय ऊर्जा का मुख्य स्रोत ऊर्ध्व (मस्तिष्क) में है। यह ऊर्जा रश्मि, दीप्ति और प्रकाश में अभिव्यक्त और विस्तृत होकर सूर्य के रूप में निर्मित हुई। यह सूर्य या आत्मा जिन ऊर्जा रश्मियों को आत्मसात् करती है उनकी पूर्ति ज्ञान-पाक प्रक्रियाओं (उत्तरायण आदान) में अधिक उत्पाद संरक्षण द्वारा सम्यक् रूप से होती रहती है। प्रयत्नशील आत्मा में ऊर्ध्व से उदक को, उससे ऊर्जा को, उससे अन्धकार दूर करने वाली रश्मि को, उससे अग्नि को प्राप्त किया उस आत्मा ने रश्मि को आकाश से नीचे फेंका, जलवृष्टि या रश्मिवृष्टि करके शरीर की त्वचा (अङ्गावयवों) को पोषित किया, उत्पाद से प्राप्त ओजस् को बन्धनमुक्त करके ऊर्ध्व में खींचा और मूल उदक के स्रोत को सिंचित किया। इस प्रकार जीवन संचालन के लिये उदक के स्रोत सिन्धुओं को पहले खाली किया जाता है, फिर रसादि-धातुओं से प्राप्त ओजस् रूप जलों से पूर्णतः भरा जाता है।

491. ऋग्वेद 10:89:2
492. ऋग्वेद 10:85:13
493. ऋग्वेद 10:77:4

भोजन के साथ क्रम में बंधे हुये उत्पाद रूप ओजों में जल में मछली की भांति ऊर्जा दीन थी, प्रयत्नपशील आत्मा ने काठ से चमस बनाने की भांति ऊर्जा से विशेष निर्माण हेतु धारण किया। आत्मा ने ऊर्जाओं को जलो (ओजों) के योग से बनाया। अङ्गों के रस (ओजों) को ऊर्जा रश्मियों द्वारा शुद्धीकृत जल (उदक) बनाने की प्रक्रिया आगे चलती है। प्रयत्नशील आत्मा रसादि धातुओं के उत्पादक पर्वों में ऊर्जा रश्मियों को जौ की भांति बोते हैं। इस स्थल पर ही ऊर्जो रश्मियों से पाक द्वारा धातु उत्पादन के लिये अग्नि को रचा गया। प्रयत्नशील आत्मा ने उदरगुहा के घरों (पर्वों) में एक ओर छिपे जल (ओजस्) को जान लिया, यहाँ बंधे हुये जलों को अग्नि के ताप की रश्मियों से निचोड़ा और उन्हें ऊर्जा के कोषों के रूप में बनाया। इस बन्धनशील ऊर्जा को प्रयत्नशील आत्मा ने पर्वों में मज्जा की भांति धारण किया प्रयत्नशील आत्मा ने रश्मि को दिशा से प्राप्त किया और उससे जलों को सर्वथा आच्छादित करते हुये बंधी हुई ऊर्जा को रचा। इस प्रकार उसने बन्धनशील ऊर्जा को सर्वथा जानकर पूर्णतः बनाया। प्रयत्नशील आत्मा ने बन्धनों को फाड़कर ऊर्जाओं को ऊर्ध्व में हांका। इस प्रकार शुभ उत्पादों से युक्त यह संरक्षण प्रक्रिया प्राप्त समस्त जलों में ऊर्जारूप आत्मसत्ता को सम्पूर्णतः प्राप्त करती है।

(17)जैव प्रक्रिया :

ऋग्वेद में जैव प्रक्रिया को उत्पाद प्रक्रिया में संयुक्त रूप से देखने की वृत्ति है। ऊर्ध्व से जो उदक-रश्मियों की वृष्टि होती है उससे इन्द्रियाङ्गावयवों का पोषण होता रहता है, और ये सब पुनः शरीर धातुओं के निर्माण में अपना योगदान करते रहते हैं। दशममण्डल में यह सब इस प्रकार वर्णित है-

अन्तश्चरति रोचनास्य प्राणादपानती।
व्यख्यन्महिषो दिवम् ।।[494]

अर्थात् महान् गमनशील (प्राण) ने धुलोक को विशेषतः देखा अर्थात् धुलोक पर आधारित हुआ। प्राण से नीचे झुकी हुई दीप्तिमती रश्मि इस

494. ऋग्वेद 10:189:2

पुरुष के भीतर चलती है।

आयं गौः पृश्निरक्रमीदसदन् मातरं पुरः।
पितरं च प्रयन्त्स्वः।।[495]

अर्थात् इस जाने वाली सूर्य रश्मि ने सब ओर डग भरा, पहले माता (पृथिवी, शरीर) में बैठी और फिर पिता (आकाश, द्युः) को स्वर्ग में प्राप्त किया। अथवा शरीर के निर्माण करने वाली में बैठी और आत्मा के विस्तार करने वाले में गई।

विभ्राड् बृहस्पिबतु सोम्यं मध्वायुर्दधद्यज्ञपतावविह्रुतम्।
वातजूतो यो अभिरक्षति त्मना प्रजाः पुपोष पुरुधा विराजति।।[496]

अर्थात् बढ़ी हुई विशेषतः चमकने वाली (सूर्य रश्मि) सोमयुक्त उदक को पिये आयु प्रक्रिया के स्वामी में विपरीत आहुति (प्रारम्भ) को न रखे। जो (रश्मि) प्राण से वेगवान् होकर स्वयं ही (या आत्मा से) प्रजा की प्रत्यक्ष रक्षा करती है, बहुत प्रकार से पोषित करती है, वह विशेषतः चमकती है।

विभ्राड् बृहत्सुभृतं वाजसातं धर्मन्दिवो धरुणे सत्यमर्पितम्।
अमित्रहा वृत्रहा दस्युहंतमं ज्योतिर्जज्ञे असुरहा सपत्नहा।।[497]

अर्थात् विशेषतः चमकने वाली (ऊर्जा रश्मि) आगे बढ़ी, दीप्तियों को धारण करते हुये भली प्रकार भरे हुये उत्पाद सुख वाले उदक में समाहित सत्ता के योग्य (ऊर्जा) में शत्रुसंहारक, आवरण नाशक, बलवान प्राणनाशक, प्रतिस्पर्धी की नाशक, उजाड़ने वाले की नाशक ज्योति को उत्पन्न किया।

सूक्तवाकं प्रथममादिदग्निमादिद्धविरजनयन्त देवाः।
स एषां यज्ञो अभवत्तनूपास्तं धोर्वेद तं पृथिवी तमापः।।[598]

अर्थात् दीप्तियों ने सबसे पहले कल्याणमान्य वाक् (ऊर्जा रश्मि) को

495. ऋग्वेद 10:189:1
496. ऋग्वेद 10:170:1
497. ऋग्वेद 10:170:2
498. ऋग्वेद 10:88:8

तब अग्नि को भी, तब उदक को भी उत्पन्न किया। इनकी वह प्रक्रिया शरीर को पालने वाली हुई उसके द्युलोक (रश्मि का आधार) उसको पृथिवी (अग्नि का आधार) उसको जल (जो पहले उत्पन्न किये गये बताये गये हैं) जानते हैं।

तं सिन्धवो मत्सरमिन्द्रपानमूर्मिं प्र हेत य उभे इयर्ति।
मदच्युतमौशानं नभोजां परित्रितन्तुं विचरन्तमुत्सम्।।[499]

अर्थात् नदियों (नाडियों) द्वारा उस सोम की लहर को आगे बढ़ाया जाता है जो इन्द्र द्वारा पान किये जाने वाला दोनों ओर (ऊपर और नीचे) जाता है। नदियां मद का नाश करने वाले, ज्ञान से युक्त होने वाले, आकाश में उत्पन्न होने वाले, तीनों प्रकार की नाडियों में विचरने वाले स्रोत को आगे बढ़ाती हैं।

स वेद सुष्टुतीनामिन्दुर्न पूषा वृषा।
अभिप्सुरः प्रुषायति व्रजं न आ प्रुषायति।।[500]

अर्थात् वह आत्मा कलयाण दीप्तियों मय से युक्त पोषणकर्ता उदक की वृष्टि के ढंग को जानता है अर्थात् नियन्त्रित करता है। वह जैसे मेघ को सर्वतः बरसाता है अर्थात् वैसे ही रूपों (अङ्गों या धातुओं) को प्रकट छिड़कता है।

एन्द्रो बर्हिः सीदतु पिन्वतामिळा बृहस्पतिः सोमभिर्ऋक्यो अर्चतु।
सुप्रकेतं जीवसे मन्म धीमहि तद्देवानाभवो अद्या वृणीमहे।।[501]

अर्थात् इन्द्र (मन) उदक में स्थित हो, वाक् (ऊर्जा) और प्रयत्नों के स्वामी (बृहस्पति) सींचे, ऊर्जाओं या प्रकाश का ज्ञाता (अग्नि) सोमों द्वारा प्रकाशित हो, जीने के लिये भली प्रकार आगे गतिवाली मन की स्थिति हम धारण करें। आज दीप्तियों (देवों) की वह रक्षा हम पूर्णतः वरण करते हैं।

---

499. ऋग्वेद 10:30:9
500. ऋग्वेद 10:26:3
501. ऋग्वेद 10:36:5

अपां पेरुं जीवधन्यं भरामहे देवाव्यं सुहवमध्वरश्रियम्।
सुरश्मिं सोममिन्द्रियं यमीमहि तद्देवानामवो अद्या वृणीमहे।।[502]

अर्थात् जीवनीय धन से युक्त, जलों को चलाने वाले, दीप्तियों से न व्यय होने वाले, अन्तरिक्ष की शोभा, कल्याण प्रारम्भ वाले (मन) को हम धारण करते हैं। कल्याण रश्मि से युक्तं शरीरिक बल उत्पन्न करने वाले सोम को हम बढ़ायें। आज दीप्तियों की वह रक्षा हम पूर्णतः वरण करते हैं।

सनेम तत्सुसनिता सनित्वभिर्वयं जीवा जीवपुत्रा अनागसः।
बह्मद्विषो विष्वगेनो भरेरत् तद्देवानामवो अद्या वृणीमहे।।[503]

अर्थात् हम जीवन में करने वाले पापरहित होकर पूर्णतः जियें। प्राप्तियों द्वारा उस कल्याण से प्राप्त हुये को पूर्णतः प्राप्त करें। उत्पाद से द्वेष रखने वाले सम्पूर्ण पापों को भोगें। आज दीप्तियों की वह रक्षा हम पूर्णतः वरण करते हैं।

यदुष औच्छः प्रथमा षिभानामजनयो येन पुष्टस्य पुष्टम्।
यत्ते जामित्वमवरं परस्या महन् महत्या असुरत्वमेकम्।।[504]

अर्थात् इन्द्र ने जो बढ़ी हुई पहले उषायें थी उनके द्वारा पोषितों में मजबूत ऊर्जाओं को उत्पन्न किया। जो इन्द्र की अश्रेष्ठ (अधोगामी) और श्रेष्ठ (ऊर्ध्वगामी) सम्बद्धता है उस में महानता (विकास) के द्वारा समीकृत प्राणवानता बढ़ाई।

वाज्यसि वाजिनेना सुवेनीः सुवितः स्तोम सुवितो दिवं गाः।
सुवितो धर्म प्रथमानु सत्या सुवितो देवान्त्सुवितोऽनु पत्म।।[505]

अर्थात् इन्द्र ऊर्जावान् हैं, वे भली प्रकार बहने वालों (प्राणों) स्तोमं को

502. ऋग्वेद 10:36:8
503. ऋग्वेद 10:36:9
504. ऋग्वेद 10:55:4
505. ऋग्वेद 10:56:3

लेकर ऊर्जा के द्वारा रश्मि को भली प्रकार आच्छादित करते हुये, दीप्ति को भली प्रकार व्याप्त करते हुये चलते हैं। हम भली प्रकार पहले धर्म को (धारण शक्ति को) व्याप्त करते हुये, फिर भली प्रकार व्याप्त करते हुये सत्ता के योग्य होकर, फिर भली प्रकार आच्छादित हुई दीप्तियों को प्राप्त करें।

यो यज्ञस्य प्रसाधनस्तन्तुर्देवेष्वाततः।
तमाहुतं नशीमहि।।[506]

अर्थात् जो दीप्तियों में पूर्णतः फैला हुआ प्रक्रिया का प्रसाधन तन्तु अर्थात् प्रकृष्ट व्यवस्था का तानाबाना है, उसे सर्वथा प्रारम्भ करते हुये हमें प्राप्त करना चाहिये।

आ त एतु मनः पुनः क्रत्वे दक्षाय जीवसे।
ज्योक् च सूर्यं दृशे।।[507]

अर्थात् वह मन जीवन के हेतु दिक्षणायन कर्म के लिये और सूर्य (आत्मा) की उज्ज्वलता को (या सूर्य को दीर्घकाल तक) देखने के लिये फिर से आये।

पुनर्नः पितरो मनो ददातु दैव्यो जनः।
जीवं व्रातं सचेमहि।।[508]

अर्थात् विस्तार करने वाले पितृगण हमें फिर से मन को प्रदान करें जिससे जीवनीय समूह को हम दीप्तिमान् आत्मा से जोड़े।

वयं सोम व्रते तव मनस्तनूषु बिभ्रतः।
प्रजावन्तः सचेमहि।।[509]

506. ऋग्वेद 10:57:2
507. ऋग्वेद 10:57:4
508. ऋग्वेद 10:57:5
509. ऋग्वेद 10:57:6

अर्थात् हम लोग सोम के नियम में आगे उत्पत्ति से युक्त होकर मन को शरीरों में रखते हुये जोड़े।

यत्ते यमं वैवस्वतं मनो जगाम दूरकम्।
तत्त आ वर्तयामसीह क्षयाय जीवसे।।[510]

अर्थात् जो आपका मन दूरस्थित विस्तारक सूर्य के अंश को प्राप्त करता है, वह आप अग्नि जीवन के ऐश्वर्य या गति के लिये यहाँ (इस लोक में) वर्तिका (लव) में सर्वथा वर्तमान है।

यत्ते दिवं यत्पृथिवीं मनो जगाम दूरकम्। ध्रुव.।।[511]

अर्थात् जो आपका मन दूरस्थित आकाश को (और) जो पृथिवी को प्राप्त करता है, ध्रुव.

यात्ते भूंमिं चतुर्भृष्टिं मनो जगाम दूरकम्।ध्रुव.।।[512]

अर्थात् जो आपका मन दूरस्थित चौतरफा उजड़ी स्थिति वाले शरीर (भूमि) को प्राप्त करता है, ध्रुव.

यत्ते चतस्रः प्रदिशो मनोजगाम दूरकम्।ध्रुव.[513]

अर्थात् जो आपका मन दूरस्थित चारों दिशाओं को प्राप्त करता है, ध्रुव.

यत्ते समुद्रमर्षवं मनो जगाम दूरकम्।ध्रुव.।।[514]

---

510. ऋग्वेद 10:58:1
511. ऋग्वेद 10:58:2
512. ऋग्वेद 10:58:3
513. ऋग्वेद 10:58:4
514. ऋग्वेद 10:58:5

अर्थात् जो आपका मन दूरस्थित अन्तरिक्ष समुद्र को प्राप्त करता है, ध्रुव.

यत्ते मरीचीः प्रवतो मनो जगाम दूरकम् ।ध्रुव.।।[515]

अर्थात् जो आपका मन दूरस्थित आगे बहने वाली सूर्यरश्मियों को प्राप्त करता है, ध्रुव.

यत्ते अपो यदोषधीर्मनो जगाम दूरकम् ।ध्रुव.।।[516]

अर्थात् जो आपका मन दूरस्थित जलों को (और) जो वनस्पतिओं को प्राप्त करता है, ध्रुव.

यत्ते सूर्यं यदुषसं मनो जगाम दूरकम् ।ध्रुव.।।[517]

अर्थात् जो आपका मन दूरस्थित सूर्य को (और) जो उषा को प्राप्त करता है, ध्रुव.

यत्ते पर्वतान्बृहतो मनो जगाम दूरकम् ।ध्रुव.[518]

अर्थात् जो आपका मन दूरस्थित बढ़े हुये पर्वयुक्त स्थलों को प्राप्त करता है, ध्रुव.

यत्ते विश्वमिदं जगन्मनो जगाम दूरकम्। ध्रुव.।।[519]

अर्थात् जो आपका मन दूरस्थित इस चलने वाले विश्व को प्राप्त करता है, ध्रुव.

---

515. ऋग्वेद 10:58:6
516. ऋग्वेद 10:58:7
517. ऋग्वेद 10:58:8
518. ऋग्वेद 10:58:9
519. ऋग्वेद 10:58:10

यत्ते परा परावतो मनो जगाम दूरकम् ।ध्रुव.।।[520]

अर्थात् जो आपका मन दूरस्थित विस्तार से फैलते हुये या शक्ति सम्पन्न श्रेष्ठ पुरुषों को प्राप्त करता है, ध्रुव.

यत्ते भूतं च भव्यं च मनो जगाम दूरकम्। ध्रुव.।।[521]

अर्थात् जो आपका मन दूरस्थित हो चुके को और हाने वाले को प्राप्त करता है, ध्रुव. (उपर्युक्त मन्त्रद्वय की तुलना ऋ. 10:90:2 से करें)

प्र नूनं जातवेदसमश्वं हिनोत वाजिनम्।
इदं नो बर्हिरासदे ।।[522]

अर्थात् अब उत्पाद के ज्ञाता शक्तिवान् ऊर्जा को हमारे इस अन्तरिक्ष में आकर बैठने के लिये आगे प्रेरित करें।

अस्य प्र जातवेदसो वि प्रवीरस्य मीळ्हुषः।
महीभियर्मि सुष्दुतिम् ।।[523]

अर्थात् इस विशेष आगे जाने वालों (पुरोहितों में वीर पहले उत्पाद के ज्ञाता (अग्नि) के उत्पादों की उत्तमता से युक्त शरीर को मैं प्राप्त करता हूँ।

या रुचो जातवेदसो देवत्रा हव्यवाहिनीः।
ताभिर्नो यज्ञभिन्वतु ।।[524]

अर्थात् उत्पाद के ज्ञाता (अग्नि) की जो हव्य को ले जाने वाली किरणे

---

520. ऋग्वेद 10:58:11
521. ऋग्वेद 10:58:12
522. ऋग्वेद 10:188:1
523. ऋग्वेद 10:188:2
524. ऋग्वेद 10:188:3

दीप्ति में संयुक्त हैं, उनके द्वारा हमारी प्रक्रिया को प्राप्त करें।

प्रथश्च यस्य सप्रथश्च नामानुष्टुमस्य हविषो हविर्यत्।
धातुर्द्युतानात्सवितुश्च विष्णो रथन्तरमा जभारा वसिष्ठः।।[525]

अर्थात् विकसित और विकासशील जिस अनुसरणीय ऊर्जा रूप उदक का जो 'हवि' नाम है, उस परिणामी धातु ने चमकने के लिये प्रेरित करने वाले (सविता) और सक्रिय करने वाले (विष्णु) के सर्वथा गति से पार करने वाले (प्राण) को सब ओर से धारण किया।

अविन्दन्ते अतिहितं यदासीद्यज्ञस्य धाम परमं गुहा यत्।
धातुर्द्युतानात्सवितुश्च विष्णोर्भरद्वाजो वृहदा चक्रे अग्निः।।[526]

अर्थात् उन जलों ने जिस प्रकृष्ट धारण की हुई मानस गुहा को प्राप्त किया जो प्रक्रिया का सर्वोत्कृष्ट आधार थी। धातु ने प्रदीप्त होने के लिये उत्पन्न करने वाले (सविता) और व्याप्त करने वाले (विष्णु) की अग्नि से प्राप्त विस्तृत ऊर्जा को धारण करते हुये सर्वथा बनाया।

तेऽविन्दन्मनसा दीध्याना यजुःष्कन्नं प्रथमं देवयानम्।
धातुर्द्युतानात्सवितुश्च विष्णोरा सूर्यादभरन्घर्ममेते।।[527]

अर्थात् उन जलों ने मन के द्वारा प्रकट होते हुये अन्तरिक्ष को ऊपर उठाने वाले विशाल देवयान उत्तरायण को प्राप्त किया। इन धातुओं ने प्रदीप्त होने के लिये निचोड़ने वाले (सविता) और वर्षा करने वाले (विष्णु) के सूर्य से प्राप्त ताप को धारण किया।

ईङ्खयन्तीरपस्युव इन्द्रं जातमुपासते।
भेजानासः सुवीर्यम्।।[528]

525. ऋग्वेद 10:181:1
526. ऋग्वेद 10:181:2
527. ऋग्वेद 10:181:3
528. ऋग्वेद 10:153:1

अर्थात् जलों में झुकती हुई और कल्याणकारी पराक्रम को बांटती हुई, रश्मियाँ उत्पन्न होते ही जवान होने वाले इन्द्र (मन) के समीप स्थित होती हैं।

त्वमिन्द्र बलादधि सहसो जात ओजसः।
त्वं वृषान्वृषेदसि।।[529]

अर्थात् इन्द्र (मन) ओजस् की दीप्ति के बल से उत्पन्न हुये हैं, बलवान् इन्द्र वर्षा भी हैं।

त्वमिन्द्र सजोषसमर्कं विभर्षि वाह्वोः।
वज्रं शिशानं ओजसा।।[530]

अर्थात् इन्द्र (मन) दोनों बाहुओं अर्थात् दक्षिणायन-उत्तरायण पक्षों में उपभोग किये जाने वाली दीप्ति को ओजस् के द्वारा पैना करते हुये विद्युत को धारण करते हैं।

अयं हि ते अमर्त्य इन्दुरत्यो न पत्यते।
दक्षो विश्वायुर्वेधसे।।[531]

अर्थात् समस्त जीवनों को जानने वाले इन्द्र (मन) के लिये निश्चय यह अति अमर्त्य उदक कर्मशील वायु की भांति नीचे उतरता या उड़ता है।

धृषुः श्येनाय कृत्वन आसुस्वासु वंसगः।
अव दीधेदहीशुवः।।[532]

अर्थात् साहसी (इन्द्र) ने रश्मि के लिये इन्द्र स्वप्राण ऊर्जाओं (वाक) को बनाया तथा ऊर्जा के विस्तारकों ने इसे नीचे (की ओर) रखा।

529. ऋग्वेद 10:153:2
530. ऋग्वेद 10:153:4
531. ऋग्वेद 10:144:1
532. ऋग्वेद 10:144:3

यं सुपर्णः परावतः श्येनस्य पुत्र आभरत्।
शतचक्रं योऽह्यो वर्तनिः।।[533]

अर्थात् रश्मि का गमन करने वाला सुन्दर डैनों वाला सूर्य (आत्मा) जिसको विस्तार से फैलाता है या ऊर्ध्व से फैलाता है, वह सतत मार्ग शतचक्र रथ या शतनाडीचक्र को धारण करता है।

यं ते श्येनश्चारुमवृकं पदाभरदरुणं मानमन्धसः।
एना वयो वि तार्याजुर्जीवस एना जागार बन्धुता।।[534]

अर्थात् आपकी रश्मि ने जिस सुन्दर, न काटने वाला, स्वर्णिम, प्रतिष्ठापूर्ण स्थान उदक से भरा है, इससे जीने के लिये जवानी से युक्त आयु विशेष रूप से पार की है, इस प्रकार बन्धन को भलीभांति जाना है।

एवातदिन्द्र इन्दुना देवेषुचिद्धारयाते महि त्यजः।
क्रत्वा वयो वि तार्यायुः सुक्रतो क्रत्वायमस्मदा सुतः।।[535]

अर्थात् इस प्रकार उस इन्द्र ने सोम के द्वारा देवों (दीप्तियों) में भी महान् प्राणों को धारण करवाया। कर्म के द्वारा कल्याणरूप से बनाई गई जवानी ने आयु को विशेषतः पार किया। कर्म के द्वारा हमारा यह सोम सर्वथा निचोड़ा गया है।

सप्तापो देवीः सुरणा अमृक्ता याभिः सिन्धुमतर इन्द्र पूर्भित।
नवतिं स्रोत्या नव च स्रुवन्तीर्देवेभ्यो गातुं मनुषे च विन्दः।।[536]

अर्थात् पवित्र अंश इन्द्र ने सात सुरमणीया अक्षता जलदेवियों के द्वारा अन्तरिक्ष को पार किया है, निन्यानवे बहती हुई नाडियाँ (स्रोतस्) हैं। इन्द्र ने दिव्य स्थितियों और मानुषी स्थितियों अर्थात् पार्थिव और ऊर्जित अङ्गावयवों के लिये शरीर को प्राप्त किया।

---

533. ऋग्वेद 10:144:4
534. ऋग्वेद 10:144:5
535. ऋग्वेद 10:144:6
536. ऋग्वेद 10:104:8

अपो महीरभिशस्तेरमुञ्चोऽजागरास्वधि देव एकः।
इन्द्र यास्त्वं वृत्रतूर्ये चकर्थ ताभिर्विश्वायुस्तन्वं पुपुष्याः।।[337]

अर्थात् इन्द्र ने महान् जलों को सम्मुख वाक् (प्रकट ऊर्जा) द्वारा छुड़ाया (बहाया), इन जलों में अधिक दीप्तिमान् मन रूप से इन्द्र जागे। जिन शीघ्र चलने वाली (जलों) के लिये इन्द्र ने मेघ को बनाया, उनके द्वारा पूर्ण आयु युक्त शरीर को पुष्ट करें।

कदा वसो स्तोत्रं हर्यत आव श्मशा रुधद्वाः।
दीर्घं सुतं वाताप्याय।।[338]

अर्थात् वायु से भरे हुये होने के कारण सम्पूर्ण धमनी-शिराओं में रुके हुये व्याप्त होने वाले निचोड़े हुये जलों को वसुओं की ऊर्जा को कब इन्द्र नीचे चलायेंगे ?

हरी यस्य सुयुजा विव्रता वेरर्वन्तानु शेपा।
उभा रजी न केशिना पतिर्दन्।।[339]

अर्थात् जिसके विशेष नियम वाले कल्याण से जुड़े हुये दो घोड़े (अश्विनी कुमार) सोने वाले वृत्र की हिंसा करते हुये फिर उपभोग करते हैं, (वह इन्द्र) उन दोनों संचालकों को सूर्य के तुल्य पति दिया करता है।

पूर्वापरं चरतो माययैतौ शिशू क्रीळन्तौ परियातो अध्वरम्।
विश्वान्यन्यो भुवनाभिचष्ट ऋतूँरन्यो विदधज्जायते पुनः।।[340]

अर्थात् निर्माण करने वाली ऊर्जा के लिये वे दो कर्मशील प्रेरणादायक रश्मिपुञ्ज (अश्विनी कुमार) पहले नीचे चलते हैं, फिर अन्तरिक्ष में सब ओर जाते हैं। उनमें से एक समस्त उत्पादस्थानों को देखता है, और दूसरा ऋत

537. ऋग्वेद 10:104:9
538. ऋग्वेद 10:105:1
539. ऋग्वेद 10:105:2
540. ऋग्वेद 10:85:18

के नियमों को विशेष धारण करता हुआ बार-बार उत्पन्न होता है। (इस मन्त्र की तुलना ऋग्वेद 1:164:20 'द्वा सुपर्णा सयुजासखाया. से करें)

नवो-नवो भवति जायमानोऽह्नां केतुरुषसामेत्यग्रम्।
भागं देवेभ्यो वि दधात्यायन्प्र चन्द्रमास्तिरते दीर्घमायुः।।[541]

अर्थात् (शुक्ल पक्ष में) सोम उत्पन्न होकर नित्य नया होता है। (कृष्ण पक्ष में) ऊर्जा रश्मियों की दीप्ति को आगे बढ़ाता है। आगे आती हुई दीप्तियों के लिये उनके अंशों को विशेषतः पोषित करता है, (जिससे) आयु दीर्घता को पार कर लेती है।

सानो अद्य यस्या वयं नि ते यामन्नविक्ष्महि।
वृक्षे न वसतिं वयः।[542]

अर्थात् जैसे वृक्ष पर रात्रि या आवास को पक्षी प्राप्त करता है वैसे ही आज हम लोगों ने अपनी उस ऊर्जा में (रात्रि में) जिसके वे दक्षिणायन-उत्तरायण रूप दो मार्ग हैं निश्चय ही प्रवेश किया है।

नि ग्रामासो अविक्षत नि पद्वन्तो नि पक्षिणः।
नि श्येनासश्चिदर्थिनः।।[543]

अर्थात् निश्चय ही समूहों ने (जैसे, मरुद्गण, बसुगण, आदित्यगण, निश्चय ही पदों से युक्तों ने (जैसे अधिभूत, अधिदेव, अध्यात्म) निश्चय ही पक्ष वालों ने (जैसे शुक्लपक्ष-कृष्णपक्ष, दक्षिणायन-उत्तरायण) निश्चय ही रश्मियों ने, कामना वालों (जैसे रसादि धातुओं) ने भी प्रवेश किया।

या देवेषु तन्वमैरयन्त यासां सोमो विश्वारूपाणि वेद।
ता अस्मभ्यं पयसा पिन्वमानाः प्रजावतीरिन्द्र गोष्ठे रिरीहि।।[544]

541. ऋग्वेद 10:85:19
542. ऋग्वेद 10:127:4
543. ऋग्वेद 10:127:5
544. ऋग्वेद 10:169:3

अर्थात् जिन गतिमान ऊर्जा रश्मियों ने शरीर को दीप्तियों में प्रेरित किया, सोम उनके समस्त रूपों को जानता है। इन्द्र (मन) उन उत्पादों से युक्ताओं को हमारे लिये जलों से बलवान करते हुये ऊर्जास्थान में दें।

प्रजापतिर्मह्यमेता रराणो विश्वेदेवैः पितृभिः संविदानः।
शिवाः सतीरुप नो गोष्ठमाकस्तासां वयं प्रजया सं सदेम।।[545]

अर्थात् उत्पादों के स्वामी ने इन कल्याणी सत्तावाली (गतिमान ऊर्जाओं) को समस्त दीप्तियों द्वारा तथा विस्तारकों द्वारा सम्यक् प्राप्त करते हुये, मेरे लिये देते हुये, हमारे ऊर्जास्थान में घुमाया। उनके उत्पाद से हम लोग सम्यक् स्थित हों।

महि त्रीणामवोऽस्तु द्युक्षं मित्रस्यार्यम्णः।
दुराधर्षं वरुणस्य।।[546]

अर्थात् निर्माण करने वाले (मित्र) की दीप्तिमानता, श्रेष्ठ या गतिमान को मापने वाले (अर्यमा) की महानता (विस्तार), तथा चुनने वाले या व्याप्त करने वाले (वरुण) की दुरतिक्रमता रूप तीनों की सहायता वर्तमान रहे।

यस्मै पुत्रासो अदितेः प्र जीवसे मर्त्याय।
ज्योतिर्यच्छन्त्यजस्रम्।।[547]

अर्थात् स्थिर ऊर्जा (अदिति) के गमनशील पुत्र (आदित्यगण) आगे इन मर्त्यों के जीवन के लिये सतत ज्योति को विस्तारित करते हैं।

वात आ वातु भेषजं शम्भु मयोभु नो हृदे।
प्र ण आयूँषि तारिषत्।।[548]

---

545. ऋग्वेद 10:169:4
548. ऋग्वेद 10:185:1
547. ऋग्वेद 10:185:3
548. ऋग्वेद 10:186:1

अर्थात् वात हमारे हृदय के लिये कल्याण रश्मियों से युक्त उदक को सब ओर बहाये, फिर हमारी आयुओं को पार करे।

उत वात पितासि न उत भ्रातोत नः सखा।
स नो जीवातवे कृधि।।[549]

अर्थात् वात हमारे विस्तारकर्त्ता (पिता) और प्रकाशित करने वाले (भ्राता), और हमारे समान परिवेश वाले (सखा) हैं, और वह हमको जीवन के सतत चलने के लिये बनायें।

यददो वात ते गृहेऽमृतस्य निधिर्हितः।
ततो नो देहि जीवसे।।[550]

अर्थात् वात की पकड़ में जो उदक की उपभोग की जाने वाली सम्पत्ति (उत्पाद) रखी हुई है उसको जीवन के लिये हमको प्रदान करें।

ये यज्ञेन दक्षिणया समक्ता इन्द्रस्य सख्यममृतत्वमानश।
तेभ्यो भद्रमङ्गिरसो वो अस्तु प्रति गृभ्णीत मानवं सुमेधसः।।[551]

अर्थात् जिन्होंने दक्षिायन कर्म मार्ग के द्वारा प्रक्रिया से सम्यक् जुड़कर इन्द्र (मन की मित्रता (समान परिवेश) और अमरता को प्राप्त किया है, उनके द्वारा अङ्गों के रसों (जलों) का कल्याण होता है। वे कल्याण बुद्धि से युक्त (जल) फिर मानवीय स्थितियों को पकड़ें।

य उदाजन्पितरो गोमयं वस्वृतेनाभिन्दन्परिवत्सरे बलम्।
दीर्घायुत्वमङ्गिरसो वो अस्तु प्रति गृभ्णीत मानवं सुमेधसः।।[552]

अर्थात् जो विस्तारक ऊर्ध्व में ऊर्जायुक्त उत्पाद को पूर्णतः उत्पन्न

549. ऋग्वेद 10:186:2
550. ऋग्वेद 10:186:3
551. ऋग्वेद 10:62:1
552. ऋग्वेद 10:62:2

करते हैं तथा उदक से संवत्सर के चारों ओर स्थित बल को फाड़ते है (उनके द्वारा) अङ्गों के रसों (जलों) को लम्बी आयु प्राप्त हो। ध्रुव.

अयं नाभा वदति वल्गु वो गृहे देवपुत्रा ऋषयस्तच्छृणोतन।
सुब्रह्मण्यमङ्गिरसो वो अस्तु प्रति गृभ्णीत मानवं सुमेधसः।।[553]

अर्थात् यह नाभिरूप वाक् जलों के घर में बोलती है, उसको दीप्तियों की गमन करने वाली रश्मियाँ सुने। जलों को सुन्दर उत्पादकता प्राप्त हो। कल्याण बुद्धि वाले जल मानवीय स्थितियों को लौटकर पकड़े।

विरूपासः इदृषयस्त इद् गम्भीरवेपसः।
ते अङ्गिरसः सूनवस्ते अग्नेः परि जज्ञिरे।।[554]

अर्थात् वे अनेक रूपों वाली भी गम्भीर कर्मों वाली भी रश्मियाँ हैं वे जलों से उत्पन्न हुयी हैं, चारों ओर वे अग्नि से उत्पन्न हुयी हैं।

ये अग्ने परि जज्ञिरे विरूपासो दिवस्परि।
नवग्वो नु दशग्वो अङ्गिरस्तमः सचा देवेषु मंहते।।[555]

अर्थात् जो अनेक रूपों वाली (रश्मियाँ) दीप्तियों के चारों ओर अग्नि से सर्वतः उत्पन्न हुई उनसे दीप्तियों से जुड़ी हुई नौ गतियों वाले तथा अब दसवीं गति वाला सर्वश्रेष्ठ अङ्गों का रस (ओजस्, जल) महान् विस्तृत होता है।

इन्द्रेण युजा निः सृजन्त वाघतो व्रजं गोमन्तमश्विनम्।
सहस्रे में ददतः अष्टकर्ण्यः श्रवो देवेष्वक्रत।।[556]

अर्थात् वह वाक् से स्पर्शित या ग्रस्त प्राण इन्द्र (मन) से जुड़कर

---

553. ऋग्वेद 10:62:3
554. ऋग्वेद 10:62:5
555. ऋग्वेद 10:62:6
556. ऋग्वेद 10:62:7

ऊर्जायुक्त रश्मि वाले मार्ग को निश्चित रूप से रचता हुआ सहस्र नाडियों वाले स्थान में मेरे लिये देता हुआ दीप्तियों में आठ प्रकार से बनने वाले उत्पादों को बनाता है।

प्र नूनं जायतामयं मनुस्तोक्मेव रोहतु।
यः सहस्रं शताश्वं सद्यो दानाय मंहते।।[557]

अर्थात् जो सहस्रों नाडीस्थानों में सैकड़ों किरणों के तुरन्त दान के लिये महान (विस्तृत) होता है, वह मन शीघ्र ही प्रकृष्टतः उत्पन्न होता हुआ अंकुर की भाँति ऊपर बढ़े।

न तमश्नोति कश्चन दिव इव सान्वारभम्।
सावर्ण्यस्य दक्षिणा वि सिन्धुरिव पप्रथे।।[558]

अर्थात् कोई भी उस सूर्य के जन्म को आकाश की भांति प्राप्त नहीं कर सकता। उसके समरुप आदित्य का दक्षिणायन कर्म मार्ग में नदी की भांति विस्तार होता है।

उत दासा परिविषे स्मछिष्टी गोपरीणसा।
यदुस्तुर्वश्च मामहे।।[559]

अर्थात् चारों आरे सक्रिय होने के लिये और किरणों से संकेतित क्षिप्र और प्रयत्नशील देने वाले (दातागण) ऊर्जा के रुपान्तरण द्वारा विस्तृत (बड़े) हुये।

सहस्रदा ग्रामणीर्मा रिषन्मनुः सूर्येणास्य यतमानैतु दक्षिणा।
सावर्णे देवाः प्र तिरन्त्वायुर्यस्मिन्नश्रान्ता असनाम वाजम्।।[560]

---

557. ऋग्वेद 10:62:8
558. ऋग्वेद 10:62:9
559. ऋग्वेद 10:62:10
560. ऋग्वेद 10:62:11

अर्थात् मन ने सहस्रनाडियो युक्त स्थान को देने वाले समूह वालों (आदित्यगण, मरुद्गण, वसुगण, ऋभुगण आदि) को सूर्य (रश्मियों) द्वारा हानि नहीं पहुँचायी, इसकी प्रयत्नशील दक्षिणायन कर्ममार्ग वाली शक्ति जाये अर्थात् चले। न थकी हुई दीप्तियों ने जिसमें उत्पाद को प्राप्त किया वे अपने समानरुप वालों द्वारा आयु को जीत लें।

इस प्रकार हम देखते है कि ऋग्वेद दशम मण्डल में ऊर्जा के जैविक कार्य (शक्ति, रश्मि, दीप्ति और प्रकाश के रूप में), मन-इन्द्र के जैविक कार्य, सोम के जैविक कार्य, अग्नि के जैविक कार्य, आदित्यगणों और अश्विनी कुमारों के जैविक कार्य, प्राण और वायु (वात) के जैविक कार्य, तथा सम्मिलित रूप से इन सब के जैविक कार्य नाडियों-स्रोतसो, इन्द्रिय-अङ्गावयवों, तथा धातु निर्माणक स्थितियों के माध्यम से सम्पन्न किये जाते हैं। सैधान्तिक स्थित यह बनती है कि द्युलोक से महान् गमनशील प्राण ऊर्जा रश्मि को प्रेरित करता है जो पुरुष के भीतर चलती है। वह वाक् से स्पर्शित प्राण मन से जुड़कर ऊर्जायुक्त रश्मि वाले मार्ग को निश्चित रूप से रचता हुआ सहस्र नाडियों वाले शरीरस्थान में पुरुष को देता हुआ दीप्तियों में आठ प्रकार से बनने वाले उत्पादों को बनाता है। यह जाने वाली सूर्य रश्मि सब ओर डग भरती है, यह शरीर को निर्माण करने वाली में बैठी और आत्मा के विस्तार करने वाले में गई। वह प्राण से वेगवती होकर आत्मा से आगे के उत्पादों (प्रजा) की प्रत्यक्ष रक्षा करती है और बहुत प्रकार से पोषित करती है। वह आत्मा कल्याणमय दीप्तियों से युक्त पोषणकर्ता उदक की वृष्टि के ढंग को जानता है अर्थात् नियंत्रित करता है। वह जैसे मेघ को सर्वतः बरसाता है वैसे ही रूपों (अङ्गों या धातुओं) को प्रकट छिड़कता है। नदियों (नाडियों) द्वारा उस उदक की लहर को आगे बढ़ाया जाता है जो इन्द्र द्वारा पान किया जाने वाला दोनो ओर (ऊपर और नीचे) जाता है। नदियाँ मद का नाश करने वाले, ज्ञान से युक्त होने वाले, आकाश में उत्पन्न होने वाले, तीनों प्रकार की नाडियों (क्षर, अक्षर, और शीर्ष) में विचरने वाले स्रोत को आगे बढ़ाती हैं। वह विशेषतः चमकने वाली ऊर्जारश्मि आगे बढ़ी, उसने दीप्तियों को धारण करते हुये भली प्रकार भरे हुये उत्पाद-सुख वाले उदक में समाहित सत्ता के योग्य ऊर्जा में शत्रुसंहारक, आवरण नाशक, बलवान-प्राण नाशक, प्रतिस्पर्धी की नाशक, उजाड़ने वाले की नाशक जयोति को उत्पन्न किया। दीप्तियों ने सबसे पहले कल्याणमान्य वाक् (ऊर्जा-रश्मि) को, तब

अग्नि को भी, तब उदक को भी उत्पन्न किया। इनकी वह प्रक्रिया शरीर को पालने वाली हुई। पुरुषों ने उस ऊर्जा में जिसके दक्षिणायन-उत्तरायण रूप दो मार्ग है निश्चय ही वृक्ष पर रात्रि में पक्षी की भांति प्रवेश किया। निश्चय ही समूहों ने (जैसे मरुद्गण, वसुगण, आदित्यगण, ऋभुगण आदि), निश्चय ही पदों से युक्तों ने (जैसे अधिदेव, अधिभूत, अध्यात्म आदि), निश्चय ही पक्षवालों ने (जैसे कृष्ण-शुक्ल, दक्षिणायन-उत्तरायण, पितृयान-देवयान आदि), निश्चय ही रश्मियों ने, कामना वालों (जैसे रसादि धातुओं, ओजस्-उदक,ज्ञान-बुद्धि आदि) ने भी प्रवेश किया। जिन गतिमान ऊर्जा रश्मियों ने, शरीर को दीप्तियों में प्रेरित किया वे उदक से नियंत्रित होती है, मन उन उत्पादों से युक्ताओं की पुरुष के लिये जलों से बलवान करते हुये ऊर्जास्थान में देते हैं। उत्पादों का स्वामी (पूजापति) इन कल्याणी सत्तावाली गतिमान ऊर्जाओं को समस्त दीप्तियों द्वारा तथा विस्तारकों द्वारा सम्यक् प्राप्त करते हुये, पुरुष को देते हुये उसे पुरुष के ऊर्जास्थान में घुमाते हैं। मन ने रश्मि के लिये इन स्वप्राण ऊर्जाओं को बनाया तथा ऊर्जा के विस्तारकों ने उसे नीचे की ओर रखा। रश्मि का गमन करने वाला सुन्दर पंखों वाला आत्मा इसे ऊर्ध्व से फैलाता है, वह सतत मार्ग शतनाडीचक्र को धारण करता है। रश्मि जिस सुन्दर, न काटने वाला, स्वर्णिम, प्रतिष्ठापूर्ण स्थान को उदक से भरती है, इससे जीने के लिये जवानी से युक्त आयु विशेषरूप से पार की जाती है। वे रश्मियाँ अनेक रूपों वाली तथा गम्भीर कर्मों वाली हैं, वे जलों से उत्पन्न हुई हैं। चारों ओर वे अग्नि से उत्पन्न होती हैं। जो अनेक रूपों वाली रश्मियाँ दीप्तियों के चारों ओर अग्नि से सर्वतः उत्पन्न हुईं, उनसे दीप्तियों में जुड़ी हुई नौ गतियों वाले तथा अब दसवीं गतिवाला सर्वश्रेष्ठ अङ्गों का रस (ओजस् या उदक) विस्तृत होता है। चारों ओर सक्रिय होने के लिये और किरणों से संकेतित क्षिप्र और प्रयत्नशील दातागण ऊर्जा के रूपान्तरण द्वारा विस्तृत हुये।

कोई भी उस सूर्य के जन्म को आकाश की भाँति प्राप्त नहीं कर सकता। उसके समरूप आदित्य का दक्षिणायन कर्ममार्ग में नदी की भाँति विस्तार होता है। स्थिर ऊर्जा (अदिति) के गमनशील पुत्र (आदित्यगण) आगे इन मर्त्यों के जीवन के लिये सतत ज्योति को विस्तारित करते हैं। निर्माण करने वाले (मित्र) की दीप्तिमानता, श्रेष्ठ या गतिमान को मापने वाले (अर्यमा) की महानता (विस्तार), तथा चुनने वाले या व्याप्त करने वाले

(वरुण) की दुरतिक्रमता रूप तीनों की सहायता पुरुष के लिये वर्तमान रहती है। इन्द्र के विशेष के लिये वर्तमान रहती है। इन्द्र के विशेष नियम वाले, कल्याण से जुड़े हुये दो घोड़े (अश्विनी कुमार) सोने वाले वृत्र की हिंसा करते हुये फिर उपभोग करते हैं। वह इन्द्र उन दोनों संचालकों को सूर्य के तुल्य पति दिया करता है। निर्माण करने वाली (माया) ऊर्जा के लिये वे दो कर्मशील प्रेरणादायक रश्मिपुञ्ज (अश्विनी कुमार) पहले नीचे चलते हैं, फिर अन्तरिक्ष में सब ओर जाते हैं। उनमें से एक समस्त उत्पादस्थानों को देखता है, और दूसरा ऋत के नियमों को विशेष धारण करता हुआ बार-बार उत्पन्न होता है।

इन्द्र अर्थात् मन ऊर्जावान् है वे भली प्रकार बहने वाले प्रणों को लेकर ऊर्जा के द्वारा रश्मि को भली प्रकार आच्छादित करते हुये, दीप्ति को भली प्रकार व्याप्त करते हुये चलते हैं। मन में सहस्रनाडियों युक्त स्थान को देने वाले समूह वालों (आदित्यगण, मरुद्ण, ऋभुगण, वसुगण आदि) को सूर्य-रश्मियों द्वारा हानि नहीं पहुँचाई। इसकी प्रयत्नशील दक्षिणायन कर्म मार्ग वाली शक्ति चलती रहती है। न थकी हुई दीप्तियों ने जिसमें उत्पाद को प्राप्त किया वे अपने समान रूप वालों द्वारा आयु को जीत लेते हैं। जो सहस्रों नीडीस्थानों में सैकड़ों किरणों के तुरन्त दान के लिये विस्तृत होता है वह मन शीघ्र ही प्रकृष्टतः उत्पन्न होता हुआ अंकुर की भाँति ऊपर बढ़ता है। दीप्तियों में पूर्णतः फैला हुआ प्रक्रिया का प्रसाधन तन्तु सर्वथा प्रारम्भ करते हुये पुरुष प्राप्त करता है। पुरुष भली प्रकार पहले धर्म को (धारण शक्ति को) व्याप्त करते हुये, फिर भली प्रकार सत्ता के योग्य होकर, फिर भली प्रकार आच्छादित हुई दीप्तियों को प्राप्त करता है।

पुरुष जीवन के लिये भली प्रकार आगे गतिवाली मन की स्थिति धारण करता है। जीवनीय धन से युक्त, जलों को चलाने वाले, दीप्तियों से व्यय न होने वाले, अन्तरिक्ष की शोभा, कल्याण प्रारम्भ वाले मन को पुरुष धारण करता है। कल्याण रश्मि से युक्त शारीरिक बल उत्पन्न करने वाले सोम को (उदक को) पुरुष बढ़ाता है। मन उदक में स्थित होता है। पुरुष सोम के नियम में आगे उत्पत्ति से युक्त होकर मन को शरीरों में रखते हुये जोड़ता है। ऊर्जा (वाक्) और प्रयत्नों का स्वामी (बृहस्पति) इनको सींचते हैं। ऊर्जाओं का ज्ञाता अग्नि सोमों द्वारा प्रकाशित होता है। विस्तार करने वाले (पितर) पुरुष को बार-बार मन को प्रदान करते हैं जिससे वह जीवनीय

समूह को दीप्तिमान आत्मा से जोड़ता है। मन जीवन के हेतु दक्षिणायन कर्म के लिये और आत्मा (सूर्य) की उज्जवलता को देखने के लिये बार-बार आता है।

मन उदक की दीप्ति के बल से उत्पन्न हुआ है। जलों में अधिक दीप्तिमान मन जागा, उसने महान जलों को सम्मुख वाक् (प्रकट ऊर्जा) द्वारा बहाया, इन शीघ्र चलने वाली, जलों के लिये मेघ को बनाया, उनके द्वारा पूर्ण आयु युक्त शरीर की पुष्ट करते हैं। जलों में झुकती हुई और कल्याणकारी पराक्रम को बाटती हुई रश्मियाँ, उत्पन्न होते ही जवान होने वाले इन्द्र (मन) के समीप स्थित होती हैं। वह बढ़ी हुई पहली उषाओं के द्वारा पोषितों में मजबूत ऊर्जाओं को उत्पन्न करता है। वह अपनी अधोगामी और ऊर्ध्वगामी सम्बद्धताओं में विकास के द्वारा समीकृत प्राणवानता बढ़ाता है। इन्द्र (मन) दोनों बाहुओं अर्थात् दक्षिणायन-उत्तरायण पक्षों में उपभोग की जाने वाली दीप्ति को उदक के द्वारा पैना करते हुये विद्युत (ऊर्जा) को धारण करते हैं। जिन्होंने दक्षिणायन कर्म मार्ग के द्वारा प्रक्रिया से सम्यक् जुड़कर मन के समान परिवेश और अमृत्व को प्राप्त किया है उनके द्वारा अङ्गों के रसो (उदक) का कल्याण होता है, वे कल्याण बुद्धि से युक्त उदक फिर से मानवीय स्थितियों को पकड़ते हैं। जो विस्तारक ऊर्ध्व में ऊर्जायुक्त उत्पाद को पूर्णतः उत्पन्न करते हैं तथा उदक से संवत्सर (दक्षिणायन-उत्तरायण) के चारों ओर स्थित बल को फाड़ते हैं, उनके द्वारा अङ्गों के रसों को लम्बी आयु प्राप्त होती है। शुक्ल पक्ष में सोम (उदक) उत्पन्न होकर नित्य नया होता है, कृष्ण पक्ष में ऊर्जा रश्मियों की दीप्ति को आगे बढ़ाता है। आगे आती हुई दीप्तियों के लिये उनके अंशों को विशेषतः पोषित करता है, जिससे आयु दीर्घता को प्राप्त कर लेती है। इस प्रकार मन ने सोम के द्वारा दीप्तियों में भी महान् प्राणों को धारण करवाया। कर्म के द्वारा कल्याणरूप से बनाई गई जवानी ने आयु को विशेषतः पार किया। कर्म के द्वारा ही सोम सर्वथा निचोड़ा जाता है।

इन्द्र (मन) ने पार्थिव और ऊर्जित अङ्गावयवो के लिये शरीर को प्राप्त किया। वे सात अक्षता जलदेवियों (सात धातुओं से निचुड़ने वाले ओजस्-उदक) के द्वारा अन्तरिक्ष को पार करते हैं, जलों को नीचे बहाने के लिये निन्यानवे स्रोतस् (नाडियाँ) हैं। जलों के घर में नाभिरूप वाणी (ज्ञान) बोलती है, उसे दीप्तियों में गमन करने वाली रश्मियाँ सुनती हैं अर्थात् आगे बढ़ाती हैं।

कल्याण बुद्धि वाले जल लौटकर मानवीय स्थितियों (धातुओं) को बार-बार पकड़ते हैं।

जिसका मन दूर स्थित विस्तारक सूर्य के अंश को, आकाश और पृथिवी को, चौतरफा उजड़ी हुई स्थिति वाले शरीर को, चारों दिशाओं को, अन्तरिक्ष समुद्र को, आगे बहने वाली सूर्य-रश्मियों को, जलों और वनस्पतियों को, सूर्य और उषा को, बढ़े हुये पर्वयुक्त स्थलों को, इस गतिशील विश्व को, शक्तिसम्पन्न श्रेष्ठ पुरुषों को तथा हो चुके और होने वालों को प्राप्त करता है, वही अग्नि जीवन की गति के लिये इस लोक में अपनी वर्तिका या लव में वर्तमान हैं।

उत्पाद के ज्ञाता अग्नि शक्तियुक्त ऊर्जा को अन्तरिक्ष में स्थित होने के लिये प्रेरित करते हैं। पुरुष उनके उत्पादों की उत्तमता से युक्त शरीर को प्राप्त करता है। उत्पाद के ज्ञाता अग्नि की जो हव्य (उदक या धातु के अंश) को ले जाने वाली किरणे दीप्ति में संयुक्त हैं, उनके द्वारा वह मानुषी प्रक्रिया को प्राप्त करते हैं। 'हवि' नाम वाले विकसित और विकासशील अनुसरणीय ऊर्जा रूप परिणामी धातु उदक ने चमकने के लिये प्रेरित करने वाले (सविता) और सक्रिय करने वाले (विष्णु) के सर्वथा गति से पार करने वाले (प्राण) को सब ओर धारण किया। उन जलों ने उस प्रकृष्टतः धारण की हुई मानस गुहा को प्राप्त किया जो प्रक्रिया का सर्वोत्कृष्ट आधार थी। धातु (उदक) ने प्रदीप्त होने के लिये उत्पन्न करने वाले (सविता) और व्याप्त करने वाले (विष्णु) की अग्नि से प्राप्त विस्तृत ऊर्जा को धारण करते हुये सर्वथा बनाया। उन जलों ने मन के द्वारा प्रकट होते हुये अन्तरिक्ष को ऊपर उठाने वाले विशाल देवयान (उत्तरायण) को प्राप्त किया। इन धातुओं ने प्रदीप्त होने के लिये निचोड़ने वाले (सविता) और वर्षा करने वाले विष्णु के सूर्य से प्राप्त ताप को धारण किया।

मनुष्य के हृदय (मस्तिष्क) के लिये वात कल्याण रश्मियों से युक्त उदक को सब ओर बहाती है और इस प्रकार आयु को पार करती है। वात मनुष्य के विस्तार करने वाले (पिता), प्रकाशित करने वाले (भ्राता), और समान परिवेश वाले (सखा) हैं, और वह जीवन के सतत चलने के लिये मनुष्य को बनाते हैं। वात की पकड़ में जो उदक की उपभोग की जाने वाली सम्पत्ति (उत्पाद) रखी हुई है उसको जीने के लिये वे मनुष्य को प्रदान करते हैं।

(18) शारीर :

शारीर वेद के विज्ञान का आधार है। उस काल की परिस्थितिकी में शारीर–ज्ञान स्वाभाविक रूप से विकसित हुआ। ऋषियों की पैनी दृष्टि ने शारीर–प्रक्रियाओं को ही नहीं देखा अपितु उनके कार्यकारण सम्बन्ध का ज्ञान करते हुए अन्तर्निहित नियमों और सिद्धान्तों का भी आकलन किया तथा शारीरेतर विज्ञानों के भी रहस्य खोले। इस प्रकार शारीर का अध्ययन एक अन्तर्विषयी अध्ययन (इन्टर डिसिप्लिनरी एप्रोच) था। इस अध्याय में सामान्यतया जो कुछ हमने कहा है वह शारीर के ही संदर्भ से वर्णित था। अब विशिष्टतः शारीर का वर्णन करते हुये हम इस अध्याय के इस अंश को सम्पन्न कर रहे हैं।

हिरण्यगर्भः समवर्तताग्रे भूतस्य जातः पतिरेक आसीत्।
स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमां कस्मै देवाय हविषा विर्धेम।।[561]

अर्थात् चमकने वाला अभ्यन्तर भाग या गर्भ में सब ओर चलने वाला सबसे पहले साम्यावस्था में विद्यमान हुआ। इकाई के रूप में उत्पन्न होकर उदक का (गिराने वाला) पति हुआ। उसने इस पृथिवी को और द्युलोक को अर्थात् पार्थिव और दीप्तिमान के लिये उदक के द्वारा हम विधान करें? ऐसा ऋषि कथन है।

इस मन्त्र की विषद व्याख्या याद टिप्पणी 137 के अन्तर्गत की जा चुकी हैं यहाँ जो अर्थ लिया गया है उसका प्रयोजन शरीर की उत्पत्ति और विकास का ज्ञान कराना है। तब 'हिरण्यगर्भ' के अर्थ में 'चमकने वाला अभ्यन्तर भाग' निघण्टु 2:6 तथा संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ पृष्ठ 395 के आधार पर निश्चित किया गया है एवं 'महान्तं पुरुषं आदित्यवर्णम्' (यजुर्वेद 31:18) तथा 'प्रविष्ट मात्रं बीजं हि रक्तेन परिवेष्ट्यते' (काश्यप संहिता असमानगोत्रीय शारीराध्याय) का अधार भी माना गया है। 'गर्भ में सब ओर चलने वाला' यह अर्थ 'हियत आयम्यमानमिति' (निरुक्त 2:10) तथा 'प्रजापतिश्चरित गर्भे' (युजुर्वेद 31:19) के आधार पर किया गया है। आगे के अर्थ का भाव समानसृष्टि के सिद्धान्त पर नासदीयसूक्त के इस मन्त्र से

---
561. ऋग्वेद 10:121:1

बनता है :-

तिरश्चीनो विततोरश्मिरेषामधः स्विदासीदुपरि स्विदासीत्।
रेतोधा आसन्महिमान आसन्त्स्वधा अवस्तात्प्रयतिः परस्तात्।।[562]

अर्थात् तिर्यक् गति में रश्मि फैल गई। इसके नीचे क्या था ऊपर क्या था ? गति को धारण करने वाले थे वे विकास से युक्त हुये। नीचे स्वयं को धारण करने वाली (पृथिवी) और उससे परे (ऊपर) प्रकृष्ट नियमन करने वाला (आत्मा) था। अर्थात् नीचे शरीर था और ऊपर उसे नियमन करने वाला मस्तिष्क था। यही भाव निम्न मन्त्र में है-

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः।
यस्य छायामृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम।।[563]

अर्थात् जो आत्मभाव का देने वाला तथा शरीर[564] का देनेवाला है। जिसके प्रशासन को विश्व या सभी मानते हैं, जिसका दीप्तिमान् भी अनुशासन मानते हैं। जिसका आच्छादन अमृत रूप उदक या अध्यात्म है, तथा जिसका आच्छादन निचोड़े हुये सोम या पृथिवी वाले मृत्यु रूप पार्थिव तत्व हैं। ध्रुव. यथावत्।

यः प्राणतो निमिषतो महित्वेक इद्राजा जगतो बभूव।
य ईशे अस्य द्विपदश्चतुष्पदः कस्मै देवाय हविषाविधेम।।[565]

अर्थात् इकाई होते हुये भी जो आगे गतिशील होकर दो पक्षोंवाले संवत्सर को तथा नित्य सिंचित करता हुआ। चतुष्पाद पुरुषों को विकसित करके संसार का प्रकाशक होकर शासन करता है।

---

562. ऋग्वेद 10:129:5
563. ऋग्वेद 10:121:2
564. बल = शरीर, संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ पृष्ठ 821
565. ऋग्वेद 10:121:3

एकपादभूयो द्विपदो विचक्रमे
द्विपात्त्रिपादमभ्येति पश्चात् ।
चतुष्पादेति द्विपदामभिस्वरे
सम्पश्यन्पङ्क्तीरुपतिष्ठमानः ।।[566]

अर्थात् वह (पुरुष) एक पाद वाला होकर विशेषतः दो पाद (पक्ष) का बन जाता है; बाद में दो पाद वाला तीन पादों को (उत्तरायण में पाक-ज्ञान विभाग पूर्वक) स्पष्टतः प्राप्त करता हैं। चार पादों वाला प्रकट शब्दों में दो पाद वाले को प्राप्त करता है; इस प्रकार क्रमों (प्रक्रियाओं) को साथ-साथ देखता हुआ (नियन्त्रित करता हुआ) समीप में स्थित होता रहता है।

येन द्यौरुग्रा पृथिवीं च दृळ्हा येन स्वः स्तभितं येन नाकः।
यो अन्तरिक्ष रजसो विमान कस्मै देवाय हविषा विद्येम।।[567]

अर्थात् दीप्ति जिसके द्वारा क्षिप्रगतिमान हुई और पृथिवी (शरीर) को स्थिर बनाया गया, जिसके द्वारा आत्मा को सहारा दिया गया, जिसके द्वारा जल के वाहक आकाश या मेघ को रोका गया। जिसने क्रिया शक्ति से अन्तरिक्ष को विशिष्टतः बनाया।। ध्रुव.

हिरण्यगर्भ अधिदेव पुरुष साम्यावस्था में इकाई रूप में उत्पन्न होकर उदक को गतिमान करता हुआ पार्थिव और दीप्तिमान तत्वों को धारण करता है। उसने शरीर और आत्मा को बनाया। उसके प्रशासन को सभी मानते है, और उसका अनुशासन दीप्तिमान भी मानते हैं। अमृत रूप उदक (अध्यात्म) इसका आच्छादन है और मृत्यु रूप पार्थिव तत्व भी इसके आच्छादन हैं। इकाई होते हुये भी जो आगे गतिशील होकर दो पक्षों वाले संवत्सर को तथा नित्य सिंचित करता हुआ चतुष्पाद पुरुषों को विकसित करके संसार का प्रकाशन होकर शासन करता है। मूलतः एकपाद (इकाई) वाला होकर वह विशेषतः दो पाद (पक्ष) का बन जाता है; बाद में उत्तरायण पक्ष में पाक-ज्ञान दो विभाग हो जाने से वह तीन पादों वाला बनता है। चार पादों वाला पुरुष प्रकटतः दो (दक्षिणायन-उत्तरायण) पादों में ही सिमट जाता हैं इस प्रकार

566. ऋग्वेद 10:117:8
567. ऋग्वेद 10:121:5

क्रमों या प्रक्रिया को साथ-साथ देखता हुआ समीप में स्थित होता रहता है। हिरण्यगर्भ ने दीप्ति को क्षिप्रगतिमान किया है और शरीर को स्थिर बनाया है। इसके द्वारा आत्मा को सहारा दिया गया और उदक के वाहक आकाश को रोका गया। हिरण्यगर्भ ने क्रियाशक्ति (रजस्) से अन्तरिक्ष को विशिष्टतः बनाया। इसी भाव को अयन्त्र भी प्रकट किया गया है।

त्वमिन्द्र बलादधि सहसो जात ओजसः।
त्वं वृषान् वृषेदसि।।[568]

अर्थात् इन्द्र (मन, अधिदेव पुरुष) ओजस् की दीप्ति के बल से उत्पन्न हुये हैं, वे वर्षा (करने वाले) भी हैं।

ऋतायिनी मायिनी संदधात मित्वा शिशुं जज्ञतुर्वर्धयन्ती।
विश्वस्य नाभिं चरतो ध्रुवस्य कवेश्चित्तन्तुं मनसा वियन्तः।।[569]

अर्थात् जलों में गति करने वाली निर्माणशीला ऊर्जा ने श्रेष्ठ (मन) को सम्यक् धारण करके उत्पन्न किया और मायन पूर्वक विस्तृत किया। वर्णन करने वाले कवि के अनुसार भी जङ्गम तथा स्थावर विश्व की नाभि स्नायुतन्तु को मापन द्वारा विस्तारित किया।

धृषुः श्येनाय कृत्वन आसु स्वासु वंसगः।
अव दीधेदहीशुवः।।[570]

अर्थात् साहसी (इन्द्र) ने रश्मि के लिये इन स्वप्राण ऊर्जाओं (वाक्) को बनाया तथा ऊर्जा के विस्तारको ने इसे नीचे की ओर रखा।

सहोभिर्विश्वं परिचक्रमूरजः पूर्वा धामान्यमिता मिमानाः।
तनुषु विश्वा भुवना नियेमिरे प्रासारयन्त पुरुष प्रजा अनु।।[571]

---

568. ऋग्वेद 10:153:2
569. ऋग्वेद 10:5:3
570. ऋग्वेद 10:144:3
571. ऋग्वेद 10:56:5

अर्थात् पूर्व रजस् (संचालिका वृत्ति) ने शक्तियों के साथ न नापे हुये स्थानों को नापते हुये या न निर्मित हुये लोकों का निर्माण करते हुये अब विश्व की ओर डग भरा, समस्त जलों को शरीरों में विस्तृत किया, फिर पुरुष और प्रजा (आगे उत्पन्न होने वालों) को फैलाया।

यो यज्ञो विश्वतस्तन्तुभिस्तत एकशंत देवकर्मेभिरायत।[572]

अर्थात् जो प्रक्रिया विश्व की ओर एक सौ एक नाडियों द्वारा फैलाई हुई है, वह दीप्तियों के कर्मों द्वारा सर्वतः विस्तृत हुई है।

यं सुपर्णः परावतः श्येनस्य पुत्र आभरत्।
शतचक्रं योऽह्यो वर्तनिः।।[573]

अर्थात् रश्मि का गमन करने वाला सुन्दर पक्षों वाला आत्मा जिसको ऊर्ध्व से फैलाता है वह सतत मार्ग शतनाडीचक्र को धारण करता है।

सा ते जीवातुरुत तस्य विद्धि मा स्मैतादृगप गूहः समर्ये।
आविः स्वः कृणुते गूहते बुसं सपादुरस्य निर्णिजो न मुच्यते।।[574]

अर्थात् वह आत्मा मनुष्य की जीवनी शक्ति या आयु है और वह मनुष्य के भीतर छिपा है। पूर्वकाल में उसका इस प्रकार का प्रकटीकरण पूर्णतः नहीं हुआ। वह आत्मा द्युलोक को बनाता है, उदक को अपने में छिपा लेता है। इसका शुद्ध पाद नहीं छूटता है।

पुमाँ एनं तनुत उत्कृणत्ति पुमान्वि तत्ने अधिनाकेऽस्मिन।
इमे मयूखा उप सेदुरू सदः सामानि चक्रुस्तसराण्योतवे।।[575]

अर्थात् पुरुष इस ऊर्जापुञ्ज को फैलाते हुये ऊर्ध्व में लपेटता है, पुरुष

572. ऋग्वेद 10:130:1
573. ऋग्वेद 10:144:4
574. ऋग्वेद 10:27:24
575. ऋग्वेद 10:130:2

ने इसे जल के वाहक आकाश के ऊपर विशेषतः फैलाया। ये रश्मियाँ समीप में स्थित हुई है। उन्हें बनने के लिये अर्थात् शक्तिरूप में विस्तृत करने के लिये उदक ने अध्यात्म स्थित ढरकियों को बनाया।

स वेद सुष्दुतीनामिन्दुर्न पूषा वृषा।
अभि प्सुरः प्रुषायति व्रजं न आ प्रुषायति।।[576]

अर्थात् वह आत्मा कल्याणमय दीप्तियों से युक्त पोषणकर्ता उदक की वृष्टि के ढंग को जानता है अर्थात् नियंत्रित करता है। वह जैसे मेघ को सर्वतः बरसाता है, वैसे ही रूपों (अङ्गों या धातुओं) को प्रकट छिड़कता है।

गुहा शिरो निहितमृधगक्षी असिन्वन्नत्ति जिह्वया वनानि।[577]

अर्थात् शिरोगुहा में वस्तुतः धारण हुआ समृद्धि प्राप्त करने वाला आत्मा जिह्वा से बिना फँसाये उदक को खाता है।

गा इन्द्रो अकृणुत स्व युग्भिः।।[578]

अर्थात् इन्द्र (मन) ने रश्मियों को जलों के योगों से बनाया।

यं ते श्येनश्चारुमवृकं पदाभरदरुणं मानमन्धसः।[579]

अर्थात् इन्द्र की रश्मि ने जो सुन्दर, न काटने वाला, स्वर्णिम प्रतिष्ठापूर्ण ऊर्ध्वपद को उदक से भर दिया है।

अविन्दन्ते अतिहितं यदासीद्यज्ञस्यधाम परमं गुहा यत्।[580]

अर्थात् उन जलों ने उस प्रकृष्ट धारण की हुई मानस गुहा को प्राप्त

576. ऋग्वेद 10:26:3
577. ऋग्वेद 10:79:2
578. ऋग्वेद 10:89:7
579. ऋग्वेद 10:144:5
580. ऋग्वेद 10:181:2

किया जो प्रक्रिया का सवोत्कृष्ट आधार थी।

आप्रुषायन्मधुन ऋतस्य योनिभवक्षिपन्नर्क उत्कामिव द्यौः।
बृहस्पतिरुद्धरन्नश्मनो गा भूम्या उदनेव वि त्वचं विभेद।।[581]

अर्थात् प्रयत्नों के स्वामी ने आकाश से रश्मि को उल्का की भाँति नीचे फेंका, जलवृष्टि के तुल्य शरीर की त्वचा को पोषित किया, मेघ से रश्मियों को ऊपर ले लिया, तथा जल के स्रोत को ओजस से छिड़काया।

अपेत वीत विच सर्पतातोऽस्मा एतं पितरो लोकमक्रन्।
अहोभिरद्भिरक्तुभिर्व्यक्तं यमो ददात्यवसानमस्मै।।[582]

अर्थात् विस्तारकर्ता पितरों ने इस कर्म के लिये नीचे गया हुआ, बीता हुआ, और सरकता हुआ यह मृत्युलोक बनाया। निर्माणकर्त्ता यम ने इसके लिये जलों की सुप्त ऊर्जा तथा रश्मियों द्वारा व्यक्त होने वाला नीचे के कर्म वाले लोक को दिया।

द्विधा सूनवोऽसुरं स्वर्विदमास्थापयन्त तृतीयेन कर्मणस्वां
प्रजां पितरः पित्र्यं सह आवरेष्वदधुस्तन्तुमाततम्।।[583]

अर्थात् उत्पन्न हुओं ने तीसरे (अग्नि) के कर्म द्वारा सोम या ऊर्ध्व को जानने वाले प्राण को दो प्रकार से लाकर स्थापित किया। विस्तारकों (पितरों) ने फैलाये हुये विकास के योग्य नाडी जाल के साथ अपने आगे के उत्पादों को आवरणों (धातुस्थानों) में धारण किया।

एवा तदिन्द्र इन्दुना देवेषुचिद्धारयाते महित्यजेः।।[584]

अर्थात् इस प्रकार उस इन्द्र ने सोम के द्वारा दीप्तियों में भी महान्

---

581. ऋग्वेद 10:68:4
582. ऋग्वेद 10:14:9
583. ऋग्वेद 10:56:6
584. ऋग्वेद 10:144:6

प्राणों को धारण करवाया।

इन्द्रेण युजा निः सृजन्त वाधतो व्रजं गोमन्तमश्विनम्।
सहस्रे मे ददतः अष्टकर्ण्यः श्रवो देवेष्वक्रत।।[585]

अर्थात् वह वाक् से स्पर्शित प्राण इन्द्र (मन) से जुड़कर ऊर्जायुक्त रश्मि वाले मार्ग को निश्चित रुप से रचता हुआ सहस्र नाडियों वाले स्थान में मनुष्य को देता हुआ दीप्तियों में आठ प्रकार से बनने वाले उत्पाद को बनाता है।

सप्तापो देवी सुरणा अमृक्ता याभिः सिन्धुमतर इन्द्र पूर्भित।
नवतिं स्रोत्या नवच स्रुवन्तीर्देवेभ्यो गातुं मनुषे च विन्दः।।[586]

अर्थात् पवित्र अंश इन्द्र (अधिदेव मन) ने सात सुरमणीया अक्षता जलदेवियों द्वारा अन्तरिक्ष को पार किया है, निन्यानवे बहती हुई नाड़ियाँ हैं। इन्द्र ने दिव्य (ऊर्जित) और मानुषी (पार्थिव) स्थितियों अर्थात् अङ्गावयवो के लिये शरीर को प्राप्त किया।

तं सिन्धवो मत्सरमिन्द्रपानमूर्मिं प्र हेत य उभे इयर्ति।
मदच्युतमौशानं नभोजां परि त्रितन्तु विचरन्तमुत्सम्।।[587]

अर्थात् जो दोनों ओर (ऊपर और नीचे) जाता है उस इन्द्र (मन) द्वारा पान किये जाने वाले सोम की लहर को नाडियाँ आगे बढ़ाती हैं। मद का नाश करने वाले, प्रकाशों से युक्त होने वाले, आकाश में उत्पन्न होने वाले, तीनों प्रकार की नाडियों (शीर्ष, कर्मवाही-क्षर, और ज्ञानवाही-अक्षर) में विचरने वाले स्रोत (सोम, ओजस्) को आगे बढ़ाती है।

---

585. ऋग्वेद 10:62:7
586. ऋग्वेद 10:104:8
587. ऋग्वेद 10:30:9

सनेमि चक्रमजरं वि वावृत उत्तानायां दश युक्ता वहन्ति।
सूर्यस्य चक्षू रजसैत्यावृतं यस्मिन्नातस्थुर्भुवनानि विश्वा।।[588]

अर्थात् अजीर्ण हुआ चक्र नेमि सहित विशेषतः घूमता है; सृष्टि में ऊपर की ओर फैली हुई दस नाडियाँ उसे ले जाती हैं, (इस में) सूर्य की रश्मि क्रियाशक्ति से आवृत होकर जाती है जिसमें सभी उदक आकर ठहरे हैं।

अत्राण्यस्मै पद्भिः सं भरन्त्युत्तानहस्ता नभ साधि विक्षु।।[589]

अर्थात् इन स्थानों को इसके लिये अधिक सक्रिय होने की इच्छा वाले ऊपर ग्रहण किये हुये पदों के साथ उत्पाद या ऊर्जा से भरते हैं।

इदं यमस्य सादनं देवमानं यदुच्यते।
इयमस्य धम्यते नाळीरयं गीर्भिः परिष्कृतः।।[590]

अर्थात् यह जो विस्तार या निर्माण करने वाले (यम) को प्रसन्न करने वाला, दीप्तियों के निर्माण वाला (देवयान) कहा गया है, इसकी यह एक नाडी (मूर्धा को) ताप (दीप्तियों) द्वारा तेजी से जाती हैं। यह मार्ग जाने वाली ऊर्जा द्वारा शुद्ध किया गया है।

त्रिकद्रुकेभिः पतति षळुर्वीरेकमिद् बृहत्।
त्रिष्टुब्गायत्री छन्दांसि सर्वाता यम आहिता।।[591]

अर्थात् विस्तारक यम ज्ञानवह, कर्मवह और शीर्ष-साहचर्य रूप क्षराक्षरपरा नाडियों से षडाङ्ग शरीर तथा मात्र एक विश्वपाद पुरुष पर नीचे गतिमान होता हे, वह शिर कोष्ठ और शाखाओं में स्थित कर्मेन्द्रियों को तथा सब ज्ञानेन्द्रियों को धारण करता है।

---

588. ऋग्वेद 1:164:14
589. ऋग्वेद 10:79:2
590. ऋग्वेद 1:135:7
591. ऋग्वेद 10:14:16

पत्तो जगार प्रत्यञ्चमत्ति शीर्ष्णा शिरः प्रति दधौ वरूथम्।
आसीन ऊर्ध्वामुपसि क्षिणातिन्यङ् उत्तानामन्वेति भूमिम्।।[592]

अर्थात् नीचे गति करने वाला पक्षी प्रत्येक विपरीत वायु को निगल लेता है, शीर्ष स्थित ऊर्जा को खाता है, शिर में लिपटी नाडियों रूप शिरस्त्राण को धारण करता है, ऊर्ध्व की गोद में बैठा ऊर्ध्व में फैले हुये मार्गों को नष्ट करता है, फिर शरीर (भूमि) को जाता है।

उपयुक्त विवरण में गर्भ स्थित ओजस् (उदक) में निर्माणशीला ऊर्जा समाहित थी जिसकी दीप्ति के बल से मन (अव्यक्त रूप में) उत्पन्न हुआ और ऊर्जा ने मापन पूर्वक इसे व्यक्त रूप में विस्तृत किया। इस मापन (अर्थात् मन) द्वारा जङ्गम तथा स्थावर विश्व की नाभि रूप स्नायुतन्तुओं को विस्तारित किया गया। मन ने रश्मियों को जलों के योगों से बनाया, उन रश्मियों ने सुन्दर, न काटने वाला, स्वर्णिम, प्रतिष्ठापूर्ण ऊर्ध्वपद अर्थात् अध्यात्म को उदक से भर दिया, उन जलों (उदक) ने उस प्रकृष्ट धारण की हुई मानस गुहा को प्राप्त किया जो प्रक्रिया का सर्वोत्कृष्ट आधार थी। यह उदक ही पर–ओजस् था, यही अमृत, यही अध्यात्म, यही ब्रह्म और यही आत्मा था; "तस्यैष एवं शारीर आत्मा यः पूर्वस्य"[593] अर्थात् उस पूर्ववर्ती मन का जो यह शारीर है वही आत्मा है। और भी –

यः पूर्वं तपसो जातमद्भ्यः पूर्वमजायत।
गुहां प्रविश्य तिष्ठन्तं यो भूतेभिर्व्यपश्यत।।एतद्वैतत्।।[594]

अर्थात् जो सबसे पहले वातों जलों के ताप से पहले उत्पन्न हुआ था वह जलों के द्वारा विशेषतः देखता हुआ मानस गुहा में प्रवेश करके बैठा हुआ है, यह वह ब्रह्म ही है।

य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते।

---

592. ऋग्वेद 10:27:13
593. तैत्तिरीयोपनिषद् 2:6
594. कठोपनिषद 2:1:6

तस्मिल्लोका श्रिता सर्वे तदु नात्येतिकश्चन।।
एतद् कै तत्।।[595]

अर्थात् जो यह पुरुष प्रत्येक धातु का निर्माण करता हुआ प्रसुप्त ऊर्जाओं में भी जागता है, वही विशुद्ध तत्त्व वही ब्रह्म वही अमृत कहा जाता है, उसमें ही सभी लोक आश्रित है, उसे कोई अब अतिक्रमण नहीं कर सकता। वह वही आत्मा है।

इस प्रकार अधिपुरुष मन और आत्मा में भेद नहीं है, ऊज्र्रा से पूर्ण होकर मन ही आत्मन् रूप हो जाता है। मन ने रश्मि के हेतु से प्राण युक्त ऊर्जा को बनाया तथा ऊर्जा (वाक्) के विस्तारकों ने इसे नीचे की ओर रखा। पूर्व संचालिका वृत्ति (रजस्, प्राण) ने क्रियाशक्ति (वाक्) के साथ न नापे हुये स्थानों को नापते हुये या न निर्मित हुये, लोकों का निर्माण करते हुये, अब विश्व की ओर डगभरा, समस्त जलों को शरीरों में विस्तृत किया, फिर पुरुष और प्रजा (आगे होने वाले उत्पाद) को फैलाया। शिरोगुहा में वस्तुतः धारण हुआ समृद्धि प्राप्त करने वाला आत्मा जिह्वा से बिना फँसाये उदक को खाता है। वह आत्मा मनुष्य की जीवनी शक्ति या आयु है, और वह मनुष्य के भीतर छिपा है। पूर्वकाल में इसका इस प्रकार का प्रकटीकरण पूर्णतः नहीं हुआ था। वह आत्मा द्युलोक को बनाता है, उदक को अपने में छिपा लेता है अर्थात् आवृत या व्याप्त कर लेता है, इसका शुद्ध पाद नहीं छूटता है। वह आत्मा कल्याणमय दीप्तियों से युक्त पोषणकर्त्ता उदक की वृष्टि के ढंग को जानता है अर्थात् नियंत्रण करता है। वह जैसे मेघ को सर्वतः बरसाता है, वैसे ही रूपों (शरीराङ्गों) को प्रकट छिड़कता है। जो प्रक्रिया विश्व की ओर एक सौ एक नाडियों द्वारा फैलाई हुई है, वह दीप्तियों के कर्मों द्वारा सर्वतः विस्तृत हुई हैं। रश्मि का गमन करने वाला सुन्दर पक्षों वाला आत्मा जिसको ऊर्ध्व से फैलाता है वह सतत मार्ग शतनाडीचक्र को धारण करता है। उस इन्द्र (मन) ने सोम (उदक) के द्वारा दीप्तियों में भी महान् प्राणों को धारण करवाया। वह वाक् से स्पर्शित प्राण मन से जुड़कर ऊर्जायुक्त रश्मि वाले मार्ग को निश्चत रूप से रचता हुआ सहस्र नाडियों वाले स्थान में मनुष्य को देता हुआ दीप्तियों में आठ प्रकार से बनने वाले उत्पाद को बनाता हैं अधिदेव मन ने सात सुरमणीया अक्षता जलदेवियों (सप्त ओजस्) द्वारा

595. कठोपनिष्द्द् 2:2:8

अन्तरिक्ष (अन्तःशरीर) को पार किया है। निन्यानवे बहती हुई नाडियाँ है। मन ने दिव्य (ऊर्जित) और मानुषी (पार्थिव) स्थितियों अर्थात् इन्द्रियाङ्गावयवों के लिये शरीर को प्राप्त किया। दोनों ओर ऊपर और नीचे जाने वाले मन से पान किये जाने वाले उदक की लहर को नाडियाँ आगे बढ़ाती हैं, वे मद का नाश करने वाले, प्रकाशों से युक्त होने वाले, आकाश में उत्पन्न होने वाले, तीनों प्रकार की नाडियों (शीर्ष, कर्मवहक्षर, तथा ज्ञानवह अक्षर) में विचरने वाले स्रोत (ओजस्) को आगे बढ़ाती हैं। अजीर्ण रहने वाला चक्र नेमि सहित विशेषतः घूमता हुआ सृष्टि में ऊपर की ओर फैली हुई दस नाडियों से गमन करता है, इस में सूर्य (आत्मा) की रश्मि क्रियाशक्ति (रजस्) से आवृत होकर जातीं हैं जिसमें सभी उदक आकर ठहरे हैं। इन ऊर्ध्व स्थानों को इसके लिये अधिक सक्रिय होने की इच्छा वाले ऊपर ग्रहण किये हुये पदों के साथ उत्पाद या ऊर्जा से भरते हैं। विस्तारकर्त्ता यम ज्ञानवह, कर्मवह और शीर्ष–साहचर्य रूप क्षराक्षर परा नाडियों से षडाङ्ग शरीर तथा मात्र एक विश्वपाद पुरुष पर नीचे गतिमान होता है, वह शिर, कोष्ठ, और शाखाओं में स्थित कर्मेन्द्रियों को तथा सब ज्ञानेन्द्रियों को धारण करता है। यम को प्रसन्न करने वाले, दीप्तियों के निर्माण वाले देवयान की यह एक नाडी मूर्धा को ताप (दीप्ति) द्वारा तेजी से जाती है, यह मार्ग जाने वाली ऊर्जा द्वारा शुद्ध किया जाता है। निर्माणकर्त्ता यम ने जलों की सुप्त ऊर्जा तथा रश्मियों द्वारा व्यक्त होने वाला नीचे के कर्म वाले लोक को दिया। विस्तारकर्त्ता पितरों ने इस कर्म के लिये नीचे गया हुआ, बीता हुआ, और सरकता हुआ यह मृत्युलोक बनाया। प्रयत्नों के स्वामी बृहस्पति (आत्मा) ने आकाश से रश्मि को उल्का की भांति नीचे फेंका, जलवृष्टि के तुल्य शरीर की त्वचा (शरीराङ्गों) को पोषित किया, मेघ से रश्मियों को ऊपर ले लिया, तथा जल के स्रोत को ओजस् से छिड़काया। उत्पन्न हुओं ने तीसरे (अग्नि) के कर्म द्वारा सोम या ऊर्ध्व को जानने वाले प्राण को दो प्रकार से लाकर स्थापित किया। विस्तारकर्त्ता (पितरों) ने फैलाये हुये विकास के योग्य नाडी जाल के साथ अपने आगे के उत्पादों को आवरणों (धातुस्थानों) में धारण किया। नीचे गति करने वाला पक्षी (रश्मि) प्रत्येक विपरीत वायु को निगल लेता है, शीर्ष स्थित ऊर्जा को खाता है, शिर में लिपटी नाडियो रूप शिरस्त्राण को धारण करता है, ऊर्ध्व की गोद में बैठा ऊर्ध्व में फैले हुये मार्गों को नष्ट करता है, फिर शरीर (भूमि) को जाता (प्राप्त करता) है।

अब हम पुरुष सूक्त का अध्ययन करेंगे। इसमें वर्णित अनेक विषय चरकसंहिता के कतिधापुरुषीय शारीराध्याय तथा अन्यत्र एवं अन्य अनेक आयुर्वेदग्रंथों में विस्तारित किये गये हैं। अतः शारीर की दृष्टि से इसका अध्ययन आवश्यक हो गया है। ऋग्वेद सूक्त 10:130 में इस पुरुष सूक्त की विधिवत् व्याख्या की गई है, उसे भी ध्यान रखना है।

सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।
स भूमिं विश्वतोवृत्वात्यतिष्ठछशाङ्गुलम्।।[596]

अर्थात् सहस्रों शीर्ष स्नायुओं वाला (प्रथम साहस्री), सहस्रों अक्षर ज्ञानवाही स्नायुओं वाला (द्वितीय सहस्री), सहस्रोंक्षर कर्मवाही स्नायुओं वाला (तृतीय साहस्री) वह पुरुष विश्व की ओर शरीर (भूमि) को चारो ओर (आ) घेर करके दशाङ्गुल परिमाण शिर में अतिरेक पूर्वक स्थित है। (देखें ऋग्वेद 10:130:1–2)

पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्।
उतामृतत्वस्येशानो यदन्नेनातिरोहति।।[597]

अर्थात् यह सब, जो उत्पन्न हो चुका है और जो (आगे) उत्पन्न होने वाला है, तथा जो अन्न के द्वारा अतिरोहण करने वाला (उदक) है निश्चित इसका स्वामी अमृत (अध्यात्म) है, पुरुष ही है।

एतावानस्य महिमातो ज्यायाँश्च पूरुषः।
पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।।[598]

अर्थात् जाने वालों (ऊर्जाओं) से युक्त पुरुष अपने विकास की ओर बढ़ा हुआ है और इसका एक पाद विश्व में है (आ विश्व) तथा इसके तीन पाद भूतों, अमृत और द्युलोक में हैं, अर्थात् अधिभूत, अधिदेव और अध्यात्म में हैं।

---

596. ऋग्वेद 10:90:1
597. ऋग्वेद 10:90:2
698. ऋग्वेद 10:90:3

त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुनः।
ततो विष्वङ् व्यक्रामत्साशनानशने अभि।।[599]

अर्थात् पुरुष तीन पादों से ऊर्ध्व में ऊपर की ओर जाता है, इसका विश्वपाद बार-बार होता है। वहाँ से वह पोषित तथा अपोषित सभी तत्वों में प्रकटतः संक्रमण करता है।

तस्माद्विराळजायत विराजो अधिपूरुषः।
स जातो अत्यरिच्यत पश्चाद्भूमिमथो पुरः।।[600]

अर्थात् उस (विश्वपाद) से विशेषतः चमकता हुआ अत्यधिक पुरुषरूप विशेष रजस् उत्पन्न हुआ तदन्तर उस उत्पन्न हुये ने पहले श्रेष्ठों को वंचित किया, बाद में भूमि (शरीर) को (वंचित) किया।

यत्पुरुषेण हविषा देवा यज्ञमतन्वत।
वसन्तो अस्यासीदाज्यं ग्रीष्म इध्मः शरद्धविः।।[601]

अर्थात् जब पुरुष के उदक से दीप्तियों ने उत्पाद प्रक्रिया को फैलाया, तो इसका प्रकाश वायव्यसंग्रह वसन्त हुआ, ताप अग्निसंग्रह ग्रीष्म हुआ, और जलीयान्रश्मि श्लेष्म संग्रह शरद् हुआ।

तं यज्ञं बर्हिषि प्रौक्षन्पुरुषं जातमग्रतः।
तेन देवा अयजन्त साध्या ऋषयश्च ये।।[602]

अर्थात् उस उत्पादन प्रक्रिया में जलों को छिड़कता हुआ पुरुष सर्वप्रथम उत्पन्न हुआ। उससे जो व्यवस्था करने वाली रश्मियाँ थीं उन्होंने और दीप्तियों ने प्रक्रिया की। (इस मन्त्र को पूर्वमन्त्र से पहले पढ़ना चाहिये तभी सही क्रम बनता है)

599. ऋग्वेद 10:90:4
600. ऋग्वेद 10:90:5
601. ऋग्वेद 10:90:6
602. ऋग्वेद 10:90:7

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः संभृतं पृषदाज्यम्।
पशून्तांश्चक्रे वायव्यान् आरण्यान् ग्राम्यांश्चये।।[603]

अर्थात् उस, सबको प्रारम्भ करने वाली उत्पाद प्रक्रिया, से सम्यक् धारण किये हुये प्रकाश (ज्ञान) को पार किया गया, तथा उन चैतन्यमय-द्रष्टाओं (इन्द्रियों) को बनाया गया जो वात से युक्त, नाडी-वन से युक्त, और समूहमय थे।

तस्माद्यज्ञात्सर्वहुतः ऋचः सामानि जज्ञिरे।
छंदासि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत।।[604]

अर्थात् उस, सबको प्रारम्भ करने वाली उत्पाद प्रक्रिया, से भौतिक तथा चेतन तत्व उत्पन्न हुये, उनसे इन्द्रिय गोलक, और उनसे (फिर) ऊर्जामार्ग आदि उत्पन्न हुये।

तस्मादश्वा अजायन्त ये के चोभयादतः।
गावो ह जज्ञिरे तस्मात् तस्माज्जाता अजावय।।[605]

अर्थात् उससे रश्मि रूप स्नायुशक्ति उत्पन्न हुई जो दोनों ओर (उच्च और निम्न संक्रियाओं में) कार्य करती हैं। निश्चय उससे गतिशील ऊजायें उत्पन्न हुईं, और उससे (फिर) अजर-अमर चैतन्य ऊर्जारुप आत्मा उत्पन्न हुई।

अब इस पुरुष सूक्त के कुछ मन्त्र प्रतीकात्मकता हैं, जो इसमें स्पष्टतः बतला भी दिये गये हैं। यद्यपि प्रतीकात्मक अगले अध्याय का विषय है, किन्तु यहाँ इस सूक्त के विषय को पूर्ण करने के लिये इन मन्त्रों के प्रतीक भाषिक आधारों पर तथा अन्य आधारों पर भी उद्घाटित करते हुये व्याख्या प्रस्तुत की जा रही है।

---

603. ऋग्वेद 10:90:8
604. ऋग्वेद 10:90:9
605. ऋग्वेद 10:90:10

यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्।
मुखं किमस्य कौ बाहू का ऊरूपादा उच्येते।।[606]

अर्थात् जिस पुरुष को कितने ही भागों में विशेषतः तुलना (प्रतीक) करते हुये विशेषतः पोषित किया गया, (तब) इसका मुख कौन, बाहुयें कौन और जाँघें तथा पैर कौन बताये जाते हैं?

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः।
ऊरु तदस्य यद्वैश्य पदभ्यां शूद्रो अजायत्।।[607]

अर्थात् उत्पाद को जानने वाले (ब्राह्मण) इस (पुरुष) के विशेष पोषण से सुख प्राप्त करने वाले (मुख)[608] थे। प्रकाश की रश्मियों ने पक्षों (दक्षिणायन-उत्तरायण) को बनाया। इसकी जंघायें वे हैं जो आने-जाने वाले तन्तु (स्नायु) हैं। जो दो (उत्तान) पाद थे उनसे शुद्ध करने वाला उत्पन्न हुआ।

चन्द्रमा मनसो जातः चक्षोः सूर्यो अजायत।
मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत।।[609]

अर्थात् ज्योति द्वारा मापन या निर्माण मन से उत्पन्न होता है, या सोम (उदक) मन से अस्तित्ववान होता है। रश्मि से सूर्य उत्पन्न हुआ, या ज्ञानदृष्टि से प्रेरित करने वाला आत्मा उत्पन्न हुआ। विशेष पोषण के सुख से अधिकार करने वाला (इन्द्र) और आकलन करने वाला (अग्नि), तथा प्राण अर्थात् आगे बढ़ने से गति करने वाला (वायु) उत्पन्न हुआ।

नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीष्णों द्यौः समवर्तत।
पदभ्यां भूमिर्दिशः श्रोत्रात् तथा लोकाँ अकल्पयन्।।[610]

---

606. ऋग्वेद 10:90:11
607. ऋग्वेद 10:90:12
608. मुख = 'खन्यते विधात्रा सुखं अनेन' अर्थात् इससे विशेष पोषण द्वारा सुख को खोदते हैं। सं. श. कौ. पृ. 926
609. ऋग्वेद 10:90:13
610. ऋग्वेद 10:90:14

अर्थात् (उस पुरुष की) नाभि से अन्तरिक्ष लोक अर्थात् अन्तःशरीर हुआ, शिर से द्युलोक (दीप्तिमान् अध्यात्म) सम्यक् वर्तमान हुआ। पैरों से भूलोक (शरीर), कान से दिशायें और इसी प्रकार लोकों की तुलना की कई।

सप्तास्यासन् परिधयः त्रिसप्त समिधः कृताः।
देवा यद्यज्ञं तन्वाना अबध्नन् पुरुषं पशुम्।।[611]

अर्थात् दीप्तियों ने जिस उत्पादप्रक्रिया का विस्तार किया उससे चैतन्यमय द्रष्टा पुरुष को बाँध लिया। इसकी सीमायें सात धातुस्थानों की है जो इक्कीस सम्यक् प्रज्ज्वलित करने वालों (सात आदित्यों, सात किरणों तथा सात अग्नि की लपटों) ने बनाई हैं।

यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्।
ते ह नाकं महिमानः सचन्त यत्र पूर्वे साध्याः सन्ति देवाः।।[612]

अर्थात् दीप्तियों ने उत्पादप्रक्रिया द्वारा ही उत्पादप्रक्रिया को सक्रिय किया। पहले जहाँ दीप्तियाँ व्यवस्था करने वाली हुई थीं, उन्हीं प्रथम धर्मों में (धारणाओं या कर्तव्यों में) दीप्तियाँ वर्तमान रही। उन्होंने वस्तुतः जलों के वाहक आकाश का विकास से साथ दिया। पुरुषसूक्त में प्रथम पाँच मन्त्रों में पुरुष की रुपरेखा प्रस्तुत कर दी गई है। अन्न अर्थात् पाकप्रक्रिया से ऊर्ध्व में अतिरोहण करने वाला ओजस् (उदक) जो अमृत कहलाता है, इस अधिदेव पुरुष का स्वामी है अर्थात् वही उत्पत्तिकर्त्ता है। तथा, अभी तक वह सब जो उत्पन्न हो चुका है तथा उत्पन्न होने वाला है, वह सब पुरुष का ही अंशरुप है। गतिमान ऊर्जा से युक्त पुरुष अपने विकास की ओर अग्रसर है। इस प्रकार यह चार पादों वाला होता है जो अधिभूत, अधिदेव, अध्यात्म और विश्व रूप हैं। पुरुष तीन पादों से ऊर्ध्व की ओर गतिमान होता है, और इसका विश्वपाद बार-बार संसार में होता रहता है जिससे यह पोषित और अपोषित सभी तत्वों में प्रकटतः संक्रमण करता है। उस बार-बार होने वाले विश्वपाद से विशेष रजस् अर्थात् कर्मशीलता वाली विराट पुरुष की

611. ऋग्वेद 10:90:15
612. ऋग्वेद 10:90:16

अवधारणा मनुष्य में उत्पन्न होती है, जिस अवधारणा से अन्य सभी श्रेष्ठ अवधारणायें और शरीर भी गौण हो जाता है। और वह अवधारणा ही मनुष्य की अपनी पहचान बन जाती है।

अब अगले पाँच मन्त्रों में शरीर के भीतर चलने वाली उत्पाद प्रक्रिया समझाई गई है। उस प्रक्रिया में सर्वप्रथम उदक की वृष्टि करने वाला पुरुष उत्पन्न हुअ। उससे व्यवस्था करने वाली रश्मियों ने और दीप्तियों ने संक्रिया की। पुरुष के उदक से दीप्तियों ने उत्पाद प्रक्रिया को फैलाया, तब इनका प्रकाश वायव्यसंग्रह, ताप अग्नि संग्रह और जलीया रश्मि श्लेष्मसंग्रह बने; इस प्रकार शरीर में वात–पित्त–कफ की उत्पत्ति हुई। सब को प्रारम्भ करने वाली उत्पाद प्रक्रिया से सम्यक् धारण होने वाले ज्ञान को प्राप्त किया गया, तथा इन्द्रियरुप चैतन्यमय द्रष्टाओं को बनाया गया जिनका आधार वात द्वारा संचालित नाडी समूह थे। इस उत्पादन प्रक्रिया से भौतिक और चेतन तत्व निकले जिनसे इन्द्रिय गोलक उत्पन्न हुये, और फिर ऊर्जा मार्ग आदि उत्पन्न हुये जिनसे रश्मिरुप स्नायुशक्ति उत्पन्न हुई जो उच्च और निम्न संक्रियाओं में उभयतः क्रियाशील रहती है। निश्चय इनसे गतिशील ऊजायें उत्पन्न हुई और फिर उनसे अजर–अमर चैतन्य ऊर्जा रूप आत्मा उत्पन्न हुई। प्रमुखतः दशाङ्गुलपरिमाण शिर में रहने वाला पुरुष रूप आत्मा विश्व की ओर शरीर को चारों ओर घेर कर सहस्रों शीर्ष स्नायुओं, सहस्रों ज्ञान वह स्नायुओं और सहस्रों कर्मवह स्नायुओं द्वारा संचालन करता हैं दीप्तियों द्वारा प्रायोजित उत्पाद प्रक्रिया के विस्तार से चैतन्यमय द्रष्टा पुरुष सात धातुस्थानों की परिधियों में, जिन्हें इक्कीस सम्यक् प्रज्जवलित करने वाले सप्तादित्यों, सप्त–रश्मियों और सप्त अग्नि की जिह्वाओं ने बनाया था, बँध गया। इस प्रकार दीप्तियों ने ऐसा क्रम बनाया कि उत्पाद प्रक्रिया द्वारा ही सतत सक्रिय बनी रहती है। दीप्तियाँ स्वयं अपने प्रथम धर्म व्यवस्था करने में और जलों के वाहक द्युलोक का विस्तार करने में लगीं रहीं।

वह अधिदेव पुरुष अनेक तुलनात्मक रूपों में धारण किया जाता है, जो प्रक्रियाओं, अङ्गावयवों, इन्द्रियों, पक्ष और पादों, उत्पादों और देवताओं, के प्रतीक होते हैं। इस प्रकार उत्पाद को जानने वाले ब्राह्मण इस पुरुष के विशेष पोषण का स्वाद लेने वाले मुख थे; प्रकाश की रश्मियों ने पक्षों (उत्तरायण–दक्षिणायन) को बनाया, आने–जाने वाले स्नायुतन्तु इस पुरुष की जङ्घायें है, तथा दो उत्तानपाद शुद्ध करने वाली प्रक्रियायें हैं। मन से ज्योति

द्वारा निर्माण उत्पन्न होता है; ज्ञान दृष्टि या रश्मि से प्रेरित करने वाला आत्मा (सूर्य) उत्पन्न हुआ है, विशेष पोषण के सुख से अधिकार करने वाला इन्द्र ओर आकलन करने वाला अग्नि उत्पन्न हुआ, तथा प्राण या आगे गति करने से वायु उत्पन्न हुआ। उस पुरूष की नाभि से अन्तरिक्ष लोक (अभ्यान्तर शरीर) शिर से द्युलोक (दीप्तिमान् अध्यात्म या मूर्घा), पैरो से भूलोक (भौतिक शरीर), कानों से दिशायें अर्थत् मार्ग, और इसी प्रकार अन्य लोकों की तुलना की गई। अब कुछ शारीरिक अगों का वर्णन रोग के संदर्भ से दशममण्डल के सूक्त 163 वें में उपलब्ध है,यद्यपि अनेक अन्य स्थानों पर भी एकाकी वर्णन प्राप्त होते है। संक्षेप रूप में ये हैः–

दोनों आंखे, दोनों नथुने, दोनों कान, ठोढ़ी, शिर, मस्तिष्क, जिह्वा।[613] दोनों बाहुओं, दोनों कन्धों, नीचे ग्रीवा की शिराओं, ऊपर शिर की ओर जाने वाली नाडियों, अस्थियों, और सन्धियों।[614] आंतों, स्थूल आंतों, गुदा स्थानों, हृदय, दोनों गुर्दे, यकृत, प्लीहा आदि अवयवों।[615] दोनों जांघें, अस्थियुक्त जोड़ों अर्थात् दोनों घुटनों दोनो एड़ियों दोनों पजों, दोनों नितम्बों, कदि प्रदेश, पेडू।[616] मूत्राशय, शिश्न, लोम, नख, सभी चैतन्ययुक्त स्थानों अर्थात् मन इन्द्रियादि।[617] अङ्गों-अङ्गों में, लोम-लोम में, पर्व-पर्व में सभी प्रकार के चैतन्यमय स्थानों[618], का वर्णन किया गया है।

पहले भी नाडी-स्नायु आदि का वर्णन किया गया है, जिसमें नीचे जाने वाली सौ या निन्यांनवे नाडियाँ, ऊर्ध्व में जाने वाली एक नाड़ी तथा मस्तिष्क में चलने वाली दस नाड़ियों का वर्णन मिलता है। ये नाड़ियाँ उदक में स्थित रश्मि से तथा वात द्वारा संचालित होती हैं। यद्यपि इनके अनेक मार्ग बताये गये हैं, किन्तु सतहत्तर मार्गों को जान लिया गया था। इस प्रकार हम देखते हैं कि ऋग्वैदिक ऋषियों को शारीर का वृहत् और परिपक्व ज्ञान था।

---

613. ऋग्वेद 10:61:12
614. ऋग्वेद 1:164:37
615. ऋग्वेद 10:61:10
616. ऋग्वेद 10:124:5
617. ऋगवेद 10:144:2

(ख) वैदिक विज्ञान की प्रकृति, क्षेत्र एवं विषयवस्तु का समीक्षात्मक अध्ययन एवं उनका प्राचीन दार्शनिक–वैज्ञानिक संदर्भों में पुष्टीकरण–

(1) वैदिक विज्ञान की प्रकृति :

वेद में ज्ञान और विज्ञान का भेद दृष्टिगोचर नहीं होता, और उस काल में कदाचित ऐसा भेद सम्भव भी नहीं था। तथापि, 'विजानाति', 'विज्ञायते,' 'विपश्यन्' आदि शब्दों से विशेषता परक अवधारणा का भान होता है। वैज्ञानिक विधियों के प्राप्त होने से और प्रेक्षण पर अधिक बल दिये जाने से तथा तथ्यों को वाणी में प्रकट करने की युक्तियों से भी विज्ञान की अवधारणा का अनुमान होता है। यथा–

पश्वा यत्पश्चा वियुता बुधन्तेतिब्रवीति वक्तरी रराणः।[613]

अर्थात् प्रेक्षणकर्त्ता द्वारा जिस परिणामरूप ज्ञातव्यों को वक्ता को दिया जाता है, जो ज्ञान की प्रक्रिया को बतलाता है। और देखे–

न वि जानामि यदिवेदमस्मि निण्यः संनद्धो मनसा चरामि।
यदा मागन्प्रथमजा ऋतस्यादिद्वाचो अश्नुवे भागमस्याः।।[614]

अर्थात् मैं विशेष ज्ञान नहीं रखता कि मैं इस (ज्ञान) के अनुरूप हूँ। मैं कर्म के निर्णय से आबद्ध होकर या विकासोन्मुख होकर मन द्वारा संचालित होता हूँ। जब ऋत की प्रथम उत्पन्न होने वाली ऊर्जा ने मुझे प्राप्त किया, तब केवल इस वाणी के भाग को प्राप्त करता हूँ।

(अ) ऋत की संकल्पना :

अब ऋत के तथ्यों को वाणी में परिवर्तित करने में ऋत–युक्तियों के

613. ऋग्वेद 10:61:12
614. ऋग्वेद 1:164:37

विषय में देखिये–

मक्षू कनाया सख्यं नवग्वा ऋतं वदन्त ऋतयुक्तिमग्मन्।[615]

अर्थात् अब ऋत को बतलाते हुये नवीन गतियों वाले ऋषियों ने गतिमान प्रकाशवती वाणी के समान परिवेश में ऋत की विधि को प्राप्त किया।

ऋत के द्वारा ज्ञान प्राप्त करने और अनृत के विवेचन से भी ज्ञान प्राप्त करने की विद्या अत्यधिक उन्नत विचार प्रणाली और वैज्ञानिक अवधारणा को दर्शाती है। यथा–

ऋतेन राजन्ननृतं विविञ्चन् ममराष्ट्रस्य धिपत्यं एहि।।[616]

अर्थात् ऋत के द्वारा प्रकाशित होते हुये अर्थात् ज्ञान प्राप्त करते हुये, तथा अनृत का विशेषतः विवेचन करते हुये, मेरे प्रकाशित होने वाले ज्ञान के अधिकार को प्राप्त कराइये।

ज्ञान का ऋग्वेद काल में बहुत महत्व था और इसे प्राप्त करने सम्बन्धी अनेक प्रार्थनाये उपलब्ध होती है।

अयमस्मासु काव्य ऋभुर्वज्रो दास्वते।
अयं विभर्त्यूर्ध्वकृशन मदमृभुर्न कृत्वयं मदम्।।[617]

अर्थात् यह ज्ञान दानशील से हममें प्राप्त हुआ वज्र है, जैसे जाने वाली आदित्यरश्मि सोम को बनाया करती है, यह ज्ञान ऊर्ध्व में प्रकाशयुक्त आनन्द को धारण करता हैं।

उभाउनूनं तदिदर्थयेथे, वितन्वाथे धियो वस्त्रापसेव।
सध्रीचीना यातवे प्रेमजीगः सुदिनेव पृक्षआ तंसयेथे।।[618]

---

615. ऋग्वेद 10:61:10
616. ऋग्वेद 10:124:5
617. ऋग्वेद 10:144:2
618. ऋग्वेद 10:106:1

अर्थात् अब उस केवल परिपूर्ण ज्ञान की शीध्र इच्छा करो, वस्त्रकर्म की भाँति बुद्धियों को विशेषतः तानो, प्रयाण के लिये निरन्तर प्राप्त होने वाले शुभ दिनों की भांति इस साथ चलने वाली विद्या को संधर्ष में सजाओ।

तथापि, साधारण ज्ञान और ऋत के अनुसार विज्ञान में भेद भी स्पष्ट किया गया है–

आपः भूयिष्ठा इत्येको अब्रवीदग्निर्भूयिष्ठ इत्यन्यो अब्रवीत्।
वर्धयन्ती बहुभ्यः प्रैको अब्रवीदृता वदन्तश्चमसाँ अपिंशत।।[619]

अर्थात् जल अत्यधिक है कोई ऐसा कहता है, अग्नि अत्यधिक है ऐसा दूसरा कहता है, आगे कोई अनेकों से बढ़ी हुई बतलाता है, किन्तु ऋतों को बतलाता हुआ व्यक्ति चम्मचों में अर्थात् टुकड़ों में विभाजित करता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि ऋत परिपूर्ण ज्ञान है, किंवा यह विज्ञान का पर्याय है। इसकी विधियाँ हैं जिनसे ज्ञान प्राप्त किया जाता है और युक्तियों से उन्हें बतलाया जाता है। ऋग्वैदिक ऋषियों की ऋत की संकल्पना क्या थी, यद्यपि यह पूर्णतः स्पष्ट नही होता, क्योंकि व्युत्पत्ति से ऋत के अर्थ 'गया हुआ' या 'प्राप्त हुआ' होते हैं; प्रकारान्तर से उदक को और यज्ञ को भी ऋत कहा गया है, तथापि ये विज्ञान रुप ऋत से किस प्रकार भिन्न है यह कुछ मन्त्रों की विवेचना से स्पष्ट हो सकेगा।

ऋतस्य पथा नमसा मियेधो देवेभ्यो देवतमः सुषूदत्।।[620]

अर्थात् सर्वाधिक दीप्तिामन् इन्द्र, दीप्तिमानों (देवों) के लिये जल के मार्गों को यज्ञ से निर्माण हेतु क्रमबद्ध किया करता है।

तनूनपात्पथ ऋतस्य यानान्मध्वा समञ्जन्त्स्वदया सुजिह्व।
मन्मानि धीमिरुत यज्ञमृन्धन्देवत्रा च कृणुह्यध्वरं नः।।[621]

अर्थात् अग्नि जल के मार्ग में जाते हुये उदक के साथ सजाते हुये

619. ऋग्वेद 1:161:9
620. ऋग्वेद 10:70:2
621. ऋग्वेद 10:110:9

सब ओर से अच्छी तरह बाँध करके शरीरों की रक्षा करते हैं, और बुद्धियों द्वारा गोपनीय विचारों को यज्ञ में विकसित करते हुये और प्रकाशमान् से हमको अन्तरिक्ष में बनाते हैं।।

ऋत की अवधारणा वस्तुतः क्या है, यह जानने के लिये ऋत का जन्म, उसकी प्रक्रिया, रूप आदि का अध्ययन जरूरी है। अतः हम निम्न मन्त्रों को देखें :-

ऋतं च सत्यं चाभीद्धात्तपसोऽध्यजायत।
ततो रात्र्यजायत ततः समुद्रो अर्णवः।।[622]

अर्थात् ऋत और सत्य प्रज्ज्वलित किये गये प्रकट ताप से ऊर्ध्व में उत्पन्न हुये, वहाँ से रात्रि (सुषुप्त ऊर्जा) उत्पन्न हुई, वहाँ से गति से युक्त अन्तरिक्ष उत्पन्न हुआ।

यहाँ पुनः ऋत के अर्थ प्रारम्भिक उदक और सत्य के अर्थ मन (सत्व) माने जाने पर भी मन्त्र के अर्थ में कोई विशेष अन्तर नहीं आता है। सृष्टि की प्रक्रिया में तो ऐसा हुआ भी है जैसा यह मन्त्र संक्षेपतः बतला रहा है। अब एक मन्त्र और देखिये-

ऋतस्य ही शुरधः सन्ति पूर्वीर्ऋतस्य धीतिर्वृजिनानि हन्ति।
ऋतस्य श्लोको बधिरा ततर्द कर्णा बुधानः शुचमान आयोः।।[623]

अर्थात् ऋत के ही पूर्वकाल के जल थे, ऋत विचारण कष्टों का नाश करता है, ऋत का यश दुखी जीवन का जागरण करता हुआ बहिरे कानों का भी भेदन कर देता है।

ऐसा लगता है कि जलों को और यज्ञ को भी ऋत इस कारण ही कहा गया कि वे ऋत के नियमों पर निर्भर थे। ऋग्वैदिक ऋषियों की दृष्टि में ये नियम शाश्वत थे। यथा-

622. ऋग्वेद 10:190:1
623. ऋग्वेद 4:23:18

न ता मिनन्ति मायनोन धीरा वृता देवानां प्रथमा ध्रुवाणि।
न रोदसी अद्रुहा वेद्यामिर्न पर्वता निनमे तस्थिवांसः।।[624]

अर्थात् देवताओं के प्रथम नियम ध्रुव हैं, उनको न निर्माणकर्त्ता और न बुद्धिमान जन बदल सकते हैं। ज्ञानों के द्वारा भी उन्हें द्रोहन करने वाले द्यावापृथिवी और स्थित पर्वतों की भाँति नहीं झुकाया जा सकता है।

ऋत के इन नियमों में कर्म का बहुत महत्व है; यज्ञ को भी कर्म कहा गया है, इस कारण ही यज्ञ का भी नाम 'ऋत' पड़ा हो। हम ज्ञान प्रक्रिया में कर्म के महत्व को पहले ही बतला चुके हैं। अब,

निण्यः संनद्धो मनसा चरा मि।
यदा मागन्प्रथमजा ऋतस्य......।।[625]

तथा–

ऋतस्य योगे वि ष्यध्वमूधः।।[626]

अर्थात् मैं कर्म के निर्णय से विकासोन्मुख होकर मन द्वारा संचालित होता हूँ, जब ऋत की प्रथम उत्पन्न होने वाली ऊर्जा ने मुझे प्राप्त किया। तथा– ऋत के योग में कर्मप्रक्रिया को दौड़ाओ।

ऋग्वैदिक ऋषियों की ऐसी संकल्पना थी कि यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड 'ऋत' नाम के प्राकृतिक नियम द्वारा संचालित होता है; यह नियम शाश्वत और अपरिवर्तनीय है; सब कुछ 'ऋत' द्वारा संचालित होने से ही गत्यात्मक 'ऋत' नाम दिया गया। इसलिये किसी भी प्रक्रिया या संक्रिया को जानना ही ज्ञान है, और प्रक्रिया के इस ज्ञान को भाषा में अभिव्यक्त भी किया जा सकता है, तथा ऋत से संचालित गत्यात्मक प्रक्रियाओं के ज्ञान के लिये शिष्यों को प्रशिक्षित भी किया जा सकता है–

---

624. ऋग्वेद 356:1
625. ऋग्वेद 1:164:37
626. ऋग्वेद 10:30:11

शासत् .... विद्वाँ ऋतस्य दीधितिं सपर्यन्।।[627]

अर्थात् (जैसे) विद्वान आचार्य सेवारत ऋत के धारण करने वाले (शिष्य) को अनुशासित करता है।

तथापि, सर्वदा यह ध्यान रखने की आवश्यकता होती है कि "ज्ञाती चित्सन्तौ न समं पृणीतः।।[628] अर्थात् दो जानने वाले भी समान रूप से भरने (ग्रहण करने) वाले नहीं होते। इस लिये विभिन्न शिष्यों के लिये भिन्न प्रशिक्षण की आवश्यकता है।

अक्षण्वन्तः कर्णवन्तः सखायो मनोजवेष्वसभा बभूवुः।।[629]

अर्थात् नेत्रवाले, कानवाले, समान परिवेश वाले (सखायः) भी मन की गतियों (ऋत) में असमान होते हैं।

हृदा तष्टेषु मनसो जवेषु यद् ब्राह्मणो संयजन्ते सखायः।
अत्राह त्वं वि जहुर्वेद्याभिरोह ब्राह्मणो वि चरन्त्यु त्वे।।[630]

अर्थात् हृदय में निष्पादित मन की गतियों (ऋत) में जब समान परिवेश वाले उत्पाद के ज्ञाता साथ-साथ सक्रिय होते हैं, ठीक यहाँ वे किसी कहने-बताने योग्य व्यक्ति को विशेष रूप से छोड़ देते हैं, दूसरे अनेक ब्रह्मज्ञ व्यक्ति अब आगे ऊँचे उठकर विशेषतः बढ़ते हैं।

इमे ये नार्वाङ् न परश्चरन्ति न ब्राह्मणासो न सुतेक रासः।
त एते वाचमभिपद्य पापया सिरीस्तन्त्रं तन्वते अप्रजज्ञयः।।[631]

अर्थात् ये जो न तो समीप और न दूर, न उत्पाद के जानने वालों के और न एकसाथ उत्पादन करने वालों के साथ चलते हैं, वे ऐसे सब ज्ञान

---

627. ऋग्वेद 3:31:1
628. ऋग्वेद 10:177:9
629. ऋग्वेद 10:71:7
630. ऋग्वेद 10:71:8
631. ऋग्वेद 10:71:9

को न बढ़ाने वाले पाप के द्वारा वाणी को गिराकर वाक्‌जाल को फैलाते हैं (या मात्रहल जोतने योग्य है)

उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुर्नैनं हिन्वंत्यपि वाजिनेषु।
अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम्।।[632]

अर्थात् और, किसी को समान परिवेश में सुस्थिर रहने वाला कहा गया है, संघर्षों में भी इसे नहीं जीता जा सकता है। निर्माण करने वाली शक्ति द्वारा निष्फल, और प्रसादहीन वार्णी को सुन चुकने वाला, वाणी रहित के समान (द्वारा) ही विचरता है।

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।
उतो त्वस्मै तन्वं वि सस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः।।[633]

अर्थात् और, कोई वाणी (ज्ञान) को देखते हुये भी नहीं देखता है, और कोई सुनते हुये भी इस वाणी को नहीं सुनता है। और दूसरे व्यक्ति के लिये अब वाणी सुन्दर वस्त्रों वाली प्रेम से युक्त पत्नी की भाँति पति के लिये अपने शरीर को विशेषरूप से समर्पित कर देती है।

इस प्रकार हम देखते है कि ज्ञान के लिये मन की गति अर्थात् ऋत का विशेष महत्व हैं, इन्द्रियों का महत्व नहीं है। न ही समान परिवेश का कोई महत्व है। ज्ञान के लिये कहने-बताने या दिखाने का भी कोई विशेष महत्व नहीं होता; इसके योग्य व्यक्ति भी गत्यात्मकता के अभाव में पीछे छूट जाते हैं, और सक्रियता से गतिशील लोग ऊँचे उठ जाते हैं; वाणी उनके सामने अपने को पत्नी की भाँति समर्पित कर देती है। वाणी या ज्ञान के विपरीत आचरण करने वाले की गति सुकर्म की न होकर पापपूर्ण होती है।

यस्तित्याज सचिविदं सखायं न तस्य वाच्यपि भागो अस्ति।
यदीं शृणोत्यलकं शृणोति न हि प्रवेद सुकृतस्य पन्थाम्।।[634]

632. ऋग्वेद 10:71:5
633. ऋग्वेद 10:71:4
634. ऋग्वेद 10:71:6

अर्थात् जो वाणी को जानने वाले समान परिवेश को या मित्र को त्याग देता है, उसका वाणी में अंश या प्रकाश (ज्ञान) भी नहीं रह जाता है। इस वाणी को जब सुनता है निरर्थक सुनता है, और वस्तुतः अच्छे कर्मो के मार्ग को नहीं समझता है।

आदध्नास उपकक्षास उत्वे ह्रदा इव स्नात्वा उत्वे ददृश्रे।[635]

अर्थात् अब वे उन जलाशयों की भाँति जो स्नान करते हुये मुख के समीप तक तथा कमर के समीप तक पहुँचते हैं, उनसे जो मात्र दिखावटी हैं।

जो व्यक्ति जानने की प्रक्रिया को छोड़ देता है उसका ज्ञान भी नष्ट हो जाता है, और सुकर्म में उसकी समझ भी नष्ट हो जाती है। समान परिवेश के विद्वान भी सब दृष्टि में समान नहीं होते; कुछ अवगाह्य और कुछ मात्र दिखावटी होते हैं। ऐसे सब ज्ञान को न बढ़ाने वाले पाप के द्वारा वाणी को गिराकर वाक्जाल को फैलाते हैं।

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विनानाति योऽर्थम्।
योऽर्थज्ञ इत्सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञान विधूतपाप्मा।।
यद् गृहीतम विज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते।
अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित्।।[636]

अर्थात् वह जो वेद (ज्ञान) का अध्ययन करके भी जड़बुद्धिवाला (या मात्र संकलन करने वाला) है किन्तु अर्थ (प्रक्रिया) को विशेषतः नहीं जानता, मात्र भार ढोने वाला है। जो प्रक्रिया का जानने वाला है वह निश्चय तमाम शुभ को प्राप्त करता है, तथा ज्ञान से विनष्ट-पाप वाला होकर स्वर्ग को प्राप्त करता है। जो बिना जाने गृहण किया जाता है वह पाठरूप ही ध्वनि होती है, बुझी अग्नि पर सूखी लकड़ी रखने के समान वह कभी प्रज्ज्वलित नहीं होता।

इस श्लोक की व्याख्या में यास्क 'स्थाणु' को 'स्थिर' अर्थ वाली

---

635. ऋग्वेद 10:71:7
636. निरुक्त 1:18 में संदर्भित (संहितोपनिषद् से उद्घृत)

'स्था' धातु से और 'अर्थ' को 'जाना' अर्थ वाली 'अर्' धातु से व्युत्पन्न मानते हैं, और इस प्रकार स्थिरता और गति के दृष्टान्त से ज्ञान और विज्ञान की अवधारणा को स्पष्ट करते हैं।[637] आगे वे विज्ञान की शिक्षा के सम्बन्ध में बताते हैं कि-

नैकपदानि निर्ब्रूयात्। नावैयाकरणाय। नानुपसन्नाय। अनिदंविदे वा। नित्यं ह्यविज्ञातुर्विज्ञानेऽसूया।उपसन्नाय तु निर्ब्रूयात् यो वालं विज्ञातुं स्यात्। मेधाविनेतपस्विने वा।।[638]

अर्थात् (निघण्टु नैगमकाण्ड अध्याय चार में वर्णित) ऐक पदिकों (अर्थात् मन्त्र के किसी एक पद के किसी विशिष्ट संदर्भित शब्द जिनसे प्रक्रिया का ज्ञान होता है) को नहीं बतलाना चाहिये। न व्याकरण न जानने वाले को, न उस शिष्य को जो अन्तेवासी नहीं है (अर्थात् गुरु के समीप नहीं रहता है), समझने में असमर्थ को (नहीं बतलाना चाहिये), क्योंकि अज्ञानी का विज्ञान में नित्य ही दोषदर्शन रहता है। अन्तेवासी शिष्य को, जो इनको समझने में समर्थ, मेधावी अथवा तपस्वी को बतलाना चाहिये।

यहाँ तक यह सर्वथा स्पष्ट हो रहा है कि गत्यात्मकता विज्ञान का गुण है और ऋत तथा विज्ञान उसी से परिभाषित है, किन्तु वेद के विद्वानों में इस विषय में विवाद है, वे यास्क को भी अपने ढंग से प्रस्तुत करते हैं और 'गति' की अपेक्षा 'दृष्टि' को अधिक महत्व देते हैं। यथा-

'ऋषि' शब्द की व्युत्पत्ति के विषय में कतिपय विद्वानों का मत है कि 'सर्वधातुभ्य इण्' (उ.सू. 567) तथा 'इगुपधात् कित्' (उ.सू. 569) - इन सूत्रों के आधार पर 'ऋषी गतौ' (तु.प. 1288) धातुसे 'इण'प्रत्यय हुआ, 'कित्' होने के कारण गुण नहीं हुआ और 'ऋषि' शब्द बन गया। 'ऋषन्ति अवगच्छन्ति इति ऋषयः' ऐसा विग्रह मानकर वे ज्ञान-सम्पन्न व्यक्ति को ऋषि मानते हैं। गत्यर्थक 'ऋषी' धातु का 'ज्ञान' अर्थ मानने में उनका तर्क है- 'ये गत्यार्थास्ते ज्ञानार्थाः।' किन्तु हमें यह क्लिष्ट कल्पना निष्फल सी लगती है, ... 'ऋषी' धातु का केवल 'ज्ञान' अर्थ निकालने का कोई विशेष महत्व नहीं प्रतीत होता हमारे विचार से तो 'दृशिर् प्रेक्षणे' (भ्वा.प.

---

637. निरुक्त 1:18
648. निरुक्त 2:3

९८४) धातु से 'ऋषि' शब्द की निष्पत्ति मानी जाय तो अधिक उपयुक्त होगा। ऐसा मानने पर 'दृशि' शब्द से 'दकार' का लोप होकर बने हुये 'ऋषि' शब्द का अर्थ होगा – 'द्रष्टा'। ....

अब यदि 'ऋषी' धातु से ही ऋषि' शब्द की निष्पत्ति मानने का आग्रह हो तो 'गति' का अर्थ 'प्राप्त' मानने पर ही काम चलेगा– ऋषन्ति प्राप्नुवन्ति तपसा वेदमन्त्राम् इति ऋषयः।' इस प्रकार 'ऋषि' शब्द का अर्थ होगा 'तिरोहित वेदमन्त्रों का तपस्या द्वारा आविर्भाव करने वाला।[639]

और भी देखिये–

कात्यायन के 'सर्वानुक्रमसूत्र' में कहा गया है– 'द्रष्टारः ऋषयः स्मर्तारः'। अर्थात् 'ऋषि मन्त्रों के द्रष्टा और स्मर्ता हैं'। यास्क ने निरुक्त (नैगमकाण्ड 2:11) में लिखा है– 'ऋषिदर्शनात् स्तोमान् ददर्श'। आशय यह है कि 'ऋषियों ने मन्त्रों को देखा; इसलिये उनका नाम 'ऋषि' पड़ा।[640]

यहाँ संदर्भ ही गलत दिया गया है; 'ऋषिर्दर्शनात् स्तोमान्ददर्शे–त्यौपमन्यवः' अर्थात् यह औपमन्यव का मत है, तथापि अनेक स्त्रोत्रों में मैने आपके लिये यह नया स्तोत्र रचा है; मैं नया स्तोत्र रचूंगा', आदि जो कहा गया है, उससे औपमन्यव, के.इस मत का खण्डन हो जाता है। यास्क की अवधारणाा में तो– 'साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवः। ते अवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्यः उपदेशेन मन्त्रान्संप्रादुः।[641] अर्थात् ऋषिगण अक्षय कर्म करते हुये धारणा बनाने वाले होते थे; उन्होंने न अक्षय कर्म करते हुये धारणा बनाने वालों अवर ब्राह्मणों को समीप में स्थिर करके रहस्यों को सम्यक आगे प्रदान किया। यह अवधारणा वेद से भी पुष्ट होती है, यथा– 'पश्वा यत्पश्चा वियुता बुधन्तेति ब्रवीतिवक्तरी रराणः'[642] अर्थात् प्रेक्षणकर्ता द्वारा जिन परिणामरूप ज्ञातव्यों को वक्ता को दिया जाता है, जो ज्ञान की प्रक्रिया को बतलाता है। तथा– 'चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः। गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति।।'[643] अर्थात् वाणी या ऊर्जा से सर्वतः निर्मित चार स्थान या डग हैं, उनको जो मन से चलने वाले

639. श्री राधेश्याम खेमका (सं.) 'ऋषि विचार' कल्याण– वेदकथांक वर्ष 73 सं० 1,1999, पृ. 371–372
640. पं. रामगोविन्द त्रिवेदी, 'ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः', कल्याण, वही, पृ. 376
641. निरुक्त 1:2
642. ऋग्वेद 10:61:12
643. ऋग्वेद 1:164:45

उत्पाद के ज्ञाता हैं, वे जानते हैं। मानस गुहा में धारण हुये तीन स्थान तो प्राप्त नहीं होते हैं, वाणी का चौथा स्थान मानव जन बोलते हैं। तथैव, त्रिपादूर्ध्व उदैत्पुरुष पादोऽस्येहाभवत् पुनः[644] अर्थात् वह पुरुष तीन पादों से ऊर्ध्व में आगे जाता है, तथा इसका एक पाद इस लोक में बार-बार होता है। ज्ञातव्य है कि पुरुष ऊर्जापुञ्ज है और वाक् (ऊर्जा) द्वारा निर्मित है, तब वे ही चार पाद वाक् के भी होते हैं। निर्मित है, तब वे ही चार पाद वाक् के भी होते हैं।

सब कुछ विचार के बाद हमारा निर्णय तो यह बनता है कि 'ऋ' धातु और 'ऋष' धातु दोनों ही गत्यर्थक हैं, और इस प्रकार ऋत' को जानने वाला ही 'ऋषि' है। वही प्रक्रिया में गतिमान् है; प्रक्रिया को सक्रिय करता हुआ उसके परिणाम को जानने वाला, लाने वाला, और बताने वाला भी है। वह ज्ञाता, द्रष्टा, संचालक और प्रवक्ता सभी कुछ है।

यास्क ने ऋषि को ज्योतिरुप[645] माना है। निघण्टु[646] ने भी ऋषियों को रश्मि माना हैं निस्संदेह यह 'ऋष्' धातु के गत्यर्थक होने से ही है, तब ऋषि की रश्मि की भांति गतिमानता ही स्वीकार होनी चाहिये। किन्तु यह गतिमानता कर्मरूप में है, तभी वे 'साक्षात्कृतधर्मा' हैं। सर्वकर्मत्व की दृष्टि से वे विश्वकर्मा भी कहे जा सकते हैं, तब, उनके गुण निम्नवत् होंगे-

विश्वकर्मा विमना आद्विहाया धाता विधाता परमोत संदृक्।
तेषामिष्टानि समिषा मदन्ति यत्रा सप्तऋषीन्पर एकमाहुः।।[647]

अर्थात् समस्त कर्म करने वाले, विशेष मन (गति) से युक्त, उत्कृष्ट धारण करने वाले और विधान करने वाले ने अब, जहाँ सप्त रश्मियों (ऋषियों) का श्रेष्ठतम एक (मन) कहा जाता है अर्थात् अन्तरिक्षस्थान में सम्यक् दृष्टि से विशेषतः आगे बढ़कर उनके कर्मानुष्ठान रहितों को धातुओं के साथ पूर्णतः आनन्दित किया।

---

644. ऋग्वेद 10:90:4
645. निरुक्त 10:26
646. निघण्टु 1:5
647. ऋग्वेद 10:82:2

इस पर यास्क की टिप्पणी निम्नवत् है–

विश्वकर्मा विभूतमना व्याप्ता धाता च। विधाता च। परमश्च संद्रष्टा भूतानाम्। तेषामिष्टानि वा कान्तानि वा क्रान्तानि वा गतानि वा मतानि वा नतानि वा।[648]

यह व्याख्या ठीक वैसी ही है जैसी उपनिषद् में है–

एष हि द्रष्टा स्प्रष्टा श्रोता घ्राता रसयिता मन्ता बोद्धा कर्ता विज्ञानात्मा पुरुषः स परेऽक्षर आत्मनि सम्प्रतिष्ठते।।[649]

यह विज्ञानात्मा की स्थिति है, जिनके अर्थ स्पष्ट हैं। अब विज्ञानी ऋषि के लिये कुछ कहने को शेष नहीं रह जाता। ऋत से युक्त वह ही गतिशील प्राण और प्रेरक मनरूप है, तथा प्रक्रिया और कर्म में युक्त होकर इष्ट प्राप्ति का प्रकाशयुक्त संकल्प है।

अब इसी संदर्भ में 'मुनि' पर भी विचार कर लेते हैं, जो मनीषी, मननशील या मनयुक्त कहा जा सकता है, और जिसकी व्युत्पत्ति[650] मनुते जानातियः, √मन् + इन्, उत्व' करके दी गई है। इस प्रसंग में निम्न मन्त्रों पर विचार करेंगे–

मुनयो वातरशनाः पिशङ्गा वसतेमला।
वातस्यानु धाजिं यन्ति यद्देवासो अविक्षत।।[651]

अर्थात् वात (प्राण) और रश्मियों (वाक्, ऊर्जा) से सजे हुये अङ्गों वाले मन से युक्त (मनीषी) जन विकारों को ढँक लेते हैं, फिर जिनमें दीप्तियों (देवों) ने प्रवेश किया वे वात (प्राण) की गति को प्राप्त करते हैं।

उन्मदिता मौनेयेन वातॉं आ तस्थिमा वयम्।
शरीरेदस्माकं सूयं मर्तासो अभि पश्यथ।।[652]

648. निरुक्त 10:26
649. प्रश्नोपनिषद् 4:9
650. सं. श. कौ. पृष्ठ 929
651. ऋग्वेद 10:136:2
652. ऋग्वेद 10:136:3

अर्थात् मुनियों के गुणों अर्थात् मन की युक्तता से प्राणों में स्थित हुये मनीषीजन ऊर्ध्व (मस्तिष्क) में आनन्दित हुये, उनके मरणशील शरीर अर्थात् रसादि धातुयें भी मनुष्य सम्मुख देखते हैं।

अन्तरिक्षेण पतति विश्वा रूप चाकशत्।
मुनिर्देवस्य देवस्य सौकृत्याय सखा हितः।।[653]

अर्थात् मन से युक्त (मनीषी) प्रत्येक दीप्ति के समस्त रूपों (जैसे- रश्मि, प्रकाश, ताप, ऐश्वर्य आदि) का आभास करते हुये सुकर्मता के हेतु से समान परिवेश को धारण किये हुये अन्तरिक्ष से गिरता है। अर्थात् कर्म करने के लिये ऊर्ध्व की स्थिति वाला मनीषी भी दीप्ति के रूप के समान परिवेश को धारण करके अन्तरिक्ष से पृथिवी पर (शरीर में) उतरता है।

वातस्याश्वो वायोः सखाऽथो देवेषितो मुनिः।
उभौ समुद्रावा क्षेति यश्च पूर्व उतापरः।।[654]

अर्थात् इसके बाद (तब) प्राण को वहन करने वाली ऊर्जा (वाक्) वाला, प्राण के समान परिवेश वाला, दीप्ति द्वारा प्रेषित, मन से युक्त (मनीषी) दोनों समुद्रों को, एक जो पहले वाला मूर्धा में स्थित उदक से युक्त, और जो दूसरा पीछे वाला अन्तरिक्ष (या अन्तः शरीर) में स्थित सोम से युक्त, सर्वतः अधिकार करता है।

अप्सरसां गन्धर्वाणां मृगाणां चरणे चरन्।
केशी केतस्य विद्वान्त्सखा स्वादुर्मदिन्तमः।।[655]

अर्थात् सर्वाधिक आनन्दित, विद्यावान्, गति के समान परिवेश वाले, रश्मियों से युक्त प्राण (आत्मा) ने उदक के अध्यात्म पाद, वायु के अधिदेव पाद तथा पृथिवी (शरीर) के अधिभूत पाद पर संचरण करते हुये स्वाद लिया।

स्पष्ट है कि मुनि भी गतिशील ऋषि हैं, जबकि वे मन अर्थात्

---

653. ऋग्वेद 10:136:4
654. ऋग्वेद 10:136:5
655. ऋग्वेद 10:136:6

विचारण या मापन से युक्त हैं, तथा ऊर्जा के सभी रूपों को जानने वाले और उन्हें नियंत्रित करने वाले, वे आत्म स्वरूप होकर ऊर्ध्व मस्तिष्क में निवास करते हैं, किन्तु वहाँ के उदक-समुद्र पर तथा अन्तः शरीर के सोम-समुद्र पर भी नियन्त्रण रखते हैं, और अध्यात्म, अधिदेव और अधिभूत पादों का स्वाद लेते हुये भी अपने स्वरूप में वे हाड़-मांस युक्त शरीर वाले मनुष्य ही हैं। वे ऊर्ध्व (ज्ञान) में सदा निवास करने वाले भी कर्म के हेतु से गतिशील मन-प्राण से युक्त हो ऊर्जा-रूपों द्वारा संक्रियाओं का संचालन करने के लिये पार्थिव शरीर में उतरते हैं।

(ब) वैज्ञानिक विधियाँ :

जैसा पहले कहा गया है कि ऋत के द्वारा ज्ञान प्राप्त करना और अनृत का विशेषतः विवेचन करने की आवश्यकता होती है।[656] ये विज्ञान के सिक्के के दो पहलू हैं। ऋत की सम्यक स्थिति यथार्थ ज्ञान और प्रक्रिया को बतलाने वाली है, तो अनृत की विवेचना त्रुटियों और दोषों को स्पष्ट करने वाली होती हैं, जिसके परिहार से भी यथार्थ ज्ञान और प्रक्रिया का अनुमाव होता है। वैज्ञानिक विधि में दोषों का निवारण और त्रुटियों का आकलन करना महत्वपूर्ण होता है, इस कारण ही कहीं-कहीं त्रुटिरहित ज्ञान को ही विज्ञान बतलाया जाता है।

त्वष्टा शन्तमा देवपानानि पात्रा बिभ्रत
माया अपसां अपस्तमः वेत्।।[657]

अर्थात् प्रदीप्त करने वाले (त्वष्टा) ने अत्यधिक कुशलता से (शन्तमा) दीप्ति को पैना करने वालों या बचाव करने वालों (देवयानानि) और क्रिया आधारित रक्षण वालों (पात्रा) को पकड़ते हुये तथा मापन के द्वारा अशुद्धों में अशुद्धतम को जाना। इस विवरण में कर्म, कुशलता, नियंत्रण, उपकरण, मापन और प्रेक्षण, ये अनेक वैज्ञानिक स्थितियों का योग है। इन वैज्ञानिक स्थितियों को यत्र तत्र बतलाया गया है तथा अनेक प्रश्न भी उपस्थित किये

---

656. देखें ऋग्वेद 10:124:5 पीछे टिप्पणी 618 में।
657. ऋग्वेद 10:53:9

गये हैं।

कासीत्प्रमा प्रतिमा किं निदान माज्यं किमासीत्परिधिः क आसीत्।
छन्दः किमासीत्प्रउगं किमुक्थं यद्देवा देवमयजन्त विश्वे।।[658]

अर्थात् अग्रमापन क्या था? पश्चमापन क्या था? निदान और प्रकाश (परिणाम का ज्ञान) क्या था ? परिधि क्या थी? छन्द क्या थे? अब आगे जाने वाला (प्राण) और वाणी (वाक्) कौन थे, कि समस्त दीप्तियों ने देव इन्द्र (मन) को सक्रिय किया?

इसका विवेचन हम इसी अध्याय की टिप्पणी 78 और उससे आगे कर चुके हैं। यहाँ हम मापन की ऋग्वैदिक प्रणाली पर थोड़ा विचार करेंगे। सब से पहले मापन की इकाई और पैमाना निश्चित करना पड़ेगा।

तुच्छ्येनाभ्वपिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिना जायतैकम्।।[659]

अर्थात् तुच्छ से वर्तमान हुआ जो अव्यक्त था वह तप (कर्म) के विस्तार से या महानता से इकाई रूप में उत्पन्न हुआ। अर्थात् तुच्छ से महान तक इकाइयों के रूप में अभिव्यक्ति होती है; यह है मापन और मापक (पैमाने) की संकल्पना का आधार।

एको बहुनामसि मन्युवीळितो विशंविशं युधये सं शिशाधि।।[660]

अर्थात् हे मनोयुक्त ! बहुतों के बीच इकाई रूप हो, संघर्ष (कर्म) के लिये प्रेरित होकर प्रत्येक अंश को साथ-साथ पैना करो।

यहाँ भी मापन और मापक की संकल्पना का आधार ही प्रस्तुत है। इन दोनों पूर्वमन्त्रों में जो मन का सम्बन्ध इकाई रूप से निश्चित किया गया है, वह उसके गुणों के कारण है जिसे 'अणुत्वं अथचैकत्वं द्वौगुणौ मनसः स्मृतौ'[661] बताया गया है और उसी 'तुच्छ से लेकर महानता तक' या 'बहुतों

658. ऋग्वेद 10:130:3
659. ऋग्वेद 10:129:3
660. ऋग्वेद 10:84:4
661. चरक. शा. 1:19

के बीच अंशरूप' भाव से अभिहित है, और तब 'मा' मापने धातु से ही 'मन' की व्युत्पत्ति अभीष्ट भी है। हमारे इस विचार की पुष्टि इस मन्त्र में निहित है–

समानां मास आकृतिः।[662]

अर्थात् पैमाने (मासः) समान (इकाइयों) की सर्वतः निर्मिति हैं। किन्तु, पैमाने की इकाइयों की यह समानता (माः) सर्वकालिक और सार्वभौमिक नहीं है, तथा इकाइयां समान होते हुये भी देश–काल–परिस्थिति में उनके मापों में अन्तर समझा जा सकता है।

समौ चिद्धस्तौ न समं विविष्ट सम्मातराचिन्न समं दुहातो।
यमयोश्चिन्न समावीर्याणि ज्ञाती चित्सन्तौ न समं पृणीतः।।[663]

अर्थात् दो समान हाथ भी समान रूप से विशेष सक्रिय नहीं होते, समान निर्माण करने वाली से भी समान प्राप्ति नहीं होती, जुड़वाँ होने वाले भी बल में समान नहीं होते, दो ज्ञानी भी समान रूप से ग्रहण करने वाले नहीं होते।

निश्चय ही अन्तराल पैमाने 'इण्टरवल स्केल' के विभिन्न बिन्दुओं के बीच समानता में किसी विशिष्ट मामले के परिप्रेक्ष्य में, अन्तर सम्भावित हो सकता है। अब क्रमिक पैमाने अर्थात् ऑर्डिनल स्केल के बारे में निम्न मन्त्रों का अध्ययन करें–

ऋतस्य पथा नमसा मियेधो देवेभ्यो देवतमः सुषूदत्।।[664]

अर्थात् दीप्तिवानों (ज्ञानियों) के लिये सर्वाधिक देने वाले मन (इन्द्र) ने ऋत के मार्गों को वाक् (ज्ञान) द्वारा मापने–परखने के हेतु से क्रमबद्ध किया।

---

662. ऋग्वेद 10:85:5
663. ऋग्वेद 10:117:9
664. ऋग्वेद 10:70:2

संपश्यन्पङ्क्तीरुपतिष्ठमानः ।।[665]

अर्थात् क्रमों को साथ-साथ देखता हुआ समीप में स्थिर होता है।

ये उद्धरण क्रमिक पैमाने का बोध तो कराते ही हैं, साथ-साथ अध्ययनों में प्राथमिकता क्रमों का आधार, त्रुटिरहित चयन, आँकड़ों का संकलन तथा वर्गीकरण के आधार भी प्रस्तुत करते हैं।

अब तीसरे नामिक-पैमाने (नॉमिनल स्केल) पर तो यथेष्ट प्रमाण वेद में संग्रहीत हैं, और-यास्क ने इनका विषद वर्णन निरुक्त के दैवत-प्रकरण में किया है-

तिस्र एव देवता, अग्निः पृथिवीस्थानः, वायुर्वेन्द्रो वा अन्तरिक्षस्थानः, सूर्यो धुस्थानः। तासां माहाभाग्या-देकैकस्या अपि बहूनि नामधेयानि भवन्ति, अपिवा पृथगेव स्युः, पृथग्धि स्तुततयो भवन्ति, तथा अभिधानानि यथो एतत्कर्मपृथक्त्वादिति बहवोऽपिविभज्य कर्माणि कुर्युः तत्र संस्थानैकत्वं संभोगैकत्वं च उपेक्षितव्यम्। .... ।।5।। अथ आकारचिन्तनं देवतानाम्। पुरुषविद्याः स्युरित्येकम्। चेतनावद्धद्धि स्तुतयो भवन्ति, तथाभिधानानि। अथापि पौरुषविधिकैरङ्गैः संस्तूयन्ते........, अथापि पौरुषविधिकैर्द्रव्यसंयोगैः......, अथापि पौरुष विधिकैः कर्मभिः........., अपुरुषविधा स्युरित्यपरम् ...., अपि वा उभयविद्या स्युः, अपि वा पुरुष विद्यानामेव सतां कर्मात्मान एते स्युः यथा यज्ञो यजमानस्य।...... ।।6-7।।[666]

अर्थात् तीन ही देवता हैं, पृथिवी स्थान वाला अग्नि, अन्तरिक्षस्थान वाला वायु अथवा इन्द्र, और द्युस्थान वाला सूर्य। इनमें से प्रत्येक अपनी महानता के कारण व कर्मपृथकता के कारण बहुत से नाम प्राप्त करता है। अथवा वे पृथक् हो सकते हैं क्योंकि उनकी स्तुतियां तथा साथ ही उनके अभिद्यान भी प्रथक् हैं। और जैसे कि इस कर्मपृथकता के कारण अनेक रूप में विभाजित होकर कर्म करते है, वहाँ संस्थान की एकता तथा भोग की एकता पर ध्यान दिया जाना चाहिये ....।।5।। अब देवताओं के आकार का

665. ऋग्वेद 10:117:8
666. निरुक्त 7:5-7

चिन्तन प्रारम्भ करते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि वे पुरुष के समान हैं, क्योंकि इनकी स्तुतियां और उसी प्रकार अभिधान निस्संदेह चेतन प्राणियों की भांति ही हैं। इसके अतिरिक्त उनकी स्तुति पुरुष के समान अङ्गों के सम्बन्ध से की जाती है, इसके अतिरिक्त पुरुषों जैसे द्रव्यसंयोग के द्वारा की जाती है, इसके अतिरिक्त पुरुषों जैसे कर्मों के द्वारा की जाती है। दूसरे कहते हैं कि वे पुरुष के समान नहीं हैं, अथवा पुरुषापुरुष दोनों के समान हैं, अथवा सर्वदा कर्म के रूपों में ही उनके ये पुरुष जैसे रूप होते हैं, जैसे यजमान का यज्ञ ....।।6–7।।

तथापि तीनों उपर्युक्त देवताओं को एक में ही समाहित भी माना है। यथा–

यत्र वैद्युतः शरणमभिहन्ति यावदनुपात्तो भवति मध्यमधर्मैव तावद् भवत्युदकेन्धनः शरीरोपशमनः। उपादीयमान एवायं सम्पद्यत उदकोपशमनः शरीरदीप्तिः। अथादित्यात्। उदीचि प्रथमसमावृत्त आदित्ये कंसं वा मणिं वा परिमृज्य प्रतिस्वरे यत्र शुष्कगोमयमसंस्पर्शयन् धारयति तत्प्रदीप्यते। सोऽयमेव सम्पद्यते।।[667]

अर्थात् जहाँ विद्युन्मय अग्नि आश्रय के किसी स्थान पर प्रहार करती है, वह अन्तरिक्षस्थानीय अग्नि की विशेषतायें बनाये रखती है, अर्थात् जलों में चमकना तथा ठोस पदार्थों में समाप्त हो जाना, जब तक कि वह पदार्थ ग्रहण नहीं कर लिया जाता। परन्तु जैसे ही वह ग्रहण कर लिया जाता है, वही पार्थिव अग्नि उत्पन्न हो जाती है, जो जल में समाप्त हो जाती है, तथा ठोस पदार्थों में चमकती है।

अब निम्न उसकी सूर्य से उत्पत्ति की विधि है। सूर्य के प्रथम बार उत्तरी गोलार्ध की ओर घूमने पर कोई मनुष्य काँसे या मणि के स्वच्छ किये गये खण्ड को उसका स्पर्श न करते हुये, सूर्य की किरणों को एक ऐसे स्थान पर केन्द्रित करते हुये पकड़ता है जहाँ पर कुछ सूखा हुआ गोबर है, तो वह प्रदीप्त हो जाता है, तथा वही पार्थिव अग्नि उत्पन्न हो जाती है।

667. निरुक्त 7:23

यही बात इस मन्त्र से भी पुष्ट होती है-

त्रिस्रो मातृस्त्रीन् पितृन् विश्वदेक ऊर्ध्वस्तस्थौ नेममवग्लापयन्ति।।[668]

अर्थात् एक ही सूर्य तीन पृथिवी और तीन द्युलोकों को धारण करता हुआ ऊपर स्थित है। इसको कोई भी ग्लानि को प्राप्त नहीं करा सकता।

इस प्रकार की एकता का एक प्रसिद्ध उदाहरण निम्न मन्त्र है-

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गुरुत्मान्।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्नि यमं मातरिश्वान माहुः।।[669]

अर्थात् मन रूपी सत्तात्मकता को बुद्धिमानजन अनेक प्रकार की बतलाते हैं, उससे ही अग्नि को, यम को, प्राण को कहा जाता है। अब आगे पक्षों वाला वह दीप्तिमान् आत्मा, इन्द्र को, मित्र को, वरुण को, अग्नि को कहते हैं।

यास्क ने तो निघण्टु के प्रथम अध्याय की सभी सूचियों की व्याख्या ऊर्जा के विभिन्न रूपों की संज्ञारूप में की हैं।[670]

इस प्रकार हम देखते हैं कि नामिक पैमाने पर तो यथेष्ट सामग्री वेद में है। निघण्टु के प्रथम तीन अध्यायों (नैघण्टुक काण्ड) की सूचियाँ तो नामिक पैमानों के ही विभिन्न रूप हैं। अब हम आनुपातिक पैमाने के विषय में भी विचार करेंगे। आनुपातिक रूप में अर्द्ध या अर्ध, पद या पाद, शफ, कुष्ट, कला आदि शब्द अनेक स्थानों पर मिलते हैं, जिनसे 1/2, 1/4, 1/8, 1/12 तथा 1/16 आदि का अर्थ है। दूसरी ओर खं या खे, दश, शत, सहस्र, अयुत आदि दाशमलिक प्रणाली, धाताङ्कों के साथ ही आनुपातिक अवधारणा को भी प्रकट करते हैं।

सिषक्ति पूषा अभ्यर्धयज्वा।।[671]

---

668. ऋग्वेद 1:164:10
669. ऋग्वेद 1:164:46
670. निरुक्त अध्याय 2
671. ऋग्वेद 6:50:5

अर्थात् आधे को सक्रिय करने वाला पोषणकर्ता उसे सम्मुख सींचता है।

सप्तार्धगर्भाः भुवनस्य रेतो।।[672]

अर्थात् अन्तरिक्ष की गति सात आन्तरिक स्थानों के मध्य है।

इन उद्धरणों में एक में तो विभाग है किन्तु कितना इसका अनुमान नहीं मिलता, दूसरे में अर्द्ध का अर्थ मध्य है, इस प्रकार पैमाने पर के बिन्दु से विभिन्न अर्थ निकलते है। आधुनिक सांख्यिकी में भी पैमाना माध्य, माध्यिका, बहुलक और प्रतिशताङ्क आदि की दृष्टि से भिन्न-भिन्न स्थितियां प्राप्त कर लेते हैं।

पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।।[673]

अर्थात् इसका एक चतुर्थांश विश्व में (आ विश्व) और तीन चौथाई भूतों, अमृत और द्युलोक में हैं।

त्रिपादूर्ध्व उदैत् पुरुषः पादोऽस्येहाभवत् पुनः।।[674]

अर्थात् पुरुष तीन चौथाई से ऊर्ध्व में ऊपर जाता है, इस पुरुष का एक चतुर्थांश इस लोक में बार-बार होता है।

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि
तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति
तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति।।[675]

अर्थात् ऊर्जा या वाणी से नापे हुये चार भाग हैं, उनको विचारवान् ब्राह्मण जानते हैं। मानस गुहा में निहित तीन भाग तो प्राप्त नहीं होते; वाणी

---

672. ऋग्वेद 1:164:36
673. ऋग्वेद 10:90:3
674. ऋग्वेद 10:90:4
675. ऋग्वेद 1:164:45

का चौथा भाग मनुष्यजन बोलते हैं। पूर्ववत् यहाँ भी स्थिति वही है कि पैमाना तो है, मापन भी होता है, किन्तु विभागों की समानता को निश्चित नहीं किया जा सकता, और न उनके स्थान या बिन्दु ही निश्चित किये जा सकते हैं। सभी में स्थिति भिन्न-भिन्न दिखाई देती है।

अब मापकों (पैमानों) पर तो स्थिति पर्याप्त स्पष्ट हो चुकी है, तब मापन पर तथा उसकी विधियों पर हम विचार कर रहे हैं। पीछे जो पाद टिप्पणी 81 तथा 661 में ऋग्वेद 10:130:3 का मन्त्र दिया गया है, उससे प्रमा अर्थात् अग्रमापन (प्रोजेक्टिव मेजरमेन्ट), प्रतिमा अर्थात् पश्चमापन (एक्स पोस्ट फैक्टो मेजरमेन्ट), तथा छन्दः अर्थात् छेदन-भेदन द्वारा मापन (क्रास-सेक्शनल मेजरमेन्ट पर तो प्रकाश पड़ता है। इसके अतिरिक्त विकास सम्बन्धी मापन (डवेलपमेन्टल या लाँगीच्यूडिनल मेजरमेन्ट) तथा गहराई में मापन (डेप्थ मेजरमेन्ट या स्टडी) के भी प्रमाण वेद में मिलते हैं।

पश्वा यत्पश्चा वियुता बुधन्तेति ब्रवीतिवक्तरी रराणः।।[676]

अर्थात् प्रेक्षणकर्त्तागण जिन परिणामों से विशेषतः युक्त हुये बोध प्राप्त करते हैं, ऐसों को वक्ता को (या वाणी में) प्रदान करते जाते हैं, जो इन को बोलता है।

यह प्रमा की स्थिति है, जहाँ पहले प्रेक्षण या मापन होना, फिर परिणामों को प्राप्त करना, फिर उनसे बोध (ज्ञान) या निष्कर्ष निकालना, फिर उन्हें वक्तव्य लायक भाषा देना और तब उन्हें बतलाना होता है।

पशुं न नष्टं पदैरनुग्मन्।।[677]

अर्थात् जैसे खोये हुये पशु को उसके पदचिह्नों द्वारा अनुगमन करके प्राप्त किया जाता है।

अनुष्टुमं अनु चर्चूर्यमाणं इन्द्र निचिक्युःकवयः मनीषा।।[678]

676. ऋग्वेद 10:61:12
677. ऋग्वेद 10:46:2
678. ऋग्वेद 10:124:9

अर्थात् वर्णन करने वाले विद्वानों ने मापन की दृष्टि (मनसः ईषा) से वाक् ऊर्जा का अनुगमन करते हुये मन(इन्द्र) को निश्चय ध्यान से देखा (प्रेक्षण किया)। उपर्युक्त दोनों मन्त्रांश प्रतिमा के उदारण है। यहां परिणाम (पदचिन्ह, वाणी) पहले प्राप्त है, फिर उनका अनुगमन (पीछे चलते हुये) किया गया, और तब कारण (नष्टं पशुं,इन्द्रं) का प्रेक्षण किया गया।

एको बहुनामसि मन्यु वीळितो विशं विशं युधये सं शिशाधि।[681]

अर्थात् हे मापक (विवेक)! बहुतों में तुम इकाई रुप हो संघर्ष (कर्म) के लिये प्रेरित होकर प्रत्येक अंश (रेशे) को साथ-साथ नियमाधीन करो या शेष करो या विचार करो।

सहस्व मन्यो अभिमातिमस्मे रुजन्मृणन्प्रमिणन् प्रेहिशत्रून्।
उग्रं ते पाजो नन्वा रुरुध्रे वशीवशं नयस एकज त्वम्।।[682]

अर्थात् हे मापक (विवेक)! हमारे लिये प्रत्यक्ष माप को दृढ़ कीजियें। काटनें लायकों को (√शद्+क्रुन्) टुकड़े-टुकड़े करते हुये, रेशे बनाते हुये और उनके भी रेशे बनाते हुये आगे बढ़ियें। आपका परिश्रमी सामर्थ्य किसी भी तरह रोका नहीं जा सकता। उत्पत्ति (परिणाम) को वश में करने वाले आप इकाई से शासन करते है।

आपः भूयिष्ठा इत्येको अब्रवीदग्निर्भूयिष्ठ इत्यन्यो अब्रवीत्।
वर्धयन्ती बहुभ्यः प्रैको अब्रवीदृता वदन्तश्चमसाँ अपिंशत।।[683]

अर्थात् जल (कफ) अत्यधिक है। कोई एसा कहता है, अग्नि (पित्त) अत्यधिक है ऐसा दूसा दूसरा बतलाता है, आगे को (व्याधि) अनेकों से (सन्निपातज) बढ़ी हुई बताता है, किन्तु ऋतों को बतलाता हुआ व्यक्ति चम्मचों (टुकड़ों) में ज्ञात करता है। ये उदाहरण छेदन-भेदन द्वारा मापन के

---

681. ऋग्वेद 10:84 :4
682. ऋग्वेद 10:84:3

है,इसमें समस्या या उससे सम्बन्धित स्थिति को टुकड़ों में व्यवस्थित करके मापन करते है और तब निष्कर्ष निकालते हैं। प्रेक्षण करने योग्य घटक को सामान्यतया प्रेक्षित करने या मापने की आवश्यकता नहीं होती और बहुधा वह परिहार्य होता है, तब अंश या अशों का ही प्रेक्षण करके निष्कर्ष निकालते है। यह विधि विरश्चीनांशी (क्रास सेक्शनल)कहलाती है।

न हि स्थूर्यृतुथा यातमस्ति नोत श्रवो विविदे सड. मेषु।।[684]

अर्थात् निश्चय ही विशाल ढ़ेर को ऋत के अनुसार प्राप्त नहीं किंया जा सकता है और न सभाओं में अक्षरज्ञान विशेषतः प्राप्त किया जा सकता है।

इसलिये अंशों में विभाजित करना और एकाकी रूप से मापन या प्रेक्षण करना आवश्यक हो जाता है। इस प्रकार नमूना भी बनाकर भी प्रेक्षण करते हैं। प्रार्थना भी है–

चक्षुर्मो धेहि चक्षुषे चक्षुर्विख्यै तनूभ्यः।
सं चेंद वि च पश्येम।।[685]

अर्थात् हमको ज्ञान के लिये दृष्टि दीजिये, तुच्छ आकारों (अंशों या नमूनों) की व्याख्या के लिये दृष्टि दीजिये। ताकि इस लोक को हम सम्यक् और विभिन्न प्रकार से देखें या विशेष ज्ञान प्राप्त करें।

तुच्छ आकारों, घटक के अंशों, टुकड़ों, टुकड़े के रेशों और उनके भी रेशों आदि के वर्णन से नमूना चयन (सॉम्पलिंग) की सामान्य (सिम्पल), स्तरीकृत (स्ट्रैटीफाइड) और क्षेत्र–चयन (एरिया सॉम्पलिंग) की प्राचीन अवधारणाओं का बोध होता है। अब विकास के ज्ञान के सम्बन्ध में श्रद्धा सूक्त के ये मन्त्रांश देखें–

श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि।।[686]

683. ऋग्वेद 1:61:9
684. ऋग्वेद 10:131:3
685. ऋग्वेद 10:158:4

अर्थात् मूर्धा में बुद्धि के द्वारा आश्रय या विभाग के विकास के अवधारण को हम बोध करते हैं।

श्रद्धा हृदय्यया कूत्या।[687]

अर्थात् विकास की धारणा हृदय में ज्ञान (शब्द) करके प्राप्त कराने वाली है।

इस सूक्त में अग्नि का विकास, उदक का विकास, रसादि धातुओं का विकास बतलाया गया है जो ऊर्जा द्वारा सम्पन्न किया जाता है। विकास के लिये ऊर्जा या दीप्ति तथा प्राण को सक्रिय करना होता है। और एक लम्बे समय तक उसका प्रेक्षण करना होता है। शारीर सम्बन्ध से विकास तथा प्रक्रियाओं के विकास के लिये इस विधि को हम विकास सम्बन्धी मापन मान सकते हैं।

पतङ्गमक्तमसुरस्य मायया हृदा पश्यन्ति मनसा विपश्चितः।
समुद्रे अन्तः कवयो वि चक्षते मरीचीनां पदमिच्छन्ति वेधसः।।[688]

अर्थात् चयन करने वाले सूक्ष्म इकाई के मापक द्वारा गहराई में स्थित प्राण की जुड़ी हुई किरण को देखते हैं। वर्णन करने वाले अन्तरिक्ष के भीतर (रश्मियों को) विशेषतः देखते हैं। वेधन करने वाले रश्मियों के आधार या डग को जानना चाहते हैं।

उपर्युक्त स्थितियाँ गहराई में जाकर मापन या प्रेक्षण करने की हैं। वस्तुतः यह विधि अत्यन्त कठिन और समय लेने वाली तथा दृष्टि पर अवलम्बित है। तथापि ऋग्वैदिक मनीषियों ने मापन और प्रेक्षण में निश्चय ही एक उन्नत स्थान प्राप्त कर लिया था।

ऊपर टिप्पणी 681 में विशाल ढेर का प्रेक्षण या मापन सम्भव न होना और विद्वतसभा में अक्षर ज्ञान सम्भव न होना, ये स्थितियां मापन घटक की उपयुक्तता (फीजिबिलिटी) तथा सत्यापितता (वेरीफियेबिलिटी) की सीमायें निर्धारित करने वाली हैं। नमूना भी इस प्रकार प्राप्त करना चाहिये

686. ऋग्वेद 10:151:1
687. ऋग्वेद 10:151:4
688. ऋग्वेद 10:177:1

कि वह ढेर (यूनीवर्स) का प्रतिनिधत्व (रिप्रेजेन्टेशन) करता हो तथा मापन और निष्कर्ष के हेतु से पर्याप्त (एडीक्वेट) होना चाहिये तथा उसके चयन में घटक के प्रत्येक अंश को समान अवसर प्राप्त होना चाहिये। इन सब विचारों से मापन या प्रेक्षण की समस्या भी सीमांकित (डिलिमिटेड) होनी चाहिये। ये सब 'परिधि' के अन्तर्गत समावेशित किये जा सकते हैं। 'निदान' और 'परिणाम-ज्ञान' तथा 'छन्द' के सम्बन्ध में इस बीच ही पर्याप्त विचार हो चुका है। मन्त्र ऋग्वेद 10:130:3 पाद टिप्पणी सन्दर्भ 657 के शेष पद के उत्तर लिये तो निम्न मन्त्र ही पर्याप्त प्रमाण प्रस्तुत कर रहा है-

बीभत्सूनां सयुजं हंसमाहुरपां दिव्यानां सख्ये चरन्तम्।
अनुष्टुभमनु चर्चूर्यमाणमिन्द्रं नि चिक्युः कवयो मनीषा।[689]

अर्थात् दीप्तिमान जलों के समान परिवेश में चलते हुये भयानकों के जुड़े हुये को हंस (प्राण) कहा जाता है। वर्णन करने वाले विद्वानों ने मापन की दृष्टि से वाक् (ऊर्जा) का अनुगमन करते हुये मन (इन्द्र) को निश्चित ध्यान से देखा (प्रेक्षण किया)।

यहाँ ध्यान से देखने के लिये 'नि चिक्युः' शब्द प्रेक्षण अर्थ में प्रयुक्त हुआ है; पीछे मन्त्र ऋग्वेद 10:158:4 पाद टिप्पणी 682 में जो दृष्टि प्राप्त करने के लिये प्रार्थना की गई है उसमें भी 'सं चेदं वि च पश्येम' इसी प्रेक्षण अर्थ में प्रयुक्त है। अस्यवामीय सूक्त[690] के प्रथम मन्त्र में 'अत्रापश्यं विश्पतिं सप्तपुत्रम', मन्त्र सं. 10:177:3 में 'अपश्यं गोपामनिपद्यमानमा च परा च पथिभिश्चरन्तम्' तथा मन्त्र सं. 10:177:1 में 'पतङ्गमक्तमसुरस्य मायया' हृदा पश्यन्ति मनसा विपश्चितः' मात्र संक्षेप में ही प्रस्तुत किये जा रहे ऐऐ उदाहरण है जिनमें प्रेक्षण की विधि का संज्ञान होता है, जबकि 'मैने देखा,' मैं देखता हूँ, इत्यादि भाषा वाले सैकड़ों मन्त्र है जो ऋग्वैदिक प्रेक्षण विधि के प्रमाण प्रस्तुत करते हैं।

ऊपर मन्त्र ऋग्वेद 10:130:3 पाद टिप्पणी 657 में जो निदान और परिणाम की बात कही गई है, प्रकारान्तर से वह वैज्ञानिक कार्य-कारण सम्बन्ध के विनिश्चय से बताई गई है। यद्यपि ऐसे कार्य-कारण सम्बन्ध ऊपर बतलाई गई सभी ऋग्वैदिक विज्ञान विधियों में सम्पन्न होती है, किन्तु विशेष

689. ऋग्वेद 10:124:9

प्रयोजन से इसे प्रयोग विधि में स्वतंत्रचर (इनडेपेन्डेन्ट वेरियेबुल) का आश्रितचर (डिपेन्डेन्ट वेरियेबुल) पर प्रभाव के रूप में उपयोग किया जाता है। इसका प्रारूप तो वाक्-सूक्त के अन्तिम मन्त्र में निहित है। यथा–

ऋचां त्वः पोषमास्ते पुपुष्वान्गायत्रं त्वो गायति शक्वरीषु।
ब्रह्मा त्वो वदति जातविद्यां यज्ञस्य मात्रां वि मिमीत उत्वः।।[691]

अर्थात् कोई ऋचा की पुष्टि के लिये वर्तमान होता है, कोई ऋचाओं में पोषण करता हुआ वाहन का निरूपण करता है। उत्पादन में पूर्ण कोई उत्पत्ति विद्या को बतलाता है, और कोई प्रक्रिया की मात्रा को विशेषतः मापता है।

यज्ञ विधि में ये चार स्थितियाँ होता, उद्गाता, ब्रह्मा और अध्वर्यु की हैं। 'हु' या हुड् धातु में 'तृच्' प्रत्यय पूर्वक 'होतृ' शब्द बना है जिसका प्रथमा एकवचन 'होता' है। इसका अर्थ एकत्र करने वाला या प्रारम्भ करने वाला है 'उद्गाता' उत् √गा + तृच् व्युत्पत्ति से 'आगे जाने वाले' के अर्थ में है, या 'आगे गाने वाले' के अर्थ में व्यख्याकार है। 'ब्रह्मा' आ–ब्रह्म व्युत्पत्ति से 'उत्पादन में पूर्ण' या 'उत्पादन के साथ' अर्थ वाला है। अध्वर्यु यास्क[692] के अनुसार अध्ययन करने वाला है। 'ऋचा' का अर्थ निघण्टु से 'ऋक्' के लिये 'वाक्' होता है।[693]

इस प्रकार प्रथम स्थित 'वाणी' को एकत्रीकरण से पुष्ट करना और उसे पोषण करता हुआ पाठन का निरूपण करता है या व्याख्या करता है, तब उसे आगे बढ़ाता है। तृतीय स्थिति में उत्पत्ति विद्या को बतलाता है, और चौथी स्थिति में अध्ययनपूर्वक प्रक्रिया का निष्कर्ष या मूल्यांकन करता हैं प्रयोग विधि में ये समस्या के निर्धारण, समस्या की सैद्धान्तिक पुष्टि एवं नियोजन, फिर प्रयोग की विधि और प्रणाली, तथा अन्तिम परिणामों का आकलन एवं निष्कर्ष हैं। इन चारों प्रयोगात्मक पर्गो की पुष्टि केनोपनिषद्[694] में प्राप्त हैं, जहाँ प्रथम खण्ड में वैज्ञानिक अध्ययन की समस्यारूप कुछ प्रश्न उठाये गये हें, परिकल्पना और प्रतिकल्पना प्रस्तुत की गई है, फिर सिद्धान्त रूप से परिकल्पना को आधार प्रदान किया गया है। द्वितीय खण्ड में अध

690. ऋग्वेद 1:164:1
691. ऋग्वेद 10:71:11
692. निरुक्त 1:8

यन की युक्ति और उसका वैचारिक आधार प्रस्तुत किया गया है, तथा टुकड़ों (मांस) में उसे नापने (मी) से जानने की प्रणाली स्थापित की गई है। तृतीय खण्ड में प्रतीकात्मक रूप से अनुभूत परिणामों को प्रस्तुत किया गया है। चतुर्थ खण्ड में निष्कर्षात्मक मन्त्र दिये गये हैं। हमने इसका विस्तृत वर्णन पाद टिप्पणी 99 से 103 तक के विवरणों में प्रस्तुत कर दिया था।

अब इन्हीं प्रत्ययों से कुछ अन्य विधि-प्रणाली पर भी विचार करते हैं-

ऋतस्य पथा नमस्सा मियेधो देवेभ्यो देवतमः सुषूदत।।[695]

अर्थात् दीप्तियों (ज्ञानों) के लिये सर्वाधिक देने वाले ने ऋत के मार्गों को वाक् (वाणी) द्वारा मापने-परखने के हेतु से क्रमबद्ध किया।

संपश्यन्पङ्क्तीरुपतिष्ठमानः।[696]

अर्थात् क्रमों को साथ-साथ देखता हुआ समीप में स्थित हो जाता है।

प्रयोग विधि में यह क्रमबद्धता स्वतंत्र चर के उपचार (ट्रीटमेन्ट) में निश्चित की जाती है, जिससे आश्रित चर और परिणाम में विचरता (वैरियेबिलिटी) आ जाती है।

अन्तरिक्षेण पतति विश्वा रूप चाकशत्।
मुनिर्देवस्य देवस्य सौकृत्याय सखा हितः।।[697]

अर्थात् मापनशील मनीषी सुन्दर कर्म करने के लिये प्रत्येक प्रकाश के समान परिवेशों को धारण किये हुये अन्तःशरीर के प्रति नीचे उतरता हुआ विश्व के रूप को सर्वतः देखता है (प्रेक्षण करता है)।

यह विवरण उपर्युक्त कथन की पुष्टि स्पष्ट रूप में कर रहा है। मापन या प्रेक्षण का इच्छुक प्रयोगकर्त्ता सही प्रयोग करने की दृष्टि से स्वतन्त्र चर

693. निघण्टु 1:11
694. केनोपनिषद् 1:1 से 4:6 तक
695. ऋग्वेद 10:70:2
696. ऋग्वेद 10:117:8

के क्रमों को नियंत्रित करता हुआ प्रयोग में उतरता है और आश्रित चर के रूप का सर्वतः प्रेक्षण करता है। यहाँ चरों की नियत्रण विधि (मेथड ऑफ कन्ट्रोल्स) पर भी प्रकाश पड़ता है।

वि चष्टे सरूपेण ज्योतिषा वि व्रतेन।[698]

अर्थात् विशेष नियमों द्वारा समान रूप की ज्योति से विशेषतः देखते हैं (प्रेक्षण करते हैं)।

यहाँ स्वतन्त्र चर में समानता है, क्रम नहीं है किन्तु नियमों में अर्थात् प्रणाली में विशेषता या भिन्नता है। यह स्थिति पूर्व स्थिति के विपरीत है। उपकरण तो समान है किन्तु उपचार में ही विभिन्नता है। यह एक दूसरे प्रकार का नियंत्रण है जिसमें आश्रितचर का क्रम निश्चित होता है। पूर्व स्थिति में जहाँ स्वतन्त्रचर क्रमयुक्त था $(K>1, T=1)$ वहीं इस प्रणाली में आश्रित चर क्रमयुक्त है $(K=1, T>1)$। जो समान रूपों से अथवा समान रूपों को देखने की बात ऊपर कई मन्त्रों में आई है, उससे प्रयोग में भी और अन्यथा भी तुलनात्मक विधि से शोध या अध्ययन किया जा सकता है।

अब हम उन मन्त्रों पर विचार करेंगे जिनसे कुछ ऐसा आभास होता है कि ऋषिगण अपने प्रेक्षणों के लिये कुछ उपकरणों का प्रयोग करते थे। यद्यपि ऐसे मन्त्र बहुत कम हैं और उस अति प्राचीनकाल में आजकल की तरह की वैज्ञानिक उपकरण की कल्पना करना तो अत्यधिक बचकानापन ही होगा। तथापि ऋषियों ने 'रश्मि' पर विशेष ध्यान दिया था और इनके सप्तरंगी स्थितियों को जानकर इनकी अन्य अनेक विशेषताओं को भी जाना। अपने अनुसंधान में भी नाडी-स्नायु संजालों के माध्यम पर रश्मि के प्रयोग करते हुये उन्होंने महत्वपूर्ण ज्ञान प्राप्त किया था-

अनुष्टुभं अनु चर्चूर्यमाणं इन्द्रं नि चिक्युः कवयः मनीषा।।[699]

अर्थात् वर्णन करने वाले विद्वानों ने मापन की दृष्टि (मनसः ईषा) से वाक् (ऊर्जा) का अनुगमन करते हुये मन का प्रेक्षण किया।

---

697. ऋग्वेद 10:136:4
798. ऋग्वेद 10:55:3

यहाँ यह बात ध्यान देने की है कि ऋग्वेद के मन्त्र सं. 10:5:3, 10:130:1, 10:144:4, 10:56:6, 10:62:7, 10:104:8, 10:30:9, 1:164:14, 10:135:7, 10:14:16, 10:27:13, तथा ऋग्वेद 10:90:1 में जो नाडी और स्नायुतन्त्र का वर्णन किया गया है, उसकी ऊर्जा का अनुगमन करते हुये इन्द्र (मन) रूपी ऊर्जापुञ्ज का प्रेक्षण किया गया। तब निश्चित रूप से ऋषियों के पास नाडीतन्त्र में गति करने वाली ऊर्जा के प्रेक्षण के लिये कोई उपकरण या विधि रही होगी।

पतङ्गमक्तमसुरस्य मायया हृदा पश्यन्ति मनसा विपश्चितः।
समुद्रेअन्तः कवयो विचक्षते मरीचीनां पद मिच्छन्ति वेधसः।।[700]

अर्थात् चयन करने वाले सूक्ष्म इकाई के मापक से गहराई में स्थित प्राण की जुड़ी हुई रश्मि को देखते हैं। वर्णन करने वाले अन्तःशरीर के भीतर रश्मियों को विशेषतः देखते हैं वेधन करने वाले रश्मियों के आधार या डग को जानना चाहते हैं।

यहाँ तीन प्रकार के विज्ञानी हैं जो सभी रश्मियों का अपनी-अपनी दृष्टि से प्रेक्षण करते हैं। विपश्चित नाडी-स्नायु में प्राण से जुड़ी ऊर्जा-रश्मि का प्रेक्षण सूक्ष्म इकाई के मापक से (क्या कोई सूक्ष्मदर्शी यन्त्र था?) करते हैं। कविगण अन्तःशरीर में रश्मियों को विशेषतः या विभिन्नतः अर्थात् रश्मियों के प्रकारों को दखते हैं। वेधा ऋषिगण रश्मियों के आधार को या उनके गतिमान डग का प्रेक्षण करते हैं। तब निस्संदेह ऐसी विधियां और उपकरण रहे होंगे जिससे ऐसा प्रेक्षण सम्भव था।

त्वष्टा शन्तमा देवपानानि पात्रा विभ्रत्
माया अपसां अपस्तमः वेत्।।[701]

अर्थात् प्रदीप्त करने वाले (वैज्ञानिक) ने अत्यधिक कुशलता से दीप्ति को पैना करने वाले एवं क्रिया आधारित रक्षण वाले पात्रों को पकड़ते हुये तथा मापन के द्वारा अशुद्धों में अशुद्धतम को ज्ञात किया।

---

699. ऋग्वेद 10:124:9
700. ऋग्वेद 10:177:1

इस वर्णन में दीप्ति को पैना करने वाले उपकरण और क्रिया आधारित रक्षण वाले (इन्स्ट्रूमेन्टल कन्ट्रोल एण्ड रिस्क कवरिंग) उपकरण को तो स्पष्टतः इंङ्गित किया गया है। यद्यपि इस मन्त्र में 'एतशः वृश्चात् येन नूनं सु-आयसं परशुं शिशीते' अर्थात् रश्मि से टुकड़े करके उसके द्वारा शीघ्र अच्छे लोहे के फरसे को पैना करते हैं, से सामान्य सांसारिक लौहकर्म का ही आभास होता है, परन्तु लोहा काटने में रश्मि का प्रयोग अवश्य ही वैज्ञानिक उपचार है। लेसर-किरणों तथा अल्फा किरणों से लाहे को काटने की क्रिया अत्याधुनिक है, तथा ऐसी ही किरणों से शरीर के भी उपचार किये जाते हैं। वेद में भी ऊर्जारश्मि को भयानक[702] (बीमत्सूनां) भयानक कर्म वाली[703] (भीमा) विष की भांति तीक्ष्ण[704] (कटुकमेतदुपाष्ठवद्विषवत्), बध करने वाली, बरबाद कर देने वाली, काटने वाली[705] (आशसनं विशसनमथो अधिविकर्तनम्) आदि कहा गया है। तब क्या रश्मियुक्त ऐसे यन्त्र और उपकरण वैदिक ऋषियों के पास थे ?

यद्यपि वैज्ञानिक विधि के अनेक आयामों पर हम प्रकाश डाल चुके है, फिर भी अभी यह बात शेष है कि विधि की दृष्टि से वेदकालीन वैज्ञानिक कितने प्रकार के हैं। इस सम्बन्ध में निम्न मन्त्रों का अध्ययन हम कर रहे हैं-

अधीन्न्वत्र सप्ततिं च सप्त च सद्यो दिदिष्ट तान्वः।
सद्यों दिदिष्ट पार्थयः सद्योदिदिष्ट मायवः।।[706]

स सध्रीचीः स विषूचीर्वसान आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तः।।[707]

पतङ्गभक्तमसुरस्य मायया हृदा पश्यन्ति मनसः विपश्चितः।
समुद्रे अन्तः कवयो विचक्षते मरीचीनां पद मिच्छन्ति वेधसः।।[708]

इन मन्त्रों में गति के ज्ञाता (तान्वः), पार्थिवों के ज्ञाता (पार्थ्यः) मापन के ज्ञाता (मायवः), साथ-साथ प्रकट करने वाला (सध्रीची), विशेष दृष्टि रखने

701. ऋग्वेद 10:53:9
702. ऋग्वेद 10:124:9
703. ऋग्वेद 10:109:4
704. ऋग्वेद 10:85:34
705. ऋग्वेद 10:85:35

वाला (विषूची), बन्धनों को काटने वाला (वसान), चुनने वाला (विपश्चित), वर्णन या चित्रण करने वाला (कवि), वेधन करने वाला (वेधा), ऊपर मन्त्र पाद टिप्पणी सं. 698 में प्रदीप्त करने वाला (त्वष्टा), आदि अनेक प्रकार के वैज्ञानिक और विचारक थे। इसके अतिरिक्त ऋषि (गतिशील) और मुनि (मापनशील या मननशील या मन से युक्त) भी होते थे। तान्वः शारीर वैज्ञानिक भी हो सकते हैं। इस प्रकार मुख्यतः तीन प्रकार के वैज्ञानिकों के अन्तर्गत उपर्युक्त सभी को समाविष्ट किया जा सकता है। प्रथम गति के ज्ञाता अर्थात् जङ्गम पदार्थों का अनुसंधान करने वाले थे। द्वितीयतः पार्थिव वस्तुओं के ज्ञाता अर्थात् स्थावर पदार्थों के अनुसंधान करने वाले थे। तीसरे मापन के ज्ञाता जो टुकड़े–टुकड़े में बांटकर (मीमांसा) अध्ययन करते थे और ऐस इकाई बनाकर पैमाना बनाते और मापन करते थे। और गतिशीलों और प्रक्रियाओं के शोधकर्ता, द्वितीय स्थितियों, परिस्थितियों और स्थावर पदार्थों के शोधकर्ता तथा तृतीय मापनशीलों का मापन करने वाले और उनके विश्लेषण द्वारा निष्कर्ष देने वाले थे।

(स) संकलन :

विज्ञान को 'तथ्यों के संकलन' के रूप में परिभाषित किया गया है।[709] तब हमारे लिये यह विचार करना भी समीचीन होगा कि ऋग्वैदिक विज्ञान के संकलन की क्या प्रकृति थी और उनके क्या रूप और आयाम थे।

यह स्पष्ट है कि ऋग्वैदिक सूक्तों के संकलन एक लम्बे समयान्तराल का प्रतिनिधत्व करते हैं इनमें अनेक रचनायें तो मात्र आमोद–प्रमोद के लिये ही थी; अनेकों में वीर पुरुषों की प्रशंसा है, तथा अनेकों में देवी–देवताओं की स्तुतियाँ मात्र धार्मिक कृत्य जैसी हैं। इन तीन प्रकार की रचनाओं को हम क्रमशः रैभी, नाराशंसी और गाथा कह सकते हैं।[710] तथापि अनेक सूक्त ऐसे हैं जो इन तीनों प्रकार की मानसिकता से नितान्त भिन्न है, तथा मुख्यतः ये ज्ञान–विज्ञान से सम्बन्धित हैं; तथापि, इनकी लेखन और अभिव्यक्ति की शैली गाथा या नाराशंसी जैसी ही है, जिसका कारण शायद गोपनीयता और रहस्यों को बनाये रखना रहा होगा। यथा–

706. ऋग्वेद 10:95:15
707. ऋग्वेद 10:177:3
708. ऋग्वेद 10:177:1

सतो नूनं कवयः सं शिशीत वाशीभिर्याभिरमृताय तक्षथ।
विद्वांसः पदा गुह्यानि कर्तन येन देवासो अमृतत्वमानशुः।।[711]

अर्थात् वर्णन करने वालों ने शीघ्र ही वाणियों से यथार्थ सत्यों को सम्यक् पैना किया, जिनके द्वारा कालजयी स्थिति के लिये रचना की गई। विद्वानों ने मन्त्रों को गोपनीय बनाया जिससे देवों ने अमरता को प्राप्त किया।

इस वर्णन से यह स्पष्ट है कि यद्यपि वैज्ञानिक तथ्यों को भाषा प्रदान की गई, किन्तु उनकी कालजयी रचना के विधान में पदों को ऐसी गोपनीयता से लिखा गया कि देवताओं की अमरता सम्पन्न होती चले और रहस्य से उस पर कोई विपरीत प्रभाव न पड़े।[712] शायद, इस कारण ही ऐसे पद भी गाथा और नाराशंसी के रूप में ही लिखे गये, तथापि अनेक मन्त्र इस शैली से मुक्त हैं। इनमें से कुछ इतने महत्वपूर्ण हैं कि उन पर अन्य सूक्तों में व्याख्यायें और संदर्भ बराबर प्राप्त होते चले जाते हैं। यथा–

भूरि दक्षेभिर्वचनेभिर्ऋक्वभिः सख्येभिः सख्यानि प्रवोचत्।।[713]

अर्थात् कर्मों के द्वारा, वचनों के द्वारा, स्तुतियों के द्वारा, समान परिवेशों के द्वारा समान वर्णनों को बहुत बार आगे कहा गया है।

इस प्रकार पूर्वकालीन विचारों में लगातार परिष्कार संशोधन, परिवर्धन, व्याख्याकारिता, इतयादि का भी समावेश होकर नवीन रचनायें सम्पादित होती रहीं। इस सम्बन्ध में ऋग्वेद भाष्यकार पं. रामगोविन्द त्रिवेदी के सन्दर्भ[714] से पूर्वकालीन, मध्यकालीन एवं नवीन मन्त्रों और ऋषियों के कुछ परिचय इस प्रकार हैं–

"ऋग्वेद के दूसरे ही मन्त्र में प्राचीन और

---

709. देखें S.S. Jalota : Exporiments in Psychology, Banaras : B.H.U. Press, 1958, Preface.
710. रैभ्यासीदनुदेयी नाराशंसी न्योचनी। सूर्याया भद्रभिद्वासो गाथयैति परिष्कृतम्।। ऋग्वेद 10:85:6।।
711. ऋग्वेद 10:53:10
712. 'ग्रात्णां योगे मन्मनः साध ईमहे' अर्थात् स्तुतियों के योग में विचारों की व्यावस्था।। ऋग्वेद 10:35:9

नवीन ऋषियों की बात आयी है। 1:174:8 में नये ऋषिगण का उल्लेख है; 4:19:11 में 'पूर्ववर्ती' और 4:20:5 में, 'नवीन' ऋषियों के स्तवन का विवरण है। इसके आगे के 21 से 24 सूक्तों के ग्यारहवें मन्त्रों में भी 'पूर्ववर्ती' ऋषियों का उल्लेख है। 5:10:7 में 'पुरातन' और 'आधुनिक' ऋषियों की स्तुति की गई है। 6:21:5 में प्राचीन, मध्ययुगीन और नवीन– तीन प्रकार के ऋषियों का कथन है। 6:44:13 में तो प्राचीन और नीवन स्तोत्रों की भी बात आई है। 7:22:9 में वसिष्ठ इन्द्र से कहते हैं –'जितने प्राचीन ऋषि हो गये हैं और जितने नवीन हैं, सभी तुम्हारे लिये स्तोत्र उत्पन्न (अभिव्यक्त) करते है।' इन उद्धरणों से स्पष्ट हे कि ऋषियों ने विभिन्न समयों में विभिन्न मन्त्र देखो।''

इनके अतिरिक्त भी अनेक मन्त्र हैं जिनमें पूर्वकालीन, मध्यकालीन और नवीन ऋषियों का उल्लेख है। विचारों की विविचनापूर्वक परिष्कृति से विशिष्ट वैज्ञानिक अवधारणायें और विधियाँ प्राप्त की गईं। यथा–

सहस्तोभाः सहछन्दस आवृतः सहप्रमा ऋषयः सप्त दैव्याः।
पूर्वेषां पन्थामनुदृश्य धीरा अन्वालेभिरे रथ्यो न रश्मीन्।।[715]

अर्थात् सात प्रकाशमान ऋषिगण वेधनी शक्ति और शुद्धबोध वाले मन्त्रों के साथ सर्वतः मुड़े। जैसे लगामों के अनुसार रथ में जुता घोड़ा चलता है, उन बुद्धिमानों ने पूर्वऋषियों के मार्ग को फिर से देखकर फिर उसका लाभ उठाया।

713. ऋग्वेद 10:133:9
714. पं. रामगोविन्द त्रिवेदी : ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः, कल्याण, वेदकथांक, जनवरी 1999 वर्ष 73 संख्या 1, पृ. 377

मक्षूकनाया सख्यं नवग्वा ऋतं वदन्त ऋतयुक्तिमग्नम्।।[716]

अर्थात् अब ऋत को बतलाते हुये नवीन गतियों वाले ऋषियों ने गतिमान् प्रकाशवती वाणी के समान परिवेश में ऋत की विधि को प्राप्त किया।

ये नवीन वैज्ञानिक ऋषि जिन्होंने पूर्ववर्तियों के विचारों का विधिवत संशोधन किया और वैज्ञानिक विधियों का इस प्रकार आविष्कार किया, संख्या में सात थे, और कदाचित् वे ही ऋग्वेद के द्वितीय से अष्टम मण्डलों तक के आचार्य हैं, अर्थात–

गृत्समद, विश्वामित्र, वामदेव, अत्रि, भारद्वाज, वसिष्ठ, और कण्व– तथापि, इनमें से कुछ नाम निस्संदेह पूर्ववर्ती ऋषियों के हैं, जिनके वंशजों ने ही उनके नाम की वीरयता बनाये रखी, जैसे अत्रि और वसिष्ठ।

इसके उपरान्त भी तथ्यों का वर्णन भाषा में कैसे और किन स्थितियों में किया गया, इन पर भी प्रकाश डाला गया–

न विजानाभि यदिवेदमस्मि निण्य्ः संमद्धो मनसा चरामि।
यदा मागन्प्रथमजा ऋतस्यादिद्वाचो अश्नुवे भागमस्याः।।[717]

अर्थात् मैं विशेष ज्ञान नहीं रखता कि मैं इस (ज्ञान) के अनुरूप हूँ। मैं कर्म के निर्णय से आबद्ध होकर या विकासोन्मुख होकर मन द्वारा संचालित होता हूँ। जब ऋत की प्रथम उत्पन्न होने वाली ऊर्जा ने मुझे प्राप्त किया, तब केवल इस वाणी के भाग को प्राप्त करता हूँ।

मन्मानि धीभिरुत यज्ञमृन्धन्देवत्राच कृणुह्यध्वरं नः।।[718]

अर्थात् बुद्धियों द्वारा गोपनीय विचारों को प्रक्रिया में सक्रिय करते हुये आकलन करने वाले (अग्नि) ने (या ऊर्जा ने) प्रकाशमान् (ज्ञान) से हमको प्रक्रिया में (या ऊर्ध्व में) स्थापित किया।

---

715. ऋग्वेद 10:130:7
716. ऋग्वेद 1:61:10
717. ऋग्वेद 10:164:37

पश्वा यत्पश्चा वियुता बुधन्तेतिब्रवीति वक्तरी रराणः।[719]

अर्थात् प्रेक्षणकर्ता द्वारा जिन परिणामरूप ज्ञातव्यों को वक्ता को दिया जाता है, जो ज्ञान की प्रक्रिया को बतलाता है।

उपर्युक्त मन्त्रों से स्पष्ट है कि प्रारम्भ में ज्ञान के सम्बन्ध में मनुष्य की कोई धारणा नहीं थी। वह ठीक पशुवत् कर्म करता था, किन्तु विकास के क्रम में जब मात्रा (मन) से संचालित हुआ अर्थात् विशिष्ट कर्म पशु–अभीप्सा से अधिक मात्रा में तत्पर हुये तो इस गत्यात्मकता में ज्ञान का भाग प्राप्त हुआ, जिसे वाणी के रूप में प्रकट किया गया। पहले भी हम उन मन्त्रों को प्रस्तुत कर चुके हैं, जहाँ कर्म से ज्ञान को प्राप्त करने की बात कही गई है। आगे भी–

बृहस्पते प्रथमं वाचो अग्रं यत्प्रैरत नामधेयं दधानाः।
यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत्प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः।।[720]

अर्थात् जिन नाम को धारण करने योग्य प्रथम वाणियों को प्रयत्नों के स्वामी (बृहस्पति) ने धारण करते हुये प्रकृष्टतः आगे बढ़ाया, जो इन वाणियों का श्रेष्ठ और जो गतिमान अग्र निर्माण का (अरिप्रमा) प्रेरणारूप (प्रेणा) था, वह इनकी मानस गुहा में स्पष्टतः धारित था।

स्पष्ट है कि भाषा के रूप में जो ज्ञान प्रकट हुआ उसका प्रारूप गत्यात्मकता से निर्मित होकर पहले मानसगुहा में निश्चय धारित हुआ था। इस गुहा के गापनीय विचारों को ही बुद्धियों द्वारा प्रक्रिया में सक्रिय किया गया, और ऐसे ज्ञान से ही मनुष्य को ज्ञान की प्रक्रिया में (या ऊर्ध्व मस्तिष्क में) स्थापित किया गया।

यज्ञेन वाचः पदवीयमायन्तामन्वविन्दन्नृषिषु प्रविष्टाम्।
तामाभृत्या व्यदधुः पुरुत्रा तां सप्तरेभा अभि सं नवन्ते।।[721]

अर्थात् वाणियों ने ज्ञान प्रक्रिया द्वारा प्रतिष्ठा को प्राप्त किया, फिर

718. ऋग्वेद 10:110:2
719. ऋग्वेद 10:61:12
720. ऋग्वेद 10:71:1

ऋषियों में प्रविष्ट होकर (प्रतिष्ठा को) प्राप्त किया। विपुलस्थानवालों (ऊध्वों) ने उस वाणी को सर्वतः पूर्ण करके सब ओर से विशेषतः धारण किया। सप्तस्वर साथ-साथ उस वाणी की सम्मुख स्तुति करते हैं। इस वक्तव्य से भी पूर्व कथन की ही पुष्टि होती है। ज्ञान की प्रक्रिया में भाषा उत्पन्न हुई, इसे ऊर्ध्व मस्तिष्क में विचारों के रूप में पूर्ण किया गया, जिसे ऋषियों ने प्राप्त करके सप्तस्वर वाली भाषा में अभिव्यक्त किया। इस प्रकार परिणामस्वरूप ज्ञातव्यों और ज्ञान की प्रक्रिया को भाषा में अभिव्यक्त करने का कार्य वक्ता अर्थात् भाषाविद् का रहा था। ये सब वे परिस्थितियां थीं जिनमें ज्ञान-विज्ञान की मूल अभिव्यक्ति हुई। परन्तु, यह सम्पूर्ण अभिव्यक्ति एक मानव-सहकार के रूप में हुई, जो कि उस अतिप्राचीन काल की समाजिक और परिस्थितिजन्य अनिवार्यता थी -

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि।।[722]

अर्थात् जहाँ बुद्धिमान जन वाणी को मन रूपी चलनी से सत्तू की भांति परिष्कृत करते हैं, वहाँ समान परिवेश वाले, जिनकी वाणी में अपक्व लक्षण विशेषतः निहित हैं, समान परिवेशों को जानेंगे।

हृदा तष्टेषु मनसो जवेषु यद् ब्राह्मणो संयजन्ते सखायः।[723]

अर्थात् हृदय में निष्पादित मन की गतियों में जब समान परिवेश वाले (सखायः) ब्राह्मण साथ-साथ सक्रिय होते हैं।

उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुर्नैनं हिन्वंत्यपि वाजिनेषु।[724]

अर्थात् और, किसी को समान परिवेश में सुस्थिर रहने वाला कहा गया है, संघर्षों (सभाओं) में भी इसे नहीं जीता जा सकता है।

सर्वे नन्दन्ति यशसागतेन सभासाहेन सख्या सखायः।

---

721. ऋग्वेद 10:71:3
722. ऋग्वेद 10:71:2

किल्विषस्पृत्पितुषविणर्ह्येषामरं हितो भवति वाजिनाय।।[425]

अर्थात् सभी समान परिवेश वाले यश से पूर्ण होकर सभा में प्रमुखता प्राप्त करके समान ख्याति से आनन्दित होते हैं। बुराई से लड़ते हुये अत्यधिक सन्तुष्ट होने वाले पराक्रमी के लिये वस्तुतः इनका (ज्ञानों का) अतीव धारण होता है।

इस प्रकार वैदिक विज्ञान एक सहकार था। कदाचित्, इस कारण ही वैदिक ऋषि स्वयं को सर्वज्ञ नहीं मानता था, और न अपनी नाजानकारी को छिपाता था। 'मैं नहीं जानता कि मैं इन ज्ञान के अनुरूप हूँ; 723 अब वस्तुतः किसने जाना है, कौन ठीक-ठीक बता सकता है कि यह सृष्टि कहाँ से उत्पन्न हुई, किधर से इसको विशेषतः रचा गया? अब, बाद में इसके विशेष निर्माण के द्वारा देवता आये, कौन जानता है जहाँ से आकर वर्तमान हुये?',[727] 'यह विशेष सृष्टि जिससे उत्पन्न हुई है किंवा वह इसे धारण करता है या नहीं? जो इसका अध्यक्ष परम व्योम में है, वह उसे ठीक जानता है या नहीं जानता है?[728] 'उसको नहीं जाना जा सकता है जिसने इन जलों को उत्पन्न किया है;[729] 'उदक का छोर किधर सम्भव है, अन्तरिक्ष कहां है, मध्य भाग किधर सम्भव है,[730] आदि अनेक प्रश्न ऐसे है जो अज्ञात हैं और सुलझाये नहीं गये हैं। तो, दूसरी ओर अनेक प्रश्न खड़े किये गये हैं, और उनके उत्तर वहीं दे दिये गये हैं; जैसे- 'गहन गभीर आधार कौन था, जाल के आवरण की भांति झुका हुआ कौन था?[731] इसका उत्तर है- 'तमथा, पूर्वकाल में तम से निगूढ इस सम्पूर्ण से युक्त निष्क्रिय सलिल था।,[732] प्रश्न है- 'जलों ने किस सम्भावित गर्भ को सबसे पहले धारण किया, जहाँ समस्त देवों ने साथ-साथ बोध प्राप्त किया?'[733] उत्तर है- 'अजन्मा के केन्द्र में मन को पूर्णतः सौंपा गया जिसमें समस्त जल स्थित हुये।'[734] आदि। अब अनेक प्रश्न कहीं किये गये हैं; और उनके उत्तर कहीं दूसरे सूक्तों में प्राप्त होते हैं; जैसे नासदीय सूक्त की समस्या का निदान, 'सत्ताहीन और सत्तायुक्त उत्तम उदक में, पूर्ण ऊर्जा की गोद में, कर्म के

723. ऋग्वेद 10:71:8
724. ऋग्वेद 10:71:5
725. ऋग्वेद 10:71:10
726. ऋग्वेद 1:164:37
727. ऋग्वेद 10:129:6
728. ऋग्वेद 10:129:7
729. ऋग्वेद 10:82:7

जन्म में, प्रक्रिया के पहले तम और ऊर्जा के संयोग में अविभक्त अग्नि निश्चय प्रथम उत्पन्न हुआ।'[735] इस मन्त्र में प्राप्त है। ऐसे ही प्रश्न, सबसे पहले उत्पन्न होने वाले ऋत वाले जलों के समान परिवेश वाला (प्राण) कहाँ उत्पन्न हुआ था और कहाँ से आकर वर्तमान हुआ?[736] का उत्तर है, 'समुद्र के बीच जलों में इस समुद्र का शिखर मेरी योनि है, और इस शरीर को वीर्यवान् से आलिंगन करती हूँ, मैं विस्तृत होने वाले (प्राण) को उत्पन्न करती हूँ,[737] प्रश्नों के उत्तर अनेकों स्थानों पर प्राप्त होते रहते हैं।

(2) वैदिक विज्ञान के क्षेत्र :

श्रीमद्भागवत का वचन है कि अत्रि ऋषि के पुत्र सोम विप्र, औषधि और नक्षत्रों के अधिपति थे।[738] यहाँ 'विप्र' का अर्थ 'विशेषतः आगे जाने वाला' अर्थात् पुरोहित होता है, किन्तु एक सन्दर्भ[739] से यह 'ब्राह्मण' भी हो सकता है, जिसे ब्रह्मविद्या का ज्ञाता मानना अनुचित न होगा। इस प्रकार प्राचीन तम ऋषियों में मान्य आत्रेय सोम ब्रह्मविद्या, चिकित्सा और ज्योतिष के आचार्य माने जा सकते हैं। आर्य जनों में पुरोहित वस्तुतः नक्षत्रों को जानने वाले, ओषधियों को जानने वाले, तथा ब्रह्मविद्या अर्थात् शरीर को जानने वाले थे। जनों की पारिस्थितिकी में यह ज्ञान जीविका हेतु नये स्थलों को खोजने और अभियानों के नियोजन के लिये आवश्यक था। आघात और वध से पशुओं और मानवों के शरीरावयवों को जानना, वन में ओषधियों को जानना, और नक्षत्रों की जानकारी में उनकी गति, प्रभाव और जल-वायु नियन्त्रण आदि का ज्ञान हुआ। इन्हीं का विकसित रूप हमें ऋग्वेद में प्राप्त होता है।

एक अन्य बात यह हुई कि ऋषियों ने इस पृथिवी और ब्रह्माण्ड का जो निरीक्षण किया उसके अनुरुप सृष्टि से लेकर ग्रह-नक्षत्रों की स्थिति,

730. ऋग्वेद 10:111:8
731. ऋग्वेद 10:129:1
732. ऋग्वेद 10:129:3
733. ऋग्वेद 10:85:5
734. ऋग्वेद 10:82:6
735. ऋग्वेद 10:5:7
736. ऋग्वेद 10:168:3
737. ऋग्वेद 10:125:7
738. भागवत 9:14:3
739. वैदिक इण्डेक्स, 338

आकाश-अन्तरिक्ष-भूमि, ऋतु-अयन, वायु-वर्षा-विद्युत, समुद्र-पर्वत-नदी, वन-वृक्ष-वनस्पति और इन सब की गति-विस्तार-प्रक्रियाओं तक जस-की-तस मानव शरीर के अन्तर्गत भी कल्पना कर ली[740] (आज के विज्ञान में भी ऐसी कल्पनायें और पारिभाषिक शब्दावली पायी जाती है)। इसके विपरीत, मनुष्य के शरीर से लोक की कल्पनायें भी की गईं।[741] किन्तु, जब ये अध्ययन आगे बढ़ा तो शारीर विज्ञान के विकास के साथ ही वनस्पति-ओषधि विज्ञान, नक्षत्र विज्ञान, भौतिक एवं रसायन विज्ञान आदि से सम्बन्धित तथ्य और प्रक्रियायें भी प्रकाश में आने लगीं। तब अग्नि, जल, वायु, सूर्य, ग्रह-नक्षत्र, आकाश, पृथिवी, वृष्टि, ऊर्जा-रश्मि तथा अनेक अन्य क्षेत्रों का तुलनात्मक अध्ययन शारीर के ही परिप्रेक्ष्य में हुआ और अनेक सिद्धान्त प्रतिपादित हुये। इन सिद्धान्तों के आधार पर तथा तथ्यों एवं मानवीय अनुभवों का सहारा लेकर इनका उपयोग कला-कौशल के क्षेत्र में भी होने लगा। इस प्रकार विज्ञान मात्र अध्ययन तक सीमित नहीं रहा अपितु जीवन में उसके उपयोग पर भी बहुत कार्य हुआ। यास्क ने जो शिक्षण विज्ञान और समाजशास्त्र को निदर्शित करते हुये सन्केत[742] किये हैं, वे इसी के दृष्टान्त हैं। अर्थर्वेद के संकलन और उपवेदों की संरचना में इन तमाम मानवहित के क्षेत्रों को समाहित करने के उदाहरण मिलते हैं।

जब हम वैदिक विज्ञान के क्षेत्र (स्कोप) पर दृष्टिपात करते हैं, तो हमें ऐसे अध्ययन या जानकारी में एक क्रम-सा दिखाई देता है। यद्यपि यह कहना बहुत मुश्किल है कि पहले कौन सी जानकारियाँ प्राप्त हुईं, और फिर कौन-कौन सी उनके माध्यम से प्राप्त होती गईं। पहले लोक की जानकारियों से शारीर की जानकारियाँ प्राप्त हुई होंगी, यह अनुमान प्रारम्भिक रूप में तो ठीक है; किन्तु फिर कब शारीर की जानकारियों से लोक की जानकारियाँ प्राप्त होने लगीं, अथवा एक-दूसरे से पारस्परिक जानकारियों का क्रम कैसे और कब बना, यह अनुमान करना कठिन है। तथापि, ऐसा लगता है कि गम्भीर वैज्ञानिक जानकारियों का प्रारम्भ शारीर के अध्ययन से हुआ। कुछ ऐसे प्रमाण मिलते भी हैं -

740. उदाहरण के लिये देखे चरक. सूत्र. 12:8; सा ही देखें वात-सूक्त ऋ. 10:168, तथा चरक. शा. 5:3-5
741. देखें ऋग्वेद 10:90:11-14
742. निरुक्त अध्याय 1-3

न तं विदाथ य इमा जजानान्यद्युस्माकमन्तरं बभूव।
नीहारेण प्रावृता जल्प्या च असुतृप उक्थशासः चरन्ति।।[743]

अर्थात् उस (ऊर्जा) को तुम लोग नहीं प्राप्त कर पाते हो जिसने इन जलों को उत्पन्न किया है, (उसका) अन्य रुप तुम्हारे भीतर वर्तमान है। जलीयतत्व से पहले आवृत हुये और (फिर) वाक् (जङ्गम मन या ऊर्जा) द्वारा प्राणों से भरे हुये, रश्मियों से शासित (जल) विचरते हैं।

सोमो ददद् गन्धर्वाय गन्धर्वो दददग्नये।
रयिं च पुत्राँश्चादादग्निर्मह्यथो इमाम।।[744]

अर्थात् इस गतिमान ऊर्जा और चलने वाले जालों को सोम ने वायु के लिये, वायु ने अग्नि के लिये, अब अग्नि ने ऋषि के लिये दिया है।

देवा एतस्यामवदन्त पूर्वे सप्त ऋषयस्तपसे ये निषेदुः।
भीमा जाया ब्राह्मणस्योपनीता दुर्धां दधाति परमे व्योमन्।।[745]

अर्थात् कठिनाई से पकड़ी जाने वाली, भयानक कर्म वाली वाली, जीतने वाली परं ऊर्ध्व में स्थित होती है, ब्राह्मण के समीप लाई गई। पूर्वकालीन सात ऋषि जो तपाने के लिये निश्चय ही सिथत हुये थे, दीप्तिमानों ने उन्हें इस ऊर्जा में निर्देशित किया था।

सहस्तोमाः सहछन्दस आवृतः सहप्रभा ऋषयः सप्त दैव्याः।
पूर्वेषां पन्थामनुदृश्य धीरा अन्वालेभिरे रथ्यो न रश्मीन्।।[746]

अर्थात् सात दीप्तिमान ऋषिगण ऊर्जित करने वाली शक्तियों के साथ वेधनी शक्ति के साथ, अग्रमापक के साथ आच्छादित हुये। लगामों का अनुसरण करने वाले रथ में जुते घोड़े की भांति उन बुद्धिमान ने पूर्वपुरुषों

---

743. ऋग्वेद 10:82:7
744. ऋग्वेद 10:85:41
745. ऋग्वेद 10:109:4

के मार्ग को फिर देखकर सर्वतः लाभ उठाया।

द्वे ते चक्रे सूर्ये ब्रह्माण ऋतुथा विदुः।
अथैकं चक्रं यद् गुहा तदद्धातय इद्विदुः।।[747]

अर्थात् ऊर्जा के दो स्थानों को ब्राह्मणों ने ऋतु के अनुसार जाना। आगे, एक स्थान को जो मानस–गुहा है उसको केवल धारणओं को प्राप्त करने वालों ने जाना।

हस्तेनैव ग्राह्य आधिरस्या ब्रह्मजायेयमिति चेदवोचन्।
न दूताय प्रह्ये तस्थ एषा तथा राष्ट्रं गुपितं क्षत्रियस्य।।[748]

अर्थात् जैसा राजा के राज्य को गोपनीय करने को दूत के लिये अधिक प्रेरित किया जाता है, उसी प्रकार यह ऊर्जा (गोपनीय रूप से) स्थित होती है। इस ऊर्ध्ववर्ती ऊर्जा को कर्म से ही पकड़ा जा सकता है। इस ब्रह्मजाया ने प्रक्रिया को भी बतलाया।

अहं सोममाहनसं विभर्म्यहं त्वष्टारमुत पूषणं भगम्।
अहं दधामि द्रविणं हविष्मते सुप्राव्ये यजमानाय सुन्वते।।[749]

अर्थात् ऊर्जा निर्माण करने वाले, पोषण करने वाले और प्रकाश में चलने वाले दिव्य जालों का आधार है। वह प्रक्रियावान होता, उद्गाता, ब्रह्मा और अध्वर्य के लिये बहने वाले जल को धारण करती है।

तुष्टमेतत्कटुकमेतदपाष्ठवद्विषवन्नैतदत्तवे।
सूर्यां यो ब्रह्मा विद्यात्स इद्वाधूयमर्हति।।[750]

अर्थात् यह ऊर्जा तिरस्कृत की भांति सन्तुष्ट करने वाली है, यह विष

---

746. ऋग्वेद 10:130:7
747. ऋग्वेद 10:85:16
748. ऋग्वेद 10:109:3

की भांति तीक्ष्ण है, यह खाने के लिये नहीं है। जो ऋत्विक् ब्रह्मा ऊर्जा को जान लेता है वह ही केवल वहन करने वाली शक्तियों के योग्य होता है।

आशसनं विशसनमथो अधिविकर्तनम्।
सूर्यायाः पश्य रूपाणि तानि ब्रह्मा तु शुन्धति।।[751]

अर्थात् ऊर्जा के रूपों जैसे सम्पूर्णतः वध करना, बरबाद कर देना, विशेषतः अधिक काटना का संज्ञान करो, किन्तु उन्हें ऋत्विक् ब्रह्मा अनुकूल कर लेता है।

इन मन्त्रों से यह सपष्ट हो जाता है कि जिस एकार्णव जलों को उत्पन्न करने वाली ऊर्जा को नहीं जाना जा सकता है उसका अन्य रूप मनुष्य के भीतर वर्तमान है। शरीर के जल पहले जलीयतत्त्व से आवृत होकर फिर वाक् और प्राण से भरे हुये रश्मियों से शासित होकर चलते हैं। इस ऊर्जा का आभास ऋषियों को अग्नि से हुआ जो जल फिर वायु के सहारे उस तक पहुँची थी। जो ब्राह्मण-ऋषि के समीप प्राप्त हुई, वह परम ऊर्ध्व (मूर्धा) में स्थित थी, वह भयानक कर्मवाली, सबको जीतने वाली और कठिनाई से पकड़ी जाने वाली थी। दीप्तिमानों ने अग्नि तपाने वाले पूर्व सात ऋषियों को ऊर्जा ज्ञान के लिये निर्देशित किया; अर्थात् अग्नि-कर्म में ताप के अतिरिक्त दीप्ति (चमक) को भी ऋषियों ने देखा और उसी में उन्हें ऊर्जा का आभास हुआ। तब उन सात ऋषियों ने ऊर्जित करने (बढ़ाने) वाली विधि ा से, वेधन (टुकड़े) करने वाली विधि से तथा अग्रमापक से सम्पन्न होकर पूर्वपुरुषों (कदाचित् दीप्तिकर्मियों) के मार्ग का पुनः विवेचन करके उसका लाभ लिया। ऋत की वैज्ञानिक विधियों से या ऋतु के अनुसार ऊर्जा के दो स्थानों (अयनों, उत्तरायण-दक्षिणायन कर्म-ज्ञान) को जाना, और मानस-गुहा वाले स्थान को केवल धारणा अर्थात् दोनों अयनों को धारण करने वाला होने से जाना। मूर्धा की गोपनीय ऊर्जा को कर्म से ही पकड़ा जा सकता है, इस प्रक्रिया को ज्ञान ने बतलाया। ऊर्जा गतिमान जलों को धारण करती है, यह ऋत की वैज्ञानिक प्रणाली के कर्मी होता, उद्गाता, ब्रह्मा और अध्वर्यु जान

---

749. ऋग्वेद 10:125:2
750. ऋग्वेद 10:85:34
751. ऋग्वेद 10:85:35

गये। जो ऋत्विक-ब्रह्मा यह जान लेता है कि ऊर्जा तिरस्कृत होकर सन्तुष्ट करने वाली (अर्थात् उसे दूर से ही नियन्त्रित करने में सन्तोष होता है), अरवाद्य एवं विष के तुल्य तीक्ष्ण है, मात्र वह ही उसे वहन करने के योग्य होता है। यद्यपि ऊर्जा अधिक काट डालने, बरबाद कर देने या वध कर देने के गुणों वाली है, तथापि ऋत्विक-ब्रह्मा इसका संज्ञान करके ऊर्जा को अपने अनुकूल कर लेता है।

ऐसा लगता है कि वैदिक युग की यायावर परिस्थितकी में मनुष्य और पशु पर होन वाले आघात के परिप्रेक्ष्य में ऋषियों की दृष्टि उस जलीय तत्व पर गई जो मेरु-नाडियों में और मूर्धा में (अर्थात् सरोबो-स्पाइनल फ्ल्यूड) प्राप्त हुआ आगे उसका ही रूप धातुओं में भी प्राप्त हुआ तथा अधिकतम शुक्र में प्राप्त हुआ। मूर्धा और मस्तिष्क के बीच जुड़े हुये[752] हृदय (थालामिक रीजन) में यह उदक (ओजस्) मूलरूप से स्थित पाया गया, और कदाचित वही प्रारम्भिक भ्रूण में भी था। इस उदक में एक चमक थी जिससे उसके भीतर ऊर्जा का आभास हुआ; यह ऊर्जा अपने गुणों में सूर्य-रश्मि में प्राप्त और पार्थिव अग्नि में प्राप्त ऊर्जा के समान थी। इस समानता से ही यह अनुमान लगाया गया होगा कि उससे ही उदक की सृष्टि और तथावत् एकार्णव-सलिल की सृष्टि हुई थी; अथवा वह ही एकार्णव-सलिल में सुषुप्तावस्था में विद्यमान थी और उसी के गतिमान होने पर यह सम्पूर्ण सृष्टि सम्पन्न हुई। अब प्रश्न है कि यह अनुसन्धान किस प्रकार हुआ? अनुसन्धान विधियों और उपकरणों पर हम पहले ही चर्चा कर चुके हैं। यहाँ हम उन मन्त्रों पर विचार करेंगे जिनमें इस शोध के प्रसंग प्राप्त होते हैं-

त्वष्टा माया वेदपसामपस्तमो विभ्रत्पात्रा देवपानानि शन्तमा।[753]

अर्थात् प्रदीप्त करने वाले (वैज्ञानिक त्वष्टा) ने अत्यधिक कुशलता से दीप्ति को पैना करने वाले एवं क्रिया आधारित रक्षण वाले पात्रों को पकड़ते हुये तथा मापन के द्वारा चुस्तों में चुस्ततन (ऊर्जा) को ज्ञात किया।

इमं विधन्तो अपां सधस्थे पशुं न नष्टं पदैरनुग्मन्।
गुहा चतन्तमुशिजो नमोभिरिच्छन्तो धीरा भृगवोऽविन्दन्।।[754]

---

752. यजुर्वेद

अर्थात् जैसे खाये हुये पशु को पद चिन्हों द्वारा अनुसरण करके प्राप्त करते हैं, वैसे ही इच्छा करते हुये मेधावी बुद्धिमान भृगुओं ने जलों के साथ विशेषतः धारण की हुई रश्मियों के द्वारा मानस गुहा को प्राप्त इस ऊर्जा को प्राप्त किया।

नृचक्षसा एष दिवो मध्य आस्त आपप्रिवान् रोदसी अन्तरिक्षम्।
स विश्वाचीरभि चष्टे घृताचीरन्तरा पूर्व अपरं च केतुम्।।[755]

अर्थात् यह (सूर्य) दिन के बीच स्थित हुआ और द्यावापृथिवी तथा अन्तरिक्ष को प्रचण्ड प्रकाश से भर दिया। उस विश्व को जानने वाले तथा उदक को जानने वाले ने पहले वाले (पर ओजस्) और समीप वाले (अपर ओजस्) के बीच में स्थित रश्मि को प्रकटतः पहचाना।

क्राणा रुद्रामरुतो विश्वकृष्टयो दिवः श्येनासो असुरस्य नीळयः।
तेभिश्चष्टे वरुणों मित्रो अर्यमेन्द्रो देवेभिर्वशेभिर्वशः।[756]

अर्थात् क्षिप्रों (रुद्रों), प्रकाशमानों (मरुतों), विश्वविस्तारको, प्राणों में निवास करने वाली दीप्तिमान रश्मियों, व्याप्त करने वाले (वरुण), मापन करने वाले (मित्र), श्रेष्ठ का निर्माण करने वाले (अर्यमा), अधिकार करने वाले (इन्द्र) ने उन ने उन दीप्तिमान रश्मियों से रश्मि का ज्ञान प्राप्त किया।

आ रोदसी अपृणादोत मध्यं पञ्चदेवाँ ऋतुशः सप्त-सप्त।
चतुस्त्रिंशता पुरुधा वि चष्टे सरुपेण ज्योतिषा विव्रतेन।।[757]

अर्थात् द्यावापृथिवी और अन्तरिक्ष तथा पाँच देवताओं (प्राणों) को सात रश्मियों और सात ज्वालाओं ने ऋतु (अयन) के अनुसार सर्वतः भर दिया। चौंतीस विपुलता से धारण करने वाले (देवगण) विशेष नियमों द्वारा समान

---

753. ऋग्वेद 10:53:9
754. ऋग्वेद 10:46:2
755. ऋग्वेद 10:139:2
756. ऋग्वेद 10:92:6

रूप के प्रकाश से विशेषतः ज्ञान प्राप्त करते हैं।

अन्तरिक्षेण पतति विश्वा रूप चाकशत्।
मुनिर्देवस्य देवस्य सौकृत्याय सखा हितः।।[758]

अर्थात् मन से युक्त (मनीषी) प्रत्येक दीप्ति के समस्त रूपों का आभास करता है और सुकर्मता के हेतु से समान परिवेश को धारण किये हुये अन्तरिक्ष के साथ उड़ता है।

याः सरूपा विरूपा एकरूपा यासामग्निरिष्ट्या नामानि वेद।
या अङ्गिरसस्तपसेह चक्रुस्ताभ्यः पर्जन्य महि शर्म यच्छ।।[759]

अर्थात् जो समान रूप की, भिन्न रूप की, एक रूप की हैं, अग्नि प्रवृत्ति द्वारा जिनके उदकों को जानता है, अङ्गारों से युक्त विज्ञानी ताप द्वारा जिनको इस लोक में बनाता है, उनके लिये ऊर्ध्व में उत्पन्न होने वाला (मेघ) महान् आधार विस्तारित करता है।

पतङ्गभक्तमसुरस्य मायया हृदा पश्यन्ति मनसा विपश्चितः।
समुद्रे अन्तः कवयो विचक्षते मरीचीनां पदमिच्छन्ति वेधसः।।[760]

अर्थात् चयन करने वाले सूक्ष्म इकाई के मापक से गहराई में स्थित प्राण की जुड़ी हुई रश्मि को देखते हैं। वर्णन करने वाले अन्तः शरीर के भीतर रश्मियों को विशेषतः देखते हैं। वेधन करने वाले रश्मियों के डग को जानना चाहते हैं।

अनुष्टुभं अनु चर्चूर्यमाणं इन्द्रं निचिक्युः कवयः मनीषा।[761]

---

757. ऋग्वेद 10:55:3

अर्थात् वर्णन करने वाले विद्वानों ने मापन की दृष्टि से वाक् (ऊर्जा) का अनुगमन करते हुये ऐश्वर्यवान् (ऊर्जापुञ्ज) का प्रेक्षण किया।

इन मन्त्रों में प्रतीकात्मक रूप से देवताओं और ऋषि-मुनियों के नाम दिये गये हैं, तथापि वैज्ञानिक विधियाँ, उपकरण और माध्यम के विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि उदक में रहने वाली ऊर्जा या उसके अन्य रूपों के प्रेक्षण में मापन, प्रतिमापन, विशेष प्रेक्षण, चयन, वर्णन, वेधन आदि विधियाँ, तथा दीप्ति, ताप, अग्नि, रश्मि, ऊर्जा, प्रकाश, समान परिवेश, प्रवृत्ति सूक्ष्म इकाई आदि माध्यमों से एवं दीप्ति को पैना करने वाले क्रिया आधारित रक्षण वाले, माप करने वाले, सूक्ष्मदर्शी और प्रेक्षण करने वाले उपकरणों के प्रयोग से अनुसंधान पूर्वक वैज्ञानिक तथ्य प्राप्त किये गये। विशेषरूप से जो अनुसंधान किये गये उनमें क्षिप्र ऊर्जा जिसमें गति का भी आधान था, जल जिसमें ऊर्जा का आधान था, नाडीजाल और मानस गुहा, पर तथा अपर ओजस् जिनमें रश्मि का आधान था, रश्मियों और ज्वालाओं, द्युलोक, पृथिवीलोक और अन्तरिक्ष लोक, इस लोक में ताप द्वारा उदकों (आसव, मधु, अरिष्ट आदि) का निर्माण, मेघ जिसमें उदक का आधान था, प्राण से जुड़ी हुई रश्मि, अन्तःशरीर की रश्मियाँ, रश्मियों के डग आदि प्रमुख क्षेत्र थे।

अब इस अध्याय में प्राप्त सम्पूर्ण तथ्यों पर विचार करने पर यह स्पष्ट होता है कि मानव-पशु आघातों के उपचार में ऋषियों की दृष्टि में ओजस् या उदक आया और उसे उन्होंने जीवन का एक आवश्यक तत्व पाया, तो उस पर आगे गवेषणा हुई। सर्वप्रथम ओजस् के स्थानों को देखा गया और यह पाया गया कि इसका एक अपर रूप अन्तःशरीर में प्राप्त है तो दूसरा रूप मानस गुहा में प्राप्त है इस अन्तर के साथ कि पर-ओजस् में एक रश्मि विद्यमान है। इस रश्मि के सहारे सम्बन्धित नाडी में क्षोभ उत्पन्न करते हुये उसकी गति को पकड़ा जो अन्ततोगत्वा मानसगुहा में स्थित पर-ओजस तक पहुँची, यह कार्य कदाचित 'प्रतिमा' की विधि से रश्मि का प्रतिगमन करते हुये प्राप्त किया। इसी प्रकार उदक के अन्तःशारीरिक अनुगमन द्वारा भी 'प्रमा' की विधि से उसी मानसगुहा को प्राप्त किया गया। इस प्रकार सम्पूर्ण स्नायुमण्डल का अध्ययन हो गया; इसे हम स्नायुसंक्रिया विज्ञान (न्यूरॉलाजी) कह सकते हैं। इसी क्रम में जैव प्रक्रिया, कर्म प्रक्रिया, ज्ञान प्रक्रिया, पाक प्रक्रिया और ऊर्जा-संरक्षण प्रक्रिया का भी अध्ययन होता

चला गया; जिसे हम मोटे रूप में शारीर या शरीरसंक्रिया विज्ञान (फिजियोलॉजी) कह सकते हैं। इन विज्ञानों के अन्तरगत जो अनुसंधान ऊर्जा, दीप्ति, रश्मि, प्रकाश, ताप, बल, गति आदि पर हुये, उन्हें लोक में सूर्य और अग्नि में भी सही पाया गया; इसे हम आधुनिक रूप से भौतिकी (फिजिक्स) कह सकते हैं। इसी से सम्बन्धित ऋतु और ग्रह-नक्षत्र आदि के अध्ययन लोक में खगोल (एस्ट्रानामी) तथा पुरुष में देवताओं के रूप में ऊर्जा-पुञ्जों के भी किये गये। उदक और उसके निर्माण की प्रक्रिया रसायनशास्त्र (केमिस्ट्री) का क्षेत्र विस्तार हुआ। इन अध्ययनों में जो अनुसंधान विधियाँ विकसित हुईं उनका वैज्ञानिक-दर्शन (फिलासॉफी ऑफ साइन्स) के रूप में विकास हुआ। इनकी शिक्षा व्यवस्था में शिक्षण विज्ञान का विकास हुआ। अनुसंधान के निमित्त से ही जो ताप, प्रकाश, रश्मि आदि का उपयोग प्रारम्भ हुआ उसके उपकरण निर्माण ने वास्तु और कौशल (टैक्नालॉजी) को जन्म दिया, जिसका विकास मानव हित के क्षेत्रों में लौहकर्म, अग्निकर्म (चयन), कृषि, आयुध तथा रथ निर्माण, तथा अन्यान्य आद्यौगिक तथा व्यावसायिक क्षेत्रों में भी हुआ और पूरा वैदिक समाज लाभान्वित हुआ।

(३) वैदिक-विज्ञान की विषयवस्तु :

इस अध्याय के पूर्ववर्ती दो खण्डों की विवेचना में तथा अन्यत्र भी ऋग्वैदिक विज्ञान की विषयवस्तु प्रायः स्पष्ट हो चुकी है। तथापि यहाँ हम परिचयात्मक सूक्त[762] में विषयवस्तु का विवेचन कर रहे है :-

धर्मा समन्ता त्रिवृतं व्यापतुस्तयोर्जुष्टिं मातरिश्वा जगाम।
दिवस्पयोदिधिषाणा अवेषन्विदुर्देवाः सहसामानमर्कम्।।[763]

अर्थात् समग्ररूप से दोनों तापों (सूर्य और अग्नि) ने त्रिवृत (कर्म, ज्ञान, पाक) को विशेषतः प्राप्त किया। उनकी दीप्ति को प्राण (वायु) ने प्राप्त किया दीप्तियाँ जल को धारण करती हुयीं सक्रिय हुईं। दीप्तिमानों ने शक्ति

762. ऋग्वेद 10:114:

या दीप्ति के द्वारा सूर्य के निर्माण को जाना।

तिस्रो देष्ट्राय निर्ऋतीरुपासते दीर्घश्रुतो वि हि जानन्ति वह्नयः।
तासां नि चिक्युः कवयो निदानं परेषु या गुह्येषु व्रतेषु।।[764]

अर्थात् तीन अत्यधिक दान देने के लिये स्थावरों के समीप बैठते हैं, इन्हें बहुश्रुत विद्वान वस्तुतः अग्नियाँ मानते हैं। उनके निश्चित दान को वर्णन करने वाले विद्वान ऊर्ध्वों में, शरीरगुहाओं में और कर्मों में ज्ञात करते हैं।

चुतुष्कपर्दा युवतिः सुपेशा घृतप्रतीका वयुनानि वस्ते।
तस्यां सुपर्णा वृषणा नि वेदतुर्यत्र देवा दधिरे भागधेयम्।।[765]

अर्थात् चार प्रकार से जुड़ने वाली (ऊर्जा) कर्मवाली, सुन्दर रूप वाली, ओजस् वाली और ज्ञानों को धारण करने वाली है। उसमें दो कल्याण रश्मियों की वृष्टि करने वाले (सूर्य और अग्नि) नित्य स्थित हुये हैं, जहाँ दीप्तिमानों ने निश्चित भाग रखा है।

एकः सुपर्णः स समुद्रमाविवेश स इदं विश्वं भुवनं विचष्टे।
तं पाकेन मनसापश्यमन्तितस्तं माता रेळ्हि स उ रेळ्हि मातरम्।।[766]

अर्थात् एक पक्षी है, उसने अन्तरिक्ष में सर्वतः प्रवेश किया है, वह इस समस्त अन्तरिक्ष लोक को विशेषतः संज्ञान करता है। उसको पाक क्रिया के मापन द्वारा मैने देखा है। पहले माता (निर्माण करने वाली ऊर्जा) उस (मन या इन्द्र) को बढ़ाती है, फिर वह माता को बढ़ाता है।

सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरकें सन्तं बहुधा कल्पयन्ति।
छन्दांसि च दधतो अध्वरेषु ग्रहान्त्सोमस्य मिमते द्वादश।[767]

---

763. ऋग्वेद 10:114:1
764. ऋग्वेद 10:114:2
765. ऋग्वेद 10:114:3
766. ऋग्वेद 10:114:4

अर्थात् विद्वान पुरोहित वचनों से वर्तमान होते हुये एक पक्षी को (सूर्य) बहुत प्रकार से समानता करते हैं। बारह रश्मिपुञ्जों को अन्तरिक्ष (अन्तःशरीर) में धारण करता हुआ सोम की उपलब्धियों को नापता है।

चतुदशान्ये महिमानो अस्य तंधीरा वाचा प्रणयन्ति सप्तु।
आप्नानं तीर्थं कइह पवोचद्येन पथा प्रपिबन्ते सुतस्य।।[768]

अर्थात् इस प्रक्रिया की चौदह अन्य विकास हैं, बुद्धिमान जन उन्हें वाणी से आगे सात में निर्देश करते हैं। जिस मार्ग से निचोड़े हुये जल को आगे पीते हैं, उस प्राप्त होने वाले जलस्थान को इस लोक में उसे सुख बतलाया है; अर्थात् सप्तधातुओं और उनसे निचोड़े हुये सप्त ओजस, ये चौदह विकास मात्र सात ही बताये जाते हैं, तथा ओजस् को सुख बतलाया गया है।

षटत्रिंशाँश्च चतुरः कल्पयन्तश्छन्दासिचदधतआ द्वादशम्।
यज्ञं विभाय कवयः मनीष ऋक् सामाभ्यां प्र रथं वर्तयन्ति।[769]

अर्थात् मनीषी वर्णन करने वाले छत्तीस को (12 आदित्य, 11 रुद्र, 8 वसु, 2 अश्विनीकुमार, 3 अग्नियाँ, कुल 36) और चार को (कर्म, ज्ञान, धातुरूप और ओजस् को धारण करने वाली ऊर्जायें) समानता करते हुये और बारह में रश्मिपुञ्जों को धरण करते हुये, द्यावापृथिवी के लिये प्रक्रिया को प्रकाशित करते हुये, शरीर को आगे मोड़ते है अर्थात् परिवर्तित करते हैं।

सहस्रधा महिमानः सहस्रं यावत ब्रह्म विष्ठितं तावत्ई वाक्।।[770]

अर्थात् सहस्रियों को हजारों प्रकार से विकसित करते हुये, जब तक अन्न विशेषतः स्थित है तब तक यह वाणी (ऊर्जा) स्थित है।

भूम्या अन्तं पर्येके चरन्ति रथस्य धूर्षुयुक्तासो अस्थुः।

767. ऋग्वेद 10:114:5
768. ऋग्वेद 10:114:7
769. ऋग्वेद 10:114:6

श्रमस्य दायं वि भजन्त्येभ्यो यदा यमो भवति हर्म्ये हितः।[771]

अर्थात् अनेकों शरीर-रथ के जुये में जुते हुये शरीर की चतुर्दिक सीमा में स्थित हुये विचरते हैं। जब विस्तार करने वाला घर (धातु स्थान) में स्थित होता है तब इनसे श्रम के देने योग्य को विभाजित करते हैं।

इस वर्णन में ऋग्वेद की तमाम विषयवस्तु संक्षेपतः प्रकट है। इनमें शक्तियाँ, उनके प्रभाव, उनकी प्रक्रिया उनके परिणाम और उनके विकास को शारीर के परिप्रेक्ष्य में बतलाया गया है। मूल में ऊर्जा है, जो चार प्रकार से कर्म, पाक, ज्ञान और ओजस् में प्रवृत्त होती है; इसकी दीप्ति से सूर्य तथा दीप्तिमान ज्योतिपुञ्ज देवगण निर्मित हुये। सूर्य तीन अग्नि-रूपों में विकसित हुआ। दीप्ति रश्मि रूप में प्राण से युक्त हुईं, फिर जल से युक्त हुई और उसे गतिमान किया। दीप्तिामन अग्नियों को अपना निश्चित भाग प्रदान करते हैं, और ये अग्नियाँ मानव कलयाण अर्थात् जीवन और आयु के पालन और विकास से, स्वास्थ्य के लिये रश्मि की वर्षा करती हैं। निर्माण करने वाली ऊर्जा पहले मन का निर्माण करती हैं, फिर मन अन्तःशरीर का स्वामी होकर उत्तरायण-दक्षिणायन मार्गों को नियंत्रित करता हुआ ऊर्जा को उत्पन्न करता है; सूर्य भी इन मार्गों में बारह आदित्यों के रूप में योगदान करता हुआ सोम की उलब्धियों को प्राप्त करता है; इस प्रकार इस प्रक्रिया के सात धातुरूपों के और सात सोमरूप ओजस् के ये चौदह विकास होते हैं किन्तु संयुक्त रूप से इन्हें सात ही माना जाता है। धातुओं से निचोड़े हुये ओजस् को स्वास्थ्य की दृष्टि से सुख कहाँ जाता है, और सर्वशुद्ध होकर यही ऊर्जा का आधान बनता है। छत्तीस दीप्मिान देवता और चार प्रकार की ऊर्जा प्रक्रिया में रत होकर द्यावापृथिवी या अध्यात्म-अधिभूत के लिये आगे शरीर में परिवर्तन करते रहते हैं। ऊर्जा सहस्रों नाडी-जालों में गतिमान होती हुई उन्हें विकसित करती है, और अन्न की विशेष स्थिति के कारण ही इसकी सतत स्थिति बनी रहती है। धातुस्थान में विस्तार प्रक्रिया से जो विभाजन होता है, वह अनुरूपतः दीप्तिमानों के श्रमदान के विभाजन का परिणाम है। अब, इस सम्बन्ध में कुछ प्रश्न हैं :-

---

770. ऋग्वेद 10:114:8
771. ऋग्वेद 10:114:10

कश्छन्दसां योगमा वेद धीरः को धिष्ण्यां प्रति वाचं पुपाद।
कमृत्विजामष्टमं शूरमाहुर्हरी इन्द्रस्य निचिकायकः स्वित्।।[772]

अर्थात् कौन ऊर्जापुञ्जों की युक्तता को सम्पूर्णतः जानता है? कौन बुद्धिमान अवधारणा के प्रति शब्द को प्राप्त करता है? ऋत से उत्पन्न होने वालों में किसको आठवाँ वीर्यवान् कहा जाता है? सम्भवतः किसने इन्द्र के दो अश्वों को निश्चित संज्ञान किया है?

इस प्रकार अवधारणा के लिये शब्द प्रदान करने वाले भाषाविज्ञान, ऊर्जापुञ्जों के विभिन्न योगों से सम्बन्धित ऊर्जाविज्ञान गतिमान नियमों से युक्त प्रक्रिया से उत्पन्न आठवाँ द्रव्य अर्थात् ओजस और इन्द्र (प्रशासक मन) के दो रश्मिपुञ्ज अश्विनी कुमार, जो दक्षिणायन-उत्तरायण के देवता और दस्र-नासत्य रूप में काटने वाले और बनाने वाले हैं, के बारे में बहुत कम जानकार हैं। दूसरे शब्दों में भाषाविज्ञान, ऊर्जाविज्ञान और ज्योतिष नाडी-विज्ञान और शरीर संक्रिया के जानकार बहुत कम है। इस प्रकार वेद की विषयवस्तु को इन चार विज्ञानों में निहित कर दिया गया है। इसके अतिरिक्त 'वेद', 'पपाद', 'आहुः' और निचिकाय से तथा ऋत के संदर्भ से वैज्ञानिक विधियों का भी निर्देश कर दिया गया है।

(4) वैदिक विज्ञान का प्राचीन दार्शनिक- वैज्ञानिक संदर्भों में पुष्टीकरण :

यद्यपि सभी प्राचीन भारतीय शास्त्र वेद से ही उद्भूत हैं तदपि वेदज्ञान के ग्रहण में वे अपूर्ण ही हैं। वेद की व्याख्याकारिता के बीच इनका उद्भव हुआ और उसी परम्परा में धीरे-धीरे इनका विकास हुआ। इस पूरी कालावधि में यह अपूर्णता वेद को हृदयङ्गम करने और विषयानुकूल उसे उद्घाटित करने के अनुपात में ही प्रापत हुई और सम्पूर्णतः नहीं हुई शास्त्रों के विषयविभागों और सम्प्रदायों में सहयोग और सहकार न होने के कारण भी प्रत्येक में ही यह अपूर्णता दोष बना ही रहा। 'निघण्टु' के रूप में जो अतिप्राचीन और प्रारम्भिक अध्यन हुआ, उसकी सूत्ररूपता और अतिसूक्ष्मता के कारण भी यह

772. ऋग्वेद 10:114:9

अभाव बना रहा, यद्यपि यास्क ने इसे सही दिशा में समझाने का प्रयास किया किन्तु इस प्रयत्न में भी विषयान्तरण और वेद की दृष्टि से अपरिपक्वता विद्यमान रही। फलस्वरूप, इससे अन्य सम्प्रदायों को पूर्ण लाभ प्राप्त नहीं हुआ। इन कमियों के कारण इस शोधप्रकल्प की प्राप्तियों का शास्त्रों से पुष्टीकरण यद्यपि न तो उपयुक्त है और न ही सम्भावित है, तथापि हम अपने प्रयास भर यह पुष्टीकरण प्राप्त करने की चेष्टा कर रहे हैं। इस संदर्भ में सूक्त 10:114 में जो संक्षेप रूप से विषयवस्तु का वर्णन किया गया है, उसके एक-एक बिन्दु को लेकर इसका पुष्टीकरण का प्रयास हम कर रहें हैं, और इसके अतिरिक्त भी महत्वपूर्ण वेद-विषयों को भी इसके लिये हम सम्मिलित कर रहे हैं।

(क) वैज्ञानिक विधियां :

सबसे पहले वैज्ञानिक विधियों के सन्दर्भ में मूलमन्त्र को हम ले रहे हैं :

कासीत्प्रमा प्रतिमा किं निदान माज्यं
किमासीत्परिधिः क आसीत्।
छन्दः किमासीत्प्रउगं किमुक्थं
यद्देवा देवमय जन्त विश्वे।।[773]

इस मन्त्र में प्रमा, प्रतिभा, निदान, परिणाम, परिधि, छन्द आदि पर प्रश्न उपस्थित करते हुये प्राण-वाक् के परिप्रेक्ष्य में दीप्तियों द्वारा मन से युक्त प्रक्रिया होने का संकेत दिया गया है। इस विषय को हमने पाद-टिप्पणी 78 और आगे तथा पादटिप्पणी 657 और आगे परिपूर्ण विवेचना की है, और उन्हीं संदर्भों की पुष्टि हम यहाँ करेंगे। तथापि, मूल रूप से यह सब प्राचीन आन्वीक्षकी विद्या का, जिसे सब विद्याओं की जननी कहा गया है।[774] प्रतिपाद्य विषय रहा था, जिसके सन्दर्भ तो अनेक स्थानों पर मिलते हैं, किन्तु विवरण या ग्रन्थ अप्राप्य हैं। ऐसा समझा जाता है कि मौर्यकाल में न्यायाधिकारियों के प्रशिक्षण में इस विद्या की अनिवार्यता कर दिये जाने से कालान्तर में इसे 'न्याय' कहा जाने लगा।[775] अन्य दर्शनों और सम्प्रदायों ने भी इस विषय में अपने विचार प्रस्तुत किये हैं।

773. ऋग्वेद 10:130:3

'यथार्थनुभवः प्रमा' उदयनाचार्य[776] की इस परिभाषा में यदि 'अर्थ' का शब्दार्थ 'निरुक्त'[777] से लिया जाये तो 'अर' गतौ धातु से 'कथच्' प्रत्यय सहित 'गतिमान स्थिति' का जैसा का तैसा अनुभव 'प्रमा' है; यह हमारे अर्थ 'अग्रमापन' जिससे आगे जाने वाली स्थिति का मापन करना बोध होता है के अनुरूप है, तदपि मापन और मापक का ज्ञान इस सम्पूर्ण कालावधि में कहीं प्राप्त नहीं होता; अन्य विधियों की दृष्टि से जिनमें भी हमने 'प्रमा' का समावेश माना है प्रर्याप्त मतान्तर हैं। उदाहरणार्थ– **'प्रत्यक्षमेकं चार्वाकाः कणादसुगतौ पुनः, अनुमानञ्च तच्चापि सांख्या शब्दं च तेऽपि च। न्यायैकदेशिनोऽप्येवमुपमानञ्च केचन, अर्थापत्या सहैतानि चत्वार्याहुः प्रभाकराः। अभावषष्ठान्येतानि भाट्टा वेदान्तिनस्तथा, संभवैतिह्ययुक्तानि तानि पौराणिका जगुः।।**

अब 'प्रमा' की परिभाषा के बाद 'तत्साधनं च प्रमाणं' से प्रमाण के उपर्युक्त मतों की विषद व्याख्या की आवश्यकता हम नहीं समझते, क्योंकि यहाँ हमारा उद्देश्य वेद के संदर्भित हमारे अर्थों का पुष्टीकरण मात्र है, अतः 'प्रभा' के अङ्गरूप 1. प्रमेय, यथार्थ अनुभव का विषय, यथा– 'योऽर्थ, प्रमीयते तत्प्रमेयम्; 2. प्रमाता, जो प्रमाणों द्वारा ज्ञान में प्रवृत्त है, यथा– 'तत्र यस्येप्सा जिज्ञासा प्रयुक्तस्य प्रवृत्तिः स प्रमाता; 3. प्रमाण, प्रमेय वस्तु के ज्ञान का साधन यथा– 'येनार्थं प्रमिणोति तत्प्रमाणम्' (वात्स्यायनः)[779] के लिये मूलमन्त्र में 'प्र उ गं किमुक्थं यद्देवा देवमयजन्त विश्वे' अर्थात् 'आगे जाने वाला या प्राण और वाक् कौन है जहाँ सब दीप्तियों ने दीप्तिपुञ्ज (मन) को सक्रिय किया' आगे जाने वाली प्रक्रिया का वाचक ही है, किन्तु आचार्यगण इसको नहीं समझ सके तब प्रमाणों की रूपरेखा और व्याख्या ही अनुपयुक्त है। तथापि, कुछ प्रमाण हमारे निष्कर्षों की पुष्टिअवश्य ही करते हैं, यथा– 'इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्ष'[780] अर्थात् इन्द्रियों का अपने विषयों में संयोग से उत्पन्न कर्मप्रधान ज्ञान जो किसी निर्देश या पृथकता की अपेक्षा न करे प्रयत्क्ष कहलाता है। स्पष्टतः, 'आत्मेन्द्रियमनोऽर्थानां सन्निकषात् प्रवर्तते, व्यक्ता तदात्वे या बुद्धिः

---

774. कौटिल्य अर्थशास्त्र, अध्याय–2
775. डॉ. राधाकृष्णन् 'भारतीय दर्शन, भाग–1
776. न्यायकुसुमाञ्जलि
777. निरुक्त 1:18
778. सर्वदर्शन संग्रह

प्रत्यक्षं सा निरुच्यते,[781] अर्थात् आत्मा, मन, इन्द्रिय, विषयों का संयोग होने से उसी समय जो बुद्धि (ज्ञान) व्यक्त होती है उसे प्रत्यक्ष कहा जाता है। मूलमन्त्र में 'देवाः' इन्द्रियों के सम्बन्ध से ही आया है जो मन को सक्रिय करते हैं, उसमें प्राण द्वारा क्रियापूर्वक जो 'उक्थ' (√वच्+कथच्) अर्थात् वाणी प्रापत होती है, तो वह 'प्रमा' पूर्वक प्रत्यक्ष ही कहा जायेगा। इसी प्रकार– 'आप्तः खलु साक्षात्कृतधर्मा यथादृष्टमर्थस्य चिख्यापयिषया प्रयुक्त उपदेष्टा' तथा 'साक्षात्करणमर्थस्याप्तिः तथा प्रवर्त्तते इत्याप्तः'[782] अर्थात् आप्त पुरुष वस्तुतः अक्षय कर्म करता हुआ घटक की जैसी स्थिति प्रेक्षित होती है वैसी धारणा प्राप्त करने वाला तथा वैसी ही अभिव्यक्ति से आगे जुड़कर उपदेश करने वाला होता है, तथा, घटक का दृष्टि के साथ बनना आप्ति है और जो उसी प्रकार आगे भी वर्तमान रहता है ऐसा आप्त पुरुष है। हम देशते हैं कि इस माने में आप्त पुरुष प्रत्यक्षदृष्टा के अतिरिक्त कुछ नहीं है अपितु दृष्ट को वैसी ही बतलाने वाला भी है। यह स्थिति ठीक वैसी ही है जैसी निम्न मन्त्र की व्याख्या में हमने पहले ही बतलाई है–

पश्वा यत्पश्चा वियुता बुधन्तेति ब्रवीति वक्तरी रराणः।[783]

अर्थात् प्रेक्षणकर्तागण जिन परिणामों से विशेषतः युक्त हुये बोध प्राप्त करते हैं, ऐसों को वक्ता को (या वाणी में) प्रदान करते जाते हैं, जो इनको बोलता है।

यास्क की दृष्टि में भी–

साक्षात्कृतघर्माण ऋषयो बभूवुः। तेऽवरेभ्योऽसाक्षात्कृतधर्मभ्य उपदेशेन मन्त्रान्संप्रादु।।[784]

अर्थात् ऋषिगण अक्षय कर्म करते हुये धारणा प्राप्त करने वाले थे। उन्होंने कनिष्ठों के लिये, जो अक्षय कर्म करते हुये धारणा प्राप्त करने वालों में नहीं थे, समीप में लाकर या उपदेश के द्वारा मन्त्रों (रहस्यों) को सम्यक्

---

779. कामसूत्र
780. गौतम सूत्र 1:4:4
781. चरक. सूत्र. 11:20
782. वात्स्यायनः कामसूत्र
783. ऋग्वेद 10:61:12

रूप से आगे दिया।

अब अनुमान के लिये सामन्यतः 'अनु पश्चात् मीयते ज्ञायते इति अनुमानम्' अर्थात् जिसका बाद में ज्ञान होता है उसे अनुमान कहते हैं, प्रमा के ही अर्थ में लिया गया है, किन्तु परिभाषा में, 'प्रत्यक्षपूर्व त्रिविधं त्रिकालं चानुमीयते'[785] तथा 'अनुमानं खलु तर्को युक्त्यपेक्षः'[786] अर्थात् पूर्वकाल के प्रत्यक्ष के आधार पर तीन प्रकार का तथा तीन कालो का ज्ञान किया जाता है, तथा अनुमान युक्ति की अपेक्षा रखने वाले तर्क का नाम है। इसमें 'त्रिविधिं' की परिभाषा 'अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववत् शेषवत् सामान्यतो दृष्टं च'[787] अर्थात् पूर्वकाल के प्रत्यक्ष के आधार पर तीन प्रकार के अनुमान पूर्ववत्, शेषवत्, और सामान्यतोदृष्ट हैं। 'तर्क' की परिभाषा, 'अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः'[788] अर्थात् अविज्ञात तत्त्व (घटक) की प्रक्रिया में कार्य-कारण का उपपत्ति पूर्वक जो तत्त्वज्ञान के लिये समझ होती है वह तर्क है। 'युक्ति' की परिभाषा, 'बुद्धि पश्यति या भावान् बहुकारणयोगजान् युक्तिस्त्रिकाला साज्ञेया'[789] अर्थात् बहुत से कारणों के योग से उत्पन्न भावों को जो बुद्धि प्रेक्षण करती है वह तीनों कालों में जानने योग्य युक्ति कहलाती है। इस प्रकार अनुमान मात्र कल्पना नहीं है अपितु उसमें प्रत्यक्ष का समावेश है, तब जबकि प्रक्रिया में कार्य-कारण सम्बन्ध का ज्ञान हो; कारण से कार्य की ओर ज्ञान अन्य परिस्थितियों की सामयावस्था में पूर्व प्रत्यक्ष के आधार पर उचित समझ से प्रेक्षण करना प्रभा के उपयुक्त है, तो विपरीत प्रक्रिया में कार्य से कारण का अनुमान प्रतिमा के उपयुक्त है कार्य-कारण की सहज उप्लब्धता में तुरन्त ज्ञान होना सामान्यतोदृष्ट कहा जायेगा। अब, जहाँ तक उपमान-प्रमाण की बात है, तो वह परिभाषा 'औपम्यं नाम यदन्येनान्यस्य सादृश्यमधिकृत्य प्रकाशनं'[790] अर्थात् जब एक के द्वारा दूसरे के सादृश्य को मानकर ज्ञान किया जाता है तब उसे उपमान कहते हैं। उपमान का समावेश परार्थानुमान में ही कर लिया जाता है, जहाँ सादृश्यता के लिये 'प्रतिज्ञा-हेतु-दृष्टान्त उपनय-निगमनात्मक' पञ्चावयव का प्रयोग आवश्यक होता है। तब 'प्रतिज्ञा नाम साध्य वचनम्' अर्थात् सिद्ध करने

784. निरुक्त 1:20
785. चरक. सूत्र. 11:21
786. चरक. विमान. 4:4
787. न्याय दर्शन 1:1:5
788. न्यायदर्शन 1:1:40
789. चरक. सूत्र. 11:25

योग्य वचन को निश्चित करना प्रतिज्ञा है, 'हेतुर्नामोपलब्धिकारणम्' अर्थात् उपलब्धि के साधनभूत कारण को हेतु कहते हैं, 'दृष्टान्तो नाम यत्र मूर्ख विदुषां बुद्धिसाम्यं तेनैव यद्धर्ण्यं वर्णयते' अर्थात् जिस स्थल में मूर्ख और विद्वान दोनों की बुद्धि एक समान हो जाय उसके द्वारा ही जो वर्ण्य घटक का वर्णन किया जाता है उसे दृष्टान्त कहते हैं, 'उपनय' प्रतिज्ञा के अनुसार घटक की समानता और असमानता की विवेचना 'साधर्म्योपदिष्टे हे तौ वैध र्म्यवचनं वैधर्म्योपदिष्टे वा हेतौ साधर्म्यवचनम्' हेतु के संदर्भ से करना और इस प्रकार एक रूपता स्थापित करना उपनय है; तथा 'निगमन' निर्णय है जो 'परीक्षकैर्बहुविधं परीक्ष्य हेतुभिश्च साधयित्वा स्थाप्यते निर्णयः' अर्थात परीक्षकों द्वारा अनेक प्रकार से परीक्षण करके और हेतुओं के द्वारा परीक्ष्य घटकों को सिद्ध कर निर्णय स्थापित किया जाता है। ऐसे उपमान भी कार्य–कारण सम्बन्ध से प्रमा और प्रतिमा के ही अन्तर्गत समाविष्ट हो जाते हैं।

'निदान' की परिभाषा में 'इह खलु हेतु र्निमित्तमायतनं कर्ता कारणं प्रत्ययः समुत्थानं निदानमिति'[791] हेतु, निमित्त, आयतन, कर्ता, कारण, प्रत्यय, समुत्थान, पर्याय दे दिये गये हैं। किन्तु, हमने जो 'निदानमाज्यं' को कारण– कार्य माना है, उस दृष्टि से वहाँ 'तत्र कारणं नाम तद्यत् करोति, स एव हेतुः सकर्त्ता'[792] कारण उसे कहते हैं जो करता है, वही हेतु और कर्त्ता है, और कार्य 'कार्यं तु तघस्याभिनिर्वृत्तिरिष्यते'[793] इतिकर्तव्य के निश्चयोपरान्त कर्त्ता जिस प्रयोजन से क्रिया में लगता है ऐसा इष्ट है। 'हेतुर्नामोपलब्धिकारणम्'[794] अर्थात् उपलब्धि (परिणाम) के साधनभूत कारण को हेतु कहा जाता है। इससे स्पष्ट होता है कि परिणाम को लाने वाला कारण होता है। आधुनिक वैज्ञानिक विधि में स्वतन्त्र चर और आश्रितचर ही कारण और कार्य होते हैं।

'परिधि' से सीमा का भाव है। प्रथमतः अध्ययन की समस्या (प्रतिज्ञा) सीमांकित होनी चाहिये, क्योंकि 'न हि स्थूर्यृतुथा यातमस्ति'[795] अर्थात् वस्तुतः विशाल ढेर को ऋत के अनुसार प्राप्त नहीं किया जा सकता, इसलिये शोध की सम्भावना के अन्तर्गत ही समस्या का सीमांकन करना चाहिये।

---

790. चरक. विमान. 8:42
791. चरक. निदान. 1:3
792. चरक. विमान. 8:69

द्वितीयतः, प्रमेय घटक के लिये नमूना-चयन आवश्यक हो जाता है। तृतीयतः, यह देखना आवश्यक है कि समस्या का निरूपण ऐसी शब्दावली में हुआ हो जिसे कार्यरूप में परिणित किया जा सके; दूसरे शब्दों में, हमें समस्या की क्रियात्मक परिभाषा (ऑपरेशनल डिफिनीशन) करनी चाहिये जिसके आधार पर ही शोधकार्य के पग निश्चित किये जा सकें। 'परिधि में हमें यह भी देखना है कि समस्या शोधनीय है भी या नहीं अर्थात् क्या सत्यापन सम्भव है (वेरीफियेबिलिटी); इसके अतिरिक क्या समस्या का शोध समभव है (फिजीबिलिटी)। इन बिन्दुओं पर 'न्याय' में पर्याप्त विचार किया गया है। इन्हें 'वाक्यदोष', अहेतु', 'कालातीत', 'उपालम्भ', 'सव्यभिचार', 'अनुयोज्य', संशय आदि नकारात्मक रूप से और 'प्रयोजन', 'अर्थप्राप्ति' 'व्यवसाय', 'परिहार', 'सम्भव', आदि सकारात्मक रूपों से व्यक्त किया गया है।

अब मूलमन्त्र की दूसरी अर्धाली 'छन्दः किमासीत्प्रउगं किमुक्थं यद्देवा देवमयजन्त विश्वे' का एकसाथ अर्थ लेने से रश्मि (छन्द) क्या है, आगे जाने वाला प्राण (प्रगम्) तथा वाक् (उक्थ, √वच् + कथच्) क्या है कि समस्त दीप्तियाँ (देवा) दीप्ति-पुञ्ज या देने वाले (इन्द्र रूप मन) को सक्रिय करती हैं। 'छन्द' का अर्थ हम अध्याय 2 की पाद टिप्पणी 44 से आगे तक बतला चुके हैं और वहीं इस शब्द का पुष्टीकरण कर दिया गया है। अब जो छन्द का छेदन-वेधन वाला भाव हैं, उसे हमने इसी अध्याय में मापक और मापन की विवेचना में पूर्ण कर दिया है। किन्तु मापक और मापन का जो अभाव प्राचीन शास्त्रों में है उसके कारण इनकी पुष्टि नहीं की जा सकती है। अध ालीके सम्पूर्णतः अर्थ को प्रक्रियाओं से सम्बन्धित जानकर उनकी पुष्टि हम वहीं करेंगे।

(ख) सृष्टि विज्ञान :

सृष्टि के बारे में ब्राह्मणों, उपनिषदों, पुराणों आदि में अनेक प्रसङ्ग दिये गये हैं, किन्तु प्रायः उसे परमेश्वर से उद्भूत माना गया है, जबकि वेद में

793. चरक. विमान. 8:72
794. चरक. विमान. 8:33
795. ऋग्वेद 10:131:3

सभी आत्माओं और सभी देवताओं को ऊर्जा से उद्भूत माना गया है। हमारा विचार है कि :-

आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धान्यन्न परः किञ्चनास।[796]

वह एक वायुरहित था जिसने उदक[797] द्वारा स्वांस ली, उससे वस्तुतः बड़ा या दूर दूसरा कोई नहीं था।

तम आसीत् तमसा गूढ्मग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमान इदम।
तुच्छ्येनाभ्वापिहितं यदासीत्तपसस्तन्महिना जायतैकम्।।[798]

तम था। पूर्वकाल में तम से आवृत इस सम्पूर्ण से युक्त गतिहीन सलिल था। और, जो तुच्छ से अव्यक्त हुआ वर्तमान था वह विकसित ताप या कर्म से इकाई रूप में उत्पन्न हुआ। अब, जरा यह मन्त्र भी देखिये :-

अहं सुवे पितरमस्य मूर्धन्मम योनिरप्स्वन्तः समुद्रे।
ततो वि तिष्ठे भुवनानु विश्वोतामूं द्यां वर्ष्मणोप स्पृशामि।।[799]

तब समस्त जलों में (भुवना)[800] पहले ही (उ)[801] स्वांस लेती हुई (अन्) विशेषतः स्थित होती हूँ। समुद्र के भीतर जलों में इस समुद्र की (अस्य) मूर्धा मेरी योनि है, वीर्यवान् से आलिंगन करती हूँ (वर्ष्मणा उप स्पृशामि), मैं विस्तारकर्ता (पितरं) प्राण को और उस दीप्ति को (अमं द्यां) उत्पन्न करती हूँ।

अब हम देखते हैं कि उपर्युक्त 'तदेकं अवातं स्वधया अनीत्' वह एक वायुरहित था जिसने उदक द्वारा स्वांस ली, और 'ततो विश्वा भुवना उ अन् वि तिष्ठे, तब समस्त जलों में पहले ही स्वांस लेती हुई विशेषतः स्थित होती हूँ, इन दोनों वक्तव्यों में कोई विशेष अन्तर दृष्टिगोचर नहीं होता। इसी

---

796. ऋग्वेद 10:129:2
797. देखे निघण्टु 1:12:97 में 'स्वधा'।
798. ऋग्वेद 10:129:3
799. ऋग्वेद 10:125:7
800. निघण्टु 1:12:50
801. वै. व्या. पृ. 292

प्रकार 'आनीदवातं स्वधया तदेकं तस्माद्धा- न्यन्नपरः किञ्चनास' और 'अप्रकेत सलिलं सर्वमा इदम्' में कोई अन्तर नहीं है। 'वर्ष्मणोप स्पृशामि' का 'तमसा गूढम्' से साम्य है, और 'तपसस्तन्महिनाजायतैकम्' का 'अहं सुवे पितरम् उत अमूं द्यां का मेल है। इस प्रकार निश्चयात्मक रूप से वाक् या ऊर्जा ही सृष्टि का आदि कारण है। इस अर्थ में सम्पूर्ण नासदीय सूक्त आधुनिक वैज्ञानिक सिद्धान्तों से भी पुष्ट होता है।

अब कुल मिलाकर स्थिति यह बनती है कि गतिहीन सलिल तम से आवृत था। सलिल के बीच पहले से ही वर्तमान वाक् (ऊर्जा) स्वांस ले रही थी। उसने वीर्यवान् या वर्षाकारक तम से आलिंगन किया और गतिमान या विकाशवान (प्राण) तथा दीप्ति को जन्म दिया। यह सृष्टि तुच्छ से अव्यक्त हुई वर्तमान थी वह विकसित (प्राणमय) ताप (दीप्ति) से इकाई (मन) रूप में स्थित हुई।

इस स्थिति को उपवेदों से लेकर पुराणों तक व्याख्यायित करने में सफलता नहीं मिली है और अपने-अपने ढंग से प्रत्येक ने बतलाने की चेष्टा की है।

सर्वभूतानां कारणमकारणं सत्त्वरजस्तमोलक्षणमष्ट
रूपमाखिलस्य जगतः सम्भव हेतुरव्यक्तनाम।।[802]

अव्यक्तान् महान् महतोऽहङ्कारः अहङ्कारात् खादीनि ता अष्टौ
भूतप्रकृतयः।।[803]

इन उद्धरणों में 'अव्यक्त' से ही सब आगे सृष्ट हुआ, यह भाव लिया गया है।

असद्वा इदमग्र आसीत्। ....
सोऽकामयत। भूय एव स्यात्प्रजायेतेति।
सोऽश्राम्यत् स तपोऽतप्यत्।।[804]

802. सुश्रुत. शा. 1:1
803. काश्यप. शा. पृ. 67

असद्वा इदमग्र आसीत्। ततो वै सदजायत।
तदात्मानं स्वयमकुरुत।।[805]

सोऽकामयत। बहुस्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत।
स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत यदिदं किं च।।[806]

इन उद्धरणों में असत् ही सबसे पहले था, उसी से सत् और सम्पूर्ण सृष्टि हुई। यहाँ यह भाव है।

ब्रह्म ह वा इदमग्र आसीत। स्वयं त एकमेव।
तदैक्षत महद्वै यक्षम तदेकमेवास्मि। हन्ता हं मदेव
मन्त्रात्रं द्वितीयं देवं निर्मथ इति।।[807]

गोपथब्राह्मण ब्रह्म को सबसे पहले मानता है।

आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत। नान्यत्किंचन
मिषत्। स ईक्षत् लोकान्नु सृजा इति।।[808]

यहाँ आत्मा को ही सबसे पहले माना गया और उसी से लोकों की सृष्टि हुई।

नैवेह किंचनाग्र आसीन्मृत्यु नैवेदमावृतमासीत्।....
तन्मनोऽकुरुतात्मन्वी स्यामिति। सोऽर्चन्नचरत्तस्यार्चत ओपोऽजायन्त।।[809]

यहाँ मृत्यु को ही सबसे पहले माना गया और उसी से आगे की सृष्टि हुई। महाभारत शान्तिपर्व[810] में अव्यक्त था, इससे महत्तत्व, महत्तत्व से अहंकार, अहंकार से आकाश, आकाश से जल और जल से अग्नि और वायु

---

804. शतपथब्राह्मण 6:1:1:13
805. तैत्तरीयोपनिषद् 2:7
806. तैत्तरीयोपनिषद 2:6
807. गोपथब्राह्मण, पूर्वभाग 1:1
808. ऐतरेयोपनिषद् 1:1:1

की उत्पत्ति हुई। अग्नि और वायु के संयोग से इस पृथिवी का प्रादुर्भाव हुआ। आदिपर्व में युग के आदि में इस सब ओर से तमस् से आवृत दीप्ति और प्रकाश रहित बृहत अण्ड में प्रजाओं का अव्यय बीजरूप एक (ब्रह्म) वर्तमान हुआ, वह महत् दीप्ति का निमित्त जाना गया जिसमें सत्तायोग्य ज्योतिस्वरूप सनातन ब्रह्म सम्यक् जाना जाता है। यह अद्भुत और विचार से परे भी और सर्वत्र सम अवस्था को प्राप्त करने वाला जो अव्यक्त सूक्ष्म कारण था वह सदसत् रूप था। जिससे महान् विकास करने वाला, पहले वर्तमान होने वाला, प्रजाओं का स्वामी एक (मन) उत्पन्न हुआ। और जो अन्य कुछ भी लोक में दिखने वाला है वह सब सम्यक उत्पन्न हुआ।[812]

भागवत्[813] में मायापति ने अपनी यादृच्छा माया से अपने स्वरूप में काल, कर्म और स्वभाव को प्राप्त किया। काल और स्वभाव से गुणों में क्षोभ पूर्वक कर्म से महत् की उत्पत्ति हुई। महत् विशेष निर्माण से रज, विकास से सत्त्व तथ द्रव्य-ज्ञान-क्रियात्मक होने से तम प्रधान हुआ, यही अहंकार था जो वैकारिक, तैजस, तामस रूप से ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति और द्रव्यशक्ति से युक्त था। तामस अहंकार में विकार से क्रमशः आकाश, वायु, तेज, जल और पृथिवी; वैकारिक अहंकार से मन और इन्द्रियाधिष्ठत देवगण; तथा तैजस अहंकार से दस इन्द्रियाँ, प्राण और बुद्धि उत्पन्न हुये, इत्यादि।

सृष्टि को समझने में ये जा विभिन्नतायें हैं, उनका कारण विज्ञान को न समझना रहा है। ऋग्वैदिक ऋषियों ने शारीर के माध्यम से लोक और पुरुष साम्य के आधार पर सृष्टि की कल्पना की थी। अब गर्भ की स्थिति में-

एषो ह देवः प्रदिशोनु सर्वाः पूर्वो हजातः स उ गर्भे अन्तः।।[814]

अर्थात् वस्तुतः वह दीप्तिमान् सब कुछ को आवृत करता हुआ पूर्वकाल में वही गर्भ के बीच में निश्चय उत्पन्न होता है। इसी प्रकार -

प्रजापतिश्चरति गर्भे अन्तरजायमानो बहुधा विजायते।।[815]

809. वृहदारण्यक उपनिषद् 1:2:1
810. महाभारत शान्ति. 182:11:14
811. महा. आदि 1:29-31
812. महा. आदि 1:37
813. भागवत् 2:5:21-31
814. यजुर्वेद 32:4

वैदिक विज्ञान का प्राचीन दार्शनिक वैज्ञानिक सन्दर्भों की पुष्टीकरण

अर्थात् अजन्मा प्रजापति गर्भ के भीतर चलता हुआ अनेक प्रकार से उत्पन्न होता है। ये वेदमन्त्र गर्भ के भीतर शक्ति द्वारा विकास की बात मानते हैं। आयुर्वेद में–

शुक्रशोणितजीवसंयोगे तु खलु कुक्षिगते गर्भसंज्ञा भवति।।[816]

आत्मजश्चायं गर्भः। गर्भात्मा ह्यन्तरात्मा यः तं जीव इत्याचक्षते।।[817]

स गर्भाशयमनुप्रविश्य शुक्रशोणिताभ्यां संयोगमेत्य। गर्भत्वेन जनयत्यात्मनाऽत्मानं आत्मसंज्ञा हि गर्भे।।[818]

प्रविष्टमात्रं बीजं हि रक्तेन परिवेष्ट्यते।।[819]

स सर्वगुणवान गर्भत्वमापन्नः प्रथमे मासि संमूर्च्छितः। सर्वधातुकललीकृतः खेटभूतो भवत्यव्यक्तविग्रहः सदसद् भूताङ्गावयवः।।[820]

तत्र प्रथमे मासि कललं जायते।।[821]

इन सभी विचारों में शुक्र–शोणित का योग मिलकर कलल या खेढ़ (श्लेष्म) रूप में प्रथमतः स्थित होता है। यह अपक्व (कल) रूप है। किन्तु जलीय पदार्थ है। 'सत्त्वतमोबहुला आपः'[822] और 'सत्त्वतमोबहुलमम्बु'[823] से सत्त्व और तम दोनों की इसमें समाविष्टि निश्चित होती है; तब 'तम आसीत् तमसा गूढमग्रऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्' और 'संमूर्च्छितः सर्वधातुकललीकृतः खेटभूतो भवत्यव्यक्तविग्रहः सदसद् भूताङ्गावयवः' में एकरूपता सी दिखाई

815. यजुर्वेद 31:19
816. चरक. शा. 4:5
817. चरक. शा. 3:8
818. चरक. शा. 3:8
819. काश्यंय. शा. असमा नगोवीय अध्याय
820. चरक. शा. 4:9
821. सुश्रुत. शा. 3:15
822. सुश्रुत. शा. 1-27
823. अष्टाक संग्रह शा. 5:5

देती है, और इसलिये तम से आवृत सलिल में सत्त्व रूप चेतनत्व का आभास होता है और 'ततः' विश्वाभुवना ऽ अन् वि तिष्ठे' कि तब समस्त जलों में पहले ही स्वांस लेती हुई विशेषतः स्थित होती हूँ की पुष्टि होती है, क्योंकि–

त ऐतेऽनुमानग्राह्याः परमसूक्ष्माश्चेतनावन्तः शाश्वता लोहितरेतसोः सन्निपातेष्वभिव्यज्यन्ते ।।[824]

अर्थात् ये सब (क्षेत्रज्ञ आत्मायें) अनुमान द्वारा ग्राह्य हैं, वे परम सूक्ष्म और चेतना से युक्त हैं, सतत रहने वाले हैं; शुक्र–शोणित के योग में अभिव्यक्त होते हैं। तब, यथार्थतः दीप्ति की उत्पत्ति तो सत्त्व से ही हो जाती है, जिसके ताप से (तपसः) जल में गति (प्राण) होने का भी अनुमान होता है, और इस प्रकार सृष्टि आगे बढ़ती जाती है। आधुनिक विज्ञान के आधार पर प्लाज़्मा इस प्रकार ऊर्जा और पार्थिव (प्राणवायु) में परिवर्तित हो गया।

(ग) शारीर–तंत्र एवं संक्रिया :–

ऋषियों ने मनुष्य–पशु उपचार में जो ओजस् का दर्शन किया, उसे सर्वत्र शरीर में पाकर, उसे जैविक आधार समझा। इस उदक में जो चमक थी उससे इसमें दीप्ति का आधान माना, और जो गति थी उसमें प्राण का आधान माना। तब, नाडी–स्रोतसों में बहते हुये इस उदक के तन्त्र को और उसकी कर्मशील, ज्ञानशील तथा रचनात्मक संक्रियाओं का भी ज्ञान प्राप्त किया। संक्षेप में, इस प्रक्रिया को बतलाने के लिये हम निम्न मन्त्रों का आशय प्रस्तुत कर रहे हैं :

ऋतायनी मायिनी सं दधात मित्त्वा शिशुं जज्ञतुर्वर्धयन्ती।
विश्वस्य नाभिं चरतो ध्रुवस्य कवेश्चित्तन्तुं मनसा वियन्तः।।[825]

अर्थात् वर्णन करने वाले विद्वान ऋषि के अनुसार जलों में गति करने

---

824. सुश्रुत. शा. 1:21
825. ऋग्वेद 10:5:3

वाली निर्माणशीला ऊर्जा ने सम्यक् धारण करके श्रेष्ठ (मन) को उत्पन्न किया और मापनपूर्वक विस्तृत किया; जङ्गम तथा स्थावर विश्व की नाभिरूप स्नायुतन्तु को मन के द्वारा विस्तारित किया।

सहोभिर्विश्वं परि चक्रमूरजः पूर्वाधामान्यमिता मिमानाः।
तनुषु विश्वा भुवना नि येमिरे प्रासारयन्त पुरुष प्रजा अनु।।[826]

अर्थात् पूर्व रजस् (संचालिकावृत्ति) ने शक्तियों के द्वारा, न नापे हुये, स्थानों को नापते हुये अब विश्व की ओर डग भरा; समस्त जलों को शरीरों में विस्तृत किया, फिर पुरुष और प्रजा को विस्तृत किया।

उन जलों ने उस प्रकृष्ट धारण की हुई मानस गुहा को प्राप्त किया जो प्रक्रिया सर्वोत्कृष्ट आधार थी।[827] वह आत्मा कल्याणमय दीप्तियों से युक्त पोषणकर्ता उदक की वृष्टि के ढंग को जानता है अर्थात् नियंत्रित करता है।[828] जो दोनों ओर (ऊपर और नीचे) जाता है उस इन्द्र (मन) द्वारा पान किये जाने वाले सोम की लहर को नाडियाँ (नादियाँ) आगे बढ़ाती हैं। मद का नाश करने वाले, प्रकाशों (ज्ञान) से युक्त होने वाले आकाश में उत्पन्न होने वाले तीनों प्रकार की नाडियों में विचरने वाले स्रोत (सोम) को आगे बढ़ाती हैं।[829] विस्तारक या नियंत्रक तीन प्रकार की नाडियों से षडाङ्ग शरीर तथा एक विश्वपुरुष पर भी उड़ता है, वह शिर, कोष्ठ और शाखाओं में स्थित कर्मेन्द्रियों को तथा सब ज्ञानेन्द्रियों को धारण करता है।[830] वह पुरुष सहस्र शीर्ष स्नायुओं वाला, सहस्र ज्ञानवह (अक्षर) स्नायुओं वाला, और सहस्र कर्मवह (क्षर) स्नायुओं वाला है वह शरीर को सब ओर से घर कर दशाङ्गुल परिणाम मस्तिष्क में अतिरेक करके स्थित होता है।[831] वह वाक् से स्पर्शित प्राण इन्द्र (मन) से जुड़कर ऊर्जायुक्त रश्मि वाले मार्ग को निश्चित रूप से रचता हुआ सहस्र नाडियों वाले स्थान में मनुष्यों को देता हुआ दीप्तियों में आठ प्रकार से बनने वाले उत्पाद को बनाता है।[832] वह आत्मा

---

826. ऋग्वेद 10:56:5
827. ऋग्वेद 10:181:2
828. ऋग्वेद 10:26:3
829. ऋग्वेद 10:30:9
830. ऋग्वेद 10:14:16
831. ऋग्वेद 10:90:1
832. ऋग्वेद 10:62:7

मनुष्य की जीवनीशकित या आयु है और वह मनुष्य के भीतर छिपा है। पूर्वकाल में उसका इस प्रकार का प्रकटीकरण पूर्णतः नहीं हुआ। वह आत्मा द्युलोक को बनाता है, उदक को अपने में छिपा लेता हैं इसका शुद्धपाद नहीं छूटता है।[833] इस सब की पुष्टि के लिये देखें :-

अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः।
तं स्वाच्छरीरात्पृविहेन्मुञ्जादिवेषीकांधैर्येण तं विद्यात्छुक्रममृतम्।।[834]

अर्थात् अंगूठे के परिमाण वाला अन्तरात्मा पुरुष सदा मनुष्यों के हृदय में। सम्यक् प्रविष्ट है, उसे मूंज से सींक की भांति अपने शरीर से धैर्यपूर्वक पृथक् करके देखें, उसी को विशुद्ध उदक जानें।

एतद् सहस्रं वाचः प्रजातम्। द्वे इन्द्रस्तृतीयं विष्णुः।।[835]

अर्थात् यह सहस्र (नाड़ियो का जाल) वाक् (ऊर्जा) से आगे उत्पन्न हुआ है, दो (कर्म-ज्ञान) इन्द्र के हैं, तीसरा वर्षाकारक विष्णु का है।

इन्द्रश्चविष्णोयदपस्पृधेधां मेधा सहस्रं वि तदैरभेधाम्।।[836]

अर्थात् हे इन्द्र और विष्णु! जो तीन प्रकार के सहस्र हैं उनके आप स्पर्धापूर्वक तथा विभिन्नता से प्रेरित करें।

येनौजसा वर्तयन्ति प्रीणिताः सर्वदेहिनः, यदृते सर्वभूतानां जीवितं भावतिष्ठते।
यत् सारमादौगर्भस्य यत्त्द्गर्भरसाद्रसः, सवर्तमानं हृयं समाविशति यत्पुरा।।
यस्य नाशतु नाशोऽस्ति धारि यद्धृदयाश्रितं, यच्छरीररसस्नेहः प्रणायत्र प्रतिष्ठिताः।।
तत्फला बहुधा वा ताः फलन्तीव महाफला।।[837]

अर्थात् जिस ओजस् के द्वारा पोषित होकर सभी देहधारी जीवननिर्वाह

833. ऋग्वेद 10:27:24
834. कठोपनिषद् 2:3:17
835. शतपथ ब्राह्मण 4:6:7:3
836. ऋग्वेद 6:69:8
837. चरक. सू. 30:9-12

करते हैं, जिसके अभाव में सभी प्राणियों का जीवन नहीं बचता है, जो गर्भ के प्रारम्भ में साररूप से उस गर्भ के रस का रस है तथा जो पूर्वकाल में हृदय के सम्यक् वर्तमान होने के साथ प्रवेश कर जाता है, जिसके नाश होने पर शरीर का नाश हो जाता है, जो हृदय के आश्रित होकर आयु का धारक है, जो शरीर रस का स्नेह है और जिसमें प्राण प्रतिष्ठित रहते है; उस बहुत प्रकार से फलीभूत होने वाले को वायुयें महाफला नाडियों की भांति फलीभूत करती हैं।

यहाँ तक इस अंश में वर्णित शारीर की पुष्टि कर दी गई है। अब कितनी नाडियों से ओज वहन का कार्य होता है, इसमें हमें ऋग्वेद के इस मन्त्र से सहायता मिलती है :

सनेभि चक्रमजरं वि वावृत उत्तानाया दशं युक्ता वहन्ति।
सूर्यस्य चक्षू रजसैत्यावृतं यस्मिन्नातस्थुर्भुवनानि विश्वा।।[538]

अर्थात् अजीर्ण हुआ चक्र नेमि सहित विशेषतः घूमता है, ऊर्ध्व में फैली हुई दस नाडियाँ उसे ले जाती हैं, (इसमें) सूर्य की रश्मि क्रियाशक्ति से आवृत होकर जाती है जिसमें सभी उदक आकर ठहरे हैं। इसकी पुष्टि में आयुर्वेद के ये मत प्रस्तुत हैं :-

तेन मूलेन महता महामूला मता दश।
ओजोवहा शरीरेऽस्मिन् विधम्यन्ते समन्ततः।।[539]

अर्थात् उस हृदयमूल से महामूल वाली दस ओज को वहन करने वाली महान् नाडियाँ इस शरीर में चारों ओर समान रूप से विशेष भागती हैं।

हृदयात् संप्रतायन्ते सिराणां दश मातरः ऊर्ध्वं
चतस्रो द्वे तिर्यक्चतसोऽधोवहा सिराः।
व्याप्नुवन्त शरीरं ता भिद्यमाना पुनः-पुनः,
पर्णानाभिव सीवन्यः सरणाच्च सिराः स्मृताः।।[840]

838. ऋग्वेद 1:164:14
839. चरक. सू. 30:8
840. काश्यप. शा. शरीरविचय. पृ. 77

अर्थात् हृदयप्रदेश से सिराओं की दस मातायें निकलती हैं जिनमें चार ऊर्ध्व में, दो तिर्यक् तथा चार अधोवहा सिरायें हैं। ये पुनः-पुनः विभक्त होती हुई सारे शरीर को व्याप्त कर लेती हैं, जैसे पत्तों में नसें होती है, सरण करने के कारण इन्हें सिरा कहते हैं।

अथैतत् वामेऽक्षणि पुरुषरूपमेषास्य पत्नी विराट् तयोरैष संस्तावो य एषोऽन्तरर्हृदय आकाशोऽथैनयोरेतदन्नं य एषोऽन्तहृदये लोहितपिण्डोऽथैतयोरेतत् प्रावरणं यदेतदन्त र्हृदये जालक मिवाथैनयोरेषा सृति सञ्चरणी यैषा हृदयादूर्ध्वा नाड्युच्चरति यथा केशः सहस्रधा भिन्न एवमस्यैता हिता नाम नाड्योऽन्तर्हृदये प्रतिष्ठिता भवन्तियेताभिर्वा एतदास्रवदास्रवति तस्मादेष प्रविविक्ताहारतर इवैव भवत्यस्माच्छरीरादात्मनः।।[841]

अर्थात् अब यह जो बायें नेत्र में पुरुषरूप है वह इस इन्द्र की पत्नी विराट् (दीप्ति) है, उन दोनों का यह मिलनस्थल है जो यह हृदय के भीतर आकाश है, उन दोनों का यह अन्न है जो यह हृदय के भीतर लालपिण्ड है, अब उन दोनों का यह प्रकृष्ट आवरण है जो कि यह हृदय के भीतर जाल के समान है। और, उन दोनों का यह संचार करने का मार्ग है जो कि यह हृदय से ऊर्ध्व नाडी जाती है। जिस प्रकार केश हजार प्रकार से विभक्त होता है, वैसे ही ये हिता नाम की नाडियां हृदय के भीतर स्थित हैं, और इन्हीं के द्वारा यह अन्न बहता है। इस बहते हुये अन्न से यह सूक्ष्मतर आहार ग्रहण करने वाली होती है, इसी प्रकार इस शरीर से ही आत्मा के द्वारा यह अन्न प्राप्त होता है।

इन वक्तव्यों से ऊर्ध्व-हृदय अर्थात् मस्तिष्क से निःसृत दस नाडियों की पुष्टि तो होती है, उनके विभागों से ऊर्ध्व की साहस्री, अधोगामी साहस्री और तिर्यक्गामी (अन्तरिक्ष-अन्तःशरीर) साहस्री की भी पुष्टि हो जाती है। अब नाडियों के बारे में एक और स्थिति :-

---

841. बृहदारण्य कोपनिषद 4:2:3
842. ऋग्वेद 10:130:1
843. ऋग्वेद 10:135:7

यो यज्ञो विश्वतस्तन्तुभिस्तत एकशतं देवकर्मेभिरायत।।[842]

अर्थात् जो प्रक्रिया विश्व की ओर एक सौ एक नाडियों द्वारा फैलाई हुई है, वह दीप्तियों के कर्मों द्वारा सर्वतः विस्तृत हुई हैं।

इयमस्य घम्यते नाळीरयं गीर्भिः परिष्कृतः।[843]

अर्थात् इस (दिवयान) की एक नाडी (मूर्धा की ओर) भागती है, यह (दिवयान) जाने वाली रश्मियों द्वारा परिष्कृत हुआ है।

यं सुपर्णः परावतः श्येनस्य पुत्र आभरत् शतचक्रं योऽह्यो वर्तनिः।।[844]

अर्थात् रश्मि का गमन करने वाला सुन्दर पक्षों वाला आत्मा जिसको ऊर्ध्व से फैलाता है, वह सतत मार्ग शतनाडी चक्र को धारण करता है।

नवतिं स्रोत्या नव च स्रुवन्तीर्देवेभ्यो गातुं मनुषे च विन्दः।।[845]

अर्थात् निन्यानवे बहती हुई नाडियाँ हैं, इन्द्र ने दीप्तिमानों और मानुषी स्थितियों (धातुओं आदि) के लिये शरीर को प्राप्त किया।

शिरः प्रति दधौ वरूथम्।[846]

अर्थात् आत्मा शिर में लिपटी नाडियों रूप शिरस्त्राण को धारण करता है।

पुमाँ एनं तनुत उत्कृणन्ति पुमान्वि तत्ने अधिनाकेऽस्मिन्।।[847]

---

844. ऋग्वेद 10:144:4
845. ऋग्वेद 10:104:8
846. ऋग्वेद 10:27:13
847. ऋग्वेद 10:130:2

अर्थात् पुरुष इस ऊर्जापुञ्ज को फैलाते हुये ऊर्ध्व में लपेटता है, पुरुष ने इसे जल के वाहक आकाश के ऊपर विशेषतः फैलाया।

इस प्रकार हम देखते हैं कि शिर में लिपटी हुई नाडियों का संजाल है, यह ऊर्ध्व की साहस्री है, इसी कारण बाद के सन्तों ने इसे 'सहस्रार' के रूप कमल की संज्ञा दी है। अब, पहले जो एक सौ एक नाडियाँ बताई गई हैं, उनमें एक ऊर्ध्वगामी होने से शतनाडीचक्र मार्ग ही शरीर को प्राप्त होता है :-

शतं चैका च हृदस्य नाड्यस्तासां मूर्धानमभिनिःसृतैका।
तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति विष्वङ्ङ न्या उत्क्रमणेभवन्ति।।[848]

अर्थात् हृदय की सौ और एक नाडियाँ हैं, उनमें से एक मूर्धा को जाती हैं, उसके द्वारा ऊर्ध्व में जाकर अमृतत्व (उदक) को प्राप्त करते हैं, अन्य सौ नाडियाँ विश्व का उत्क्रमण करने अर्थात् विश्व में जाने वाली होती हैं।

हृदि ह्येष आत्मा अत्रैतदकेशतं नाडीनां तासां शतं शतमेकैकस्यां।
द्वासप्ततिद्वीसप्ततिः प्रतिशाखानाडीसहस्राणि भवन्त्यासु व्यानश्चरति।।[849]

अर्थात् वस्तुतः यह आत्मा हृदय में यह यहाँ एक सौ नाडियों का है, उनमें से एक-एक की सौ-सौ, प्रतिशाखा बहत्तर-बहत्तर होकर सहस्रों नाडियाँ होती हैं, इनमें व्यान विचरण करता है।

वस्तुतः मस्तिष्क से नीचे की ओर आने वाली सुषुम्ना (स्पाइनल कार्ड) में ग्रीवा के छोर से नीचे तक दोनों ओर अट्ठानवे कर्मवाही (इफेरेन्ट) नाडियों की गिनती आती है, इसमें नीचे-मध्य-छोर को जोड़ने पर निन्यानवे और ऊपरी छोर भी जोड़ देने पर सौ की संख्या पूरी हो जाती है। अथवा, कर्मवाही नाडियों के जोड़ों पर ही ज्ञानवाही नाडियाँ सीधे सुषुम्ना से जुड़ती हैं और ऊर्ध्व की ओर बढ़ती है, कदाचित इनकी ही गिनती सौ करली हो, यद्यपि सब जगह शरीर या विश्व की ओर आने वाली नाडियों की संख्या ही सौ मानी गई है। जो एक या दो नाडियों का गणना में अन्तर है वह

---

848. कठोपनिषद् 2:3:16
849. प्रश्नोपनिषद् 3:6

विशेष महत्व नहीं रखता।

इस अध्याय में हमने जिन पाँच प्रक्रियाओं का ऋग्वेद के आधार पर उद्घाटन किया है, उनको उतनी पूर्णता के साथ उपवेदों से लेकर पुराणों तक व्याख्यायित नहीं किया गया। आयुर्वेद ग्रन्थों में इन प्रक्रियाओं के यद्यपि स्पष्ट वर्णन दिये गये हैं, किन्तु उनमें प्रक्रियागत क्रमों को छोड़ दिया गया है और मात्र तथ्यों का उद्घाटन किया गया है। ब्राह्मणों से लेकर सूत्रों तक उन्हें जो कर्मकाण्ड का रूप दे दिया गया, उससे बहुत अधिक छान-बीन करने पर ही थोड़े बहुत अर्थ जाने जा सकते हैं। उपनिषदों में मात्र सिद्धान्त पक्ष लेने से कुछ भी स्पष्ट नहीं होता और परमेश्वर की कल्पना सिद्धान्तों में भी विकृति ला देती है। इतिहास पुराणों की स्थिति भी ऐसी ही है, और अत्यधिक प्रतीकात्मकता के कारण भी स्थिति स्पष्ट नहीं होती। माधवभट्ट, स्कन्दस्वामी और सायण आदि ने भी वेदों को कर्मकाण्ड का प्रवर्तक मान कर ऊर्ध्व-अधो प्रक्रियाओं में मृत्यु के उपरान्त जीव की नर्क-स्वर्गादि गति के विचार का ही पृष्ठपोषण किया है, और अपने समय में चल रहे हिन्दू, धर्म के कर्मकाण्ड को ही पुष्ट किया है। अन्य देशी-विदेशी व्याख्याकारों ने इन्हीं का अनुसरण किया, फलतः वैदिक प्रक्रिया-शास्त्र सदा अधूरा ही रहा-

इसी सायण-भाष्य के अवलम्ब पर निखिल जगत् के ऋग्वेद के अनुवाद और शोध का कार्य चल रहा है। यह भाष्य परम्परा-प्राप्त अर्थ का अनुधावन करने वाला हैं, इसीलिये प्रमाणिक माना जाता है। सायण-भाष्य नहीं रहता तो विश्व में ऋग्वेद का विशद विस्तार भी नहीं होता, इस ओर संसार अन्धकार में ही रहता।[850]

संसार तो अभी भी अन्धकार में है, और इस अन्धकार को बढ़ाने में तथाकथित परम्परा का पूरा योगदान है। वेदार्थ की परम्परा तो यास्क के बाद से ही दूर हो चुकी है, क्योंकि न तो 'निघण्टु' के ऐकपदिक (अध्याय 4) के शब्दों से संदर्भित प्रक्रियाक्रम को, और न उसकी टीका में यास्क द्वारा निर्देशित विज्ञान को ही समझा गया। प्रक्रिया के संदर्भ से-

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।।[851]

---

850. पं. रामगोविन्द त्रिवेद, 'ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः' कल्याण, वेद-कथांक वर्ष 73 सं. 1, 1999, पृ. 376
851. गीता 8:24-25
852. गीता 8:3

अर्थात् अग्नि, ज्योति, दिन शुक्लपक्ष, उत्तरायण के छः महीने (पर्याय) हैं, इसी प्रकार, धूम, रात्रि कृष्णपक्ष, दक्षिणायन के छः महीने (पर्याय) हैं। किन्तु गीता आदान और विसर्ग भी जानती है क्योंकि 'विसर्गः कर्म संज्ञितः[852] कहा गया है। सामान्यः विसर्ग और आदान कर्म-ज्ञान प्रक्रिया वाचक हैं।

इह खलु संवत्सरं षडङ्गमृतुविभागेन विधात् ।तत्रादित्यस्योदगयनमादानं च त्रीनृतूञ्छिशिरादीन् ग्रीष्मान्तान् व्यवस्येत्, वर्षादीन् पुनर्हेमन्तान्तान् दक्षिणायनं विसर्गं च। विसर्गे पुनर्वायवो नातिरूक्षाः प्रयान्ति, इतरे पुनरादाने, सोमश्चाव्याहत बलः शिशिराभिर्भाभिरापूरयञ्जगदाप्याययति शश्वत्, अतो विसर्गः सौम्यः। आदानं पुनराग्नेयं, तावेतावर्कवायू सोमश्च कालस्वभावमार्गपरिगृहीताः कालर्तुरसदोषदेहबलनिवृत्तिप्रत्ययभूताः समुपदिश्यन्ते ।।[853]

अर्थात् यहाँ संवत्सर वस्तुतः ऋतुविभाग से छः अङ्गों वाला होता है। वहाँ आदित्य का उत्तर दिशा में गमन करना आदान कहलाता है और तीन ऋतुओं को शिशिर के प्रारम्भ से लेकर ग्रीष्म के अन्त तक लगाया जाता है, पुनः वर्षा के प्रारम्भ से हेमन्त के अन्त तक दक्षिणायन या विसर्ग कहलाता है। विसर्ग में फिर प्राण से युक्त अतिरुक्ष होकर नहीं बढ़ते, फिर इससे इतर आदान में बढ़ते हैं। विसर्ग में सोम प्रबल रहता है और शिशिर आदि की किरणों से जगत को निरन्तर भरे रहता है, इसलिये विसर्ग सौम्य है। फिर, आदान आग्नेय है। वे दोनों विसर्ग और अदान सूर्य, वायु, सोम काल और स्वभाव से अपने-अपने मार्ग को ग्रहण कर काल, ऋतु, रस, दोष, और देहबल की उत्पत्ति में कारण होते हैं ऐसा समझें।

अतीन्द्रियं पुनर्मनः सत्त्वसंज्ञकं चेत इत्याहुरेके, तदर्थात्म-सम्पत्तदायत्तचेष्टं चेष्टाप्रत्ययभूतभिन्द्रियाणाम् ।।[854]

---

853. चरक. सूत्र. 6:5
854. चरक. सूत्र. 8:4
855. चरक. सूत्र. 8:7

अर्थात् फिर सत्त्व नाम का मन अतीन्द्रिय है, और कोई इसे 'चेत' कहते हैं। इसके कर्म (चेष्टा) और ज्ञान (अर्थ) आत्मा से जुड़े होते हैं, तथा यह सभी इन्द्रियों की चेष्टाओं का कारण है।

मनः पुरः सारणी न्द्रियाण्यर्थग्रहणसमर्थानि भवन्ति।।[855]

अर्थात् मन को आगे बढ़ाती हुई इन्दियां अर्थ ग्रहण करने में समर्थ होती हैं।

मनो मनोऽर्थो बुद्धिरात्मा चेत्यध्यात्मद्रव्यगुणसंग्रहः शुभाशुभप्रवृत्तिनिवृत्तिहेतुश्च, द्रव्याश्रितं च कर्म, यदुच्यते क्रियेति।।[856]

अर्थात् मन, मन का विषय, बुद्धि और आत्मा आदि अध्यात्म के द्रव्य-गुण संग्रह हैं, तथा शुभ-अशुभ, प्रवृत्ति-निवृत्ति के कारण हैं, कर्म द्रव्य के आश्रित है जिसे क्रिया भी कहते हैं।

लक्षणं मनसोज्ञानस्याभावो भाव एवच,
सति ह्यात्मेन्द्रियार्थानां सन्निकर्षे न वर्तते।
वैवृत्त्यान्मनसो ज्ञानं सान्निध्यात्तच्य वर्तते,
अणुत्वमथ चैकत्व द्वौगुणौ मनसः स्मृतौ।।
चिन्त्मं विचारमूह्यं चध्येयं संकल्पमेव च,
यत्किंचिन्मनसो ज्ञेयं तत् सर्वं हि अर्थसंज्ञकम।
इन्द्रियाभिग्रहः कर्म मनसः स्वस्य निग्रहः,
ऊहो विचारश्च ततः परं बुद्धि प्रवर्तते।।[857]

अर्थात् मन का लक्षण ज्ञान का अभाव और भाव भी है। वस्तुतः आत्मा, इन्द्रिय और अर्थों का सन्निकर्ष होने पर भी ज्ञान नहीं होता जो मन के प्रकट सान्निध्य से ही होता है। मनके दो गुण अणुत्व और एकत्व माने जाते हैं। चिन्तन, विचार, विवेक, ध्यान, संकल्प योग्य भी जो जितना

856. चरक. सूत्र. 8:13
857. चरक. शा. 1:18-19
858. चरक. शा. 1:75-76

मन से जानने योग्य है वस्तुतः वह सब मन का विषयरूप है। इन्द्रियों को पकड़ना, आत्मा का निग्रह करना, विवेक और विचार करना मन के कर्म हैं, इसके आगे बुद्धि वर्तमान होती है।

अचेतनं क्रियाच्च मनश्चेतयिता परः,
युक्तस्य मनसा तस्यनिर्दिश्यन्ते विभो क्रिया।
चेतनावान् यतश्चात्मा ततः कर्त्तानिरुच्यते,
अचेतनत्वाच्च मनः क्रियावदपि नोच्यते।।[858]

अर्थात् मन अचेतन और क्रियावान् है, आत्मा चेतना देने वाला है। उस मन के साथ जुड़े हुये आत्मा की क्रियायें ही बतलाई जाती है। जहाँ आत्मा चेतनायुक्त होता है वहाँ वह कर्त्ता कहलाता है, अचेतनत्व से मन क्रियावान् होने पर भी कर्त्ता नहीं कहा जाता है।

करणानि मनो बुद्धिर्बुद्धिकर्मेन्द्रियाणिच,
कतुः संयोगजं कर्म वेदना बुद्धिरेवच।
नैकः प्रवर्तते कर्तुं भूतात्मा नाश्नुते फलं,
संयोगाद्वर्तते सर्वं तमृते नास्ति किञ्चन।।[859]

अर्थात् मन, बुद्धि, ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ करण हैं, कर्त्ता का संयोग होने पर कर्म, वेदना और बुद्धि होती है। कर्त्ता भूतात्मा अकेले प्रवृत्त नहीं होता और न फल प्राप्त करता है। संयोग से ही सब कुछ वर्तमान होता है और उसके अभाव से कुछ भी नहीं होता।

कर्म किंचित् क्वाचित् काले विपाके नियतंमहत्,
किंचित्वकालनियतं प्रत्ययैः प्रतिबोध्यते।।[860]

अर्थात् कर्म का नहीं होना, कुछ होना, या बहुत होना विपाक काल

---

859. चरक. शा. 1:56-57
860. चरक. विमान. 3:35
861. चरक. सूत्र. 1:49
862. चरक. विमान 8:77

पर नियत होता है। विपाक काल द्वारा नियत कुछ कर्म होना कारणों द्वारा फिर से ज्ञात किया जाता है अर्थात् बढ़ाया जा सकता है।

प्रयत्नादि कर्म चेष्टितमुच्यते।।[861]

प्रवृत्तिस्तु खलु चेष्टा कार्यार्था,
सैव क्रिया कर्म यत्नः कार्यसमारम्भश्च।।[862]

अर्थात् यत्नपूर्वक की गई चेष्टा को कर्म कहा जाता है।

कार्य के लिये जो चेष्टा होती है उसे प्रवृत्ति कहते हैं; वही क्रिया, कर्म, प्रयत्न, एवं कार्य का समारम्भ कहा जाता है।

उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुञ्चनं प्रसारणं गमनमिति कर्माणि।।[863]

अर्थात् ऊर्ध्व के लिये किया हुआ कर्म, अधो देश के लिये किया हुआ कर्म, समीप लाने के लिये कर्म, दूर भेजने के लिये कर्म, तथा गमन करना ये सब कर्म कहलाते हैं।

इस प्रकार सौम्य-आत्मा से दक्षिणायन में शरीर को आप्लावित करता हुआ जो बल प्रदान करता है, वह जैव-संरक्षा में प्रसारण की अवस्था है, और इन्द्रिय-स्थानों में जो चेष्टारुप क्रिया मन से संयुक्त होकर करता है, वह अवक्षेपण की अवस्था है। पाक-प्रक्रिया में चेष्टा उत्क्षेपण, तथा निचोड़े हुये सोम का संकलन और उसे ऊर्ध्व द्वारा खींचा जाना आकुञ्चन की अवस्था है। नाडीस्थानों, अङ्गावयवों,, स्रोतसों तथा अन्य शरीरिक क्रियाओं में जो तिर्यक् रुप से संचालित होती हैं गमन की अवस्थायें है। अब, ये सब कर्म की अवस्थायें हैं, आगे ज्ञान प्रक्रिया में पुष्टि के प्रमाण प्रस्तुत किये जा सकते हैं :-

---

863. पैशेषिक सूत्र
864. चरक. शा. 1:24
865. गीता 4:33

एकैकाधिकयुक्तानि खादीनामिन्द्रियाणितु,
पञ्चकर्मानुमेयानि येभ्यो बुद्धिःप्रवर्तते।।[864]

अर्थात् कर्म से अनुमान करने योग्य, महाभूतों से एक-एक अधिक करके युक्त पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ हैं जिनसे वस्तुतः ज्ञान प्राप्त होता है।

सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।।[865]

अर्थात् सभी समग्रकर्म ज्ञान में जाकर समाप्त होते हैं।

इन्द्रियेणेन्द्रियार्थो हि समनस्केन गृह्यते,
कल्प्यते मनसा तूर्ध्वं गुणतो दोषतोऽथवा।
जायते विषये तत्र या बुद्धिर्निश्चयात्मिका,
व्यवस्यति तया वक्तुंकर्तुंवा बुद्धिपूर्वकम्।।[866]

अर्थात् मन के साथ इन्द्रिय द्वारा इन्द्रिय-विषय का ग्रहण किया जाता है, वस्तुतः ऊर्ध्व में (आत्मा में) मन के द्वारा गुण के या दोष के हिसाब से समानता देखी जाती है। वहाँ जो विषय में निश्चय से युक्त बुद्धि उत्पन्न होती है, उससे बुद्धिपूर्वक वक्तृता के लिये अथवा कर्तृत्व के लिये व्यवस्था होती है।

या यदिन्द्रियमाश्रित्य जन्तोर्बुद्धि प्रवर्तते,
याति सा तेन निर्देशं मनसा च मनोमवा।
भेदात् कार्येन्द्रियार्थानां बह्वयो वै बुद्धयः स्मृताः,
आत्मेन्द्रियमनोऽर्थानामेकैका सन्निकर्षजा।।
अङ्गुल्यङ्गुष्ठतलजस्तन्त्रीवीणानखोद्भवः,
दृष्टः शब्दों यथा बुद्धिर्दृष्टा संयोगजा तथा।
बुद्धीन्द्रियमनोऽर्थानां विद्याद्योगधरं परं,
चतुर्विंशतिको ह्येष राशिः पुरुषसंज्ञकः।

866. चरक. शा. 1:22-23
867. चरक. शा. 1:32:37

अत्र कर्म फलं चात्र ज्ञान चात्र प्रतिष्ठितं,
अत्र मोहः सुखं दुःखं जीवितं मरणं स्वता।।[867]

अर्थात् जीव की जो बुद्धि जिस इन्द्रिय में आश्रित होकर लगती है उसी के निर्देश से वह जानी जाती है, और मन के साथ वाली मनोभव कहलाती है। आत्मा, इन्द्रिय, मन और अर्थ प्रत्येक के संयोग से उत्पन्न होने वाली बुद्धि, कार्य और इन्द्रिय अर्थों के भेद से बहुत प्रकार की मानी जाती है। उंगली, अंगूठा, हथेली और नख से वीणातन्त्री शब्द उत्पन्न देखा जाता है वैसे ही संयोग से ही उत्पन्न बुद्धि देखी जाती है। बुद्धि, इन्द्रिय, मन, अर्थों के योग को धारण करने वाला 'पर' जाना जाता है, जिसको चौबीस राशि वाला 'पुरुष' नाम से कहा जाता है। यहाँ कर्म, कर्मफल, ज्ञान मोह, सुख, दुःख, जीवन, मरण, आत्मभाव सभी प्रतिष्ठित हैं। ज्ञान प्रक्रिया की इस पुष्टि के बाद अब हम पाक-प्रक्रिया की पुष्टि में निम्न वर्णन प्रस्तुत कर रहे हैं :-

विविधमशितं पीतं लीढं खादितं जन्तोर्हितमन्तरग्निसन्धुक्षितबलेन यथास्वेनोष्मणा सम्यग्विपच्यमानं कालवदनवस्थितसर्वधातुपाकमनुपहतसर्वधातूष्ममारुतस्रोतः केवलं शरीरमुपचयबलवर्णसुखायुषा योजयति शरीरधातूनूर्जयति च। धातवो हि धात्वाहारः प्रकृतिमनुवर्तन्ते।।

तत्राहार प्रसादाख्यो रसः किट्टं च मलाख्यमभिनिवर्तते। किट्टात् स्वेदमूत्रपूरीषवातपित्तश्लेष्माणः कर्णाक्षिनासिकास्यलोमकूपप्रजननमलाः केशश्मश्रुलोमनखादयश्चावयवाः पुष्यन्ति। पुष्यन्ति त्वाहाररसाद्रसरुधिरमांसमेदोऽस्थिमज्जशुक्रौजांसि पञ्चेन्द्रियद्रव्याणि धातुप्रसाद संज्ञका नि शरीरसन्धिबन्धपिच्छादयश्चावयवाः। ते सर्व एव धातवो मलाख्याः प्रसादाख्याश्च रसमलाभ्यां पुष्यन्तः स्वं मानमनुवर्तन्ते यथावयः शरीरम्। एवं रसमलौ स्वप्रमाणावस्थितावाश्रयस्य समधातोर्धातुसाम्यमनुवर्तयतः। निमित्ततस्तु क्षीणवृद्धानां प्रसादाख्यानां धातूनां बृद्धिक्षयाभ्यामाहारमूलाभ्यां रसः साम्यमुत्पादयत्यारोग्याय, किट्टं च मलानामेवमेव। स्वामानातिरिक्ताः पुनरुत्सर्गिणः शीतोष्णपर्यायगुणैश्चोपचर्यमाणा मलाः शरीरधातुसाम्यकराः समुपलभ्यन्ते।।

---

868. चरक. सूत्र. 28:3-5

तेषां तु मलप्रसादाख्यानां धातूनां स्रोतांस्ययनमुखानि।
तानि यथाविभागेन यथास्वं धातूनापूरयन्ति।।[868]

अर्थात् अनेक प्रकार के आशंत-पीत-लीढ-खादित (आहार भेदों) को जीव के धारित अन्तः अग्नि के सम्यक् उद्दीप्त (या जीवनीय) बल से अपनी ऊष्मा के अनुसार सम्यक् रूप से पचाता हुआ, काल की भाँति न रुकता हुआ, सभी धातुओं में फिर न मारा गया, पाक सबधातुओं की ऊष्मा, वायु और स्रोतों वाले मात्र शरीर को उपचय (बृद्धि), वल, वर्ण, सुख और आयु से जोड़ता है तथा शरीर धातुओं को ऊर्जित करता है। धातुयें धातुओं का आहार करती हुई प्रकृति में फिर स्थित होती हैं।

वहाँ आहार का प्रसाद कहलाने वाला रस और मल कहलाने वाला किट्ट प्रकट रूप में निश्चित स्थित हो जाता है। किट्ट से स्वेद, मूत्र, पुरीष, वात, पित्त, कफ से युक्त कान, आँख, नाक, मुख, लोमकूप प्रजनन, मल तथा केश, डाढ़ी, लोम, नख आदि अवयव पुष्ट होते हैं आहार रस से रस, रक्त, मांस, भेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र, सभी ओजस तथा धातु प्रसाद नाम वाले पाँच ज्ञानेन्द्रियों के द्रव्य तथा शरीर की सन्धियाँ बन्ध, कला (पिच्छा) आदि अवयवों का पोषण होता हैं। वे सभी धातुयें मल नाम वाली या प्रसाद नाम वाली रस और मलों से पोषित होती हुई शरीर और आयु के अनुसार अपने परिमाण में फिर स्थित होती हैं। इस प्रकार रस और मल दोनों ही अपने परिमाण में स्थित होकर अपने आश्रय की समधातुओं के धातुसाम्य फिर वर्तमान होते है। निमित्तरूप से क्षीण या बढ़ी हुई प्रसादनाम्नी धातुओं का रस आहारमूलक वृद्धि और क्षय के द्वारा आरोग्य के लिये साम्य उत्पन्न करता है, और किट्ट ऐसे ही मलों का करता है। अपने परिमाण से अधिक और फिर-फिर अधिक होने वाले शीत-उष्ण-समान गुणों से समीपजाते हुये शरीर धातुओं में साम्य करने वाले मल सम्यक् रूप से उपलब्ध होते हैं।

अब, उन मल-प्रसाद रूप धातुओं के मुख स्रोतों के मार्ग होते हैं। उनको विभागों के अनुसार तथा अपनी धातुओं के अनुसार भरा जाता है।

स शब्दार्चिर्जल सन्तानवदणुना विशेषेणानुधावत्येवं शरीरं केवलं।।[869]

---

869. सुश्रुत. सूत्र. 14:16

अर्थात् वह रस विशेष सूक्ष्मता से शब्द-रश्मि-जल की व्याप्ति से युक्त होकर सम्पूर्ण शरीर में घूमता है।

यद्यपि उपयुक्त मुख्य तीन कर्म-ज्ञान-पाक प्रक्रियाओं का वर्णन ही मिलता है, तथापि इसी वर्णन में जैव प्रक्रिया और ऊर्जा संरक्षण प्रक्रिया समाहित है। तथ्य तो हमें इन आयुर्वद ग्रन्थों से प्राप्त हो जाते हैं, किन्तु क्रमरूप प्रक्रिया के वर्णन का अभाव है। 'विसर्ग' को जो सौम्य बताया गया है, उसके अर्थ ही यह है कि उदक (ओजस्) रूप सोम की वर्षा जैव प्रक्रिया में होती है। जो ओजस् का ऊपर वर्णन किया गया है वह गर्भ के समय ही वर्तमान होता हुआ प्रारम्भिक मस्तिष्क (प्राइम ब्रेन) में आधार लेता है, और वहीं से बढ़ता हुआ जीवन भर नाडियों द्वारा शरीर एवं सभी अंगों की पुष्टि करता है; कर्म की प्रक्रिया में भी मस्तिष्क से वर्षा की यह क्रिया होती है। यही रस रूप में विशेष-अणु का रूप धारण कर वाक् (वाणी-शब्द), ऊर्जारश्मि, और जल रूप से नाडी-स्रोतों में प्रवाहित होता है; (इसे ही इलेक्ट्रोकेमिकल चैन्जेज कहते है, 'शब्द' यह वैदिक विज्ञान की विशेषता है, जिसका अभिप्राय यह हैग कि कर्मवह-इफेरेन्ट स्नायु भी अन्ततः ज्ञानवह अफरेन्ट से जुड़कर ज्ञान देती है)। इस प्रकार तीनों साहस्रियों में ज्ञान की प्रक्रिया गोपनीय सी रहती है, और चतुर्थ अवस्थाविशेष में ही वह बोली जाती है।

अब उत्तरायण को जो आग्नेय बताया गया है, उसका अभिप्राय पाक प्रक्रिया से है। इस धातु निर्माण प्रक्रिया में धातुओं की ऊर्जा ही आगे के निर्माण-क्रम को निर्धारित करती हैं वेद में वध, दान, या अग्नि द्वारा धातुओं का जो भक्षण बताया गया है, वही यहाँ आयुर्वेद में धाातुओं द्वारा धातुओं का आहार करना बताया गया है। वेद में आदित्यों द्वारा धातुओं को निचोड़कर सोम निकालने को ही यहाँ भी उत्तरायण में आदित्य का प्राण से युक्त अतिरुक्ष होकर बढ़ना कहा गया है और धातुओं के रस भाग को ही ओजस् कहा गया है। वेद में इन सम्पूर्ण ओजों का संकलित होकर उनमें ही ऊर्जारश्मि और ज्ञान का आधार माना गया है। रस से ओजस् तथा ज्ञानेन्द्रियों के द्रव्य के पुष्टीकरण की बात कही गई है और उसी में विशेष-अणु रूप में शब्द-रश्मि-जल की व्याप्ति बताई गई है जो सम्बन्धित शरीर में गतिमान होती है। वेद में संकलित ओजस् को अन्तरिक्षयी जल

षष्ठ अध्याय

(क) प्रतीकात्मकता की स्थिति एवं सन्दर्भ तथा उनका सम्पूर्ण वैदिक व्याख्या की दृष्टि से महत्व।

(ख) प्रतीकात्मकता के सन्दर्भ में वैज्ञानिकता के उद्घाटन की सम्भावना पर प्रकाश।

(ग) ऋग्वेद दशम मण्डल में प्रतीकात्मकता में निमग्न परोक्ष वैज्ञानिक तथ्य एवं सिद्धान्त।

षष्ठ अध्याय

(क) प्रतीकात्मकता की स्थिति एवं सन्दर्भ तथा उनका सम्पूर्ण वैदिक व्याख्या की दृष्टि से महत्व :

प्रतीकात्मकता के स्वरूप और वेद में उनकी स्थिति के प्रकारों पर अध्याय-2 में पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है। यहाँ हम उनके कुछ आधारों का वर्णन और विवेचन करते हुये प्रतीक सन्दर्भों का दिग्दर्शन करेंगे और उनकी उपयोगिता पर भी विचार करेंगे।

वेद स्वयं ही यह कहता है कि कवियों ने शीघ्र ही वाणियों से यथार्थ सत्यों को सम्यक् पैना किया, जिनके द्वारा कालजयी स्थिति के लिये रचना की गई। विद्वानों ने मन्त्रों को गोपनीय बनाया जिससे देवों ने अमरता को प्राप्त किया।[1] इसके लिये स्तुतियों के योग में विचारों की व्यवस्था की गई।[2] फलतः, ब्राह्मणों में इसका यह अर्थ लिया गया कि वस्तुतः देवगण परोक्षप्रिय ही हैं और प्रत्यक्ष से द्वेष करने वाले हैं,[3] और देवगणों को धार्मिक स्थिति प्रदान कर दी गई। ऋग्वेद दशम मण्डल में विशेषरूप से पुरुष सूक्त में प्रतीकात्मकता का पुरुष-लोक साम्य स्थापित किया गया।[4] इसी आधार पर चरक संहिता ने लोक संमित पुरुष की व्याख्या की और अनेक प्रतीकों का उद्घाटन किया, यथा-

पुरुषोऽयंलोकसंमितः।....... यावन्तो हि लोके मूर्तिमन्तो भावविशेषास्तावन्तः पुरुषे, यावन्तः, पुरुषे तावन्तो लोके।...... अपरिसंख्येया लोकावयवविशेषाः, पुरुषावयवविशेषा अप्यपरिसंख्येयाः, तेषां यथास्थूलं कतिचिद्भावान् सामान्यमभिप्रेत्योदाहरिष्यामः,...... षड्धातवः समुदिताः लोक इति शब्दं लभन्ते, तद्यथा- पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशं ब्रह्म चाव्यक्तमिति, एत एव च षड्धातवः समुदिताः

---

1. सतो नूनं कवयः सं शिशीत वाशीभिर्याभिर मृताय तक्षथ। विद्वांसः पदा गुह्यानि कर्तन येन देवासो अमृतत्वमानुशः।। ऋग्वेद 10:53:10।।
2. ग्राव्णां योगे मन्मनः साध ईमहे।।ऋग्वेद 10:35:9।।
3. परोक्षप्रिया एव हि देवा भवन्ति प्रत्यक्ष द्विषः ।।गोपथब्राह्मण पूर्वभाग 1:1।।
4. यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्...... तथा लोकानकल्पयन्।।ऋ. 10:90:11-14।।

पुरुष इतिशब्दं लभन्ते।।

तस्य पुरुषस्य पृथिवी मूर्तिः आपः क्लेदः तेजोऽभिसन्तापः वायुः प्राणः वियत् सुषिराणि ब्रह्म अन्तरात्मा। यथा खलु ब्राह्मी

विभूतिर्लोके तथा पुरुषेऽप्यान्तरात्मिकी विभूतिः, ब्रह्मणो विभूतिर्लोके प्रजापतिरन्तरात्मनो विभूतिः पुरुषे सत्त्वं, यस्त्विन्द्रो लोके स पुरुषेऽहंकारः, आदित्यस्त्वादानं रुद्रो रोषः सोमः प्रसादः वसवः सुखं अश्विनौ कान्तिः मरुदुत्साहः विश्वेदेवाः सर्वेन्द्रियाणि सर्वेन्द्रियार्थाश्च तमो मोहः ज्योतिर्ज्ञानं, यथा लोकस्य सर्गादिस्तथा पुरुषस्य गर्भाधानं, यथा कृतयुगमेवं बाल्यं, यथा त्रेता तथा यौवनं, यथा द्वापरस्तथा स्थाविर्यं, यथाकलिरेवमातुर्यं, यथायुगान्तस्तथा मरणमिति। एवमेतेनानुमानेनानुक्तानामपि लोकपुरुषयोरवयवविशेषाणां सामान्यं विद्यादिति।।[5]

अर्थात् यह पुरुष लोक के समान है।...... लोक में जितने मूर्तिमान भावों के भेद हैं, उतने ही पुरुष (जीव) में भी हैं, और जितने भावविशेष पुरुष में हैं उतने ही लोक में भी हैं।...... लोक के अवयव विशेष अनगिनत हैं, पुरुष के भी अवयव विशेष अगणित हैं। उनमें कुछ स्थूल भावों को समानता दिखाने के अभिप्राय से उदाहरण स्वरूप यहाँ बतायेंगे।..... छः धातुयें मिलकर लोक संज्ञा को प्राप्त होती हैं, जैसे– पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकश और अव्यक्त ब्रह्मः ये ही धातुयें मिलकर पुरुष संज्ञा को प्राप्त करती हैं।

उस पृरुष की पृथिवी मूर्ति (शरीर) है, जल उसका क्लेद है, अग्नि उसकी उष्णता है, वायु प्राण है, आकाश उसके छिद्र समूह हैं, ब्रह्म उस पुरुष की अन्तरात्मा है। जैसे लोक में ब्रह्म की विभूति दिखाई पड़ती है उसी प्रकार पुरुष शरीर में अन्तरात्मा की विभूति है। जिस प्रकार लोक में ब्रह्म की विभूति प्रजापति है, उसी प्रकार अन्तरात्मा की विभूति पुरुष में मन है। आदित्य अदान है, रुद्र रोष है, सोम प्रसाद है, वसुगण सुख हैं, अश्विनी कुमार कान्ति हैं, मरुग्ण उत्साह हैं, विश्वेदेव सभी इन्द्रियाँ और इन्द्रियार्थ

5. चरक. शा. 5:3–5

हैं, तम मोह है, ज्योति ज्ञान है, जैसे लोक में आदि-सृष्टि है वैसे ही पुरुष का गर्भाधान है, जैसा कृतयुग वैसा बचपन, जैसा त्रेता वैसा यौवन, जैसा द्वापर वैसा बुढापा, जैसे कलियुग वैसे ही रोगयुक्त होना है, जैसे युग का अन्त (प्रलय) है वैसे ही मृत्यु है। इसी प्रकार लोक और पुरुष के अन्य अवयवों के भेदों में समानता न बताये गये भावों के लिये अनुमान से जान लेना चाहिये। ऐसी समानतायें उपर्युक्त पुरुष सूक्त में भी इस प्रकार बताते हैं :-

ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्य कृतः,
अरु तदस्य यद्वैश्यः पदभ्यां शूद्रो अजायत।
चन्द्रमा मनसो जातः चक्षोः सूर्यो अजायत,
मुखादिन्द्रश्चाग्निश्च प्राणाद्वायुरजायत।।
नाभ्या आसीदन्तरिक्षं शीर्ष्णो द्यौः समवर्तत,
पदभ्यांभूमिर्दिशः श्रोत्रात्.............।।[6]

अर्थात् ब्राह्मण इस पुरुष का मुख हुआ, राजन्य बाहुयें बनाये गये, जो वैश्य थे वे इसकी जाँघे और पैरों से शूद्र उत्पन्न हुआ। मन से चन्द्रमा उत्पन्न हुआ, आँखों से सूर्य उत्पन्न हुआ, मुख से इन्द्र और अग्नि, तथा प्राण से वायु उत्पन्न हुआ। नाभि से अन्तरिक्ष हुआ, शिर से द्युलोक स्थित हुआ, पैरों से भूमि और कानों से दिशायें उत्पन्न हुई।[7]

ठीक इसी प्रकार इन्हें अधिदैवत मानकर सुश्रतसंहिता ने व्याख्या दी है, यथा :-

अथ बुद्धेर्ब्रह्मा अहङ्कारस्येश्वरः मनसश्चन्द्रमा दिशः श्रोतस्य त्वचो वायुः सूर्यश्चक्षषः रसनस्यापः पृथिवी घ्राणस्य वाचोऽग्निः हस्तयोरिन्द्रः पादयोर्विष्णुः पायोमित्रः प्रजापतिरुपस्थस्येति।।[8]

अर्थात् अब, बुद्धि का देवता ब्रह्मा, अहङ्कार का ईश्वर, मन का चन्द्रमा, श्रोत्र का दिशायें, त्वचा का वायु, नेत्र का सूर्य, जिह्वा का जल, नासिका

6. ऋग्वेद 10:90:12:14
7. इन मन्त्रों के विशेष अर्थों के लिये अध्याय-5 की पाद- टिप्पणी 609-609 देखें।
8. सुश्रुत. शा. 1:10

का पृथिवी, वाणी का अग्नि, हाथों का इन्द्र, पैरों का विष्णु, गुदा का मित्र और उपस्थ का प्रजापति है।

इतिहास-पुराणों में भी यह प्रतीकात्मकता इसी प्रकार हैं :-

यस्यावयवसंस्थानैः कल्पितो लोकविस्तरः।।[9]

अर्थात् उस विराट् के अङ्ग प्रत्यङ्गों में ही लोक विस्तार का साम्य माना गया है।

यस्येहावयवैर्लोकान् कल्पयन्ति मनीषिणः।।[10]

अर्थात् उस विराट के अङ्ग प्रत्यङ्गों से मनीषीजन लोकों का साम्य बतलाते हैं।

भागवत में ये प्रतीक इस प्रकार बताये गये हैं :-

पुरुषस्य मुखं ब्रह्म क्षत्रमेतस्य बाहवः,
ऊर्वौर्वैश्योभगवतः पद्भ्यां शूद्रोऽभ्यजायत।
भूर्लोकः कल्पितः पदभ्यांभुवर्लोकोऽस्यनाभितः,
हृदा स्वर्लोक उरसा महर्लो को महात्मनः।
ग्रीवायां जनलोकश्च तपोलोकः स्तनद्वयात्,
मूर्धाभिः सत्यलोकस्तु ब्रह्मलोकः सनातनः।
तत्कट्यां चातलं क्लृप्तमूरुभ्यां वितलं विभोः,
जानुभ्यां सुतलं शुद्धं जङ्घाभ्यांतु तलातलम्।।
महातलं तु गुल्फाभ्यां प्रपदाभ्यां रसातलं,
पातालं पादतलत इति लोकमयः पुमान्।।[11]

अर्थात् ब्राह्मण इस पुरुष के मुख हैं, भुजायें क्षत्रिय हैं, भगवान की जाँघे वैश्य है, पैरों से शूद्र उत्पन्न हुये हैं। पैरों से भूलोक का साम्य माना गया

9. भागवत् 1:3:3
10. भागवत 2:5:35-36
11. भागवत 2:5:37-41

है, इसकी नाभि से भुवः लोक, हृदय से स्वः लोक तथा महान् आत्मा के उर से महर्लोक, और गर्दन में जनलोक, दोनों स्तनों में तपोलोक, मूर्धा से सत्यलोक निश्चय ही सनातन ब्रह्मलोक है, उनकी कमर में अतल का साम्य माना गया ऊरूओं से वितल, प्रभु के घुटनो से पवित्र सुतल और जंघाओं में तलातल, गुल्फों से महातल, पंजों में रसातल और लोकमय पुरुष के तलवों से तलातल का साम्य माना गया है।

वाचां वह्नेर्मुखं क्षेत्रं छन्दसां सप्त धातवः,
हव्यकव्यामृतान्नानां जिह्वा सर्वरसस्य च।
सर्वासूनां च वायोश्च तन्नासे परमायने,
अश्विनोरोषधीनां च घ्राणो मोदप्रमोदयोः।।
रूपाणां तेजसां चक्षुर्दिवः सूर्यस्य चाक्षिणी,
कर्णौ दिशां च तीर्थानांश्रोत्रमाकाशशब्दयोः।
तद्गा वस्तुसाराणां सौभगस्य च भाजनं,
त्वगस्यस्पर्शवायोश्च सर्वमेधस्य चैव हि।।
रोमाण्युद्भिज्जाजातीनां यैर्वा यज्ञस्तु सम्भृतः,
केशश्मश्रुनरवान्यस्य शिलालोहाभ्रविद्युताम्।
बाहवो लोकपालानां प्रायशः क्षेमकर्मणां,
विक्रमो भूर्भुवः स्वश्च क्षेमस्य चरणस्य च।।
अपां वीर्यस्य सर्गस्य पर्जन्यस्य प्रजापतेः,
पुंसः शिश्न उपस्थस्तु प्रजात्यानन्दनिवृतेः।
पायुर्यमस्य मित्रस्य परिमोक्षस्य नारद,
हिंसाया निर्ऋतेर्मृत्योर्निरयस्य गुदः स्मृतः।।
पराभूतेरधर्मस्य तमसश्चापि पश्चिमः,
नाड्यो नदनदीनां तु गोत्राणामस्थिसंहतिः।
अव्यक्तरससिन्धूनां भूतानां निधनस्य च,
उदरं विदितं पुंसो हृदयं मनसः पदम्।।
धर्मस्य मम तुभ्यं च कुमाराणां भवस्यच,
विज्ञानस्य च सत्त्वस्य परस्यात्मा परायणम्।।[12]

12. भागवत 2:6:1-11

अर्थात् (विराट पुरुष के) मुख से वाणी और अग्नि तथा छन्द सप्तधातुओं से निकले, हवि, कव्य, अमृत रूप अन्न तथा सभी रस उनकी जिह्वा से निकले। उन परं निवास (गति) की नासिका से अश्विनी कुमार, समस्त ओषधियाँ, सभी प्राण और वायु तथा घ्राणेन्द्रिय से सुगन्ध और दुर्गन्ध उत्पन्न हुई। रूप और तेज चक्षु इन्द्रिय से तथा आँखों से सूर्य और दीप्ति, कानों से दिशायें तथा तीर्थ और श्रोतेन्द्रिय से आकाश और शब्द निकले। उनका शरीर वस्तुओं का सार तथा सौभाग्य का खजाना है। उनकी त्वचा से स्पर्श और वायु तथा वस्तुतः सभी यज्ञ निकले। रोमों से सभी उद्भिजों की जातियां जिनसे यज्ञ सम्पन्न होते हैं निकले। उनके केश, दाढ़ी–मूँछ और नखों से पत्थर, लोहादि, मेघ और विद्युत तथा भुजाओं से लोकपाल जो संसार की रक्षा करते हैं प्रकट हुये। कुशल क्षेम और शरण के लिये विशेष चलना भू, भुवः और स्वः तीनों लोकों में कारण है। विराट् पुरुष का शिश्न जल, वीर्य, मेघ और प्रजापति का आधार है, और उनकी गोद निर्वृत्ति स्वरूप आनन्द को उत्पन्न करती है। हे नारद! पायु इन्द्रिय यम, मित्र और मोक्ष से युक्त है, तथा गुदा हिंसा, निऋति, मृत्यु और नरक का उत्पत्तिस्थान है। उनकी पीठ से पराजय, अधर्म और अज्ञान, नाडियों से नद और नदी, तथा हड्डियों से पर्वतों का साम्य है। उनके उदर में अव्यक्त, रस–समुद्र तथा समस्त भूतों का विश्रामस्थल है, और हृदय मन का स्थान जाना जाता है। धर्म, ब्रह्मा, नारद, सनत्कुमारादि, शिवजी, विज्ञान, अन्तःकरण तथा 'पर' आत्मा के आधीन हैं।

महाभारत आश्वमेधिक पर्व में एक महत्वपूर्ण प्रतीकात्मकता स्त्रीपुरुष के रूपों में बताई गई है कि स्त्री जङ्गम और पुरुष स्थावर के प्रतीक है; मन का जङ्गम रूप वाक् बताया गया है।[13] इसी पर्व में यज्ञ–रूपक भी बताये गये हैं।[14] यज्ञरूपक छान्दोग्योपनिषद्[15] में सोम की उत्पत्ति, वर्षा, अन्न, पुरुष–शुक्र और गर्भ की प्राकृतिक प्रक्रियाओं का निरूपण करने वाले है; प्रकारान्तर से ये ही क्रमशः ऊर्जा संरक्षण, जैव प्रक्रिया, कर्म प्रक्रिया, ज्ञान प्रक्रिया और पाकप्रक्रिया के लिये भी संकेत करते हैं। और भी–

---

13. महाभारत आश्व. 21:16-17,26
14. महा. आश्व. अध्याय 20,21,22,25
15. छान्दोग्योपनिषद् 5:4-8

यावान्वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाश उभे अस्मिन्द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते उभाावग्निश्च वायुश्च सूर्याचन्द्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राणि यच्चास्येहास्ति यच्च नास्ति सर्वं तदस्मिन्समाहितमिति।।[16]

अर्थात् जितना यह आकाश है उतना ही यह अन्तः हृदय का आकश है, इसमें आकश और पृथिवी इसके भीतर ही सम्यक् धारित हैं। दोनों अग्नि और वायु, दोनों सूर्य और चन्द्रमा, विद्युत और नक्षत्र और इस आत्मा का जो कुछ इस लोक में है और जो नहीं है वह सब इसमें सम्यक् धारित है।

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेवतु,
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च।
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयां स्तेषु गोचरान्,
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहर्मनीषिणः।।[17]

अर्थात् आत्मा को रथी जानो और शरीर को रथ मानो, बुद्धि को सारथी समझो और मन को लगाम समझो। मनीषीजन इन्द्रियों को घोड़े बताते हैं और विषयों को उनका मांर्ग कहते हैं; आत्मा, मन इन्द्रियों से युक्त पुरुष ही भोक्ता कहा जाता है।

केनोपनिषद्[18] में यद्यपि स्पष्टतः प्रतीकात्मकतायें नहीं बताई गई हैं, तथापि 4:3 और 5-6 का साम्य देखने पर इन्द्र मन होता है और ब्रह्म एक आश्रयस्थान (वन) होता है। कठोपनिषद में इन्द्र (मध्वदं), अन्तरात्मा, जीव और ईशान की समानता बतालाई गई और उसे ब्रह्म भी कहा गया;[19] पुनः पूर्वकाल में जलों से तप द्वारा उत्पन्न होने वाले मन को भी ब्रह्म माना गया;[20] जो दीप्तियों से युक्त अदिति प्राण के साथ-साथ स्थित होती है और गुहा में प्रवेश करके बैठती है, और जो जलों (भूतेभिः) के साथ विशेषतः उत्पन्न हुई थी वह प्रसुप्त ऊर्जा भी ब्रह्म ही हैं;[21] जातवेद अग्नि को भी ब्रह्म

16. छान्दोग्योपनिषद् 8:1:3
17. कठोपनिषद् 1:3:3-4
18. केनोपनिषद् 4:3-6
29. कठोपनिषद 2:1:5
20. कठोपनिषद 2:1:6
21. कठोपनिषद 2:1:7

माना गया है;[22] जहाँ सूर्य उदय-अस्त होता है, जिसमें सभी दीप्तियाँ समर्पित हैं, वह ऊर्ध्व या द्युलोक भी ब्रह्म है।[23] आत्मा के मध्य में अंगूठे बराबर पुरुष स्थित है, जो ईशान है, वही ब्रह्म है;[24] जो अंगूठे के बराबर पुरुष ज्योति की भांति धूमरहित है, सतत रहने वाला और भूत तथा भविष्य का ईशान है, वही ब्रह्म है।[25] सरल चेतना वाले अजन्मा का जो ग्यारह द्वारों (इन्द्रियों) वाला नगर है, वह ही ब्रह्म है।[26] जो यह पुरुष प्रत्येक शरीर धातु का निर्माण करता हुआ सोने पर भी जागता रहता है, वही शुक्र, वही ब्रह्म, वही अमृत कहा जाता है।[27] यह ऊर्ध्वमूल वाला, नीचे की ओर शाखाओं वाला सनातन रश्मिस्थान (अश्वत्थ) है, वही शुक्र, वही ब्रह्म, वही अमृत कहा जाता है।[28]

दक्षिणायन तथा उत्तरायण के वेदों में जो अनेकानेक नाम आते हैं, उनमें से कुछ गीता में संक्षेपित किये गये हैं :-

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणं,
तव प्रयातागच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः।
धूमोरात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनं,
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते।।[29]

अर्थात् उत्तरायण में जो छः माह होते हैं उनको अग्नि, ज्योति, दिन, शुक्ल कहा जाता है; उत्पाद के जानने वाले लोग, वहाँ आगे गये हुये, उत्पाद को प्राप्त करते हैं। दक्षिणायन में जो छः माह होते हैं उनको धूम, रात्रि तथा कृष्ण कहा जाता है; उससे जुड़ा हुआ वहाँ सोम की ज्योति को प्राप्त कर लौटता है।

प्रश्नोपनिपद् के प्रथम प्रश्न में भी उत्तरायण-दक्षिणायन[30] के पर्याय दिये गये हैं; प्रजापति (आगे उत्पाद का स्वामी) के हेतु से इन्हें प्राण और रयि,[31]

---

22. कठोपनिषद 2:1:8
23. कठोपनिषद 2:1:9
24. कठोपनिषद 2:1:12
25. कठोपनिषद 2:1:13
26. कठोपनिषद 2:2:1
27. कठोपनिषद 2:2:8
28. कठोपनिषद् 2:3:1
29. गीता 8:24-25
30. प्रश्नोपनिषद् 1:9
31. प्रश्नोपनिषद् 1:4

आदित्य और चन्द्रमा,[32] अशरीर और शरीर,[33] देवयान और पितृयाण,[34] शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष,[35] दिन और रात,[36] आदि बताया गया है। इसी प्रकार इस उपनिषद् में ऋक-यजुः-साम को यज्ञ-क्षत्र-ब्रह्म बतलाया है।

ऐतरेयोपनिषद[37] में हृदय और मन को समान मान गया है; वहाँ संज्ञान, आज्ञान, विज्ञान, प्रज्ञान, मेघा, दृष्टि, धृति, मति, मनीषा नीषा, जूति, स्मृति, संकल्प, क्रतु, असु, काम, वश सभी प्रज्ञान के पर्यायवाची कहे गये हैं।

तैतरीयोपनिषद में 'भू' के पर्याय पृथिवी, अग्नि, ऋक् और प्राण दिये गये हैं; 'भुव' के पर्याय अन्तरिक्ष, वायु, साम, और अपान बताये गये हैं, 'स्व' के पर्याय स्वर्ग, आदित्य, यजुस् और व्यान कहे गये हैं, तथा 'महः' के पर्याय ब्रह्म, आत्मा आदित्य, चन्द्रमा और अन्न माने गये हैं।[38]

छान्दोग्य उपनिषद् में प्राण को आङ्गिरस, बृहस्पति (बृहतीवाक् पति), आयास्य, सूर्य, स्वर आदि कहा गया है;[39] वाक् को बृहती, व्यान, ऋक, साम, आदि बताया गया है।[40] उत् के अर्थ प्राण, द्यौ, आदित्य और साम, गी के अर्थ वाक्, अन्तरिक्ष, वायु और यजुः, तथा थ (स्थ) के अर्थ अन्न, पृथिवी, अग्नि और ऋक बताये गये हैं।[41] सामों की व्याख्या करते हुये गायत्र को प्राण, रथन्तर को अग्नि, वामदेव्य को मिथुन, बृहत्साभ को सूर्य, वैरूपसाम को पर्जन्य, वैराज साम को ऋतु, शक्वरीसाम को लोक, रवती साम को पशु, यज्ञायज्ञीय साम को शरीराङ्ग, तथा राजनसाम को देवता से सम्बद्ध कहा गया है।[42] यहाँ गायत्री को वाक् तथा पृथिवी, पृथिवी को शरीर, और शरीर को हृदय बताया गया है।[43] पुरुष को यज्ञ, तथा प्राण को वसु, रुद्र और आदित्य कहा गया है।[44] इसी उपनिषद् में रजत को पृथिवी, स्वर्ण

---

32. प्रश्नोपनिषद् 1:5
33. प्रश्नोपनिषद् 1:5
34. प्रश्नोपनिषद् 1:9-11
35. प्रश्नोपनिषद् 1:12
36. प्रश्नोपनिषद् 1:13
37. ऐतिरेयोपनिषद 3:1:2
38. तैत्तरीयोपनिषद 1:5-6
39. छान्दोग्योपनिषद् 1:2:10-12,3:2
40. छान्दोग्योपनिषद् 1:2:11,13:3-4
41. छान्दोग्योपनिषद 1:3:6-7
42. छान्दोग्योपनिषद 2:11:1 से 20:2 तक
43. छान्दोग्योपनिषद 3:12:1-4
44. छान्दोग्योपनिषद 3:16:1-5

को धुलोक, जरायु को पर्वत, उल्ब को मेघ, धमनी को नदियाँ, तथा वस्ति जल को समुद्र कहा गया है।[45] प्राण को ज्येष्ठ और श्रेष्ठ, तथा वाक् को वसिष्ठ बताया गया है।[46]

बृहदारण्यक उपनिषद् में अश्व के अङ्गों में अनेक प्रतीक बताये गये हैं; वहाँ अश्व का शिर उषा बताया गया है, नेत्र सूर्य, प्राण वायु, मुख अग्नि, आत्मा संवत्सर, प्रतिष्ठा दिनरात, अस्थियाँ नक्षत्र, पीठ द्युलोक, उदर अन्तरक्षि, पैर पृथिवी, पार्श्व दिशायें, पर्शु अवान्तर दिशार्यं, अङ्ग ऋतुयें, पर्व मास-पक्ष, मांस आकाश, नाडी नदियाँ, यकृत पर्वत, लोम ओषधि, मूत्र वर्षा, जमुहाई विद्युत, हिलना मेघगर्जन, दिन पूर्वसमुद्र, रात पश्चिमसमुद्र, देवों को वहने करने वाला हय, गन्धर्वो को वाजि, असुरों को अर्व, मनुष्यों को वहन करने वाला अश्व, बन्धु और योनि समुद्र के प्रतीक माने गये हैं।[47] इसी उपनिषद् के द्वितीय अध्याय में ऊर्ण (बुनना) के अर्थ सृष्टिकरना,[48] शिशु के अर्थ मध्यमप्राण, चमस के अर्थ शिर, विश्वरूप के अर्थ प्राण, सप्त छिद्र के अर्थ सप्त ऋषि, वाक् के अर्थ वेद बताये हैं और दो कान गोतम-भरद्वाज, दो नेत्र विश्वामित्र-जमदग्नि। दो नथुने वसिष्ठ-कश्यप, रसना 'अत्ति' व्युत्पत्ति से अत्रि को बतलाने वाली है।[49] आगे मूर्त के पर्याय मर्त्य, स्थित और सत् जो वायु और अन्तरिक्ष से भिन्न तथा सत् का रस तपने वाला अग्नि है;[50] अमूर्त के पर्याय अमृत, यत् और त्यत् और हैं, जो वायु और अन्तरिक्ष है जिनका रस अधिदेव-पुरुष है।[51] अध्यात्म मूर्त चक्षु (ज्ञान) रसरूप तथा अमूर्त दक्षिण नेत्र पुरुष (सूर्य) रूप है।[52] तीसरे अध्याय में आठ वसु अग्नि, पृथिवी, वायु, अन्तरिक्ष, आदित्य, द्युलोक, चन्द्रमा और नक्षत्र बतलाये गये हें; ग्यारह रुद्र दस प्राण और एक मन, तथा बारह आदित्य आदान करने से संवत्सर के बारहमास है, इन्द्र विद्युत और प्रजापति पशुगण बताये गये हैं इसी अध्याय में वृक्ष का पुरुष से साम्य बताया गया है, यथा- वृक्ष के पत्ते पुरुष के लोम, छाल त्वचा, गोंद रक्त, शकर मांस, किनार स्नायुजाल,

---

45. छान्दोग्योपनिषद 3:19:2
46. छान्दोग्योपनिषद 5:1:1-2
47. बृहदारण्य कोपनिषद् 1:1:1-2
48. बृहदारण्य कोपनिषद् 2:1:20
49. बृहदारण्यकोपनिषद् 2:2:3-4
50. बृहदारण्यकोपनिषद् 2:3:1-2
51. बृहदारण्यकोपनिषद 2:3:3
52. बृहदारण्यकोपनिषद 2:3:4-5

काष्ठ हड्डी, दोनों में मज्जा समरूप हैं।[54] चौथे अध्याय में इन्द्र की व्याख्या दीप्ति युक्त होने से इन्ध से की गई है, और विशेष चमकने वाली दीप्ति के अर्थ से विराट् को इन्द्रपत्नी बताया गया है।[55]

अब, गाय के माध्यम से अर्थर्वेद के एक सूक्त[56] में शरीराङ्गों की प्रतीकात्मकता देखिये :–

प्रजापतिश्च परमेष्ठी च श्रृङ्गे इन्द्रः शिरो अग्निर्ललाटंयमः कृकाटम्।।
सोमो राजा मस्तिष्को धोरुत्तारहनुः पृथिव्यधार हनुः।।
विद्युज्जिह्वा मरुतोदन्ता रेवतीर्ग्रीवाः कृत्तिका स्कन्धा धर्मो वहः।।
विश्वं वायुः स्वर्गो लोकः कृष्णद्रं विधरणी निवष्यः।।
श्येनः क्रोडोऽन्तरिक्षं पाजस्यं बृहस्पतिः ककुद् बृहतीः कीकसाः।।
देवानां पत्नीः पृष्टय उपसदः पर्शवः।।
मित्रश्च वरुणस्चांसौ त्वष्टा चार्यमा च दोषणी महादेवो बाहू।।
इन्द्राणी भसद् वायुः पुच्छं पवमानो बालाः।।
ब्रह्म च क्षात्रं च श्रोणी बलमूरु।।
धाता च सविता चाष्ठीवन्तौ जंघा,
गन्धार्वा अप्सरसः कुष्ठिका अदितिः शफाः।।
चेतो हृदयं यकृन्मेधा व्रतं पुरीतत्।।
क्षुत् कुक्षिरिरा वनिष्ठुः पर्वताः प्लाशयः।।
क्रोधो वृक्कौ मन्युराण्डौ प्रजा शेपः।।
नदी सूत्री वर्षस्य पतयस्तना स्तनयित्नुरूधः।।
विश्वव्यचाश्चर्मौषध्यो लोमानि नक्षात्राणि रूपम्।।
देवजना गुदा मनुष्या आन्त्राण्यत्रा उदरम्।।
रक्षांसि लोहितमितरजनाऊबध्यम्।।
अभ्रं पीवो मज्जा निधनम्।। अग्निरासीन उत्थितोऽश्विना।
इन्द्रः प्राङ्तिष्ठन् दक्षिणातिष्ठन् यमः।।
प्रत्यङ्तिष्ठन् धातोदङ् तिष्ठन्त्सविता।।
तृणानिप्राप्तः सोमो राजा।। मित्र ईक्षमाण आवृत्त आनन्दः।।

---

53. बृहदारण्यकोपनिषद 3:9:3–5
54. बृहदारण्यकोपनिषद 3:9:27:1–3
55. बृहदारण्यकोपनिषद 4:2:2–3
56. अथर्वेद 9:7

युज्यमानो वैश्वदेवो युक्तः प्रजापतिर्विमुक्तः सर्वम् ।।
एतद् वै विश्वरूपं सर्वरूपं गोरूपम् ।।
उपैनं विश्वरूपाः सर्वरूपाः पशवस्तिष्ठन्ति य एवं वेद ।।

अर्थात् प्रजापति और परमेष्ठी दो सींग हैं, इन्द्र (आत्मा) शिर है, अग्नि ललाट है, यम गर्दनी है। राजा सोम मस्तिष्क है, द्युलोक ऊपर का जबड़ा और पृथिवी नीचे का जबड़ा है। विद्युत् जीभ है, मरुद्गण दाँत हैं, खेती गर्दनें हैं, कृत्तिका कन्धे हैं, धर्म (ताप) ले चलने वाली शक्ति के समान है। विश्व शरीरान्तरगत वायु (प्राण) के समान, स्वर्गलोक आकर्षण, विविध पृथिवियाँ निवासस्थान हैं। सूर्यरश्मि वक्षस्थल, अन्तरिक्ष बल, बृहस्पति ककुद्, बृहती गले की हड्डियाँ (हसुली) हैं। देवताओं की पत्नियाँ पीठ की हड्डियां, दान पसलियां हैं। मित्र और वरुण कन्धों की हड्डियां, त्वष्टा और अर्यमा भुजदण्ड, महादेव इन्द्र बाहुयें हैं। इन्द्राणी कटिभाग, वायु पूँछ, शोधक वायु (पवमान) पूँछ के बाल हैं। ब्राह्मण और क्षत्रिय दोनों कूल्हे और बल जंघाये हैं। धाता और सविता दोनों घुटने, गन्धर्व जाँघे, अप्सरायें खुरो के ऊपर के नख, अदिति खुर हैं। चित्त हृदय है, मेधा यकृत है, व्रत (नियम) आंत है। भूख कोख है, अन्न पेट है, पर्वत प्लीहा आदि हैं। क्रोध वृक्क है, मन्यु अण्डकोष हैं, प्रजा शिश्न है। नदी नाडियाँ हैं, वर्षा के स्वामी (मेघ) स्तन हैं, बादलों की कड़क ऐन है। समस्त परिवर्तन इस गौ का चर्म है, वृक्षादि लोम हैं, नक्षत्र रूप हैं। देवजन इस गौ की गुदा हैं, मनुष्यजन आँत हैं, प्रशंसनीय लोग उदर हैं। राक्षसगण रुधिर हैं, अन्य जन (इतर) अधपचे अन्न हैं। मेघ मेद हैं, नियत उत्पाद मज्जा हैं। अश्विनीकुमार आसीन और उत्थित अग्नि हैं। इन्द्र पूर्व में स्थित है, यम दक्षिण में स्थित है, धाता पश्चिम में स्थित है, और सविता उत्तर में स्थित है। राजा सोम प्राप्त हुये तृण हैं। प्रेक्षण करता हुआ मापनकर्त्ता का सम्मुख वर्तमान (तथ्य) आनन्दरूप है। विश्वेदेवता जुतते हुये है, प्रजापति जुता हुआ है, और पूर्ण परमेश्वर मुक्त है। ये ही विश्वरूप से, सर्वरूप से तथा गौरूप से बताये गये हैं। जो इस प्रकार जानता है उसके समीप विश्वरूप और सर्वरूप दृष्टियाँ स्थित होती हैं।

इन प्रतीकात्मकताओं को मुख्यतः दो रूपों में संकलित किया जा सकता है; **प्रथम**, पुरुष और लोक साम्य जिसमें पुरुष या पशु के अङ्गप्रत्यङ्गों से लोक की वस्तुओं का निर्देश होता है; और **द्वितीय** लोक और पुरुष साम्य

जिसमें लोक की वस्तुओं, स्थितियों और प्रतिष्ठाओं को शरीरान्तर्गत अङ्ग–प्रत्यङ्गों तथा प्रक्रियाओं से समानता की जाती है। इसके अतिरिक्त **तृतीयतः** पर्यायों से एक ही क्षेत्र में समानतायें निदेशित करना; इसके अन्तर्गत 'निघण्टु' की पर्यायवाची शब्द–सूचियाँ, इस शोध प्रबन्ध के अध्याय–2 में दिये गये प्रतीक–प्रकारों के अन्तर्गत शब्द और भाव, तथा अध्याय–5 में वेद के सन्दर्भ में वेदार्थ निरूपण हेतु प्रस्तुत शब्द और भाव आते हैं। इस तृतीय स्थिति का वर्णन हम उपर्युक्त अध्यायों में और अध्याय–4 में यास्क के विवरण में तथा पूरे शोध–प्रबन्ध में हमारे द्वारा वेदार्थ के निदर्शन में किये जा चुके हैं, अतः उनकी पुनरावृत्ति की अब आवश्यकता अनुभव नहीं होती। प्रथम और द्वितीय रूपों को संक्षेपतः हम यहाँ प्रस्तुत कर रहे हैं ताकि प्रतीकों के उद्‌घाटन में उनका योगदान लिया जा सके।

(1) प्ररुष–लोक प्रतीक :

आत्मा	=	धर्म, ब्रह्मा, नारद, सनकादि, शिव, विज्ञान, अन्तःकरण, पर, संवत्सर
मन	=	चन्द्रमा, वाक् (जङ्गम)
शिर (हृदय)	=	द्युलोक, स्वः, मन, उषा, इन्द्र, चित्त
मूर्धा	=	सत्य, ब्रह्मलोक
मस्तिष्क	=	सोम
बुद्धि	=	ब्रह्मा
अहंकार	=	ईश्वर (शिव)
वाक्	=	अग्नि, बृहती, व्यान, ऋक्, साम, वसिष्ठ, वेद
प्राण	=	वायु, आङ्गिरस, बृहस्पति, आयास्य, सूर्य, स्वर, वसु, रुद्र, आदित्य, ज्येष्ठ–श्रेष्ठ, विश्वरूप, विश्व
स्वर्ग	=	आकर्षण
उर (छाती)	=	महः, सूर्यरश्मि
प्रतिष्ठा	=	दिन–रात
उदर (वस्ति)	=	अव्यक्त, रस–समुद्र, भूतों का विश्रामस्थल, प्रशंसनीय व्यक्ति

नाडियाँ	=	नद, नदी, धमनी
मुख	=	ब्राह्मण, इन्द्र, अग्नि, वाक्
जिह्वा	=	जल, हवि, कव्य, अन्न, रस्, विद्युत्
ललाट	=	अग्नि
नाभि	=	अन्तरिक्ष, भुवः
आँख	=	सूर्य, दीप्ति
चक्षु इन्द्रिय	=	रूप, तेज
नासिका	=	पृथिवी, अश्विनीकुमार, ओषधि, प्राण, वायु
घ्राणेन्द्रिय	=	गन्ध
कान	=	दिशायें, तीर्थ
श्रोतेन्द्रिय	=	आकाश, शब्द
त्वचा	=	वायु, स्पर्श, यज्ञ
चर्म	=	परिवर्तन
लोम	=	वृक्षादि, समिधा
केशश्मश्रु	=	मेघ, विद्युत
नख	=	पत्थर, लौंह
(गाय के खुरों के ऊपर वाले) नख	=	अप्सरायें
खुर	=	अदिति
हड्डियाँ	=	पर्वत, नक्षत्र
हनु	=	द्यावापृथिवी
पीठ की हड्डी	=	देवियाँ
गले की हँसुली	=	बृहती
कंधे की हड्डियाँ	=	सित्रावरुण
कूल्हे	=	ब्राह्मण-क्षत्रिय
कंधे	=	कृत्तिका
ग्रीवा	=	जनः, रेवती
गर्दनी	=	यम
पीठ	=	पराजय, अधर्म, अज्ञान, द्युलोक
ककुद	=	बृहस्पति
बाहु	=	राजन्य, इन्द्र, लोकपाल, महादेव (इन्द्र)
भुजदण्ड	=	त्वष्टा-अर्यमा

पूँछ	=	वायु
पूँछ के बाल	=	पवमान
सींग	=	प्रजापति–परमेष्ठी
सप्त छिद्र	=	सप्तर्षि
दाँत	=	मरुद्‌गण
पार्श्व	=	दिशायें
पर्शु	=	अवान्तर दिशायें
ऊरु	=	वैश्य, वितल
जंघा	=	तलातल, बल, गन्धर्व
पैर	=	शूद्र, भूमि, विष्णु, पृथिवी
चलना	=	तीनों लोकों में कुशल और शरण
स्तन	=	तपः, मेघ
ऐन	=	गर्जन
कटि	=	अतल, इन्द्राणी
घुटने	=	सुतल, धाता–सविता
गुल्फ	=	महातल
पंजे	=	रसातल
तलबे	=	तलातल
शिश्न	=	प्रजापति, जल, वीर्य, मेघ, प्रजा
उपस्थ (गोद)	=	निर्वृत्ति = आनन्द
गुदा	=	हिंसा, निर्ऋत, मृत्यु, नरक, देवजन (गौ में)
पायुइन्द्रिय	=	मित्र, यम, मोक्ष
आँतें	=	मनुष्यजन, व्रत
अधपका अन्न	=	इतरजन
वृक्क	=	क्रोध
अण्डकोष	=	मन्यु
पृथिवियाँ	=	निवास
कोख	=	भूख
पेट	=	अन्न
अङ्ग	=	ऋतुयें
पर्व	=	मास–पक्ष

यकृत	=	पर्वत, मेधा
प्लीहा	=	पर्वतादि
मांस	=	आकाश
बन्ध	=	समुद्र
योनि	=	समुद्र
रुधिर	=	राक्षसगण
मेद	=	मेघ
मज्जा	=	नियत उत्पाद
रूप	=	नक्षत्रादि
अग्नि, आसीन-उत्थित	=	अश्विनी कुमार
वहनशक्ति	=	ताप
मूत्र	=	वर्षा
जमुहाई	=	विद्युत
हिलना-डुलना	=	मेघगर्जन
बल	=	अन्तरिक्ष
आनन्द	=	तथ्य
मुक्त	=	परमेश्वर
जुतता हुआ	=	विश्वेदेवता
जुता हुआ	=	प्रजापति
सप्तधातु	=	छन्द

(2) लोक-पुरुष प्रतीक :

पृथिवी	=	मूर्ति-शरीर
आप	=	क्लेद
अग्नि	=	अभिसन्ताप (उष्णता)
वायु	=	प्राण
आकाश	=	छिद्र समूह, अन्तः हृदयाकाश द्यावापृथिवी सहित तथा सब कुछ
ब्रह्म	=	अन्तरात्मा, आश्रयस्थान (वन), अदिति, प्रसुप्त ऊर्जा, जातवेद अग्नि, ऊर्ध्व, द्युलोक, ईशान-पुरुष,

		चेतन–पुर, शुक्र, अमृत, वृक्ष
प्रजापति	=	मन, पशुगण (धातुयें)
इन्द्र	=	अहंकार, मन, अन्तरात्मा, जीव, ईशान, ब्रह्म, विद्युत, इन्ध (दीप्ति)
आदित्य	=	आदान, बारहमास
विराट्	=	इन्द्र–पत्नी (विशेष चमक से)
रुद्र	=	रोष, दस प्राण और मन
सोम	=	प्रसाद
वसुगण	=	सुख,अग्नि–पृथिवी–वायु–अन्तरिक्ष–आदित्य–धुलोक–चन्द्रमा–नक्षत्र
अश्विनीकुमार	=	कान्ति
मरुद्गण	=	उत्साह
विश्वेदेव	=	इन्द्रिय तथा अर्थ
तम	=	मोह
ज्योति	=	ज्ञान
दिन	=	पूर्वसमुद्र
रात	=	पश्चिम समुद्र
सृष्टि	=	गर्भाधान
कृतयुग	=	बचपन
त्रेता	=	जवानी
द्वापर	=	बुढ़ापा
कलियुग	=	रोग
युगान्त	=	मृत्यु
स्त्री	=	जङ्गम
पुरुष	=	स्थावर, यज्ञ, वृक्ष–काष्ठ (हड्डी), मज्जा (दोनों में), पत्ते (लोम), छाल (त्वचा), गोंद (रक्त), शकर (मांग), चिनाट (स्नायु–जाल)
शिशु	=	मध्यम प्राण
यज्ञ	=	सोमोत्पत्ति→ वर्षा → अन्न→ पुरुष–शुक्र→ गर्भ
चमस	=	शिर
ऊर्ण	=	सृष्टि करना

तृण	=	सोमलता
मूर्त	=	मर्त्य, स्थित, सत, रस→ अग्नि
अमूर्त	=	अमृत, यत्, त्यत्, वायु→ अन्तरिक्ष
अध्यात्म	=	मूर्त–अमृत→ चक्षु–सूर्य
रथ	=	शरीर
रथी	=	आत्मा
सारथी	=	बुद्धि
प्रग्रह	=	मन
हय	=	इन्द्रियाँ
मार्ग	=	विषय
दक्षिणायन	=	धूम, रात, कृष्णपक्ष, रयि, चन्द्रमा, शरीर, पितृयाण
उत्तरायण	=	अग्नि, ज्योति, दिन, शुक्लपक्ष, प्राण, आदित्य, अशरीर, देवयान
ऋक्	=	यज्ञ, पृथिवी, अग्नि, प्राण, भूः
यजुः	=	क्षत्र, भुवः, अन्तरिक्ष, वायु, अपान
साम	=	ब्रह्म, स्वर्ग, स्वः, आदित्य, व्यान
महः	=	ब्रह्म, आत्मा, आदित्य, चन्द्रमा, अन्न
प्रज्ञान	=	संज्ञान, आज्ञान, विज्ञान, मेधा, दृष्टि, धृति, मति, मनीषा, जूति, स्मृति, संकल्प, क्रतु, असु, काम, वश
उत्	=	प्राण, द्यौ, आदित्य, साम
गी	=	वाक्, अन्तरिक्ष, वायु, यजु
थ (स्थ)	=	अन्न, पृथिवी, अग्नि, ऋक्
अश्व	=	मनुष्यों का घोड़ा
अर्व	=	असुरों का घोड़ा
वाजि	=	गन्धर्वों का घोड़ा
हय	=	देवों का घोड़ा

इन दोनों सूचियों में जो प्रतीक नहीं दिये गये है उन्हें इन सबके मिलान से अनुमान पूर्वक प्राप्त करना चाहिये और वेदार्थ में उनके सफल और सार्थक उपयोग से उनकी पुष्टि होगी। इसमें मनमानापन और कल्पना

का प्रयोग नहीं करना चाहिये।

वेद की रचनाशैली में प्राप्त प्रक्रिया-ज्ञानों और तथ्यों का प्रतीकात्मक रूप से वर्णन किया गया है। उपर्युक्त पाद टिप्पणी 1 व 2 के मन्त्रों के अनुसार यथार्थ सत्यों की कालजयी स्थिति बनाने के लिये देवता प्रतीकों के माध्यम से वाचिक मन्त्रों की रचना इस प्रकार की गई कि स्तुतियों के योग में विचारों की व्यवस्था हुई; ऐसे कालजयी रचना के साथ देवता भी अमर हो गये। ये विचार इस घोषणा से भी पुष्ट होते हैं कि वेद के पन्द्र हजार मन्त्र जब तक यह धावापृथिवी वर्तमान है तब तक वर्तमान रहेंगे।[57] ऐसी स्थितियों को वेदेतर साहित्य में भी अक्षुण्ण रखने की चेष्टा की गई है, इसलिये प्रतीकात्मकता वहाँ पर भी विद्यमान है। इस प्रकार यह आवश्यक हो जाता है कि वैज्ञानिक तथ्यों और प्रक्रियाओं को जानने के लिये वैदिक प्रतीकों का उद्घाटन करते हुये वेदार्थों और रहस्यों को खोला जाये। यह सब किस प्रकार होगा, इसके लिये उदाहरणस्वरूप प्रयोगात्मक-प्रबन्ध केनोपनिषद् की निम्न प्रतीकात्मक स्थिति का हम उद्घाटन कर रहे हैं :-

अथेन्द्रमब्रुवन् मघवन्नेतद् विजानीहि किमेतद्
यक्षमिति तथेति। तदभ्यद्रवत्। तस्मात् तिरोदधे।।[58]

स तस्मिन्नेवाकाशे स्त्रियमाजगाम बहुशोभमानामुमां
हैमवतीं तां होवाच किमेतद् यक्षमिति।[59]

स ब्रह्मेति होवाच.........।।[60]

अर्थात् तब इन्द्र से (देवताओं ने) कहा- हे मघवन्! यह यक्ष कौन है? इसको विशेषरूप से जानिये, ऐसा। वैसा ही मानकर (वे इन्द्र) उस (यक्ष) की ओर दौड़ गये। उससे (वह यक्ष) ध्यान से पार अर्थात् अन्तर्धान हो गया।

उस (इन्द्र) ने उसी आकाश में अत्यन्त शोभायुक्त स्त्री हैमवती उमा

---

57. सहस्रधा पञ्चदशान्युक्था यावद् द्यावापृथिवी तावदित्तत्।। ऋ. 10:114:8
58. केनोपनिषद् 3:11
59. केनापनिषद् 3:12
60. केनोपनिषद् 4:1
61. केनोपनिषद् 2:1

को सर्वथा प्राप्त किया, (वे) उससे बोले– यह यक्ष कौन है, ऐसा।

वह बोली 'ब्रह्म है', ऐसा।

अब इस कथा का रहस्य खोलने के लिये हमें इन तथ्यों को देखना पड़ेगा–

यदस्य त्वं यदस्य देवेष्वथ नु मीमांस्यमेव ते मन्ये विदितम्।।[61]

अर्थात् तुम जिस इसके (ब्रह्म रूप को) ज्ञात हुआ मानते हो, और अब जो इसका (रूप) देवों में (मानते हो), वे दोनों मीमांसा अर्थात् विश्लेषण करने योग्य ही हैं।

ब्रह्म का ज्ञात हुआ रूप 'आध्यात्म' है और उसका देवताओं में स्थित रूप 'अधिदेव' है, इन्हीं दोनों का विश्लेषण आगे इस प्रकार किया गया है :–

अथाध्यात्मं यदेतद्गच्छतीव च मनोऽनेन
चैतदुपस्मरत्यभीक्षणं संकल्प।।[62]

तस्यैष आदेशो यदेतद् विद्युतो व्यद्युतदा
इतीन्न्यमीमिषादा इत्यधिदैवतम्।।[63]

अर्थात् अब अध्यात्म कहते हैं। जो यह मन जाता हुआ सा है, और इसके द्वारा ही सम्मुख (प्रत्यक्ष) दिखाई देते हुये इस (ब्रह्म) को साथ–साथ समानता करते हुए समीप में स्मरण किया जाता है।

उसका यह आदेश होता है कि यह विद्युत् का चारो ओर चमकना है ऐसा ही नेत्रों का सर्वथा झपकना है, यह अधिदैवत प्रकरण है।

अब कुछ अन्य स्थितियाँ भी यहाँ विचारणीय हैं, यथा–

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया,
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति।।[64]

62. केनोपनिषद् 4:5
63. केनोपनिषद् 4:4
64. गीता 6:20

अर्थात् जहाँ योग के सम्पादन से निरुद्ध-चित्त (योगी) समीप ही में रम जाता है, वहाँ अपने से अपने को देखते हुये अपने में ही सन्तोष प्राप्त करता है।

इत्यष्टविधमाख्यातं योगिनां बलमैश्वरं,
शुद्धसत्त्वसमाधानात्तत् सर्वमुपजायते।।[65]

अर्थात् आठ प्रकार से बताये गये (अष्टाङ्ग) ऐसे सामर्थ्ययुक्त बल वाले योगियों के शुद्ध मन के साथ-साथ आधान होने से वह सर्व (ब्रह्म) समीप में उदय होता है।

अब, पातञ्जल योगसूत्र इस सम्बन्ध में क्या बतलाता है, देखें :-

योगश्चित्तवृत्तिनिरोध।।[66]

अर्थात् चित्तवृत्तियों को निश्चयरुप से रोकना योग है।

कायरूपसंयमात् तद् ग्राह्यशक्तिस्तम्भे
चक्षुः प्रकाशासम्प्रयोगेऽन्तर्धानम्।।[67]

अर्थात् जब अपने शरीर-रूप का ध्यान, धारणा और समाधि की जाती है तो उसकी ग्राह्यशक्ति स्तम्भित हो जाती है और चक्षु में प्रकाश का सम्यक प्रयोग न होने से भीतर ही धारण रह जाता है।

सिद्धान्त यह बनता है कि आत्मभाव होने से अपना प्रत्यक्ष नहीं हो सकता क्योंकि द्रष्टा और द्रष्ट का एकीभाव होने से प्रत्यक्ष सम्भ्व नहीं है। पतञ्जलि के इस वर्णन से स्थिति सर्वथा स्पष्ट हो जाती है। इन्द्र और उमा क्या हैं, यह व्याख्या से स्पष्ट होने योग्य है। प्रणव के सन्दर्भ से उमा शब्द 'उ' अधिदेव और 'म' अध्यात्म का वाचक है, यही बात आगे के मन्त्रों में व्याख्यायित भी हुई है;'स्त्री' प्रतीक से वह 'जङ्गम' अर्थात् प्रक्रियारूप है तथा स्मृति-प्रक्रिया की वाचक है; 'इन्द्र' मन का प्रतीक होता है, तब जङ्गम

---

65. चरक. शा. 1:141
66. पातञ्जल योगदर्शन 1:2
67. पातञ्जल योगदर्शन 3:21

(जाने वाले) मन द्वारा आत्मा को प्रत्यक्ष करने के लिये द्रष्टा आत्मा स्वयं का ही प्रेक्षण करने में तभी सक्षम होता है जब साथ-साथ ही प्रत्यक्ष हुये की स्मृति भी होती चले; अन्यथा की स्थिति में प्रत्यक्ष के लिये चक्षु में प्रकाश का अभाव होने से भीतर ही भीतर धारण बना रहता है और प्रत्यक्ष नहीं होता; यह पतञ्जलि के सूत्र से स्पष्ट है। ब्रह्म का 'प्रत्यक्ष' आभास-मात्र है जैसे बिजली की चमक या आँख का झपकना है। गीता और चरक संहिता के संदर्भ योग की स्थिति बतलाते हैं जहाँ ब्रह्म या आत्मा की अनुभूति होती है। यह अनुभूति मन के आत्मा के साथ योग रूप में तभी प्राप्त होती है जब चित्त की वृत्तियों को निश्चयात्मक रूप से रोक लिया जाता है; इन व्याख्याओं से इन्द्र की मन से एकरूपता निस्संदेह प्राप्त हो जाती है। इस प्रकार प्रतीकों के उद्‍घाटन से प्रक्रिया तो स्पष्ट हो ही गई है, अन्य ग्रन्थों के संदर्भों से उस प्रक्रिया का पुष्टीकरण भी हो गया है। जो व्याख्या की गई है वह अपने आप में सम्पूर्ण है और परिणाम में रहस्य का उद्‍घाटन करने वाली और वैज्ञानिक तथ्यों को प्रदान करने वाली है। अव्याख्यायित कथा अन्यथा धार्मिक संदर्भ की कथा मात्र रह जाती है जिसे हम अलौकिकता (सुपरनेचुरैलिज़्म) से पूर्ण या मिथ्याज्ञान (माइथॉलॉजी) से युक्त ही कहेंगे और उसका हमारे जीवन में कोई भी सदुपयोग नहीं होगा, अपितु वह आस्था (रुक जाने की स्थिति), अन्धश्रद्धा और अन्धविश्वास को ही जन्म देगी।

(ख) प्रतीकात्मकता के संदर्भ में वैज्ञानिकता के उद्‍घाटन की सम्भावना पर प्रकाश :

केनोपनिषद् की समस्या, जिसकी व्याख्या हमने ऊपर की है, यह है कि 'उस आत्मा को कैसे देखा जा सकता है जो स्वयं द्रष्टा है'। यह समस्या आधुनिक मनोविज्ञान में भी उठाई गई।[68] मेटलर के अनुसार 'मैं, मुझको, और मुझसे-रहित की युक्तियाँ ऐसे प्रभावी अनुभव हैं जो आत्मसजगता, आत्मीय गुणों की सजगता, तथा सार्थक-अन्यों की सजगता से उत्पन्न होते हैं'; उनके अनुसार, प्राच्य सत्तावादी के लिये 'मुझको' (माम्) आत्म-वाह्य है,

68. देखें (1) F.A. Structural Barsis of the self. Annals of New York Academy of science, 1962, 96, 687-729,
(2) Antoniq wenkart. The self in existentialism. Annalis of New York Academy, 1962, 96, 814-822

तथापि अनुभव की ऐसी प्रक्रिया में वह अलौकिक योगदान को देखता है। हम यद्यपि यह मानते हैं कि 'माम्' आत्मवाह्य है, किन्तु इसमें हम अलौकिक योगदान की किसी सम्भावना को अस्वीकार करते हैं; अपितु हमने अपनी व्याख्या में लौकिक आधार ही लिये हैं और इन्द्र-उमा के प्रतीकों को खोलकर प्रक्रिया को वैज्ञानिक रूप प्रदान करने की चेष्टा की है। तथापि, मेटलर ऐसी किसी अन्तर्दर्शन प्रक्रिया को नहीं मानते जिसके द्वारा द्रष्टा और द्रष्ट को स्पष्टतः प्रथक् किया जा के, इसके अतिरिक्त वे यह मानते हैं कि 'वाह्यदर्शन की प्रक्रिया के मामले में भी ज्ञान की क्रिया ज्ञाता के द्वारा अतिरिक्त वाह्य-तत्त्वों के अनुभव की क्रिया में बाह्य-पदार्थों को समासक्तिपूर्वक समाहित करती हैं (पृष्ठ 688-689)। किन्तु, व्याख्या में हमारा निष्कर्ष यह निकला है कि द्रष्टा आत्मा द्वारा स्वयं का ही प्रेक्षण करने में स्मृति के साथ-साथ चलने के कारण सक्षम होता है, अन्यथा प्रत्यक्ष में चक्षु के प्रकाश का अभाव होने से भीतर ही भीतर धारण रहता है और प्रत्यक्ष नहीं होता। वेन्कर्ट यह निश्चय करती हैं कि आत्मा की क्रिया, जो इन्द्रिय-प्रत्यक्ष, चिन्तन और स्मृति जैसे तत्त्वों में शामिल है, 'माम्' के भाव की अनुभूति के लिये एक सामान्य वृत्ति को प्राप्त कर लेती है।

निस्सन्देह, केनोपनिषद् की व्याख्या के लिये प्रस्तुत अंशों पर भाष्यकारों ने अपने भाष्यों में अलौकिकता का आरोपण किया है, और शाङ्कर वाक्य-भाष्य[69] की भी लगभग ऐसी ही स्थिति है। इस कारण ही मेटलर ने प्राच्य सत्तावादियों पर अलौकिक योगदान की दृष्टि का कटाक्ष किया है। यास्क ने भी कहीं-कहीं वेदमन्त्रों की आधिदैविक और आध्यात्मिक व्याख्यायें की हैं, किन्तु वे भी भली प्रकार यहस्पष्ट नहीं कर पाये कि यह आधिदैविक और आध्यात्मिक दृष्टि क्या है, तथापि दैवत प्रकरण[70] में जो मात्र तीन देवताओं - सूर्य, इन्द्र या वायु, अग्नि- का विवेचन किया है और उत्तमता या कर्मपृथक्ता के कारण उन्हें बहुनाम्ना बताया है, उसमें अधिदैवत्व का अस्पष्ट आभास मिलता है, और यह कहने से कि वे क्रमशः द्युस्थानीय, अन्तरिक्षस्थानीय, पृथिवीस्थानीय हैं से मात्र यह अनुमान ही किया जा सकता है कि सूर्य जीव की आत्मा है, मन जीवन की प्रक्रियाओं का आधार है, और अग्नि लौकिक ऊर्जातत्त्व है जो जीवन के लिये आवश्यक है। परन्तु

---

69. देखें केनोपनिषद् शाङ्कर वाक्यभाष्य
70. निरुक्त 7:5

गीता, चरक संहिता, और पातञ्जल योग सूत्र के जो अंश व्याख्या में हमने प्रस्तुत किये हैं वे स्थिति स्पष्ट करने वाले है। आचार्य शङ्कर ने भी अपने पदाभाष्य[71] में यह स्थिति सन्तोषजनक रूप से स्पष्ट की है; यथा–

तस्य प्रकृतस्य ब्रह्मण एष आदेश उपमोपदेशः।

अर्थात् यह आदेश उस प्रकृत ब्रह्म की उपमा के लिये है।

यदेतत् प्रसिद्धं लोके विद्युतो व्यद्युतद् विद्योतनं कृतवदित्येतदनुपपन्नमिति विद्युतो विद्योतनमिति कल्प्यते। आ इत्युपमार्थः। विद्युतो विद्योतनमिवेत्यर्थः। ......

अथवा

विद्युतः तेजः इत्यध्याहार्यम्। ....
विद्युतस्तेजः सकृद्विद्योतितवदिवेत्यभिप्रायः।...

अचं चापरस्तस्यादेशः। .... चक्षुषो विषयं प्रति प्रकाशतिरोभाव इव चेत्यर्थः। इति अधिदैवतं देवता विषयं ब्रह्मण उपमानदर्शनम्।

अर्थात् यह जो लोक में प्रसिद्ध बिजली का चमकना है, यहाँ 'व्यद्युतत्' शब्द का 'प्रकाश किया' ऐसा अर्थ अनुपपन्न होने के कारण विद्युतो विद्योतनम्– विद्युत् का चमकना' ऐसा अर्थ माना जाता है। 'आ' यह उपसर्ग उपमा के लिये है, बिजली चमकने के समान, ऐसा अर्थ है। अथवा 'विद्युतः' इस पद के आगे 'तेजः' पद का अध्याहार करना चाहिये। अतः इसका अभिप्राय यह हुआ कि 'जो बिजली के तेज के समान एक बार प्रकाशित हुआ।'

इसके सिवा एक दूसरा आदेश यह भी है........ इस प्रकार 'नेत्र के विषय से प्रकाश के छिप जाने के समान' ऐसा अर्थ हुआ। इस तरह यह ब्रह्म की 'अधिदैवत' देवता विषयक उपमा दिखलाई गई।

---

71. देखे केनोपनिषद शाटर पद-भाष्य

गीता, चरक संहिता, और पातञ्जल योग सूत्र के जो अंश व्याख्या में हमने प्रस्तुत किये हैं वे स्थिति स्पष्ट करने वाले है। आचार्य शङ्कर ने भी अपने पदाभाष्य[71] में यह स्थिति सन्तोषजनक रूप से स्पष्ट की है; यथा–

तस्य प्रकृतस्य ब्रह्मण एष आदेश उपमोपदेशः।

अर्थात् यह आदेश उस प्रकृत ब्रह्म की उपमा के लिये है।

यदेतत् प्रसिद्धं लोके विद्युतो व्यद्युतद् विद्योतनं कृतवदित्येतदनुपपन्नमिति विद्युतो विद्योतनमिति कल्प्यते। आ इत्युपमार्थः। विद्युतो विद्योतनमिवेत्यर्थः। ......

अथवा

विद्युतः तेजः इत्यध्याहार्यम्। .... विद्युतस्तेजः सकृद्विद्योतितवदिवेत्यभिप्रायः।...

अचं चापरस्तस्यादेशः। .... चक्षुषो विषयं प्रति प्रकाशतिरोभाव इव चेत्यर्थः। इति अधिदैवतं देवता विषयं ब्रह्मण उपमानदर्शनम्।

अर्थात् यह जो लोक में प्रसिद्ध बिजली का चमकना है, यहाँ 'व्यद्युतत्' शब्द का 'प्रकाश किया' ऐसा अर्थ अनुपपन्न होने के कारण विद्युतो विद्योतनम्– विद्युत् का चमकना' ऐसा अर्थ माना जाता है। 'आ' यह उपसर्ग उपमा के लिये है, बिजली चमकने के समान, ऐसा अर्थ है। अथवा 'विद्युतः' इस पद के आगे 'तेजः' पद का अध्याहार करना चाहिये। अतः इसका अभिप्राय यह हुआ कि 'जो बिजली के तेज के समान एक बार प्रकाशित हुआ।'

इसके सिवा एक दूसरा आदेश यह भी है........ इस प्रकार 'नेत्र के विषय से प्रकाश के छिप जाने के समान' ऐसा अर्थ हुआ। इस तरह यह ब्रह्म की 'अधिदैवत' देवता विषयक उपमा दिखलाई गई।

---

71. देखे केनोपनिषद शाटर पद-भाष्य

हि मनसः संकल्पस्मृत्यादिप्रत्ययैर भिव्यज्यते ब्रह्म, विषयी क्रियमाणमिव। अतः स एष ब्रह्मणोऽध्यात्ममादेशः।

अर्थात् मन की सङ्कल्प एवं स्मृति आदि प्रतीतियों से मानो विषय किया जाता हुआ ब्रह्म ही अभिव्यक्त हो रहा है, अतः यह मन उस ब्रह्म का अध्यात्म रूप है।

विद्युन्निमेषणवदधिदैवतं द्रुतप्रकाशनधर्मि, अध्यात्मं, च मनः प्रत्ययसमकालाभिव्यक्तिधर्मि इत्येष आदेशः।

अर्थात् विद्युत और निमेषोन्मेष के समान ब्रह्म शीघ्र प्रकाशित होने वाला है, यह अधिदेव रूप है। और, वह मन की प्रतीति के समकाल में अभिव्यक्त होने वाला है, यह अध्यात्म रूप है।

इस भाष्य के विषय में हम टीकाकार आनन्दगिरि के इस मत को स्वीकार नहीं कर पाते कि–

'पदशो व्याख्यायापि न तुतोष भगवान् भाष्यकारः शारीरकैर्न्यायैरनिर्णीतार्थत्वादिति न्याय प्रधान श्रुत्यर्थसंग्राहकैर्वाक्यैर्व्याचिख्यासुः,'[72]

अर्थात् पदशः व्याख्या से भी भगवान् भाष्यकार (शंकर आचार्य) सन्तुष्ट नहीं हुये, क्योंकि उसमें उसके अर्थ का शारीरक न्यायों से निर्णीत अर्थ नहीं प्राप्त किया गया था, अतः अब न्याय प्रधान श्रुति निरूपक अर्थसंग्राहक वाक्यों द्वारा व्याख्या करने की इच्छा की है; क्योंकि पदभाष्य अधिक शारीर सम्मत तथा व्याख्या की दृष्टि से उन्नत अवस्था का प्रतीत होता है।

तथापि, स्थिति अधिक स्पष्ट करने के लिये यह बताना आवश्यक है कि वस्तुजन्य आकृति का बाह्य–प्रत्यक्ष और अन्तः–प्रत्यक्ष किया जा सकता है। दोनों ही स्थितियों में नाडीसंस्थान स्पन्दित होते हैं, प्राण और वाक् (ऊर्जा) की क्रिया द्वारा; और यह स्पन्दन आकृति के प्रभाव को मस्तिष्क में स्थित ज्ञानस्वरूप आत्मा तक पहुँचाता है, और तब द्रष्टा आत्मा द्वारा उसका संज्ञान होता है। प्राण और कुछ नहीं, मात्र 'गति' का निदेश है, अर्थात्

72. देखें आनन्दगिरि की टीका, शाङ्करभाष्य केनोपनिषद्।

गात्यात्मकता जो वस्तुतः ऊर्जा की होती है। गतिमान ऊर्जा से नाडीसंस्थान संचालित होता है, और आकृति के इन्द्रिय-प्रभावों को नाडीमार्ग से स्पन्दन रूप में मस्तिष्क तक सरित करता है। यह स्पन्दन बिजली की चमक की तरह या पलक मारते ही हो जाता है और इन्द्रिय प्रभाव मस्तिष्क में पहुँच जाता है। ऊर्जा को आधार चाहिये, जैसे बिजली तारों में बहती है, या धन-विद्युत् जल-कणों का आधार लेती है; शरीर में यह आधार नाडियों का होता है। इस प्रकार प्राण और ऊर्जा लोकदृष्टि से आधिभौतिक रूप हैं; इनमें ही देवता का भाव देखने से आधिदैविक वायु और अग्नि रूप हो जाते हैं। अब, एक तीसरी स्थिति यह है कि ऊर्जा मात्र गतिशील हीन हो अपितु जाग्रित भी हो, तभी ग्राह्येन्द्रिय में आकृति प्रभाव क्रियारत होगा। 'जाग्रित' अर्थात् वह मात्र या स्तर या ड्योढी जिस पर आकृति-प्रभाव ग्रहण होता है। इस मात्रा को 'मन' कहते हैं। यह मात्र ग्राह्येन्द्रिय के ही लिये नहीं अपितु नाड़ी-संस्थान में सरण के लिये, और आत्मा में बोध या संज्ञान के लिये भी अपरिहार्य है। यह मन देवभाव में इन्द्र हो जाता है और आत्म भाव में तदाकार होकर ब्रह्मरुप हो जाता है। इसलिये इन्द्र सोम को खाने वाला अर्थात् आत्मसात करने वाला होता है, व्यापनशील विष्णु होकर वह सोम को बाँधता है, मेघरूप कर देता है, फिर वर्षाकारक विष्णु होकर वह बज्र (विद्युत ऊर्जा) से उसे फाड़कर जीवन के हेतु शरीर में वृष्टि करता है। यह सब विष्णु सहस्र (नाडी संस्थान) में होता है। वर्षा जिस सहस्र द्वारा होती है वह इन्द्र का है, कर्म भी इसी से होता है, यह नीचे जाने वाला मार्ग है। शरीर से ऊपर जाने वाला ज्ञान मार्ग इन्द्र का दूसरा सहस्र है, इसी से रसादि धातुओं का उत्पादन भी होता है और धातुओं से सोम भी निचोड़ा जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सबका मूल ऊर्जा है, और सब इसी का लीला-बिलास है। गति और मात्रा इसके ही गुण है, और वस्तुतः काल्पनिक है। वास्तव में ऊर्जा भौतिक तत्त्व है। वस्तुजन्य आकृति से ग्राह्येन्द्रिय में इसका सम्पर्क होने से यह अधिभौतिक होती है; नाडीसंस्थान में स्पन्दन या सरण हेतु इसका सम्पर्क होने पर यह आधिदैविक होती है, तथा मस्तिष्क में बोध या संज्ञान सम्पर्क में यह ही आध्यात्मिक हो जाती है, किंवा आत्मस्वरूप ही हो जाती है।

अब, अन्तः-प्रत्यक्ष की स्थिति में अनुभूत प्रभाव को चेतनापटल पर पुनर्जाग्रित किया जाता है, यह कार्य मन का है, या यों कहें कि ऊर्जा की

मात्रा को फिर बढ़ाया जाता है; इस प्रकार अनुभूत वस्तु या आकृति की प्रतिमा पुनर्स्थापित होकर अन्तः–प्रत्यक्ष लगभग जस–का–तस हो जाता है। इस कार्य में स्मृति प्रभावीहोती है। न गति का कार्य होता है और न ऊर्जा का; इसलिये वायु तिनके को नहीं उड़ा पाया और अग्नि तिनके को नहीं जला पाया। केवल मात्रा का खेल रहा, इसलिये इन्द्र उस ब्रह्म तक पहुँच गया, स्मृतिरूप 'उमा' के सहारे। तथापि, अपने ही रूप का अन्तःप्रत्यक्ष नहीं हो सकता, क्योंकि उसका कोई पूर्व अनुभव तो नहीं है। वस्तु या आकृति के पूर्व अनुभव में प्रकाश का योगदान होता है; नाद के अनुभव में वायु का योगदान होता है; पुनः ये दोनों देवता अग्नि और वायु हैं। जब इनका योगदान नहीं है तो प्रकाश का अभाव होने से आकृति का बोध नहीं होगा, मात्र भीतर ही भीतर धारणा (अन्तर्धान) होगी, आभास मात्र होगा, मानो 'मैं हूँ', 'सोऽह', कोई रूप ज्ञातव्य नहीं होगा।

यह सब (व्याख्या) वैज्ञानिक है, इसमें कुछ भी अलौकिक नहीं है। अलौकिकता का आरोपण व्याख्या की सरलता के लिये लोग कर देते हैं, किन्तु वह नितान्त त्रुटिपूर्ण होती है, और विषय को वस्तुनिष्ठ रूप में व्याख्यायित नहीं करती। किंवा, वह भ्रमित करती है और अन्धश्रद्धा तथा अन्धविश्वास उत्पन्न करती है, क्योंकि वह स्वयंसिद्ध प्रमेयों पर आधारित होती है।

हमने केनोपनिषद का यह उदाहरण प्रस्तुत करते हुये प्रतीकों के रहस्य को खोला है और व्याख्यापूर्वक वाह्य–प्रत्यक्ष और अन्तः–प्रत्यक्ष की मानसस्नायुवैज्ञानिक (साइकोन्यूरॉलाजिकल) संक्रियाओं का उद्‌घाटन वैज्ञानिकता की दृष्टि से किया है। वेद में ऐसी सम्भावनायें अनेक है, जिनमें वैज्ञानिक तथ्यों, नियमों और प्रक्रियाओं का रहस्य खुलता है। ऐ तमाम रहस्य पिछले अध्याय में नामप्रतीकों की व्युत्पत्तिपूर्वक व्याख्या में उद्‌घाटित हो चुके हैं, वहाँ देवताओं के नामों की व्युत्पत्ति से भी उनकी कार्यप्रणाली पर प्रकाश पड़ा है। सभी प्रकार के प्रतीकों में जो व्युत्पत्तिपूर्वक अर्थ निकलते है, अथवा निघण्टु की सूचियों में जिनके पर्याय और अर्थ दिये गये हैं, अथवा निरुक्त में यास्क ने जो प्रतीक बताये हैं या व्युत्पत्ति पूर्वक उनके जो अर्थ दिये हैं, उन सबका उपयोग हम पिछले अध्याय में कर चुकें हैं, क्योंकि प्रतीक के बिना वैदिक मन्त्रों और सूक्तों का प्रायः अभाव है, तब स्पष्ट एवं प्रत्यक्ष विवरण प्रस्तुत नहीं किये जा सकते थे। वर्तमान अध्याय में हम उन सूक्तों

या मन्त्र समूहों की ही व्याख्या करेंगे जो पूर्वरूपेण प्रतीकात्मक हैं।

प्रतीकों की दृष्टि से एक अन्य प्रकार की वेद-व्याख्या करने का आग्रह बहुत प्राचीन काल से किया जाता रहा है। यह है मन्त्र की आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक व्याख्याकारिता; वेदेतर ग्रन्थों में तो ऐसी व्याख्या हुई ही है, यास्क से लेकर स्वामी दयानन्द तक और आगे भी भाष्यकारों ने ऐसी व्याख्यायें करने का आग्रह किया है और अपने भाष्यों में ऐसी व्याख्यायें की भी हैं। तथापि, यह पूर्णतया सन्देहास्पद ही है कि जीवन के इन स्तरों की स्पष्ट और सही अवधारणा भी इन भाष्यकारों को रही हो। हमने अध्याय 1 में इनकी अवधारणा स्पष्ट की है,[73] तथा वर्तमान अंश में भी ऊपर ऊर्जा के लीला-विलास का वर्णन करते हुये लोक, अधिभूत, अधिदेव और अध्यात्म में उसकी स्थिति का निदर्शन किया है। तथापि, हम वेद की व्याख्या में इनके कुछ उदाहरण प्रस्तुत करते हुये समीक्षा करेंगे।

सबसे पहले यास्क ने ऐसी व्याख्या का उपाय किया है। उन्होंने अपने 'निरुक्त' में चार वेदमन्त्रों पर अधिदैवत और अध्यात्म व्याख्यायें की हैं:-

यत्रा सुपर्णा अमृतस्य भागमनिमेषं विदथाभि स्वरन्ति।
इनो विश्वस्य भुवनस्य गोपाः स मा धीरः पाकमत्रा विवेश।।[74]

यत्र सुपर्णा सुपतना आदित्यरश्मयः। अमृतस्य भागमुदकस्य। अनिमिषान्तो वेदनेनाभिस्वरन्तीति वा। अभिप्रयन्तीति वा। ईश्वरः सर्वेषा भूतानां गोपयितादित्यः। स मा धीरः पाकमत्रा विवेशेति। धीरो धीमान् पाकः पक्तव्यो भवति। विपक्वप्रज्ञ आदित्यः। इत्युपनिषाद्वर्णो भवति। इत्यधिदैवतम्। अथाध्यात्यम्। यत्र सुपर्णा सुपतनानीन्द्रियाणि। अमृतस्य भागं ज्ञानस्य। अनिमिषन्तो वेदनेनाभिस्वरन्तीति वा। अभिप्रयन्तीति वा। ईश्वरः सर्वेषामिन्द्रियाणां गोपायितात्मा। स मा धीरः पाकमत्रा विवेशेति। धीरो धीमान्। पाकः पक्तव्यो भवति। विपक्वप्रज्ञ आत्मा। इत्यात्मगतिमाचष्टे।।[75]

73. देखें इस शोधप्रबन्ध का अध्याय- 1, पृ. 9-10
74. ऋग्वेद 1:164:21
75. निरुक्त 3:12

इस व्याख्या में शब्दों के अर्थ अधिदेव और अध्यात्म के लिये इस प्रकार दिय गये हैं :-

सुपर्णा	–	आदित्यरश्मयः	–	इन्द्रियाणि
अमृतस्य	–	उदकस्य	–	ज्ञानस्य
गोपाः	–	आदित्यः	–	आत्मा

इस व्याख्या में अधिदैव के लिये तो कुछ स्पष्ट नहीं किया है, किन्तु अध्यात्म के लिये 'आत्मगतिमाचष्टे' अर्थात् हम आत्मा की गतिमानता का संज्ञान करते हैं, बताया गया है।

विश्वकर्मा विमना द्विहाया धाताविधाता परमोत संदृक्।
तेषा मिष्टानि समिषा मदन्ति यत्रा सप्त ऋषीन्पर एकमाहुः।।[76]

विश्वकर्मा विभूतमना व्याप्ता धाता च। विधाता च। परमश्च संद्रष्टो भूतानाम्। तेषामिष्टानि वा कान्तानि वा क्रान्तानि वा गतानि वा मतानि वा नतानि वा। अद्भिः सह संमोदन्ते यत्रैतानि सप्तऋषीणानि ज्योतींषि। तेभ्यः पर आदित्यः। तान्येतस्मिन्नेकं भवन्तीत्यधिदैवतम्।

अथाध्यात्मम्। विश्वकर्मा विभूतिमना व्याप्ता धाता च। विधाता च। परमश्च संदर्शयितेन्द्रियाणाम्। एषाभिष्टानि वा कान्तानि वा क्रान्तानि वा गतानि वा मतानि वा नतानि वा। अन्नेन सह संमोदन्ते यत्रमानि सप्तऋषीणानीन्द्रियाणि। एभ्यः पर आत्मा। तान्यस्मिन्नेकं भवन्तीत्यात्मगतिमाचष्टे।।[77]

इस व्याख्या में शब्दों के अर्थ अधिदेव और अध्यात्म के लिये इस प्रकार दिये गये हैं :-

संदृक्	–	संद्रष्टा भूतानाम्	–	संदर्शयिता इन्द्रियाणाम्
समिषा	–	अद्भिः सह	–	अन्नेन सह
सप्त ऋषीन्	–	ज्योतींषि	–	इन्द्रियाणि
पर एकम्	–	आदित्यः	–	आत्मा

76. ऋग्वेद 10:82:2
77. निरुक्त 10:26

सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्।
सप्तापः स्वपतो लोकमीयुस्तत्र जागृतो अस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ।[78]

सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे। रश्मय आदित्ये सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्। संवत्सरमप्रभाद्यन्तः। सप्तापनास्त एव स्वपतो लोकमस्तमितमादित्यं यन्ति। तत्र जागृतोऽस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ वाय्वादित्यौ। इत्यधिदैवतम्।

अथाध्यात्मम्। सप्त ऋषयः प्रतिहिताः शरीरे। षडिन्द्रियाणि विद्या सप्तम्यात्मनि। सप्त रक्षन्ति सदमप्रमादम्। शरीमप्रमाद्यन्ति। सप्तापनानीमान्येव स्वपतो लोकमस्तमितमात्मानं यन्ति। तत्र जागृतोऽस्वप्नजौ सत्रसदौ च देवौ प्राज्ञश्चात्मा तैजसश्च। इतयात्मगतिमाचष्टे।।[79]

इस व्याख्या में शब्दों के अर्थ अधिदेव और अध्यात्म के लिये इस प्रकार दिये गये हैं :-

शरीरे	–	आदित्ये	–	षडिन्द्रियाणि विद्या सप्तम्यात्मनि
सदम्	–	संवत्सरंम्	–	शरीरम्
ईयुः	–	आदित्यं यन्ति–		आत्मानं यन्ति

देवौ– वायु– आदित्यौ– प्राज्ञश्चात्मा तैजसश्च यह व्याख्या त्रुटिपूर्ण लगती है, अधिदेव और अध्यात्म की सही अवधारणा न होने से सब धालमेल कर दिया गया है। सप्तर्षियों को तो शरीर में आदित्य-रश्मियाँ माना जा सकता है, किन्तु अध्यात्मभाव में यह क्रम उलट दिया है शरीर में सप्तर्षि हैं न कि सप्तर्षि में शरीर, जबकि आचार्य इन्द्रिय-मन-आत्मा इन सात में विद्या को बता रहे हैं। खैर हम इसे उलट कर सही कर लेते हैं।– 'ज्ञानेन्द्रियाँ, मन और आत्मा विद्या में निहित हैं'। अब 'सदम्' अर्थात् घर की सातों रक्षा करते हैं; तब अधिदैवत रूप से यह धातुस्थान हो जाते हैं

78. वा. सं. 34:55
79. निरुक्त 12:37

जो संवत्सर के एक अङ्गरूप (उत्तरायण) हैं, किन्तु अध्यात्म रूप से यह पुनः शरीर कैसे हो जायेंगे ? तब तो यह ऊर्ध्व-द्युलोक या अमृत-लोक ही होंगे। क्योंकि –

य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्मिमाणः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ।।[80]

अर्थात् जो यह पुरुष प्रत्येक जलीय-उत्पाद (ओजस्, √कम् + णिङ् + अण्) को निर्माण करता हुआ सोने पर भी जागता रहता है, वही विशुद्ध तत्त्व है, वही ब्रह्म है, वही अमृत कहलाता है।

स्वप्नस्थानोऽन्तः प्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः
प्रविविक्तभुक् तैजसो दितीयः पादः।।

यत्र सुप्तो न कश्चन कामं कामयते न कश्चन
स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम्। सुषुप्तस्थान एकीभूतः
प्रज्ञानधन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक्चेतोमुखः
प्राज्ञस्तृतीयः पादः।।[81]

अर्थात् स्वप्न स्थान वाला अन्तकरण को जानने वाला, सात अङ्गों वाला, उन्नीस मुखों वाला, सूक्ष्म जगत् का भोक्ता, तैजस अर्थात् तेज से युक्त दूसरा पाद है।

जहाँ सोया हुआ किसी भी जलीय-उत्पाद की इच्छा नहीं करता, कोई स्वप्न नहीं देखता, वह सुषुप्तावस्था है। ऐसे सुषुप्तिस्थान रूप जो एकीरूप हो जाता है, जो प्रकृष्ट ज्ञान का योग है, इस प्रकार आनन्द से युक्त है, वस्तुतः आनन्द का भोक्ता है तथा चेतना की ओर मुख करने वाला है, वह प्राज्ञ तृतीय पाद है।

पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि।।[82]

---

80. कठोपनिषद् 2:2:8
81. माण्डूक्योपनिषद् 4-5
82. ऋग्वेद 10:90:3

अर्थात् इस पुरुष का एक पाद विश्व में (आ विश्व) है, और तीन पाद भूतों, दीप्ति, अमृत में है। (भूतानि = अधिभूत, दिवि = अधिदेव, अमृतं = अध्यात्म) (अधि उपसर्ग सप्तम्यान्त होने से 'आ' पर्याय और 'दिवि' में विभक्ति का वाचक है, द्वितीया विभक्ति के भूतानि और अमृतं सप्तमी के प्रयोग हैं)। और फिर, इसी क्रम में सदा जागने वाले दो देवता लौकिक रूप से ऊर्जा और गति, अधिभूत रूप से वाक् और प्राण, अधिदेव रूप से अग्नि और वायु, तथा अध्यात्म रूप से बृहस्पति और विष्णु होंगे; बृहस्पति[85] अर्थात् प्रयत्नों के स्वामी (वाचस्पति प्राणरूप) और विष्णु व्यापक आदित्यरूप वर्षाकारक आत्मा। ऐसी किसी भी व्याख्या में 'सप्तापः' सप्त धातुओं से प्राप्त ओजस् या निचोड़े हुये सोम के अतिरिक्त और कुछ नहीं हो सकते जो एकीकृत होकर ऊर्ध्व लोक को प्राप्त करते हैं, जिन्हें बृहस्पति संकलित एवं शुद्धीकृत करते हैं, और विष्णु व्यापक करते हुये जीवन के लिये उनकी वर्षा करते हैं। यही शुद्धतम उदक ज्ञान और जीवन (आनन्द) दोनों का कारण है, इसलिये यह यज्ञ का फल भी है और सत्ता की स्थिति भी (सत्रसदौ) है।

तिर्यग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नो यस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपम्।
अत्रासत ऋषयः सप्त साकं ये अस्य गोपा महतो बभूवुः।।[83]

तिर्यग्बिलश्चमस ऊर्ध्व बन्धन ऊर्ध्व बोधनो वा। यस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपम। अत्रासत ऋषयः सप्त सहादित्यरश्मयः। ये अस्य गोपा महतो बभूवुः। इत्यधिदैवतम्।

अथाध्यात्मम्। तिर्यग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबन्धन ऊर्ध्व बोधनो वा। यस्मिन्यशो निहितं विश्वरूपम्। अत्रासत ऋषयः सप्त सहेन्द्रियाणि। यान्यस्य गोप्तृधृणि महतो बभूवुः। इत्यात्मगतिमाचष्टे।।[84]

इस व्याख्या में पूर्व की भांति सप्तर्षयः का अधिदेव सम्बन्धी अर्थ 'आदित्यरश्मयः' तथा अध्यात्म सम्बन्धी अर्थ 'इन्द्रियाणि' किया गया है। निरुक्त में दिये हुये सैकड़ों मन्त्रों की व्याख्या में मात्र चार मन्त्र ही ऐसे

83. अथर्वेद 10:8:9
84. निरुक्त 12:38
85. देखें छान्दोग्योपनिषद 1:2:10-11

प्राप्त हुये जिनकी आधिदैविक और आध्यात्मिक व्याख्या की गई, और वह भी बार-बार आदित्यरश्मियों-इन्द्रियों-ज्योतियों-आदित्य-आत्मा आदि के परिमाण में ही। तब क्या अन्य मन्त्रों की आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक व्याख्या नहीं की जा सकती? लोक और पुरुष की, तथा पुरुष और लोक की समानतायें नितान्त सम्भव है, यदि वहाँ ऐसी व्याख्या की कोई भी गुञ्जायश हो। और यदि रूपक या अन्योक्ति या श्लेष बहुआयामी हो तो चारो पादों पर व्याख्या सम्भव है। इस प्रकार की व्याख्या में प्रत्येक स्तर के वैज्ञानिक तथ्य उपलब्ध हो सकते है। इनका सामान्य विस्तार इस प्रकार है :-

सर्वभूतानां कारणमकारणं सत्त्वरजस्तमोलक्षणमष्टरूपमखिलस्य जगतः सम्भवहेतुरव्याक्तं नाम।.... तस्मादव्यक्तान्महानुत्पद्यते तल्लिङ्ग एव। तल्लिङ्गाच्च महतस्तल्लक्षण एवाहङ्कार उत्पद्यते स त्रिविधो वैकारिकस्तैजसो भूतादिरिति। तत्र वैकारिकादहङ्कारात्तैजससहायात्तल्लक्षणान्येवैकादशेन्द्रियाण्युत्पद्यन्ते।.... भूतादेरपि तैजससहायात्तल्लक्षणान्येव पञ्च तन्मात्राण्युत्पद्यन्ते .... तेभ्यो भूतानि व्योमानिलानलजलोर्व्यः। ...... अव्यक्तं महानहङ्कारः पञ्च तन्मात्राणि चेत्यष्टौ प्रकृतयः शेषाः षोडश विकाशः। स्वः स्वश्चैषां विषयोऽधिभूतं, स्वयमध्यात्मम्। अधिदैवतम्- अथ बुद्धेर्ब्रह्मा अहङ्कारस्येश्वरः मनसश्चन्द्रमाः दिशः श्रोतस्य त्वचो वायुः सूर्यश्चक्षुषः रसनस्यापः पृथिवी घ्राणस्य वाचोऽग्निः हस्तयोरिन्द्र; पादयोविष्णुः पायोर्मित्रः प्रजापतिरुपस्थस्येति।।[86]

अर्थात् अव्यक्त संज्ञक (ऊर्जा) स्वयं अकारण है किन्तु सब भौतिक तत्त्वों का कारण है, वह सत्त्व, रज, तम गुणवाला आठ रूपों वाला तथा अखिल जगत की उत्पत्ति का हेतु है। उस अव्यक्त से महान उत्पन्न होता है जो उन्हीं सत्, रज, तम गुणों वाला है। महान् और उसके गुणों से वैसे ही लक्षण वाला अहंकार उत्पन्न होता है जो तीन प्रकार का-वैकारिक, तेजस तथा भूतादि- होता है। तब वैकारिक अहंकार से तैजस की सहायता पूर्वक उसके लक्षणों अर्थात् सात्त्विक भावों से युक्त ही एकादश इन्द्रियाँ उत्पन्न

86. सुश्रुत. शा. 1:3-10

होती हैं। भूतादि अहंकार से तैजस की सहायतापूर्वक उन्हीं तामस भावों से युक्त पाँच तन्मात्रायें उत्पन्न होती हैं, उनसे पञ्चहाभूत आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथिवी उत्पन्न होती है। अव्यक्त, महान, अहङ्कार, पाँच तन्मात्रायें ये आठ प्रकृतियां कहलाती है, शेष सोलह (ग्यारह इन्द्रियां और पाँच महाभूत) विकार कहलाते है, इनका अपना-अपना विषय अधिभूत है, स्वयं अध्यात्म हैं, अब अधिदेव यथाबुद्धि का ब्रह्मा, अहङ्कार का ईश्वर, मन का चन्द्रमा, श्रोत का दिशा, त्वचा का वायु, चक्षु का सूर्य, रसना का आप, घ्राणेन्द्रिय का पृथिवी, वाक् का अग्नि, हाथ का इन्द्र, पैर का विष्णु, पायु का मित्र, उपस्थ का प्रजापति है। यहाँ भूत, अधिभूत, अधिदेव और अध्यात्म ये चारों स्थितियाँ स्पष्ट कर दी गई हैं। जो अव्यक्त, महान् और अहङ्कार बतलाये गये हैं, वे ही अन्य मत से मन, बुद्धि, अहङ्कार कहे जाते हैं। जैसा हमने पहले बताया है मन मात्रा की मापक इकाई है, जब यह उस स्तर के नीचे होती है जहाँ अभिव्यक्त हो सके, तो अव्यक्त कहलाती है; 'तुच्छ्येनाभ्वपिहितं'[87] अर्थात् तुच्छ से जो अव्यक्त रूप में आकर वर्तमान हुआ। 'यदासीत्तपसन्महिना जायतैकम्' ऐसा जो था वह ताप के द्वारा विकसित होकर इकाई रूप हुआ। उसके गुण-कर्म रूप वाक् और प्राण उत्पन्न हुये, यही महान् और अहंङ्कार किंवा बुद्धि और अहङ्कार हैं। इनसे पाँच महाभूत उत्पन्न हुये। आत्मा के साथ ये तीन और पाँच मिलक वैशेषिक के नौ कारण द्रव्य होते हैं, जिनमें आत्मा और पञ्चहाभूतों का समवाय जीव की उत्पत्ति करता है और मन, बुद्धि, अहङ्कार समवायिकारण होते हैं। तब आत्मा (ऊर्जा), अव्यक्त, महान् और अहंकार ये सब भौतिक तत्त्व हुये। शरीर में जाकर ये आत्मा, मन, वाक्, प्राण और पञ्च तन्मात्रायें ये नौ होते हैं। इनसे ग्यारह इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं इन्द्रियाँ और मन, बुद्धि, अहङ्कार आध्यात्मिक हैं, इनके विषय संकल्प, ज्ञान, क्रिया, शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, वचन, आदान, विहरण, विसर्ग और आनन्द ये अधिभूत हुये। हमारे हिसाब से ये पञ्चतन्मात्राओं के वाचक और मन, वाक्, प्राण तथा इनके योग से उत्पन्न कर्मेन्द्रियाँ जो वचन (प्राण), आदान (उदान), विहरण (व्यान), विसर्ग (अयान) आनन्द (समान) रूप हैं आधिभौतिक हैं। इनके देवता ब्रह्मा, ईश्वर, चन्द्रमा, दिशा, वायु, सूर्य, आप, पृथिवी, अग्नि, इन्द्र, विष्णु, मित्र और प्रजापति आधिदैविक हैं। यथा-

87. ऋग्वेद 10:129:3

स वै वाचमेव प्रथमामत्यवहत्सा यदा मृत्युमत्यमुच्यत सोऽग्निरभवत्.....। अथ प्राणमत्यवहत्स यदा मृत्युमत्यमुच्यत स वायुरभवत्......। अथ चक्षुरत्यवहत्तद्यदा मृत्युमत्यमुच्यत स आदित्योऽभवत्....। अथ मनोऽत्यवहत्तद्यदा मृत्युमत्यमुच्यत स चन्द्रमा अभवत्....।[88]

अर्थात् उस प्रसिद्ध प्राण ने प्रथमा वाक् का अतिवहन किया उस वाक् ने जब मृत्यु (लोक) को पूरी तरह छोड़ दिया तो वह अग्नि हो गई। फिर प्राण का अतिवहन किया, उस ने जब मृत्युलोक को पूरी तरह छोड़ दिया तो वह वायु हो गया। फिर चक्षु का अतिवहन किया, उसने जब मृत्युलोक को पूरी तरह छोड़ दिया तो वह आदित्य हो गया। फिर श्रोत का अतिवहन किया, उसने जब मृत्युलोक को पूरीतरह छोड़ दिया, तो वह दिशा हो गया। फिर मन का अतिवहन किया, उसने जब मृत्युलोक को पूरी तरह छोड़ दिया तो वह चन्द्रमा हो गया। इत्यादि।

यहाँ जो यह मृत्युलोक है वह यह भौतिक शरीर रूप अधिभूत है, और इस शरीर को पूरी तरह छोड़ देने पर जब अधिदैविक सूक्ष्मशरीर में पहुँचते है तो देवस्वरूप होने से अधिदैवत रूप हो जाता है। इस प्रकार वाक् का अग्नि, प्राण का वायु, चक्षु का आदित्य, श्रोत का दिशा, मन का चन्द्रमा इत्यादि ठीक वैसे ही हैं जैसे सश्रुतसंहिता में कहे गये हैं। किन्तु थोड़ा सा भ्रम यही रहा है कि यहाँ चक्षु-श्रोत इन्द्रियों को भी मृत्युलोक छोड़ने की बात कही गई है, तब इन्द्रियाँ अधिभूत हुईं, किन्तु भ्रम इन्द्रिय, इन्द्रिय-गोलक और इन्द्रियार्थ के बीच जान पड़ता है। इन्द्रियार्थ तो भौतिक प्रभाव हैं जो शरीर में आकर निस्संदेह अधिभूत हो जायेंगे, परन्तु इन्द्रियां तो अध्यात्म हैं, जबकि इन्द्रियगोलक भी अधिभूत ही रहते हैं। इस प्रकार मन, वाक्, प्राण, पञ्चतन्मात्राये, इन्द्रिय गोलक आँख, कान, नाक, रसना, त्वचा, जिह्वा हाथ, पैर, गुदा और शिश्न ये सब आधिभौतिक हैं। यह स्थिति इससे और अधिक स्पष्ट हो जाती है जब 'अधि' उपसर्ग लगने से क्या मतलब होता है, यह जाना जाय। यथा-

---

88. बृहदारण्यकोपनिषद् 1:3:12-16

पृथिवी पूर्वरूपम्। द्यौरुत्तररूपम्। आकाशः संधिः।
वायु संधानम्। इत्यधिलोकम्।।
अथाधिज्योतिषम्। अग्निः पूर्वरूपम्। आदित्य उत्तररूपम्।
आपः सन्धिः। वैद्युतः संधानम्।[89]

अर्थात् पृथिवी लोक पूर्वरूप है, द्युलोक उत्तररूप है, अन्तरिक्ष लोक दोनों को जोड़ने वाला है, वायु इन सबको सम्यक् धारण करने वाला हैं, ऐसा लोकों का अध्ययन है।

अब ज्योतिष्मानों (देवताओं) का अध्ययन किया जाता है। अग्नि पूर्वरूप है, आदित्य उत्तररूप है, जल इन दोनों को जोड़ने वाला है, विद्युत से इन सब का सम्यक धारण है।

इसकी व्याख्या के लिये हिरण्यगर्भ सूक्त के इन अंशों को और समझना होगा–

स दाधार पृथिवीं द्यामुतेमाम्।[90]
या देवेष्वधिदेव एक आसीत्।[91]

अर्थात् उसने पृथिवी, द्युलोक और इस अन्तरिक्षलोक को धारण किया। तथा जो सम्पूर्ण देवों में (आ देवेषु) एक अधिदेव था (वह हिरण्यगर्भ)

तब, यह स्पष्ट हो जाता है कि उपर्युक्त औपनिषदिक अंशों में वायु और विद्युत अधिदेव हैं, (पृथिवी में अग्नि, द्युलोक में आदित्य, और अन्तरिक्ष में जल का वास है)। अधिभूत, अधिदेव और अध्यात्म की अवधारणायें इस प्रकार स्पष्ट हो जाने के बाद अब हम एक औपनिषदीय कथा के रहस्य को खोलेंगे :–

देवासुरा ह वै यत्र संयेतिर उभये प्राजापत्यास्तद्ध देवा उद्गीथमाजहुरुरनेनैनानभिभविष्याम इति।

ते ह नासिक्यं प्राण मुद्गीथमुपासांचक्रिरे। तं हासुराः पाप्मना विविधुस्तस्मात्तेनोभयं जिघ्रति सुरभि च दुर्गन्धि च पाप्मना ह्येष

---

89. तैत्तरीयोपनिषद् 1:3 का अंश
90. ऋग्वेद 10:121:1
91. ऋग्वेद 10:121:8

विद्धः।

अथ ह वाचमुद्गीथमुपासांचक्रिरे। तां हासुराः पाप्मना विविधुस्तस्मात्तयोभयं वदति सत्यं चानृतं च पाप्मना ह्येषा विद्धा।

अथ ह चक्षुरुद्गीथमुपासांचक्रिरे। तद्धासुराः पाप्मना विविधुस्तस्मात्तेनोभयं पश्यति दर्शनीयं चादर्शनीयं च पाप्मना ह्येतद्विद्धम्।

अथ ह श्रोत्रमुद्गीथमुपासांचक्रिरे। तद्धासुराः पाप्मना विविधुस्तस्मात्तेनोभयं श्रृणोति श्रवणीयं चाश्रवणीयं च पाप्मना ह्येतद्विद्धम्।

अथ ह मन उद्गीथमुपासांचक्रिरे। तद्धासुराः पाप्मना विविधुस्तस्मात्तेनोभयं संकल्पयते संकल्पनीयं चासंकल्पनीयं च पाप्मना ह्येतद्विद्धम्।

> अथ ह य एवायं मुख्यः प्राणस्तमुद्गीथमुपासांचक्रिरे।
> तं हासुरा ऋत्वा विदध्वंसुर्यथाश्मानमाखणमृत्वा विध्वंसेत।।[92]

अर्थात् दोनों प्राजापत्य देवगण और असुरगण वस्तुतः ही जहाँ साथ–साथ विकसित हुये या प्रयत्नशील हुये, वहाँ वस्तुतः देवगण 'हम इसके द्वारा इन असुरों को पिछाड़ देगे' ऐंसा (सोचकर) उद्गीथ (ऊर्ध्व में जाने वाले, ओजस् या उदक – 'यदन्नेनातिरोहति') को सर्वतः ले चले।

वस्तुतः उन्होंने घ्राण से सम्बन्धित प्राण को उद्गीथ के समीप बैठने (स्थित होने) के लिये बनाया। उनको असुरों ने वस्तुतः पी लेने वाले (पाप) से विद्ध कर दिया, इससे वह दोनों सुगन्ध और दुर्गन्ध, सूंघता है, क्योंकि वह पाप से विद्ध है।

फिर उन्होंने वाणी को उदगीथ के समीप स्थित होने के लिये बनया। उसको असुरों ने वस्तुतः पाप से विद्ध कर दिया, इससे वह दोनों सत्य और झूठ को बोलती है, क्योंकि वह पी लेने वाले पाप से विद्ध है।

फिर उन्होंनें चक्षु को उद्गीथ के समीप स्थित होने के लिये बनाया। उसको असुरों ने वस्तुतः पी लेने वाले पाप से विद्ध कर दिया, इससे वह दोनों दर्शनीय और अदर्शनीय को देखता है, क्योंकि वह पी लेने वाले पाप से विद्ध है।

फिर उन्होंने श्रोत्र को उद्गीथ के समीप स्थित होने के लिये बनाया।

92. छान्दोग्योपनिषद् 1:2:1-7, यही कथा देखें बृहदारण्यकोपनिषद 1:3

उसको असुरों ने वस्तुतः पी लेने वाले पाप से विद्ध कर दिया, इससे वह दानों सुनने योग्य और न सुनने योग्य को सुनता है, क्योंकि वह पी लेने वाले पाप से विद्ध है।

फिर उन्होंने मन को उद्गीथ के समीप स्थित होने के लिये बनाया। उसको असुरो ने वस्तुतः पी लेने वाले पाप से विद्ध कर दिया, इससे वह दोनों संकल्पनीय और असंकल्पनीय को संकल्पित करता है, क्योंकि वह पी लेने वाला पाप से विद्ध है।

फिर उन्होंने जो यह मुख्य प्राण है उसको ही उद्गीथ के समीप स्थित होने के लिये बनाया। वस्तुतः असुरगण उसको प्राप्त करके उसी प्रकार नष्ट, हो गये जैसे कुदाल[93] पाषाण को पाकर टूट जाती है।

इस उपनिषद् में यह कथा आध्यात्मिक बताई गई है। तब, इसकी व्याख्या में भौतिक से लेकर आध्यात्मिक स्थितियों तक का वर्णन करना आवश्यक हो जाता है। मन के स्तर पर ऊर्जा की अभिव्यक्ति रश्मि में होती है– 'तिरश्चीनो विततो रश्मि'; इसके पूर्व, जब मन की प्रथम प्राप्ति (√री + असुन्) हुई तो पहले अधिजलीय (अधिकामः) ऊर्जा सम्यक् रूप से वर्तमान हुई– 'कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसोरेतः प्रथमं यदासीत्'; तब, नीचे प्राप्त करने वाले उदक थे और ऊर्ध्व में विकास से युक्त प्रकृष्ट प्रयत्नशील थे– 'रेतोधा आसन्महिमान आसन्त्स्वधा अवस्थात्प्रयतिः परस्तात्' इति।[94] इसकी व्याख्या यह है कि अभिव्यक्ति में रश्मि फैल गई, रश्मि दीप्ति और गति से युक्त होती है, ये भौतिक या लौकिक हैं। आधिभौतिक स्तर पर ये वाक् और प्राण हो जाते है, जबकि सूर्य या आत्मा ऊर्जास्वरूप है, तथा भौतिक मन आधिभौतिक 'सत्त्व' हो जाता है। आधिदैविक स्तर पर ऊर्जा आदित्य, मन प्रजापति, वाक् अग्नि और प्राण वायु रूप देवगण हो जाते हैं। उपर्युक्त कथा में प्राण असुरगण तथा दीप्तिमान देवगण बताये गये हैं। ये दोनों मन की सृष्टि के कारण प्राजापत्य हैं। ये दोनों साथ-साथ विकसित हुये या उत्पादन के लिये प्रयत्नशील हुये। देव असुरों को पिछाड़ने के लिये ऊर्ध्व में जाने वाले ओजस् को ले चले। किन्तु दीप्तियाँ जहाँ जल (सोम) को

93. 'आखण' शब्द 'आ' उपसर्ग पूर्वक 'खन्' धातु में 'अच्' प्रत्यय से बनता है, और इसके अर्थ खंती या कुदाल होते हैं, किन्तु आचार्य शङ्कर ने भाष्य में 'मिट्टी का ढेला' बताया है जिससे हमारा मतैक्य नहीं है, हम से श. कौ. के कोष पर अधिक विश्वस्त है।। देखें- शाङ्कर भाष्य छान्दोग्योपनिषद् तथा संस्कृत शब्दार्थ को स्तुभ पृ. 174

94. देखें ऋग्वेद 10:129:4-5

निचोड़ती हैं, वहीं वे उसे पी भी लेती हैं, यही पाप है। देवों ने मन सहित ज्ञानेन्द्रियों को ओजस् के समीप स्थित होने योग्य बनाया, क्योंकि ओजस् ज्ञान का भी आधार है, किन्तु ये देवता सोमपा होने के कारण पाप से विद्ध हो गये और इनका ज्ञान विशुद्ध नहीं रहा, इसलिये ये देवता प्राणों के बिना ओजस् को अतिरोहण हेतु परिष्कृत नहीं कर पाये। तब देवगणों ने मुख्यप्राण अर्थात् बृहस्पति को ओजस् के समीप स्थित होने के लिये बनाया, उसमें सभी प्राण (असुरगण) समाहित हो गये। आगे के मन्त्रों से यह स्पष्ट है–
तं हाङ्गिरा उद्गीथमुपासांचक्र एतमु एवाङ्गिरसं मन्यन्तेऽङ्गानां यद्रसः।।

तेन तं ह बृहस्पतिरुद्गीथमुपसांचक्र एतमु एव बृहस्पतिं मन्यन्ते वाग्धि बृहती तस्या एषा पतिः।।[95]

अर्थात् वस्तुतः अङ्गिरा (अंगारों या दीप्तियों या देवताओं) ने उस प्राण को उद्गीथ के समीप स्थित किया, तब उस उदगीथ् को ही जो अङ्गों का रस है अङ्गिरस मानते हैं।

वस्तुतः इस (अङ्गिरा) से बृहस्पति ने उस (प्राण) को उद्गीथ के समीप स्थित किया, तब उस (प्राण) को ही जो यह उसका पति है जो वाक् ही बृहती (विकसित) है बृहस्पति मानते हैं। वेद में यह बताया गया है कि निचोड़े हुये सोम के संकलन और शुद्धीकरण का कार्य रश्मि द्वारा होता है तभी यह ऊर्ध्व में अतिरोहण करके मूलउदक का भाग बन जाता है। इस परिप्रेक्ष्य में उपर्युक्त औपनिषदीय मन्त्रों के अर्थ स्पष्ट हो जाते हैं। देवगण अपनी दीप्ति–दान से रश्मि को ऊर्जायुक्त करते हैं, और मुख्य प्राण बृहस्पति ही जो प्रयत्नों के स्वामी है। बढ़ी हुई वाक् (ऊर्जा) के स्वामी बन कर सोम का शुद्धीकरण करते हैं। अङ्गिरा और बृहस्पति ही इस कारण वाक् और प्राण किंवा दीप्ति और गति, या देवगण और असुरगण के प्रतीक आध्यात्मिक रूप हैं।

अब इस आख्यान में एक वैज्ञानिक प्रक्रिया छिपी हुई है। वह यह है कि पाक प्रक्रिया के अन्तर्गत अग्नि परिपाक करने वाला और वायु धातुओं को आगे बढ़ाने वाला होता है, किन्तु परिपाक में अग्नि धातुओं के कुछ भाग को खा लेता है। इसी प्रकार धातुओं से रस (सोम) निचोड़ने में आदित्य कार्य

95. छान्दोग्योपनिषद् 1:2:10–11

करता है और मरुद्गण उसे आगे बढ़ाते जाते हैं किन्तु ये देवगण सोम का कुछ भाग पी जाते हैं। इस प्रकार उसका संकलन होने पर भी वह अपक्वरूप ही रहता है जब तक दीप्तियों से युक्त प्राण अर्थात् अङ्गिरा और बृहस्पति उसे शुद्ध नहीं करते, और शुद्ध होकर ही वह ऊर्ध्व में जाने वाला अर्थात् उद्गीथ होता है, जहाँ जाकर वह शुक्र अमृत और ब्रह्म स्वरूप हो जाता है।

इस प्रकार यह निश्चित है कि वैदिक परम्परा में प्रतीकों के माध्यम से वैज्ञानिक तथ्यों, नियमों और प्रक्रियाओं के वर्णन गोपनीय रूप से रचे गये हैं। हम इनका व्याख्या और समीक्षापूर्वक उद्घाटन कर सकने में समर्थ हो सकते हैं जिससे तमाम वैज्ञानिकता के उद्घाटन की सम्भावनायें उजागर होती हैं। इसी हेतु से अगले अंश में हम व्याख्यायें प्रस्तुत करेंगे।

(ग) ऋग्वेद दशम मण्डल में प्रतीकात्मकता में निमग्न परोक्ष वैज्ञानिक तथ्य एवं सिद्धान्त :

इस अंश में हम उन सूक्तों की व्याख्या करेंगे जिनमें प्रतीकात्मकता पूर्वक वैज्ञानिक तथ्य प्रतिपादित किये गये हैं। सर्वप्रथम हम दशममण्डल के 125 वें देवी-सूक्त, जिसे वाक्यसूक्त और आत्मसूक्त भी कहते हैं का निरूपण करेगे। इस सूक्त को 'स्वयं के सम्बोधन'[९६] के रूप में प्रस्तुत किया गया है, किन्तु किसी भी मन्त्र में अपना परिचय नहीं दिया गया है। 'वाक्सूक्त' के अर्थ में यह देवी 'वाणी' नहीं जान पड़ती और 'वाक्' के लिये महाभारत[९७] की व्याख्या 'मन का जङ्गम रूप' भी उचित नहीं बैठती, क्योंकि मन की रचना के पूर्व यह स्थित थी। इसे 'आत्म-तत्त्व' कहा जा सकता है, जो माण्डूक्योपनिषद्[९८] में व्याख्यायित तुरीयपाद आत्मा की स्थिति वाला है। सूक्त का आत्म-संम्बोधन स्त्रीलिङ्ग में होने से इसे देवी-सूक्त कहना अधिक उचित है। इसके एक मन्त्र में 'अहं राष्ट्री' शब्द आने से '√राज्+ष्ट्रन्+ङीष्' व्युत्पत्ति से 'प्रकाशित होने वाली' अर्थ में हम इसे ऊर्जा मानते हैं। 'वाक्' शब्द 'वा' धातु से या 'वश्' धातु से आघात करना या प्रकाशित होना अर्थ में भी ऊर्जा का रूप ही लेता है, वा (जल) से भी कतूर्थक रूप में यह शब्द जलीयऊर्जा के लिये बन सकता है।

---

96. देखे निरुक्त 7:1
97. महाभारत आश्व. 21-16-26
98. माण्डूक्योपनिषद मन्त्र 7

देवी सूक्त

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः।
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा।।
अहं सोममाहनसं बिभर्म्यहं त्वष्टारमुत पूषणं भगम्।
अहं दधामि द्रविणं हविष्यते सुप्राव्ये यजमानाय सुन्वते।।
अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्।
तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तीम्।।
मया सो अन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणिति य ईं श्रृणोत्युक्तम्
अमन्तवो मां त उप क्षियन्ति श्रुधि श्रुत श्रद्धिवं ते वदामि।।
अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः।
यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम्।।
अहं रुद्राय धनुरा तनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ।
अहं जनाय समदं कृणोम्यहं द्यावापृथिवी आ विवेश।।
अहं सुवे पितरमस्य मूर्धन् मम योनिरप्स्वन्तः समुद्रे।
ततो वि तिष्ठे भुवनानु विश्वोतामूं द्यां वर्ष्मणोप स्पृशामि।।
अहमेव वात इव प्र वाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा।
परो दिवा पर एना पृथिव्यैतावती महिना सं बभूव।।[99]

अर्थात् मैं (ऊर्जा) समस्त जङ्गम रश्मियों और स्थावर दीप्तियों द्वारा संचरित होती हूँ। मैं निर्माण और विस्तार, ज्योति और ताप, तथा कान्ति और शोभा का आधार हूँ।।

मैं क्षरित न होने वाले, पोषण करने वाले और प्रकाश में चलने वाले सोम (दिव्य-जल) का आधार हूँ। मैं प्रक्रियावान् होता, उद्‌गाता, ब्रह्मा और अध्वर्यु के लिये उत्पादों के धारण करने वाली हूँ। [यहाँ होता (हविष्मान्) प्रक्रिया को प्रारम्भ करने (√हृ) वाले उपादानों से युक्त (√हुड्), उद्‌गाता आगे बढ़ने वाला, (√अव), ब्रह्मा (आ ब्रह्म अर्थात् सम्पूर्ण विकास से युक्त प्रक्रियावान् (यजमान), तथा अध्वर्यु अर्थात यज्ञ प्रक्रिया से युक्त या अन्तरिक्ष से युक्त या अध्ययन से युक्त[100] या श्रेष्ठ (अ √ध्वर् + अच) से युक्त अर्थात्

99. ऋग्वेद 10:125: 1-8
100. निरुक्त 1:8

दिव्य जल से युक्त या सोम की ही बात कही गई हैं]।।

मैं सर्वाधिक दात्री प्रकाशित होने वाली, धातुओं के साथ चलने वाली और दीप्तियों (देवताओं)[101] का प्रथम ज्ञान करने वाली हूँ। उस अग्रिम स्थान वाली, अनेक रूपों में अवस्थित, सबकुछ अपने भीतर निवेशित करने वालीमुझ को दीप्तियाँ विशेषरूप से धारण करती हैं।।

सुनो! विकास की धारणा से प्राप्त होने वाले [श्रद्धिवं = श्रत् + धा+ कि + व, सत्ता के योग्य की धारणा से प्राप्त होने वाले 'श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि'[102] अर्थात् उत्पाद की चोटी पर हम ज्ञान से (वाणी से) श्रद्धा को जतलाते है] ज्ञान को तुम्हें बतलाती हूँ। जो विशेषतः देखता है, जो आगे बढ़ता है, जो इस कहे हुये ज्ञान को सुनता है वह मेरे द्वारा अन्न को खाता है। मुझे न विचार करने वाले (या न मानने वाले) हैं वे हीनता को प्राप्त होते हैं।

मैं स्वयं ही दीप्तियों के द्वारा और मानुषी स्थितियों (रसादि धातुओं) द्वारा इस सेवा का निर्देश करती हूँ तथा उस सम्पूर्ण धन (उत्पाद) को, उस पार जाने वाले जल को, उस अच्छे ज्ञान को, जिसको मैं चाहती हूँ उा-उस को प्रचण्ड बनाती हूँ।

मैने अन्तरिक्ष में प्रवेश किया है, मैं उत्पन्न होने वाले को आनन्द से पूर्ण करती हूँ। उत्पाद के विरोधी और हिंसक को मारने के लिये मैं वेग के हेतु अन्तरिक्ष का सर्वतः विस्तार करती हूँ।।

तब समस्त जलों में (भुवना)[103] पहले ही (उ)[104] स्वाँस लेती हुई (अन्) विशेषतः स्थित होती हूँ। समुद्र के भीतर जलों पर इस समुद्र की (अस्य) मूर्धा (अर्थात् तल) मेरी योनि है, मैं वीर्यवान् से आलिङ्गन करती हूँ (वर्ष्मणा उप स्पृशामि), मैं विस्तारशील (पितरम्) प्राण को और इस दीप्ति को (वाक्) (अमूंद्याम्) उत्पन्न करती हूँ। [देखें उ अन् औ प्रअन् पहले स्वाँस लेना के अर्थ में हैं तथापि प्राण आगे जाने वाला भी है]।।

इतने बड़े परिणामवाली मैं आकश से पहले, इन पृथिव्यादि लोकों से पहले, उदक के द्वारा सम्यक् वर्तमान हुई थी। मैं ही समस्त लोकों को उत्पन्न करती हुई वायु की तरह बहती हूँ।।

इस देवी सूक्त का जो अनुवाद ऊपर प्रस्तुत किया गया है उसमें

101. सं. श. कौ. पृ. 949
102. ऋग्वेद 10:151:1
103. निघुण्टु 1:12:50
104. वैदिक व्याकरण पृ. 292

प्रतीकों को सामान्य शब्दों में उद्घाटित करते हुये वेदार्थ के लिये मन्त्रों के रहस्य खोल दिये गये है। फलतः हमें इस सूक्त में एक वैज्ञानिक विवरण प्राप्त हो गया है। इसे क्रम से लगाने पर ऊर्जा के जन्म, कर्म और विभूति पर प्रकाश पड़ता है :-

महान परिमाण, वाली ऊर्जा आकाश से पहले और पृथिवी आदि लोकों से पहले उदक-समुद्र द्वारा सम्यक् वर्तमान हुई थी; वह ही समस्त लोकों को उत्पन्न करती हुई वायु की तरह बहती है।

ऊर्जा तब समस्त जलों में पहले ही स्वाँस लेती हुई विशेषतः स्थित हुई। समुद्र के भीतर जलों पर समुद्र की चोटी अर्थात् ऊपरी तल मानो ऊर्जा की योनि है, जिसमें वह वीर्यवान् से आलिङ्गन करती है, ओर यमज प्राण और वाक् को उत्पन्न करती है। यह वीर्यवान् कौन है, यह इस सूक्त में स्पष्ट नहीं है। यह विषय नासदीय सूक्त से मिलता हुआ होने कारण इसकी व्याख्या वहाँ से लेना उचित होगा। 'आनीदवातं स्वधया तदेकं'[105] वह एक वायुरहित थी जिसने उदक द्वारा स्वाँस ली। अब प्रश्न है- 'किमावरीवः कुहकस्य शर्म्मन्नम्त्रः किमासीत् गहनंगभीरम्'[106] अर्थात् गहन-गभीर आधार कौन था, जाल के आवरण की भांति झुका हुआ कौन था? उत्तर है- 'तमासीत् तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्'[107] अर्थात् तमथा, पूर्वकाल में तम से निगूढ इस सम्पूर्ण से युक्त निष्क्रिय सलिल था। तो, जब तम और सलिल दो ही थे तो स्त्रीरूप सलिल के लिये तम अर्थात् नियामिकावृत्ति ही एकमात्र वीर्यवान् मर्द था। तब सत् (ऊर्जा) और तम के संयोग से संचालिकावृत्ति रजस् का जन्म हुआ जो ही यमज रूप में गतिमान् प्राण और जङ्गम वाक् हैं। नियामिका वृत्ति निर्माण (उत्पादन) का हेतु है और प्रकाशिका वृत्ति (सत्) ज्ञान और सत्तात्मकता का हेतु है।

ऊर्जा ने द्यावापृथिवी के बीच अन्तरिक्ष में प्रवेश किया है। ऊर्जा यहाँ उत्पन्न होने वालों को आनन्द से युक्त करती है। उत्पाद के विरोधी और हिंसा करने वाले के लिये वह वेग के हेतु अन्तरिक्ष का सर्वतः विस्तार करती है।

ऊर्जा सर्वाधिक देनेवाली या प्रकाशित होने वाली, धातुओं के साथ (अग्नि रूप से) चलने वाली, और दीप्तियों का प्रथम ज्ञान करने वाली है।

105. ऋग्वेद 10:129:2
106. ऋग्वेद 10:129:1
107. ऋग्वेद 10:129:3

उस अग्रिम स्थान वाली, अनेक रूपों में अवस्थित, सब कुछ अपने भीतर निवेषित करने वाली ऊर्जा को दीप्तियाँ विषेश रूप से धारण करती हैं।

ऊर्जा समस्त जङ्गम रश्मियों और स्थावर (सापेक्ष) दीप्तियों द्वारा संचारित होती है; वह निर्माण और विस्तार, ज्योति और ताप, तथा कान्ति और शोभा का आधार है।

ऊर्जा क्षरित न होने वाले, पोषण करने वाले, और प्रकाश में चलने वाले सोम (ओजस्) का आधार है। ऊर्जा प्रक्रिया को प्रारम्भ करने वाले उपादानों से युक्त के लिये, आगे बढ़ाने वाले के लिये, प्रक्रिया करते हुये के लिये, और सोम निचोड़ने वाले के लिये उत्पादन को धारण करती है।

ऊर्जा स्वयं ही दीप्तियों के द्वारा और मानुषी स्थितियों (रसादिधातुओं) द्वारा इस सेवा का निर्देश करती है, तथा उस सम्पूर्ण उत्पाद को, उस पार जाने वाले जल (ओजस्) को, उस अच्छे ज्ञान को, जिसको भी वह चाहती है उस-उस को प्रचण्ड बनाती है।

सुनो! विकास की धारणा से प्राप्त होने वाले ज्ञान को बताया जा रहा है- जो विशेषतः देखता है, जो आगे बढ़ता है, जो इस कहे हुये ज्ञान को सुनता है वह ऊर्जा के द्वारा उत्पाद का भोग करता है। ऊर्जा को न मानने वाले हीनता को प्राप्त होते हैं।

शची-सूक्त

उदसौ सूर्यो आगादुदयं मामको भगः।
अहं तद्विद्वला पतिमभ्यसाक्षि विषासहिः।।
अहं केतुरहं मर्धाहमुग्रा विवाचनी।
ममेदनु क्रतुं पतिः सेहानाया उपाचरत्।।
मम पुत्रा शत्रुहणोऽथो मे दुहिता विराट्।
उताहमस्मि सञ्जया पत्यौ मे श्लोक उत्तमः।।
येनेन्द्रो हविषा कृत्व्यभवद् द्युम्न्युंत्तमः।
इदं तदक्रि देवा असपत्ना किलाभुवम्।।
असपन्ता सपत्नंघ्नी जयन्त्यभिभावरी।
आवृक्षमन्यासां वर्चो राधो अस्थेयसोमिव।।

समजैषमिमा अहं सपत्नीरभिभूवरी।
यथाहमस्य वीरस्य विराजानि जनस्य च।।[108]

ऊर्ध्व में वह निचोड़ने वाला (सूर्य), ऊर्ध्व में यह मेरा ऐश्वर्यरूप उत्पाद (ओजस्) गया है। मैने उड़ान या गति को सम्मुख जीता है विशेषतः अपने वश में किया है; मैं उसको जानने वाली शक्ति हूँ।।

मैं रश्मि हूँ, मैं मूर्धा हूँ मैं तीक्ष्ण विवेचनशीला विद्या हूँ। गति मेरा ही अनुगमन करती है, निर्माण करने के लिये (मुझ) उद्योग करने वाली के साथ प्राप्त किया करती है।।

मेर गमनशील (ओजस्) शत्रु का नाश करने वाले हैं। इसके अतिरिक्त मेरे लिये निचोड़ने वाली (सूर्य-रश्मियाँ) विशेषतः चमकने वाली हैं, और मैं सम्यक् विजय-शीला हूँ। मेरी ऊर्ध्वतम प्राप्ति उड़ान (गति) में है।।

जिन जलों के द्वारा उत्पादों को बनाकर के इन्द्र (मन) श्रेष्ठतम हुये हैं, वही यह दीप्तिमान् सर्वतः मैंने बनाया है। अवश्यमेव मैं शत्रु या प्रतिद्वन्दी से रहित हुई हूँ।।

विजय करती हुई पराजित करने वाली, शत्रु का संहार करने वाली, प्रतिद्वन्दीरहित हूँ। दूसरे बिना रुके जाने वालों की भांति आवृत्त करने वाले (नाडी जाल) सहित शक्ति को पूर्ण करने वाली हूँ।।

मैंने इन शत्रुओं को भली प्रकार जीता है; उसी प्रकार मैं इस वीर्यवान (ओजस्) की और विशेष चमकने वाले उत्पाद (ज्ञान) की वश में करने वाली हूँ।।

जैसे ऊपर देवीसूक्त की ऋषि वाक् और देवता परमात्मा है, इसकारण ही उसको वाक्सूक्त और आत्मसूक्त भी कहा जाता है; ठीक इसी प्रकार शचीसूक्त की ऋषि और देवता दोनों शची पौलोमी है। 'शची' निघण्टु[109] के अनुसार वाक् अर्थात् ऊर्जा है। इस प्रकार इस शचीसूक्त की विषयवस्तु भी देवीसूक्त के समान ही है। प्रतीकों को खोलने के उपरान्त जो रहस्यभेदन हुआ है उसने यह स्पष्ट कर दिया है कि ऊर्जा के जन्म-कर्म-विभूति का ही इस सूक्त में भी समावेश होता है। इन्द्र-इन्द्राणी संवाद रूप में ऋग्वेद दशम मण्डल का सूक्त छयासी भी इसी सन्दर्भ में मननीय हैं। देखें-

---

108. ऋग्वेद 10:159:1-6
109. निघण्टु 1:11:49; 3:9:8

इन्द्र-इन्द्राणी संवाद सूक्त

वि हि सोतोरसृक्षात नेन्द्रं देवममंसत।
यत्रामदद्वृषाकपिरर्यः पुष्टेषु मत्सखा विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः।।
परा हीन्द्र धावसि वृषाकपेरति व्यथिः।
नो अह प्र विन्दस्यन्त्र सोमपीतये, विश्व०।। (ध्रुवपद)
किमयं त्वां वृषाकपिश्चकार हरितो मृगः।
यस्मा इरस्यसीदुन्वर्यो वा पुष्टिमद्वसु।। ध्रुव.
यमिमं त्वं वृषाकपिं प्रियमिन्द्राभिरक्षसि।
श्वान्वस्य जम्भिषादपि कर्णे वराहयुः।।ध्रुव.
प्रिया तष्टानि मे कपिर्व्यक्ता व्यदूदुषत्।
शिरान्वस्य राविषं न सुगं दुष्कृते भुवम्।।ध्रुव.
न मत्स्त्री शुभसत्तरा न सुयाशुतरा भुवत्।
न मत्प्रतिच्यवीयसी न सक्थ्युद्यमीयसी।।ध्रुव.
उवे अम्ब सुलाभिके यथेवाङ्ग भविष्यति।
भसन्मे अम्ब सक्थि मे शिरा मे वीव हृष्यति।।ध्रुव.
किं सुबाहो स्वङ्गुरे पृथुष्टी पृथुजाघन।
किं शूरपत्नि नस्त्वमभ्यमीषि वृषाकपिम्।। ध्रुव.
अवीरामिव मामयं शरारुरभि मन्यते।
उताहमस्मि वीरिणीन्द्रपत्नी मरुत्सखा।ध्रुव.
संहोत्रं स्म पुरा नारी समनं वाव गच्छति।
वेधा ऋतस्य वीरिणीन्द्रपत्नी महीयते।।ध्रुव.
इन्द्राणीमासु नारिषु सुभगामहमश्रवम्।।
नह्यस्या अपरं चन जरसा मरते पतिः।।ध्रुव.
नाहमिन्द्राणि रारण सख्युर्वृषाकपेर्ऋते।
यस्येदमप्यं हविः प्रियं देवेषु गच्छति।।ध्रुव.
वृषाकपायि रेवति सुपुत्र आदु सुस्नुषे।
घसत्त इन्द्र उक्षणः प्रियं काचित्करं हविः।।ध्रुव.
उक्षणो हि मे पञ्चदश साकं पचन्ति विंशतिम्।
उताहमद्मि पीव इदुभा कुक्षी पृणन्ति मे।।ध्रुव.

वृषभो न तिग्मशृङ्गोऽन्तर्यूथेषु रोरुवत्।
मन्थस्त इन्द्र शं हृदे यं ते सुनोति भायुः।।ध्रुव.
न सेशे यस्य रम्बतेऽन्तरा सक्थ्या कपृत्।
सेदोशे यस्य रोमशं निषेदुषी विजृम्भते।।ध्रुव.
न सेशे यस्य रोमशं निषेदुषी विजृम्भते।
सेदोशे यस्य रम्बतेऽन्तरा सक्थ्या कपृत्।।ध्रुव.
अयमिन्द्र वृषाकपिः परस्वन्तं हतं विदत्।
असि सूनां नवं चरुमादेधस्यान आचितम्।।ध्रुव.
अयमेमि विचाकशद्विचिन्वन्दासमार्यम्।
पिबामि पाकसुत्वनोऽभि धीरमचाकशम्।। ध्रुव.
धान्व च यत्कृन्तत्रं च कति स्वित्ता वि योजना।
नेदीयसो वृषाकपेऽस्तमेहि गृहाँ उप।। ध्रुव.
पुनरेहि वृषाकपे सुविता कल्पयाव है।
य एषः स्वप्ननंशनोऽस्तमेषि यथा पुनः।।ध्रुव.
यदुदञ्चो वृषाकपे गृहमिन्द्राजगन्तन।
क्व स्य पुल्वधो मृगः कमगञ्जनयो पनो।।ध्रुव.
पर्शुर्ह नाम मानवी साकं ससूव विंशतिम्।
भद्रं भल त्यस्या अभूद्यस्या उदरमामयत्।।ध्रुव.।।[110]

अर्थात् हे गतिशील स्वामी। जहाँ मुझ से समान परिवेश वाला रश्मिवृष्टिकर्त्ता सूर्य पुष्टियों में आनन्दित हुआ, वहाँ ही उस ऊर्जा ने निर्माण प्रक्रिया से ऐश्वर्यवान् इन्द्र (मन) को विशेषतः बनाया, दीप्तियों से युक्त का विचार नहीं किया।। इन्द्र सबसे श्रेष्ठ है।। ध्रुव.।।

हे इन्द्र! रश्मियों की वर्षा से कांपनेवाले सूर्य से अत्यधिक सूखने वाले तुम वस्तुतः ऊर्ध्व में भागते हो। सोम पीने के लिये हमारे विस्तार को अन्य स्थान पर आगे प्राप्त करते हो।।ध्रुव.।।

हे गतिशील स्वाममममी! इस ले जाते हुये खोजी सूर्य ने आपको क्या किया है जिसके लिये पुष्टि से युक्त वास करने ाले जल को उदारतापूर्वक अब बिलकुल प्रेरित करते हो।।ध्रुव.।।

हे इन्द्र! आप इस सूर्य को सन्तुष्ट करने वाले जिन जलों को सम्मुख

110. ऋग्वेद 10:86:1-23

रक्षा करते हो, इसको विकास करने वाली ऊर्जारश्मि अब मेघ से युक्त घेरे में भी नाश किया करती है।।ध्रुव.।।

सूर्य ने मेरे गढ़े हुये सन्तोषजनक व्यक्त रसादि धातुओं को विशेषतः दूषित किया है। इसके दूषित किये हुये में वर्तमान हुये को जो भी प्रकार जाने योग्य नहीं है ऐसा दिया हुआ उदक अब शिर में प्राप्त है।।ध्रुव.।।

न मुझ से सत्ता में शुभतर और जो उत्पन्न करने में अपेक्षाकृत अच्छी हो ऐसी स्त्री नहीं हुआ करती है। न मुझसे बराबर बहने वाली, और न मेरे जोड़ की उद्यम करने वाली है।।ध्रुव.।।

हे शुभ लाभ वाली ! आपकी कृपा से जिस प्रकार निर्माण करने वाली और शब्द करने वाली वाक् है, ठीक वैसी ही वह आगे भी होगी। मेरे लिये सूर्य गति करता है, मेरा बन्धन शिर में प्राप्त है, मेरा पक्षी की तरह मन हर्षित होता है।।ध्रुव.।।

क्या ? हे शुभ बल वाली, शुभ कर्म वाली, अतिशय जलाने वाली, अतिशय मारने वाली, वीरपत्नि! क्या आपने हमारे लिये सूर्य को सम्मुख क्षति पहुँचायी है ? ध्रुव.।।

यह हिंसा की इच्छावाला सूर्य मुझको स्पष्टः अबला की भाँति मानता है। मै बहादुर, ऐश्वर्यवान् की पत्नी वाक् हूँ और प्राण के समान परिवेश वाली हूँ।।ध्रुव.।।

मैं सब से पूर्व जङ्गम प्रक्रिया निश्चय ही मन के सहित सम्यक् प्रारम्भ करने वाली प्राप्त हुई थी। मैं महान् बहादुर हूँ, इन्द्र की पत्नी हूँ, विज्ञान की अनुसंधानकर्त्री हूँ, मैं विस्तार करती हूँ।।ध्रुव.।।

मैने ऐश्वर्यवती वाक् को इन जङ्गम प्रक्रियाओं में शुभ उत्पादवाली सुना है, क्योंकि इसका गतिशील पतिमन कम नहीं है और रश्मि से नहीं मरता है।।ध्रुव.।।

हे ऐश्वर्यवती! मैं समान परिवेश वाले रश्मिवर्षा कर्त्ता सूर्य की गति से नहीं जाता हूँ, जिसकी यह अनुग्रहपूर्वक अर्पण करने योग्य उदक-रश्मि दीप्तियों में जाती है।। ध्रुव.।।

अब सूर्य सूर्य कृपापूर्वक भली प्रकार शुद्ध शुभ बहने वाली जल से उछलकर चलती है। हे इन्द्र! आपके छिड़काव को उसने खा लिया। किसी भी तरह का अनुग्रह कारक जल मैं बनाती हूँ।। ध्रुव.।।

वस्तुतः मेरे छिड़काव पाँच प्राणों के साथ दस, रसादि धातुओं को

सारभाग और किट्टभाग रूप में बीस प्रकार से पकाते हैं, और मैं मोटा बलवान् खाता हूँ, मेरी दोनों कोष्ठ गुहा और मानसगुहा भर देते हैं।।ध्रुव।।

हे इन्द्र! जिस उदक को आपकी गुहा में उत्पत्ति से युक्त रश्मि कल्याण रूप में निचोड़ती है, वह तुम्हारी रश्मि झुण्ड के बीच तीक्ष्ण सींगों वाले बैल की भांति डहकारती है।।ध्रुव.।।

वह स्वामित्व नहीं कर पाता जिसका क्रियाशील शिर बिना नाडी डूबता है। वह बिलकुल स्वामित्व करता है जिसका शिर निश्चित डूबा हुआ सिराजाल को व्याप्त करता है।।ध्रुव.।।

वह स्वामित्व नहीं कर पाता जिसका सिराजाल निश्चित डूबा हुआ व्याप्त होता है। वह बल्कुल स्वामित्व करता है जिसका क्रियाशील शिर नाडी के भीतर सर्वतः डूबता है।।ध्रुव.।।

हे इन्द्र! निचोड़े हुये जलों के नवीन संचित मेघ को आप तब प्रज्ज्वलित हुये के प्राण हैं। वह आदित्य ऊर्ध्वों की सीमा में वंचित प्राप्त हुआ है।।ध्रुव.।।

उजाड़ने वाले दास को विशेषतः आभास करता हुआ मैं इस सोम को प्राप्त करता हूँ। बुद्धिमान् को प्रत्यक्ष प्रकट हुआ मैं पाक क्रिया द्वारा निचोड़े हुये सोमों को पीता हूँ।।ध्रुव.।।

जो अन्तरिक्षों को काटने वाली और विशेषतः जोड़ने वाली वे कितनी ही हैं। हे आदित्य! अत्यन्त निकट में रसादिधातुओं के घरों के समीप अस्त हो जाओ।।ध्रुव.।।

हे सूर्य! भले प्रकार उपभोग किये गये दो मार्ग उत्तरायण–दक्षिणायन तुलय रूप में पुनः हुआ करते हैं, उनको प्राप्त कीजिये। जो यह सूर्य नींद का नाश करने वाला है फिर से पहले जैसे अस्त को प्राप्त करता है।।ध्रुव।।

हे सूर्य! हे इन्द्र!! जो ऊर्ध्व में मुड़ने वाले आदित्य हैं, वे धातुगृहों में गये हैं। वह बहुत बार अस्त होने वाले खोजी आदित्य कहाँ हैं? उत्पन्न हुई जलों ने हमारे समीप शिर को प्राप्त किया है।।ध्रुव.।।

पसुली वस्तुतः मानुषी धातुओं वाला नाम है जिसके साथ सार और किट्ट भाग रूप दस ओजस् और दस धातुयें उत्पन्न हुये हैं। उसका कल्याणमय निरूपण हुआ है, जिस प्रक्रिया का पेट कच्चा हुआ है।।ध्रुव.।।

इस सूक्त में इन्द्र और इन्द्राणी का संवाद है, और इस माध्यम से सूर्यरश्मि, आदित्य, प्राण, वाक् और मन के कार्य बतलाये गये हैं। हमने

यद्यपि प्रतीकों को खोलते हुये वर्णन को स्पष्ट किया है तथापि संवाद की अवस्था यथावत् बनाये रखी है। इस सूक्त के स्पष्टीकरण में अनेक महत्वपूर्ण वैज्ञानिक तथ्य प्रकाश में आये हैं, उदाहरणस्वरूप मन्त्र 16-17 में यह स्पष्ट किया गया है कि शिर-मस्तिष्क यदि शारीरनाडीजाल से संयुक्त नहीं रहता तो न शिर-मस्तिष्क की क्रिया और न नाडियों की क्रिया स्वतन्त्र रूप से शरीर पर प्रभावकारी होगी। इस प्रकार अनेक प्रक्रियाओं का स्पष्टीकरण इस सूक्त में है। अन्तिम पसु शरीर-धातुओं की प्रतीक है, अपक्व धातु प्रक्रिया को 'भद्र' (कल्याण) कहा गया है।

सरमा-पणि संवाद सूक्त

किमिच्छन्ती सरमा प्रेदमानड् दूरे ह्यध्वा जगुरिः पराचैः।
कास्मेहितिः का परितक्म्यासीत्कथं रसाया अतरः पयांसि।।
इन्द्रस्य दूतीरिषिता चरामि मह इच्छन्ती पणयो निधीन्वः।
अतिष्कदो भियसा तन्न आवत्तथा रसाया अतरं पयांसि।।
कीदृङ्ङिन्द्रः सरमे का दृशीका यस्येदं दूतीरसरः पराकात्।
आ च गच्छान्मित्रमेना दधामाऽथा गवां गोपतिर्नोभवाति।।
नाहं तं वेद दभ्यं दूभत्स यस्येदं दूतीरसरं पराकात्।
न तां गूहन्ति स्रवतो गभीरा हता इन्द्रेण पणयः शयध्वे।।
इमा गावः सरमे या ऐच्छः परिदिवो अन्तान्सुभगे पतन्ती।
कस्त एना अव सृजादयुध्व्युतास्माकमायुधा सन्धि तिग्मा।।
असेन्या वः पणयो वचांस्यनिषेव्यास्तन्वः सन्तु पीः।
अधृष्टों व एतवा अस्तुपन्था बृहस्पतिर्व उभया न मृळात्।।
अयं निधिः सरमे अद्रिबुध्नो गोभिरश्वेभिर्वसुभिर्न्युष्टः।
रक्षन्ति तं पणयो ये सुगोपा रेकु पदमलकमा जगन्थ।।
एह गमन्नृषयः सोमशिता अयास्यो अङ्गिरसो नवग्वाः।
त एतमूर्वं वि भजन्त गोनामथैतद्वचः पणयो वमन्नित्।।
एवा च त्वं सरय आ जगन्थ प्रबाधिता सहसा दैव्येन।
स्वसारं त्वा कृणवै मा पुनर्गा अप ते गवां सुभगे भजाम।।
नाहं वेद भ्रातृत्वं नो स्वसृत्वमिन्द्रो विदुरङ्गिरसश्च घोराः।
गोकामा मे अच्छदयन्यदायमपात इत पणयो वरीयः।।

अङ्गों के रस अर्थात् ओजस् इस शरीर में आये हैं, वे इस रश्मियों के विस्तार को विभाजित करते हैं। अब पणियों ने इस वाक् को बिलकुल अस्वीकृत किया।

हे सरमे! इस प्रकार ही पहले दबाई गई तुम दीप्तियों की शक्ति से आ गई। हे ऐश्वर्यवती! मैं तुमको ऊर्ध्व या उदक का सार बनाऊँ। तुम्हारी पुनः पुनः जाने वाली रश्मियों को हम नीचे न बांटें।।

हे पणियो! मैं न प्रकाशत्व को और न ऊर्ध्वसरण को जानती हूँ। इन्द्र ही घुले हुये (मिश्रित) ओजों को जानते हैं। रश्मि की कामना वालों ने मेरे लिये जो ढाँका, यह श्रेष्ठ ओजस् यहाँ से नीचे सर्वथा प्राप्त हुआ है।

हे पाणियो! प्रयत्नों के स्वामी 'बृहस्पति', निचोड़े हुये 'सोम', वाक्-ऊर्जायें, आदित्य रश्मियाँ, और विशेषतः आगे चलने वाले 'प्राण' ने जिन ढंकी हुई जलों को प्राप्त किया है, रश्मियाँ नियमपूर्वक निर्माण करती हुई यहाँ से दूर ऊर्ध्व में श्रेष्ठ ओजस् को प्राप्त करें।।

इस सूक्त का आशय धातुओं से निचोड़े गये ओजस् के संकलन तथा उसे शुद्धीकरण पूर्वक ऊर्ध्व में स्थापित करने की प्रक्रिया को समझाना है। सरमा वाक् है, वह गतिशील ऊर्जा है और प्राण के साथ आई है, यह मन्त्र-7 से स्पष्ट है। मन्त्र-3 यह स्पष्ट करता है कि निर्माण की प्रक्रिया में ही ओजों को संकलित करके स्थापित कर दिया जाता है। मन्त्र-4 में यह स्पष्ट किया गया है कि जलों की गतिशीलता मन (मात्रा) के कारण होती है, तथा मन की कमी द्वारा ही बन्धनों (स्थितों) की सक्रियता भी प्रभावित होती है। मन्त्र-6 में निर्माण में रुकावट या ठहराव करने वाले शरीरों में क्रियाशक्ति निवास नहीं करती। प्रयत्न निर्बल मार्गों से सम्भव नहीं होता चाहे ज्ञान मार्ग हो चाहे पाकमार्ग हो। मन्त्र-7 में आने-जाने वाली रश्मियाँ तथा बसने वाली धातुओं से ओजस् नित्य प्राप्त है जो आगे मेघ का रूप धारण कर लेता है। ओजस् की प्रक्रिया (मन्त्र-8) आदित्य-रश्मियों को विभाजित करती है और वे ओजस् में समाहित हो जाती हैं। मन्त्र-9 से यह आशय है कि नीचे कर्ममार्ग में और पाक-प्रक्रिया में जो ऊर्जा व्यय होती है उसकी पूर्ति दीप्तियों से हो जाती है। अन्तिम मन्त्र यह बतलाता है कि पाक-प्रक्रिया में जो मेघ रूप ओजस की प्राप्ति हुई है उसे रश्मियाँ शुद्ध करके ऊर्ध्व में स्थापित करती हैं।।

रात्रि–सूक्त

रात्री व्यख्यदायती पुरुत्रा देव्यक्षभिः। विश्वा अधिश्रियोऽधित।।
ओर्वप्रा अमर्त्या निवतो देव्युद्वतः। ज्योतिषा बाधते तमः।।
निरु स्वसारमस्क्रतोषसं देव्यायती। अपेरदु हासते तमः।।
सा नो अद्य यस्या वयं नि ते यामन्नविक्ष्महि। वृक्षेन वसतिं वयः।।
नि ग्रामासो अविक्षत नि पद्वन्तो नि पक्षिणः। निश्येनासश्चिदर्थिनः।।
यावया वृक्यं वृकं यवय स्तेनमूर्म्ये। अथा नः सुतरा भव।।

उप मा पेपिशत्तमः कृष्ण व्यक्तमस्थित। उष ऋणेव यातय।।
उप ते गा इवाकरं वृणीष्व दुहितर्दिवः। रात्रि स्तोभ न जिग्युषे।।[112]

अर्थात् दीप्तिमती दानशील ऊर्जा आती हुई पहुँचने वाली या नक्षरित होने वाली नाडियों द्वारा बहुत से स्थानों पर या बहुधा विशेषतः दिखाई पड़ी है। समस्त शक्तियों को उसने प्रमुखतः धारण किया है।।

अपार्थिव दीप्तिमती ऊर्जा ने विपुल ज्योति से चारों दिशाओं को भर दिया है, तथा नीचे जाते हुये और ऊपर जाते हुये अन्धकारों को दबाती है।।

आती हुई दीप्तिमती ऊर्जा उदक की सारभूत उषा को निश्चित कृपापूर्वक प्राण से क्रियाशील हुये जलों द्वारा स्पर्धा करती है अर्थात् समान रूप से बनाती है। और अन्धकारों को भगाती है।।

आज वह देने वाली ऊर्जा हमारी है जिसके उन दो दक्षिणायनः–उत्तरायण मार्गों में हम लोगों ने निश्चय ही प्रवेश किया है, जैसे वृक्ष पर नीड में पक्षी करता है।।

निश्चय ही समूहों ने (जैसे मरुद्गण, वसुगण, आदित्यगण), निश्चय ही पदों से युक्तों ने (जैसे अधिभूत, अधिदेव, अध्यात्म, विश्व), निश्चय ही पक्षवालों ने (जैसे कृष्ण पक्ष, शुक्लपक्ष, दक्षिणायन, उत्तरायण, रात, दिन), निश्चय ही श्येनों ने अर्थात् आने वाली ऊर्जा–रश्मियों ने, कामना वालों (जैसे रसादि–धातुओं) ने भी प्रवेश किया।।

हे तरंगों से युक्त ऊर्जा! व्याप्तता को काटने वाले सूर्य के अपत्य मृत्यु से हमें सर्वथा अलग करो। लूटने वाले, व्याप्तता को काटने वाले आदित्य

112. ऋग्वेद 10:127:1-8

से अलग कीजिये। तब हमारे लिये आप शुभतरा अर्थात् शुभ कल्याणरूप से तारने वाली होवें।

अन्धकार को खींचेने वाली व्यक्त हुई यह ऊर्जा समीप में स्थित हुई है, मुझको सजाती है। हे उषा! जलों की भांति मुझे आगे ले चलो।

हे दीप्तियों का दोहने करने वाली रात्रि! हमारे स्तोत्र को, जो जाने वाली ऊर्जा की भांति मैने बनाये थे, हमारे लिये आपने उन्हें समीप में जीता है, उन्हें चुनिये।।

इस सूक्त में अव्यक्त ऊर्जा का रात्रिरूप में वर्णन है, रात्रि अर्थात् दानशीला। रात्रि ही जलों की सार रूप रश्मि उषा को समान रूप में बनाती है। इसमें ही सभी देव समूह, सभी आत्मपाद, सभी मार्ग, सभी शक्तियाँ समाहित हैं। यह मनुष्य के लिये सर्वकल्याणमयी है।

उर्वशी–पुरुरवा संवाद सूक्त

हये जाये मनसा तिष्ठ घोरे वचांसि मिश्रा कृणवावहै नु।
न नौ मन्त्रा अनुदितास एते मयस्करन्पस्तरे चनाहन्।।
किमेता वाचा कृणवा तवाहं प्राक्रिमिषामुषसामग्रियेव।
पुरुरवः पुनरस्तं परेहि दुरापना वातइवाहमस्मि।।
इषुर्न श्रिय इषुधेरसना गोषाः शतसा न रंहिः।
अवीरे क्रतौ वि दविद्युतन्नोरा न मायुं चिन्तयन्त धुनयः।।
सा वसु दधती श्वसुराय वय उषो यदि वष्टयन्ति गृहात्।
अस्तं ननक्षे यस्मिञ्चाकन्दिवा नक्तं श्नथिता वैतसेन।।
त्रि स्म मह्नः श्नथयो वैतसेनोत स्म मेऽव्यत्यै पृणासि।
पुरुरवोऽनु ते केतमायं राजा मे वीरं तन्वस्तदासीः।।
या सुजूर्णिः श्रेणिः सुम्नआपिर्हृदेचक्षुर्न ग्रन्थिनी चरण्युः।
ता अञ्जयोऽरुणयो न ससुः श्रिये गावो न धेनवोऽनवन्त।।
समस्मिञ्जायमान आसत ग्ना उतेमवर्धन्नद्यः स्वगूर्ताः।
महे यत्त्वा पुरुरवो रणायावर्धयन्दस्युहत्याय देवाः।।
सचा यदासु जहतीष्वत्कममानुषीषु मानुषो निषेवे।
अपस्म मत्तारसन्ती न भुज्युस्ता अत्रसन्रथस्पृशो।।
यदासु मर्तो अमृतासु निस्पृक्सं क्षोणिभिः क्रतुभिर्न पृङ्क्ते।

ता आतयो न तन्वः शुम्यत स्वा अश्वासो न क्रीळयो दन्दशानाः।
विद्युन्न या पतन्ती दविद्योद्भरन्ती में अप्या काम्यानि।
जनिष्टो अपो नर्यः सुजातः प्रोर्वशी तिरत दीर्घमायुः।।
जज्ञिष इत्था गोपीथ्याय हि दधाथतत्पुरुरवोम ओजः।
अशासं त्वा विदुषी सस्मिन्नहन्न म आशृणोः किमभुग्वदासि।।
कदा सूनुः पितरं जात इच्छाच्चक्रन्नाश्रुनवर्तयद्विजानन्।
को दम्पती समनसा वि युयोदध यदग्निः श्वशुरेषु दीदयत्।।
प्रति ब्रवाणि वर्तयते अश्रु चक्रन्न क्रन्दाध्ये शिवायै।
प्रतत्ते हिनवा यत्ते अस्मे परेह्यस्तं नहि मूरमापः।।
सुदेवो अद्य प्रपतेदनावृत्यरावतं परमां गन्तवा उ।
अधाशयीत निर्ऋतेरुपस्थेऽधैनं वृका रभसासो अद्युः।।
पुरुरवो मा मृथा मा प्र पप्तो मा त्वा वृकासो अशिवास उक्षन्।
न वै स्त्रैणानिसख्यानि सन्ति सालावृकाणां हृदयान्येता।
यद्विरुपाचरं मर्त्येष्ववसं रात्रीः शरदस्चत स्रः।
घृतस्य स्तोकं सकृदह्न आश्नां तादेवेदं तातृपाणा चरामि।।
अन्तरिक्ष प्रां रजसो विमानीमुप शिक्षाम्युर्वशीं वसिष्ठः।
उप त्वा रातिः सुकृतस्य तिष्ठान्नि वर्तस्व हृदयं तप्यते मे।।
इति त्वा देवा इम आहुरैळ यथे मे तद्भवसि मृत्युबन्धुः।
प्रजा ते देवान्हविषा यजाति स्वर्ग उ त्वमपि मादयासे।।[113]

इस सूक्त के प्रथम मन्त्र में ही मन्त्र–रचना की गोपनीयता प्रस्तावित की गई है। हम इनका अर्थ इस प्रकार प्रकाशित करते हैं :–

हे, रश्मि को उत्पन्न करने वाली ऊर्जा, वाक! मन के साथ स्थित रहो। हम दोनों (मन और वाक) अब घुले हुये वचनों अर्थात् मन्त्रों को बहुगुणों से युक्त बनायें। हमारे मन्त्र (संवाद) ऊर्ध्व में जाने वाले हों अर्थात् उच्च प्रतिष्ठा को प्राप्त करें। इनको सुखमय करते हैं और प्राणवायु से दूर नहीं बोलते हैं।।

तुम्हारी इन वाणियों (मन्त्रों) को मैं क्यों पूर्णतः बनाऊँ? मैने सबसे पहले वाली उषाओं की सक्रियता की भाँति (मन्त्रों को) प्रकृष्ट बनाया था। हे विपुल शब्द करने वाले अर्थात् मन्त्र बनाने वाले मन![114] फिर से ऊर्ध्व

113. 10:95:1-8
114. 'मन्त्र' और 'मन' दोनों मन् विचारणे धातु से व्युत्पन्न होने से।

के विश्रामस्थल (मूर्धा) को प्राप्त करो। मैं वायु की भाँति[115] कठिनाई से प्राप्त होने वाली हूँ।।

वाण सर्वथा तरकश में शोभा को प्राप्त नहीं होते हैं, सैकड़ों उत्कृष्ट गौयें वेग से नहीं जा पाती हैं, पराक्रमहीन कर्म में छाती नहीं चमका करती है, धुनियाँ (स्वर गान) शब्द का विचार नहीं करती है।।

वह आयु रूप उड़ने वाली ऊर्जा जीवन की इच्छा वाले के लिये उत्पाद को पोषित करती है। जो ये उषायें धातुस्थान से चमकती हैं, उन्होंने जिस मूलऊर्जा में विश्रामस्थल प्राप्त किया है, आदित्य के नमन होने से संयुक्त वह देने वाली ऊर्जा रात्रि प्रसन्न हुई हैं।।

आदित्य के नमन होने से बिंधे हुये तीन माप–पावक–वर्चा, शुक्र–वर्चा और अनून वर्चा[116]– थे और रश्मि के लिये मूझे तू भरता था। विपुल ध्वनि के पीछे तेरे आकाश को प्राप्त करती हूँ। हे वीर्यवान् प्रकाशित स्वामी! मेरा वह शरीर तू है।।

बिंधी हुई गतिशीला ऊर्जा की भांति, जो सुख में विस्तार करने वाली क्षिप्र प्रक्रम रुपा है, उसने जलाशय में संज्ञान (शुक्रवर्चस्) लिया है; वह शोभा या पाक के लिये स्वर्णिम दीप्तियुक्त (पावक वर्चस्) हुई हमारे लिये बहे, जैसे जाने वाली वाक् (ऊर्जा) नमती है।।

दीप्तियों ने महान् संघर्ष में उजाड़ने वाले की हत्या के लिये जो तुम विपुल ध्वनि वाले मन को बढ़ाया, इसमें उत्पन्न होती हुई वाक् (ऊर्जा) सम्यक् स्थित (अनून वर्चस्) हुई और इनको ऊर्ध्व स्वर्ग में उद्यम करने वाली नाडियों ने बढ़ाया।।

जब प्राण ने संयुक्त जल (ओजस्) की इच्छा की तब अमानुषी स्थितियों में मानुषी स्थितियों (धातुओं) का उपयोग किया। मुझ से गतिशील जलों का भोग नहीं किया। वे जल रथ में लगे हुये घोड़ों के समान गतिशील हुये।।

जब प्राण मर्त्यु शरीर धातुओं को अमृत (उदक) में निश्चित मिलाते हैं, जैसे कर्मों से शरीरों को साथ मिलाया करते हैं। उन प्राप्तियों ने अपने शरीरों को ऐसे सजाया है जैसे एक दूसरे को काटते हुये घोड़े खेला करते हैं।

---

115. 'अहमेव वात इव प्रवामि' ऋग्वेद 10:125:8

116. ऋग्वेद 10:140:2

जो बिजली की भाँति गिरती हुई चमकी, मेरे लिये जलों को ऊपर तक भरते हुये भरा, उस विस्तार युक्त वाक् (उर्वशी) ने दीघ्र आयु को फिर पार किया। कल्याण में उत्पन्न हुयी मानवीय स्थिति (पाक प्रक्रिया में उत्पन्न धातुओं) ने जलों को उत्पन्न किया।

इस प्रकार आपने जाना कि वस्तु उस विपुल ध्वनि करने वाले मन को सोमपीने के लिये मेरे ओजस को आपने पोषित किया है। हे विदुषी वाक्! जो कुछ अच्छा बतलाती हो वह मैने सर्वथा नहीं सुना है। सब रश्मियों ने तुमको शासित किया है।।

कब उत्पन्न हुआ पुत्र पिता की इच्छा किया करता है; विशेषतः रोता हुआ जानकर आँसुओं को लौटाया है? कौन पति-पत्नी को समान मन के द्वारा जोड़ता है? वह है अग्नि जो जीवन की इच्छावालों में चमका करता है। (पृथिवी पुत्र अग्नि उत्पन्न होते ही पिता आकाश की ओर बढ़ता है; अग्नि एक ओर जलों का शोषण करता है दूसरी ओर पाक प्रक्रिया में उन्हें ओजस् रूप से लौटाता है)।।

फिर कहती हूँ, कल्याण करने वाली के लिये याद करता हुआ रोता है, रोता हुआ आँसू स्थित होता है; वस्तुतः जल बँधे हुये नहीं हैं। जो तेरा मुझ में है उसको तुम्हारे लिये प्रकृष्टतः प्रेरित करती हूँ, ऊर्ध्व विश्रामस्थल को प्राप्त कीजिये।।

आज कल्याणकारी दप्तियों से युक्त खुले हुये सर्वोत्कृष्ट जल को अब प्राप्त करने के लिये ऊर्ध्व स्थान को आगे उड़ना चाहिये। तब शान्ति की गोद में शयन करना चाहिये। तदन्तर व्याप्त करने वाले इस विकास से प्राप्त हुये स्थित जल को खाये।।

हे पुरुरवस्! मृत्यु को प्राप्त न हो, अत्यधिक पिये हुये न हों, आपको कल्याणरहित व्याप्त करने वाले मेघ न छिड़के, न ही इन सब गुहाओं के वृत्रों के हृदयों को जङ्गम परिवेश वर्तमान हों।

जो विभिन्न रूपों वाली, मृर्त्यों में रक्षा को तोड़ने वाली, स्थिरा, देने वाली रात्रिसंज्ञ का ऊजायें बहना चाहती हैं; ऐसी मैं रश्मि से उदक की बूँद को बनाते हुये इस भूख को इस प्रकार ही तृप्त करते हुये विचरण करती हूँ।।

मैं श्रेष्ठ ओजस् रूप वसिष्ठ अन्तरिक्ष को भरने वाली, क्रियाशक्ति पर सवारी करने वाली, विपुल व्याप्ति वाली उर्वशी को समीप से अनुशासित

करता हूँ। हे कल्याण से बनाये हुये को देने वाले! तुम्हारे समीप में स्थित हुओं को निश्चित मोड़ों अर्थात् गतिमान करो। मेरा अन्तर जलता है।।

हे ऊर्जा पुत्र! ये दीप्तियाँ तुमको कर्म प्रक्रिया कहती हैं, इसलिये कि इन सबको मृत्यु या पार्थिवता से बांधने वाला तू होता है। तुम्हारा उत्पाद दीप्तियों को उदक के द्वारा सक्रिय करता है। अब तुम भी स्वर्ग (ऊर्ध्व) में आनन्द प्राप्त करो।।

इस संवाद-सूक्त में पुरूरवस् और उर्वशी क्रमशः मन और वाक् के प्रतीक हैं। सूक्त में ऊर्जा के रूपों, उसके जन्म और कर्म की विवेचना की गई है। सन्दर्भ रूप में मन, प्राण, अग्नि आदि के कार्यों को भी समझाया गया है। ऊर्जा के निर्माण में ओजस् की स्थिति, उसका उत्पादन, संकलन, और शुद्धीकरण तथा ऊर्ध्व में स्थापन और उसी में अन्ततः मूल ऊर्जा की स्थिति एवं मन, वाक्, प्राण, अग्नि, आदित्य आदि की स्थिति को भी दर्शाया गया है। यह विचार धारा वेदान्त दर्शन के समरूप है, जहाँ उसी एक सत्ता से सृष्टि होती है और अन्ततः उसी में सब लय हो जाता है।

यम-यमी संवाद सूक्त

ओ चित्सखायं सख्या ववृत्यां तिरः पुरु चिदर्णवं जगन्वान्।
पितुर्नपातमा दधीत वेधा अधिक्षमि प्रतरं दीध्यानः।।
न ते सखा सख्यं वष्ट्येतत्सलक्ष्मा यद्विषुरूपा भवाति।
महस्पुत्रासो असुरस्य वीरा दिवो धर्तार उर्विया परिख्यन्।।
उशन्ति घा ते अमृतासएतदेकस्य चित् त्यजसं मर्त्यस्य।
नि ते मनो मनसि धाय्यस्मे जन्युः पतिस्तन्वमा विविश्याः।।
न यत्पुरा चकृमा कद्ध नूनमृता वदन्तो अनृतं रपेम।
गन्धर्वो अप्स्वप्या च योषा सा नो नाभिः परमं जामि तन्नौ।।
गर्भे नु नौ जनिता दम्पती कर्देवस्त्वष्टा सविता विश्वरूपः।।
न किरस्य प्र मिनन्ति व्रतानि वेद नावस्य पृथिवी उत द्यौः।।
को अस्य वेद प्रथमस्याह्नः क ईं ददर्श क इह प्र वोचत्।
बृहन्मित्रस्य वरुणस्य धाम कदु ब्रव आहनो वीच्या नॄन्।।
यमस्य मा यम्यं काम आयन्त्समाने योनौ सहशेय्याय।
जायेव पत्ये तन्वं रिरिच्यां वि चिद्वृहेव रथ्येव चक्रा।।

न तिष्ठन्ति न निमिषन्त्येते देवानां स्पश इह ये चरन्ति।
अन्येन मदाहनो याहि तूयं तेन वि वृह रथ्येव चक्रा।।
रात्रीभिरस्मा अहभिर्दशस्येत्सूर्यस्य चक्षुर्मुहुरुन्मिमीयात।
दिवा पृथिव्या मिथुना सबन्धू यमीर्यमस्य बिभृयादजामि।।
आ घा ता गच्छानुत्तरा युगानि यत्र जामयः कृण्वन्नजामि।
उप बर्बृहि वृषभायबांहुमन्यमिच्छस्व सुभगे पतिं मत्।।
किं भ्रातासद्यदनाथं भवाति किमु स्वसा यन्निर्ऋतिर्निगच्छात्।
काममूता बह्वे तद्रपामि तन्वां मे तन्वं सं पपृग्धि।।
न वा उ ते तन्वा तन्वं सं पपृच्यां पापमाहुर्यः स्वसारं निगच्छात्।
अन्येन मत्प्रमुदः कल्पयस्व न ते भ्राता सुभगे वष्ट्येतत्।।
बतो बतासि यम नैव ते मनो हृदयं चाविदाम।
अन्या किल त्वां कक्ष्येव युक्तं परिष्वजाते लिबुजेव वृक्षम्।।
अन्यमू षु त्वं यम्यन्य उत्वां परिष्वजाते लिबुजेव वृक्षम्।
तस्य वा त्वं मन इच्छा स वा तवाधा कृणुष्व संविद सुभद्राम्।।[117]

इस संवाद-सूक्त में जुड़वाँ यम-यमी प्राण और वाक् के प्रतीक हैं। वाक् ऊर्जा-द्रव्य (आत्मा) की अभिव्यक्तिरूप द्रव्य-गुण है, और प्राण द्रव्य-कर्म रूप है, क्योंकि द्रव्य गुण-कर्म का आश्रयस्थान है। इस प्रकार प्रकारान्तर से ऊर्जा का लीला विलास ही संवाद-कथा में प्रस्तुत किया जाता है। प्रतीकात्मकता के उद्घाटन के साथ ही स्थिति स्पष्ट हो जाती है,[118] और लौकिकता और अश्लीलता तिरोहित होकर शारीर-प्रक्रिया रूप उपस्थित हो जाता है। देखिये-

चमकती हुई वेधने वाली ऊर्जारश्मियों ने शरीर में विकासशील प्राण के आगे जाने वाले अपान (= नपात, व्युत्पत्ति से) को धारण किया; (इस प्रकार) मित्र को मित्र के द्वारा चुनकर भी कृपापूर्वक जङ्गम विशाल अन्तःकरण रूपी समुद्र को भी पार कर लिया गया।।

प्राण के अत्यन्त बलशाली पुत्रगण (अपान, उदान, समान, व्यान आदि) शरीर में चारो ओर जानते हुये दीप्तियों को धारण करने वाले हैं। तुम्हारा मित्र (समान परिवेश वाला सखा) समान परिवेश की इच्छा नहीं

---

117. ऋग्वेद 10:10:1-14
118. देखे अध्याय-4 में इस सूक्त सम्बन्धी विवेचन, पृ. 219-221

करता हैं, क्योंकि यह वाक् गुणों के साथ भिन्न रूप वाली हो जाती है (गुण जैसे सुख-दुःख, इच्छा-द्वेष, बुद्धि आदि से भिन्न रूपा वाक् बनती है)।।

तुम्हारा मन हमारे मन में निश्चित धारण था। उत्पन्न करने वाला पति (मन, 'मा' धातु से व्युत्पन्न) शरीर में पूर्णतः प्रवेश करे। तुम्हारे अमृत रूप जल वस्तुत इस एक शरीर धातु के त्यागे हुये जलीय अंश को भी सर्वतः चाहते हैं।।

जो पूर्वकाल में हमने सर्वतः किया था, क्या अब उसे नियम बतलाकर झूठी बकवास करें? गन्ध को वहन करने वाले मरुद्गण (प्राण) जलों में और मिश्रण भाव वाली ऊर्जा जलमय है। वह हमारी धारक केन्द्र, वह हम दोनों की सर्वोष्कृष्ट नातेदार है।।

किस देव ने, गढ़ने वाले ने कि उत्पन्न करने वाले ने कि विश्वरूप ने, गर्भ में हम दोनों को पति-पत्नी बनया था? हम दोनों इसके शरीर और आत्मा को जानते हैं, इसके नियम बिलकुल नहीं टूटते।।

कौन इस सबसे पहले होने वाले के समय को जानता है? किसने इसको देखा है? कौन यहाँ इसका वर्णन करता है? महान् निर्माणकर्त्ता और विस्तारकर्त्ता के आश्रयस्थान रश्मि द्वारा ले जाये जाते हुये दयालु को क्या कृपा करके कोई बता सकेगा?

समान उत्पत्तिस्थान (धातुस्थान) में साथ शयन के लिये मुझे यम के नियन्त्रण की इच्छा आ गई है। पति के साथ पत्नी की भाँति शरीर को विशेषतः समर्पित कर देना चाहिये, धारणा (वाणी) की भाँति[119] भी, चक्र के साथ सड़क की भाँति[120] भी।।

ये दीप्तियों की स्पर्श करने वाली रश्मियाँ जो यहाँ विचरती हैं, न बैठती हैं, न झपकती हैं। मुझ से अन्य दयालु से शीघ्र प्राप्त होवो; उसके द्वारा पहिये के साथ सड़क की भाँति विशेषतः वहन की जाओ।।

कर्मों के द्वारा ऊर्जा को, रश्मियों के द्वारा दस उत्पादों को, सूर्य के साथ चक्षु को बार-बार ऊर्ध्व में मापन करना चाहिये। 'मिथुन' के द्वारा पृथिवी के साथ सम्पूर्ण आकाश को, यम के साथ यमी को, दो एक साथ बँधे होने वाले परायों को समझना चाहिये।।

वे उत्तरायण के युग वस्तुतः आयेंगे जहाँ समीप सम्बन्धीजन परायों

---

119. देखें ऋग्वेद 10:71:4, 'उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः'।
120. देखो अगला मन्त्र ऋग्वेद 10:10:8, में तेन विवृह रथ्येव चक्रा'।

को प्रकटतः बनायेंगे। हे शुभ ऐश्वर्यवाली! मुझ से अन्य पति को इच्छा करो। वर्षा करने वाले इन्द्र या बलवान मर्द के लिये समीप होकर हाथ बढ़ाओ।

कौन प्रकाशमान् है जो अनद्धता में वर्तमान होता है? और, कौन ऊर्ध्व के साथ वाली है जो शान्ति (स्थिरता) को निश्चय प्राप्त करती है? निर्माण में लगी हुई यह अनेक बार बोलती हूँ कि मेरे लिये शरीर को आत्मा से सम्यक् रूप से मिलाओ।

निश्चय् ही अब तेरे लिये आत्मा से शरीर को सम्यक् नहीं मिलाना चाहिये क्योंकि उर्ध्व के सम्यक् नहीं मिलाना चाहिये क्योंकि उर्ध्व के सार (उदक) को निश्चय प्राप्त करना रक्षा का पी लेना कहा गया है। मुझ से अन्य से सुख की कल्पना करो। हे कल्याणकारी ऐश्वर्य से युक्ता! यह प्रकाशमान् तेरे लिये इच्छा नहीं करता है।।

हे यम! खेद है कि तू निर्बल है। तेरे लिये मन (इन्द्र) को और हृदय (आत्मा) को भी मैं नहीं जान पायी। दूसरी प्रक्रिया निस्संदहे तुम में कोख वाली (यमजा) की भाँति युक्त होगी जैसे बेल (नाडी) और वृक्ष (व्यापनशील मस्तिष्क) अच्छी तरह लिपटे हुये थे।

हे यमी! तू अन्य कल्याणकारी सोम को और अन्य तुझको जैसे नाडी मस्तिष्क को अच्छी तरह चिपटी थी, निश्चय ही तू उसके मन को सर्वथा इच्छा कर, निश्चय वह तेरी करे। आगे सम्यक् जानी हुयी शुभ अपक्वप्रक्रिया को पूर्ण करो।

सूर्या विवाह सूक्त

इस सूक्त की विवेचना पिछले अध्याय में की जा चुकी है। सोम सम्बन्धी प्रथम पाँच मन्त्र, जो व्याख्या में रह गये थे, यहाँ प्रस्तुत किये जा रहे हैं–

सत्येनोत्तभिता भूमिः सूर्येणोत्तभिता द्यौः।
ऋतेनादित्यास्तिष्ठन्ति दिवि सोमो अधि श्रितः।।
सोमेनादित्या बलिनः सोमेन पृथिवी मही।
अथो नक्षत्राणामेषामुपस्थे सोम आहितः।।
सोमं मन्यते पपिवान्यत्संपिंषन्त्योषधिम्।
सोमं यं ब्रह्मणो विदुर्न तस्याश्नाति कश्चन।।

आच्छ द्विधानैर्गुपितो बार्हतैः सोम रक्षितः।
ग्राव्णामिच्छृण्वन्तिष्ठसि न ते अश्नाति पार्थिवः।।
यत्त्वा देव प्रपिबन्ति तत आ प्यायसे पुनः।
वायुः सोमस्य रक्षिता समानो मास आकृतिः।।[121]

अर्थात् वह शरीर ऊर्ध्व में सत्ता की योग्यता द्वारा विभाजित किया गया है। वह दीप्तियों से युक्त आकाश ऊर्ध्व में सूर्य के द्वारा विभाजित किया गया है। आदित्यगण प्राकृत नियम के द्वारा स्थित रहते हैं। निचोड़ा हुआ सोम (ओजस्) दीप्ति में अधिकता से आश्रित है।।

आदित्यगण सोम से बली हैं, शरीर सोम से विकसित होता है। इसके अतिरिक्त सोम इन गतिशीलों के अङ्क में पूर्णतः धारण हुआ है।

जिस सोमलता से युक्त को पीसते हैं, वह सोम पीने से सम्बन्धित माना जाता है। सोम जिसको उत्पाद के ज्ञाताओं ने जाना है उसको कोई भी नहीं पी सकता है।

सोम सुरक्षित विधानों से तथा गोपनीय विकास से व्याप्त करता है। हे सोम! (मेघ की) वाणी को भी सुनते हुये आप स्थित रहते हैं, पार्थिव तत्व आपको नहीं खाता है।।

हे दीप्तिमान् सोम! महीने को कृष्ण-शुक्ल युक्त समान रूपों में बनाया गया है; जो (कृष्णपक्ष के दिन) तुमको पहले पीते हैं, उसको पुनः पूर्णतः तू (शुक्ल पक्ष के दिनों में) भर देता है; वायु (प्राण) सोम की रक्षा करने वाला है।।

इस सूक्त में सोम की स्थिति का वर्णन है। ऋषि सोमलता से निकले हुये रस को पीने वाला बताते हैं, किन्तु शारीरउत्पाद के ज्ञाता जिस सोम को जानते हैं वह जैविक सोम किसी के द्वारा पिया नहीं जा सकता है। इस प्रकार लौकिक सोम से जैविक सोम की प्रतीकात्मकता बतला दी गई है। सोम शरीर-सुरक्षा के विधानों वाला और गोपनीय विकास से युक्त होकर शरीर को व्याप्त करता है। पार्थिव तत्त्व धात्वादि सोम को नहीं खाते और वह सोम वाणी (ऊर्जा) के साथ स्थित रहता है। प्राण (गति) से युक्त सभी गतिशीलों में सोम समाहित रहता है; आदित्यरश्मियाँ सोम से बलवती होती

121. ऋग्वेद 10:85:1-5

है और शरीर सोम से विकसित होता है। सोम दीप्तियों में आश्रित रहता है। कृष्ण पक्ष–दक्षिणायन कर्ममार्ग में सोम का भोग होता है, और शुक्लपक्ष–उत्तरायण ज्ञान–पाक–मार्ग में वह पुनः भर जाता है; वायु या प्राण उसका रक्षक है अर्थात् नाडी–संस्थान में प्रवाहित हुआ सोम प्राण से संचालित होता है।।

देवापि–शन्तनु सूक्त

इस सूक्त में दवापि–शन्तनु प्रतीकात्मकता के माध्यम से उदक की कमी (अनावृष्टि) से रोगग्रस्त हुये शरीर में पाकक्रिया द्वारा ओजस् की पूर्ति करके कल्याण युक्त बनाने का विधान बतलाया गया है। देवापि अग्नि हैं और पुरोहित तथा देव भी हैं।[122] शन्तनु शान्त हुआ क्रियाहीन शरीर या कल्याण प्राप्त करने वाला शरीर है।[123] कथा में पूर्ति (वर्षा) की पूरी प्रक्रिया समझाई गई है :–

बृहस्पते प्रति मे देवतामिहि मित्रो वा यद्वरुणो वासि पूषा।
आदित्यैर्वा यद्वसुभिर्मरुत्वान्त्स पर्जन्यं शन्तन्वे वृषाय।।
आ देवो दूतो अजिरश्चिकित्वान्त्वछेवापे अभि मामगच्छत।
प्रतीचीनः प्रतिमामा ववृत्स्व दधामिते द्युमतीं वाचमासन्।।
अस्मे धेहि द्युमतीं वाचमासन्बृहस्पते अनमीवामिषिराम्।
यया वृष्टिं शन्तन्वे वनाव दिवो द्रप्सो मधुमाँ आ विवेश।।
आ नो द्रप्सा मधुमन्तो विशन्त्विन्द्र देह्यधिरथं सहस्रम्।
निषीद होत्रमृतुथा यजस्व देवान्देवापे हविषा सपर्य।।
आर्ष्टिषेणो होत्रमृषिर्निषीदन्देवा पिर्देवसुमतिं चिकित्वान्।
स उत्तरस्मादधरं समुद्रमपो दिव्या असृजद्वर्ष्या अभि।।
अस्मिन्त्समुद्रे अध्युत्तरस्मिन्नापो देवेभिर्निवृता अतिष्ठन्।
ता अद्रवन्नार्ष्टिषेणेन सृष्टा देवापिना प्रेषिता मृक्षिणीषु।।
यछेवापिः शन्तनवे पुरोहितो होत्राय वृतः कृपयन्न दीधेत्।
देवश्रुतं वृष्टिवमिं रराणो बृहस्पतिवाचमस्मा अयच्छत्।।

यं त्वा देवापि शुशुचानो अग्न आर्ष्टिषेणो मनुष्य समीधे।
विश्वेभिर्देवैरनुमद्यमानः प्र पर्जन्यमीरया वृष्टिमन्तम्।।
त्वां पूर्व ऋषयः गीर्भिरायन्त्वामध्वरेषु पुरुहूत विश्वे।
सहस्राण्यधिरथान्यस्मे आ नो यज्ञं रोहिदश्वोप याहि।।
यतान्यग्ने नवतिर्नव त्वे आहुतान्यधिरथा सहस्रा।
तेभिर्वर्धयस्व तन्वः शूर पूर्वी दिवो नो वृष्टिमिषितो रिरीहि।।
एतान्यग्ने नवतिं सहस्रा सं प्रयच्छ वृष्ण इन्द्राय भागम्।
विद्वान्पथ ऋतुशो देवयानानप्यौलानं दिवि देवेषु धेहि।।
अग्ने बाधस्व वि मृधो वि दुर्गहापामीवामप रक्षांसि सेध।
अस्मात्समुद्राद् बृहतो दिवो नोऽपां भूमानमुप नः सृजेह।।[124]

अर्थात् हे प्रयत्नो के स्वामी या वृहती वाक् के स्वामी बृहस्पते! जो तू निर्माणकर्ता या विस्तारकर्ता या पोषणकर्त्ता है, मेरी ओर देवता (दीप्ति) को पहुँचाइये। जो वह दीप्ति शान्त शरीर में वर्षा के लिये अदित्यों के साथ या वसुओं के साथ या मरुतों के साथ पर्जन्य को पहुँचाती है।।

दीप्ति जलाने वाली, जीर्ण न होने वाली, उपचार करने वाली या संज्ञान करने वाली है जो तुम देवापि (अग्नि) से मुझको आकर प्रत्यक्ष प्राप्त होगी। हे भविष्य वाले या पश्चिम वाले! (अर्थात् शरीर से मूर्धा को चलने वाली प्रक्रिया वाले) मेरी ओर पूर्णतः मुड़िये, आपकी दीप्तिमती वाक् (ऊर्जा) को स्थित करते हुये मैं धारण करता हूँ।।

हे बृहस्पते! रोग से दूर करने वाली, गमनशीला, दीप्तियुक्ता वाक् को स्थिर करते हुये हममें रखिये, जिससे शान्त शरीर के लिये वर्षा को हम जीतें। ओजस् युक्त दीप्तिमती बूँद सर्वतः प्रवेश करे।।

हे ऐश्वर्यवान् इन्द्र (मन)! हमको ओजवान् जल सर्वतः प्रवेश करें। हजारों नाडियों वाला शरीर पूर्णतः प्रदान कीजिये। बैठिये, ऋत की कामना वाली प्रक्रिया प्रारम्भ कीजिये। देवापि (अग्नि) के लिये उदक द्वारा दीप्तियों को परिचर्या करिये।।

जङ्गम शरीर वाले, रश्मियों से युक्त देवापि (अग्नि) दीप्तिमती कल्याणी वाक् को सचेतन करते हुये या उसका संज्ञान करते हुये प्रक्रिया

124. ऋग्वेद 10:98:1-12

प्रारम्भ या आह्वान करने को निश्चित ही बैठे। उन्होंने वर्षा द्वारा ऊर्ध्व समुद्र से अध्वर समुद्र की ओर दीप्तिमान् जलों को प्रत्यक्षतः बाहर निकाला, अर्थात् मूर्धा के उदक को वर्षा द्वारा अन्तः शरीर में भरा।

इस ऊर्ध्व समुद्र में दीप्तियों द्वारा निश्चित मोड़े गये जल सम्पूर्णतः स्थित हुये। जङ्गम शरीर वाले देवापि (अग्नि) के द्वारा बाहर निकाले हुये वे जल आगे भेजे गये जो शुद्ध करने वाली रश्मियों पर बहे।।

शान्त शरीर के प्रक्रिया प्रारम्भ या बुलावे के लिये वरण किये हुये पुरोहित अर्थात् चुने हुये आगे जाने वाले देवापि (अग्नि) ने जब कृपा करते हुये सोचा तब प्रयत्नों या बृहती वाक् के स्वामी ने दीप्तियों को प्राप्त होने वाली वर्षा की कामना वाली वाक् को प्रदान करते हुये देवापि (अग्नि) के लिये विस्तारित किया।।

हे अग्ने! जिस तुमको शुद्ध होती हुई मानुषी स्थिति जङ्गम शरीर युक्त दीप्ति जैसे ने सम्यक् रूप से प्रज्ज्वलित किया, फिर समस्त दीप्तियों के द्वारा ओजयुक्त होते हुये वर्षा से युक्त बादल को सब ओर से प्रेरित कीजिये।।

हे बहुत पुकारे गये इन्द्र (मन)! पहले की रश्मियों ने आपको ऊर्जा द्वारा समस्त प्रक्रियाओं में सर्वतः प्राप्त किया है। हे लाल रश्मियों वाले अग्नि! हमारे लिये सहस्रों शरीरावयवो को लाकर हमारी प्रक्रिया में संयुक्त होइये।।

हे अग्ने! आप में ये निन्यानवे नाडियाँ तथा बुलाये गये हजारों शरीरावयव हैं, उनके द्वारा शरीरों को बढ़ाइये। हे वीर! हमारी इच्छित पहले वाली या पूर्वी अर्थात् मूर्धा से शरीर में होने वाली दीप्तियुक्त वर्षा को प्रदान कीजिये।।

हे अग्ने! इन हजारों नई प्राप्तियों के साथ वर्षाकारक इन्द्र के लिये अंश को पहले ही विस्तारित कीजिये! हे विद्वान! ऋत की कामना के अनुसार देते हुओं को देवयान मार्गों को भी दीप्तियों में तथा ऊर्ध्व में रखिये।।

हे अग्ने! विरुद्ध संघर्ष करने वालों और विशेष दुर्ग को ढहाने वालों को पीड़ित कीजिये; बुरे रोग को, बुरे राक्षसों को पीछे हटाइये। इस ऊर्ध्व समुद्र से हमारे लिये बढ़े हुये दीप्तियुक्त जलों को, हमारे लिये भूमि अर्थात् शरीर के जल को यहाँ समीप में बाहर निकालिये।।

कृषि सूक्त

उद्बुध्यध्वं समनसः सखायः समग्निमिन्ध्वं बहवः समीळाः।
दधिक्रामग्निमुषासं च देवीमिन्द्रावतोऽवसे निह्वये वः।।
मन्द्रा कृणुध्वंधिय आतनुध्वं नावमरित्रपरणीं कृणुध्वं।
इष्कृणुध्वमायुधारं कृणुध्वं प्राञ्चं यज्ञं प्रणयता सखायः।।
युनक्त सीरा वि युगा तनुध्वं कृते योनौ वपतेह बीजम्।
गिराच श्रुष्टिः सभरा असन्नो नेदीय इत्सृण्यः पक्वमेयात्।।
सीरा युञ्जन्ति कवयो युगा वितन्वते पृथक्।
धीरा देवेषु सुम्नया।।
निराहावान्कृणोतन सं वरत्रा दधातन।
सिञ्चामहा अवतमुद्रिणं वयं सुषेकमनुपक्षितम्।।
इष्कृताहावमवतं सुवरत्रं सुषेचनम्।
उद्रिणं सिञ्चे अक्षितम्।।
प्राणीताश्वान्हितं जयाथ स्वस्तिवाहं रथमित्कृणुध्वम्।
द्रोणाहावमवतमश्मचक्रमंसत्र कोशं सिञ्चिता नृपाणम्।।
व्रजं कृणुध्वं स हि वो नृपाणो वर्म सीव्यध्वं बहुला प्रथूनि।
पुरः कृणुध्वमायसीर धृष्टा मा वः सुस्रोच्चमसो दृहता तम्।।
आ वो धियं यज्ञियां वर्त ऊतये देवा देवीं यजतां यज्ञियामिह।
सा नो दुहीयद्यवसेव गत्वी सहस्रधारा पयसा मही गौः।।
आ तू षिञ्च हरिमीं द्रोरुपस्थे वाशीमिस्तक्षताश्मन्मयीभिः।
परि ष्वजध्वं दशकक्ष्याभिरुभे धुरौ प्रति वह्निंयुनक्त।।
उभे धुरौ वह्निरापिन्दमानोऽन्तर्योनेव चरति द्विजानिः।
वनस्पतिं वन आस्थापयध्वं नि षू दधिध्वमखनन्त उत्सम्।।
कपृन्नरः पपृथमुछधातन चोदयत खुदत् वाजसातये।
निष्टिग्र्यः पुत्रमा च्यावयोतय इन्द्रं सबाध इह सोमपीतये।।[125]

अर्थात् इन्द्र (मन) रश्मि को, अग्नि को, और दीप्तिमती उषा (ऊर्जा) को प्राप्त करता है। हे मित्रो! मन से युक्त होकर ऊर्ध्व में बोध करो, अनेक वासस्थानों (धातुस्थानों) से युक्त होकर अग्नि को सम्यक् प्रज्ज्वलित करो।

125. ऋग्वेद 10:101:1-12

तुम लोगों को अस्तित्व के लिये मैं निश्चय ही बुलाता हूँ।।

हे मित्रों! बुद्धियों को सर्वतः विस्तृत करो, गम्भीर विचार करो, हमारे लिये शत्रु को लजाने वाले गतिशील अस्तित्व को बनाओ, बलवान बनाओ, आयु को धारण करने वाला बनाओ, पहले से गतिमान् प्रक्रिया को पूर्णतः आगे बढ़ाओ।।

रश्मि को जोड़िये, नाडियों का विशेष विस्तार कीजिये, यहाँ बनाये गये जल में जीवन को बोइये और हमारी वाक् शीघ्र ही भरण-पोषण करने वाली होवे, नदियाँ (नाडियाँ) भी पाक-जलों को समीप में प्राप्त करें।।

वर्णन करने वाले बुद्धिमान् जन समझदारी से दीप्तियों में रश्मि को पूर्णतः जोड़ते हैं, और अलग से नाडियों को विशेषतः विस्तृत करते हैं।।

प्रशंसा से युक्त कीजिये, चुनने वालों के साथ रखिये। हम जल से युक्त रक्षा को और फिर स्वीकृत छिड़काव को सींचा करते हैं।।

शक्ति से निर्मित प्रभुत्व को, भली प्रकार चुनने वाली रक्षा को, शुभ छिड़काव को, तथा अक्षय जल को मैं सींचता हूँ।।

आप लोग रश्मियों को प्रेम कीजिये, उनके धारण को जीतिये, कल्याण वह शरीर को भी बनाइये। प्राप्त हुये प्रभुत्व को, रक्षा को, मेघ-चक्र को, मनुष्य के पीने के लिये निभाग युक्त कोष अर्थात् धातुस्थानों को सब ओर से सींचिये।।

आप लोग मार्ग को बनाइये, वह वस्तुतः आप लोगों का मानवसुरक्षा वाला है। बहुत फैले हुये कवच (कोष्ठ) को सिलिये, धातु का पूर्ण करने वाला शरीर बनाइये। आपकी शिष्ट नदी (नाडी) भली प्रकार बहे, उसको मेघ से सर्वतः दृढ़ बनाइये।।

हे दीप्तिमन्तो! निर्माण प्रक्रिया के लिये क्रियाशील हुई प्रक्रिया करने वाली प्रकाशवती रश्मि को इस शरीर में तथा अपनी प्रक्रिया करने वाली वाक् को सब ओर से मोड़िये। उस विकासशीला वाक् को उत्पाद की भाँति जा करके अनेक धारों में गिरने वाले उदक से हमारे लिये दुहाना चाहिये।।

दोनों छोरों अर्थात् द्यावापृथिवी (मूर्धा और शरीर) को अग्नि (की उत्पत्ति) के लिये जोड़िये। दस कोष्ठों से भली प्रकार चारों ओर हाँकिये। विद्युतमयी रश्मियों से बनाई हुई समिधा (ईंधन) में स्थित इस अग्नि को आप आकर सींचे।।

ऊर्जा से युक्त अग्नि दोनों छोरों अर्थात द्यावापृथिवी के बीच में जलों

के भीतर दो उत्पन्न होने वालों की भाँति विचरता है। रश्मि के स्वामी को नाडीजाल में स्थापित कीजिये। गर्भ को आप लोगों ने खोदा है, अब प्रसव को निश्चय ही रखिये।।

वीर्यवान् मर्द (मन) ने उत्पाद विजय के लिये ऊर्ध्व को प्रेरित किया, खोदते हुये बीज को रखा। उद्यम करने वाली स्थिति ने अर्थात् स्थिर ऊर्जा ने निर्माण के लिये पुत्र अर्थात् गतिशील प्राण को प्रत्यक्ष उत्पन्न किया। इस लोक में सोम पीने के लिये इन्द्र को साथ में दबाओ।।

इस सूक्त में मानव अस्तित्व के लिये आवश्यक निर्माण प्रक्रिया के विभिन्न तत्त्वों को प्रतीकात्मक रूप से कृषि माध्यम में समझाया गया है। बीच-बीच में ऐसे मन्त्र दे दिये गये हैं जो प्रतीकात्मकता को खोलते हैं। प्रथम मन्त्र, चतुर्थ मन्त्र, नवम मन्त्र और अन्तिम द्वादशम मन्त्र बहुत कुछ स्पष्ट वर्णन करते हैं और इस प्रकार पूरे सूक्त की प्रतीकात्मकता को खोलते हैं। प्रतीकों के उद्घाटन से वैज्ञानिक प्रक्रियायें प्रकाश में आ जाती हैं।

अरण्यानी सूक्त

अरण्यान्यरण्यान्यसौ या प्रेव नश्यसि।
कथा ग्रामं न पृच्छसि न त्वा भीरिव विन्दती।।
वृषारवाय वदते यदुपावति चिच्चिकः।
अघाटिभिरिव धावयन्नरण्यानिर्महीयते ।।
उत गाव इवादन्त्युत वेश्मेव दृश्यते।
उतो अरण्यानिः सायं शकटीरिव सर्जति।।
गामङ्गैष आ ह्वयति दार्वङ्गैषो अपावधीत्।
वसन्नरण्यान्यां सायमक्रुक्षदिति मन्यते।।
न वा अरण्यानिर्हन्त्यन्यश्चेन्नाभिगच्छति।
स्वादोः फलस्य जग्ध्वाय यथाकामं नि पद्यते।।
आञ्जनगन्धिं सुरभिं बह्वन्नमिकृषीवलाम्।
प्राहं मृगाणां मातरमरण्या निमशंसिषम्।।[126]

126. ऋग्वेद 10:146:1-6

अर्थात् हे अरण्यानि! तुम जो अरण्यानि अर्थात् निश्चय न जाने वाली स्थिति (अ + रण्या + नि) ऊर्जा हो, पहले की भाँति खो जाती हो। तुम जलवाली (क + थक् + टाप्) हो, नाडी-समूह को नहीं पूछती हो; यह नाडी (ई) तुमको भय के कारण नहीं प्राप्त करती है।।

चयनकर्त्ता वृष्टियों के अवगमन को, जो सर्वथा समीप में अनुग्रह करता है, बतलाता है। न घटने वालियों द्वारा दौड़ते हुये की भाँति स्थित ऊर्जा विकास करती है।।

और जाने वाली ऊर्जा की भाँति नष्ट करती हे, और गतिशीला की भाँति दिखाई पड़ती है। और भी, वह इस पुरुष को सामर्थ्ययुक्ता की भाँति प्राप्त करती है।।

केवल यह पुरुष जाने वाली ऊर्जा को सम्मुख बुलाता है, केवल यह दानशील जलों को धारण करता है। वह स्थिर ऊर्जा अन्य ऊजाओं को पहनती हुई इस पुरुष को ज्ञान की प्राप्ति को बताती हुई विचार करती हैं या सम्मान करती है।।

स्थिर ऊर्जा जलों को हानि नहीं पहुँचाती, और कदाचित् दूसरा उसे प्रकटतः प्राप्त नहीं करता है। स्वादिष्ट फल खाकर के अर्थात् शुभ कर्म करके[127] निर्माण के अनुसार गति करती है।।

प्रकाश को प्राप्त करने वाली, कल्याण से मिलाने वाली, बहुत उत्पादन वाली, खींचकर न लपेटने वाली, प्राणों की माता, स्थिर ऊर्जा की मैं सबसे पहले प्रशंसा करता हूँ।

इस सूक्त में स्थिर ऊर्जा की प्रक्रियायें बतलाई गई हैं। 'अरण्यानि' की व्युत्पत्ति अर्थ के साथ कर दी गई है। यदि इसे 'वन में रहने वाली' मान लिया जाये तो यह मूर्धा स्थित नाडीवन या जल में रहने वाली वही स्थिर ऊर्जा होती हैं, किन्तु वह नाडियों से जाने वाली नहीं होती। वह प्राण की माता है, और उसे उत्पन्न करके उसी से वह गतिशील होती है। 'अरण्य' न जाने-प्राप्त करने योग्य अर्थ में ब्रह्म का सन्दर्भ देता है, यही उपनिषद् का 'वन' भी है।

---

127. देखिये 1:164:20

ओषधि सूक्त

इमां खनाम्योषधिं वीरुधां बलवत्तमाम्।
यथा सपत्नीं बाधते यया संविन्दते पतिम्।।
उत्तानपर्णे सुभगे देवजूते सहस्वति।
सपत्नीं मे परा धम पतिं मे केवलं कुरु।।
उत्तराहमुत्तर उत्तरेदुत्तराभ्यः।
अथा सपत्नी या ममाऽधरा साधराभ्यः।।
नह्यस्या नाम गृभ्णामिनो अस्मिन् रमते जने।
परामेव परावतं सपत्नीं गमयामसि।।
अहमस्मि सहमानाऽथ त्वमसि सासहिः।
उभे सहस्वती भूत्वी सपत्नीं मे सहावहै।।
उप तेऽधां सहमानामभि त्वाधां सहायसा।
मामनु प्र ते मनो वत्सं गौरिव धावतु पथा वारिव धावतु।।[128]

अर्थात् इस सर्वाधिक बलशालिनी, व्याप्ति की इच्छा वाली, ऊर्जा को धारण करने वाली लता (नाडी) को मैं (इन्द्राणी-वाक्) खोदती हूँ जिससे पति (इन्द्र) को सम्यक् प्राप्त करती हूँ, इस प्रकार सौत को दबाती हूँ।।

हे ऊपर विस्तृत पत्तों वाली अर्थात् ऊर्ध्व में जिसके पंख फैलते हैं (ऊर्ध्व में जाने वाली), शुभ ऐश्वर्यवाली, दीप्तियों को वेगवान करने वाली, बल या जल से युक्ता! मेरी सौत को दूर धौंक डालो। अकेले पति को मेरा बनाओ।।

हे ऊर्ध्वतरे! मैं ऊर्ध्वतर हूँ, ऊर्ध्वतरों से भी ऊर्ध्वतर हूँ। तब जो मेरी सौत है वह नीचों से सर्वतः नीच है। अर्थात् ऊपर जाने वाली अक्षर ऊर्जा नीचे आने वाली क्षर ऊर्जा दोनों सपत्नी हैं।।

निश्चय ही इसका नाम या जल नहीं लेती हूँ, अब इस उत्पत्तिस्थान में नहीं रहती हूँ। सौत को दूर से दूर ले जाओ।।

मैं सम्मान वाली हूँ, तब तुम शक्तिशालिनी हो। दोनों बलवती होकर के मेरी सौत को परास्त करो।।

तुझ समान प्रतिष्ठावाली को मैने समीप में धारण किया है, तुझे बल

128. ऋग्वेद 10:145:1-6

से सम्मुख धारण किया है। आगे तेरा मन (इन्द्र) मुझको फिर जैसे गाय बछड़े को भागती है वैसे ही भागे, मार्ग से जलों की भाँति भागे।।

इस सूक्त में स्पष्टतः ऊर्जा द्वारा ऊर्ध्ववह नाडी की प्रार्थना की गई है, मन (इन्द्र) ऊर्ध्व में स्थित उसका पति (अन्तरात्मा) है, तथा अधोवह ऊर्जा जो उर्ध्व से अधोवह निःसृत होती है, प्रतीक सौत है। सूक्त में ऊर्जा और नाडी के कार्य-व्यापार को बतलाया गया है।

गो सूक्त

मयोभूर्वातो अभि वातूस्रा ऊर्जस्वतीरोषधीरा रिशन्ताम्।
पीवस्वतीर्जीवधन्याः पिबन्त्ववसाय पद्वते रुद्र मृळ।।
याः सरूपा विरुपा एकरूपा यासामग्निरिष्ट्या नामानि वेद।
या अङ्गिरसस्तपसेह चक्रुस्ताभ्यः पर्जन्य महि शर्मयच्छ।।
या देवेषु तन्वमैरयन्त यासां सोमो विश्वा रूपाणि वेद।
ता अस्मभ्यं पयसा पिन्वमानाः प्रजावतीरिन्द्र गोष्ठे रिरीहि।।
प्रजापतिर्मह्यमेता रराणो विश्वेदेवैः पितृभिः संविदानः।
शिवाः सतीरुप नो गोष्ठमाकस्तासां वयं प्रजया सं सदेम।।

अर्थात् वायु रश्मि होकर सम्मुख बहें, ऊर्जा से युक्त हुई रश्मियाँ ऊर्जा को धारण करने वाली नाडियों को सर्वतः विभाजित करें, जैविक उत्पाद वाली विकास से युक्त होकर रक्षा करें, जाने वाले की रक्षा के लिये उग्रप्राण दया करें।।

जो ऊर्जायें समान रूप की, भिन्न रूप की, एक·रूप की हैं, अग्नि प्रवृत्ति द्वारा जिनके नामों को जानते हैं, जो ताप द्वारा यहाँ अङ्गों के रसों अर्थात् ओजस को बनाती हैं, उनके लिये वृष्टि महान् आधार विस्तारित करे।।

जिन्होंने शरीर को दीप्तियों में प्रेरित किया, सोम जिनके समस्त रूपों को जानता है; हे इन्द्र (मन)! उन उत्पादों से युक्ताओं को हमारे लिये जलों से विकसित करते हुये ऊर्जास्थान में दीजिये।।

उत्पादों में स्वामी इन कल्याणकारी सत्ताशील ऊर्जाओं को समस्त दीप्तिमानों और विकास करने वालों से साथ-साथ विशेष दान प्राप्त करते

हुये और मेरे लिये (मनुष्य के लिये) देते हुये हमारे (मनुष्य के) ऊर्जा स्थान में घुमाते हैं। उनके उत्पाद से हम लोग (मनुष्य या मानुषी धातुयें) सम्यक् स्थित होवें।।

इस सूक्त में ऊर्जा और उसकी प्रक्रिया का वर्णन किया गया है। संक्षेप में ऊर्जा, रश्मि, अग्नि, ताप, नाडी, वृष्टि, सोम, मन, प्राण, दीप्ति, उत्पाद, ओजस्, विकास और मानुषी स्थितियों के पारस्परिक सम्बन्धों पर प्रकाश डाला गया है।

नदी सूक्त

इस सूक्त में सिन्धु अर्थात् सागर और तत्कालीन आर्यावर्त की नदियों का उल्लेख किया गया है। विशेष बात यह है कि जहाँ नदियाँ गिनाई गई हैं, वे मन्त्र नदियों का क्रम भी बताते हैं। ऋग्वेद काल में भी पाञ्चाल राजधानी अहिच्छत्रा या काम्पिल्य से तक्षशिला होते हुये गान्धार जाने वाले प्राचीन महापथ[129] पर पड़ने वाली नदियों के ही नाम गिनाये गये हैं, जो नदियाँ अपनी मुख्य नदियों में संगम कर चुकी हैं और मार्ग पर नहीं पड़ती हैं उनके नाम नहीं है।
वस्तुतः नदीसूक्त प्रतीकात्मक है और नदियाँ प्रक्रियाओं और नाडियों की प्रतीक हैं तो सिन्धु (सागर) अन्तरिक्ष या ऊर्ध्व का प्रतीक होता है।

प्र सु व आपो महिमानमुत्तमं कारुर्वोचाति सदने विवस्वतः।
प्र सप्त सप्त त्रेधा हि चक्रमुः प्र सृत्वरीणामति सिन्धुरोजसा।।
प्र तेऽरदद्वरुणो यातवे पथः सिन्धो यद्वाजाँ अभ्यद्रवस्त्वम्।
भूम्या अधि प्रवता यासि सानुना यदेषामग्रं जगतामिरज्यसि।।
दिवि स्वनो यतते भूम्योपर्यनन्तं शुष्ममुदियर्ति भानुना।
अभ्रादिव प्र स्तनयन्ति वृष्टयः सिन्धुर्यदेति वृषभो न रोरुवत्।।
अभि त्वा सिन्धो शिशुमिन्न मातरो वाश्रा अर्षन्ति पयसेवधेनवः।
राजेव युध्वा नयसि त्वमित्सिचौ यदासामग्रं प्रवतामिनक्षसि।।
इमं मे गङ्गे यमुने सरस्वति शुतुद्रि स्तोमं सचता परुष्ण्या।
असिक्न्या मरुद्वृधे वितस्तयार्जीकीये श्रृणुह्या सुषोमया।।

129. देखो डॉ. मोतीचन्द्रः सार्थवाहं, पटनाः बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, 1955

तृष्टामया प्रथमं यातवे सजूः सुसर्त्वा रसयाश्वेत्या त्या।
त्वं सिन्धो कुभया गोमतीं क्रमुं मेहत्नवा सरथं याभिरीयसे।।
ऋजीत्येनी रुशती महित्वा परि ज्रयांसि भरते रजांसि।
अदब्धा सिन्धुरपसामपस्तमाश्वा न चित्रा वपुषीव दर्शता।।
स्वश्वा सिन्धुः सुरथासुवासा हिरण्ययी सुकृता वाजिनीवती।
ऊर्णावती युवतिः सीलमावत्युताधि वस्ते सुभगा मधुवृधम्।।
सुखं रथं युयुजे सिन्धुरश्विनं तेन वाजं सनिषदस्मिन्नाजौ।
महान्ह्यस्य महिमा पनस्यतेऽदब्धस्य स्वयशसो विरप्शिनः।।[130]

अर्थात् हे जलो! आगे विकास को उत्पन्न करिये। ऊर्जित करने वाले सूर्य ने उदक में ऊर्ध्वतम वाक् को प्राप्त किया। वस्तुतः गमन करने वालियों के प्रथम सात, सात और तीन रूपों (सप्त आदित्य रश्मियाँ, सप्त धातुयें और तीन कर्म-पाक-ज्ञान प्रक्रियायें) में आगे डग भरा था। समुद्र अर्थात् अन्तरिक्ष को ओजस के साथ प्राप्त किया।।

हे अन्तरिक्ष! जब आपने उत्पादों को सम्मुख प्राप्त किया या लादा तब विस्तार करने वाले वरुण ने तुम्हारे मार्गों को आगे जाने के लिये खोदा। जब इन धातुओं के आगे को अधिकार करते हो तो शरीर से मूर्धा तक कूदते हुये सर्वतः जाते हो (अर्थात् एक के बाद एक धातु पर कूदते हुये जाते हैं। इस प्रकार अनेक अन्तरिक्ष कहे जाते हैं)।

जब डहकारते हुये बैल की भाँति अन्तरिक्ष आगे बढ़ता है, तो जैसे मेघ से वृष्टियाँ प्रकृष्ट शब्द करती हैं वाक् दीप्ति में फैल जाती है तथा शरीर के ऊपर के अनन्त बल को रश्मि से ऊर्ध्व में ले जाती है।।

हे अन्तरिक्ष! तुम्हारे सम्मुख हम केवल शिशु रूप हैं; जैसे नदियाँ जल के साथ गायों की भाँति आश्रयस्थान को वेग से जाती हैं। जब आप इन आगे यात्रा करती हुई नदियों को प्राप्त करते हैं, तब बिलकुल राजा की भाँति युद्धकर सिंचाई में ले जाते हैं।।

हे गङ्गे (जाने वाली पाक-प्रक्रिया), यमुने (प्रयत्न करने वाली कर्म प्रक्रिया), सरस्वति (उदक से युक्ता प्रक्रिया), परुष्णी (पर्वों से युक्ता) के साथ शुतुद्रि (शीघ्र या क्षिप्रता से दौड़ने वाली)! इस मेरे ऊर्जापुञ्ज को बाँधिये। हे असिक्नी (जो शुक्ल नहीं है अपितु कृष्ण या कर्मपक्ष वाली है) के साथ

130. ऋग्वेद 10:75:1-9

मरुद्‌वृद्ये (वायु या प्राण को बढ़ाने या वहन करने वाली)!! वितस्ता (विशेषतः प्रज्ज्वलित या विशेषरूप से बढ़ी हुयी या विशेषतः गढ़ी गई) और गतिशीला सुषोमा (कल्याणकारी सोम वाली) के साथ आर्जीकीये!!! (उदक से उत्पन्न या सरलता से चलने वाली), सुनिये।।

हे अन्तरिक्ष! जाने के लिये पहले तुम कच्ची प्यास के साथ वेगवान् हुये। तुम जिनके साथ शरीर सहित जाते हो वे रसा (रस से युक्ता याउदकवहा) और श्वेत्या (उषा, ऊर्जा) के साथ सुसर्तू (कल्याण सरण करने वाली), कुभा (प्रकाशवती वाक्) के साथ गोमती (रश्मि युक्ता), क्रुमु (ऊर्ध्व में डग भरने वाली) और मेहत्नू (वर्षा कारक) हैं। (इस सूक्त में ओजस् निर्माण और उपयोग की सभी प्रक्रियायें नदियों के माध्यम से समझा दी गईं हैं। पहले वाले मन्त्र में सभी प्रक्रियाओं का प्रारम्भ और उनसे सम्बन्धित तत्त्वों का दिग्दर्शन करा दिया गया है)।।

सीधी जाने वाली, अनेक रंगों वाली, चमकती हुई हानि न पहुँचाने वाली, चुस्तों में सर्वाधिक चुस्त सिन्धु (बहने वाली, नदी, उदक-ऊर्जा) विकास से स्थिर ऊर्जाओं को सर्वतः गतिशीलताओं से पूर्ण करती है। रंगबिरंगी किरणों की भांति सुन्दरी नारी के तुल्य दिखलाई देते हैं।।

सुन्दर चमक वाली, सन्दर गतिवाली, सुगन्धवाली, सुनहली, शुभ करने वाली, रश्मियों से युक्त (उषा, ऊर्जा) निर्माण करने वाली, जुड़ने वाली, उत्पाद से युक्त और शुभ ऐश्वर्य वाली, बहने वाली (उदक-ऊर्जा) बढ़े हुये उदक से युक्त रहती है। (यहाँ 'सिन्धुः' को 'अधि वस्ते सुभगा मधुवृधम्' अर्थात् बढ़े हुये उदक से युक्त ऐश्वर्यवाली' बताकर परिभाषित कर दिया गया है; ऐश्वर्य भी उदक (ओजस्) से युक्त होना ही हैं)।।

अन्तरिक्ष अश्विनीकुमार को सुखमय रथ (गति या शरीर) में जोड़ता है, उससे इस संघर्ष में उत्पाद प्राप्त किया करता है। महान् (उदक) वस्तुतः वह है जिस हानि न पहुँचाने वाले के विकास को विशेषरूप से परिष्कृत बात कहने वाले विद्वज्जन ऊर्ध्व के यश से प्रशंसित करते हैं।

प्रतीकात्मकता की दृष्टि से इस सूक्त में अन्तिम दो मन्त्रों में क्रमशः 'सिन्धु' की परिभाषा तथा 'महान' अर्थात् 'उदक' को 'ऊर्ध्व' के माध्यम से वर्णित करना बता दिया गया है। प्रतीक उद्‌घाटन के साथ अर्थ स्पष्ट है।

श्रद्धा सूक्त

श्रद्धयाग्निः समिध्यते श्रद्धया हूयते हविः।
श्रद्धां भगस्य मूर्धनि वचसा वेदयामसि।।
प्रियं श्रद्धे ददतः प्रियं श्रद्धे दिदासतः।
पियं भोजेषु यज्वस्विदं म उदितं कृधि।।
मया देवा असुरेषु श्रद्धामुग्रेषु चक्रिरे।
एवं भोजेषु यज्वस्वस्माकमुदितं कृधि।।
श्रद्धां देवा यजमाना वायुगोपा उपासते।
श्रद्धा हृदय्य याकूत्या श्रद्धया विन्दते वसु।।
श्रद्धां प्रातर्हवामहे श्रद्धां मध्यन्दिनं परि।
श्रद्धां सूर्यस्य निमुचि श्रद्धे श्रद्धापयेह नः।।[131]

अर्थात् अग्नि विकास की धारणा द्वारा सम्यक् प्रज्ज्वलित होती है, उदक विकास की धारणा द्वारा बुलाये जाते हैं। आश्रयस्थान ऊर्ध्व की मूर्धा में वाक् के द्वारा विकास की धारणा को हम ज्ञात किया करते हैं।।

वह विकास की धारणा देने वाले को आगे बढ़ाने वाली है। वह विकास की धारणा देने की इच्छा रखने वाले को आगे बढ़ाने वाली है। सक्रियता युक्त रसादि धातुओं में आगे बढ़ाने वाली है। यह मेरे लिये उत्थान को बनाये।।

जिस प्रकार दीप्तियों ने उग्र प्राणों में विकास के अवधारण को बनाया, इसी प्रकार सक्रियतायुक्त रसादि धातुओं में हमारा उत्थान करिये।।

प्राणों के रक्षक या पालक दीप्तियाँ विकास के अवधारण को सक्रिय करते हुये समीप में बैठती हैं। विकास की धारणा हृदय में ज्ञान करके प्राप्त करने वाली है। विकास की धारणा द्वारा बसने वाली रसादि धातु प्राप्त होती है।।

प्रातःकाल में विकास की धारणा को, मध्य दिन के चारों ओर विकास की धारणा को हम पुकारते हैं। सूर्य की रश्मि विकास की धारणा को निश्चित प्राप्त करने वाली है। हे विकास की धारणे! यहाँ हमारे लिये विकसित हुये को धारण कराइये।।

इस सूक्त के प्रथम मन्त्र में ही 'श्रद्धा' की परिभाषा दे दी गई है।

131. ऋग्वेद 10:155:1-5

आगे विकास की स्थितियों को बताया गया है कि वे विभिन्न तत्त्वों को विकसित करते हुये उन्हें उत्पादन के लिये किस प्रकार प्रवृत्त करते हैं।

दक्षिणा सूक्त

आविरभून्महि माघोनमेषां विश्वं जीवं तमसो निरमोचि।
महि ज्योतिः पितृभिर्दत्तमागादुरुः पन्था दक्षिणाया अदर्शि।।
उच्चा दिवि दक्षिणावन्तो अस्थुर्ये अश्वदाः सह ते सूर्येण।
हिरण्यदा अमृतत्वं भजन्ते वासोदाः सोम प्र तिरन्त आयुः।।
दैवी पूर्तिर्दक्षिणा देवयज्या न कवारिभ्यो नहि ते पृणन्ति।
अथा नरः प्रयतदक्षिणासोऽवद्यभिया बहवः पृणन्ति।।
शतधारं वायुमर्कं स्वर्विदं नृचक्षसस्ते अभि चक्षते हविः।
ये पृणन्ति प्र च इच्छन्ति सङ्गमे ते दक्षिणां दुहते सप्तमातरम्।।
दक्षिणावान्प्रथमो हूत एति दक्षिणावान्ग्रामणीरग्रमेति।
तमेव मन्ये नृपतिं जनानां यः प्रथमो दक्षिणामाविवाय।।
तमेव ऋषिं तमु ब्रह्माणमाहुर्यज्ञन्यं सामगामुक्थशासम्।
स शुक्रस्य तन्वो वेद तिस्रो यः प्रथमो दक्षिणया रराध।।
दक्षिणाश्वं दक्षिणा गां ददाति दक्षिणा चन्द्रमुत यद्धिरण्यम्।
दक्षिणान्नं वनुते यो न आत्मा दक्षिणां वर्म कृणुते विजानन्।।
न भोजा मम्रुर्न न्यर्थमीयुर्न रिष्यन्ति न व्यथन्ते ह भोजाः।
यदं यद्विश्वं भुवनं स्वश्चैतत्सर्वं दक्षिणैभ्यो ददाति।।
भोजा जिग्युः सुरभिं योनिमग्रे भोजा जिग्युर्वध्वं या सुवासाः।
भोजा जिग्युरन्तः पेयं सुराया भोजा जिग्युर्ये अहूताः प्रयन्ति।।
भोजायाश्वं सं मृजन्त्याशुं भोजायास्ते कन्या शुम्भमाना।
भोजस्येदं पुष्करिणीव वेश्म परिष्कृतं देवमानेव चित्रम्।।
भोजमश्वाः सुष्ठुवाहो वहन्ति सुवृद्रथो वर्तते दक्षिणायाः।
भोजं देवासोऽवता भरेषु भोजः शत्रून्त्समनीकेषु जेता।।[132]

अर्थात् महान् प्रकाश वर्तमान हुआ, उसने इस मुनष्य के ऐश्वर्य युक्त समस्त जीवन को अन्धकार से पूर्णतः मुक्त किया। महान् ज्योति विकासकर्त्ताओं

132. ऋग्वेद 10:107:1-11

के द्वारा दी हुई आई, उसने दक्षिणायन, कर्मनिष्पादन का विस्तृत मार्ग सब ओर से देखा।।

ऊर्ध्व में और दीप्ति में जो रश्मि को देने वाले हैं, वे सूर्य के साथ दक्षिणायन से युक्त होकर स्थित हुये हैं। धातुओं को देने वाले उदक को बांटते हैं, निवास स्थानों को देने वाले सोम को प्राप्त कर जीवन को पार करते हैं।।

दीप्ति को प्रक्रियारत करने वाला दक्षिणायन दीप्तियों की पूर्ति है; जलों के लिये नहीं है। वस्तुतः वे रश्मियाँ उन्हें नहीं भरती हैं। इसके अनन्तर नर इन्द्र (मन) कर्म (दक्षिणायन) होकर आगे बढ़ता है, बढ़ने वाली रश्मियाँ न कहे जाने योग्य भय से या निन्दा के डर से भरती हैं।।

जो रश्मियाँ पूर्ति करती हैं और साथ जाने में आगे विस्तारित करती हैं, वे सप्त नदियों[133] से युक्त दक्षिणायन कर्म को दुहती हैं। वे मनुष्य को देखने वाली, स्वर्ग या वाक् को जानने वाली (अर्थात् स्वर्ग या वाक् ऊर्जा से अनुप्राणित), सौ नाड़ियों वाले उदक को, वायु को, सूर्य (आदित्य) को सम्मुख देखती हैं।।

दक्षिणायन से युक्त व्यक्ति प्रथम बुलाये हुये इन्द्र (मन) को प्राप्त करता है। दक्षिणायन से युक्त व्यक्ति पहले समूह वालों (मरुद्गण, आदित्यगण, रुद्रगण आदि) को प्राप्त करता है। जिसने पहले दक्षिणायन में भोग किया है उसको ही मैं जनों का राजा मानता हूँ।।

जो पहले दक्षिणायन द्वारा सफल हुआ है वह शुक्र के तीन शरीरों- आधिभौतिक वीर्य, अधिदैविक ओजस् और आध्यात्मिक पर-ओजस् (उदक)- को जान लेता है। वह ही जाने वाला ऋषि है, वह ही उत्पाद का ज्ञाता ब्रह्मा है, प्रक्रिया करने वाला ऋत्विक्, अध्यात्म को प्राप्त करने वाला उद्गाता वाक् ऊर्जा का नियंत्रक कहा जाता है।।

दक्षिणायन रश्मि को, दक्षिणायन जाने वाली ऊर्जा (वाक्) को, दक्षिणायन सोम को, और जो सुनहरा (धातु युक्त) है उसको देता है। दक्षिणायन उत्पाद को जीतता है। इस दक्षिणायन को भली प्रकार जानते हुये हमारी आत्मा कवच बनाती है।।

उत्पादक मरते नहीं हैं, न निम्न परिणाम को प्राप्त होते हैं, नक्षत होते

133 देखिये पिछले नदीसूक्त का मन्त्र-5, गङ्गा-यमुना-सरस्वती से भिन्न सात नदियों के अर्थ कर्म प्रक्रिया की दृष्टि से।।

हैं; उत्पादक निश्चय ही नहीं डगमगाते हैं। यह जो विश्व, आधिदैविक लोक, आध्यात्मिक लोक, और यह आधिभौतिक लोक हैं, इन सब को दक्षिणायन कर्म इन मनुष्यों के लिये प्रदान करता है।।

सर्वप्रथम उत्पादकों को कल्याण युक्त उदक प्राप्त करना चाहिये, उत्पादकों को वध किये हुये जो कल्याण निवास वाले धातुस्थान हैं, उन्हें प्राप्त करना चाहिये। उत्पादकों को निचोड़े हुये जल के भीतर पीने योग्य सोम को प्राप्त करना चाहिये। उत्पादकों को उनको प्राप्त करना चाहिये जो बिना बुलाये या बिना प्रक्रिया प्रारम्भ किये आगे बढ़ते हैं।।

उत्पादक के लिये रश्मि को शीघ्र सम्यक् परिष्कृत करते हैं, उत्पादक के लिये चमकने वाली ऊर्जा को कल्याणकारी बनाते हुये स्थित होते हैं। उत्पादक का यह घर (शरीर) कमल युक्त सरोवर की भांति स्वच्छ किया हुआ है तथा दीप्तियों से युक्त की भाँति रंगबिरंगा प्रकाशयुक्त है।।

अधिक ले जोने वाली रश्मियाँ उत्पादक का वहन करती हैं। दक्षिणायन का भली प्रकार मुड़ने वाला रथ (शरीर) मुड़ता है। दीप्तियाँ संघर्षों में उत्पाद की रक्षा करते हैं। उत्पादक संघर्ष में शत्रुओं को जीतने वाला होता है।।

इस सूक्त में 'दक्षिणा' शब्द से 'दक्षिणायन' और 'कर्म' दोनों का बोध ा होता है। यह शबद शारीरकर्म प्रक्रिया का वाहक है तथा प्रतीक को उद्घाटित कर वैज्ञानिक स्वरुप प्राप्त कराता है।

दान–सूक्त

न वा उ देवाः क्षुधमिद्वधं ददुरुताशितमुप गच्छन्ति मृत्यवः।
उतो रयिः पृणतो नोप दस्यत्युतापृणन्मर्डितारं न विन्दते।।
य आध्राय चकमानाय पित्वोऽन्नावान्त्सन्र फितायोपजग्मुषे।
स्थिर मनः कृणुते सेवते पुरोतो चित्स मर्डितारं न विन्दते।।
स इद्भोजो यो गृहवे ददात्यन्नकामाय चरते कृशाय।
अरमस्मै भवति यामहूता उतापरीषु कृणुते सखायम्।।
न स सखा यो न ददाति सख्ये सचाभुवे सचमानाय पित्वः।
अपास्मात्प्रेयान्न तदोको अस्ति पृणन्तमन्यमरणं चिदिच्छेत्।।
पृणीयादिन्नाधमानाय तव्यान्द्राघीयांसमनु पश्येत् पन्थाम्।

आ हि वतन्ते रथ्येव चक्रान्यमन्यमुप तिष्टन्त रायः।।
मोघमन्नं विदन्ते अप्रचेताः सत्यं ब्रवीमि वध इत्स तस्य।
नार्यमणं पुष्यति नो सखाय केवलाघो भवति केवलादी।।
कृषन्नित्फाल आशितं कृणोति यन्नध्वानमप वृङ्क्ते चरित्रैः।
वदन्ब्रह्मावदतो वनीयान्पृणन्नापिरपृणन्तमभिष्यात्।।
एकपाद्भूयो द्विपदो वि चक्रमे द्विपात्त्रिपादमभ्येति पश्चात्।
चतुष्पादेति द्विपदामभिस्वरे सम्पश्यन्पङ्क्तीरुपतिष्ठमानः।।
समौ चिद्धस्तौ न समं विविष्ट सम्मातरा चिन्न समं दुहाते।
यमयोश्चिन्न समावीर्याणि ज्ञाती चित्सन्तौ न समं पृणीतः।।[134]

अर्थात् दीप्तियों ने उदारतापूर्वक न केवल भूख को तथा वध को भी दिया है। उत्पाद अपूर्ण होते हुये सुख को प्राप्त नहीं करता, और पूर्ण हुआ उत्पाद भी समीप में नहीं अजाड़ता। अघाये हुये के पास मृत्युयें जाती हैं।

सम्पन्न होने की इच्छा वाले के लिये, तृप्त होते हुये के लिये, भरे हुये के लिये, समीप में प्राप्त करने वाले के लिये जो विकासत्व उत्पाद से युक्त होकर मन को स्थिर बनाता है, अथवा यदि कोई उसे पूर्वकाल में ही सेवन कर लेता है तो वह भी सुख को प्राप्त नहीं होता।।

केवल वह उत्पादक जो ग्रहण की इच्छा वाले के लिये देता है, क्षीण उत्पाद प्रक्रिया के लिये गतिमान होता है, न बुलाई हुई को और अन्यों में भी समान परिवेश को बनाता है, वह (सब) इस पुरुष के लिये पर्याप्त होता है।।

वह विकासत्व समान परिवेश वाला नहीं होता है जो साथ होने वाले के लिये या साथ देने वाले समान परिवेश के लिये नहीं देता है। इस शरीर से दूर निम्न को प्राप्त करने वाला या जो किसी दूसरे जल को भरने की भी इच्छा करता है, वह (वस्तुतः) आश्रय नहीं है।

दीर्घतर बलों को अमानत के लिये भी पूर्णतः नहीं भरना चाहिये, आगे के मार्गों को देखना चाहिये। वस्तुतः उत्पाद मार्ग पर दौड़ते हुये पहिये की भाँति दूसरे-दूसरे के समीप स्थित होते हुये घूमते (मुड़ते) रहते हैं।

प्रथमतः चेतनाहीन-कर्म उत्पाद को व्यर्थ ही प्राप्त करते हैं; मै सत्य कहता हूँ कि वह उसका वध भी है। हमारे समान परिवेश प्राप्तियों से युक्त

134. ऋग्वेद 10:117:1-9

को पोषित नहीं करते। मात्र खाने वाला केवल पापी होता है।

जैसे हल का फाल खेत जोतते हुये भी उत्पाद को बनाता है, वैसे ही गमनों के द्वारा मार्ग को मोड़ा जाता है। जैसे उत्पाद को जानने वाला बोलते हुये जलों का निर्देश करता है, वैसे ही प्राप्त करने वाला खाली को भरता हुआ सम्मुख होवे।।

वह (पुरुष) एक पाद वाला होकर दो पाद का विशेषतः (दक्षिणायन-उत्तरायण) बन जाता है, बाद में दो पाद वाला (उत्तरायण में पाक और ज्ञान विभागों से) तीन पादों को स्पष्टतः प्राप्त करता है। चार पादों (अधिभूत, अधिदेव, अध्यात्म और विश्व) वाला प्रकट शब्दों में दो पाद वाले को प्राप्त करता है। इस प्रकार क्रमों को साथ-साथ देखता हुआ समीप में स्थित होता रहता है।।

समान हाथ वाले भी समान रूप से विशेष सक्रिय नहीं होते। समान नदियाँ भी समान लाभ नहीं देतीं। जुड़वाँ होने वाले भी बल में समान नहीं होते। दो जानने वाले भी समान रूप से भरने वाले नहीं होते।।

इस सूक्त में उत्पाद के लिये ऊर्जा-दान का महत्व निर्धारित किया गया है, सांसारिक दान की कोई बात नहीं है। यह दान आत्मा द्वारा दीप्तियों के माध्यम से प्रक्रिया संचालन और उत्पादन के हेतु से धातु स्थानों में प्राप्त होता है।

अक्ष-सूक्त

प्र वेप मा बृहतो मादयन्ति प्र व तेजा इरिणं वर्वृतानाः।
सोमस्येव मौजवतस्य भक्षो विभीदको जागृबिर्मह्यमच्छान्।।
न मा मिमेथ न जिहीळ एषा शिवा सखिभ्य उत मह्यमासीत्।
अक्षास्याहमेक परस्य हेतोरनुव्रतामप जायामरोधाम्।।
द्वेष्टि श्वश्रूरप जाया रुणद्धि न नाथितो विन्दते मर्डितारम्।
अश्वस्येव जरतो वस्न्यस्य नाहं विन्दामि कितवस्य भोगम्।।
अन्ये जायां परिमृशन्त्यस्य यस्यागृधद्वेदने वाज्याक्षः।
पिता माता भ्रातर एनमाहुर्न जानीमा नयता बद्धमेतम्।।
यदादीध्ये न दविषाण्येभिः परायद्भ्योऽव हीये सखिभ्यः।

न्युप्ताश्च बभ्रवो वाचमक्रतँ एमीदेषां निष्कृतं जारिणीव।।
सभामेति कितवः पृच्छमानो जेष्यामीति तन्वा शूशुजानः।
अक्षासो अस्य वि तिरन्ति कामं प्रतिदीव्ने दधत आ कृता नि।।
अक्षास इदङ् कुशिनो नितोदिनो निकृत्वानस्तपनास्तापयिष्णवः।
कुमारदेष्णा जयतः पुनर्हणो मध्वा सम्पृक्ता कितवस्य बर्हणा।।
त्रिपञ्चाशः क्रीळति व्रात एषां देव इव सविता सत्यधर्मा ।
उग्रस्य चिन्मन्यवे ना नमन्ते राजा चिदेभ्यो नम इत्कृणोति।।
नीचा वर्तन्त उपरि स्फुरन्त्यहस्तासो हस्तवन्तं सहन्ते।
दिव्या अङ्गारा इरिणे न्युप्ताः शीताः सन्तो हृदयं निर्दहन्ति।।
जाया तप्यते कितवस्य हीना माता पुत्रस्य चरतः क्वस्वित्।
ऋणावा बिभ्यद्धनमिच्छमानोऽन्येषामस्तमुप नक्तमेति।।
स्त्रियं दृश्ट्वाय कितवं ततापान्येषां जायां सुकृतं च योनिम्।
पूर्वाह्णे अश्वान्युयुजे हि बभ्रून्त्सो अग्नेरन्ते वृषलः पपाद।।
यो वः सेनानीर्महतो गणस्य राजा व्रातस्य प्रथमो बभूव।
तस्मै कृणोमि न धना रुणध्मि दशाहं प्राचीस्तेहतं वदामि।।
अक्षैर्मा दीव्यः कृषिमित् कृषस्व वित्ते रमस्व बहु मन्यमानः।
तत्र गाव कितव तत्र जाया तन्मे वि चष्टे सवितायमर्यः।।
मित्रं कृणुध्वं खलु मृळता नो मा नो घोरेण चरताभि धृष्णु।
नि वो नु मन्युर्विशतामरातिरन्यो बभ्रूणां प्रसितौ न्वस्तु।।[135]

अर्थात् पूर्वकाल में बात से उत्पन्न हुईं, बढ़ी हुईं, कम्पनशीला (नाडियाँ) विस्तीर्ण होती हुई मेरी चालनशक्ति को आनन्दित करती हैं। मंजू के रेशे से बनाये हुये के सदृश (मौज +वत्) मस्तिष्क के खाये जाने की भाँति विशेषतः कांपने वाले उदक (वि+भी+दक) ने मेरे लिये जाग्रतियों (ज्ञानों) को प्रवृत्त किया।

यह कल्याणी (ऊर्जा, वाक) हमारा वध न करे, हमें जीवन प्रदान करे, और मेरे समान परिवेशों (मित्रों) के लिये वर्तमान हो। उस एक-पर-अक्षर-कारणभूत के पीछे मैं विद्यमान होऊँ, तथा जीतने वाली (ऊर्जा) को नष्ट होने से रोकूँ।

जीतने वाली ऊर्जा जल से द्वेष करती है, हमारे लिये उत्पाद को नीचे

135. ऋग्वेद 10:34:1-14

घेरती है। स्वामी होता हुआ सुख देने वाली को प्राप्त करता है (हूँ)। ऊर्जित होती हुई नाडी में ऊर्जा के बन्धन की भाँति मैं बनाने वाले (कृतवान्) के भोग को प्राप्त करता हूँ।

अक्षर रश्मि जिसको जानने के लिये ललचाती है, उस इस पुरुष की जीतने वाली (ऊर्जा) को अन्य सर्वतः स्पर्श करते हैं। विकास करने वाला, निर्माण करने वाली, प्रकाश से सम्पन्न व्यक्ति 'इस पुरुष को हमने जान लिया है' ऐसा कहते हैं, इसको युक्त होकर आगे ले जाते हैं।

मैं समझती हूँ कि ऊर्ध्व को गयी हुई समान परिवेश वालियों से हीन होकर इनसे मैं प्रकाशित नही होती। और, निश्चय फेंकी हुई भूरे रंग की नाडियों ने निश्चित ज्ञान को बनाया, केवल इन को जारिणी की भाँति प्राप्त करती हूँ।

बनाने वाला (कृतवान्) खोजता हुआ प्रकाश युक्त अग्नि (सभा) को पहुँचता है कि 'शरीर से प्रकाशित होता हुआ ज्ञान प्रक्रिया को जीतूँगा'। इसके निर्माण को अक्षर ऊर्जायें विशेषतः पार करती हैं, बनायी हुयी (शरीर धातुयें) प्रत्येक दीपन (पाक) को आकर धारण करती हैं।

बनाने वाले (कृतवान्) की उदक से संयुक्त अक्षर ऊर्जायें भी ठीक हल के फाल की भाँति चीरने वाली सुइ की भाँति चुभने वाली, काटने वाली, जलाने वाली, ताप उत्पन्न करने वाली, बुरी मृत्यु देने वाली, जीती जाने पर भी पुनः मारने वाली, तथा शक्ति से युक्त हैं।[136]

सत्यधर्मा देव सविता की भाँति इस ऊर्जा का तीन मार्गों और पाँच वायुओं से जाने वाला कर्म खेलता है (अर्थात् जिस प्रकार सूर्य-रश्मियाँ आकाश में खेलती है, उसी प्रकार कर्म भी मार्गों में वायु द्वारा खेलता है); यह किसी उग्र या अभिमानी के आगे भी नहीं झुकता, इसको तो प्रकाशमान् (राजा) भी नमस्कार ही करता है।

ये ऊर्जायें नीचे (शरीर में) रहकर ऊपर (हृदय या मूर्धा में) झटका लगाती हैं, जैसे बिना हाथ वाला होकर हाथ वाले पर प्रहार करे। प्रभाव रूप से अङ्गारों सदृश होते हुये चालन शक्ति में भले प्रकार अधीन किये जाने पर ये शीतल होकर हृदय को नहीं जलाती हैं।

बनाने वाले (कृतवान्) की जीतने वाली ऊर्जा तपाई जाती है; क्रिया करते हुये गतिशील की हीन निर्माण-प्रक्रिया कहाँ सम्भव है? उत्पाद की

136. इन भावों की समानता के लिये सूर्याविवाहसूक्त 10:85:34-35, देखें, पृ. 312-313

इच्छा करता हुआ वह जाने वाला डरता हुआ अन्यों के साथ-साथ रात्रि (स्थित ऊर्जा) रूपी विश्राम (आश्रयस्थान) को प्राप्त करता है।

वह वर्षा कराने के शील वाला (इन्द्र) प्रकृतिस्थ अग्नि से प्राप्त होता है, प्रातःकाल (प्रारम्भ) में ही भूरे रंग वाली रश्मियों या नाडियों को जोड़ता है, अन्यों की विजयिनी विस्तार करने वाली तथा शुभ कर्म (या निर्माण) की स्रोत को देखने के लिये बनाने वले (कृतवान्) को तपाता है।

जो प्रथम उत्पन्न हुआ वह कर्म का राजा (शासक) तथा तुम्हारे (मनुष्य के) विकास युक्त वाक् (ऊर्जा) का सेनापत्ति है, उसे लिये मैं दस विस्तार (अन्न से लेकर पर ओजस् तक) करता हूँ तथा उत्पादों को नहीं रोकता हूँ। यह मैं सत्य कहता हूँ।

हे कृतवान् (कर्मशील या निर्माणशील)! अक्षों अर्थात् पहुँचने वालों या न गिरने (अक्षर) वालों से मत प्रकाशित होवो, संचालित होने वाले को संचालित करो, बहुत सम्मान (ऐश्वर्य) प्राप्त करते हुये उत्पाद में रत रहो। वहाँ जाने वाली रश्मियाँ हैं, वहाँ विजयिनी ऊर्जा है। यह मुझ मर्त्य ने उत्पादक के लिये विशेष ज्ञान प्राप्त किया है।

(हे अग्नि या इन्द्र!) तु हमको मित्र बनाओं और निश्चयपूर्वक हमें सुखी करो। हमारे प्रतिबलात् तथा भयानक आचरणा न करो। आपका क्रोध भी हमारे शत्रुओं में प्रवेश करे। अन्य (द्युस्थानीय) ही भूरे रंग की (ज्ञानवाही) नाडियों के बन्धन में हों।

यह सूक्त ऊर्जा और ऊर्जस्विता नाडियों से सम्बन्धित है; तथापि नाडियों के स्थान पर प्रकारान्तर से इसे ओषधियों से भी सम्बन्धित किया जा सकता है, क्योंकि ओषधियाँ शरीर में नाडियों की ही प्रतीक हैं। यास्क ने इस सूक्त के केवल प्रथम मन्त्र [137] की ही व्याख्या की है और उसे ओषधि ही मानकर विवेचन किया है, किन्तु अन्यों को उसमें जुआड़ी की पीड़ा दिखाई दी।

वात सूक्त

वातस्य नु महिमानं रथस्य रुजन्नेति स्तनयन्नस्य घोषः।
दिविस्पृग्यात्यरुणानि कृण्वन्नुतो एति पृथिव्या रेणुमस्यन्।।

137. निरुक्त 9:8

सं प्रेरते अनु वातस्य विष्ठा ऐनं गच्छन्ति समनं न योषाः।
ताभिः संयुक्सरथं देव ईयतेऽस्य विश्वस्य भुवनस्य राजा।।
अन्तरिक्षे पथिभिरीयमानो न नि विशते कतमच्चनाहः।
अपां सखा प्रथमजा ऋतावा क्व स्विज्जातः कुत आ बभूव।।
आत्मा देवानां भुवनस्य गर्भो यथावशं चरति देव एषः।
घोषा इदस्य शृण्विरे न रूपं तस्मै वाताय हविषा विधेम।।[138]

अर्थात् वायु का गरजता हुआ घोष अब इस पुरुष के शरीर के विस्तार को तोड़ता हुआ जाता है। दीप्ति में प्रभाव डालने वाला रश्मियों को अरुण बनाता हुआ प्राप्त करता है, और शरीर से (ऊर्ध्व में) जाने वाले को फेकता हुआ जाता है।

वात की विशेषतः स्थिता हमारी जुड़ने वाली नाडियां मन के साथ इसके पास आती हैं, फिर सम्यक् रूप से आगे जाती हैं। उनसे जुड़ने वाला इस सम्पूर्ण जल का प्रकाशक दीप्तिमान् (मन) शरीर सहित फैलता है।

(वायु) पथों (नाडी आदि) से अन्तरक्षि (अन्तःशरीर) में फैलता हुआ किसी भी दिन नहीं ठहरता है। सबसे पहले उत्पन्न होने वाले गतिशील जलों के समान परिवेश वाला (प्राण) संभवतः कहां उत्पन्न हुआ था, और कहाँ से आकर वर्तमान हुआ है?

यह दीप्तिमान् (प्राण) दीप्तिमानों (देवों) की आत्मा और जल का गर्भ इच्छानुसार विचारता है। इसकी ध्वनियाँ भी सुनाई पड़ती है किन्तु रूप नहीं (दिखाई देता है)। उस वायु के लिये हम हवि से विधान करते हैं।

उपर्युक्त सूक्तों की प्रतीकात्मकतायें स्पष्ट कर दी गई है, और उनके वैज्ञानिक सन्दर्भ भी प्राप्त हो चुके हैं। पिछले पाँचवे अध्याय में भी अनेक सूक्त स्पष्ट किये गये थे, जिनमें भी प्रतीक (विशेषरुप से नाम प्रतीक) थे जिन्हें व्युत्पत्ति द्वारा उद्घाटित किया गया था। मुख्यतः नाम प्रतीक ही वेद में उपलब्ध भी होते हैं। जो महत्वपूर्ण सूक्त वहाँ व्याख्यायित किये गये थे उनमें दशम मण्डल के सूक्त 1, 5, 14, 15, 30, 36, 45, 46, 56, 57, 58, 62, 68, 69, 70, 71, 72, 80, 81, 82, 85, 90, 92, 109, 110, 114, 119, 122, 125, 127, 129, 130, 135, 136, 138, 140, 142, 144, 149, 153, 169, 181, 185,

138. 10:168:1-4

186, 188, 190 आदि पूर्णरूपेण या मुख्यांशों में अभिव्यक्त किये जा चुके हैं। वर्तमान अध्याय में सूक्त 10,34, 75, 85, 86, 95, 98, 100, 101, 107, 108, 117, 125, 127, 145, 146, 151, 159, 168 आदि व्याख्यायित किये गये हैं। 85 वाँ सूर्या विवाह सूक्त के सोम से सम्बन्धित पाँच मन्त्र वर्तमान अध्याय में व्याख्यायित किये गये हैं जबकि अन्य पहले ही पिछले अध्याय में व्याख्यायित किये जा चुके हैं। 125 वे वाक्-सूक्त पिछले अध्याय में सन्दर्भतः ही प्रस्तुत किया गया था किन्तु वर्तमान अध्याय में नवीन व्याख्या के साथ प्रतीकात्मकता का उद्घाटन करते हुये व्याख्यायित किया गया है। इसी प्रकार 127 वाँ रात्रिसूक्त भी नवीन सन्दर्भों में ही वर्तमान अध्याय में प्रस्तुत है। कुछ सूक्त मात्र प्रार्थनायें है या विज्ञान से परे सन्दर्भित हैं, उनकी व्याख्या की वर्तमान शोध में आवश्यकता नहीं समझी गई है।

सप्तम अध्याय

उपसंहार :

(क) शोध से प्राप्त निष्कर्ष।

(ख) शोध का महत्व निर्धारण।

(ग) उपादेयता तथा मानक प्रयोग की सम्भावनाओं पर प्रकाश।

सप्तम अध्याय

उपसंहार

(क) शोध से प्राप्त निष्कर्ष :

वर्तमान शोध के निरूपण और नियोजन के समय हमने शोध के आधारों, उद्देश्यों, प्रयोजन, विधानों, प्राप्तियों, सम्भावनाओं आदि पर विस्तृत प्रकाश डाला था। अब जहाँ निष्कर्षों की बात है तो उन सब के परिप्रेक्ष्य में ही ये निःसृत होंगे तथा इनकी सम्भावनाओं, महत्व और उपयोगिताओं पर प्रकाश डाला जा सकेगा। अतः यह आवश्यक हो जाता है कि हम उनका पुनः सिंहावलोकन करें। वेद पर व्याख्याकारिता तो तत्काल ही प्रारम्भ हो गई थी जब कुछ प्रमुख सूक्तों के अर्थ को स्पष्ट करने के लिये अन्य सूक्त रचे गये, अथवा फुटकर मन्त्रों में पूर्वकथनों को व्याख्यायित किया गया। वेद की यह घोषणा कि बार-बार उसी विषय को विभिन्न रूपों में प्रस्तुत किया गया है, भी एक प्रकार की व्याख्याकारिता का ही सन्दर्भ देता है। पुनः, उपवेदों, ब्राह्मण-आरण्यकों, वेदाङ्गों, और इतिहास-पुराणों में भी वेद पर व्याख्या के दर्शन होते हैं। किन्तु, इन सब के उद्देश्य सीमित हैं और प्रसंगवशात् या विशिष्ट परिप्रेक्ष्यों में ही ऐसी व्याख्यायें सम्पादित हुई हैं। वेद पर पूर्णरूप से भाष्य या टीका के द्वारा व्याख्याकारिता हमें मध्ययुग के पहले नहीं दिखाई देती। मोटे रूप में व्याख्याकारिता का एक प्रयास हमें यास्क के 'निरुक्त' में प्राप्त होता है जो उनकी व्याख्या की शैली से सुप्रमाणित होता है, परन्तु इसका मुख्य आधार 'निघण्टु' है, वस्तुतः जिसपर ही यास्क ने 'निरुक्त' में टीका की है। 'निघण्टु' में वेदार्थों और प्रतीकों के निदेश तो किये ही गये हैं, अपितु नैगम-काण्ड में जो ऐकपदिक शब्द प्रस्तुत किये गये हैं उनसे सन्दर्भित मन्त्रों को क्रम से बांधने पर वैज्ञानिक प्रक्रियाओं का उद्घाटन होता है। यास्क ने वह तो सब करने की चेष्टा की ही है, उसके अलावा स्वयं की प्रेरणा से भी कुछ विज्ञानों का उद्घाटन किया है। ये भाषा

विज्ञान, समाज विज्ञान, शिक्षण-विज्ञान और ज्ञान-विज्ञान हैं। निघण्टु के सन्दर्भ से शरीर का पाँच प्रक्रियायें- जीवनीय और कर्म प्रक्रियायें, पाक और ज्ञान प्रक्रियायें, तथा ऊर्जा संरक्षण प्रक्रिया- भी यास्क ने प्रस्तुत की है। हमने यास्क को आधार मानकर ही वर्तमान शोध का निरूपण और नियोजन किया है।

प्रतीकात्मकता की दृष्टि से यास्क ने 'निरुक्त' के दैवत प्रकरण में 'निघण्टु' के पञ्चम अध्याय के संदर्भित देवताओं की व्याख्या की है। उन्होंने मुख्यरूप से तीन ही देवता माने हैं- द्युस्थानीय आदित्य, अन्तरिक्षस्थानीय इन्द्र या वायु, पृथिवीस्थानीय अग्नि- जबकि अन्य देवताओं को इन्हीं का रूप माना है जो विभूतियों और कर्मों के परिप्रेक्ष्य में अनेक नाम्ना होकर पुरुष के समान व्यवहार करते हुये परिलक्षित होते हैं।

वस्तुतः कुल और फिर जन की सामाजिक अवस्थाओं में पशुपालक समाज की आवश्यकतानुसार जो नये-नये क्षेत्रों को जानने की आवश्यकता होती थी उसके लिये पुरोहित ऋषियों ने पृथिवी, आकश और अन्तरिक्ष का सम्यक अध्ययन किया था, और फिर इन्हीं परिप्रेक्ष्यों में पुरुष शारीर का भी अध्ययन किया गया जहाँ शरीर को पृथिवी के तुल्य, शिमूर्धा को द्युलोक के तुल्य, और अन्तःशरीर (कोष्ठगत) को अन्तरक्षि के तुल्य माना गया। अन्तरिक्ष के ऊर्जापुञ्जों की भांति अन्तःशरीर के ऊर्जापुञ्जों को देवताओं की संज्ञा दी गई, रश्मियों को स्त्रोत्र कहा गया, ओषधियों की समानता सिरा-स्नायु आदि से, नदियों की स्रोतसों और नाडियों से, पर्वतों की पर्वों से और इसी प्रकार अनेक तुल्यातायें प्रस्तुत की गईं। इस प्रकार लोक और पुरुष का साम्य स्थापित किया गया। उस काल की परिस्थितियों में मनुष्यों और पुशुओं की चिकित्सा, चीर-फाड़, वध आदि में ऋषियों को अन्तःशरीर को प्रेक्षण करने का अवसर मिला। जन का नेतृत्व करने के लिये, धन तथा पद प्राप्त करने के लिये, ऋषियों की आपसी प्रतिस्पर्धा, राजन्य और पुरोहितों के बीच अधिकार संघर्ष, आदि कुछ ऐसी परिस्थितियाँ थी जिनमें अपनी श्रेष्ठता प्रमाणित करने के लिये ज्ञान-विज्ञान को आगे बढ़ाया गया जिसमें इनका विकास एक पुष्ट विज्ञान के रूप में हुआ। तथापि, ऐसा सम्पूर्ण वैज्ञानिक कार्य उस काल की परिस्थिति के अनुसार सामूहिकता में ही

शोध से प्राप्त निष्कर्ष

संन्निहित था और ज्ञान-विज्ञान के लिये मित्रों का साहचर्य एक आवश्यक अङ्ग था। वस्तुतः जन कुलों का एक सम्मिलित रूप था जिसमें एक प्रमुख राजन्य कुल के साथ पुराहितों के एक कुल तथा विशों के समूहों (ग्रामों) का योग था। यद्यपि इस काल में व्यक्तिगत सम्पित्त का महत्व बढ़ गया था तथापि आदिम साम्यवाद के लक्षण मौजूद थे और उत्पादन तथा वितरण में पूरे समाज या पूरे कुल की हिस्सेदारी बराबर मानी जाती थी। ज्ञान-विज्ञान की दृष्टि से पुरोहितों के जो सम्प्रदाय बने उन्हें अधिकाधिक निखारने की दृष्टि से ऋषि-सभा या विदथ का उपक्रम किया जाता था, और विवेचना तथा विधियों या युक्तियों के आधार पर प्रस्तुत प्राप्ति की समीक्षापूर्वक वैज्ञानिक अर्थों में ग्रहण किया जाने के प्रमाण प्राप्त होते हैं। विभिन्न सम्प्रदायों में देशगत तथा कालगत भिन्नता होने से परिभाषिक शब्दों की विशदता स्थापित हुई, क्योंकि इस अत्यन्त प्रारम्भिक काल में पारिभाषिक मानदण्ड निश्चित नहीं हो सके थे। भाषा अपने विकास की अवस्था में थी और बहुत कम ध्वनियाँ सम्प्रेषण के हेतु से प्रयुक्त होती थी। भाषिक ध्वनियों के साथ ही लिपि के विकास के जो प्रमाण गबल क्षेत्र के उत्खनन के तीन स्तरों पर प्राप्त होते हैं, वे भाषिक विाकस के ऋग्वैदिक विवरण को पुष्ट करते हैं; तब सप्तस्वरों की भाषा विकसित होकर इक्कीस श्रवस के रूप में पुष्ट हो चुकी थी। इस प्रकार भाषा और लेख का अस्तित्व तो प्रमाणित होता है, किन्तु वह अपने विकास के काल में ही था। आगे बाईस श्रुतियों की पुष्ट भाषा विकसित हुई जिसमें अनेक शब्द मानक तथा रूढ़ हो गये। किन्तु, वेदार्थ के लिये मूल अक्षरों के योग पूर्वक या धातुमूलक अर्थ ही उपयुक्त थे तथापि, ऋषि-संघो या विदथ में विवेचना का वह स्तर प्राप्त कर लिया गया था कि बहुअर्थों वाली भाषा के प्रयोग और साहित्यिक अभिव्यक्ति पर प्रकृष्ट अधिकार हो चुका था।

ज्ञान-विज्ञान के लिये गत्यात्मकता को बहुत महत्व दिया गया। विद्या-धारण से श्रेष्ठ दृष्टि मानी गई और गत्यात्मकता जिसे 'ऋत' नाम दिया गया सर्वश्रेष्ठ मानी गई, यह मन (विचारण) की गति है, जिसमें न इन्द्रिय-जन्य ज्ञान का और नसमान परिवेश का ही उतना महत्व है। गत्यात्मकता के अभाव में योग्य व्यक्ति भी पीछे छूट जाते हैं, और सक्रियता से गतिशील लोग ऊँचे उठ जाते हैं। इस कार्य में विद्वत् समाज का सहज

योगदान रहता है। विद्वत् समाज की उपेक्षा करने वाला व्यक्ति ज्ञान से भी वंचित होता हुआ ही चलता है, उसका पढ़ना, लिखना, सुनाना सब व्यर्थ हो जाता है, क्योंकि इससे ज्ञान परिष्कृत और परिमार्जित नहीं होता और मात्र वाक्जाल ही रह जाता है, तथा उसका ज्ञान निष्णात न होकर मात्र दिखावतटी ही होता है। इस प्रकार गत्यात्मक विचारणा शक्ति से सम्पन्न हाड़-मांस युक्त शरीर वाले मनुष्य को 'मुनि' अर्थात् मनन करने वाला कहा गया। मुनि यद्यपि उच्च ज्ञान की स्थिति वाले मस्तिष्क (ऊर्ध्व) में निवास करने वाला होता है किन्तु उसी शक्ति से कर्म के हेतु से ऊर्जारूपों द्वारा संक्रियाओं का संचालन करने के लिये वह पार्थिव शरीर में भी उतरता है।

ज्ञान-विज्ञान को इतनी ऊँची मान्यता समाज के द्वारा मिली जिसमें उस काल में इसकी उपयोगिता थी। पुरोहितों का नेतृत्व स्वीकारना और समाज में उन्हें सर्वाधिक महत्व प्रदान करना भी इस मान्यता का आधार रहा। सत्तासीनों ने भी यह अनुभव किया कि पुरोहित और उनकी सलाह सत्ता तथा समाज के स्थायित्व के लिये आवश्यक थी, क्योंकि जब इनकी उपेक्षा की गई तो राज्य नष्ट हुये या मृतप्राय हुये और पुनः पुरोहितों का आश्रय लेना पड़ा। धीरे-धीरे एक ऐसी समाज विकसित होता चला गया जिसमें ज्ञान-विज्ञान का अर्जन आवश्यक था। ऐसे समाज के लिये प्रोत्साहन भरतवंशियों द्वारा दिया गया जो भरत-जन की निर्मित और संचालन का हेतु होकर अन्तर्वेद[1] (मध्य देश) में जो ज्ञान का ही प्रारुप बना पनपे थे और अन्यों को 'म्लेच्छ' अर्थात् विकृत वाणी (ज्ञान-विज्ञान) वाले घोषित कर चुके थे मध्यदेश की सीमाओं के बारे में नदी-सूक्त से यह अनुमान लगता है कि गङ्गा से लेकर परुष्णी (रावी) तक यह भरतों (कुरु-पाञ्चालों) का देश था क्योंकि यहाँ ही वेद के प्रबन्धन के लिये इन पाँच नदियों (गङ्गा, यमुना, सरस्वती, शुतुद्री, परुष्णी) से प्रार्थना की गई है, जबकि अन्य भारतीय

---

1. देखें सं. श. कौ. पृ. 75, वस्तुतः बुन्देलखण्ड में आज भी गंगा-यमुना दोआब को अन्तर्वेद कहते हैं, जबकि दोआब के लो इस प्रदेश के लिये इस शब्द का प्रयोग करते नहीं देखे जाते। यह क्षेत्र मुख्यतः कन्यकुब्ज ब्रह्मणों का क्षेत्र है जो प्राचीन प्राञ्चाल राज्य के अवशेषों पर बसा था। यह प्राचीन मध्यदेश का एक भाग है। वस्तुतः 'अन्तर्वेद' का अर्थ वेदरचना का भीतरी या बीचोबीच का क्षेत्र होता है। बुन्देलखण्ड जमुना के पार होने से कान्यकुब्ज ब्राह्मणों द्वारा देशवाह्य माना जाता है, और बुन्देलखण्ड के लोग भी इसे अन्तवेद कहकर वेद रचना के क्षेत्र होने की पुष्टि करते हैं।
2. ऋग्वेद 10:75:5
3. वैदिक इण्डेक्स, प्रथमभाग, देखें पृ. 1 के सम्मुख मानचित्र।

नदिओं का मात्र उसे सुनने के लिये आह्वान है।[2] मैकडालन[3] ने एक मात्रचित्र देकर तत्कालीन वैदिक भारत की स्थिति स्पष्ट की है; इस मानचित्र में परुष्णी से पूर्व में भरतों की स्थिति दिखाई है और इसी (पृरुवंश) के अन्य कुलों को आधुनिक पश्चिमी उत्तर प्रदेश की सीमाओं तक (पाञ्चालों तक) विस्तृत दिखाया है। यद्यपि ऋग्वैदिक सामाजिक विकास जनों तक ही सीमित दिखाई देता है, किन्तु कृषि की विधियों की परिपक्व व्यवस्था[4] से जनपदों के स्थित होने के प्रमाण मिलते हैं; जनपदों की स्थिति के अन्य बहुत से प्रमाण और भी है। उपज की दृष्टि से ऋग्वेद में मात्र जो और धान का वर्णन मिलता है। यजुर्वेद[5] में दी हुई एक सूची में अनेक अन्नों के नाम दिये हैं, और अब तक भी कदाचित कुछ औरों का योग हुआ हो। इस प्रकार यह प्रमाणित होता है कि ऋग्वेद काल में जनपद अपनी प्रारम्भिक अवस्था में अस्तित्व में आ चुके थे। कदाचित् इन्हीं जनपदों का विकसित रूप हमे नदी-घाटी सभ्यता के रूप में प्राप्त होता है, जिनका विस्तार भी ठीक उन्हीं क्षेत्रों तक है जो आर्यों के लिये मैकडॉनल के मानचित्र में प्रदर्शित किये गये हैं। हमें यह स्वीकार नहीं है कि वे आर्य जो मध्य-पूर्व में नागरीसभ्यता से युक्त और भाषालिपि के ज्ञाता थे, भारत के आते-आते नगर निर्माण और भाषा-लिपि भूल गये हों, अथवा वे द्रविड़ जो नागरीय सभ्यता सम्पन्न और भाषा-लिपि वाले थे दक्षिण में जाने पर नगर और गृह निर्माण, भाषालिपि तथा अपनी सम्पूर्ण संस्कृति भूल गये। वस्तुतः यह अत्यन्त हास्यास्पद ही है कि विदेशी विद्वानों ने ऐसे निष्कर्ष निकाले कि आर्य ग्रामीण संस्कृति वाले थे तथा लिपि से अपरिचित थे और द्रविण नागरीय संस्कृति वाले तथा भाषालिपि के जानकार थे। यह तो नितान्त मूर्खता है, किंवा कुटिलता! सभी ओर से विचार करने पर नदीघाटी सभ्यता ही आर्य जनपदों का विस्तार मात्र दिखाई देती है जो निःसन्देह आर्य सभ्यता ही थी और कुछ नहीं। तब, ऋग्वेद का काल सब प्रकार की गणना से ईसवी पूर्व 3000 से पूर्व का प्रमाणित होता है।

वेद में पन्द्रह हजार कालजयी मन्त्र होने की घोषणा[6] से विचार करने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि मन्त्रों की यह संख्या चारों वेदों के अन्तर्गत

---

4. ऋग्वेद 10:101
5. यर्जुर्वेद 18:12
6. ऋग्वेद 10:114:8

ही प्राप्त होती है, तब वेद के मूलतः एक होने तथा बाद में व्यास द्वारा इसका चतुर्विध विन्यास किये जाने की पुष्टि होती है, और पाश्चात्यों के ये विचार कि पहले ऋग्वेद का निर्माण हुआ, फिर सामवेद और यजुर्वेद का, और तब अथर्वेद का निर्माण हुआ खण्डित हो जाते हैं। पन्द्रह हजार मन्त्र वेदों में ही होने के कारण सनातनी परम्परावादियों का यह मत भी खण्डित हो जाता है कि ब्राह्मण भी वेद के भाग हैं। इसके अतिरिक्त यह विनिश्चय भी होता है कि जब यह सूक्त बना था उस समय वेद पुस्तक का रूप ग्रहण कर चुका था क्योंकि तब ही मन्त्रों की गिनती सम्भव हुई होगी। इससे वेद के लिखे होने, और लिखे हुये सूक्तों का संकलन होने का निष्कर्ष प्राप्त होता है। तब उसके 'श्रुति' होने के विचार का खण्डन हो जाता है, और उसके संहिता होने का भी खण्डन हो जाता है।

इसी सूक्त के पाँचवें और छठवें मन्त्रों में बारह छन्दों का विवरण मिलने से सात छन्दों में वेद रचना होने के विचार का भी खण्डन हो जाता है। बारह छन्द अपने शुद्ध रूप में गायत्री, उष्णिक्, अनुष्टुप्, बृहती, पङ्क्ति, त्रिष्टुप्, जगती, शक्वरी, धृति, कृति, उक्ता और प्रतिष्ठा हैं।

इस परिचयात्मक सूक्त में वेद की विषयवस्तु का संक्षेप में वर्णन कर दिया गया है, तथापि यह निदर्शन भी है कि मन्त्रों के योग को सम्पूर्णतः जानना और अवधारणा के अनुरूप शब्द को पकड़ना बुद्धिमान् के ही अनुकूल है, सामान्य व्यक्ति के नहीं। इस प्रकार विषयवस्तु का उद्घाटन हमने इस प्रकार किया है कि–

अन्य की विशेषस्थिति अध्यात्मपुरुष में ही ऊर्जा निहित रहती है 'सहस्र' और 'सुख' (या जल) की परिभाषा में क्रमशः अनेक विस्तारों से युक्त प्रक्रियायें, नाडियाँ, स्रोतस् आदि 'सहस्र' तथा धातुओं से निचोड़े हुये ओजस् को शुद्धीकृत करके ऊर्ध्व में संचित कर लेना ही 'सुख' (याजल) है। ऊर्जा से उत्पन्न होने वाला मन ऊर्जा को ही अभिव्यक्त करता है। ऊर्जा ही अनेक रूपों में उपस्थित होती है; जाने वाली ऊर्जा और वर्षण करने वाली ऊर्जा अग्नि की न गिरने वाली ऊर्जा को बढ़ाती हैं। तीन अग्नियों (1– सूर्य–आहवनीय–वैश्वानर, 2– अग्नि–गार्हपत्य–जातवेदस्, 3– विद्युत्–दक्षिणा–अग्नि) जिनके दान ऊर्ध्वों में, शरीर–गुहा में, और कर्मों में होते हैं, के साथ 36 देवताओं की गणना (बारह आदित्य, 11 रुद्र, 8 वसु, 2 अश्विनी कुमार)

शोध से प्राप्त निष्कर्ष

तथा शरीर में इनके कार्य अर्थात् बारह आदित्य रश्मिपुञ्जों से ग्यारह प्राणरूप रुद्रों को तथा आठ धातुस्थानों, एवं अधिभूत–अध्यात्म (द्यावापृथिवी) रूप संवत्सर के अङ्गों दक्षिणायन–उत्तरायण के प्रतीक आश्वेनी कुमारों, को धारण करते हुये उत्पादन प्रक्रिया को प्रकाशित करते हैं तथा शरीर का संचालन करते हैं। इसके अतिरिक्त चार पुरुषों (अधिभूत, अधिदेव, आध्यात्म ओर विश्व) की गणना में जुड़ने वाली चार प्रक्रियायें (कर्मवाली, रूपवाली, घृततुल्य ओजस वाली और उत्तमा ज्ञानों को धारण करने वाली) हैं, जिनमें सूर्य तथा अग्नि कलयाण रश्मियों की वृष्टि करते हुये नित्य स्थित रहते हैं और इनमें दीप्तियों के निश्चिय अंश होते हैं। शरीर संचालन के लिये जुड़े अनेक ऊर्जापुञ्ज (विश्वेदेव) भी क्रियाशील रहते हैं। चौदह शारीरिक विकास की स्थितियों में विभाजन पूर्वक उत्पन्न होने वाली सात शरीरधातुयें और उनसे निचोड़े गये सात ओजस् तथा शुक्र के ऊर्ध्वरिता होने से प्राप्त आठवाँ ओजस् अन्यों से मिलकर ऊर्जासंरक्षण की प्रक्रिया प्रतिपादित करता है। प्रक्रिया की अवधारणा (यज्ञ) में तीन प्रक्रियायें वृष्टि से जैव और कर्म (हविर्यज्ञ), पाक से धातु और ओजस् निर्माण (पाकयज्ञ) और ओजस् शुद्धीकरण और संरक्षण (सोमयज्ञ), इनमें ऊर्जाओं और अग्नियों के कार्य, वायु द्वारा दीप्ति की प्राप्ति, जलों को दीप्तियों द्वारा धारण करना, दीप्तियों द्वारा सूर्य तथाा अन्य ऊर्जापुञ्जों को अंशदान आदि वेद के अभीष्ट विषय हैं।

पुरुष सूक्त में जो लोक और पुरुष साम्य प्रस्तुत किया गया तदनुसार ही उसे उपवेदों (आयुर्वेदीय चरक संहिता का शारीरस्थानीय अध्याय 5 तथा काश्यप आदि अन्य संहिताओं में), इतिहास–पुराणों, और निघण्टु–निरुक्त के देवतकाण्ड में भी प्रस्तुत किया गया। इन सबके आधार पर यह परिकल्पना (हाइपोथिसिस) बनी कि वेदों के प्रतीकों को खोलने से जो वेदार्थ प्राप्त होगा उससे वैज्ञानिक रहस्य उद्घाटित होंगे। इस सम्बन्ध में प्रस्तुत शोध ा में इसका विस्तृत अध्ययन किया गया तथा महत्वपूर्ण निष्कर्ष प्राप्त किये गये। इसी प्रकार वैज्ञानिकता के लिये भी परिकल्पना इस आधार पर बनाई गई कि मात्र अचानक प्राप्त हो जाने वाला सत्य तब तक वैज्ञानिक तथ्य नहीं हो सकता जब तक उसे वैज्ञानिक विधियों से प्राप्त न कर लिया जाय;

7. ऋग्वेद 10:53:10

तब, वेद की वैज्ञानिकता के लिये वेद में वैज्ञानिक विधियों का विवरण होना आवश्यक है।

वेद की यह घोषणा कि 'विद्वानों' ने मन्त्रों को गोपनीय बनाया जिससे देवों ने अमरता को प्राप्त किया[7] कदाचित् वेद की रचना को कालजयी बनाने के लिये आवश्यक लगा होगा, किन्तु धर्म और विज्ञान का यह समन्वय कालान्तर में विस्मृत हो गया और धर्म के विज्ञान पर आधिपत्य के साथ ही वेदार्थों में अलौकिकता का समावेश होता चला गया। यास्क भी कुछ अंशों में ऐसी अलौकिकता के वशीभूत हैं। अलौकिकता के अध्यारोपण से विधि और ज्ञान (सिद्धान्त) की हानि हुई, और उन्होंने भी कर्मकाण्ड मिथ्यालक्ष्य (माइथौलाजी) धार्मिक दार्शनिकता का रूप ग्रहण कर लिया। अब आवश्यकता इस बात की है कि ज्ञान के हेतु से कर्म के नियोजन की वेदकालीन विधि पर प्रकाश डाला जाय। यह भी जाना जाय कि वैदिक ऋषियों ने किस प्रकार कर्म के द्वारा ज्ञान प्राप्त किया और लोक में उसे किस रूप में तथा किस उद्देश्य से प्रचारित किया?

वैदिक विज्ञान की उपलब्धियों की तुलना आधुनिक विज्ञान से करना समीचीन नहीं है, क्योंकि देश–काल–परिस्थिति में विज्ञान के मानक भी बदल जाते हैं। तथापि वैदिक विधि का आधुनिक मानदण्डों पर मूल्यांकन कि क–उनके द्वारा किस प्रकार और कितना त्रुटिरहित प्रेक्षण सम्भव था ख–विज्ञान के कौन–कौन आयाम बने और वर्गीकरण की विधियों के क्या आयाम थे; स–इन सब की आधुनिक विधियाँ से तुलना करना ही समीचीन होगा। ऐसे तुलनात्मक अध्ययन का प्रयोजन यह होना चाहिये कि अ– वर्तमान वैज्ञाकिन विधि और तथ्यों को नई दिशा प्रदान कर सकें, ब– जीवन की समस्याओं के लिये कुछ अधिक उपयोगी अर्थ प्रदान कर सकें, स– विज्ञान के नये आयाम और क्षेत्र खोल सकें; और द– वैदिक मनीषियों जैसी दृष्टि उत्पन्न कर सकें।

वैदिक विज्ञान के सिद्धान्त पक्ष का ज्ञान हमें प्रक्रियाओं से सम्बन्धित तथ्यों के उद्घाटन से होगा। ये सिद्धान्त किस रूप में, किस भाषा में, किस प्रयोजन और किस भावना से प्रस्तुत किये गये है? जो तथ्य संकलित किये गये हैं और जो निष्कर्ष निकाले गये हैं उनका वैज्ञानिक आधार क्या है? वैदिक ऋषि अपने निगूढ़ शब्दों द्वारा किस बोधगम्य तथ्य को प्रकट करना

चाहते थे? बोधगम्य तथ्य क्या हैं, आधुनिक सन्दर्भों में इनका क्या महत्व और इनकी क्या उपदेयता हो सकती है? हमें इन प्रश्नों के उत्तर भी ढूढने है साथ ही भारतीय ज्ञान-विज्ञानों से इनका तुलनात्मक अध्ययन करते हुये निष्कर्ष भी निकालने है। हमें यह भी देखना है कि आधुनिक विज्ञान के लिये तुलनात्मक अध्ययन की क्या सम्भावनायें हो सकती है, और इससे क्या निदेश प्राप्त हो सकते हैं? तथ्यों तथा वैज्ञानिक निष्कर्षों के लिये प्रयुक्त विधि, प्रशिक्षण, उपकरण आदि के आधारों का विवेचन करते हुये हमें यह देखना है कि इस प्राच्यमार्ग में प्रगति के उपादानों का क्या आकलन हो सकता है?

इन प्रश्नों के सटीक उत्तरों के परिप्रेक्ष्य में शोध से प्राप्त तथ्यों सम्बन्धी निष्कर्ष इस उपसंहार अध्याय के प्रस्तुत अंश में सक्षेप में हम प्रस्तुत करेंगे। सर्वप्रथम, ऋषियों ने पुरुष अर्थात् जीव को चार स्तरों पर संक्रियारत माना है; पुरुषसूक्त के सन्दर्भ से ये विश्व, अधिभूत, अधिदेव और अध्यात्म माने जा सकते हैं। इनमें अधिदेव जीव की प्रथम अभिव्यक्ति है और यही हिरण्यगर्भ रुप में उसका जन्म है। 'हिरण्यमगर्भ' अर्थात् प्रकाशों के भीतर उत्पन्न होने वाला, प्रथमजन्मा यह मन या इन्द्र है, और यही आगे उत्पत्ति का कारण होने से प्रजापति है। जीव के जन्म की प्रक्रिया और ब्रह्माण्डीयसृष्टि की प्रक्रिया समान है। जलों (अमृत-अध्यात्म) में स्थित स्थिर ऊर्जा ही इस अधिदेव पुरुष की माता है, अदिति है, जो जलों में दीपन (तप, कर्म, रज) से 'अव्यक्त' रूप में वर्तमान हुआ और विकास (प्राण, गति) से इकाई रूप अभिव्यक्त हुआ, जो मापनशील, निर्माणशील और मननशील था। अभिव्यक्त होकर इसने स्थिर ऊर्जा को गतिशील बनाया, और प्रकाश की रश्मि आकाश में फैल गई, और स्थान पर संचित होकर छोटे बड़े प्रकाशपुञ्जों में परिवर्तित हो गई। ये देवता कहलाये, और सम्पूर्ण विकास का दायित्व इन पर आ पड़ा। गतिमान ऊर्जा ने अपने मार्ग बनाये, ये नाडी या स्नायु के संजाल थे जो सहस्र कहलाये। जल ही गतिमान ऊर्जा के प्रथम आधार बने जो नाडीतन्त्र से शरीर में आगे बढ़े, यह वृष्टि थी। इससे कर्म सक्रिय हुआ और जीव आयु से युक्त हुआ। ये शक्तियाँ कर्म में क्षरित हुई और क्षीण भी। इन्हें दीप्तिपुञ्जों ने अंशदान द्वारा पुनर्ऊर्जित किया और निर्माण प्रक्रिया में लगाया। इस निर्माण प्रक्रिया में भोजन से अन्न,, रस

रक्त, मांस मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र, अपर ओजस् और पर ओजस् बने। इनमें एक के बाद एक संरचना इस प्रकार हुई कि एक धातु की बढ़त को परिवर्तित करते हुये अगली धातु बनती गई, यह वध भी था और गर्भ भी। धातु का पूर्णतः बन जाना गृह या आश्रय या वसु कहा गया। इस निर्माण में सप्त धातुओं के लिये सप्तार्चिष-अग्नि पाककर्त्ता हुये, सप्त रश्मियों (ऋषियों) के रूप में सप्तादित्य धातुओं से जल निचोड़ने वाले बने, यह जल सोम या ओजस् कहलाया। सप्तम् धातु शुक्र के ऊर्ध्वरितस् होने से भी ओजस् प्राप्त हुआ। अन्य ओजस् उसी में मिल गये, यह संचित ओजस् अपर कहलाया। यही आठवाँ वसु था। पुनः गतिमान ऊर्जा (वाक्) या प्रयत्नों के स्वामी प्राणरूप बृहस्पति ने रश्मियों से इस संचित या आबद्ध या वृत्र जल को शुद्धीकृत किया और इसे ऊर्ध्व के उदक से मिलाया, तब यह पर ओजस् ईशान-अमृत-अध्यात्म-परमात्मा रूप में ठीक वैसा ही हो गया जैसा प्रारम्भिक उदक था। इस प्रकार उदक से कर्म, कर्म से पाक, पाक से पुनः उदक यह चक्र बन गया। ओजस् शुद्धीकरण के स्तर पर ही उससे ज्ञान निःसृत हुआ वाणी का आश्रय स्थान था अस्त था, गतिमान ऊर्जा का अन्त। इस चक्र का क्षर अधोगति वाला भाग दक्षिणायन-पितृयान-कर्ममार्ग आदि नामों से तथा अक्षर ऊर्ध्वगति वाला भाग उत्तरायण-देवयान-ज्ञानमार्ग आदि नामों से प्रसिद्ध हुये और रश्मिरूप इनके देवता काटने वाले दस्र और जोड़ने वाले नासत्य रूप अश्विनी कुमार हुये। अन्य रूप से ये क्रमशः मृत्यु और आयु है। इसके अतिरिक्त कुछ अन्य देवताओं में बारह आदित्य में से सात जाज्वल्यमान होकर ज्ञान-पाक प्रक्रिया में लगने वाले और पाँच कृष्णरूप से कर्म प्रक्रिया में लगने वाले है; ग्यारह रुद्र पञ्चप्राण (प्राण, अपान, उदान, समान, व्यान), पञ्च उप-प्राण (देवदत्त, वृकल, कर्म, नाग, धनञ्जय) तथा एक 'शं' शान्तिरूप है यही निर्ऋति और यही अस्ते है अर्द्धदेवता ऋभुगण गतिशील (ऋभु), वाज (जल से उत्पन्न) और विभु (व्यापनशील) रूप में प्राण की ही संज्ञायें हैं। मरुद्गण भी प्राण ही हैं। अर्यमा इन प्राणों के निर्माता या मापने वाले हैं। मित्रावरुण निर्माण करने वाले और विस्तार या विकास करने वाले हैं और अश्विनीकुमरों जैसे ही हैं। देवियाँ सभी ऊर्जा के रूप हैं; इनमें मुख्य तीन देवियाँ प्रकाशवती, अन्नवती और उदकवती भारती, वाक् और सरस्वती हैं।

शोध से प्राप्त निष्कर्ष

ऋग्वैदिक ऋषियों को स्नायुसंक्रिया विज्ञान (न्यूरॉलॉजी) का बहुत अच्छा ज्ञान था। वे स्थावर और जङ्गम दोनों पक्षों के जानकार थे। स्नायुओं का संजाल सारे शरीर में फैला हुआ है उनकी इस जानकारी से ही अधिदैविक सूक्ष्म शरीर की कल्पना बनी। यह हजारो नाडियों का संजाल मुख्यरूप से तीन प्रकार का था; पहला, शीर्षस्थित शीर्ष नाडियों का सहस्र, दूसरा अक्षर ज्ञानवाही नाडियों का सहस्र, और तीसरा क्षर कर्मवाही नाडियों का सहस्र। शिर के सहस्र को विष्णु का तथा,, क्षराक्षर दो सहस्रों को इन्द्र का सहस्र कहा गया है। शीर्ष मुख्यतः दस मूल नाडियों से संचालित था, जो हृदय (कपिसथालामिक रीजन) के चार ऊपर मूर्धा के चार क्षेत्रों में, दो तिर्यक शीर्ष के दोनों खण्डों को मिलाने वाली तथा चार नीचे मस्तिष्क के भागों से मिलती थी। मिलने के कारण इन्हें युक्ता, योषा या युवती नाम दिये गेय। शीर्ष के दोनों खण्ड होने का उन्हें ज्ञान था और यह भी ज्ञान था कि एक खण्ड सक्रिय रहता है तथा दूसरा उसका निरीक्षण करता रहता है। उन्हें यह भी ज्ञान था कि ज्ञानवाही नाडियाँ वभ्रु (ग्रे) रंग की होती हैं, तथापि उन्हें एक ही नाडी (सुषुम्ना) में मानकर ऊर्ध्व में मूर्धा की ओर जाने वाली बताया गया, जबकि अक्षर अधोगामी नाडियों की संख्या सौ या निन्यान्वे मानी गई। यह गणना आज भी लगभग सही है। ये नाडियाँ शरीर के सम्पूर्ण अङ्गों से मिलती हुई चलती हैं और इस प्रकार जीव का संचालन करती हैं।

नाडियों में बहने वाली ऊर्जा जलीय थी जो शीर्ष–हृदय में स्थित अमृतरूप मूल उदक से निःसृत थी। यह मूल उदक जन्म के समय भी निषेचित–कोषिका में मौजूद था ओर यही जीवन का कारण था। ऋषियों ने कदाचित् चीड़–फाड़ उपचार के दौरान उसे सुषुम्ना में और फिर अनेक नाडियों में देख लिया था। इस पर उन्होनं विशेष ध्यान दिया और वृहत् अनुसन्धान किया। उसे शीर्ष हृदय में पाया, सुषुम्ना में पया, नाडियों में पाया तथा शरीर के अङ्गों में भी पाया। उन्होंने जाना कि सम्पूर्ण जैविक तन्त्र इस जीवनीय तत्त्व से ही संचालित तथा विकसित होता है; शरीर संचालन को विकृत करने वाले तत्त्व मद का यह नाश करने वाला है तथा सभी जैविक शत्रुओं को यह नष्ट करता है तथा बाधाओं से छुड़ता है; रोगों के लिये यह चिकित्सक की भाँति है तथा आयु का कारण है। ऋषियों ने इसके निर्माण

की प्रक्रिया का भी अध्ययन किया और यह पाया कि निर्मित होने वाली शरीर धातुओं की प्रक्रिया के बीच ही यह जलरूप से निचोड़ा जाता है और संकलित करके शुद्ध किया जाता हुआ पुनः मूल उदक का अंश होने के लिये ऊर्ध्वरेता होकर शीर्षहृदय का भाग बनता है। जहाँ ऋषियों ने पाँच हजार वर्ष से भी पहले इस जीवनीय तत्त्व का संज्ञान कर लिया था और उसकी संरचना को भी जान लिया था वही पश्चिम ने इसे बीसवी सदी के मध्य में ही जाना; वे इसे सेरिब्रोस्पाइनल फ्ल्यूड कहते हैं; इसकी संरचना के सम्बन्ध में यह जानकारी मिली है कि रक्त कोषिकाओं के बीच एक जलीय कोषिका लगभग दस प्रतिशत संख्या में होती है, इसी से फ्ल्यूड की संरचना होती है, किन्तु ऋग्वेद के अनुसार यह सभी धातुओं से अलग-अलग निःसृत होकर उस ओजस् में अंशरूप से मिल जाती है जो शुक्र के ऊर्ध्वरेता होने से बनता है। फिर इसको रश्मि से शुद्धीकृत करके ऊर्ध्व में प्रेषित कर दिया जाता है, जहाँ शीर्षहृदय में पहुँचकर वह मूल-उदक का भाग बन जाता है।

जो जलीय ऊर्जा गतिमान होकर नाडियों में बहती है, वह कूदती हुई चलती है,[४] अर्थात उपनाडियों के सन्धिस्थलों पर यह एक से कूद कर दूसरी में पहुँचती है, आधुनिक भाषा में इसे इम्पहस कहते हैं जो इलेक्ट्रोकेमिकल चैन्जेझ द्वारा निर्मित होती है। नाडियों में होने वाली ऊर्जागति को जानकर उसके सहारे पीछे-पीछे चलते हुये ऋषि गण इन्द्र (हृदय स्थित ऊर्जा अन्तरात्मा) तक पहुँच गये। इसी प्रकार नाडियों में स्थित उदक का प्रेक्षण करते हुये करते हुयेऋषियों ने उस उदक में दीप्ति (चमक) को देखा और उससे अनुमान किया कि उदक में ऊर्जा सिथत थी। ऋषिगण इतना सूक्ष्म निरीक्षण कैसे कर सके? अवश्य ही उनके पास कोई ऐसी विधि रही होगी जिसके माध्यम से ही इतना सूक्ष्म निरीक्षण सम्भव हुआ। चूँकि मणि के उपयोग के प्रमाण वेदों में मिलते हैं, यह अनुमान होता है कि ऐसी मणियाँ जो सूक्ष्मदर्शी का कार्य कर सकती थी, इन सूक्ष्म निरीक्षणों का अवलम्ब बन सकती हैं। सूक्ष्म नाडी-सिरा, उसमें बहता उदक, उस उदक के भीतर ऊर्जा, और नाडियों में ऊर्जा गति का ही निरीक्षण नहीं, अपितु अतिसूक्ष्म रश्मियों और उनके सप्तरंगी रूपों का भी सूक्ष्य निरीक्षण किया है। तुच्छ आकारों की व्याख्या के लिये दृष्टि के लिये दृष्टि देने की प्रार्थना भी सूर्य से की गई है

४. ऊर्जा की गति ऊर्मि (तरंग) रूप में भी बताई गई है।

जो सम्यक और विभिन्नतः देखने के लिये भी है। वेद में रश्मियों के द्वारा निरीक्षण करेन की बात आई है; क्या रश्मियों को नियंत्रित करने वाले कोई ऐसे उपकरण थे और उन रश्मियों के प्रकार क्या थे, गुण क्या थे? मात्र इतना ही ज्ञात होता है कि हथियारों को पैना करने के लिये भट्ठी में रश्मि के नियंत्रण पूर्वक यह कर्म सम्पन्न किया जाता था। ये भट्टियाँ कैसी थी, रश्मि का नियंत्रण क्या था और हथियारों को पैना करने से क्या तात्पर्य है? यह सब अज्ञात है। तथापि, ऊर्जा को काटने वाली, विषकी तरह तीक्ष्ण, मार डालने वाली, और बरबाद कर देने वाली बताकर भी वैज्ञानिक द्वारा उसे नियंत्रित करने की बात बताई गई है।

नियंत्रण एक वैज्ञानिक विधि है। ऋग्वेद में विधि की दृष्टि से मापन और प्रमाण दोनों ही शब्द 'मा' धातु नापने के अर्थ में व्युत्पन्न करती है। कदाचित् वेदकालीन वैज्ञानिक के लिये मापन और प्रमाण में कोई अन्तर नहीं था, और बिना मापन कोई भी प्रमाण अस्तित्वहीन था। उन्होंने सम्पूर्ण सृष्टि का कारण ही मापन का इकाई रूप 'मन' को माना है; इसका तात्पर्य यह था कि विकास की गति में एक निश्चित इकाई पारिस्थतिक परिप्रेक्ष्य में होती है जिस पर ही तथा जिसके ऊपर अभिव्यक्ति सम्भव होती है। इसलिये तुच्छ से वर्तमान होना तो कहा गया किन्तु वह अव्यक्त अस्तित्व था जो विकास से इकाई रूप हुआ जहाँ अभिव्यक्ति सम्भव हुई। इकाई की यह परिभाषा आधुनिक मनोभौतिकी के लाइमेन या थ्रेशहोल्ड अर्थात् ड्योढी की अवधारणा के साथ पैमाने के लिये विकसित हुई। वेद कालीन वैज्ञानिक ने वे सभी पैमाने जाने जो आधुनिक विज्ञान में भी मान्य हैं, अर्थात् नामित पैमाने, क्रमिक पैमाने, अन्तराल पैमाने तथा आनुपातिक पैमाने, भले ही इनके रूप कुछ भी रहे हों। वैदिक वैज्ञानिक इस तथ्य पर भी महत्व देता है कि समान लगने वाली–इकाइयाँ अनेक स्थितियों में समान नहीं होतीं। इकाई के महत्व को वह यूँ भी निर्धारित करता है कि सम्पूर्ण का अध्ययन नहीं किया जा सकता तब ऐसी अवस्था में यूनीवर्स (समग्र) से नमूना (साम्पल) इकाइयों के आधर पर ही प्राप्त किया जा सकता है। स्तरीय नमूनों (स्ट्रैटीफाइड सॉम्पल) अथवा क्षेत्र नमूनों (एरिया सॉम्पलिंग) की अवधारणा भी उन्हें थी।

मापन की दृष्टि से वेद का वैज्ञनिक प्रभा या अग्रमापन (प्रोजेक्टिव मेजररमेन्ट), प्रतिमा अर्थात् पश्चमापन (एक्स पोस्ट फैक्टो मेजरमेन्ट), छन्दः

अर्थात् छेदन-भेदन द्वारा मापन (क्रास सेक्शनल मेजरमेन्ट), विकास का मापन (डेवलपमेन्टल या लॉगीच्यूडिनल मेजरमेन्ट) तथा गहराई से मापन (डेप्थ मेजरमेन्ट या स्टडी) को भली प्रकार से जानता था। प्रमा और प्रतिमा डिडक्टिव लॉजिक और इण्डक्टिव लॉजिक के भी रूप हो सकते हैं, तथापि यह तथ्य जानकर कि वैज्ञानिक विधि लॉजिक या तर्कशास्त्र का ही विकसित रूप है, हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि तमाम परिस्थितियों का आकलन करने पर हम प्रमा और प्रतिमा को वैज्ञानिक विधियाँ मानने के लिये मजबूर हो जाते हैं। विज्ञान त्रुटिरहित प्रेक्षण पर निर्भर होता है; जब वेद का ऋषि यह प्रार्थना करता है कि 'ऋत के द्वारा ज्ञान प्राप्ति और अनृत के विशेषतः विवेचन के मेरे अधिकार को प्राप्त कराइये'[9] तो वह अनृत से भी त्रुटियों के जानने और उनका परिहार्य करने पर ही बल देता है, तब यह मात्र तर्क नहीं हो सकता, ओर विशेष कर मापन के परिप्रेक्ष्य में तो यह वैज्ञानिक विधि ा ही मानी जायेगी। पुनश्च, 'प्रेक्षणकर्त्तागण जिन परिणामों से विशेषतः युक्त हुये बोध प्राप्त करते हैं, ऐसों को वक्ता को (या वाणी में) प्रदान करते जाते हैं, जो इनको बोलता है,[10] तो यह वक्तव्य प्रभा की वैज्ञानिक स्थिति को बतलाने वाला है, जहाँ पहले प्रेक्षण या मापन होता है, फिर परिणामों को प्राप्त किया जाता है, फिर उन्हें उनसे बोध (ज्ञान) या निष्कर्ष निकाला जाता है वक्तव्य लायक भाषा दी जाती है और तब उन्हें बतालाया जाता है। यह सम्पूर्ण प्रक्रिया वैज्ञानिक थी जो 'निदान' और 'परिणाम' के हेतु से कार्य-कारण सम्बन्ध पर प्रकाश डालने वाली थी जो सभी वैज्ञानिक विधियों में सम्पन्न होती थी। तथापि, विशेष प्रयोजन से इसे प्रयोग विधि में स्वतंत्रचर (इन्डेपेन्डेन्ट वैरियेबुल) के आश्रित चर (डिपेन्डेन्ट वैरियेबुल) पर प्रभाव के रूप में देखा जाता था। यही विधि वैज्ञानिक वक्तव्य प्रबन्धन पर भी समान रूप से लागू होती थी। यह सम्पूर्ण विधि चार चरणों में सम्पन्न की जाती थी, चाहे प्रयोगशाला में प्रयोग हो और चाहे ऋषि संघ में वक्तव्य-दान हों। ये चार स्थितियां यज्ञप्रतीकरुप से होता, उद्गाता, ब्रह्मा और अध्वर्यु की हैं।[11]

इस प्रकार से प्रथम स्थिति में वक्तव्य का एंकत्रीकरण करना, उसे

9. देखें ऋग्वेद 10:124:5
10. देखें ऋग्वेद 10:61:12
11. देखें ऋग्वेद 10:71:11

पुष्ट करना, और प्रारम्भ करना होता है। द्वितीय स्थिति में पुनः उसे शुद्धीकृत करते हुये पाठन का निरूपण या व्याख्या की जाती है और अगले चरण में उपयुक्त करते हुये आगे बढ़ाया जाता है। तृतीय स्थिति में उत्पत्ति विद्या अर्थात् उत्पादन विधि का सम्पूर्ण कर्म करने हुये उत्पादन तक की अवस्था की पूर्ति कर ली जाती है। और, चौथी स्थिति में अध्ययन पूर्वक प्रक्रिया का निष्कर्ष निकाला जाता है तथा उसका मूल्यांकन किया जाता है। प्रयोग विधि के परिप्रेक्ष्य में समस्या का निर्धारण, समस्या की सैद्धान्तिक पुष्टि एवं नियोजन, फिर प्रयोग की विधि और प्रणाली तथा अन्तिम, परिणामों का आकलन एवं निष्कर्ष है। इन चारों प्रयोगात्मक चरणों की पुष्टि केनोपनिषद में निहित है जो वस्तुतः एक वैज्ञानिक अनुसंधान का प्रारूप मात्र है।

दार्शनिक स्थिति के लिये यदि हम इसे न्याय या तर्कशास्त्र की कोटि का निर्धारित करें, तो भी यह स्पष्ट है कि वेद में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान या प्रतिमान और आप्तवचन सभी का समावेश है और इनके अनेकानेक विस्तार प्रस्तुत किये गये हैं ताकि यथार्थ ज्ञान सम्भव हो सके। ऋग्वैदिक ऋषियों ने यथार्थज्ञान को ऋत सम्मत माना। ऋत की ऐसी संकल्पना थी कि यह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड ऋत या प्राकृतिक नियम से संचालित है, जो शाश्वत और अपरिवर्तनीय है। ऋत का गात्यात्मक अर्थ प्रक्रिया का वाचक होता है, इसलिये प्रक्रिया या संक्रिया को जानना ही ज्ञान है। इस ज्ञात को वाणी में अभिव्यक्त किया जा सकता है, तथा ऋत से संचालित प्रक्रियाओं के ज्ञान के लिये शिष्यों को प्रशिक्षित भी किया जा सकता है। जानने वालों में समानता नहीं होती, ज्ञानेन्द्रियों की समानता से भी और परिवेश की समानता से भी, मन की गतियों में समानता नहीं होती; इसके अतिरिक्त सभा में अक्षरज्ञान नहीं कराया जा सकता, इस कारण प्रशिक्षण भिन्न-भिनन शिष्यों के लिये भिन्न-भिन्न ही होना चाहिये।

इस निष्कर्ष के साथ किं वेद में विज्ञान है, तो उसके आयाम क्या हैं? विज्ञान के इन आयोमों को वैज्ञानिकों के प्रकारों से जाना जा सकता है। प्रथमतः वैज्ञानिकों के तीन प्रकार (1) विपश्चित, जो टुकड़ों में चुनने (विश्लेषण) करने वाले हैं, (2) वेधस, वेधन (चीड़फाड़) करने वाले या खोदने वाले जो आधार को जानना चाहते हैं, और (3) कवि, खोजने वाले जो विस्तार से और विशष दृष्टि से खोजते हैं। क्षेत्र के हिसाब से पुनः तीन प्रकार

के वैज्ञानिक बताये गये है, (1) गति के ज्ञाता, (2) स्थिर पार्थिवों के ज्ञाता, और (3) मापन के ज्ञाता। शारीर की दृष्टि से इन्हें हम क्रमशः न्यूरोफिजियोलॉजिस्ट (स्नायुसंक्रिया वैज्ञानिक), एनोटॉमिस्ट (शरीररचना वैज्ञानिक) तथा बायोमेट्रीशियन (जैविकमापन वैज्ञानिक) कह सकते हैं।

ऋग्वैदिक ऋषियों का शारीर की दृष्टि से जो जीवसृष्टि का सिद्धान्त बना था, उसी की समानता से ब्रह्माण्ड की स्रष्टि रचना का सिद्धान्त भी उन्होंने प्रतिपादित किया, तथापि खगोल के उनके प्रेक्षण ही उसके आधार थे। यह प्रश्न करना कि एकार्णव कहाँ से उत्पन्न हुआ था और कहाँ से आकर वर्तमान हुआ, तथा यह बतलाना कि जिन जलों से ब्राह्माण्ड की सृष्टि हुई थी, उनका अगला भाग कहीं दूर चला गया है, इसका मध्य भाग कहाँ और इसका छोर कहाँ है, ये प्रनिश्चयात्मक प्रश्न और निश्चयात्मक तथ्य खगोल के उनके प्रेक्षण को प्रकट करने वाले हैं, क्योंकि आज का विज्ञान भी ठीक इसी प्रकार के ज्ञान से युक्त है। इसलिये जीवन सृष्टि की मात्र समानता नहीं कही जा सकती। प्लाज्मा से ब्रह्माण्ड की सृष्टि होने का सिद्धान्त आधुनिक विज्ञान में भी मान्य है। जिसे 'न सत् न असत् न रज न इससे रिक्त व्योम' की स्थिति में बतलाया गया वह प्लाज्मा के अतिरिक्त कुछ नहीं हो सकता। महाकवि जयशंङ्कर प्रसाद भी ऐसा ही निष्कर्ष निकालते है, जब वे वर्णन करते है :–

> नीचे जल था ऊपर नभ था,
> एक तरल था एक सघान।
> एक तत्त्व की ही प्रधानता,
> उसे कहो जड़ या चेतन।[12]

यहाँ नभ (न +भ) का अर्थ प्रकाश रहित तम है, ओर जो न जड़ (मैटर) है, न चेतन (इनर्जी), वही प्लाज्मा है। 'तम आसीत तमसा गूढमग्रेऽप्रकेतं सलिलं सर्वमा इदम्' का भी यही अर्थ है। प्लाज्मा का परिवर्तन ही पदार्थ और ऊर्जा में हुआ जो सम्पूर्ण व्योम में फैल गये और उनके संचयन से व्योम में अनेक ऊर्जायुक्त पिण्ड बने तो ऊर्जाहीन पदार्थ के पिण्ड भी बने और ये दोनों तत्त्व सम्पूर्ण व्योम में अणुरुप में भी भरे

12. जयशंङ्कर 'प्रसाद' : कामायनी।

हुये हैं।

अब हम संक्षेप में परिकल्पनाओं और प्रश्नों को प्रस्तुत करते हुये उनकी प्रस्तुत शोध में सफलता-असफलता तथा उपयुक्त उत्तरों पर संक्षेप में प्रकाश डाल रहे हैं। प्रस्तुत शोध में हमारी प्रमुखा परिकल्पनायें ये रही हैं!

1. वेदों के प्रतीकों को खोलने से जो वेदार्थ प्राप्त होगा उसे वैज्ञाकिन रहस्य उद्घाटित होंगे।
2. वेद की वेज्ञानिकता के लिये वेद में

वैज्ञानिक विधियों का होना आवश्यक है। इनमें से प्रथम परिकल्पना को सिद्ध करने हेतु हमने इस शोध-प्रबन्ध के छठवें अध्याय में प्रमुख प्रतीकात्मक सूक्तों के प्रतीकों को खोलकर वेदार्थ किया है। इन प्रतीकों को ज्यों-का-त्यों मन्त्रों की भाषा में प्रयोग किया है और किसी व्याख्या या टिप्पणी से, जहाँ तक सम्भव हुआ, परहेज ही किया है। तथापि, आश्चर्यजनक रूप से वेदार्थों से वैज्ञाकिन तथ्य और प्रक्रियाओं का उद्घाटन हुआ है। इस प्रकार हमारी प्रथम परिकल्पना सिद्ध हो गई है, ओर शोध इस मामले में पूर्णतया सफल हुआ है।

द्वितीय परिकल्पना को सिद्ध करने के लिये हमने इस शोध प्रबन्ध के पाँचवे अध्याय के खण्ड-क तीसरे उपखण्ड में 'वेद के वैज्ञानिक आधार' शीर्षक से, तथा खण्ड-ख के उपखण्ड- 1अ में 'ऋत की संकल्पना' शीर्षक से तथा उपखण्ड-1ब में 'वैज्ञानिक विधियाँ' शीर्षक से, एवं इसी खण्ड के उपखण्ड 4-क में 'वैज्ञानिक विधियाँ' शीर्षक से विवेचना पूर्वक वैज्ञानिक विधियों का निरूपण एवं पुष्टीकरण कर दिया है। यह स्पष्ट है वेद में वैज्ञानिक विधियों का समावेश है जिससे वेद की वैज्ञानिकता सिद्ध होती है। हमारी द्वितीय परिकल्पना भी इस प्रकार सिद्ध हो जाती है, और इस मामले में भी प्रस्तुत शोध पूर्णतया सफल है।

इस शोध प्रबन्ध के नियोजन में जो प्रश्न उठाये गये हैं, उनके उत्तर यथास्थान विवेचनापूर्वक प्रस्तुत कर दिये गये हैं। चूँकि ये प्रश्न अनेक विषयों के तथा अनेक स्तरों के हैं, इन्हें एक जगह उत्तरित करना सम्भव नहीं था, अतः सम्बन्धित विषय की विवेचना के समय ही उनके उत्तर प्रस्तुत किये जा चुके हैं; और यह प्रसंग और संदर्भ की दृष्टि से सर्वोचित भी रहा हैं। इस

विषय में हम यही प्रमाणित कर सकते हैं कि कोई भी विषय छूटा नहीं है और यथास्थान विधिवत् प्रस्तत कर दिया गया है तथापि, कुछ प्रश्नों के उत्तर हम यहाँ प्रस्तुत करना उपयुक्त समझते हैं। ये प्रश्न निम्नवत हैं–

1. वैदकि ऋषि अपने निगूढ़ शब्दों द्वारा किस बोधगम्य तथ्य को प्रकट करना चाहते थे ?
2. बोधगम्य तथ्य क्या हैं, आधुनिक संदर्भों में इनका क्या महत्व ओर इनकी क्या उपादेयता हो सकती है ?
3. ज्ञान के हेतु से कर्म के नियोजन की वेदकालीन विधि पर प्रकाश डाला जावे। लोक में उसे किस रूप में और किस उद्देश्य से प्रचारित किया गया ?
4. वैदिक विज्ञान के सिद्धान्त किस रूप में, किस भाषा में, किस प्रयोजन और किस भावना से प्रस्तुत किये गये ?
5. तथ्यों तथा वैज्ञानिक निष्कर्षों के लिये प्रयुक्त विधि, प्रशिक्षण, उपकरण की दृष्टि से प्राच्यमार्ग में प्रगति के उपादानों का क्या आकलन हो सकता है ?

इन प्रश्नों के उत्तर में हमें वेदकालीन परिस्थितिकी और इतिहास का अध्ययन करते हुये विज्ञान के जन्म और विकास पर ध्यान देना होगा, और तत्कालीन परिप्रेक्ष्य में यह सब किन समस्याओं के समाधान के लिये विस्तृत किये गये, यह भी देखना होगा। समूह या ग्राम की अवस्था में सामूहिक नेतृत्व होता था या विशेष व्यवस्था तथा अभियान के लिये विशेष सदस्य को योग्यतानुसार नेतृत्व दिया जाता था। कुल की अवस्था में विशेषज्ञों को नेतृत्व दिया जाने लगा जो प्रारम्भ में अपने ही कुल के सदस्य होते थे, किन्तु बाद में अन्य विशेषज्ञों का भी सहयोग लिया जाने लगा। ये पुरोहित कहलाये। विशेषज्ञता इनकी योग्यता थी धीरे–धीरे पुरोहित के भी कुल बन गये। जन में राजन्न कुल के साथ पुरोहित कुल और अन्य विश् समूहों का भी योग हुआ। विशेषज्ञ अनेक क्षेत्रों में ज्ञान अर्जन करने लगे और उनकी योग्यता के कारण व्यवस्था और अभियानों दोनों में उनका महत्व बढ़ने लगा। इससे जन के कुलों के बीच वैमनस्य भी पनपा। ऐसी ही अवस्था में भरतजन में पुरोहित अङ्गिरा कुल के भरद्वाज राजा बन गये। अङ्गिरा कुल

भरत कुल के ही एक भाग पाञ्चालों में भी पुरोहित था। वहाँ भी उन्होंने वैसे ही अधिकार चाहे जिसे राजन्यों ने स्वीकार नहीं किया। अतः अङ्गिराओं या भारद्वाजों ने उनसे सम्बन्ध विच्छेद कर लिये और उनके शुत्रु हो गये। फलस्वरूप पाञ्चाल राज्य का लगभग आधा भाग उनके अधिकार से निकल गया। तब उन्होंने वैश्वामित्रों और वासिष्ठों को अपना पुरोहित बनाया। इस तरह कुरुओं और पाञ्चालों में जो शत्रुता थी वैसी ही पुरोहित कुलों में भी हो गई। वैश्वामित्रों और वासिष्ठों में भी अपसी ईष्या-द्वेष रहा। पौरोहित्य के लिये पृथिवी के ऊपर का ज्ञान, आकाशीय पिण्डों की गति का ज्ञान तथा अन्तरिक्ष में जलवायु आदि का ज्ञान अधिकाधिक विकसित किया गया। पशु और मनुष्य शरीर तथा सामाजिक-राजनैतिक-आर्थिक व्यवस्थाओं का भी ज्ञान बढ़ाया गया। स्पर्धा ने इस ज्ञान को अधिकाधिक बढ़ाया। चिकित्सा के क्षेत्र में शारीर का ज्ञान बढ़ा। लोक के संदर्भ से शरीर में भी आकाश, अन्तरिक्ष और पृथिवी तथा उनमें स्थित विभिन्न अवस्थाओं के प्रतीक प्रस्तुत किये गये। शारीर के अध्ययन में उस जीवनीय तत्त्व को पहचान लिया गया जो मनुष्य के जन्म, विकास, चैतन्य, बुद्धि, शरीर रक्षा रोगनाश आदि का कारण था उसे कं, सलिल, आपः, उदक, ओजस्, अमृत आदि अनेक नामों से पुकारा गया। वही मनुष्य की आत्मा थी जो जलीय-ऊर्जा रूप थी। इसलिये मानवीय हित में ऋषियों ने शारीर और उसकी अनेक प्रक्रियाओं का विवेचन वेद में किया। वे निगूढ लोक-पुरुष साम्य के कारण हुये, क्योंकि समान शब्दावली के कारण विषय निगूढ हो गये। शारीर में वर्षा का अर्थ जलीय-ऊर्जा की वर्षा से था, न कि पृथिवी की जलवृष्टि से। ऐसे ही तमाम अन्य विषय भी अभिव्यक्त हुये। यद्यपि आज के अणु विज्ञान में भी 'शावर' अर्थात् वर्षा, 'क्लाउड' अर्थात् बादल आदि परिभाषिक शब्दों का समावेश है, किन्तु वे बहुत थोड़े है; जबकि वैदिक शारीर विज्ञान में लगभग सभी पारिभाषिक शब्द लोक के सन्दर्भ के ही थे। बाद में कुछ निगूढ़ता जानबूझकर गोपनीयता की दृष्टि से लाई गई और धर्म के समान विज्ञान को कालजयी बनाने के लिये देवताओं और उनकी आराधना सम्बन्धी प्रतीक भी शारीर के लिये स्वीकार कर लिये गये। तथापि, ऋषियों की मूलभावना मानव कल्याण की थी और इसी उद्देश्य से उन्होंने शारीर के बोधगम्भ्य तथ्यों को वेदों में प्रकट किया, और मुख्य रूप से आत्मा या ओजस् या जलीय ऊर्जा

की रक्षा और विकास के लिये प्रेरित किया। आधुनिक विज्ञान में इस तत्त्व को बीसवीं सदी के मध्य जाना गया है और उस पर अनुसंधान चल रहा है; उसे रक्त में स्थित जलीय कोषिकाओं के विकसित रूप से निर्मित जाना गया है, तथा मद्य, विष और रोग का शत्रु भी सिद्ध कर लिया गया है। इस प्रकार आज भी मानव जीवन की उत्पत्ति, विकास ओर रक्षा के लिये इसकी उपादेयता प्रतीत हो रही है और इस पर अनुसंधान का महत्व बढ़ता चला जा रहा है।

ज्ञान के लिये भी ओजस् का महत्व है, क्योंकि ओजस् शुद्धीकरण प्रक्रिया में ज्ञान के तत्त्व उत्पन्न होते है जो ऊर्ध्व मस्तिष्क में बुद्धिरूप से समाहित हो जाते हैं। कर्म की प्रक्रिया से ही पाक और ज्ञान प्रक्रियायें संचालित होती हैं, अतः इनके लिये कर्म का महत्व है। प्रकारान्तर से, कर्म करके भी ज्ञान प्राप्त किया जाता है, जो अनुभव रूप में होता है। सामान्यतया इसे 'करके सीखना' (लर्निंग बाई डूइंग) कहते हैं। कर्म का नियोजन यज्ञ के माध्यम से किया गया; हमने यह विषय कर्म प्रक्रिया और यज्ञ प्रक्रिया के अन्तर्गत पाँचवे अध्याय में विवेचित किया है। इस के प्रचार के पीछे भी मानव कल्याण ही था। धीरे-धीरे इसे कर्मकाण्ड का रूप मिल गया और वह धर्म का आवश्यक अङ्ग बन गया, उसके अन्तर्निहित महत्व को लोग भूल गये।

वैदिक विज्ञान में प्रयुक्त विधि, प्रशिक्षण, उपकरण आदि का वर्णन भी पाँचवें अध्याय में हम कर चुके हैं। वैज्ञानिक निष्कर्ष निकालने में इस प्राच्य मार्ग में प्रगति के उपादान सक्रिय किये जा सकते हैं। कम से कम ऋषिसंघों में चार स्तरीय विवेचना पद्धति, ओर ठीक वैसी पद्धति ही वैज्ञानिक प्रयोगों और अध्ययनों के लिये सुरक्षित है। वैज्ञानिक निष्कर्षों और प्रबन्ध लेखों के लिये भी अनेक उपादान परीक्षा, प्रमाण, तन्त्रयुक्तियों आदि के रूप में प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में सुरक्षित हैं जिनका आधार निःसन्देह वैदिक वैज्ञानिक विधि ही है।

(ख) शोध का महत्व निर्धारण :

हमने 'निघण्टु' ओर 'निरुक्त' को प्रस्तुत शोध का आधार माना हैं

ये ग्रन्थ क्रमशः चार हजार वर्ष पूर्व और तीन हजार वर्ष पूर्व के लगभग लिखे गये होंगे। इन ग्रन्थों को तीन काण्डों में बाँटा गया है, यथा– नैधण्टुक काण्ड, नैगम काण्ड, और दैवत काण्ड। नैघण्टुक और दैवत काण्ड नाम, आख्यान, और देवता प्रतीकों को बतलाने वाले हैं। नैगम काण्ड में ऐसे शब्दों की सूचियाँ है, जिनका एक शब्द वेद के किसी मन्त्र के एक पद का संदर्भ देता है, इसलिये इन शब्दों को 'ऐकपदिक' नाम दिया गया हैं नैगम काण्ड में ऐसी तीन सूचियाँ हैं, जो क्रमशः पृथिवीस्थान से अन्तरिक्ष स्थान तक चलने वाली पाक तथा ज्ञान प्रक्रियाओं, अन्तरिक्षस्थान से द्युस्थान तक चलने वाली ओजस् संरक्षण और शुद्धीकरण प्रक्रियाओं, तथा द्युस्थान से पृथिवीस्थान तक चलने वाली जैव और कर्म प्रक्रियाओं से इस प्रकार सम्बन्धित है कि सूची के शब्दों से सन्दर्भित मन्त्रों का क्रम प्रक्रिया को उद्घाटित करता है। इनका आशय शरीरान्तर्गत स्थानों से है और ये प्रतीकरुप से आधिदैविक आध्यात्मिक और आधिभौतिक स्थितियों के सन्दर्भ हैं। यास्क ने वस्तुतः अपने 'निरुक्त' में 'निघण्टु' पर टीका की है, और 'निरुक्त' के सम्यक अध्ययन से यह स्पष्ट होता है कि यास्क ने व्याख्याकारिता की परम्परा का निर्वाह किया है, जिसमें बाईस पूर्ववत्ती आचार्यो के मतो तथा कार्य का विवेचन किया गया है, तथा वैसी परम्परा की प्राप्तियों का अपने ग्रन्थ में समावेश भी किया है। यास्क ने अपनी व्याख्या में मुख्यतः ऋग्वेद से ही उद्धरण दिये हैं, और यदा–कदा अन्य वेदों, ब्राह्मणों, आरण्यकों, आदि के उद्धरण हैं किन्तु ज्ञात उपनिषदों, पुराणों या अन्य ग्रन्थों के उद्धरण बिलकुल ही नहीं दिय गये हैं। कभी–कभी जो इतिहास कथा रुप में बताये हैं वह उनकी निजी व्याख्या है और उसके लिये कोई सन्दर्भ या उद्धरण प्रस्तत नहीं किये गये हैं। इससे यह प्रमाणित होता है कि यास्क के काल में उपनिषदों; इतिहास–पुराणों और सूत्रों का जन्म नहीं हुआ था। यास्क के 'निरुक्त' के बाद इस परम्परा की व्याख्याकारिता के कोई अन्य ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है, और न ही उपनिषदों, सूत्रों और इतिहास–पुराणों में ही ऐसी परम्परागत व्याख्याकारिता प्राप्त होती है। ये बाद के ग्रन्थ इस प्रकार से लिखे गये हैं मानों ये अपने मौलिक सिद्धान्त प्रतिपादित कर रहे हों। यद्यपि इन ग्रन्थों में भी अनेक स्थानों पर वेद के तथ्यों का निरुपण किया गया है, तथापि धार्मिकता का अत्यधिक पुट और परमेश्वर पर इनकी अत्याधिक निर्भरता

इन्हें परम्परा से अलग कर देती है; वैदिक तथ्य भी इनकी व्याख्याकारिता में मानो परमेश्वर की विभूतियों का प्रतिपादन करने के लिये ही है। इसके उपरान्त 'निघण्टु' और 'निरुक्त' की परम्परा पर आज तक कोई व्याख्या प्रकाश में नहीं आई है। जिन्होंने व्याख्या में यास्क के कार्य को वेदार्थ के लिये अपरिहार्य माना है, वे भी यास्क और उनके कार्य को नहीं समझ सके; निघण्टु की सूचियों को शब्दकोष का प्रथम प्रयास और 'ऐकपदिक' को 'अनेक अर्थों वाला अकेला शब्द' मान लिया। यास्क ने इसका परिचय इस प्रकार दिया है :-

**अथ यान्यनेकार्थान्येक शब्दानि तान्यतोऽनुक्रमिष्यामः।
अनवगतसंस्कारांश्च निगमान्।**[13]

अर्थात् अब जो अनेक अर्थों वाले एक शब्द हैं उनको और न जाने हुये ज्ञान वाले (जिनको सम्यक् व्याख्यायित नहीं किया गया है) वेदमन्त्रों को भी आगे हम क्रम में लगायेंगे (सम्पन्न करेंगे।)।

यहाँ 'संस्कार' के अर्थ सम्यक् व्याख्या, उपदेश या ज्ञान से है और 'अनुक्रमिष्यामः' फिर क्रम से लगाना या सम्पन्न करना अर्थ में है। तथापि, 'निघण्टु' का यथार्थ भाव यास्क को भी पूर्णतया हृदयङ्गम नहीं लगता जिससे उनके समय में ही परम्परा में विकृति आने के और परमेश्वर के अध्यारोपण के प्रमाण मिलने लगते है। प्रस्तुत शोध में इस परम्परा को पुनरुज्जीवित करते हुये वेदार्थ और वेद में निहित शारीर प्रक्रियाओं पर प्रकाश डाला गया है। अतः प्रस्तुत शोध का इस दृष्टि से अत्यन्त महत्व है।

आगे के भाष्यकारों ने धार्मिक भाव से यज्ञपरक, नीतिपरक, और अध्यात्मिक या दार्शनिक व्याख्यायें प्रस्तत की हैं जिनमें परमेश्वर अपरिहार्य ही नहीं प्रत्युत केन्द्र बिन्दु रहा है। इनमें न तो प्रतीकात्मकता ओर न विज्ञान से सम्बन्धित व्याख्यायें हुई हैं। परिणामस्वरूप जो विज्ञान शारीर से सम्बन्धित था उसे प्रतीकों को सत्य मानने से नितान्त लौकिक जान लिया गया, और इस प्रकार सभी व्याख्यायें स्थूल और पार्थिव भावों में ही प्रमुखतः की गईं। वेदार्थ की इस विकृति को इङ्गित करते हुये जो व्याख्यायें

13. देखें निरुक्त 4:1

हमने दी है उनसे इस ढंग की नई व्याख्याकारिता का महत्व प्रतिपादित हुआ है।

वेद के जो सूक्त प्रतीकात्मक थे उन्हें लौकिक व्याख्या से विकृत कर दिया गया। उदाहरण-स्वरूप अक्ष-सूक्त के मात्र प्रथम मन्त्र की व्याख्या यास्क ने की है और उसे ओषधि से सम्बन्धित बताया हैं यद्यपि यास्क ने 'अक्ष', 'इरिणे', मौजवतः' आदि शब्दों की स्पष्ट परिभाषायें दी है, तथापि दुर्ग ने अपनी 'निरुक्त' की टीका में इन्हें विकृत करके सूक्त को जुआड़ी की पीड़ा के रूप में प्रस्तुत कर दिया; पुनः सायण ने दुर्ग का यही भाव लेकर पूरे सूक्त की ही तदनुसार व्याख्या प्रस्तुत कर दी। ऐसी व्याख्यायें इतिहास और कथायें गढ़ कर ब्राह्मणो, इतिहास-पुराणों, बृहद्देवता, तथा अन्यग्रन्थों और भाष्यों में भी की गई है जिनके सूक्तों में मनुष्यों के नामकरण पूर्वक रचनायें हुई हैं। देवापिशन्तनुः सूक्त, उर्वशी-पुरुरवा संवाद सूक्त, पणि-सरमा संवाद सूक्त आदि ऐसे उदाहरण है। ऐसे सूक्तों की प्रतीकात्मकता को खोलने से जो वेदार्थ प्रकटतः आया है उसमें वैज्ञानिक तथ्यों तथा प्रक्रियाओं के विवरण प्राप्त होते हैं। अतः प्रतीकात्मकता का उद्‌घाटन करना और ववेदमन्त्रों के अर्थों को परिष्कृत करते हुये विज्ञान का उद्‌घाटन करना अपने आप में एक महत्वपूर्ण कार्य है।

अधिकांश सूक्त देवताओं की स्तुति के हैं, तो अनेक में देवताओं द्वारा स्वयं ही अपनी विभूतियों का वर्णन है। ये सभी प्रतीकात्मक है, किन्तु भाष्यकारों ने इनपर धार्मिक आरोपण कर दिये और जस-का-तस स्वीकार कर लिया। हमने प्रतीकत्मकता के उद्‌घाटन पूर्वक इनका वेदार्थ किया और वैज्ञानिक प्रक्रियायें या तथ्य प्राप्त किये। ऐसे वेदार्थ का अपना महत्व है।

कुछ सूक्त स्पष्टतः वैज्ञानिक थे और उनमें कोई प्रतीकात्मकता नहीं थी, फिर भी भाष्यकारों की समझ में वे नहीं आये, और वेदार्थ को सरल करने के लिये भाष्यकारों ने परमेश्वर का सहारा लिया; 'परमेश्वर' एक ऐसी चाभी है जिसे जहाँ समझ न आये लगा दो। नासदीय सूक्त के प्लाज्मा को परमेश्वर के रूप में व्याख्यायित कर दिया गया और यह भी नहीं देखा कि सबसे पहले 'न असत् न सत्' होने की बात ही कही गई थी फिर सत्-परमेश्वर कैसे प्रकट हो गया। इस समस्या को अपनी विकृत तर्कशीलता से विवाद करते हुये अपने मन्तव्य को उचित ठहराने की चेष्टायें की गईं और

इसके लिये बृहत् तथा विभिन्न व्याख्यायें की गईं।[14] ऐसे विवादों और अनर्थक विषद–व्याख्याओं को तोड़ते हुये हमने सरलतम रूप से उनके वेदार्थ कर दिये। यह मात्र सही अन्वय और शब्दों की सही मूलधात्वर्थक व्युत्पत्ति से सम्भव हुआ है। भाष्यकारों को इतना भी समझ में नहीं आया कि उस अत्यन्त प्राचीनकाल में शब्दों के धातुजन्य मूल अर्थ ही समभव थे, रुद्र अर्थ तो बहुत बाद में बने। यहाँ तक कि भाष्यकारों ने तो अपने काल की परिस्थितिकी के आधार पर ही कूपमण्डूक की भाँति व्याख्यायें कर दीं, विकास का कोई ध्यान नहीं रखा। यज्ञ परक व्याख्यायें इसी प्रकार की हैं। इन्हें हमने अध्याय–4 में भाष्यकारों की समालोचना में सपष्ट भी किया है। कुछ ऐसी कूप–मण्डूकता हयें यास्क में भी मिल जाती है; उदाहरण स्वरूप, नदीसूक्त के मन्त्र–5[15] में वे आर्जीकीया को विपाश बतलाते हैं, सुषोभा को सिन्धु बतलाते है असिक्नी और मरद्वृधा का कोई विविरण नहीं देते है, इस प्रकार इन्हें पंजाब की भूगोल का भी सही ज्ञान था यह संदिग्ध हो जाता है। ऐसी ही अज्ञानपूर्ण अन्दाजेबाजी अन्य भाष्यकारों में भी मिलती है जिसका कारण मात्र इन्की कूपमण्डूकता ही है। हमने इस कूपमण्डूकता से निकलकर विशाल विकास और ज्ञान के क्षेत्र में विस्तृत भावों से वेदार्थ सम्पन्न किये है जो स्वतः महत्वपूर्ण है।

इस शोध का महत्व इससे भी बनता है कि प्रतीकात्मकता पर हमने सम्पूर्णतः प्रकाश डाला है तथा वेद और वेदेतर ग्रन्थों में प्रतीकात्मकता के आयाम उद्घाटित किये हैं। वहाँ हमने प्रतीकों को खोजा है और उनके तमाम रूपों को लोक और पुरुष साम्य के परिप्रेक्ष्य में वर्गीकृत भी किया है। इन प्रतीकों को वेदार्थ प्रयोग भी किया है और उनसे महत्वपूर्ण वैज्ञानिक तथ्य तथा सिद्धान्त उद्घाटित किये हैं।

स्पष्ट रूप से और प्रतीक रूप से भी वेद में विज्ञान सम्बन्धी तथ्य और सिद्धान्त अपने आप में महत्वपूर्ण हैं। वेदेतर गन्थों में वे तथ्य तो प्रायः मिल जाते हैं किन्तु उनके सिद्धान्त और प्रक्रिया वेद में ही प्राप्त होती है। उदाहरणस्वरूप आयुर्वेद ग्रन्थों में शारीर के अनेक तथ्य और कभी–कभी सिद्धान्त भी वर्णित हैं, जो लगभग वे ही है जो वेद में प्राप्त हैं, तथापि

14. उदाहरणस्वरूप देखें शङ्कराचार्य स्वामी निश्चयलानन्द सरस्वतीः श्रुतियों में सृष्टि सन्दर्भ कल्याण, 1999, वर्ष 73 संख्या 1, पृ. 84–88

15. देखें निरुक्त 9:26

प्रक्रियाओं का वहाँ सर्वथा अभाव हैं। हमने जिस प्रकार तथ्य, प्रक्रिया और सिद्धान्त पर प्रकाश डाला है वह भारतीय विज्ञानों की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि वेदों में वैज्ञानिक विधियों का हमने उद्घाटन किया है। विधियों का कुछ उद्घाटन आयुर्वेद गन्थों में परीक्षा, प्रमाण, तद्विद्यसंभाषा, तथा तन्त्रयुक्तियों के रूप में हुआ है, किन्तु उनमें तर्क शास्त्रीय तत्त्वों की अधिकता बहुत है, और वे न्याय से अधिक प्रभावित जान पड़ते हैं। इस बात की आवश्यकता है कि इन वैज्ञाकिन विधियों और प्रणालियों को तथा न्याय को भी वेद से प्राप्त विधियों के परिप्रेक्ष्य में पुनः व्यवस्थित किया जाये जिससे एक पुष्ट वैज्ञानिक विधिशास्त्र को गठित किया जा सके।

जो वैज्ञानिक तथ्य उद्घाटित हुये है उनमें शारीर और चिकित्सा के लिये महत्वपूर्ण उपादान तो प्राप्त होते ही हैं, कुछ अन्य विज्ञानों से सम्बन्धित तथ्य और सिद्धान्त भी प्राप्त होते हैं। इनमें से अनेक ऐसे भी हैं जो आधुनिक विज्ञान को अज्ञात है। अतः मानव कल्याण की दृष्टि से इन सब का उपयोग और प्रचार आवश्यक तथाा महत्वपूर्ण है।

अन्ततः इस शोध का महत्व यह है कि इसके परिणामों से उत्साहित होकर इसी प्रारूप पर आगे शोध कार्य को प्रेरणा प्राप्त होगी तथा सम्पुर्ण ऋग्वेद पर, अन्य वेदों पर, वेदेतर अन्य ग्रन्थों पर भी शोधकार्य आगे बढ़ेगा जिससे इस प्राच्यढंग का विकास और विस्तार होगा और ऐसे अनुसंधान से हमें जो प्रतियाँ होंगी वे सब मौलिक रूप से भारतीय होंगी और इस प्रकार भारतीय विज्ञानों की पृष्टिभूमि पुष्ट तैयार होगी।

(ग) उपादेयता तथा मानक प्रयोग की सम्भावनाओं पर प्रकार :

हमारे शोध की महती उपदेयता यह है कि भविष्य में उन्हीं आधारों पर वेदार्थ तथा वेदव्याख्यायें होगी जो आधार वर्तमान शोध में लिये गये हैं। ये व्याख्यायें ऋग्वेद के अन्य मण्डलों पर, अन्य वेदों पर तथा वेदेतर ग्रन्थों

पर भी होंगी,; और हमने ऐसी व्याख्यायें दशम मण्डल से परे अन्य मण्डलों के कुछ मन्त्रों पर, अन्य वेदों के कुछ मन्त्रों पर तथा वेदेतर ग्रन्थों के श्लोकों तथा अंशों पर इस शोध प्रबन्ध में प्रस्तुत भी की हैं। चूँकि यह युग विज्ञान का युग है और अनेक विद्वान पुरुष विज्ञान के जानकार है।, उनकी रुचि भी विज्ञान सम्बन्धी वेदार्थ और वैज्ञानिक व्याख्या में होगी, फलतः इस शोध जेसे कार्य को आगे प्रात्साहन मिलने की पूरी सम्भावना है।

यह शोध प्रबन्ध इस रूप में प्रस्तुत किया गया है कि यह दशम मण्डल की सीमा में होते हुये भी वेद पर एक सम्पूर्ण अध्ययन है; कदाचित् ही वेद सम्बन्धी कोई ऐसा ज्ञान हो जिसका समावेश इस शोध प्रबन्ध में न किया गया हो। इस शोध प्रबन्ध के निरूपण में ही हम बता चुक हैं कि दशमण्डल का अध्ययन बिना पूरे ऋग्वेद के अध्ययन के सम्भव नहीं है, तथा ऋग्वेद से ही अन्य सभी वेद प्रभावित होने के कारण प्रस्तुत शोध का अध्ययन एक सम्पूर्ण वैदिक अध्ययन है। इस पेतिज्ञा का हमने पूर्णतया पालन भी किया है, और अपनी सर्वतोमुखी विवेचना के साथ इसे प्रमाणित, सिद्ध और पूर्ण भी किया है। वे सभी आधार भी स्पष्ट कर दिये है जो वेद के वैज्ञानिक सन्दर्भों और वैज्ञानिक व्याख्या के लिये आवश्यक थे। वेद में अपनी प्राप्तियों का हमने पुष्टीकरण भी अन्य प्राचीन भारतीय ग्रन्थों से सुस्पष्टतः सम्पन्न कर दिया है। यह सब भविष्य के वैदिक शोधकर्ताओं, वेदार्थ कत्ताओं तथा वैदिक व्याख्याकारों के लिये दिशानिर्देश होंगे।

हमारे शोध की एक अन्य उपदेयता यह है कि इसने वेद के सम्बन्ध की तमाम भ्रन्तियों का निराकरण कर दिया है, अब अब मग्न उनके प्रचार की बात रह गई है ताकि उन भ्रान्तियों को मूलतः नष्ट किया जा सकें। ये भ्रन्तियाँ निहित स्वार्थ व्यक्तियों ने फैलाई जिनके लेखक उपनिषद् काल और इतिहास-पुराण काल में भी थे और उसके बाद भी रहे। इन भ्रान्तियों को फैलाने में मुख्यतः पेटमरु ब्राह्मणों तथा सन्यासी धार्माचार्यों का विशेष योगदान रहा। उदाहरणार्था यास्क ने वेद को कहीं 'श्रुति' नहीं कहा, उसने इन्हें 'निगम' ही कहा, अन्य प्राचीन गन्थों में भी 'श्रुति' शब्द वेद के लिये प्रयुक्त नहीं हुआ, किन्तु आचार्य शङ्कर के आते आते वेद के लिये 'श्रुति' शब्द का प्रचुर मात्रा में प्रयोग होने लगा। यही नहीं, ब्राह्मणों, आरण्यकों, सूत्रों और उपनिषदों को भी 'श्रुति' कहा जाने लगा। विदेशी विद्वान ने दुर्भावना

से जो भ्रान्तियाँ फैलायीं उनका मूल ऐसे पण्डितों और सन्यासियों के दुष्प्रचार में ही निहित थे विदेशियों ने मात्र अतिशयोक्ति पूर्वक उन्हें विस्तारित और प्रचारित किया। अब इन भ्रान्तियों को प्रचुर लेखन, अनुसंधान, वेदव्याख्या और वेद के प्रचार द्वारा दूर करना हम सभी बुद्धिजीवी भारतीयों का कर्तव्य हो जाता है।

हमारे इस शोध की एक उपयोगिता यहा भी है कि इससे प्राप्त तथ्यों के आधार पर एक पुष्ट भारतीय वैज्ञानिक अनुसंधान विधि का निर्माण किया जा सकता है। ऐसा विधिशास्त्र सम्पूर्ण वैज्ञानिक विश्व को ही निर्देशित नहीं करेगा प्रत्युत यह विधिशास्त्र नितान्त भारतीय होगा और इसके अनुसार जो शोध और गर्वषणा होगी वह सब भी पूर्णतया हमारी होगी और आज इस युग में जब सब के पेटेन्ट हो रहे हैं, हमारा यह अपना पेटेन्ट भी होगा जिसका सर्वोपरि और सर्वतलाभ हमें ही मिलेगा। इसी प्रकार जो बैज्ञानिक प्रक्रियायें शारीर के सन्दर्भ में हमने उद्घाटित की हैं, उनके सैद्धान्तिक, व्यवहारिक और चिकित्सकीय उपयोगों के लिये नये आयाम खुलेंगे तथा मानव हित में उनपर विस्तृत कार्य होंगे। इस सम्बन्ध में हम विशेषरुप से शुद्धतम पर–ओजस् (सेरीबोस्पाइनल फ्ल्यूड) की चर्चा करना चाहेंगे जिस पर विदेशों में भी अनुसंधान चल रहे है। वेद के अनुसार यह सभी शरीरधातुओं से निचोड़ा जाता है और संचयपूर्वक शुद्धीकृत होकर मस्तिष्क में पर–ओजस् का भाग बन जाता है। आधुनिक विज्ञान की जानकारी में इसे रक्त की एक दस प्रतिशत संख्या वाली जलीय कोषिका को इसके निर्माण का कारण माना जा रहा है। हमें यह देखना है कि अन्न के पाक से जो रस बनता है क्या उसमें भी ऐसी जलीय कोषिकायें हो सकती हैं? क्या मांस, मेद, कोमल–अस्थि, मज्जा और शुक्र में भी ऐसे जलीय कोषिकायें हैं जिनसे ओजस् बनने की सम्भावना हो? और, यदि है तो प्रत्येक में उनका प्रतिशत क्या है? क्या इनकी वृद्धि की जा सकती है? और, रश्मि से जो इनका शुद्धीकरण होता है और पर–ओजस् निर्मित होता है, उसमें वैज्ञानिक के नाते हमारा क्या सक्रिय योगदान हो सकता है? यदि यह सब सम्भव हो सके, तो मनुष्य की जीवनीशकित, उसकी आयु, रोग और विष से उसकी लड़ने की क्षमता को बढ़ाया जा सकता है, तथा एड्स जैसे रोगों पर नियंत्रण पाया जा सकता है। हमे देखना है कि इमीन्यूटी अर्थात् रोग से लड़ने की क्षमता

किन-किन रोगों के सन्दर्भ में बढ़ाई जा सकती है और ओजस् का इससे क्या योगदान हो सकता है?

इसी प्रकार ओजस् शुद्धीकरण के स्तर पर ज्ञान और बुद्धि सम्बन्धी तत्वों के निष्क्रमण की बात वेद में बताई जा रही है, जिसे भी ऊर्ध्व मूर्धा में धारण किया जाता है। ये किस रूप में हैं? इनका जलरूप है या रश्मिरूप है? और जो 'तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि' कहा गया ताकि 'धियो यो नः प्रचोदयात्', तो क्या यह इसी रश्मि के लिये कहा गया? तब मनुष्य को ऋषियों-मुनियों की भाँति ज्ञानी बनाने के लिये इस तत्व के विकास की आवश्यकता है? इस सब के लिये सतत शोध और अनुसंधान करने हों।

वेद में शारीर का जो यह सिद्धान्त है कि अन्न से सप्तधातुयें क्रम से पाकपूर्यक निर्मित होती हैं और एक धातु के बढ़े हुये अंश से ही अगली धातु बनती है इस पर क्या शोध हुये अंश से ही अगली धातु बनती है, इस पर क्या शोध और अनुसंधान हो सकते हैं? और यदि ऐसा सिद्ध होता है, तो इस प्रक्रिया पर किस प्रकार नियंत्रण रखा जा सकता है कि धातुयें सम्यक् रूप से निर्मित और स्थित रहें? यदि इस सब की सम्यक् जानकारी हम प्राप्त कर ले तो कैंसर जैसे रोगों पर सहज ही नियंत्रण हो सकेगा। इस सम्बन्ध में भी सतत शोध और अनुसंधान की आवश्यकता है।

वेद में ओजस् को मद का नाशक बताया गया है। आयुर्वेद ग्रन्थों में ओजस् के जो दस गुण[16] बताये गये हैं, मद्य के गुण[17] इसके ठीक विपरीत हैं। आधुनिक विज्ञान ने भी अपने प्रयोगों में यह पाया है कि मद्य और विष ओजस् का नाश करने वाला है। वस्तुतः ये दोनों एक दूसरे के शत्रु और नाश करने वाले तत्त्व है। शरीर में भी मद्य और विष तुल्य 'मद' उत्पन्न होता रहता है। शरीर में भी मद्य और विष तुल्य 'मद' उत्पन्न होता रहता है जो आयु का नाश करता है और रोगों को उत्पन्न करता है। इस सम्बन्ध में भी सतत शोध और अनुसंधान की आवश्यकता है जिसके परिणामों से हम मानवहित में बहुत बड़ी सेवा कर सकते हैं।

वेद में नाडी-सस्थान पर प्रचुर सामग्री है। मूर्धा भी मूज के रेशों से

16. चरक. चि. 24:31
17. अष्टाङ्गहृदय निपदान. 6:1

बने हुये पिण्ड की भाँति, जिसे अक्षसूक्त के प्रथम मन्त्र में 'मौजवत्' कहा गया है, सिराओं का संजाल है, तथा इसके अतिरिक्त कर्मवाही और ज्ञान वाही नाडियाँ ऊपर से नीचे और नीचे से ऊपर जाती-आती रहती हैं। इनके सतहत्तर[18] मार्ग जान लिये गये हैं, ऐसी वेद की घोषणा है। ये सतहत्तर मार्ग कौन-कौन से हैं? यह शोध का विषय है। वेद में जो 'द्वा सुपर्णा सजुजा सखायः'[19] मन्त्र है, उसके समान्तर आधुनिक स्नायुसंक्रियाविज्ञान में यह जानकारी प्राप्त कर ली गई कि मूर्धा के दो गोलार्धों में से बाँया तो संक्रियारत रहता है और दायाँ मात्र उसे देखता रहता है और नियंत्रित करता रहता है। किन्तु, इस पश्चिमी वैज्ञानिकों ने ऐसे अनुसंधान के लिये वेद का सन्दर्भ तक नहीं दिया है जबकि जरा-जरा सी बातों के लिये यूनानी दार्शनिकों के सन्दर्भ इनके द्वारा दिये जाते हैं। मानस चिकित्साविज्ञान और स्नायुसंक्रियाविज्ञान ऐसे क्षेत्र हैं जिनका जन्म पश्चिम में मात्र एक शताब्दी पूर्व ही हुये हैं, जबकि इन विज्ञानों के मूल वेद में हैं। हमें ऐसे विज्ञानों के मूल वेद में खोजने हैं, उनकी पर्याप्त जानकारियाँ वेद और वेदेतर ग्रन्थों से लेनी हैं, उन पर व्यापक अनुसंधान करने हैं और उन्हें क्रमबद्ध रूप से पुष्ट विज्ञानों में प्रस्तुत करना है। यदि भारत को आगे बढ़ाना है तो वेद और वेदेतर साहित्य पर वर्तमान शोध की भावना के अनुसार ही अनुसन्धान करना आवश्यक होगा।

जहाँ तक वर्तमान शोध के मानक प्रयोग की सम्भावनायें उपर्युक्त दर्शाये गये शोध और अनुसंधानों तथा ऐसे ही स्वतन्त्ररूप से नियोजित शोध और अनुसंधानों के लिये है उनमें प्रतीकात्मकता के वे तत्त्व जो हमने पिछले छठवें अध्याय में अनेक वैदिक और वेदेतर ग्रन्थों के सन्दर्भ से निरूपित किये हैं, तथा जो दूसरे अध्याय में निरूपित किये हैं इस दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। वेद में मुख्यतः नाम और आख्यात के प्रतीक ही हैं, जिनकी व्युत्पत्ति मूल-धातुओं से व्याकरण या निरुक्त के आधार पर किया जाना अभीष्ट है। यास्क ने 'निरुक्त' के प्रारम्भ से ही इस बात पर जोर दिया है, किन्तु विद्वत् जन उन्हें नहीं समझ पाये और उन्हें निरुक्तविज्ञान की विषयवस्तु मानकर व्यवहार करते रहे। यास्क भले ही निरुक्तकार रहे हो,

---

18. ऋग्वेद 10:93:15
19. ऋग्वेद 1:164:20

किन्तु 'निरुक्त' नाम का उनका ग्रन्थ निरुक्तविज्ञान की विवेचना नहीं है प्रत्युत 'निघण्टु' पर टीका करते हुये वेद पर भाष्य या व्याख्या है। इस टीका में प्रथम तीन अध्यायों की सूचियों को पर्यायवाची शब्द[20] मानते हुये भी सभी को ऊर्जा के विभिन्न रूप ही सिद्ध किया है इसलिये ऊर्जा के जो मानक जो मानक हमने अपने शोध में लिये है, भविष्य के शोध और अनुराधानों में उनके प्रयोग का महत्व है। इसके अतिरिक्त निघण्टु के नैगम प्रकरण अध्याय-4 की तीन सूचियों में पृथिवी से अन्तरिक्ष तक चलने वाली प्रक्रियाओं, अन्तरिक्ष से द्युलोकतक चलने वाली प्रक्रियाओं, और द्युलोक से पृथिवीलोक तक चलने वाली प्रक्रियाओं का शब्द-सन्दर्भ क्रम या ऐकपदिक शब्द क्रम से प्रक्रिया निरुपण शारीर के महत्वपूर्ण तथ्यों का निदेशक बनता है। उसके क्रम को आगे भी मानक व्याख्या के रुप में जानते रहना चाहिये। निघण्टु के पाँचवें अध्याय की छः सूचियों पर यास्क ने जोनिरुक्त दैवतकाण्ड के छः अध्याय रचे हैं, उनके महत्व को और उन मानकों को भी हृदयङ्गम् करना चाहिये, और सभी देवता प्रतीकों को ऊर्जा-पुञ्जों के विभिन्न कर्मों और विकासों के रुप में ही देखना चाहिये। ऐसे मानक रुप इस शोध में प्रस्तुत कर दिये गये हैं। इस शोध में प्रतीकों को जो लोक-पुरुष तुल्यता के रुप में निरुपित किया गया है वह वेद सम्मत तो है ही, वेदेतर ग्रन्थों से भी उसके मानकस्वरुप जुटाये गये हैं, ओर वेदार्थों के लिये उनके विधिवत प्रयोग भी किये गये है। भविष्य में वेद पर विज्ञान सम्बन्धी शोध, अनुसन्धान, वेदार्थ, व्याख्या और टीका आदि सभी कार्यों में इस शोध के ये मानक उपयोगी रहेंगे ही, साथ ही ऐसे विकास हेतु मार्ग दर्शक भी रहेंगे, क्योंकि यह शोध तो मात्र अभी बालक ही है, कोई अन्तिम सत्य नहीं है। यह सब उन महर्षियों का प्रसाद भर है जिन्होंने वेदार्थ के निदर्शन द्वारा सतत और ज्योतिर्मय मार्गदर्शन प्रदान किया है।

---

20. निरुक्त 4:1

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

अग्रवाल, वासुदेवशरण : भूमिका, म.म. गिरधर शर्मा चतुर्वेदी, वैदिक विज्ञान और भारतीय संस्कृति, पटना : बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, 1972.

अथर्वेद

अरविन्द, श्री : दि लाइफ डिवाइन, पाण्डिचेरि : अरविन्द आश्रम

अरविन्द, श्री : वेद रहस्य, पाडिचेरि : अरिविन्द आश्रम

अरविन्द, श्री : हिम्नस टु दि मिस्टिक फायर, पाण्डिचेरि : अरविन्द आश्रम

अर्थशास्त्र (कौटिल्य)

अर्थ संग्रह (लौगाक्षि भास्कर)

अष्टाङ्ग संग्रह (वाग्भट्ट)

अष्टाङ्ग हृदय (वाग्भट्ट)

आपस्तम्ब परि

उपाध्याय, बल्देव : वैदिक साहित्य और संस्कृति, वाराणसी : शारदा संस्थान, 1980.

ऋग्वेद

ऐतरेय आरण्यक

ऐतरेयोपनिषद्

ऐतरेय ब्राह्मण

कठोपनिषद्

काठक संहिता

कामसूत्र (वात्स्यायन)

काम्ट, आगस्ट : कोर्स डि फिलासॉफी पोजिटिव

काश्यपसंहिता

केनोपनिषद्

खेमका, राधेश्याम (सं.) : ऋषि विचार, कल्याण 1999, वर्ष 73, संख्या 1, पृ. 371-375.

खेमका, राधेश्याम (सं.) : वेदों में यज्ञ, कल्याण 1999, वर्ष 73, संख्या 1, पृ. 338-347.

गीता (श्रीमद्भग्वत्)
गुरालनिक, डी.बी. (सं.) : वेब्सटर्स न्यू वर्ल्ड डिक्शनरी, नई दिल्ली : आक्सफोर्ड एण्ड आई.बी.एच. पब्लिशिंग कं., 1979
गुप्त, गौरीशङ्कर : स्नायु मण्डल, कल्याण 1960, वर्ष 34 संख्या 5, पृ. 994-999.
गुरुदत्त : विज्ञान ओर विज्ञान, नई दिल्ली : हिन्दी साहित्य सदन, 1972.
गूडे, डब्ल्यू. जे. और हट्ट, पी.के. : मेथड्स ऑफ सोशल रिसर्च, टोकियोः कोगाकुशा, 1952
गोपथब्राह्मण
गौतम धर्मसूत्र
चरक संहिता
छान्दोग्योपनिषद्
जर्नल ऑफ ओरियन्टल सोसाइटी
जलोटा, श्यामस्वरूप : एक्सपेरीमेन्ट्स इन साइकॉलॉजी, बनारस : बी.एच. यू. प्रेस, 1958.
जॉह्न ऑफ सैलिस्बरी : पॉलीक्रेटिकस
जैमिनिसूत्र
तुलसीदास : रामचरितमानस
तैत्तरीयोपनिषद्
तैत्तरीय संहिता
त्रिवेदी, रामगोविन्द : ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः, कल्याण 1999, वर्ष 73.
देवदत्त : श्री अरविन्द का अध्यात्मपरक वेदभाष्य, कल्याण 1999, वर्ष 73 संख्या 1, पृ. 46-48.
दैवत ब्राह्मण
नीतिसार (कामन्दक)
न्याय कुसुमाञ्जलि
न्यायदर्शन
पारजीटर, एफ. ई. : एन्शियेन्ट इण्डियन हिस्टारिकल ट्रेडीशन, लन्दन : ऑक्सफोर्ड यूनीवर्सिटी प्रेस, 1922.

पारस्कर गृह्यसूत्र : कर्क की टीका
प्रश्नोपनिषद्
'प्रसाद', जयशङ्कर : कामायनी
प्लैटो : दि रिपब्लिक
बाहरी, हरदेव : शिक्षक हिन्दी शब्द कोष, दिल्ली : रवीन्द्र प्रेस, 1990.
बृहदारण्यकोपनिषद्
बृहद्देवता
भागवत
भेळसंहिता
मत्स्यपुराण
मनुस्मृति
मर्फी, गार्डनर : ऐन हिस्टारिकल इण्ट्रोडक्शन टु मार्डन साइकॉलॉजी, लन्दन : रोलेज एण्ड कीगन पॉल लि., 1956.
महाभारत
माण्डूक्योपनिषद्
मिश्र, युगल किशोर : वेदस्वरूप, कल्याण 1999, वर्ष 73 संख्या 1, पृ. 147-153.
मिश्र, राम किशोर : वेद के विविध छन्द और छन्दोऽनुशासन-ग्रन्थ, कल्याण 1999, वर्ष 73 संख्या 1, पृ. 193-196
मिश्र, श्यामसुन्दर : ऋग्वेद विज्ञाान भाष्य (अप्रकाशित)
मिश्र, श्यामसुन्दर : कम्परेटिव फिलॉलॉजी एण्ड आर्य प्राब्लम, उ.प्र. इतिहास संकलन समिति पत्रिका, 1985, 3, 195-202.
मिश्र, श्यामसुन्दर : महाभारत युद्धकाल, राष्ट्रधर्म, अगस्त 1984, पृ. 34-43.
मिश्र, श्यामसुन्दर : वेदार्थ कुञ्जिका : यास्क के निरुक्त पर विज्ञानपरक टीका (अप्रकाशित)
मुखर्जी, राधाकुमुद : एन्शियेन्ट इण्डियन एजूकेशन, दिल्ली : मोतीलाल बनारसीदास, 1974.

मुण्डकोपनिषद्

मेक्डानल, आर्थर एन्थोनी : वैदिक व्याकरण (हिन्दी) अनु. सत्यव्रत शास्त्री दिल्ली : मोतीलाल बनारसीदास, 1994.

मेक्डानल, आर्थर एन्थोनी : और कीथ, ए.बी., वैदिक इण्डेक्स (हिन्दी) अनु. रामकुमार राय, वाराणसी : चौखम्भा विद्याभवन, 1962.

मैक्स मुलर : इण्ट्रोडक्शन टु ऋग्वेद.

मैत्रायणी संहिता

यजुर्वेद

यास्क : निरुक्त

राधाकृष्णन्, सर्वपल्ली : भारतीय दर्शन भाग–1

रामायण (बाल्मीकि)

वाजसनेयि संहिता

वाणभट्ट : कादम्बरी

वायु पुराण

विल्सन : ट्रान्सलेशन ऑफ ऋग्वेद

विश्वनाथ : साहित्य दर्पण

वैशेषिक सूत्र (कणाद)

शतपथ ब्राह्मण

शर्मा, चतुर्वेदी द्वारिका प्रसाद एवं झा, पं. तारिणीश : संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ, इलाहाबाद : रामनारायण लाल बेनीप्रसाद, 1967.

शर्मा, म.म. विद्याधर : शतपथ ब्राह्मण भूमिका।

शास्त्री, कपाली : ऋग्भाष्यभूमिका (संस्कृत). श्री अरविन्द : हिम्स टु दि मिस्टिक फायर, पाण्डिचेरि : अरविन्द आश्रम.

शेरिफ, मुजफ्फर एण्ड शेरिफ, सी.डब्ल्यू. : ऐन आउट लाइन ऑफ सोशल हार्पर एण्ड ब्रदर्स : साइकॉलॉजी, न्यूयार्क, 1968.

संहितोपनिषद्

सत्य प्रकाश : वैज्ञानिक विकास की भारतीय परम्परा, पटना : बिहार राष्ट्रभाषा परिषद, 1964

सरस्वती, स्वामी दयानन्द : ऋग्वेद भाषा भाष्य, नई दिल्ली : दयानन्द संस्थान.

सरस्वती, स्वामी निश्चलानन्द : श्रुतियों में सृष्टि सन्दर्भ, कल्याण 1999, वर्ष 73 संख्या 1, पृष्ठ 84-88.

सर्वदर्शनसंग्रह

सायण : ऋग्वेदभाष्य

सायण : ऋग्वेद भाष्य भूमिका : विधिप्रामाण्य विचार

सिद्धान्त कौमुदी

सुश्रुत संहिता

स्पेन्सर, हर्बर्ट : मैन वरसस दि स्टेट

स्वरूप, लक्ष्मण : निघण्टु तथा निरुक्त, दिल्ली : मोतीलाल बनारसी दास 1985 (हिन्दी अनु. सत्यभूषण योगी).

हापकिन्स : जर्नल ऑफ अ. ओरियेन्टल सोसाइटी।